

भारतवर्षीय वर्षो जैन साहित्य मन्दिर मुजफ्फरनगर

श्री सहजानन्द साहित्य ज्योति

प्रथम – भाग

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ ज्ञान मूर्ति सिद्धान्त न्याय साहित्य भास्त्री

पूज्य श्री 105 न. मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज

जिनके साहित्य को किरणों का प्रस्तुत में दिग्दर्शन कराया गया है।

संपादक—सुमेरुचन्द जैन 15 प्रेमपुरी मुजफ्फरनगर

प्रकाशक—सुमेरुचन्द जैन प्रधान मन्त्री भा0 वर्णी जैन साहित्य मन्दिर आभार

1. वर्तमान तीर्थ के प्रवर्तक श्री 1008 भगवान महावीर स्वामी के हम पूर्ण कृतज्ञ वं उनके चरणों में नतमस्तक हैं जिन सर्वज्ञ बीतराग की दिव्यध्वनि की

परम्परा का समागत तत्व हम सबको प्राप्त हो रहा है जिससे हम मोक्षमार्ग में चल रहे हैं।

2. पूज्य श्री गणधर देव व आचार्यगण के हम आभारी हैं जिनकी परम्परा से कवलिप्रज्ञप्त तत्व का दिग्दर्शन पाया है।

3. पूज्य श्री मनोहर जो वर्णों "सहजानन्द" महाराज जिन्होंने पूर्व आचार्यों के द्वारा रचित ग्रन्थों की सरल भाषा में किया एवं अनेक महत्वपूर्ण रचनायें करके जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया और भव्यजनों को एक प्रकाश प्रदान किया।

4. मन्त्री श्री सहजानन्दशास्त्रमाला के हम आभारी हैं जिन्होंने सहजानन्दसाहित्य ज्योति के निर्माणारम्भ के समय जो सहजानन्दसाहित्यके ग्रन्थ उपलब्ध थे उन्हें प्रदान किया जिन ग्रन्थों पर से किरणों को संचित किया गया।

5. श्री अशोक कुमार जी दिल्ली व श्री राम नारायण सिंह जी स्टेनों के भी हम आभारी हैं जिनके इस सुझाव पर कि थोड़ा -2 समस्त ग्रन्थों का परिचय हो जावे व एक हो पुस्तकसे सर्व विषयक स्वाध्याय हो जावे एतदर्थ सहजानन्दसाहित्यके ग्रन्थों का परिचायक विषय सहित यह ग्रन्थ सम्पादित हुआ है।

6. धूलियान निवासी श्री पोरूमल जी के भ हम आभारा हैं जिन्होंने अपने पिता जी को स्मृतिमें इस ग्रन्थ के प्रारम्भके लिए 1000 प्रदान किया है।

7. भारतवर्षीय वर्णी जेन साहित्य मन्दिर के समस्त सहयोगियोंके आभारा हैं जिनके सहयोगपर संस्था प्रगतिशील कार्य कर रही है।

परमात्म आरती

जय जय अविकारी

जय जय अविकारी, स्वामी—जय जय अविकारी।

हितकारी भयहारी, शाश्वत सवविंहारी । ॥ टेक ॥

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी । स्वामी सम०
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी । जय ॥ 1 ॥
हे स्वभावमय जिन तुमि चोना, भव संतति टारो । स्वामी भव०
तुव भूलत भव भटकत, सह विपति भारी जय ॥ 3 ॥
पर सम्बन्ध बन्ध दुख कारण करत अहित भारी । स्वामी करत.....
परम ब्रह्मका दर्शन, चहुंगति दुखहारी । जय ॥3 ॥
ज्ञान मूर्ति हे सतय सनातन, मुनिमन संचारी । स्वामी मुनि
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भंडारी । जय ... ॥ 4 ॥
बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शान्तिचारी । स्वामी सहज०
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी । जय ॥ 5 ॥

“सहजानन्द साहित्य – ज्योति”

प्रथम भाग

आद्य वक्तव्य

सहजानन्द साहित्य – परिचायक पुस्तके लिखनेका उद्देश्यः—अनादि कालसे संसारमें रूलते रूलते, पशु-पक्षी, स्थावर, कीटे पतिंगा आदिक योनियोंमें जन्म मरण करते करते सुयोग से मनुष्यभव पाया है। जहां श्रेष्ठ मन व उत्तम जैन शासन प्राप्त किया है। इस जीवनमें अपना कर्तव्य है कि ऐसा उपाय बनायें कि अपना जन्म मरण, रोग शाक आदिक सब संकट सदा के लिए दूर हो जावें। हर्ष की बात है कि हम लोगोंके सौभाग्यसे समस्त संकटोंका निवारण कर देने एवं शुद्ध शाश्वत सहज आनन्द प्राप्त कर लेने के उपाय से गर्भित निष्पक्ष आर्ष परम्परागत आध्यत्मिक साहित्यका प्रणयन अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षु० मनोहरजी वर्णो सहजानन्द महाराज ने किया है, उस

शान्तिप्रद साहित्य का परिचय कराना इस "सहजानन्द साहित्य – ज्योति" नामक परिचायक पुस्तक के लिखने का उद्देश्य है।

सहजानन्द साहित्य के प्रणेताका संक्षिप्त परिचय: – सहजानन्द साहित्य का परिचय कराने से पहिले इस साहित्यके प्रणेताका संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक समझ कर प्रारम्भमें उनके जीवनके परिचयका प्रयत्न किया जा रहा है।

आपका जन्म कार्तिक कृष्णा 10 विक्रम सं० 1972 के ब्राह्म मुहूर्त में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री गुलाबराय और माताका नाम श्रीमती तुलसा वाई था। शिशु अवस्थामें आप मदनमोहन, बचपनमें मगनलाल और विद्यार्थी अवस्थामें मनोहरलाल नामसे पुकारे गये। पश्चात् तयागी अवस्था में गुरुजी द्वारा सहजानन्द नामसे सम्बोधित हुए।

आप प्रारम्भ से ही कुशाग्रबुद्धि थे। 6 वर्ष की आयुमें विद्यारम्भ हुआ। 7।। वर्षकी आयु तक ग्रामीण पाठशालामें अध्ययन किया। इसके बाद सागर विद्यालय में छठी कक्षा प्रविष्ट हुए। ग्यारह वर्ष की आयु संस्कृत, व्याकरण प्रथमा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। 17 वर्षकी आयु तक सिद्धान्त – न्याय साहित्यविषयक शास्त्र परीक्षाये व न्यायतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण की। 26 वर्ष की आयु में गृह विरक्त होकर पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णों से जो कि प्रारम्भ से शिक्षागुरु भी रहे, दूसरी प्रतिमा व आजीवण पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत लिया। 29 वर्षकी आयु में अपने गुरुजी से ही सपतम प्रतिमा ग्रहण की। तभी से आप छोटे वर्णों जी के नामसे प्रसिद्ध चले आ रहे हैं। फिर एक एक वर्ष बाद अपने गुरुजी से आठवी, नवीं तथा दशवीं प्रतिमाये ग्रहण की। फिर 34 वर्ष की आयुमें गुरु जी से ही क्षुल्लक व्रत धारण किया।

आदर्श गुरुके आदर्श शिष्य: – आध्यात्मिक संत न्यायाचार्य पूज्य श्री 105 क्षु० गणेश प्रसाद जी वर्णों के प्रधान शिष्य हैं। यह बात सरलतया यों ही प्रमाणित हो जाती है कि आपके बड़े वर्णों जी शिक्षागुरु रहे व प्रारम्भिक व्रतों से लेकर अन्तिम व्रत तक दोक्षागुरु रहे। तथा गुरु जी के जीवनकालमें ही 20 वर्ष पहिले से ही गुरु जी तो बड़े वर्णों जो के नाम से तथा सहजानन्द जी छोटे वर्णों जी के नाम से प्रसिद्ध चले आ रहे हैं।

सफल लेखक– कवि एवं प्रवक्ता: – आपकी साहित्यनिर्माणकी रुचि बचपनसे ही रही है। 10 वर्ष की आयु में ही आपने संस्कृत श्लोको में "शोकशास्त्र" की रचना की। इसमें खेल कूद, रेल – सवारी, गोष्ठीवार्ता आदि

अनेक विषयोंपर सभ्यता, उदारता एवं शुभिरुचि के समन्वयके साथ विवेचन हुआ। विद्यार्थी जीवनकालमें भी आपने अनेक रचनायें हिन्दी एवं संस्कृतमें की। गृहस्थ अवस्थामें मनोहर पद्यावलिकी रचना की, जो स्वयंकी विरक्तिसे सम्बन्धित है तथा काव्य व छन्द शास्त्रके नियमों द्वारा आंकने पर उच्च कोटिकी प्रतीत होती है। व्रत ग्रहण करने के बाद रचनाओका कम तेजी से चलने लगा। परिणामस्वरूप अब तक 20 वर्ष में 318 छोटे बड़े ग्रन्थ रचे गये हैं। जिनमें करीब 18 ग्रन्थ अभी निर्माण चल रहे हैं। लगभग 120 ग्रंथ आपने स्वयं अपनी लेखनोंसे लिखे हैं तथा शेष ग्रंथ आर्ष ग्रन्थ व स्वरचित संस्कृत ग्रंथोंपर प्रवचनरूप हैं। जो प्रवचन के समय हिन्दी स्टेनों द्वारा वड बाई वडे नोट किये गये हैं। नोट कर्ताओंमें श्री राम नारायण सिंह जो राजपूत कटिहार शार्ट हैण्ड स्टेनो एवं टाइपिस्टका प्रमुख योग मिला। पूज्य श्री वर्णो जी महाराजने अष्ट सहली, प्रमेय कमल मार्तण्ड जैसे कठिन टीका ग्रंथोंपर भी प्रवचन किये हैं

गुरु का सत्संग आपको जन्मसे ही प्राप्त रहा, इसका कारण यह हुआ कि जिन चिरोंजा बाई जी ने बड़े वर्णो जी को पढ़ाया लिखाया उन चिरोंजा बाई जी की सासु छोटे वर्णो जी की दादी को सगी बहिन थीं। इस नाते से बाई जी का व गुरु वर्णो जी का आपके घर पर आना जान रहता था। आपकी कुशल प्रतिमा देखकर बाई जी व बड़े वर्णो जी ने 8 वर्ष की आयुमें ही आपको सागर विद्यालय में जाकर शिक्षित किया। आपके गुरु जी ने भी आपको कैसा सुयाग्य समझा वह गुरुजी ने इन वचनों से विदित होता है—
 “ रीयुत मनोहर जी मनोहर ही हैं, यह बहुत प्रभावशाली व्यक्ति है। इसकी धारणशक्ति बहुत उत्तम है। यह एक बार हो में धारण कर लेता है। हमसे पूछो तो यह निकट भव्य है और इसका नाम पर मेष्ठी मन्त्र में लिया जायगा। इसी प्रकार पूज्य बड़े वर्णो जी जब मेरठ से इटावा की प्रस्थान कर रहे थे उस समय आपके विषयमें जो शब्द उन्होंने कहे थे कभी नहीं भुलाये जा सकते—उन्होंने उपस्थित जनताको सम्बोधित करते हुए कहा था ‘मै तुमको एक रत्न सौंपे जा रहा हूं, भलेप्रकार उसकी रक्षा करना, ऐसा त्यागा और ऐसा विद्वान कहीं न मिलेगा।’”

संस्थाओंका निर्माण: — समाज सेवा करने की आपको बचपन से ही रुचि नहीं है। 19 वर्षकी आयु में 55 गावांको का विधान बताया और पंचायत द्वारा आप उसके मंत्री चुने गये। मंत्री पद पर रहकर वृद्ध विवाह रोकना, समाजमें मनमोटाओंको दूर करना और समाज के किसी व्यक्तिके अपराध पर धार्मिक प्रायश्चित देकर, शुद्ध करना आदि कर्तव्योंका पालन किया। जनता में आपके प्रति प्रमाद व विश्वास था कि बुजुर्ग लोग कहां करते थे “ जो मनोहर मर देगा, स्वीकार है।

संसारके दुःखो प्राणी किस प्रकार दुःखसे छूट जायें यही सदैव आपको भावना रहती थी। दूखी प्राणियोंको धर्माभूत पिलाने की एक तड़फन थी आपके हृदयमें। इसी उद्देश्यसे सन् 1905 में सहारनपुर चातुर्मासमें उत्तर प्रान्तीय दि० जैन गुरुकुल की स्थापना आपके ही कर कुमलों द्वारा हुई। अब यह गुरुकुल श्री हस्तिनापुर में आपके द्वारा ही ले जाया जाकर विशाल निजी भवन में सुचारु रूप से चल रहा है।

आपने विचारा कि अब स्कूल और कालेजोंके विद्यार्थी धर्म नामको वस्तुसे बिल्कुल अपरिचित रहते हैं और दूषित वातावरणमें रहने के कारण विषय भागों के गुलाम बनकर अपने जीवन को बरबाद कर देते हैं। व्यापारी वर्ग भी अर्थ संचय और विषय भोगों में इतने संलग्न हैं कि जीवनके वास्तविक उद्देश्यको बिल्कुल भूल गये। ऐसे ही विद्यार्थियों एवं व्यापारियों का जीवन सुख और शान्तिमय बनाने के लिए सन् 1951 में मेरठ सदर में धर्मशिक्षा सदनकी स्थापना की, जहां पर आत्मविद्यार्थी को सिखाया जाता है कि जिस धर्मके द्वारा उसका जीवन सुख और शान्तिमय बन सकता है वह धर्म है क्या ? इस धर्म शिक्षासदन पद्धतिको यह विशेषता है कि पढ़नेवाले पायः विद्यार्थी रहते हैं। जो अर्धतनिक शिक्षण देते हैं और कुल एक घन्टा समयमें ही सभी कक्षाओं के अध्ययनके साथ साथ नैतिक आचरणोंका व्यावहारिक रूप दिया जाता है। इस पद्धति के धर्मशिक्षा सदन अनेक स्थानों में स्थापित किये गये।

समाज द्वारा सहजानन्द साहित्य संस्थाओं का निर्माण: — सन् 1951 मेरठ सदर के चातुर्मास में आपके उपदेशों से प्रभावित होकर कुछ व्यक्तियोंकी, जिनमें महावीर प्रसाद जैन बैंकस प्रधान थे आपकी साहित्यिक रचनाओं को प्रकाशित करने की इच्छा हुई, जिसके परिणामस्वरूप महावीर प्रसाद जैन बैंगर्स का अव्यक्षता में "सहजानन्दशास्त्रमाला" का स्थापना हुई। जिसमें प्रथम आत्मसम्बाधन, धर्मबोध पूर्वार्द्धधमबाध उत्तरार्द्ध प्रकाशित हुए, जिसका प्रतिष्ठापन समारोह गाजे बाजे और बड़े जलूसके साथ हुआ। समाजक सहयोगी से इस संस्था में अब तक 150 प्रकाशित हो चुके हैं और करीब इतने ही ग्रन्थ प्रकाशित होने के लिए तैयार रखे हैं।

समाज को आपके प्रवचन अधिक रुचिकर होने लगे, यह जानकर श्री महावीर प्रसाद जैन बंकर एवं श्री सुमत प्रसाद जी जैन सदर मेरठ वालों के प्रयत्न से वर्णी प्रवचन प्रकाशिनी संस्था का निर्माण सन् 1958 में हुआ। और जब से अब तक वर्णी प्रवचन का प्रकाशन सुचारु रूप से चल रहा है, जिसके अध्ययनसे अनेक मुमुक्षु बन्धु अपना आत्महित कर रहे हैं।

सन् 1964 इटावा चातुर्मास में समाज ने सहजानन्द साहित्यके प्रकाशन के लिए इटावा में वर्णी साहित्य मन्दिर की स्थापना की। यहां से भी

कुछ ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। सन् 968 में बिहार प्रान्त का समाज ने ईसरो में बा० हरकचन्द जी पाण्ड्या रांची वालों की अध्यक्षता में वर्णी जेन साहित्य प्रसारिणी समिति की स्थापना की। यहां से भी कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं।

सहजानन्द साहित्य का प्रकाशन मुख्यता सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ से हुआ व कुछ ग्रंथों का प्रकाशन अन्य संस्थाओं से भी हुआ। इन सब ग्रंथों में आध्यत्मिक दार्शनिक व धार्मिक विज्ञान सम्बन्धित कठिन से भी कठिन विषयों पर सरल रीति से विवेचन है। उनको पढ़कर कल्याण का मार्ग दर्शन व सत्य आनन्द प्राप्त हो जाता है। इसी कारण अब समाज ने ज्ञान प्रभावना के लिए भारत वर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर की स्थापना की। यह संस्था श्री राबहादुर हरकचन्द जी पाण्ड्या रांची को अध्यक्षता में स्थापित हुई। इसका उद्देश्य स्वाध्यार्थी बन्धुओं मन्दिर एवं लाइब्रेरियों के लिए उक्त साहित्यको सदैव अर्द्धमूल्य में वितरित करके ज्ञान प्रसार करना है। यदि किसी वर्ष शास्त्रदानमें अधिक रकम प्राप्त हो जाती है तो यह सहजानन्द साहित्य तिहाई चौथाई मूल्य तक में वितरित किया जाता है। तथा कुछ सीमा में कुछ मन्दिरों को भेंट भी किया जाता है।

सहजानन्द साहित्य के परिचय कराने के लिए जिन जिन विद्वानों एवं धर्मानुरागी बन्धुओं से सहयोग प्राप्त हुआ है उनका मैं हृदय से आभारी हूँ।

सहजानन्द साहित्यका यथार्थतया परिचय तो वे ही पा सकते हैं जिन्होंने इसका स्वाध्याय किया है। सहजानन्द साहित्य के अध्ययन करने वाले धर्म प्रेमियों ने एक स्वर से यह अभिप्राय प्रकट किया है। कि निष्पक्ष, आर्ष परम्परागत, सरलभाषामय, शान्तिप्रद, संकटहारी इस आध्यात्मिक साहित्यसे जो हमें ज्ञान एव आनन्द प्राप्त हुआ है वह अभूतपूर्व है। इस आद्य वक्तव्य में श्री अशोक भाई सुपुत्र श्री सुमति जी सदर मेरठ वालों से काफी सहायता प्राप्त हुई एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है कि सभी धर्मप्रेमी बन्धु इस उपयोगी और आत्मशान्ति प्रदान करनेवाले सहजानन्द साहित्य का स्वाध्याय – मननकर अपने आपके संसार के सकल संकटों से छुटाकर सहज आनन्द प्राप्त करेंगे।

मुजफ्फरनगर

सुमेर चन्द जैन

सहजानन्द – साहित्य – ज्योति

प्रथम – भाग

सहजानन्द साहित्य मुख्यता तीन भागों में विभक्त हैं :-

1. अध्यात्मग्रन्थ
2. अध्यात्मप्रवचन
3. विज्ञान 'धार्मिक विवध विशयोंका ज्ञान'

अध्यात्मग्रन्थों में कुल ग्रन्थ 107 हैं। अध्यात्मप्रवचन में कुल ग्रन्थ 200 हैं। शेष विज्ञान सम्बन्धित ग्रन्थ 50 हैं। इनमें से प्रकाशित व उपलब्ध ग्रन्थों के कुछ उद्धरण दो प्रयोजनों से दिये जा रहे हैं— 1. धर्मप्रमी बन्धु एक इस सहजानन्द साहित्य ज्योति को पढ़कर धर्मलाभ ले सकें, 2. किसी भी इष्ट ग्रन्थ का स्वाध्याय के लिए निर्वाचन कर सकें।

1. आत्मसम्बोधन – 'मनोहर वाणी'

इसमें आध्यात्मिक पद्धति से विचार तरंगों का संकलन है। दुःख संकट के क्षणों में इसका अध्ययन व मनन शान्ति प्रदान करता है। इसमें उल्लिखित विचार – तरंग छोटी – 2 होने पर भी उच्च भावों से परिपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि गागर में सागर है।

आत्माको उन्नत बनाने वाली सहिष्णुता के सम्बन्ध में देखिये कितनी सुखद प्रेरणा है—

“यदि शरीरपर कष्ट झिल गया तो तू क्या घुर गया ? यदि दूसरों ने सम्मान न किया तो तेरा क्या गिर गया किसी ने तेरे विरुद्ध कुछ शब्द कह

दिये तो तू क्या छुड़ा लिया ? बता । सहिष्णु बना यहां तेरा कोई नहीं है किस पर नखरे करता ?

शान्ति के व्यावहारिक मूल मंत्रको किस अन्तरदृष्टि में प्रस्तुत किया है, प्रयोग करके अनुभव तो कीजिए ।

यदि तुम्हें शान्ति पसन्द है तो तुम अपना ऐसा व्यवहार रखो जिस व्यवहार के निर्मित से दूसरी को अशान्ति पैदा न होवे, क्योंकि तुम्हारे व्यवहार से दूसरो के अशान्त होने पर तुम्हें शान्ति न होगी ।

लोक में चरित्र ही एक वैभव है । जिसने चरित्र खोया उसने सब कुछ खोया और जिसने अपना चरित्र पाया उसने सब पाया इस तथ्य की प्रेरणा किस सुन्दर भावमों में दी है ।

अपना चरित्र गठीत रखो फिर तू अजेय है । तूने अपने लिए सर्व तम चमत्कार पा लिए ।

परमार्थ आत्मसेवा ही संकटों को समूल नष्ट करने का अमोघ मंत्र है इसकी आभी यहां देखिये ।

अपने लक्ष्य में आत्मस्वरूप का बना रहना सुधासागर है यदि तुम्हें कभी तृष्णाका दाह जलावे तब उपयोग की डुबकी उस अमृत सागर में लगा दें फिर तु अमर और शान्त ही रहेगा ।

चंचल मन वाले पुरुष जरा जरा सी बात में सत्संग छोड़ देते हैं उनका मार्ग दर्शन लेखक ने इन शब्दों में दिा है:—

“सिर्फ अनुमान और स्नेह के आधारपर या दूसरे पुरुषों के कहने पर ही उत्तम पुरुषों से नहीं हटना चाहिए ।”

“तुच्छ विचारों को क्षण भर के लिए अपने मनमें स्थान देना कितना अनर्थ है, इस तथ्य की लेखककी इस विचार तरंग में देखिये—

“नीच विचारों की स्थान मत दो अन्यथा यही विचार कुध्यान का रूप लेकर अपने अनुरूप प्रवृत्ति कराके तुम्हें भ्रष्ट, भतित व दुःखी कर देंगे ।”

चाह करने का भी फटकारने वाली कितनी सुन्दर विचार धारा है—

चाह करते करते हैरान तो हो गए—जिससे हैरानी हुई उसे ही देवता क्यों बनाते?

अज्ञानीकी कितनी उल्टी प्रवृत्ति हो रही है— यह भी लेखकके इन शब्दों में देखिये:—

जगत पुण्य का फल चाहता किन्तु पुण्य करना नहीं चाहता और पापका फल नहीं चाहता किन्तु पापभाव चाहता व करता है।

ज्ञानभण्डारियोंको कल्याण मार्ग में प्ररित करने वाली वाली वाणी देखिये:—

“ज्ञान पाने का फल वीतरागता है – यदि वीतरागता में उद्यम नहीं है तो फिर ज्ञान के बोझ से लाभ क्या ? ”

अधीर पुरुष इन उपकारी वाक्यों से हितकारी सन्मार्ग प्राप्त करें—

“ऐसी धीरता पैदा करो जो दूसरे की मन, वचन, काय की प्रतिकूल चेष्टा होते हुए भी अक्षुध्य रहकर उसे समझा सकें।”

“शीघ्रता में आकर जो तुमने सुना और माना है, कहने मत लगे।”

लौकिक वैभवोंसे निबृत्त कराने की कितनी सरल विधि मिल रही है—

“ये वैभव मांगने में तो आ ही नहीं सकते, केवल बुद्धिगत होकर पापमें निमित्त बनते हैं, मांगने में तो आते ही नहीं, फिर बुद्धिगत ही क्यों करते ? हटो और दूर रहो।”

रागियों की करुणा कहानी भी तो देखिये—

“मिर्च खाने वाला दुःखसे सी सी करता जाता और खाता भी जाता इसी प्रकार रागी पुरुष रागका दुःख भोगता जाता और राग भी करता जाता।”

“राग की पीड़ा रागसे शान्त नहीं होगी, खून का दाग खूनसे नहीं धुलता, उस पीड़ा की शान्ति का उपाय बताया है—

“जो संयोगमें हर्ष मानते हैं वे वियोग में दुःखी होते हैं, अतः वियोग के दुःख को न चाहने वाले संयोग में सुख न मानें।”

आत्मापर लक्ष्य रखने वाली कल्पनायें अनेक हैं। जैसे—

“तुम तो अनादि अनन्त हो, किसी एक पर्याय रूप नहीं। जब इस पर्याय रूप ही तुम नहीं हो तब इस पर्याय के व्यवहार में क्या रूचि करना ?”

“किसी भी परिस्थिति में हो आत्मा के एकाकीपन को जानकर प्रसन्न रहो।”

संसार के संकटों से मुक्ति पाने का उपाय भेदविज्ञान ही है। साधारण जनों को भी भेदविज्ञान कराने की चेष्टा की गई कल्पना को तो मनन कीजिये—

“संसार यह चिल्लाता है — यह मेरी स्त्री है, यह मेरा बेटा है, यह मेरा धन है, यह मेरा मकान है देखो ये ही शब्द भेदविज्ञानकी बातें बता रहे हैं। यह मेरा है ऐसा कहने से यह ही तो आया — यह यह है, मैं मैं हूँ — यह मेरा है। ऐसा तो कोई नहीं कहता — मैं स्त्री हूँ, मैं बेटा हूँ, मैं धन हूँ, मैं मकान हूँ, आदि। भेदविज्ञान के लिए ज्यादा क्या परिश्रम करना। आंखों सामने बात है, न मानने का क्या इलाज ?”

आत्मशक्ति की सम्हाल ही आत्माका सत्य वैभव है। इस आत्मसम्हाल की प्रेरणा इन वाक्यों में झलक रही है—

आत्मन् ? तू अनन्त शक्तिमय है। बकरियों में पले हुए सिंह के बच्चे की तरह दीन क्यों बन रहा है ? सर्व पर पदार्थ की तृष्णा तज और स्वतन्त्रता से अपने में विहार कर।

दुःख की परिस्थिति में दुःख को दूर करने वाला कितना सफल चिन्तन है यह—

तुम यदि दुखी होतो दूसरों पर एहसान क्यों डालते ? क्रोध क्यों करते ? जाहं इच्छा करते हो उस इच्छा को खतम कर दो अभी सुखी हो लो।

भ्रम ही भ्रम में हम कितना परेशान हो रहे हैं इसका चिन्तन लेखक के इन शब्दों में देखिये—

सुख अपने ज्ञान का आता परन्तु जैसे सूखी हड्डी चबाने वाले कुत्तो को स्वाद तो अपने मुंह से निकलते हुए खून का आता पर मानता हड्डी का स्वाद इसी तरह मोही भी पर पदार्थ का सुख मानता होता स्वयं का है।

कषाय आत्मा का मथन कर देती है। इन कषायों को नष्ट करने का सर्व उपाय देखिये—

जहां पर कषाय हुई वहीं पर उसे नष्ट कर दो अन्यथा शान्ति तो दूर रही अशान्ति ही बढ़ती जायगी।

क्रोध की शान्ति के लिए इस शान्तिमय सन्देश को ग्रहण कीजिये—

रे क्रोध तेरे में बड़ी ज्वाला है सारे गुण फूंक देता है। तू उस ज्वाला में नहीं जल पाता अग्नि भी तो ज्वाला में स्वयं जलकर मर जाती है तू अग्नि ही जैसा बन जा तब भी ठीक है किन्तु तू विलक्षण आग है। उद्धण्ड मत हो विनाशकी बूटी मैंने पा ली।

निरभिमानता की परीक्षा अभिमान या अपमान का निमित्त मिलने पर होती है। प्रशंसाके काममें तो सभी नम्र से बन जाते हैं।

ठगे जाने और टगनने इन दोनों में कौन सी परिस्थिति निकृष्ट है इस धर्म को लेखक के इस विचार तंत्र में देखिये।

ठगे जाने से टगना बुरा है, ठगे गये व्यक्ति के आत्मा का बिगाड़ हुआ ? बाह्य पदार्थ का ही वियोग संयोग रहा परन्तु टगने वाला तो अपने आत्मा को कुटिल बना कर अपने सब प्रदेशों में मलिन बन रहा है दुर्गतिकी तैयारी कर रहा है।

आत्मज्ञान का सरल संदर्शन देखिये।

जो पुरुष भटकते हैं यह कहते हैं कि मेरे जिहवा नहीं तो उसकी बात मान्य नहीं क्योंकि जिस जिह्वसे कह रहा है वही तो जिह्व है। इसी प्रकार जो यह कहे कि मेरे आत्मा को ज्ञान नहीं तो उसकी बात अमान्य है, क्योंकि जो ऐसा जान रहा है वही तो आत्मा है।

अनेकों पुरुष धर्म की खोज में भटककर भी धर्म नहीं पा पाते वे जरा इन वाक्यों का भाव तो समझें—

धर्म क्या किसी स्थान विशेष पर है ? धर्म क्या किसी पुरुष के पास है ? धर्म क्या किसी उत्सवमें है ? धर्म तो आत्माकी वीतराग परिणति है, वह अपनी ही परिणति है, अतः धर्म को अपने में देखो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये छोटी छोटी कल्पनायें नहीं, परन्तु सकल क्लेशरूपी ईंधन को जलाने के लिए विशाल अग्नी की चिनगारी हैं। इस पुस्तक के अध्ययसे अनेकों धनिक पुरुषों ने जो कि किसी घटना के कारण आत्महत्या का विचार किये हुए थे उन्होंने एक दो घन्टें के इस पुस्तक के अध्ययन से आत्महत्या का विचार छोड़ दिया और साहस करके पूर्ववत् सुखसे रहने लगे।

2 – 3 '2–' सहजानन्द गीता – मूल व सान्वयार्थ

इस ग्रन्थ में वे सब आध्यात्मिक हितकारी चुटकुले हैं जिन आसान तरीकों के सहाने सारे विकल्प दर हो जाते हैं तथा आनन्दधाम अंतस्तत्त्वमें प्रवेश हो जाता है।

इसके सम्बन्ध में डा० मूलचन्द जी जैन एम० ए० डी० मुजफ्फरनगर निवासों ने लिखा है—

आज हम दुःखी क्यों हो रहे हैं ? कारण इसका यही समझ में आता है हम जो भी कार्य करते हैं उसका फल अवश्य चाहते हैं। किसीकी जरा सी भलाई कर दी और अन्तरंग में यही इच्छा बनी रहीं कि यदि हमारे उपर कोई आपत्ति किसी समय आ जायेगी तो वह भी हमारी सहायता करेगा। फल इसका यह होता है कि यदि उस विपत्ति के समय वह हमारे काम नहीं आता तो हम क्लेशित व दुखी होते हैं। इसकी बात तो छोड़ो हमारी तो यहां तक प्रवृत्ति हो गई है कि यदि हम वीतराग भगवाना की भी पूजा करते हैं तो अन्तरंग में यही आशा लिये रहते हैं कि इस पूजा के फलस्वरूप हमें धन – सम्पत्ति, पुत्र आदि प्राप्त हों और परभव में स्वर्गादिक के सुख प्राप्त हों। परिणाम यह होता है कि वीतराग की पूजा करने से अपने परिणामों में वीतरागता आनी चाहिये वह नहीं आती। इस प्रकार की हमारी परिस्थिति है फिर इस पर हम कहते हैं कि पूजा करते 2 तमाम जीवन बीत गया परन्तु रहे हम दुखी के दुखी ही। तो भाई सुख हो कहां से ? सुख मार्ग तो कुछ और ही है।

“श्री सहजानन्द गीता” के रचियता न्यायतीर्थ, ज्ञाननिधि, प्रखर पंडित पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज चेष्टा में निस्पृहताकी अनुमोदना कर कहते हैं जिस समय तक हम में शक्ति न आ जाये हमें कर्म करना ही पड़ता है। उस समय यदि हम कर्म करें तो वह फलासक्ति व आशाका त्याग करके करें परन्तु लक्ष्य सदैव इस बात पर ही रखें कि यह जो मैं कर रहा हूं यह भी मेरा स्वभाव नहीं है। कब मेरी वह स्थिति हो जाये कि मैं इन कर्मों के करने के चक्कर से ही निवृत्त हो जाऊँ। आपका उपदेश है,

‘ज्ञात्वात्सः श्रमं व्यर्थ नेत्रोन्मेष निमेषयोः।

स्वस्थ सुखी स एवातः स्यो स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥ 6॥

अथात् जिसका उपयोग आत्मामें इतना स्थिर हो जाता है कि नेत्र के उघाड़ने व बन्द करने तक के कार्य में भी जो परिश्रम होता है वह व्यर्थ है, यह समझकर शरीर की क्रियाओं में भी आलसी हो जाता है अर्थात् कोई भी क्रिया जो नहीं करता वहीं स्व में स्थित—स्वस्थ है, और वह ही आत्मा सुखी होता है इसीलिये मैं अपने में ही रहता हुआ अपने अर्थ स्वयं सुखी होऊँ।”

श्री सहजानन्द गीता विपत्ति में हमारा मित्र है। जिस समय हम दुःख से व्याकुल होते हैं, पाप कर्मका उदय होता है किसी प्रकार भी सुख और शान्ति की प्राप्त नहीं होती तो **गीता** का यह पाठ अमृत का कार्य करता है। घोर से घोर विपत्ति आने पर भी हम किस प्रकार से उस विपत्ति को आकुलित न होत हुए सहन कर सकते हैं इसका सीधा — सीधा उपाय गीताकारने अध्याय न० 7 श्लोक नं० 2 में हमें बताया है कि सदैव मैं इस बात का ही विचार करूँ कि ये जो विपत्तियों मेरे उपर आ रही हैं ये सब मेरे ही पूर्वकृत कर्मोंका फल है : अतः मुझे स्वयं समभाव से सहन करना चाहिये। कोई भी मुझे इस विपत्ति से छुटकारा दिलाने में समर्थ नहीं है। इस अनादि से हूँ। इस भव से पहले भी मैं था। वहां पर भी किसी आत्माने मुझे मरण से न रोका। इस भव में भी मैं अनेक बार असाध्य रोगों से पीड़ित हुआ परन्तु रंच भी कोई मेरे इस दुःख को बांट न सका। और फिर ये सारी तरंगें मेरा स्वभाव नहीं, न इन स्वरूप मैं हूँ मैं तो त्रैकालिक एकाकार ज्ञानस्वरूप हूँ अतः अब तो मैं पर में मरण बुद्धि के भ्रम को हटाकर स्वयं शरण स्वयं निज ब्रह्म में ही ठहर जाऊँ तो मैं सुखी हो सकता हूँ। कितना अनोखा उपाय है सूखी होने का। न किसी से लेना है और न कुछ किसी को देना है। बस श्रद्धा उपर्युक्त प्रकार हो जाये तो सुख ही सुख है।

विपत्ति में अधिक व्याकुल होने का मुख्य कारण यह होता है कि शरीर में हमारा बहुत ही अनुराग है। शरीर को इतना सुखियां हमने बना रखा है कि तनिक सी वेदना इस शरीर में हुई कि हम परेशान हो जाते हैं, रोने चिल्लाने लगते हैं। यह तो रही शरीरिक वेदनाकी बात। जब हमें किसी प्रकार की धनहानि हो जाती है या इष्ट — वियोग अथवा अनिष्ट — संयोग आदि हो जात है तो हम महान दुःखी हो जाते हैं जिसका मूल कारण है कि हमने यह श्रद्धा बना रखी है कि हमें अमुक दुखी करता हूँ, अमुक सुखी करता है और यदि अमुक इस प्रकार ऐसा न करता तो हमारा भी ऐसा न होता। पूज्यश्री किस ढंग से उस दुखी होने के कारण को हटाने का उपाय बताते हैं देखने की चीज है। आप कहते हैं—

“देहोअस्तु वा न को लाभः का हानिर्मेतु शान्तिदा ।

ज्ञानदृष्टः सदा भूयात्सयौ स्वस्मै सवे सुखी स्वयम् ॥7॥18॥

अर्थात् देह हो उससे क्या लाभ है अथवा देह न हो उससे क्या हानि है। परन्तु शांति देने वाली ज्ञानदृष्टि मेरे सदा ही हो जिसमें मैं अपने में अपने अर्थ स्वयं सुखी होऊँ। और यदि युक्ति से विचार करें तो मालूम होगा कि यह शरीर ही सब अनर्थों की जड़ है, शरीर के कारण ही भूख प्यास आदिकी वेदनायें होती हैं। इष्ट – अनिष्ट की कल्पना भी तो शरीर से ही होती हैं। शरीर न रहे तब किसी प्रकार की भी आपत्ति न रहे शरीर रहित होने पर ही तो भगवान बनते हैं अर्थात् मोक्ष में जा विराजते हैं। इस प्रकार का यह शरीर है, इससे फिर ममत्व क्यों करें ? शरीर को हम अलग तो नहीं कर सकते परन्तु इतना तो किया ही जा सकता है कि उसमें ममत्व – सम्बंधी मोह राग न रहने के कारण वह अनन्तसुखी रहते हैं। अब आप ही बतलाइये कि क्या इस प्रकार की श्रद्धा करने वाला आत्मा घोर से घोर शारीरिक वेदना उपस्थित होने पर भी घबरा सकता है ? नहीं कभी, नहीं।

आगे चलकर आप बतलाते हैं कि यह तो हमारा भ्रम मात्र है कि हमें अमुक पदार्थ सुखी करता है और अमुक दुखी करता है। मैं तो स्वतन्त्र, एकाकी सबसे भिन्न हूँ। सब पदार्थ अपने – 2 द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिणमते हैं, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता, न कुछ उससे ले सकता है, न कुछ उसे दे सकता है। चाहे कोई पदार्थ किसी रूप परिणामों में तो सदैव अपने ज्ञान – स्वभाव में ही लीन रहूँ यही सुख का उपाय है। इस प्रकार जब हमारी श्रद्धा हो जायेगी फिर भी हम दुःखी रहे असम्भव प्रतीत होता है।

वस्तुतः अपनी ओर पूर्ण रूप से लक्ष्य होने पर ही सच्चे आत्मीक सुखकी अवस्था प्रकट होती है। वर्तमानकी जितनी भी पर्यायें हैं वे सभी दुःख रूप ही हैं। उनसे छुटकारा पाने के लिए हमें अपने आत्म स्वरूप या आत्मगुणों की पहिचान करनी होगी और उनकी प्राप्ति में ही प्रयत्नशील होना पड़ेगा। इसी भाव को निम्नलिखित श्लोकों द्वारा पूर्ण युक्ति के साथ प्रदर्शित किया गया है :-

श्लोक :-

पूर्णदृग्ज्ञानसत्सौख्यी सिद्धात्मा देशतोअयहम् ।

पूर्णश्य भवितु शक्यः स्यौ स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥2॥58॥

सिद्ध आत्मा पूर्ण दर्शन ज्ञान शक्ति सुख स्वरूप हैं मैं भी एक देश से दर्शन ज्ञान शक्ति सुख दशा रूप हूं और पूर्ण होने के लिए समर्थ हूँ अतः अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

श्लोक :-

देहे स्थित्वाऽपि न स्पृष्टो नानाकारो न स्वकृतिः।

जानन सर्वं न सर्वेऽहं स्याँ स्वस्मैँ स्वे सुखी स्वयम् ॥२॥४॥

अर्थ:-

मैं देह में ठहर कर भी देहसे छुआ हुआ नहीं हूँ नाना आकार वाला होता हुआ भी निजकी निरपेक्ष आकृतिवाला नहीं हूँ सबको जानता हुआ मैं सब रूप नहीं हूँ इस प्रकार शुद्ध अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

उपर्युक्त प्रकार आत्माके स्वरूपकी श्रद्धा करने वाला आत्मा सम्पत्ति में हर्ष नहीं मानता, विपत्ति में क्लेश नहीं करता, प्रशंसा में अपने को दुखी नहीं करता। वह तो हर परिस्थिति को कर्मकृत समझकर साम्यभाव से वर्तन करता रहता है और धीरे धीरे 2 अपने ज्ञान व अभ्यास के बल निर्विकल्प दशा को प्राप्त कर लेता है जो कि उसका ध्येय है।

सच पूछो तो इस ह्यसके काल में 'गीता' की रचना करके जो उपकार हमारे पूज्य श्री सहजानन्द जी महाराजने किया है उससे हम किसी प्रकार भी उन्नत होने में अपने को समर्थ नहीं पा रहे।

इस ग्रन्थ के सातों ही अध्याय अपूर्व हैं। सुख – मन्दिर के शिखर पर पहुँचने के लिये सर्वप्रथम आत्मशक्ति का बोध परमावश्यक है। अतः गीता के प्रथम अध्याय में इसी विषय का दिग्दर्शन कराया गया है। फिर अन्तर्ज्ञान, और बाहर भावनाओं का, जिसके बिना सुख प्राप्ति असम्भव है, दूसरे व तीसरे अध्याय में समावेश किया गया है। आशा से रहित, स्व में स्थित व समताका धारी वैरागी बनकर सुखका पात्र हो सकता है इसीका वर्णन आपको वैराग्य प्ररूपक, स्वास्थय प्ररूपक, साम्यप्ररूपक, व वैराग्यप्ररूपक, कमशः चौथे, पांचवें छठे व सातवें अध्याय में मिलेगा। इतना कठिन विषय होते हुए भी आपने चुटकुलों में गहन तत्व को समझाया है और सुख का मार्ग बहुत ही सरल शब्दों में दिखाया है।

यह कार्य इस प्रकार सम्पन्न होना आप जैसे अनुभवी द्वारा ही सम्भव था।

सहजानन्द गीता के मूल श्लोकों के अन्वय लिखे जाने पर भी उनके भावों को आध्यात्मिक पद्धति से स्पष्ट जानने की जिज्ञासु पुरुषों की मांग रही, उनके अनुरोध पर मूल लेखक ने स्वयं उन श्लोकों का तात्पर्य अति संक्षेप में लिखा है।”

हम सब मनुष्य प्रायः कर्तृत्वबुद्धि से ही दुःखी हो रहे हैं। मैंने यह किया — मैं यह कर रहा हूँ — मैं यह करूंगा — इन विकल्पों से शान्ति का घात हो रहा है। उस शान्ति को प्राप्त कराने में समर्थ अकर्तृत्वभाव हैं, उसका दिग्दर्शन सहजानन्द गीता के प्रथम अध्याय के चतुर्थ श्लोक के तात्पर्य में देखिये—

“न करोमि न चाकार्षम् न करिष्यामि किंचन। विकलोन मुध त्रस्तः — स्वसमै स्वे सुखी स्वयं ॥1-4॥

तात्पर्य — वास्तव में जितने द्रव्य हैं वे अपो अपो अस्तित्व से हैं। यदि कोई किसी के अस्तित्व से होने लगे तब सर्व संकर हो जायगा या सबका ही अभाव हो जायगा, अतः प्रत्येक द्रव्य का परिणमन इस ही विवक्षित द्रव्य के गुणों में होता रहता है। अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के गुणों को उत्पन्न नहीं करता। हाँ, निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य रहता है तो वहां निमित्त तो उपादानभूत द्रव्य के अस्तित्व से बाहर ही बाहर उपस्थित रहता है और वह निमित्त अपने ही गुणों में परिणमन करता रहता है। जब यह वस्तुस्थिति है तब मैंने किसी भी पर द्रव्य को किया क्या ? व किसी पर द्रव्य को क्या कर रहा हूँ ? और, क्या किसी को भी कर सकूंगा ? कुछ भी नहीं। किन्तु, मैं करता हूँ, मैंने किया, मैं करूंगा ये मिथ्या विकल्पों को करके आकुलित हुआ, आकुलता की संतान बढ़ाई, अब सर्व आपदाओं के मूल इन विकल्प भावों को दूर कर मैं अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।”

आत्मा स्वयं आनन्द का निधान है, किन्तु यह दुःखी नजर आ रहा है। इसका कारण कोई परमार्थभूत नहीं है, किन्तु भ्रम ही है। भ्रम में किस तरह क्लेश उत्पन्न होता है और उस भ्रम के नष्ट होते ही किस प्रकार क्लेश विनष्ट हो जाता है यह देखिये प्रथम अध्याय में श्लोक के तात्पर्य में—

महान् स्वभ्रानितजः क्लेषो भ्रान्तिनासेन नक्ष्यति।

याथात्म्यं श्रद्धै तस्मात्स्यौ स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ 1-33 ॥

तात्पर्य—स्वयं ने ही क्लेश मिलाया तो स्वयं ही मिटावेगा, यह क्लेश अपने भ्रम से हुआ, पदार्थ से नहीं। सामने रस्सी पड़ी है, उसमें जब यह भ्रम हुआ कि यह सांप है तो इस भ्रमकी अवस्था ने ही उस भ्रमीको संक्लेश में ला

दिया, भयभीत कर दिया, सामने वाले पदार्थ ने नहीं। मोही प्राणी भी यही भ्रम करता है कि अमुक पदार्थ या शरीर मैं हूँ, धन आदि मेरे हैं, बस इसी भाव से वह संक्लिष्ट बना रहता है, क्योंकि पर पदार्थोंका संयोग व परिणमन उन्हीं के आश्रित है, परन्तु मोही मोह के कारण चाहता है कि मेरे अनुकूल ही सब का परिणमन हो सो होता नहीं। इस भ्रम के नाश सेही क्लेश नष्ट होगा तथा भ्रम का वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसी श्रद्धा करने से होता है। इसलिए मैं वस्तुस्वरूप जैसा है वैसी ही श्रद्धा करूँ जिसमें निज स्वरूप के अनुकूल रहूँ और स्वयं में ही स्वयं सुखी होऊँ।”

पुण्योदय से जिनको मन प्राप्य हुआ है ऐसे जीव प्रशंसा और निन्दा में हर्ष – विषाद मानने का रोग लगाये हुए हैं। और, इस कारण प्रशंसक और निन्दक में राग द्वेष करके दुःखी भी होते रहते हैं। शान्ति के अर्थ यह आवश्यक है कि प्रशंसा और निन्दा में हर्ष – विषाद न करें और प्रशंसक एवं निन्दक में रागद्वेष न करें। ऐसा समता परिणाम लाने के लिए छठे अध्याय के 34-35 वें श्लोक का तात्पर्य देखिये—

“प्रशंसकेन दत्तं किं क्षोभं कृत्वा पलायितः।

किं हितं तेन किं रोचै स्याँ स्वै सुखी स्वयम्।।6-34।।

तात्पर्य—प्रशंसा सुनने से मोही प्राणी चित्त में सुख नुभवका आभास करते हैं। तत्व से विचारो तो उस प्राणी को प्रशंसकने दे क्या दिया ? वह तो उसके बड़े भारी क्षोभ का निमित्त बनकर 'व्यवहार में क्षोभ को करके भाग गया, अपने स्थान चला गया। निज निज परिणति देखो— अन्यकीं परिणति से कोई लाभ है क्या ? प्रशंसक की चेष्टा से मेरा हित है क्या ? फिर उसमें, उसके वचनों उसके वचाके निमित्त से होने वाले क्षोभ में क्या अनुराग करूँ। मेरा हित मेरे स्वाभाविक निरूपाधि चैतन्यभावके वर्तन में हैं, अतः इसे इस ही सब विशेषों में अनुगत चैतन्य प्रकाश के अनुभव के द्वारा प्रशंसाभाव से सर्व विषय भावों से दूर होकर साम्यपुंज निज में ही निज के अर्थ अपने आप सुखी होऊँ।

“निन्दकेन हतं किं मे दोषमुक्त्वा स्थिरीकृतः

का क्षतिस्तेन किं शोचै स्याँ स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्।।6-35।।

तात्पर्य – निन्दा सुनने से मोही प्राणी व्यग्रता का अनुभव करते हैं। तत्व से विचारो तो उस निन्दक प्राणी ने मेरा कर क्या लिया ? वह तो दोष न हो तो आगे न बनने का उत्साह भरकर और यदि दोष हो तो दोषों को

हटाने की शिक्षा देकर स्थिर ही कर गया, सावधान कर गया। निज निज परिणति देखो – अन्यकी कुछ भी चेष्टा से मेरी कोई हानि है क्या ? निन्दक की चेष्टा से मेरा क्या अहित है ? फिर उसमें, उसके वचनों में क्या द्वेष करूं, उसके निमित्त से होने वाले क्षोभभाव में क्या ग्लान होऊं। मेरा हित मेरे स्वभाविक निरूपधि चैतन्यभावके वर्तन में है, अतः इस ही सर्व विशेषों में अन्ययीभूत चैतन्य भाव के लक्ष्य के द्वारा निन्दा मानने के भाव से सर्व अनिष्ट विषयभावों से दूर होकर ज्ञानमात्र साम्यपुंज भावस्वरूप निज चैतन्यग्रहो में उपयोगी रहकर अपने में अपने अर्थ स्वयं सहज सुखी होऊँ।”

इस गीता के पांचवें अध्याय के दशवें श्लोक के तात्पर्य में देखिये कि अपने को बाह्य विकल्पों से हटाकर अध्यात्मयोग में किस सरलता से जोड़ा गया है—

“यत्र कुत्राप्यस्थायामस्मि तत्रैव यत्नतः।

कृत्वा सत्याग्रहं शान्तः स्यौ स्वस्मै स्वे स्वयम् ॥5-10 ॥

तात्पर्य – हमारे असत्य आग्रह से ही हमारे दुःखरूप अवस्था में बाह्य द्रव्य निमित्त बन रहे हैं। घर के बालक का नाम घर के मातापितादिके वचन व्यवहार से बिगड़ता है। अपने से भिन्न पर पदार्थों में आत्मभाव से भिन्न समस्त क्षणिक औपाधिक भावों में आत्मीयता की हठ हुई कि उसके फलस्वरूप आकुलता के निर्माण में जो चाहे सो आत्रयभूत निमित्त हो जाता है। अब चाहे मैं किसी अवस्था में उस अवस्थाका विकल्प न करके उपयोग की सम्हाल से जैसा पर का स्वरूप है – पर में मैं नहीं, मुझ में पर कुछ नहीं, ऐसे स्वतन्त्र चैतन्यमय निज तत्वका सत्य आग्रह करके चैतन्यमय – शान्तिरूप परिणमनकी बुद्धि करके शान्त होता हुआ अपने आपमें स्थिर होऊँ। और इस प्रकार सर्व भावान्तरों के परिग्रहण का अभाव होने से पर में अवलम्बन न होने के हेतु स्वयं होने वाले स्वभाविक ज्ञान व आनन्दकी परिणति से स्वयं में स्वयं के अर्थ सुखी होऊँ।”

इस अपवित्र निःसार शरीर में मुग्ध होकर संसारी प्राणी अपने सहज आनन्द को कष्ट रूप बना रहा है। इसे आवश्यक है कि निःसार शरीर से निवृत्त होकर सारभूत निज अंतस्तत्त्व में प्रवेश करें। इसका यत्न देखिये तृतीय अध्याय के 5वें श्लोक के तात्पर्य में—

“फेनपुंजेषु सारः सयान्न तथाजि शरीर के।

विरज्य देहतस्तस्मात्स्यौ स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥3-5 ॥

तात्पर्य – समुद्र व तालाबों में लहर की वजह से जा किनारे पर फेन जम जाता है वह फोकस निःसार है। उसमें चाहे सार निकल आवे तो भी शरीर में तो कुछ सांर है ही नहीं पहले तो यह शरीर मल रूधिर अस्थि आदिकी घिनावनी कुटी है और फिर इसमें आत्मा का काम ही क्या निकलता ? इसके नाम और रूप में उत्पन्न हो जावे तब कठिन दुर्गतिका पात्र हो जाता है। आत्माके बैरी क्रोध, मान, माया, लोभ इस शरीर के आश्रय से ही पैदा होते, काम राक्षस शरीर के विकार पर ही कूंदता है, समस्त अनर्थ शरीर के आश्रय से ही आत्मा को बरबाद करते हैं। अन्यत्व देहका मेरे साथ न तो जातीय सम्बन्ध है, न तादात्म्य सम्बन्ध है। शरीर का शुभ में अत्यन्ताभाव है, फिर मैं क्या शरीर में राग करूं ? क्यों शरीर में ममता हो ? शरीर के आत्मीयता के श्रम से अनन्त काल तो क्लेश सह लिया, कुछ कमी थोड़े ही रही ? अतः अब देह से विरक्त होकर और जब देह से विरक्ता हुई तो सभी पर पदार्था से स्वतः विरक्त पाकर ज्ञानमच ध्रुव निज परमपारिणामिक तत्व में दृढ लक्ष्य के महान बल से सारभूत होऊँ और अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।”

लोक में प्रिय क्या है इसका समाधान लोगों से एक नहीं मिल पाता। कोई किसी को प्रिय कहता है कोई किसी को, बल्कि एक ही व्यक्ति को किसी समय कुछ प्रिय होता है और किसी समय कुछ प्रिय होता है, क्योंकि मुकाबले में जब कुछ विशेष प्रिय समझ में आता है तब पहले का विकल्प अप्रिय हो जाता है। लेकिन कुछ उत्कृष्ट प्रिय अवश्य है जिससे और कुछ उत्कृष्ट न मिलने से वह कभी अप्रिय नहीं हो सकता। वह प्रियतम क्या है इसका अनुभव द्वितीय अध्याय 49 वे श्लोक में कीजिये—

“कष्ट प्राणानुपेदान्ते ज्ञानं रक्षति योगिनः।

ज्ञानं ज्ञाय प्रियं तत्स्वे स्याँ स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।2-49।।

तात्पर्य – प्राणियोंकी प्रवृत्ति देखने पर ये बातें प्रसिद्ध हो गई हैं – कोई कहता है धन प्यारा है, कोई कहता है परिवार प्यारा है, कोई कहता है शरीर प्यारा है आदि आदि, परन्तु यह प्यारा है इसके जानने की, पहिचानने की कसौटी से परीक्षा करते जाओ तो अन्तमें ज्ञान ही प्यारा सिद्ध होगा। यह कसौटी है— कष्ट आने पर जिसकी उपेक्षा की जाय वह अप्रिय और जिसकी रक्षा की जाय वह प्रिय कष्ट। आने पर लोग धनकी उपेक्षा कर देते हैं और जनकी रक्षा करते हैं, फिर और कष्ट आने पर जनकी उपेक्षा कर देते हैं और शरीर की रक्षा करते हैं, फिर और कष्ट आने पर शरीर की उपेक्षा करके भी जीवन की रक्षा करते हैं। किन्तु देखो योगी – साधु, श्रमण कष्ट आने पर जीवन की भी उपेक्षा कर देते हैं और अपने निर्मल ज्ञान को बनाये रहने रूप

ज्ञान की रक्षा करते हैं। सो जो ज्ञानी को जचे वह प्रमाण है। इस तरह यही बात सिद्ध हुई कि ज्ञानीको ज्ञान ही प्रिय है। अज्ञानी कोई बनना नहीं चाहता, मैं भ ज्ञानी हूं, वह ज्ञान मेरा स्वभाव है, अभी भी है, था और रहने वाला है, ज्ञानका सदा संगम है। इसलिए मैं अपने इस ही सहज स्वभावरूप ज्ञान तत्व में निसास कर स्वयं सुखी होऊँ।

5. तत्त्वरहस्य प्रथम भाग

पूज्य श्री मनोहर जी वर्णो सहजानन्द महाराज द्वारा प्रणित तत्त्वरहस्य नामक ग्रन्थ अपनी सार्थकता हो लिए हुए है। इस ग्रन्थ में विविध विषयों का गूढ़ रहस्य प्रकट किया गया है। इस ग्रन्थ के 5 भागों में 224 विषयों पर निश्चय व व्यवहार पद्धति से मार्मिक विवेचन किया गया है। जिसमें प्रथम भाग 27 विषयों पर निश्चय व्यवहार विधि से उपादेयता का प्रतिपादन कर रहा है। प्रारम्भ में इसके मंगलचरण में ही परमात्मा और नमस्कार साधन के विषय में निश्चय व्यवहार की विधि का दर्शन करें।”

निश्चय से जो न चय स्वरूप है और न अचय स्वरूप है ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्वको स्व ही जहां भाव्य है और स्व ही जहां भावक है ऐसी निज परिणति के द्वारा मैं नमस्कार साध के विषय में निश्चय व्यवहार की विधि का दर्शन करें।’ तथा व्यवहार नय से जो चय अचय दोनों रूप हैं ऐसे शुद्धात्मा को काय वचन व मनके द्वारा नमस्कार करता हूं।

उक्त नमस्कार का समाचार द्यपि कुछ यविलष्ट जच रहा होगा, किन्तु इस ही श्लोक के तात्पर्य का कुछ अंश देखिये, भाव बहुत ही स्पष्ट हो जाता है।

तात्पर्य:— शुद्ध आत्मतत्त्वकी निश्चयन की दृष्टि से देखा जाय तो वह स्वयं अखण्ड, परिपूर्ण स्वतंत्र, पर के लेश से रहित, अविनाशी हे, उसमें कोई चय नहीं है अर्थात् उसमें ज्ञान दर्शन आदि गुणों को आवधेय बताना विकल्परूप होने से शुद्ध निश्चयनय में नहीं हैं। और इसी प्रकार अचय भी एक विकल्प है अर्थात् उस पिण्ड भूत तत्वों में से कोई गुण पृथक करके वर्णन करना भी शुद्ध निश्चयनय में नहीं है। इसलिये निश्चयनय से जो तत्व चय अचय दोनों विकल्पों से रहित है उसे निज भाव्यभावकभाव से नमस्कार किया है। यहां शुद्ध तत्व को शुद्ध नमस्कार बताया है। वह तत्व जहां निज में भाव्य अर्थात् होने योग्य और भावक अर्थात् हुआ ने वाला होता है याने जहां वैधाभाव नहीं है वही भाव आराध्य है और वही भाव आराधक है। इस भाव से इस परिणति से रहित है उसे निज भाव्यभावकभाव से नमस्कार किया है। इसे भाव नमस्कार कहते हैं। निश्चयनय की दृष्टि से यह ही तात्त्विक नमस्कार है—

द्वितीय विषयो में बताये गये निश्चय व्यवहार का विवरण बहुत मार्मिक विवेचन है, जिसमें सर्वप्रथम निश्चय व्यवहार का स्वरूप बताया गया है।

ज्ञान होने के दो प्रकार हैं एक तो वस्तु के अभेद एव अंतरंग विषय की मुख्यता से होने वाला, इसे निश्चय कहते हैं। दूसरा वस्तु के भेद विशेष एवं बहिरंग विषय की मुख्यता से होने वाला, इसे व्यवहार कहते हैं। इन दोनों दृष्टियों के आधार से आत्मा ज्ञानोपाय आत्मप्रवृत्ति आदि वर्णनीय है।

इस ग्रन्थ के तृतीय विषयों में ग्रन्था निर्माण का प्रयोजन निश्चयसे क्या हो रहा है और व्यवहारनय से क्या हो रहा है, इसका विवेचन करके ज्ञान के आगमिक व अध्यात्मिक इन दो प्रकारों का निश्चय व्यवहार पद्धति से वर्णन है।

निश्चय – व्यवहार:— ज्ञान होने के दो प्रकार हैं एक तो वस्तु के अभेद एवं अंतरंग विषयकी मुख्यता से होने वाला, इसे निश्चय कहते हैं। दूसरा वस्तु के भेद, विशेष एवं बहिरंग विषय की मुख्यता से होने वाला, इसे व्यवहार कहते हैं। इन दोनों दृष्टियों के आधार से आत्मा, ज्ञानोपाय, आत्म प्रबलति आदि तत्त्व वर्णनीय हैं। वस्तु का पूर्ण स्वरूप न केवल निश्चय से गम्य है और न केवल व्यवहार से गम्य है। तथा वस्तुस्वरूप जाने बिना कर्तव्य अकर्तव्य का अनुसरण व अवहेनल नहीं हो सकता। अतएव जो भी वर्णन करूंगा उसमें यह देखना है कि निश्चय से क्या है और व्यवहार से क्या है। एक यह भी विशेष ध्यान देने की बात है कि व्यवहारके समक्ष निश्चय तत्त्व ग्रहण है और वह निश्चयतत्त्व इसलिए ग्राह्य है कि परमतत्त्व जो आत्म की निर्विकल्पदशा उसमें तत्त्व ग्राह्य है और वह निश्चयतत्त्व इसलिए ग्राह्य हैं। परमतत्त्व जो आत्म की निर्विकल्पदशा उसमें परिणत कर देने के पहिले प्रागूफ निश्चय है। इसी प्रकार निश्चयका प्रागूफ व्यवहार का बोध भी आवश्यकीय है। निर्विकल्पदशा में परिणत जीव के न निश्चयतत्का ग्रहण है। जैसे कोई दाहिनी आंख से देखे, कोई बाईं आंख से, कोई दोनों आंख से और कोई दोनों आंखें बन्द कर अन्तर्दर्शन करे। इसी तरह कोई निश्चय से जाने, कोई प्रमाण से जाने, कोई नय प्रमाण के उदय से रहित निर्विकल्पदशा में अंतर्दर्शन करे, यह चौथी बात ही मुमुक्षु को लक्ष्य होता है और एतदर्थ ही प्रयास है। यहि सार है, सर्वोपरि है।

अचय और संधिविग्रह नामके आठवें विषय में निश्चय व्यवहार के मौलिक स्वरूपका विवरण देखिये—

चयान्निष्कान्तो निश्चयः, इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह अर्थ होता है” जो बटोर ने से दूर है वह निश्चय है अर्थात् अचयको निश्चय कहते हैं। यह नयवस्तुका जैसा स्वरूप है उतने मात्रको ही जानना चाहता है यह मिलावट से दूर है। इसी प्रकार वस्तु के गुणोंका भी नहीं कहना चाहत, क्योंकि वह वस्तु का तोड़ है, इस तोड़ से वस्तु पूर्ण नहीं रहती। इसकी दृष्टि में अंशविशेषकल्पनारहित वस्तु जानी जाती है। ऐसी प्रतीति सम्यग्दर्शन है। जब तक इसकी प्रतीति नहीं तब तक भ्रम रहता है।

विशेषण अवहण व्यवहार: जोड़ और तोड़ को कहते हैं। जो वस्तु का स्वभाव नहीं, उसे जोड़ना व्यवहार है। जैसे आत्मा में रागदिक हैं या कर्म नो कर्म हैं। वस्तु के गुणों का वर्णन करना तोड़ है। जैसे जीव के ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है आदि। इसमें एक अखण्ड स्वभाव पदार्थ तोड़ किया गया है। फलितार्थ यह है कि यावन्मात्र वर्णन है वह व्यवहार है किन्तु जो निश्चय तत्वको नहीं समझता है उसे समझाने का उपाय ही यह व्यवहार है।”

इसके पश्चात् केवल उपचार, दृव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, निरपेक्ष-सापेक्ष, स्वाश्रित-परश्रित, भूतार्थ-अभूतार्थ-परमार्थ-अपरमार्थ, निरंश-सांश, इस विषय में निश्चय व्यवहार का विशेष स्पष्टीकरण है। यों इसके पश्चात् सत्ताशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, पर्यायशुद्धि व अशुद्धि विवरण 16 वें प्रकरणमें हैं। ये सब विषय इस ग्रन्थ के पढ़ने से विशद विदित होगा। इसके पश्चात् अभेद-भेद अवाच्य-वाच्य आदि अनेक विषयों का निश्चय व्यवहार पद्धति से शिक्षाप्रद वर्णन है। प्रकरणों के अन्त में जो शिक्षा दी गई है वह भावपूर्ण और मौलिक है जिस पर ज्ञान स्थिरतारूप अमल करने से अवश्य कल्याण होगा। आत्मा एक हैया अनेक है, आत्माको किसप्रकार अनुभूत करने में हित है ऐसी समस्या दार्शनिकों के चित्त में उठती है। जरा इसका हल व समाधानका स्वाद आनन्द पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णो महाराज के इस अनुच्छेद में प्राप्त कीजिए। यह अनुच्छेद 22 वें प्रकरण के प्रारम्भ में है—

“यह आत्मा निश्चय दृष्टि से अनादि, ज्ञायकाकार है अतः उसमें विकल्प न पड़ने से एक है । परन्तु कालादिक की अपेक्षा आत्मा के अंश हो जाते हैं, अतः व्यवहार दृष्टि से आत्मा में अनेकता है ऐक्यदृष्टि में व्यग्रता नहीं, मोक्ष मार्ग की वृद्धि है। परन्तु, पर्यायके बिना द्रव्य रहता नहीं, अतः पर्याय, भेद जो व्यवहार के विषय हैं उनको मिथ्या ही मानने वाला साहजिक ऐक्य दृष्टि नहीं कर पाता, सो व्यवहार का विरोध न करके ऐक्यदृष्टि में मोक्षमार्ग पाया जाता है। अधावधि इस जीवने अनेकता का निश्चय किया, विषय कषायों की व्यग्रता पाई, तृष्णा से चिह्नल रहा और, आत्मा की वह

एकता जो न मानने पर भी है, उस पर दृष्टि न रखने से दुःख की संतित ही बढ़ाता रहा।”

6, 7, 8, 9 तत्त्वरहस्य द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पंचम भाग

तत्त्व रहस्य ग्रन्थ के इन भागों में अनेक उपयोगी विषयों का निश्चय व्यवहार पद्धति से वर्णन किया गया है। इनकी विषय सूची पूर्ण प्रकाश में आ गई, किन्तु सभी विषयों पर आकस्मिक विघनों के कारण सम्पूर्ण रचना न हो पाने से ये ग्रन्थ अप्रकाशित है, फिर भी जिज्ञासुओं की जिज्ञासा विषयों का विवरण देने से भी कुछ शान्त हो सकती है ऐसा सोचकर विषय सूची दी जा रही है। इन सब विषयों का निश्चय व्यवहार विधि से निश्चय करना और अन्त में हितकारी शिक्षा ग्रहण करना इस विवरण का प्रयोजन है।

तत्त्व रहस्य द्वितीय भाग के कुछ इन विषयों से प्रतिपाद्य तत्त्व का अनुमान कीजिये—

28—स्वद्रव्यविधि—परद्रव्यप्रतिषेध

34—साध्य—साधक

29—स्वक्षेत्रविधि—परक्षेत्रप्रतिषेध

35—बहिरात्मा—मिथ्यात्व

30—स्वकालविधि—परकालप्रतिषेध

36—वस्तुस्वभावजातिसिद्धि—सम्यग्भाव

31—स्वभावविधि—परभावप्रतिषेध

37—परमात्मा—शुद्धोपयोगपरिणति

32—सत्—असत्

38—

निश्चयरत्नत्रय—व्यवहाररत्नत्रय

इत्यादि नं० 76 तक

33—एकत्व—विभक्त

तत्त्व रहस्य तृतीय भाग के कुछ इन विषयों से प्रतिपाद्य तत्त्व का अनुमान कीजिए : —

77-प्रमाणभंगी-नयभंगी निश्चयसम्यक्तव-तत्त्वश्रद्धान	83-
78-वस्तुसिद्धि-प्रमाणभंगी 84-तत्त्वप्राप्ति-देवशास्त्रगुरुप्रतीति	
79-श्रद्धागुणज्ञता-शास्तसम्यगवगाहन 85-संसारखेददरीकरण-तन्वामृतपान	
80-परमार्थप्राप्ति-श्रद्धागुण	86-संसारखेदनिनाश-मोक्षमार्ग
81-आत्महित-यतिजनसेवा	87-मोक्ष-मोक्ष मार्ग
82-विद्यालाभ-विनय	इत्यादि विषय नं0 133 तक
तत्त्व रहस्य चतुर्थभाग के कुछ इन विषयों से प्रतिपाद्य तत्त्व का अनुमान कीजिए : -	
134-अबद्ध-बद्ध	140-संचेतन-स्वसंचेतन
135-असंयुक्त-संयुक्त	141-तत्त्वबोध-समयाख्यान
136-अविशेष-विशेष 142-स्वस्थता-तत्त्वबोध	
137-अनन्य-अन्य	143-उपादेय-हेय
138-स्वसंवेदन-अस्वसंवेदन 144-अध्यात्मव्यसन-क्रियाव्यसन	
139-स्वसंचेतन-स्वसम्बेदन	इत्यादि विषय नं0 176 तक
तत्त्व रहस्य पंचम भाग के कुछ इन विषयों से प्रतिपाद्य तत्त्व का अनुमान कीजिए : -	
177-निजरस-नाटकरस	183-देहाशुचिचिन्तन-वीभत्स
178-ज्ञानभूषण विचार-श्रृगांर 185-आत्मशक्तिचिन्तन-अद्भुत	
179-कर्मनिर्जरोद्यम-वीर 186-जन्मादिदुःखचिन्तन-भयानक	
180-आत्मवत्सर्वभूतमनन-करुणा	187-अध्यात्मतप-बाह्य तप

181—स्वानुभवोत्साह—हास्य

185—दृढ़ वैराग्य धारण—शान्त

182—कर्मविनाश—रौद्र

इत्यादि विषय नं० 224 तक

अब 177 वें प्रकरण में अलिखित निजरस—नाटकरस के विषयों में जरा पूज्य श्री सहजानन्द महाराज के शब्दों में धुलकर निजरसास्वाद लीजिए—

निजरस—नाटकरस

निज जगत यह निजात्मा ही है। इसमें नवरसका संचार यथासमय होता रहता है। वे नवरस ये हैं—1. शृंगार, 2. वीर, 3. करुणा, 4. हास्य, 5. रौद्र, 6. वीभत्स, 7. अद्भूत, 8. भयानक, 9. शान्त।

निश्चय के रस निजरस स्वरूप है। व्यवहार से वे नाटक रसों में परियणित हैं। वस्तुतः बाल में आत्मा का स्वभाव नहीं है, पर मनुष्यों में जो चेष्टायें हाती हैं उनके सन्निधान में आत्मा स्वयं उस रूप परिणाम करता है, वहां यह जिस स्वरूपमें अपना अनुभव करता है उस रसका पर में उपचार होता है। इस कारण निश्चयसे निज रस रस है। क्योंकि, रस शब्द का अर्थ है—रस्यते आस्वाषते यः स रसः जो स्वादा जावे वह रस है। आत्मा के स्वाद में मात्र ज्ञान का अनुभव होता है, अतः निश्चय से निजरस ही आत्मा के लिए रस है। परन्तु, ज बवह ज्ञानानुभूति ज्ञान को ज्ञान रूप से वेदन न करके परज्ञेय में रमती है तब रस परकी निमित्त करके नव जातियों में परिणत होता है। इसके निमित्तभूत उसके अनुकूल चेष्टा में परिणत मनुष्य है। सो जिनको निमित्त करके नव रस रूप में परिणमन हुआ उनके विषय को व्यवहार से रस कहा गया है।

.....
0 0 0 0

10. लघुअध्यात्मचर्चा

इस ग्रन्थ में वस्तुस्वरूप का ही सही दिग्दर्शन कराया है तथा मोक्षप्रक्रिया का भी सुन्दर वर्णन किया। जब कभी एक प्रश्न होगा कि ब्रह्मसभनाराचर्सहनन आदि निमित्त आये बिना मोक्ष नहीं होता तब निमित्त जुटाने का प्रयत्न तो करना चाहिए। इसके समाधान में पर पूज्य सहजानन्द जी वर्णी महाराज ने लिखा है—

जैसे पुण्य की आशा से पुण्यबंध नहीं होता उसी तरह इनके जुटाने की इच्छा व प्रयत्न करने पर ये नहीं जुटने, मोक्षमार्ग में चलने वाले अर्थात् ज्ञानमय श्रद्धान ज्ञान आचरण करने वाले आत्मा को ये सब निमित्त प्राप्त हो जाते हैं।

निमित्त नैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातंत्र्य समन्वय कितनी सरल सत्य भाषा में पूज्य सहजानन्द जी वर्णी महाराज ने संक्षेप में लिखा है।”

कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थ को नहीं कर सकता है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव से परिणमता है, दूसरा कोई भी द्रव्य क्षेत्र काल भाव सौंपकर उसे परिणमाता हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ स्वयं नहीं परिणमता उसे कोई भी नहीं परिणामा सकता, और परिणमते हुए को परिणामा वे ही क्या ? परन्तु पदार्थ के सहज स्वभाव के विरुद्ध परिणमन अन्य अनुकूल निमित्तों की उपस्थिति में ही होते हैं, निमित्तों के अभाव में नहीं हातें।”

तपश्चरण का मर्म क्या है, इसका दिग्दर्शन पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाजराज के इन वचनों में परखिये—

तप इच्छा निरोध को कहते हैं, इच्छा के अभाव हुए बिना कर्मों की अविपाक निर्जरा नहीं होती और इच्छा के अभाव में ही ज्ञान परिणति स्थिर होती है। ज्ञानी जीव इस विचार से कि कभी किसी उपसर्ग के आने पर स्वभाव से च्युत न हो सकूं, इस दृढ़ता के अर्थ वर्षा, शीत, ग्रीष्म आदि का सहन और अनशन आदि विविध तपस्यायें करता है व शरीर के सुखियापन जैसी प्रवृत्ति नहीं रखता अध्यात्मयोगियों का लक्ष्य शुभोपयोग में भी अपने अनादि अनन्त अखण्ड एकस्वरूप चैतन्यभाव पर रहता है। सर्व नयों से वस्तुनिर्णाय करने का प्रयोजन भी यही है।

.....0 0 0 0 0.....

11—अध्यात्मचर्चा

संसार के प्रत्येक प्राणी सुखी होना चाहते हैं और लौकिक वस्तुओं में मग्न होकर सुखी होना चाहते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है। वास्तविक आनन्द कहां है इसका दिग्दर्शन पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने कराया है। जरा इसका रसास्वादन कीजिये—

सम्यग्ज्ञान के बल से विकल्प हट जाने पर आत्मा का जो निर्विकल्प और अनाकुल अनुभव होता है उसे आनन्द कहते हैं। इस स्थिति में आत्मा सर्व ओर से समृद्धिशाली है। आनन्द शब्द का अर्थ है आसमन्तातन्दीतिआनन्दः । टूनदि सतृद्धो धातु से आनन्द बना है और आ उपसर्ग है। इसका अर्थ है जो परिणाम आत्मा को सर्व ओर से समृद्धिशाली बनावे वह आनन्द है।

इन्द्रियों का सुहावना लगने वाला सुख और सुहावना न लगने वाला दुःख प्रतीत होता है। वास्तव में सुख दुःख दोनो अहितरूप हैं। इसका अन्तः निरीक्षण पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णो महाराजकी वाणी में कर लीजिये :-

सुख दुःख दोनों अहित रूप हैं, आचार्यों ने तो यह भी कहा है कि जो सुख दुःख को, सुख दुःख के निमित्तभूत शुभोपयोग अशुभोपयोग को समान मानता हैं वही शुद्धपयोग और सहज आनन्द का पात्र होता है। जैसे मोहियों पर दया करके मुक्तिकामिनी शब्द भी शास्त्रों में रख दिये गये हैं वैसे ही सुख शब्द की बात समझ लेना चाहिए।

लयों के परिज्ञान से क्या लाभ होता है, यह जिज्ञासा होती हो तो आइये यहां और उसका समाधान पा लीजियं।

भेदनय व अभेदनय से वस्तु के समस्त तथ्यों को जानकर ज्ञानी विकल्पवादी भेदनय को गौणकर अभेदनय की मुख्यता मानता है या करता है, पश्चात् अभेदनय से वस्तु के ध्रुव अचलस्वभाव को देखकर अभेदनय को भी गौणकर इस अभेदनय से भी परे अनुभवमात्र स्थिति में रहता है। इस मंगलमय समाधि के लाभ का उपाय सर्व प्रथम नयों के द्वारा वस्तु का सही सही परिज्ञान है। नयों के परिज्ञान से अन्त में नयों के विकल्प से परे शाश्वत आनन्दमय मंगलमय समाधि का लाभ होता है।

आत्मा के उपयोग की स्थिरतारूप परमात्मा में मन को स्थिर करने के लिए पुज्य करने के लिए पूज्य श्री वर्णो जी महाराजने क्या कहा है, जरा देख लीजिए

अनादि निधन एकस्वरूप, सदामुक्त, परमपारिणामिकभाव, कारणसमयसाररूप निज परमात्मा का सम्यक्श्रद्धान ज्ञान व इस ही स्वरूप में उपयोग की स्थिरता रूप परमभक्ति निश्चय भक्ति है। उपयोग में अरहंत सिद्ध स्वरूपका उल्लास रहना व्यवहार भक्ति है। दण्डवतनमन, वचन, द्रव्यसमर्पण आदि पुद्गल परिणति है। जीव का उद्धार परम भक्ति में है। इसमें स्थिरता न रहने पर व्यवहार भक्ति में रहें। व्यवहार भक्ति में भी जो कुछ स्थिर नहीं हो सकते वे लौकिक दृष्टि से भक्ति द्योतक बाह्य वातावरण याने जड़ क्रिया के

अनुरूप विकल्पा के रहें, ताकि विरुद्ध विकल्प के अभाव में बाह्य विकल्पों के पश्चात् व्यवहार भक्ति में आने का सरल अवकाश पा सकें।

12. अध्यात्मसहस्त्री

जीव के विभावपरिणमन में कर्म का उदय निमित्त होता है, अन्य परमाणु निमित्त नहीं बनते, इसका विवेचन पूज्य श्री सहजानन्द जी महाराज द्वारा निर्दिष्ट किया गया है, वह कितना सुन्दर है इस पर दृष्टि पात कीजिए—

कर्म में विशिष्ट प्रकृति के विशिष्ट अनुभाग होते हैं, अन्य परमाणुओं में नहीं, इसलिए जीव के विभाव परिणमन में कर्मोदय निमित्त होता है।

कर्म में निमित्तपने की शक्ति है और अपनी शक्ति से ही कर्म जीव को रागी द्वेषी बनाता है याह होगा, इस पर पूज्य श्री का मंतव्य बड़ा ही सुन्दर और ग्राह्य हैं—

निमित्तपने की शक्ति हैं, इसका अर्थ यह है कि मलिन आत्मा इन कर्मोदय को ही निमित्त मात्र करके अपनी योग्यता के अनुसार अपने स्वचतुष्टय से विभावरूप परिणमता है। निमित्तको पाकर आत्मा का विभावरूप परिणमन होना निमित्त का स्वभाव नहीं, किन्तु उस उपादान का ही स्वभाव है। कर्म आत्मा को नहीं परिणमाता।

जब जब आत्मा निज स्वरूपसे प्रथक होता है और निमित्त की उपलब्धि अवश्य ही होती है तो क्या निमित्त सर्व ही उदासीन होते हैं, प्रेरक कोई नहीं होते ? इस पर पुज्य श्री मनोहर जी वर्णो सहजानन्द महाराज ने सुन्दर विचार प्रकट किया हैं—

उपादान की विशेषता पर दृष्टि रखकर देखें तो निमित्त सभी उदासीन हैं तथा निमित्त की परिणतियों पर दृष्टि रखकर देखें तो कितने ही निमित्त प्रेरक प्रतीत होते हैं। इस प्रेरकता का भी तात्पर्य यह है कि अपनी ही क्रिया में परिणति हुए निमित्त उपादान की सन्निध में रहते हैं।

आत्मा को जिस समय तक सम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती उस समय ज्ञान कुज्ञान की संज्ञा में गिना जाता है वह ज्ञान संसार का ही कारण

है इस पर पूज्य श्री वर्णी जी महाराज का सुन्दर मंतव्य जो निर्दिष्ट किया गया है उसको दिखाते हैं।

यह अज्ञान स्वरूप में एकत्व के अध्यासस्वरूप है। इस स्वापरेक्त्वाध्यास को स्पष्ट समझने के लिए इसको तीन प्रकारों में जानना चाहिए। 1. क्रियामार्णक्त्वाध्यास, 2. विपच्यमाणेक्त्वाध्यास, 3. ज्ञानमाणेक्त्वाध्यास। अब तीनों का पृथक -2 स्वरूप दिखाते हैं।

क्रियामार्णक्त्वाध्यास का भाव इस प्रकार है - मारता हूं, खाता हूं, पालता हूं इत्यादि रागद्वेष गर्भित क्रियाओं को और अपने आपको एक मानना क्रियामार्णक्त्वाध्यास है। क्योंकि यह आत्मा तो अहेतुक एक जाननक्रियारूप ही है ऐसे निज पदार्थ परमार्थ स्वरूप को न समझकर औपाधिक नाना क्रियाओं में अपने की मान्यता इस अध्यास में है।

विपच्यमाणेक्त्वा ध्यास का भाव प्रदर्शित करते हैं-मैं मनुष्य हूँ, मैं तिर्यन्च हूँ, पुण्यमय हूँ, पापमय हूँ, सुखी हूँ दुःखी हूँ। इत्यादि कर्मोदय अनित्य अवस्थाओं और अपने को एक मानना विपच्यमाणेक्त्वाध्यास है, क्योंकि यह आत्मा तो अहेतुक एक ज्ञायक स्वभावमय ही हैं, किन्तु ऐसे निज परमार्थ स्वरूपको न समझकर औपाधिक नाना विभावों मय अपने की मान्यता इस अध्यास में है।

ज्ञायमाणेक्त्वाध्यास का स्वरूप बताते हैं - धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य अन्य जीव पुद्गल आदि जो कुछ ज्ञायमान हो रहे हैं उनको वह अपने आपको एक मानना ज्ञायमाणेक्त्वाध्यास है, क्योंकि आत्मा

ते अहेतुक एक ज्ञानस्वरूप ही है, किन्तु ऐं निज परमार्थ स्वरूप को न समझकर ज्ञायमान अन्य पदार्थोमय अपने की मान्यता इस अध्यास में है।

अशुभ परिणमनों का आत्मतत्व बल द्वारा जो परिहार किया जात है उसे गुप्ती कहते हैं। इसका भी विवेचन पूज्य जी द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

शुद्ध आत्मतत्व के अवलम्बन स्वरूप बल के द्वारा अशुभ परिणमनों का परिहार करके आत्मा की रक्षा करने को गुप्ती कहते हैं। इससे आत्मस्वरूप में अनन्त शक्ति उत्पन्न होती है। यह गुप्ती 3 प्रकार से निर्दिष्ट की गई हैं -1. मनोगुप्ती, 2. वचनगुप्ती, 3. कायगुप्ती। रागादि भावों के अभाव से अखण्ड अद्वैत परमस्वभावरूप चैतन्य भाव में अवस्थित होने को मनोगुप्ति कहते हैं। असत्य वचन के परिहार से, मौनव्रत से इन्द्रिया तीन वचन व्यवहार रहित अमूर्त आत्मतत्व में अवस्थित होने के कारण वचन प्रवृत्ति के अभाव को वचन

गुपित कहते हैं। निज ज्ञानक्रियाबल से कायक्रिया की निवृत्ति हो जाने को कायगुप्ती हैं।

समिमि से जीव की विराधना का परिहार होता है तथा साधु के लिए अत्यन्त आवश्यक है, इसी को पूज्य श्री सहजानन्द जी महाराज ने अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है –

निश्चय रत्नत्रय स्वरूप धर्म के बल से निज आत्मतत्व में निर्दोष परिणमन करने के यत्न को समिमि कहते हैं। समिति 5 प्रकार से व्यक्त की गई हैं—

1. ईर्यासमिमि, 2. भाषा समिमि, 3. एषणसमिमि, 4. आदाननिक्षेपणसमिति, 5. प्रतिष्ठापना समिति। आत्मीय शुद्धतत्व की प्राप्ति के लक्ष्य में यात्रादिक उत्तम प्रयोजन के उद्देश्य से जीव बाधा टालकर निर्जन्तु मार्ग में दिन में भूमि निरखकर विहार करते हुए अपना निर्दोष परिणमन करने के यत्न को ईर्या समिमि कहते हैं। चुगली, हंसी, परनिन्दा, अपनी प्रशंसा आदि के वचनों का परित्याग करके स्वपरहितकारी वचन बोलते हुए अपना निर्दोष करने के यत्न को भाषा समिमि कहते हैं। अनाहारस्वभावी आत्मतत्व की दृष्टि से च्युत न होकर सदाचारी श्रावक के द्वारा विधिपूर्वक निर्दोष आहार करते हुए आत्मीय निर्दोष परिणमन करने के यत्न को एषणसमिति कहते हैं। निजतत्व का प्रकाशक सहजज्ञान ही ग्रहण करने योग्य है, अन्य कोई वस्तु नहीं, इसकी न भूलकर ज्ञानादि के उपकरण शास्त्र आदि को समिमि पूर्वक धरते उठाते हुए आत्मीय निर्दोष परिणमन करने के यत्न को आदान निक्षेपणसमिमि कहते हैं। देहरहित अतएव सर्वमलरहित आत्म तत्व की दृष्टि से च्युत होकर व्यवहार से हुए देह आहार ग्रहण के फलस्वरूपमें मलमूत्रादिका निर्जन्तु स्थानपर निक्षेपण करना, ज्ञानबल से अपने को निराकुल रखते हुए आत्मीय निर्दोष परिणमन करने के यत्न को प्रतिष्ठापनासमिमि कहते हैं।

-----0000000000-----

13, 14— समयसारभाश्य पीठिका मूल व सार्थ

आत्मा के स्वरूप और सब रहस्यों का प्रतिपादन करने वाला पूज्यपाद श्रीमत्कुन्द—कुन्ददेवाचार्यविरचित समयसार नाम का एक अलौकिक

ग्रन्थ है। ग्रन्थपर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज ने भाष्य लिखा है। समयसार के गूढ़ रहस्यों का विवरण आवश्यक था। इस ग्रन्थपर पूज्य श्रीमद् अमृतचन्द्र जी सूरि राजने आत्म ख्याति टीका लिखी। श्री मज्जिन सेनाचार्य महाराज ने टीका लिखी। उन टीकाओं से आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। फिर भी उपादेय विषयों को जितनी पद्धतियों से और भी लिखा जाय तो वह अलाभप्रद नहीं है। श्री सहजानन्द जी महाराज ने इससे सम्बन्धित सब विषयों को लेकर और पदव्याख्या करते हुए शब्दों का रहस्य बनाकर यह भाष्य रचा है। समय सारभाष्य पीठिका में 12 गाथाओं का भाष्य है।

प्रथम ही मंगलाचरण के बाद जिस समयसार का अभिनन्दन किया है उस समयसार शब्द के 10 वर्ष किये हैं – अहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, परमागम, रत्नत्रयधर्म, चिद्रप, सहजानन्दसिद्धि, प्रकृतग्रन्थ। समयसार—इन पाँच अक्षरों में ही ये सब अर्थ भरे हैं—जैसे सं अय सार, समय सार, समय सार इत्यादि व्युत्पत्ति पुरःसर वर्णन किया है वह ग्रन्थ में पढ़ने से विशद अनुभूत होगा। जैसे—

जैसे संअयतां सारः समयसारः – स सम्यक् स्याद्वादव्यक्ति मूलत्वात् वस्तु जयतां निश्चयतां सातिशयमिथ्या दृष्टि सम्यग्दृष्टि श्रावक विरत करण त्यवर्तिसूक्ष्मसारम्परायें पशान्तक्षीणकषायानां निर्मल चितानां पूज्यत्येन आप्तत्वेन सारत्वात्, सरति गच्छति सर्वोत्कृष्टत्वमिमि निरुवतेः। भावार्थ – सच्ची विधि से वस्तु का निणय करने वाले निर्मलचित संतो के पूज्य होने से सारभूत होने से अर्हन्त परमेष्ठी समयसार है। रहस्य इसमें यह है कि अर्हन्त देवकी दिव्यध्वनिकी परम्पर से स्याद्वादविधि से वस्तुस्वरूपका निर्णय होता है, इस विधान में प्रभु की पूज्यता है, अतः ये सारभूत हैं, समयसार हैं।

द्वितीय गाथाके भाष्य में यह कम दिया है कि—

समय याने आत्मा सत् है, द्रव्य है, द्रव्य है, अगुरुलधु हैं, प्रदेशवान हैं, प्रमेय है, सच्चिदानन्दमय, है शुद्ध निश्चय से ज्ञायकभावरूप प्राण से इसका जीवन हैं, अशुद्ध निश्चयनय से ज्ञायोपशमिक ज्ञानदर्शन प्राण से जीवन है, अद्भुत व्यवहार से इन्द्रियबल, आयु, श्वासोच्छवास से इसके जीवन का सम्बन्ध है ऐसा यह जीव स्वभाव दृष्टि होने पर स्वसमय होता है, विभावपयोगी होने से परसमय होता है।

इन सब मर्मोंका संहेतुक विवरण है, जो ग्रन्थअध्ययन से विशद विदित होता है।

समय सार की 5 वीं गाथा में उद्घृत, चुविकज्ज, छलंण धेतव्वे, इन दो वाक्याशों का मर्म स्पष्ट किया है, जिसे हिन्दी में देखिये—

चुविकज्ज—यदि चूक जाउं—तत्त्व दिखाने से च्युत हो जाउं। इसका यह भाव है कि निश्चय से तो तत्त्व अवक्तव्य है, वास्तव में निजकी अनुभूमि की कल्पना के बिना, शब्द और अर्थ में वाच्य वाचक सम्बन्ध न होने के कारण अविनाभाव सम्बन्ध नहीं बन सकता। इस ही कारण अर्थ का प्रकाश करने में शब्द वयभिचारी हो जाता है, अर्थात् शब्द प्रकट कर दे ऐसा नियम नहीं बनता। यहां पर आचार्य के शुद्ध तत्त्व के ज्ञान का अभाव नहीं है अथवा तत्त्व प्रकाशनकी सामर्थ्य का अभाव नहीं है अथवा तत्त्व को न सुना, न पहिचाना ऐसे पुरुषो के संकेत ग्रहण का अभ्यास न होने से यहां सफलता में संदेह है। श्रोता के इस अपराधत्वको अपने उपर लगाकर आचार्य देव कहते हैं कि “यदि तूक जाउं”। लोक में जो भी देखा जाता है किसी विशेषज्ञ कहता है कि मैं अपने भाव के प्रकट करने में असमर्थ रहा। वलं ण धेतव्वं—वह भाव नहीं ग्रहण करना चाहिए जो अपने आपको छले। अथवा नम तो बहुत हैं और वस्तु अनेकान्तात्मक ळै। अतः शब्दसंगति में और अपेक्षावाद में सहयोग ही करना चाहिए, दोष दृष्टि नहीं ग्रहण करना चाहिए कि लो, यहां पहिले तो यह कहा था, अब यह कहा जा रहा है। अथवा शुद्ध तत्त्वका ज्ञान न होने पर “आत्मा कुछ भी नहीं है” इत्यादि रीति से नास्तिक्यभाव नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि युक्ति नय लक्षण आदि उपायों से व स्वानुभव से जो निज तत्त्व मैंने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष किया है उसके श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप मार्ग से ही तुम सुखी होंगे। यहां श्रीमत्कुन्दकुन्द गुरुकी श्रोता शिष्य पर परम करुणा प्रकट हो रही है।

व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक कैसे होता है इसके समाधान में नौ नं0 9, 10 गाथा का भाष्य किया है जिसका स्पष्टीकरण पूज्य सहजानन्द जी वर्णी महाराज ने निश्चय व व्यवहार से घटज्ञानी क्या कहलाता है और वहां व्यवहार परमार्थ का कैसे प्रतिपादक है इस दूसरे दृष्टान्त द्वारा किया है जिससे प्रकृत दृष्टान्त और द्राष्टान्ति पर अच्छा प्रकाश मिलता है — देखिये भाष्य सार्थ पेज नं0 98—99

यथा हि घटज्ञानी घटज्ञानविषयावच्छिन्नत्वादिपन्नघटपदार्थ जानातीति भदेमेदोपचाराद्वयवहारेण घटज्ञानी। तेण व्यवहारेण घटज्ञेयाकारनिष्ठज्ञानवयक्त्या परमार्थतः स्वात्मन्येव कियोत्पतेघटज्ञानस्य स्वात्मरूपत्वात् एवं तथात्मानं जानातीति परमार्थस्य प्रतिपायत्वाद्वटज्ञानीति व्यवहार प्रयुज्यते। जैसे कि घटज्ञानी घटज्ञान के विषय से अवच्छिन्न होने से भिन्न घट पदार्थ को जानता है ऐसा भेद में अभेद के उपचार से घटज्ञानी कहा जाता है। उस व्यवहार से घटज्ञेयाकार में रहने वाले ज्ञान की प्रकटतासे, चूंकि परमार्थ से स्वआत्मा में ही क्रिया की उत्पत्ति होती हैं। अतः घटज्ञान स्वात्मरूप होने से वह ज्ञान उस

प्रकार के स्व आत्माकी जानता है। इस तरह परमार्थ प्रतिपाथ हो जाने से वह घटज्ञानी है, ऐसा व्यवहार प्रयोग किया जाता है।

----- 0 0 0 0 0 -----

15. सहजानन्द डायरी—1965

इस डायरी में पूज्य श्री वर्णी जी ने अपने आन्तरिक विचार लिखे हैं। इससे अनेक समस्याओं का समाधान मिलता है। देखिये सभी के चित्त में यह समस्या रहती है कि चित्त चैन में कैसे आये ? इसका समाधान देखिये — 5-1-1965 के निबन्ध में।

चित्त चैन में नहीं रहता, इसका कारण विकल्प है। विकल्प दुःखस्वरूप होने से वस्तुतः शत्रु होकर भी बने रहते हैं, इसका मूल सैकल्प है। यह अवास्तविक होने से आत्मा में टिकना नहीं चाहिए था, फिर भी टिकता रहता है, इसकी जड़ अविद्या है। अतः अविद्या को दूर किये बिना चैन नहीं हो सकता।

मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, चैतन्यमात्र हूँ, धुव्र हूँ, सबसे अपरिचित हूँ, ज्ञानमय आनन्द का पिण्ड हूँ, ज्ञानगम्य हूँ, अपनी सृष्टि करने वाला हूँ, असृष्टि रूप हूँ, स्वतः सिद्ध हूँ, अविनाशी हूँ, प्रतिभासमात्र वृत्ति से गम्य हूँ। निजकी सब पर्यायों से भिन्न स्वरूप हूँ, अमूर्त हूँ, कर्म नोकर्म से अत्यन्ताभाव वाला हूँ, ज्ञायक स्वरूप हूँ, बार बार ऐसे निजतत्त्व की भावना से बाद में निर्विकल्प समाधि परिणाम से अविद्या का उच्छेद हो जाता है।

कल्याणार्थीजन कुछ इस समस्या में रहते हैं कि एक स्थान में रहकर ही धर्मसाधन रक्खा जाय, या विहार करके ? इसका समाधान देखिये 7-1-1956 के निबंधमें—

एक स्थान निवास व पर्यटन—दोनों मोक्ष के अच्छे साधन हैं। एक ही स्थाननिवास तो तब अच्छा है जब संस्थाओं के झंझट में रहकर ज्ञानोंपासना का प्रचुर साधन बना रहे। पर्यटन तब अच्छा है जब बहुत दूर पर शीघ्र पहुंचने का प्रोग्राम न रखकर आराम से 5-5 मील करीब का आवास रखे और साथ में ज्ञानियों का सत्संग रहें, जिनका आरम्भ व परिग्रह स्वल्प हो।

जोग गाली सुनकर विह्वल हो जाते हैं। किन्तु यदि कोई गालियों का शुद्ध शब्दार्थ समझले तो वह आनन्दविभोर हो जायेगा। इस संबन्ध में ता0 13-1-1965 का निबंध देखिये—उसमें श्री सहजानन्द जी वर्णी महाजार द्वारा

57 गालियों का शब्दार्थ सहज लिखा गया है। ऐसा क्यों हुआ ? मालूम होता है कि आस्रव भी 57 होते व उनके प्रति क्रियारूप सम्बर भी 57 होते हैं। उनमें कुछ गालियों का उद्धरण पाठकों को दिया जा रहा है – पहिले बताया लोक में गाली के शब्दों का प्रादुर्भाव हुआ ही नहीं, प्रशंसाकारक शब्दों को अतिअयोग्य पुरुषों से कहा गया तब अयोग्य पुरुषो ने अन्य वैसे ही लोगों ने उसे गाली समझी। जिसे लोग गाली समझते हैं उन शब्दों के अर्थपर ध्यान दे तो वह प्रशंसा का शब्द ही ज्ञात होगा।

लफंगा-लफ गये – नम्र हुए हैं अंग जिसके याने विनयशील।

गुरु-घटाल-घंटालू: घैटयति प्रेरयति हिते इति घंटालू: जो हितकार्य में प्रेरणा करे ऐसा गुरु घंटाल।

निपोरा-पौर से रहित याने अखण्ड परम पदार्थ

निपोचिया-निज में जिसकी अच्छी पहुंच हो ऐसा संत।

पाजी-पापको जीतने वाला पापकी नष्ट करने वाला

पागल-पां याने पापको गलाने वाला सत्पुरुष।

गवार-ग्रामरी-इन्द्रिय ग्रामका बैरी इन्द्रिय विजयी

धमंगा-धर्मांगा :-धर्म ही जिसका शरीर है ऐसा धर्मात्मा पुरुष

उल्लू-उत्कर्षेण कर्म लुनाति, जो कर्म लुनाति, जो कर्म की निर्जरा करे

कायर-कसय आयेन राजमे इति कायर: क की उपलब्धि से राजमान याने शोभायमान

कुलच्छी-कुलं अच्छे यस्य सः कुलच्छी: अच्छे कुल वाला।

निकम्मा-निष्कमी – कर्मरहित सिद्ध

पाखण्डी-पापका खण्डन करने वाला

लौकिककजन ईश्वर के वियषय का समाधान नहीं प्राप्त कर पाते। देखिये –दिनांक-21-1-1965 में एक तुलनात्मक अध्ययन, उससे इसका समाधान सहज हो जायेगा।

श्री सिद्ध भगवान् टैकोत्कीर्णसम ज्ञानस्वभावी और यह सामान्य ज्ञायकस्वभाव भी टैकोत्कीर्णवत् है। प्रभु का ज्ञान अचल है। वैसा ही ज्ञान अनन्त काल तक रहता है जैसा कि वह केवलज्ञान के प्रथम क्षण में हुआ। ज्ञानस्वभाव भी अचल है। वही ज्ञायकस्वभाव अनन्त काल तक रहता है जो अनादिकाल से हैं। सिद्ध परमात्मप्रभु में स्वभाव और परिणमन अनुरूप हो गया। सिद्ध होने से पहिले भी आत्मा में वैसा ही स्वभाव था जैसा कि अब परिणमन हो गया। अब इस सिद्ध अवस्था में स्वभाव स्थायी है और वह परिणमन क्षणिक है। हम आत्मा में भी स्वभाव वैसा ही है जिससे अनुभव सिद्ध आत्माओं में परिणमन हुआ है।

थसद्ध आत्माओं ने स्वभाव का अवलम्बन करके यह अचल गति पायी है। हम आत्माओं की भी स्वभाव का अवलम्बन कर अचल गति होगी। जैसे पाषाण में पाषाणकी सब प्रतिमायें जिसका विकास करलो वही प्रकट होता है व होगा। पाषाणकी प्रतिमा बनानी नहीं पड़ता। मात्र उसके आवरणक विभावमल हटाने होते हैं।

प्रायः सभी लोग अपने आत्माका विकास चाहते हैं, पर लोगों को विकास स्वरूप में ही भ्रान्ति है। वास्तविक विकास तो आत्मा के सहज गुणों का विकास है और यह सहज विकास न्यायमार्ग से ही प्राप्त हो सकता है। उसके लिए दिनांक— नं० 8-2-1965 में लिखे आत्मोद्धारक कर्तव्य देखिये—

1—संसार में सब तरंगों को हेय समझकर निज निर्विकल्प समाधि के लिए लक्ष्य बनाये रहना।

2—प्रवचन सुनना या करना। 3—कोई ग्रन्थ पढ़ना। 4—समता पूर्वक तत्त्वचर्चा में सामिल होना, 5—शरीर से, वचनसे व धनसे शक्ति न छिपाकर परसेवा करना, 6—अनय के निन्दा व चुगुली के शब्द न बोलना, 7—किसी के प्रति घृणका भाव न लाना। 8—तत्त्व की जो समझ पायी है उसके सम्बन्ध में कुछ लिखना, 9—जौ विषय सामाजिक विवाद के स्थान पा गये हों उनके विषय में मौन रहना, 10—किसी से स्नेह नहीं बढ़ाना, 11—कहीं कोई भी सम्वाद हो जाय तो विसम्वाद के कारण तुरन्त वहां से नहीं जाना, 12—किसी को बहुत आगे का वायदा नहीं करना।

प्राणी अपनी ही भूलों के कारण इस संसार चक्र में भटक कर दुःखी होता है। अगर वह दूसरों के दोषों को न देखकर अपनी गुणगणिमाको अपने में ही संजायी हुई अनुभव करें तो उसे शान्ति और सुख के रसका स्वाद आ जावे। इस स्वाद हेतु दिनांक 13-2-1965 में निज नाथ से परिचय कीजिए—

हे निज नाथ, क्यों भटक रहे ? क्यों भटका रहे ? मैं तुम्हारा ही तो पुत्र हूँ। हे निज नाथ, तिरस्कार करो तो ऐसा करो कि दुबारा तिरस्कार न हायाने तिरस्कार करवाने के योग्य इस मुझ जैसे विषय पर्यायों का अस्तित्व ही न रहें।

हे निज नाथ, देखो बड़ों का यह काम है कि छोटों को अपने में मिला लें, स्थिर का यह काम है कि अस्थिर को स्थिर बना दें, ज्ञानमय का यह काम है कि अज्ञानी को ज्ञानी बना दे, सुखमय का यह काम है कि दुःखी को सुखमय बना दे। देखो तुम महान हो, स्थिर हो, ज्ञानवास हो, सुखमय हो और फिर हमारी दृष्टि के तुम्हीं तो स्वतंत्र कर्ता हो। गलती में पड़ा हुआ यदि झुककर अति समर्थ मालिक के समीप आ जावे तब तो गलत की गलती माफ हो जाना चाहिए चानि गलती नहीं रहना चाहिए। देखो नाटक – एक की बात दो बनकर हो रही है।

पर्याय छोटा है, अस्थिर है, जड़ोपयोगी व दुःखी है तो क्या बिगाड़ ? यदि अपने स्रोत्ररूप बड़े स्थिर ज्ञानमय आनन्दघन चेतन प्रभु को ही देखे। इसके लिए पुरानी हठ छोड़नी होगी, फिर देखो बहुत ही शीघ्र निर्मल, सम, शुद्ध क्षाणिक पर्याय प्रभारूप बड़ा स्थिर ज्ञानमय, आनन्दमय परिणमन हो जावेगा।

रंसार में सभी वस्तुओं के अपने अपने नाम व्यवहार करने के लिए होते हैं, किन्तु बड़ा आश्चर्य है कि बिना नाम की वस्तु भी है ? उसे जानने के लिए आइये हम ता0 15.2.56 के प्रकरण पर दृष्टिपात करें।

मैं जो हूँ सो हूँ इसे किसी नाम से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नाम स्थापना के लिए है, मुझ में वह नाम नहीं है। शब्द सभी व्यवहार के लिए हैं, इसी तरह मैं, यह भी नहीं कहा जा सकता,

यह भी एक प्रकार का नाम है। नाम व्यवहार द्वारा समीप पहुंचकर तत्त्व को पहिचान लेना और नाम का आग्रह छोड़ देना। यह कल्याण पथ है। अंगुली की सीध से चन्द्र को बताया जावे तो वहां चन्द्र को देख लेना, अंगुली की दृष्टि छोड़ देना।

वर्तमान में मनुष्य की प्रगति का आधार भौतिक पदार्थों को माना जा रहा है, किन्तु स्थायी शान्ति और आनन्दानुभव के लिए यह प्रगति उचित नहीं है। कर्णीय तो यह है कि कषायदिक खोटी प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर पुरुषार्थ

से प्राणी अपने जीवन में शुद्ध स्वभाव के अनुभव का लक्ष्य साध कर चले तो निरन्तर उसका विकास होता जायेगा। इस स्वभाव विकासपद्धति को देखिये दिनांक – 18.2.56 के उद्धरण में—

कोधी रहना चाहते हो तो कोधकी ज्ञानपर्याय में एकाकारता होने दो। क्षमाशील रहना चाहते हो तो निष्तरंग स्वभावकी ज्ञानपर्याय में एकाकारता होने दो।

मानी रहना चाहते हो तो मानभाव की ज्ञानपर्याय में एकाकारता होने दो। मृदु रहना चाहते हो तो सहजस्वभाव की ज्ञानपर्याय में एकाकारता होने दो।

मायावी रहना चाहते हो तो छल कपट परिणाम की ज्ञानपर्याय में एकाकारता होने दो, सरल रहना चाहते हो तो स्वतः सिद्ध स्वभाव की ज्ञानपर्याय में एकाकारता होने दो।

जिस जीवनकाल में स्वस्प दृष्टि न होने से विह्वलता रहती है वह जीवन वृथा है। जिस मरणकाल में स्वरूप सावधानी होने से समता शान्ति रहती है वह मरण सार्थक है।

स्वभावदृष्टि रहे तो कहीं दुःख नहीं है। स्वभाव दृष्टि न रहे तो कहीं सुख नहीं है। स्वभाव के विकास दो प्रकार के हैं—1.स्वभावविकास—यह विकास अहेतुक है।

2—विभाव विकास—यह विकास सहेतुक है।

दोनों स्वभाव में रहने वाला सहज स्वभाव एक एक सनातन है। सहज स्वभाव का अर्थ है जब से वस्तु है तभी से एक रूपसे जिसका तादात्म्य हो सहज का निरुक्त्य अर्थ है— सहजायतेइति सहजा जी साथ उत्पादन हो अर्थात् जब से वस्तु है, उत्पन्न है तभी से जो हो। वस्तु अनादि से है, वह किसी से उत्पन्न नहीं हुआ। तो वस्तु का स्वभाव भी अनादि से है। वह किसी दिन उत्पन्न नहीं हुआ। उत्पन्न होने का नाम देकर चूकिं वह अनादि से है, सो अनादि सिद्धतका बताई है।

भ्रमित दुःखी प्राणी धर्म की प्राप्ति गंगा स्नाव करने में, पंचाग्नि तप तपने में मानकर उपने को धोका देता है। अपने से भिन्न सभी पदार्थों में निज निज—स्वभाव स्वरूप होते हैं। किन्तु हमारा निज सहज स्वभाव निज के

अवलम्बन के प्रकट हुआ जानने के लिए मुझ से भिन्न वस्तुओं की परखिये ता0 3-3-56 के कथन में।

धर्म अविकार सहज स्वभाव के अवलम्बन से प्रकट होता है प्रथम तो निश्चयतः अविकार स्वभाव ही धर्म है किन्तु वह भौक्ता नहीं है। अतः व्यक्तानन्दमय नहीं। अविकार स्वभाव के अवलम्बन से प्रकट होने वाला पर्यायरूप धर्म व्यक्तानन्दमय है, यह व्यवहारधर्म है। धर्म से पूर्व या उत्तर में होने वाले प्रशस्त रागदिभाव उपचार धर्म हैं। उपचार के धर्म को निमित्तमात्र करके होने वाली देहादि क्रिया उपचरितोपचरित धर्म है।

वस्तुतः निश्चय धर्म व व्यवहार धर्म ही धर्म है। उपचार धर्म शुभोपयोग अथवा पुण्यभाव है वह धर्म नहीं। अपरितपचरित धर्म पुद्गलकी परिणति है वह भी आत्मधर्म नहीं।

आत्मधर्म अचेतन पदार्थ के अवलम्बन से प्रकट नहीं होता। आत्मधर्म परचेतन पदार्थ के अवलम्बन से प्रकट नहीं होता। आत्मधर्म रागदि परभाव के अवलम्बन से प्रकट नहीं होता। आत्मधर्म देह वचन मनके अवलम्बन से प्रकट नहीं होता। आत्मधर्म वर्तमान पर्याय के अवलम्बन से प्रकट नहीं होता। आत्मधर्म त्रैकालिक अखण्ड वस्तु परमपारिणामिकभाव के सविकल्प अवलम्बन से प्रकट नहीं होता।

आत्मधर्म निज अखण्ड वस्तु – परमपरिणामिक भाव के निर्विकल्प अवलम्बन से प्रकट नहीं होता है। आत्मधर्म प्रकट होने की रीति सबकी एक सी है।

चलो देखो अपने प्रभुसे भेंट करने की तरकीवों पर। इसके लिए आइये ता0 9-6-56 के वाक्यों पर गौर करें।

देखो भैया, तुम्हारी दया के लिए पलक है। और मुंह पर होंठ है। पलकों से आंख बन्द करो, होठों से मुंह बन्द करो—देखना बन्द करो, बोलना बन्द करो। देखना बन्द करके भी तुम्हें अन्दर अनुपम प्रभु देखने को मिलेगा। बोलना बन्द करके तुम्हें अन्दर अनुपम प्रभु से भेंट हो सकेगी।

एक बार तो सब विकल्प छोड़कर अभेद ज्ञानस्वभाव स्व के अनुभव द्वारा अनाकुल सहज आनन्द को देखले। यदि तुझे वहां कुछ क्लेश मिले तो फिर सदा के लिए उससे मुख मोड़ लेना और संसार बन्धन में डटे रहना फिर कुछ न कहूंगा। तू ने बहुत बार भी तो अन्य सब जगह उपयोग दे दकर परीक्षा कर डालों, उन अनन्त बारों के सामने यह एक बार तुझे भार हो जायगा।

16. सहजानन्द डायरी 1957

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री वर्णी महाराज के सन् 1957 के कुछ मनन विचारों का संकलन इस ग्रन्थ में है। वास्तविक सुख प्राप्ति का तरीका आनन्दमय आत्मा का आश्रय है, इस तत्त्व का मर्म साधारण और सैद्धान्तिक शब्दों में कैसा प्रकट किया गया है। यह देखिये 10 जनवरी के प्रथम द्वितीय अनुच्छेद में—

जब आत्मस्वभाव ही उपयोग में रह जाता है उस काल के अनुभव में जो आनन्द होता है वह त्रिलोक की सम्पदा से भी प्राप्त नहीं हो सकता है। वस्तुतः सम्पदा से एक अविभाग प्रतिच्छेद प्रमाण भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि सम्पदा में स्वयं सुखशक्ति नहीं हैं, फिर सुख ही उससे कैसे प्रकट होगा ? अन्य जीवों से भी अपना सुख नहीं प्रकट हो सकता, क्योंकि अन्य जीवों का सुख उन्हीं अन्यके प्रत्येक में व्याप्त है, उनके प्रदेशों से बाहर सुखगुणका ही क्या, किसी भी गुण का परिणमन नहीं जा सकता।

सुख आनन्दगुणका परिणमन है। आनन्दगुण का विभाव परिणमन लौकिक सुख और दुःख है, स्वभाव परिणमन आत्मीय अलौकिक आनन्द हैं। प्रत्येक ये परिणमन आनन्द गुण का आश्रय कर ही प्रकट होते हैं, वे चाहे लौकिक सुख हों या दुःख हों या आत्मीय आनन्द हों।

मनुष्य जीवन को सुगम और ससुख बिताने की प्रथम कला क्या है, इसका जानना प्रत्येक मनुष्यकी आवश्यक है। इसका ही दिग्दर्शक करलें 21 जनवरी के इस निबन्ध में—

मनुष्य जीवन को ससुख बिताना हो तो सर्वप्रथम कला शिष्ट वचन बोलने की है। जिसे वचन बोलने की कला भी याद नहीं है उसका जीवन बेकार है। इस आदत को बनाने में सहायक ज्ञान है। बाह्य पदार्थ में ममता न हो तो वचन व्यवहार उत्तम हो सकता है। वचन की उत्तमता कहां व विनय पूर्ण वचन कहो, प्रायः एक ही बात है।

वचन कला उत्तम पाने के लिए कम बोलने का अभ्यास करना चाहिए। मौन में कुछ समय के घाव से अधिक होता है। दुर्वचन से वक्ता भी दुःखी होता है और फल उसका बुरा होता है। सद्वचन व्यवहार सर्वत्र रक्षक

है। जिसे वचन बोलना नहीं आता है वह कौन है ? पता है ? देख वचन बोलना पशुको नहीं आता है। पशु तुल्य जीवन क्या मानव जीवन है।

आत्मा का सही परिवार का चित्रण तो देखिये 28 जनवरी के प्रथम अनुच्छेद में –

आत्मा की स्वभाव दृष्टि तो माता है, जो निर्मल आत्मा की जननी है, भेदविज्ञान पिता है, जो निर्मवपर्याय कारण है, वैराग्य मित्र है जो विपदाओं से बचाने वाला है, विवके बन्धु है, क्षमा बहिन है स्वानुभूति रमिणी है।

लोक में मनुष्य नाना प्रकार नाना विचार के हैं, उन सबको संक्षिप्त कर 6 श्रेणियों में मनुष्यों को बांधा है और उनमें यह दिखाया है कि ये उत्तरोत्तर उत्तम मनुष्य हैं। देखिये 11 फरवरी–

1. वह मनुष्य जो खुद अपने दुर्भाव में रहता है और दूसरों से घृणा करता है।
2. वह मनुष्य जो खुद अपने सुधार मार्ग की ओर है किन्तु दूसरे से घृणा करता है।
3. वह मनुष्य जो खुद तो सुधारमार्ग पर नहीं किन्तु गुणियों का बहुमान करता है।
4. वह मनुष्य जो खुद तो सुधारमार्ग पर नहीं किन्तु गुणियों का बहुमान करता है एवं दूसरो से घृणा नहीं करता।
5. वह मनुष्य जो खुद तो सुधारमार्ग पर है और दूसरों से घृणा भी नहीं करता।
6. वह मनुष्य जो खुद तो सुधारमार्ग पर रहता है और दूसरों को सुधार मार्ग में चलने की प्रेरणा करता है एवं दूसरों से घृणा नहीं करता एवं गुणियों का बहुमान करता है। ये मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम हैं।

जैन शासन पाकर लाभ न लिया तो क्या किया ? इस पर खेद व्यक्त करने वाली कान्तिमयी वाणी 6 मार्च प्रथम अनुच्छेद में पढ़िये–

यदि जल में आग लग जावे तो बताओ कोई बुद्ध नाथ, उस आग के बुझाने का उपाय। जेनधर्म पाकर यदि विनाशीक, अशुचि और दुःख के निमित्तभूत इस देह व देहकी शक्लकी नामवरी, प्रतिष्ठा व ख्याति में लग गये तो बताओ कोई बुद्ध नाथ, जगत के परिभ्रमण से छूटने का उपाय।

मन वचन काय के योग प्रयत्न संसार भ्रमण के कर्माश्रय के हेतुभूत हैं, उनसे निवृत्त होने में ही कल्याण हैं। उनसे निवृत्ति पाने के लिए लेखक के इन संक्षिप्त शब्दों के अनुसार जरा पौरुष तो कीजिये—

मन को मार, वचन मत बोल, काय से तुझे करन ही क्या है ? एक बार तो ऐसा सांचा ढाल। फिर मन से जो बन पड़ेगा, वचन से जो बोला जायगा, काय की चेष्टा हो बैठेगी उनेस तुम्हें बाधा न जावेगी।

अब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व आत्मस्वभाव का जयवाद कीजिये—

हे सम्यग्दर्शन, जयवंत हो ओ। तेरे गुण के विकास के प्रभाव से आकुलता नागिन का विष दूर होता है।

हे सम्यग्ज्ञान जयवंत हो ओ, तेरी ही तो सर्वत्र महिमा है। ज्ञान के प्रताप से ही यह संसार जीता जाता। ज्ञान में सम्यक् और मिथ्यापन स्वभावतः नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान है। संसार से छूटने का सबसे पहिला पुरुषार्थ इस ज्ञान का होता। यदि ज्ञान पर औपचारिक ही मिथ्यापन न लगा होता, कदाचित् साक्षात् मिथ्यापन होता तो बताओ फिर संसार से छूटने का उपाय कैसे बनता ?

हे सम्यक्चारित्र, जयवंत होओ। तेरी पूर्णता बिना तो पूर्ण शुद्ध कहला ही नहीं सकता। तेरी पूर्णता जहां हो जाती है वहां फिर संयम, असंयम, संयमासंयम का विकल्प भी नहीं रहता। सहज शुद्धता, सहजसंयम, सहज वर्तना रह जाती है।

हे शुद्ध स्वभाव जयवन्त होओ। तेरे ही अवलम्बन से तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है, बढ़ता है और पूर्ण होता है।`

17. सहजानन्द डायरी 1958

कोई भी संसारी प्राणी रोगी नहीं होना चाहता, किन्तु रोग हो जाता है। उसका उपचार कटुक स्वाद में मधुरता का कमाल देखिये—10.1.58 पर—

सत्य कटु होता है ऐसी लोक में उक्ती है। यह केवल उन्हीं लोगों पर चरितार्थ है जिनके सत्य की रूचि नहीं है। सत्य की दृष्टि, सत्य के

अनुकूल बर्ताव, सत्य की निमग्नता, ये सभी आनन्द ही देने वाले और आनन्द ही बढ़ाने वाले हैं।

संसार में भटकते हुए जीवों को सत्य ही शरण हैं। किस और दृष्टि देना उत्तम है ऐसी विवेकपूर्ण खोज करने वालों को सत्य ही लोकोत्तम है। जिन जीवों का भला होना है उनका सत्य ही मंगल है।

सौभाग्य से प्राप्त मनुष्य भवका अत्यन्त आवश्यक और अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है यह लक्ष्यपूर्ति संघर्ष से हो सकती है। मोक्षाभिलाषी योद्धा बनकर भयंकर दूष्ट शत्रुओं से रक्तहीन युद्ध करें। ध्यान रहें, धातुमयी शस्त्रों से नहीं, तो कैसे ? उनसे अधिक तीखे और तेज अहिंसक हथियारों के द्वारा। उन शस्त्रों की प्रयोगविधि सीखिये 20.1.58 के उसूलों से –

परमात्माभक्ति तो कवच है और स्वभावदृष्टि शस्त्र है। कवच के द्वारा तो शत्रु का प्रहार रूक सकता है और द्वारा शत्रु पर प्रहार होता है हमारे शत्रु हैं विषय कषाय के परिणाम विषय कषाय के परिणाम वहां रूक ही जाते हैं जहां परमात्मा भक्ति से यह तो जरा से ही यत्न में अनुभवसिद्ध बात हो जायगी इस में अलग से प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। स्वभावदृष्टि से विषय कषाय के परिणाम समूल नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि साथ ही विषय कषाय के कारणभूत कर्मों की भी तो निर्जरा दृ लेती।

अतः सिद्ध है कि जब कषाय के परिणाम हों तो उनका आक्रमण निष्फल करने के लिए परमात्मभक्ति रूपी कवच का उपयोग करना चाहिए। इन शत्रुओं के समूल नाश करने का मुख्य काम तो है ही स्वभावदृष्टि शस्त्र प्रहार तो सदैव आवश्यक है।

जैसे समुद्र में उतरने वाले वीरों को कवच और शस्त्र दोनों आवश्यक हैं वैसे ही मोक्षमार्गियोंको परमात्मभक्ति व स्वभावदृष्टि दोनों आवश्यक हैं। फिर भी जैसे कोई वीर कवच तो धारण करले किन्तु घृणा धारण न करें और उतर आवे युद्धस्थल में, तो वह विवेकी नहीं है। क्या होगा उसका सो आप समझ सकते हैं। वैसे कोई परमात्मभक्ति तो किया करे किन्तु स्वभावदृष्टि करे ही नहीं तो वह विवेकी नहीं है, और होगा उसका क्या ? संसारभगमण।

कोई वीर ऐसा तो हो सकता है कि बिना कवच के केवल शस्त्र प्रहार से शत्रु विजय करले, किन्तु यह नहीं हो सकता कि बिना शस्त्र के केवल कवच से शत्रु विजय करले। कोई अवस्था ऐसी तो हो सकती कि बिना स्वभाव दृष्टि के केवल परमात्मभक्ति से कर्म विजय करले।

जो लोग क्यों और कैसे के प्रश्नों का जवाब न समझकर अक्सर कार्य करते हैं उनके कार्य पुल परिग्रह का छोड़ना बाह्य परिग्रह के छोड़ने के लिए नहीं है। बाह्य परिग्रह का छोड़ना विकल्प छोड़ने के उद्देश्य से होता है।

आत्महित के चिन्तन-क्षणों में भी आत्महित के लिए खेद व चिंता करने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है शौर्य पौरुष की। उसका संक्षेप में निर्देशन लीजिये। 28.1.58 –पर

हे नाथ, संकट कब टलेगा ये ज्ञायकस्वभाव पर औपधिक भाव छा जाने का। जब ही स्वभाव पर दृष्टि दो तब ही मिट जावेगा। पुरुषार्थ करो; रंड़ रोने से काम न चलेगा।

चेतन तीर्थ की रक्षा का महत्त्व और उपयोग कितना है – यह समझ न होने पर अचेतत्र तीर्थों के ही उद्यम की धुन बन जाती है और सवरक्षा से बेसुध हो जाती है। अचेतन तीर्थ का अनुराग चेतन तीर्थ की भक्ति के लिए है—इसका निर्णय कीजिये 20.2.58 के निबन्ध में—

चेतन तीर्थ की रक्षा करना तीर्थ रक्षा है। अचेतन तीर्थों की रक्षा भी चैतन तीर्थ की रक्षा के लिए है। यदि चेतन की रक्षा का, चेतन की सत्यरक्षा का यदि वर्तन नहीं है तो अचेतन तीर्थ की रक्षाका अर्थ क्या है ? कुछ नहीं।

शान्त सुखी तो होना है खुद को और खुदकी पहचान न करे या खुद की परवाह न करे तो शान्त सुखी होने का रास्ता क्या मिल सकता है ? नहीं।

निशि में चन्द्रमा एक या बिजली इत्यादि का, दिन में सूर्य का प्रकाश आवश्यक है। इन सबके होते हुए भी मानव अंधकार में ही रहता है। ऐसे गहन अंधकार को निकाल फेंकिये, सहजानन्द हीरामणि किरणों से 4.4.58 पर

शान्ति का कारण समता है, समता का कारण निर्मलता है, निर्मलता कारण, निरर्हता है, निरहंता का कारण सम्यक् अवबोध है। अतः सुवीध के पालन पोषण के लिए सदा दत्तचित रहना शान्ति के अर्थसत्य व्यवसाय है।

कौन नहीं जानता, शत्रु कभी कल्याण कारी होता है ? फिर भी मोही प्राणी उसे कल्याण कारी कैसे समझें ? कषाओं में आनन्दानुभव तथा निजस्वरूप मानता है और अपने को भल जाता है, अर्थात् विकल्पजेल में बन्द हो जाता है। ऐसे जेल से छुटकारा पाने के लिए आइये, आध्यात्मिक संत के अनुभूत समाधान पढ़ें—11.4.58 में –

विकल्प ही महान शत्रु है, विकल्प करना ही भगवान ज्ञायकस्वरूप आत्मा पर क्रोध करना है। बहुत क्रोध किया निज भगवान आत्मा पर और इसके फल में अनेकों कुसृष्टियां पाया ! अब तो ऐसे क्रोध को त्यागो और निर्विकल्पभावरूप क्षमा से निज आत्मा को क्षमा कर दो।

विकल्प ही महान शत्रु है, विकल्प में उपयोग देकर उस विकल्प रूप अपने को मानना, विकल्प करना है, बहुत छल किया आत्मा के प्रति और इसके फलमें तिर्यच आदि योनियों में जनम धारण कर दुःखी हुआ। अब तो ऐसे छल को कि है तो निर्विकल्प स्वभावरूप निज और प्रकट करता रहा नाना विकल्प रूपसे प्रभुको, ऐसे छलको छोड़ और स्वभाव के अनुरूप प्र्याय प्रकट करके सरल एवं सत्य सुखी बनो।

विकल्प ही महान शत्रु है। विकल्प करना ही अपनी आत्मा को अपवित्र करना है। अब तक आत्मा को अशुचि बनाया, अब तो शुचि स्वभाव ज्ञायकस्वरूप आत्मा की दृष्टिरूप पवित्र जल से भावस्नान करो, शुचि बनो।

इस युग में लोकिक कार्य बिना परिचय के बहुत मुश्किल में होते हैं अतएव सभी से परिचय करने की अनेक प्रकार से कोशिश की जाती है फिर भी आश्चर्य है—मैं स्वयं के जीवनदाणों से अपरिचित ही रह जाता हूँ— इसके लिए तत्वचिन्तन वर्णी जी के विचार आपको संतुष्ट करेंगे—13.4.58—

अब और कुछ चाह नहीं हैं। अंतरंग से चाह यही है कि विकल्पजाल सब समाप्त हों। इसके फल में निर्विकल्प परिणमन होता है उसकी भी चाह नहीं है। अन्य भी जो रद्दी चाहें हो जाती हैं वे कर्मोदय के तीव्र परिणाम हैं, होते हैं किन्तु उन्हें चाहता नहीं हूँ। चाह लेने के बाद पछतावा होता है और उन चाहों को भुला देने का यत्न होता है।

स्टार्टर से खराब हुई मोटर को चलाने के लिए हाथों से धकाना पड़ता है उसी समय अवतार करें। अवतिरत पमरत्मा अधर्मकी हानि रके धर्मस्थापना करेगा और इस आत्मजगत को धर्ममय करके परमात्मा स्वयं के कर्म में गुप्त हो जावेगा। परमात्मा के अवतार का अर्थ है ज्ञानपरआत्मा का होना अर्थात् परमात्मा का ज्ञान व ध्यान रहना इस स्थिति वाले आत्मा को ज्ञानपरमात्मा कहते हैं।

महापुरुषों की विस्मयकारी लीला में लोक में संस्कृत एवं सभ्यता का आदर्श उपस्थित होता है। बड़ी विलक्षणता है कि ऐसा होने पर भी उनके अंतरंग में तत्त्वों की दृष्टि कैसे व्यापी रहती है ? इसका समाधान 1.7.58 के उद्धरण में देखिये—

ज्ञानी जनों की लीला ज्ञानी ही पहिचान सकता। जो लीलायें हैं उसकी वह तो कमजोरी हैं और जिस तत्व दृष्टि के कारण लीला का नाम देती हैं वह है ज्ञानीपर। ऐसे ज्ञानीपन और लीली इन दोनों का समावेश होता अनतरात्माकी अद्भुत विलक्षणता है। वृत्तियां तो कमजोर हैं और तत्त्व दृष्टि आत्मबल हैं, इस प्रकार प्रबलता और निर्बलता, इन, दोनों का समावेश होना अन्तरात्मा की अद्भूत विलक्षणता है।

शान से रहना सभी चाहते हैं किन्तु शान के स्वरूप और तरीकों की भिन्नता है। इन भिन्नता को जो ध्यान में रखना नहीं है वह भ्रमित हो जाता है। ऐसे भंयकर भ्रमनिवारणार्थ कौन सी शान उपयुक्त होगी। इसके लिए देखिये 28.7.58 उद्धरण में ।

मोह तेरी शान भी निराली है, क्यों न हो ? आखिर इस चैतन्य प्रभु में कुछ भी तो हो यह वेशानी से रहेगा कैसे ? मोह में ऐसी त्रियायें, करतूत होती है कि जिन्हें मोह बिना किया ही नहीं जा सकता है अथवा उन लीलाओं का मोहरहित बेचारा आत्मा कर ही नहीं सकता।

तत्त्वज्ञान तेरी शान भी निराली है, क्यों न हो। वह तो आखिर चैतन्य प्रभु का सहज चमत्कार है। तत्त्वज्ञान की ऐसी अद्भूत महिमा है कि तत्त्वज्ञान के होने पर मोह चिरसंचित भी हों, ध्वस्त हो जाती हैं। तत्त्वज्ञानी तो कृतकृत्य है।

पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज साहित्य बहुमुखी ज्ञानका निर्देशक है। उन्होंने अपनी सुझ से यह निर्णय किया है कि अंग्रेजी महीने का नामकरण राशि सूर्य के सिद्धान्तर किया गया है। इस तरह भारतीय ज्योतिष की प्रणाली एवं सयुक्तिक सिद्ध होती है।

अंग्रेजी के माह भी सूर्य के सिद्धान्तपर नाम वाले है इससे भारतीय ज्योतिष प्रणाली प्राचीन व सयुक्तिक सिद्ध होती है।

मार्च—प्रारम्भ वाला माह, वर्ष का मार्च इस माह से शुरू है।

अपरेल—अपर याने दूसरी राशि के सूर्य वाला माह।

मई—सहित याने जोड़े वाला याने मिथुन राशि के सूर्य वाला माह।

जून—'चउन' चौथे राशि के सूर्यवाला माह।

जुलाई—जु याने हुआ, लाई—लाइन सिंह से अर्थात् सिंह राशि के सूर्य से जुड़ा हुआ माह।

अगस्त-‘षष्ठ’ छटी राशि के सूर्य वाला माह ।

सेप्टम्बर-सप्टाम्बर, सातवें राशि के सूर्य वाला माह ।

ओक्टूबर-अष्टाम्बर, आठवीं राशि के सूर्य वाला माह ।

दिसम्बर-दश अम्बर, नौवे सूर्य वाला माह ।

जनवरी-उनवरी, बारा में 1 उन अर्थात् 11 वीं राशि के सूर्य वाला माह ।

फरवरी-पूरवरी पूर्ण बारह वें सूर्य वाला माह ।

सागर को गागर में समाविष्ट करने वाला एक वैराग्यवाक्य देखिये –
21.8.58 में –

मौलिक वैराग्य सत् के स्वरूपास्तित्व की यथार्थ जानकारी पर निर्भर है ।

भ्रम एक प्रकार का दुःख ही है जिससे जीव की शारीरिक और भावात्मक स्थिति घड़ी के पेन्डुलम की भांति डवांडोल हो जाती है। ऐसी स्थिति से दूर होकर स्वस्थ होने के लिए देखिये- एक उदाहरण – 22.8.58 में ।

थजसे रस्सी में सर्प का भ्रम हो गया वह अन्तर्वाद्य आकुलित है। जिसे रस्सी में सर्प का भ्रम तो है किन्तु बाहरी अकड़ व निर्भयता जताने के लिए- कहां है सांप – ऐसा बोलते हुए दूसरों को उस ओर से निराकुल जतावे तो भी क्या हुआ ? अन्तरंग में तो व्याकुल ही है। जिसे रस्सी में सर्प का भ्रम तो नहीं रहा किन्तु पूर्व हुए भ्रम के कारण जो देह व चित्तकी परेशानी हो गई थी वह अब भी कुछ शेष है। वह अन्तरंग में तो अनाकुल है व बाह्य में किंचित् व्याकुल है। जिसे रस्सी में सर्प का भ्रम नहीं रहा और पूर्व हुई देह व चित्तकी परेशानी भी शेष नहीं रही वह अन्तरंग में भी निराकुल है और बाह्य में भी निराकुल हैं इसी पद्धति से चारों बातें अध्यात्म में भी समझना चाहिए ।

तीर्थ वन्दना करना अच्छी बात है, अतः तीर्थों पर आपका विश्वास होता है। उसके मार्ग का ज्ञान करते हैं और चल पड़ते हैं तभी तो तीर्थ वन्दना होगी। ठीक इसी तरह अपने प्रियतम सत्य परमपिता के दर्शन हेतु पढ़िये-10 – 6 – 58 –

हे प्रियतम, तुम गुप्त हो, तुम्हारी कला पर हम टिके है, किन्तु तुम दर्शन नहीं देते । तेरे दर्शन के समक्ष तीनों लोक का वैभव न कुछ चीज है ।

ध्रुव निज चैतन्यस्वभाव की दृष्टि, आश्रय, अवलम्बन व परिणमन ये सब मोक्ष मार्ग हैं और कमशः उत्तरोत्तर की ये दशायें निकटकी दशायें हैं ।

जिसका सत्य विश्वास अनाकुलता का अमोष हेतु है, जिसका सत्य परिज्ञान शाश्वत प्रमोद कला का परिचायक हैं, जिसमें हुआ रमण सहज आनन्द का निष्पादक है, वह कारण समयसार में ही तो हूँ। अज्ञानमत से आच्छन्न होकर भूला भटकता धूम रहा हूँ। घुमता भी कौन है ? कारणप्रभुकी लीला का कोतूहल ।

हे शुद्धान्तस्तत्व, तुम इस तरह अन्तः प्रकाशनमान हो जैसे दूध में धुत । मर्मी ही तुम्हें पहिचान सकता है । मूढ़की वहां गति नहीं है ।

हे परमपिता, परमब्रह्म, प्रायः कर ईश्वर के नाम से जो कषायें बनी हैं, अलंकारों के रूप में जो ऋषि चारित्र गूथे गये हैं, ज्ञान की मार्मिक उक्तियां चली हैं वे सब आपकी ही महिमा के तो गान हैं । उं तत्, सत् रामात्म ने नमः ।

ज्वर पीड़ा होने पर उपचार हेतु हम डाक्टर को बुला लेते हैं किन्तु अगर आप आकुलता से पीड़ित हैं तो किसको बुलायेंगे ? इसके लिए देखिये – विरागता माता का निबंध – 1.12.58 में ।

जीव का सहारा जीव का बीतराग परिणाम है । राग में आकुलता है तब तक वीतरागता में अनाकुलता है, यह बात कैसे सिद्ध न होगी ?

हे विरागता माता आवो, आकुलता का ताप मिटाओ । अज्ञानभूमि पर पड़े हुए व विलखते हुए इस बाल किन्तु पात्र जीव को अज्ञानभूमि से उठाकर अपनी गोद में बिठाकर उसका यह सब जाल का रोना मिटा दे तो ऐसी शक्ति विरागता माता में ही है ।

हे विरागता माता आवो, आकुलता का ताप मिटाओ ।

यात्री वही सफल है जिसे दुबारा यात्री न बना रहता पड़े और चात्रा भी वही ठीक है । जिसके बाद पुनः मात्रा न करनः पड़े । ऐसा करने के लिए सावधानी लीजिए—2.12.58 से

हे पथिक, तुझे मालूम है, पथिक कितने प्रकार के होते हैं: — तीन प्रकार के पथिक हैं : —

1. भवपथिक, 2. शिवपथिक, 3. सहजानन्दपथिक । भव पथिक तो बहिरात्मा है जो कि संसार मार्ग पर परिणतिरूप यात्रा करता है शिवपथिक अन्तरात्मा है जोकि मोक्ष मार्ग की परिणति रूप यात्रा करता है सहजानन्द पथिक परमात्मा है जो कि सहज शाश्वत आनन्दको परिणति रूप यात्रा करता चला जाता है।

0 -----0

18. सहजानन्द डायरी 1959

अब पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज द्वारा प्रणित सहजानन्द डायरी 1959 के उद्यान में आइये। 4 अप्रैल की एक कल्पना में इसका दिग्दर्शन कीजिये कि

चाहे चेतन पदार्थ हो या अचेतन, किसी भी पर पदार्थ की ओर दृष्टि रहना व्यर्थ है, पराधीनता है – किसी पर पदार्थ की और दृष्टि रहना पर की नौकरी भी करो और उसके एवज में संकलेश का दण्ड भी भोगा। मिलना जुलना कुछ नहीं, मगर बेवकूफी में तो वही होता है। यह स्थिति नहीं चाहिए तो अपने सदा के शाश्वत मालिक की सेवा में लग जाओ।

लोग सुखप्रप्ति के लिए अनेक कल्पित पदार्थों की उपसना के लिए दौड़ लगाते हैं किन्तु उससे लाभ नहीं मिलता। मई के अनुच्छेद में देखिये शान्ति के लिए किस विधि से और किसकी उपासना की गई—

हे निज नाथ, हे ज्ञायकस्वरूप, हे परमेश्वर, तू सबसे निराला शुद्ध एवं परिपूर्ण है, सन्निदानन्द है। जब कभी जो सुख भी आता है। बाह्य से तुझ में कुछ आता है इस भ्रम में तो अब तक अनन्तकाल खोया। अरे दुःख भी आता है तो मेरे प्रतिकूल चलने से तेरे से ही आता है। तेरे त्रैकालिक सत्य स्वरूपकी उपासना से ही विकार दूर होते हैं, कर्म हटते हैं, दे शुद्ध ज्ञायकस्वरूपमय परमेश्वर । तेरी उपासना ही सर्वोच्च व्यवसाय है।

अभिलाषा ही समस्त क्लेशों की जननी है। उन अभिलाषाओं के विनाश के लिए कैसे आश्रय में अभिलाषाओं को ललकारा है उसका अनुभव कीजिये पेज 10 में चौथा अनुच्छेद—

विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने वाले वस्तु स्वरूपका परिचय पाकर अब क्या गरीबी रही, अब किसलिए अभिलाषाओं, अब तुम नष्ट होने वाली ही, धीरे-धीरे निकल जाओ। अनन्ते काल के लिहाज से तुम्हें सूचना दी जा रही है नही तो सूचना देने की जरूरत तो होती नहीं। मैं सुरक्षित हूँ, सब सुरक्षित हैं, किसी के कारण कोई सुरक्षित नहीं, चूंकि सब हैं अतः अस्तित्व के कारण सब सुरक्षित हैं जो मुझ में नहीं वह कुछ हो नहीं सकता। उं शुद्धं चिन्मात्रमत्ति।

आत्मा के उद्धार के अर्थ कान्तिपूर्वक कदम का साथ दीजिये—

मेरे यार क्या कर रहा है, संसार के पार पहुंचने का व्यापार कर। चार 'आहार, भय, मैथुन, परिग्रह' संज्ञा की मार से पीड़ित होकर विकार में रमकर अपने पर बार कर रहा है, प्रहार कर रहा है। विचार अपने को समार, वीता परिचय विसार। अपने ही स्वरूप में विहार करके सुधर पावेगा। तेरे लार न कोई न कोई जायगा, किस के लिये रार बढ़ाता है ? कुटेब टार, अपने को तार। तेरे उद्धारका अन्य कोई प्रकार नहीं है। प्रीजामि शिवं चिदिदं सहजम्।

लोग माया भाव में छिपकर अपने को भूलकर अपने को ही बरबाद किये जा रहे हैं। उस मायामयी बरबादी से बचने के लिए पेज 16 के पहिले अनुच्छेद में उपयोग लाइयें—

ये क्रोधधादिभाव आत्मा में कैसे हो जाते हैं ? इसका तो ज्ञायकस्वरूप है। कैसे हो जाते हैं यही तो माया है। हो जाते हैं, इसका दृढ़ पता नहीं पड़ता। जो सच भी हो, झूठभी हो वही तो माया है। जो युक्ति पर भी उतरती हो और हैरानी में भी डालती हो तो वही तोमाया है ! जो न एक का काम है, न अनेक का काम है, एक का भी काम है, अनेक का भी काम है वहीतो माया है जो मा है अर्थात् निषेध है याने तत्त्व है ओर जो या है वह मा है अर्थात् अन्य सबका निषेध है।

मोही मनुष्य शरीर की चिकित्सा में ही अपना सारा जीवन लगा देता है, किन्तु अपने आत्मा की कुछ चिकित्सा नहीं कर पाता। इस मूढ़ता से हटने के लिए पेज 19 के 19-23 लाइन का अध्ययन कीजिये—

रोग तो हो मोहन हो, और इलाज किया जाय सोहन का, तो बोलो भैया विवके है या बेवकूफी ? इसी तरह रागद्वेष मोह का रोग तो है आत्मा को और इलाज किया जाय देह अथवा इन्द्रियों का तो बोलो भैया यह भी विवके है या बेवकूफी ? अरे जिसको रोग है उसका इलाज करो, नादान मत बनो।

समस्त वस्तुओं की स्वतंत्रता का एक छोटी गलीं से अवलांकन कीजिये पेज 29 के 15 – 22 तक लाइन देखिये ।

मेरा कार्य मेरे में ही समाप्त है, मेरे से बाहर मेरा कुछ नहीं, तेरा कार्य तेरे में समाप्त है, तेरे से बाहर तेरा कुछ नहीं, उसका कार्य इसमें समाप्त है, उससे उसका कुछ नहीं, जिसका कार्य जिसमें ही समाप्त है; जिससे बाहर जिसका कुछ भी नहीं, हर एक का कार्य हर एक में समाप्त है, हर एक से बाहर हर एक का कुछ नहीं, आपका कार्य आपमें समाप्त है, आपसे बाहर कुछ नहीं, अमुकका कार्य अमुक में ही समाप्त है, अमुक से बाहर अमुकका कुछ नहीं

संसार के प्राणी कर्म के उदय के आक्रमण से निरन्तर दुखी रहते हैं, उस से मुक्त होने का उपाय तत्त्वज्ञान और समता, उस विषय के तत्त्वज्ञान और समता का एक अनुच्छेद में आस्वादन कीजिये ।

हे आत्मन् पाप के उदय से दुःख आ पड़े तो उसका भी तू ज्ञाता रहा दुःख भी क्या है ? एक कल्पना है वह भी औपाधिक है । तेरा वश क्या, तेरा वश क्या, तेरा तो वश ज्ञाता बनने में है सो दुःखभाव का भी ज्ञाता रहा है आत्मन् पुण्य के उदय से सुख आ पड़े तो उसका भी तू ज्ञाता रहा । सुख भी क्या है ? एक कल्पना है । वह भी औपाधिक है, तेरा हितरूप नहीं है, उसमें मग्न मत हो ओ । सच जान, यह सुख तुम पर घोर विपत्ति डालने के लिए मिला है, उसमें मग्न मत रहो । इस सुख भाव का भी ज्ञाता रहा ।

मनुष्य अमर होने के लिए चाहता है व यत्न करता है । कुछ कथाएँ भी ऐसी हैं कि किसी ने किसी को अमृत फल दिया है किन्तु वेशक कल्पना मात्र वास्तव में अमृत क्या चीज है जिसके पान करने से अमर हो जाते हैं उस अमृत के पाने के लिए आइये पेज 70 में 10 से 18 लाइनों में ।

स्वका सत्य अनुभव ही अमृत है । इस अमृत के पान से ही अमरता संभव है । कथाओं में कहीं आता है कि उसने अमृत फल पाया और किसी अन्यको दे दिया यह सब या तो अलंकार हैं या झूठ बात है । अथवा बढ़ाकर बात है । अलंकार तो ऐसा हो सकता है कि किसी संत पुरुष ने आत्महितोपदेश दिया और उसे ख नहीं सका सो अन्यत्र फेंक दिया । यदि कथाओं में रागी मोही भोगी जन्तुओं के लिए आवे कि उसने अमर फल खाया तो वह सरासर झूठ है । अमरफल खाया व अमर हो गया तो उससे मिला हो, ऐसे अमर हो जाने की बात की कल्पना पागलपन है ।

19—सहजानन्द डायरी 1960

सहजानन्द डायरी 1960 के सुहावने उद्यान में अब आयें इसमें उल्लिखित अमृतफलों का आस्वादन करें। प्रत्येक मानव अंतरंग से किसी न किसी को शरण मानकर रहता है, किन्तु वास्तव में शरण क्या है और अन्य कुछ शरण क्यों नहीं है, इसका सयुक्तिक विश्लेषण देखिये 8 जनवरी के प्रथम अनुच्छेद में —

मैं क्या हूँ, इसका यथार्थ उपादेय निर्णय करके उसके अनुकूल वातावरण करना सो ही वास्तव में मेरा शरण है। बाह्य अर्थ मित्रादिक व धनादिक तो मैं हूँ ही नहीं। शरीर भी मैं नहीं हूँ, कर्म भी मैं नहीं हूँ। रागादिक भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि परस्वभाव होने से यह भी पर है। बाह्य पदार्थों के जानने रूप परिणामा ज्ञान भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि वह परोपयोग है, अध्रुव है। यावन्मात्र विकल्प व कल्पनायें हैं वह भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सब भी कर्म की ही किसी परिस्थिति के निमित्त से होती है तथा अध्रुव है। निजात्मा के विषय में हो रहा गुण पर्याय का ज्ञान भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि वह भी कर्म ही किसी परिस्थिति के निमित्त से होती है तथा अध्रुव है। निजात्मा के विषय में हो रहा गुण पर्याय का ज्ञान भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि वह भी कर्म ही किसी परिस्थिति के निमित्त से होता है तथा अध्रुव है। परिमपारिणामिक के भावरूप में होने वाले निजका ज्ञान भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि वह ज्ञान भी औपाधिक और अध्रुव है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि किसी भी दृष्टि से परखने आने वाला निजतत्त्व में नहीं हूँ, क्योंकि मैं अखण्ड स्वरूपतामक हूँ। परनिरपेक्ष, अत्पादव्यय ध्रुविकल्पना से परे, गुणपर्यायों से परे, सर्व परद्रव्यों से विविक्त, सर्वपरभावों परे, सर्वनयपक्षातिकान्त, परमपरिणामिकभावमय कारण समयसार मैं हूँ। इसकी दृष्टि करके इसकी शरण करना सर्वक्लेशों से मुक्त होने का एक उपाय है।

मनुष्य प्राप्त समागम में नाना कल्पनायें करके क्षुब्ध होते रहते हैं, उन समागमों से मोक्ष न आये ऐसा तत्त्वज्ञान करना अति आवश्यक है, इसके अर्थी 12 जनवरी के प्रथम अनुच्छेद में आयें—

जो भी मिला है वह सब अध्रुव है। यहां के असमान — जातीय द्रव्य पर्यायों को देखकर अपने में नाम की कल्पना करके आपने स्वभाव से च्युत होकर परविषय कल्पनायें करना ही विपदा है, संसार है, दुःख का मूल है। रागद्वेष, मोह टले ऐसा यत्न करना ही वास्तविक बड़प्प है। यह सिद्धि निज

आत्मतत्त्व के उपयोग से ही होती है। अतः अपने जीवन में यह बड़ी सुकान्ति लाना चाहिए कि अपने आपको अकेला, अशरण, किन्तु अपने ज्ञान के कारण सशरण, ध्रुव, अखण्ड, सबसे पृथक चैतन्य अनुभव करें ताकि पर पदार्थों का कुछ भी परिणमन हो, उससे अपने को चिन्ता व क्षोभ न हो।

अपना उद्धार सबको प्रिय है, किन्तु उद्धार वास्तविकता कहां है, कैसे किया जाता है, कहां किया जाता है, क्यों किया जाता है, इन सब समस्याओं का समाधान जिन्हें प्राप्त है वे ही अपना उद्धार करने में समर्थ हो सकते हैं। इस उद्धार के ज्ञेयतत्त्व का दिग्दर्शन कीजिये—14 जनवरी के प्रथम अनुच्छेद में—

आत्मा का उद्धार कहां करना है ? आत्मा का उद्धार किसको करना है, आत्मा को । आत्मा को किसके लिए उद्घृत करना है ? आत्मा के लिए। वह उद्धार भी क्या है ? आत्मा स्वभावरूपसे जान लिया। जावे और फिर उस ही में उपयुक्त हो जावे, यह कार्य अत्यन्त सुगम है : कोन किसका है ? फिर किसी के प्रति राग और किसी के प्रति द्वेष, यह विडम्बना क्यों लगा क्यों लगा ली है ? किसने लगा ली, अज्ञान से लग गई।

इष्ट अनिष्ट व शत्रु मित्र के सम्बन्ध में भी इस मान के अपना निर्णय बना रहता है, किन्तु यह निर्णय सत्य हो तो उपादेय का उपादान हो सकता है। अव शत्रु मित्र मित्र के यथार्थ निर्णय निरखिये जनवरी 30 के द्वितीय अनुच्छेद में—

किसी भी जीव का कोई अन्य जीव न तो मित्र है और न शत्रु है। प्रत्येक जीव मात्र खुद को ही सत्य अथवा असत्य मित्र बना सकता है व खुद को ही शत्रु बना सकता है। जब अपना परिणमन अपने सहजसिद्ध रूप को विषय करता हुआ होता है तो उसका वह निजी परिणमन ही उसका सत्य मित्र है। जब अपना परिणमन इन्द्रिय विषय भोगने के लिए होता है और उस भोगोपभोग की कल्पना में आश्रयभूत बाह्य पदार्थ होता है, यहां अपने उस परिणमन में ही वास्तव में वह रुचि करता है और अपने उस परिणाम के कारण ही अपने को सुखी समझता है। अतः वास्तव में तो अपना वह परिणाम ही अपना असत्य मित्र हो रहा है। अब और आगे देखो— जो उस सुहावने परिणामका आश्रयभूत पदार्थ है उसके अभिमुख दृष्टि होने के हेतु उपचार से अन्य जनादिकों का मित्र कहा जाता है वे भी असत्य मित्र हैं। जब जीव अपना परिणाम द्वेषरूप परिणाम ही अपना शत्रु है। उस द्वेष परिणाम का आश्रयभूत अन्य जनादिक उपचार से शत्रु कहा जाता है।

जगत में सार क्या है और किसी की उपासना से शान्ति मिलती है, इसके सुविकृत निश्चय के लिए 3 फरवरी के द्वितीय अनुच्छेद में आइये—

जगत में सार क्या है ? कुछ भी नहीं, एक आत्मतत्त्व ही आत्मा के लिए सार है। अपने में शान्ति है, किन्तु वह अपने को ही स्वरूपचिन्तन मथानी के द्वारा मथाने से प्रकट होगी। परको मथने से परके संग्रह व परके विग्रह करने से शान्ति कभी भी प्रकट नहीं हो सकती है। दही के बिलौने से ही घृत निकलता है, पानी के बिलौये जाने पर घृत कभी भी नहीं मिल सकता। जो तत्त्व पानी में नहीं वह पानी के मथने से कैसे निकलेगा ? जो तत्त्व पर में नहीं वह पर के संग्रह या विरोध से कैसे मिलेगा ? शान्ति आत्मा की आम में ही है, वह आत्मोपयोग से प्रकट हो जाती है। मेरी शान्ति मेरे से भिन्न अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं, सो उनका कुछ भी मथन किया जाय अथवा परका तो मथन परके द्वार किया ही नहीं जा सकता। फलतः मैं किस, अन्य पदार्थ को मथ ही नहीं सकता। हां अन्य पदार्थ का लक्ष्य करके विकल्परूपमें अपने को मथ सकता, सो ऐसे परश्रित विकल्पों के मथन से भी शान्ति का लक्ष्य करके प्रकट नहीं हो सकती। शुद्ध, शान्त, निरंजन, सहज चैतन्यभाव के उपयोग से ही शान्ति प्रकट होती है।

सभी जीव अपनी लोकयात्रा के पथिक बने हुए हैं। निष्कण्टक पथ क्या है और उस पर चलने की वास्तविक विधि क्या है, इसका निर्णय करने वाले सतपथ पर चलकर अपना उद्देश्य पूरा कर लेते हैं। इस पथ के अनुशरण के दिग्दर्शन के लिए 7 फरवरी के प्रथम अनुच्छेद में आइयें

जो मार्ग उद्देश्यप्राप्ति के लिए निष्कण्टक जचता हो उस मार्ग का अनुसरण करना सच्चे पथिक का कर्तव्य है। अपना उद्देश्य होना चाहिए अनन्त सुखमय स्थिति में स्थित होने का। उसका मार्ग है सहज सुखमय अपने आपके स्वभाव की उपासना करना। इस मार्ग में कण्टक है रागद्वेष मोह विकल्प आदि विभाव परिणमनासो ऐसी स्थिति बने जिसमें रागद्वेषादि कंटकों का प्रसार न हो, प्रत्युत ये कण्टक जहां प्रत्यस्तुमेख हो जायें। ऐसी स्थिति में चलने से उद्देश्य की प्राप्ति होगी।

सुरक्षित निजग्रह का वास कितना श्रेयस्कर होता है इसकी झलक लीजिये — 8 फरवरी के द्वितीय अनुच्छेद में—

हे आत्मन् विषय कषाय परिणाम तेरे नहीं हैं, तू इनमें रुचि क्यों करता है ? तू तो ध्रुव चैतन्यमात्र है। अपने घर तो भटकना खतम हो जायगा। यदि परघर बसते बसते रहने का श्रम करेगा तो दर दर भटकता ही रहेगा।

यह जीव स्वयं शान्तिस्वरूप है उसके लाभका अवसर इस मनुष्यभव में मिला है। उसको व्यर्थ न खो देने की प्रेरणा पाइये फरवरी 10 के निबन्ध में

शान्ति स्वयं में है, शान्ति का उपाय स्वयं में है, शान्ति का मादा स्वयं में है, शान्ति का स्वरूप है। शान्ति का उपय सुगम है। यथार्थ ज्ञान करके वैसा ही ज्ञाता दृष्टा रहना शान्ति का अमोघ उपाय है। इस असार नश्वर पौद्गलिक समागम में मुग्ध होकर जीव अपना घात कर रहा है, यह महान खेद की बात है। मिथ्या आशयों के परिणामस्वरूप जब कीट, स्थावर शरीर का बन्धन हो जायगा तब रे प्रिय आत्मन्, तू बुद्धिहीन सा रहकर क्लेश भोगगा, इसका भी तो कुछ ख्याल कर।

हे प्रभु, इस मनुष्य भवसे बढ़कर भी कोई अन्य भव है क्या ? हां यह बात तो ठीक है कि इससे भी उत्तम मनुष्यभव मिले तो वहां धर्मसाधन हो सकता है, किन्तु यदि इसी मनुष्यभव में प्रमत्त आशा ही क्या, प्रतयुत दुर्गत ही हाथ आवेगी।

देख, सम्यक्त्व से बढ़कर कुछ वैभव नहीं, समयक्त्वकी वृत्ति के लिए बाह्य समस्त अर्थों की उपेक्षा करनी होगी। उपेक्षा करने में कष्ट क्या, आखिर सब पर ही तो हैं। उनसे कुछ अपना होना जाना तो है नहीं। तू तेरे सिवाय किसी का भी तो स्वामी नहीं, कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं। रे प्यारे, मूर्खता न कर, नवभव रत्न यों ही न गमा दे, सम्य से प्यार कर।

सर्वजीव सुखी रहे इस भावना का स्वयंपर कितना आश्चर्यजनक प्रभाव होता है इसका दिग्दर्शन कीजिए 18 फरवरी के निबन्ध में—

किसी के सुखी होने से अपने सुख में कमी नहीं आती। जो लोग दूसरों को सुखी देखकर ईर्ष्या करते हैं वे मूढ़ प्राणी हैं। सब आत्माओं में ज्ञान व आनन्द गुण है। कोई अन्य किसी का ज्ञान या आनन्द ले ही नहीं सकते। फिर अन्य के सुखी होने से किसी का बिगड़ता क्या है ? प्रत्युत ज्ञानी को देखकर ज्ञान का समर्थन होने से समर्थक के ज्ञान की वृद्धि होती है और आनन्दयुक्त को देखकर आनन्द का समर्थन होने से समर्थक के आनन्द की वृद्धि होती है।

सब जीव सुखी हों, सब जीव सुखी हों, जितना बने, ऐसा उद्योग करोकि उस निमित्त को पाकर अन्य जीव सुखी हों, ऐसी भावना करो कि सब जीव सुखी हों।

अहो, आनन्दका परम निधान यह आत्मा स्वयं ही है, इसके विकास में बाधक बाह्य पदार्थ की प्रीति है। अहो सहजानन्दमय, ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्त्व, तुम सतत् दृष्टि में बने रहो।

हे आत्मन् यहां वास्तव में तेरा क्या है और तेरा क्या नहीं है, और तेरा अभीष्ट कैसे मिलेगा इसका मनन कीजिये 23 फरवरी के निबन्ध में

दिखता है, बहुत कुछ दिखता है, उनमें तेरा क्या दिखता है ? जो तेरा है वह दिखता नहीं, जो दिखता है वह तेरा नहीं। हे आत्मन्, तुझे शान्ति चाहिए या अशान्ति ? शान्ति चाहिए तो शान्तस्वभावकी उपासना कर, अशान्ति चाहिए हो तो अशान्त भाव की प्रीति कर। तुझे छुट्टी है। जो बिगड़ा, ज्ञानबल संभाल, सब विघ्न शीघ्र नष्ट हो जावेंगे।

सच तो यह है कि जो वास्तविकता का अनुयायी है उसके परम तत्त्व पाने में कोई बाधा नहीं आती, इसका निर्णय कैसे संक्षिप्त शब्दों में किया है 27 फरवरी के द्वितीय अनुच्छेद में देखिये—

प्रिय आत्मन् सच्चाई तो देख, वास्तविकता तो देख, प्रत्येक पदार्थ अपने अपने ही स्वतः सिद्ध आस्तित्व के किले में सुरक्षित है। सब हैं और मात्र अपना अपना परिणमन करते जा रहे हैं। जैसे जैसे ही सब अवस्थित हैं तैसे तैसे ही सबका देख। संसार से मुक्त होने का कितना सरल व शुद्ध उपय है। जिस तरह के जो हैं उन्हें वैसा देखते रहों। कठिनाई कुछ है नहीं। कठिनाई तो वहां है जहां वस्तुस्वरूप से उल्टा मानने को मचला जावे।

हम पर विपत्ति क्या है और उसके विनाश का मूल कार्य क्या है इसका दिग्दर्शन कीजिये 2 मार्च के विचारों में

संसार में सुख जरा भी नहीं है, फिर भी संसार के सुख से उपेक्षा नहीं की जाती। इससे मालूम होता है कि जीव के साथ मलीनता बहुत लगी है। इसकी दूर करने के लिए भेदविज्ञान व स्वरूपभावना का बड़ा पुरुषार्थ तो सुगम है करने का प्रमाद है। प्रमाद क्यों होता है ? इसका कारण चला आया हुआ विषय संस्कार है। विवशता तो है संसार की, परन्तु संस्कार को तोड़ने का यत्न तो खुद ही करना पड़ेगा उस संस्कार के विनाश का उपाय तो भेदविज्ञान व स्वरूपभावना है।

वर्तमान पर्याय में संतुष्ट रहना उन्नति का उपाय नहीं है, किन्तु अपने प्रभुकी उपासना करना उन्नतिका मार्ग है, इसकी निरख कीजिए 4 मार्च के निबन्ध में—

वर्तमान पर्याय में ही संतुष्ट रहना तो उन्नति की निशानी नहीं है। लोग तुम्हें नहीं देखते, जानते नहीं, मानते नहीं, फिर भी उनको नजर रखकर विकल्प बनाये जा रहे हैं। क्यों न बनाये, अनादि से संस्कार यह पड़ा और बात सुनने समझाने वाले भी ऐसे ही मिले। इन सबसे पार होकर अपने प्रभु की प्रभुता से भेंट करना बड़ा उंचा काम है।

ज्ञान और आनन्द का अतिनिकट सम्बन्ध यहाँ परखिये -13 मार्च के प्रथम अनुच्छेद में -

किसी भी परपदार्थ की दृष्टि रखते हुए न तो शान्ति पायी जा सकती है और न सही बुद्धि। ज्ञान और आनन्द का निकट सम्बन्ध है। ज्ञान बढ़ता है तो आनन्द भी बढ़ता है, ज्ञान घटता है तो आनन्द भी घटता है। आनन्द बढ़ता है तो ज्ञान भी बढ़ता है तो ज्ञान भी घटता है। यह आनन्द व ज्ञान का स्वरूप ही विलक्षण है जो कि विलक्षणों की प्रमिभा में ही प्राप्त स्थान है।

अविवेक और विवके किस विषय में कौशल है इसकी परख कीजिए 17 मार्च के निबन्ध में-

अविवेक अनर्थ का मूल है। अविवेक का कारण मोह है। जहाँ है वहाँ अविवेक है। मोह मिटता है निर्मोह आत्मस्वरूपकी उपलब्धि में। शुद्धात्मोपलब्धि होती है भेदविज्ञान से। भेदविज्ञान होता है वस्तु लक्षणपरिचय से। वस्तुलक्षणपरिचय होता है तद्विषयक विद्याभ्यासते। अतः अनर्थ विपदा से छूटने की इच्छा करने वालों को विद्याभ्यास में प्रयत्नशील होना चाहिए।

मनुष्य अपने आत्मा के स्वरूप को भूलकर बड़ी बड़ी विडम्बनाओं में पड़ रहा है और वास्तव में इसी से बिगाड़ है, इसका निर्णय करने के लिए आइये 25 मार्च के प्रथम अनुच्छेद में-

हे आत्मन् जब तुम्हें अपना स्वरूप नहीं याइ रहता है, तब बड़ी विडम्बना में पड़ जाते हो। देखो प्रिय, तू तो ज्ञान आनन्द का पुंज है। अपने स्वभाव का विश्वास कर, तू अपने आप आनन्दमय है, अपने आ, ज्ञानमय है। हे नाथ, तू अनादि से स्वयं सत् है, अतएव सुरक्षित है। तेरा कुछ बिगाड़ होता परसे ऐसा तो भाव हो न कर। देख तू बिगड़ेगा तो अपने भाव से बिगड़ेगा। जब तू बिगड़ेगा तो तेरी रक्षा करने वाला कोई न होगा।

अपना उद्यम और उद्यम का क्या फल है इसका निर्णय कीजिये 3 अप्रैल के पहिले अनुच्छेद में-

आत्मा का नन्यशरण आत्मा ही है। आत्मदेव की दृष्टि रहे, उससे ही बात करने उससे ही बात करने उसके ही शरण में ठहरने, उसके ही प्रसाद पाने की धुन हो तो परम आत्मदेव के दर्शन होते हैं अर्थात् परमात्मदेव के दर्शन होते हैं। जो तत्त्व परमात्मा में वही तत्व मुझ में है, किन्तु विषय कषाय भाव से मलिन देव के दर्शन होते हैं। जो तत्व परमात्मा में है वही तत्त्व मुझ में है, किन्तु विषय कषाय भावसे मलिन हुए उपयोगद्वार से उसके दर्शन नहीं होते। उसके दर्शन होते हैं केवल आत्मदेव से वासित उपयोग द्वार से ।

मनुष्य में प्राणः कोई त कोई हट बनी रहती है, किन्तु हटसे किसी कार्य की सिद्धि नहीं। यदि यह सत्य आत्मीय आग्रह करे तो उससे अभीष्ट सिद्धि होती है, इसके निरीक्षण के लिए 1 मई के प्रथम अनुच्छेदमें आइये,

परमात्मदेव के स्वरूप को जानकर जिसने अपने स्वरूप को नहीं जाना। उसने परमात्मा को क्या जाना ? हे आत्मन् तेरा भी वहीं स्वरूप है जो परमात्मा का स्वरूप है। परमात्मा भी चैतन तत्त्व है, तू भी चैतनतत्त्व है। जितनी शक्तियां परमात्मा के लक्षण हैं, स्वभाव हैं, उतनी ही शक्तियां तेरे लक्षण हैं, स्वभाव हैं। परमात्मसदश तत्व होकर भी अथवा परमात्मतत्त्वमय होकर भी असार, भिन्न जगत की रूचि करने से तुझे उपेक्षा नहीं होती ? नहीं होती तो तेरा भवितव्य ही खोटा है। साहसकर, अपने को सरल, अपने अवधान से सहित होओ। देख तू तो ज्ञानभाव व आनन्दभाव का पुंज ही तो हैं, इसमें पर से कोई आपत्ति ही नहीं आती। स्वयं यह आत्मा अपने स्वभाव के पास बसने के उपयोग को न करके उन्मुख रहा करे तो इसमें आकुलता होना अनिवार्य स्वयं हो गया।

लोग कुछ गिर जाने या छिन जाने पर विषदमग्न हो जाया करते हैं, ऐसे लोगजो 9 मई के निबंध में आ कर अपने को सम्बोधन ले और सुखी हो जायें।

हे आत्मन्, तेरा स्वरूप ही तुझमें तन्मय है। तेरे से बाहर तेरा कुछ तेरा कुछ नहीं, तेरे से बाहर का तुझ में आता कुछ नहीं। यहां के पदार्थों के संयोग वियोग में तुझ में इष्ट अनिष्ट कल्पना की है वह अज्ञान का फल है। यदि तेरे से कुछ बाह्य पदार्थ दूसरे के पास चला गया तो बता अनिष्ट क्या हुआ ? यहां न रहा वहाँ रहा, क्या हो गया ? संसार के जीव ही तो हैं, तुझ जैसे रूप वाले ही तो हैं वे। पदार्थ कोई किसी खास के पास ही रह जावे ऐसा तो होता ही नहीं, फिर जो होता है होने दो, उसके ज्ञातादृष्टा रहो।

अपने आप पर वास्तव में परेशानी क्या है, इसका सच्चा चित्रण तो कीजिये जरा यहां 12 मई के द्वितीय अनुच्छेद में—

जैसे कोई फुवर बालक किसी सबल बालक के दुःखी होकर गाली देता है और इसके परिणाम में सबल से पिटता है, पिटने का दर्द न सहकर पुनः गाली देता है, इसकी क्रम में वह परेशान रहता है। इसी प्रकार यह अज्ञ प्राणी पूर्वकृत कर्मों के उदय के निमित्त से दुःखी होकर रागचेष्टा करता है और इसके परिणाम में फिर दुःखी होने के लिए उपय कर लेता है सो पुनः दुःखी होकर रागचेष्टा करता है। इसी क्रम में यह परमात्मतत्त्व परेशान रहता है।

अब व्यग्रता से हटकर निज शुद्ध आनन्द की प्रेरणा लीजिये -27
जून ।

हे निज आत्म, तू ज्ञान व आनन्द का पुंज है, ज्ञानानन्दमय है। ज्ञान बाहर खोजना व आनन्द बाहर खोजना यही अज्ञान और क्लेश है। यह अज्ञान और क्लेश मत कर, देख - यही ज्ञान एवं आनन्द का अनुभव करेगा। सहज सत्य अनुभव होना तो तेरी कला है और इसके अतिरिक्त अन्य सब तरंगों कर्म रूपी विषवृक्ष के फल हैं। विषफलों को मत भोग -।

तेरे से अन्य कोई पदार्थ तुझ से कुछ परिणमन नहीं कर सकता, तब अन्य किसी से न तेरा हित ही हो सकता, न बिगाड़ ही हो सकता। अतः सर्व पर पदार्थों का तू अपने लिए व्यर्थ जानकर उनका एकदम विकल्प तो छोड़, परम आनन्द पद पावेगा।

तू तो प्रभु ही है, प्रभुता के विरुद्ध काम करने की मत सोच। तू तो आनन्दमय है, आनन्द परिणति के विरुद्ध काम करने की मत सोच। किसी भी पर जीव से अपने लिए आशा तम कर, किन्तु जब तक सराग अवस्था है तब तक अपने को ध्येयपथ से च्युत न होने के उद्देश्य से पर प्रभुओं की सेवा में समय लगा। अपनी सिद्धि के लिए सब प्रकार से सेवा में समय लगा।

हे प्रभु, तू प्रभु है, समर्थ है सद्भावनाओं का आदर कर तो तेरी विजय होगी। दुर्भावनाओं के आदर में तो आकुलता का ही साधन जुटेगा। अपनी शान्ति अन्यत्र न खोज, अन्यत्र कहीं है नहीं वह। सम्यज्ञान के प्रसाद से अशान्ति का व्यय होकर शान्ति का आविर्भाव होता है।

अब क्षणिक लोक से हटकर आनन्दघन निज परमात्मतत्त्व मे आइये
-11 जुलाई-

जगत क्या है ? विनश्वर परिणामनों की क्षणिक हलन चलन। इससे तुम अपने लिए कुछ मंगल देखना चाहते हों ? अरे भैया, अटपट इच्छायें छोड़ दी। खुद खुदको देखो और खुदसे ही खुदकी आशा रखो। मेरा आनन्द मुझ

में ही है, मुझ में क्या मैं स्वयं आनन्द की मूर्ति हूं, आनन्दकी मूर्ति क्या, मैं स्वयं आनन्द का पुंज हूं, आनन्दका पुंज क्या, मैं स्वयं आनन्दधन हूं।

होता स्वयं जगतपरिणाम। मैं जगतका करता क्या काम।

दूर हटो परकृत परिणाम। सहजानन्द रहूं अभिराम।

उं तत् सत् परमात्मने नमः।

अहो, जरा संकट का सही निश्चय कीजिये और संकटमोचन के अर्थ गुप्त ही गुप्त अवसर का लाभ उठा लीजिये 4 अगस्त द्वितीय अनुच्छेद

प्रिय, बड़ा संकट है बड़ा संकट होगा जो अपने स्वभाव के उपयोग से च्युत होकर पर की कीमत करते फिरोगे, पर की उपासगन करते रहोगे। अरे दुरात्मन् अपनी आपत्ति को आपत्ति न समझकर इसी में चैन मान रहा है। प्रिय, बड़ा धोखा है, बूरी मौत मरोगे, बुरा जियोगे, संसार कानन बड़ा गहन है, कुलकोटियां बड़ी गहन हैं, पता न पड़ेगा, कहां पड़े हो ? तेरा कोई यहां जानने वाला है या मानने वाला है ? प्रिय समझ तू यहां जन्मा ही नहीं है और जन्मा सो है उसका लाभ गुप्त होकर उठा लें।

20—भागवत धर्म

तत्त्ववेत्ता 105 क्षु0 मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज द्वारा प्रणीत यह भागवतधर्म कल्याणकारी गहन सिद्धान्तों को, जो कि सर्व कल्याण प्रियोंके लिए उपयोगी है सरलता से प्रदर्शित करता है। इसमें सर्वप्रथम 83 प्रतिपाद्य विषयों का सुन्दर निर्वाचन, तदनुसार विश्व के पदार्थ नामक दिया में सयुक्तिक वर्णन करते 2 पृष्ठ नं0 9 की 26 वी लाइन से दो अनुच्छेदों में दुष्यमान सब पदार्थों को ब्रह्म विकार कैसे मार्मिक एवं थोड़े शब्दों में बताया है देखिये

यह समस्त विश्व पूर्वोक्त अनन्तानन्त जीव व अनन्तानन्त पुद्गल, धर्मद्रव्य, एक अधमद्रव्य, एक आकाश द्रव्य व असंख्यात काल द्रव्य, इस प्रकार अनन्तानन्त पदार्थों का समूह है। इन सबको अस्तित्व की अपेक्षा एक कहा जाता है। व्यक्तिगत परिमणन से ज्ञान में जुदे जुदे आते हैं ओर अनेक युक्तियोंसे भी प्रसिद्ध हैं अतः स्वरूप सत्त्वकी अपेक्षा पदार्थ अनेक हैं।

दृश्यमान जितने भी स्कंध हैं वे सब ब्रह्म के विकार इस कारण प्रसिद्ध हैं कि ये सब किसी न किसी प्रकार के जीनके शरीर हैं, जैसे चौकी का काठ पहिले पेड़ ही तो था, वह वनस्पति काय जीवका शरीर है । सोना, चाँदी पृथ्वीकाय जीव का शरीर है इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जो कुछ दिखता है उसकी सकल का प्रारम्भ जीनके अंगीकारिता से हुआ था व हुआ है।

एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पचिन्द्रिय जीवों को शारीरिक एवं मानसिक अपर्याप्तियों के कारण दुःख ही दुःख है जो प्राणी अपनी भावनाएँ शुद्ध रखकर चलते हैं उन्हें विभिन्न पर्याप्तियों के कारण निजदृष्टि के प्रति उन्मुख होने में सहायता मिलती है देवों को मनुष्यों से ज्यादा कष्टानुभव होता है। अतः देखिये मनुष्य को वस्तु के यथार्थ ज्ञान की ओर उन्मुख होने के लिए साधन समपन्न सुअवसर पृ० 17 की 26 वीं पंक्ति से पृ० 18 की 6वीं पंक्ति तक। इसमें यह भी निरख लीजिये कि लोक में उत्तरोत्तर दुर्लभ चीज क्या है।

फिर भी आज जो परिस्थिति है, वह भी कितनी दुर्लभ थी, इसे इन दुर्लभ बातों के मनन से निश्चय कर लें – एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, मन; पर्याप्ति, मनुष्य, सुदेश, सुकुल, सुरूप, इन्द्रिय सामाग्य, नीरोगता, दीर्घाप्ति, सुबुद्धि; धर्मश्रमण, धर्मावधारण, सत् श्रद्धान संयम भावना, विषयनिवृत्ति भावना, कषायनिवृत्ति भावना। अब दुर्लभ रत्न को पाकर वस्तु के यथार्थ ज्ञानकी ओर दृष्टि करे, इसी में हित हैं।

क्या एटबम, क्या राकेट दिखायेंगे शक्ति का प्रदर्शन चेतन की अपराजेय ज्ञानादि शक्ति वैभव के आगेलोक के प्राणियों गोबर निर्मित अंगारों से छिपी अग्नि के सदृश अपनी त्रैकालिकसाधिनी चैतनशक्ति को पहिचानो देखिये पृ० 19 की 12 वीं पंक्ति से 18 पंक्ति तक।

चैतन की शक्ति की इतनी महिमा है कि समस्त विश्व ज्ञान में आ जावे, उसके अतिरिक्त इतनी शक्ति और बनी रहती है कि समस्त विश्व बराबर असंख्यात लोक भी यदि और हो तो उन्हें भी जानकर और को भी जानने की शक्ति रहें चैतन का कार्य है कि जो कुछ हो व जो कुछ था। व जो कुछ होगा सर्व का एक साथ जान लें। संसार अवस्था में यद्यपि कर्मरूप द्रव्यावरण के निमित्त से रागादिरूप भाव आवरण पड़ा है। अतः ज्ञान का विकास अल्प हो गया तो भी विकास का सर्वापहार नहीं हो सकता इसका कारण चेतन का चैतन्यस्वभाव है।

मध्यलोकके ही नहीं, त्रिलोक के सभी पदार्थ मनुष्यके लिए हित के साधन हैं। प्राणियों के संसर्ग से ही उनकी सार्थकता है, अन्यत्र व्यर्थता ही

अतः अपने कल्याण के लिए कीजिये चेतन की संगीत पृ० 21 की 10 वीं पंक्ति से 14 वी तक।

हे चेतन, तेरा सर्वत्र चमत्कार और महात्म्य है। जो कुछ जड़ भी दीख रहा है वह भी चेतन की ही महिमा प्रकट कर रहा है। ये भी तबा रहे हैं कि यदि मुझे चेतन पदार्थ ने अंगीकार न किया होता तो हम इस शकल में कभी भी न हो सकते थे। हममें अब भी जो विचित्र परिवर्तन होगा वह चेतन के संग का प्रसाद होगा।

सोने का एक हार बनाया और इसे ही कभी मिटाकर कंगन बना लिया या मैं बालक से युवा हो गया और युवा से वृद्ध परिवर्तन के स्वरूप को न समझने के कारण हम विपरीत बुद्धि करके अज्ञान के धनी बन जाते हैं।

अतः अज्ञान के नहीं, ज्ञान के धनी बनकर पदार्थों के स्वतंत्र स्वरूप को समझिये पृ० 24 की 11 वी पंक्ति से 22 वी तक पढ़ कर

प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र है। इन पदार्थों के परस्पर निमित्त भाव को पाकर चाहे कुछ भी परिणतियां हों, सर्वत्र प्रत्येक द्रव्यकी अपने आपमें परिणति मिलेगी व परसे भिन्न परिणति रहेगी। हाइड्रोजन नाइट्रोजन हवा के मेल से जल बन जाता है तो भी वहां प्रत्येक नारक, पशु, पक्षी, कीट, देव, मनुष्य आदि कहते हैं उन सब भवों में जीव जीव ही है, जीव व पुद्गल ही है। प्रत्येक द्रव्य अन्य समस्त द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न है। अतः किसी द्रव्य का किसी अन्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे स्वतंत्र स्वरूपमें पदार्थों की प्रतीति रहे, निज आत्माकी प्रतीति रहे तो आकुलता का कोई कारण नहीं रहता। क्लेशमुक्ति का उपाय सम्यज्ञान है, ज्ञानभावना है, ज्ञानों पासना है। ज्ञानकी अर्चा, आराधना सर्वऋषियों ने मंगलमय माना है।

वस्तुस्वरूप के ज्ञान से ही दूर होते हैं। वस्तुस्वरूप ज्ञानकी प्रसिद्धि दृष्टिवाद से होती है यह दृष्टिवाद संशयकारक विधि नहीं, किन्तु निर्णायक विधि है, इसका हृदय एक निर्देशनपूर्वक अध्ययन में लायें।

दृष्टिवाद में संशय या अनिर्णय को स्थान नहीं है, क्योंकि अपेक्षा रखकर जो धर्म जाना उसका पूर्ण निश्चय रहता है। जैसे राम का पुत्र श्याम, श्यामका पुत्र धाम, इनमें बोला जाय कि धाम का श्यामपिता ही है तो इसमें निश्चय ही रहा, संशय नहीं व कहा जाय कि राम का श्याम पुत्र ही है तो निश्चय ही रहा। यदि कहा जाय कि राम का श्याम पुत्र भी है तो यह प्रयोग गलत है क्योंकि राम का तो पुत्र ही है और कुछ नहीं इत्यादि। इसी प्रकार कहा जायगा कि द्रव्य दृष्टि से आत्मा नित्य ही है। यहां कुछ भी संशय नहीं है। पर्याय दृष्टि से आत्मा अनित्य ही है ! यहां कुछ भी संशय नहीं है। पर्याय

दृष्टि से आत्मा अनित्य ही है यह निश्चय ही है। यदि कहां जाय कि द्रव्य दृष्टि से आत्मा नित्य भी है तो यह गलत प्रयोग है, क्योंकि इसमें यह भी सिद्ध होगा कि द्रव्यदृष्टि बिल्कुल नहीं है।

प्रत्येक वस्तु में द्रव्यपना व परिणमन दोनों तत्त्व अनिवार्य हैं। उनमें से जब द्रव्यत्व की दृष्टि की जाती है तब कैसी दृष्टि पसरती है इसका मर्म देखें

इस प्रकार वस्तुस्वभाव व परिणमन दो दृष्टियों से देखा जाता है। इनमें स्वभावदृष्टि से देखा जाता है तो पदार्थ ध्रुव, नित्य, एकरूप, अपरिणामी, अविशेष आदि रूपमें देखा जाता है तथा परिणमन दृष्टि से देखा जाता है तो पदार्थ अध्रुव, अनित्य, नानारूप, परिणामी, विशेषरूप आदि रूपमें देखा जाता है। स्वभावदृष्टिको द्रव्यार्थिकदृष्टि, परमार्थदृष्टि, सत्यार्थदृष्टि, भूतार्थदृष्टि आदि कहते हैं व परिणमनदृष्टि को पर्यायार्थिकदृष्टि, व्यहारदृष्टि, अपरमार्थदृष्टि, असत्यार्थदृष्टि आदि कहते हैं।

विश्वव्यवस्था का विवरण करने के पश्चात उसका उपसहंरकीय वाक्यों में विश्वव्यवस्था का दिग्दर्शन कीजिये।

प्रत्येक द्रव्य स्वतः सिद्ध है, स्वयं परिणमनशील है। परको निमित्त पाकर स्वयं निजकी योग्यता के अनुकूल परिणमनशील है, परको निमित्त पाकर स्वयं निजकी योग्यता के अनुसार परिणाम जाना जीव की कला है। पुद्गल आदिक प्रत्येक द्रव्यकी यही व्यवस्था है। काल द्रव्य ही एक ऐसा द्रव्य है कि जिसके परिणमन में कोई अन्य द्रव्य निमित्त नहीं होता। शुद्ध जीव, शुद्ध पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य के परिणमन में कालद्रव्य निमित्त है। जीव व पुद्गल के विकारपरिणमन में कर्म निमित्त है। व बाह्य वस्तु आश्रयभूत है। विकार परिणमन के निमित्तभूत बाह्य कारणों के अभाव में पदार्थ के स्वरूप परिणमता हैं इस तरह वैज्ञानिक आधार पर विश्वकी व्यवस्था की यह पद्धति है। सबके कार्यों के उपादान कारण वे ही सब हैं। यदि उनको सबको संग्रहनय से देखा जाय तो सब सत्स्वरूप ही हैं। इस सामान्य दृष्टि में वैयक्तिक धारण नहीं रहती है। अतः एक सत्यरूप है। इस साधारणस्वभाव को मद्देनजर रखकर सबके परिणमन का कारण क्या है इस प्रश्न का सामाधान किया जावे तो यह कहा जा सकता है कि एक सत्यस्वरूप तत्त्व है। यही सत्यस्वरूप तत्व ब्रह्म अद्वैत आदि अनेक शब्दों से वाच्य होता है, जिससे यह भी कहा जा सकता है कि सर्वकी उत्पत्तिका कारण सत् या ब्रह्म है।

शब्दों के विभिन्न अर्थों को न समझ सकने के कारण कभी-2 अनर्थमी हो जाता है, जैसा कि वैदिकदर्शन का बहाना लेकर स्वार्थान्धजन

समझते हैं, अतः उदाहरणों द्वारा शब्द का सभी अर्थसमझने के लिए अवलोकिये पृ0 40 का अन्तिम अनुच्छेद –

कुछ व्यक्तियों के ख्याल हैं कि वेद में यज्ञ में हिंसा का विधान किया गया है इससे पशुहिंसा आदि करना दोष नहीं है, किन्तु ऐसा ख्याल छोड़ देने में लोभ है। कारण यह है। कि शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं तथा कभी उपमान के स्थान पर उपमेय का भी प्रयोग कर दिया जाता है, इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इन्द्रियों को, मनको, विकल्पोंको घाती याने वश करो इत्यादि। हिंसा के भाव को छोड़कर फिर वेदों वाच्यपर दृष्टि हो जावे तो इससे, नीति, रीति, रीति व उपकारक निमित्तों का ज्ञान आदि व्यवहारिक अनेक बातों का इससे बोध मिलता है।

ईशु के उपदेशों में भी दया व विरोधीपर समता भाव रखने की झलकका अंदाज कीजिए तो अन्तिम अनुच्छेद–

ईसाइ मतानुयायियों में प्रायः मांसभक्षणकी प्रवृत्ति देखकर कुछ लोग समझने लगे हैं कि मनुष्यको छोड़कर अन्य प्राणियों की हिंसा करना दोषकर नहीं है, किन्तु उनाक ऐसा समझना ठीक नहीं है। कारण कि ईशुकी शिक्षायें पशु पक्षी आदि सबकी रक्षाकरने का उपदेश है। हिंसा करना धर्म कभी हो ही नहीं सकता। इससे तो सभी प्राणियों की सेवा करने की शिक्षा लेनी चाहिए ईशु के उपदेश में यह भी कहा गया है कि यदि कोई तुम्हारे गालपर तमाचा मारता है तो तुम दूसरा तमाचा भी झेलने के लिए अपना दूसरा गाल उसके सामने कर दो। इसका भाव यह है कि विरोधीपर भी रोष मत लावो।

आज की भारतीय सरकार परेशान है हिन्दु शब्द की परिभाषा निश्चित रूप से करने में किन्तु बर्णीजी की प्रखरता को आंकना आसान नहीं है। उन्होंने इस बदलते जमाने को पुनः ग्रथानाम तथा गुण की उक्ति चरितार्थ करने की प्रेरणा दी है। इसे समझकर दमार्द हो जाइये।

हिन्दू शब्द का अर्थ है – हि याने हिन्सासे, दू याने दूर, अर्थात् जो हिंसा से दूर रहे वह हिन्दू। इस अर्थ से जीव दया में जो विश्वास व आचनण करते हैं, वे सब हिन्दू हैं, किन्तु यह अब रूढ़ शब्द हो गया है। इस दर्शन में मुख्यता राम – अवतराकी है। भगवान श्रीरामचन्द्र जी की बाल्यवस्था से लेकर उनके उस जीवन तक के सब चरित्रों की यहां उपासना है तथा उनकी पत्नी श्री सीताजी की भी उसी आदर के साथ उपासना है। जैन दर्शन में भगवान श्रीरामचन्द्र जी बलभद्र व पद्म कहा है और गार्हस्थ्य चरित्र के बाद का चरित्र बताया है कि वे सर्व आरम्भ परिग्रह से विरत होकर परमब्रह्म की समाधिरत होकर मोक्ष प्राप्त किया श्री सीताजी की प्रधानता जैनदर्शन ने

बताकर यह कहा है कि श्रीमतीजी ने अग्निकुण्ड परीक्षा के बाद आर्याव्रत धारण करके तपस्या करके 16वें स्वर्ग में प्रतीन्द पढ़ पाया है।

उच्चतम लक्ष्य की दृष्टि रखकर उपलक्ष्यों के प्राप्त होने पर, यहीं नहीं रुकना चाहिए यह तो उच्चतम लक्ष्यप्राप्तकी एक पद्धति है। प्रायः लोग तत्त्वज्ञानी पुरुषों की प्रवृत्ति को ही कर्तव्य मान लेते हैं यह उनकी भूल है। स्पष्ट और सुगम भाषा पढ़िये तत्त्वज्ञान होने के अन्तर स्थिति में कर्मयोगवृत्ति भी छूट जाने का निर्वाणकारी परिणाम पृष्ठ 48 का अन्तिम अनुच्छेद।

तत्त्वज्ञान होने पर भी रागभाव अवशिष्ट रहना तब तक उसके परिणामस्वरूप कर्मयोग चलता है। इस तरह अन्तः प्रज्ञके अथवा अन्तरात्माके निष्काम कर्मयोग होता है। इसमें निष्कामता अंश तत्त्वज्ञान का परिणाम है और कर्मयोग रागादि भाव का परिणाम है। निष्कामकर्मयोग तो ज्ञानियों के होता है, परन्तु वह कर्तव्य है या होना पड़ता है, इस उपयोग के कारण स्वभाव दृष्टि का अवसर नहीं मिलता और तत्त्वज्ञके निष्काम कर्मयोग होना पड़ता है, ऐसा मानने पर कर्मयोग करते हुए कर्मयोग में भी उपेक्षा रहती है, जिससे निष्काम कर्मयोग में ऐहिक सुखकी कामना का अभाव तो था ही, अब कर्मयोग की कामना का भी अभाव हो जाता है और परम निष्कामता प्रकट होता है कि कर्मयोगवृत्ति भी छूट कर परम ज्ञानयोग हो जाता है, जिससे निर्वाण होता है। उक्त दोनों मान्यताओं का नाता जीवकी अपेक्षा समन्वय इस प्रकार हो सकता है कि तत्त्वज्ञ आत्माको तो कर्मयोग करना पड़ता है, उसकी भी निष्कामता है, ऐसी विशुद्धि में उसके निष्काम कर्मयोग होता है। उसे देखकर अल्पज्ञान महापुरुषों की प्रवृत्ति को कर्तव्य समझे तो फिर इस तत्त्वका प्रसार यही हो सकता है कि निष्काम कर्मयोग करना कर्तव्य है।

स्वार्थान्ध हिंसक लोग धर्मकी आड़ लेकर अपना मतलब पूरा करते हैं किन्तु विवेकी पुरुष ऐसा कभी नहीं कर सकता – इसका समाधान पूज्य श्री के एक अनुच्छेद में देखिये।

ध्वेकी मानव भी यह कभी नहीं सोच सकता कि किसी भी प्रकार की हिंसामें धर्म हो सकता है। बध तो अधर्म ही है फिर कोई भी ऋषि हो वे कैसे हिंसा का विधान कर सकते हैं? यदि किसी समय हिंसा को धर्म का अंग किसी ने बताया हो तो यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि मांसभक्षणकी विषयवासना ने यह रूपक बना दिया होगा।

वस्तु सामान्यविशेष धर्मात्मक है। अगर हमें विकल्पों को छोड़कर सभी में सत्क दर्शन करना है तो आइये देखें विशिष्टाद्वैत दर्शन के उपसंहार में पूज्य श्री का एक अनुच्छेद।

प्रत्येक पदार्थ अद्वैत है। किसी भी पदार्थ में किसी भी अन्य पदार्थ का स्वरूप नहीं मिल सकता। सब स्वस्वद्रव्य क्षेत्रकाल भावात्मक ही हैं। अब उन सब अद्वैतस्वरूप पदार्थों को साद्रश्य धर्मद्वार से देखो तो वे सब उस दृष्टि में परस्पर गर्भिन्न हो ताजे हैं और ऐसे गर्भित हो जाते हैं कि मानी निष्पीत हो चुके। अब यहां प्रत्येक भिन्न – 2 सत् नहीं रहा। यदि सब चेतनों को द्वार से देखो तो वह सब एक ब्रह्मा है। यदि चेतन अचेतन सब पदार्थों को सादृष्यधर्म द्वार से देखो तो सारा विश्व एक सत् है। इसे दृष्ट, ईश्वर, सत् आदि किसी भी शब्द से कहो, इस वादका सर्वत्र उद्देश्य विकल्पों का विलय कर लेना है।

वस्तुस्वरूप समझने के लिए भाषा का प्रयोग आवश्यक है, जिसके लिए स्याद्वाद पद्धति उपयोगी है, इसका उपयोग विशेषवाद के लिए भी किया जा सकता है, इसका विवेचन एक अनुच्छेद में निह रिये।

विशेषवाद और अद्वैतवाद दोनों परस्पर सप्रतिपक्ष हैं, फिर भी इनका समन्वय उपाय उपेय तत्त्व में हो सकता है। विशेषवाद द्वारा सूक्ष्मसे सूक्ष्म तत्त्वकी जानकारी करना और फिर समवायी निराश्रय द्रव्य के सब विलास जानकर अभेद द्वार से अद्वैतस्वरूप की और उन्मुख होना, यह शिक्षा इस समन्वय में प्राप्त होती है। स्याद्वादपद्धति से विशेषवाद का उपयोग भी आत्महित साधक है।

व्यवहार मुग्ध लोगों ने प्रकृति और उसके परिवार को अपना स्वरूप तथा वैभव मान रखा है, यह गलत है। इसके निराकरणार्थ चैतन्यमात्र पुरुष का आश्रय लेने के लिए पूज्य श्री वर्णी जी का एक अनुच्छेद में देखियें।

इस सिद्धान्त से यह शिक्षा मिलती है कि हे मुमुक्षु आत्माओ, अन्य कोटूहलों से कल्याण की सिद्धि नहीं होती, एक निजध्रुव चैतन्यस्वभावकी अभेद उपासना करो। इससे समस्त संकट निमूल हो सकते हैं। यह जगजाल प्रकृति के परिवार को अपना स्वरूप और वैभव समझ लेने के परिणाम में उत्पन्न हुआ है। प्रकृति और परिवार से पृथक् चैतन्यमात्र पुरुष का आश्रय करने से यह जगजाल सब विलीन हो जाता है।

प्रकृति और प्राकृतिक, इन शब्दों का प्रयोग तो प्रायः सब कर लेते हैं, किन्तु क्या हैं व प्राकृतिक का अर्थ क्या है, इसका सही समाधान चाहते तो आइये सांख्यदर्शन में प्राप्तव्य शिक्षाए के प्रकरण के अंतिम अनुच्छेद में देखिये

लोग पर्वत नदी समुद्र आदि के दृष्यों को देखकर कहा करते हैं किय यह प्रकृति का ठाठ है, प्रकृति का खेल है, प्रकृति का सौन्दर्य है, यह सब क्या है ? प्रकृति व पुरुष के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ चित्र जगजाल है।

पेड़ पानी पर्वत आदि तो पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध का परिणाम है, किन्तु इनमें प्रकृत ही मूर्त है, पुरुष मूर्त नहीं, और दृष्यमान ठाठ भी मूर्त है तथा इसकी येन केन प्रकारेण परम्परया आंशिक अपादानरूपता भी है, अतः यह सब दृष्यमान ठाठ प्रकृति और प्रकृति के परिवार में मुग्ध मत हो ओ, अपने पुरुष स्वरूप को देखो। यही सकल विकटसंत कंटकोंसे पार होने का उपाय है।

क्षाणिक वाद व भेदवाद के एकान्त के मनतवय में शून्यवाद और ले जाकर बिरहंकार बनाने के प्रयोजन की संभावना का चित्रण पूज्य श्री के एक अनुच्छे में कीजिये

पदार्थ का विस्त्रित वर्णन द्रव्य, क्षेत्र काल भावकी अपेक्षायें लेकर ही हो सकता है, चाहे कोई इन अपेक्षाओं को जाने, चाहे कोई इन अपेक्षाओं को लेकर किसी रूप में बढ़ जावे। बौद्ध दर्शन में वस्तुस्वरूपका वर्णन भेदस्कान्त के साथ इन चार दृष्टियों से इस प्रकार किया है कि वस्तु निश्चय क्षणिक स्वलक्षणमात्र हैं। बौद्धदर्शन सर्वथा भेदवादी है। अतः यह वस्तु को गुणपर्यायात्मक, प्रदेशानतम् ध्रुव व स्वभावात्मक नहीं मानता है। ऐसा मानने तथा न मानने का उद्देश्य शून्यवादी और ले जाकर निरहंकार बनाने का है।

सांसारिक विषयों में सुखों का आभास मात्र है और देह से पृथक आत्मा होते हुए भी दुःखन्तसुखाभिलाषी जनों को कैसे समझ में आये यह बात ? उनके लिए यह नर देह ही सुखाभूति देने वाली है। अतः चार्वाकदर्शन से प्राप्तव्य शिक्षा के लिए एक अनुच्छेद देखिये।

देह से भिन्न आत्मा कुछ है, ऐसी कल्पना करके जीव दे हके श्राराम को छोड़कर नाना प्रकार के कष्टों में उलझ जाते हैं। आगामी सुखों की आशा लगाकर भूख, प्यास गर्मी सर्दी बनवास आदि के कष्ट भोगते हैं। पूजा, यज्ञ, त्याग आदि कार्यों में धर्म की पुट लगाकर जिन जीवों से उद्यम नहीं बनता, बे जीवीकामात्र करते हैं। इससे भोजन व किन्हीं के द्वारा यद्यपि बीच बीचमें अनेक दुःख भी आते हैं। तो भी दुःख भी आते हैं। तो भी दुःख के डर से इन सुखों का त्याग कर देना आवेक है। धान्य चाहने वाले पुराल छिलका आदि को छोड़कर केवल चावल को ग्रहण करते और भोगते हैं, इसी प्रकार सुखको चाहने वाले यथा शक्ति दुःखों के भोगको छोड़कर विषयजन्य सुख को ग्रहण करते और भोगते हैं।

देहादिक समस्त चेतन अचेतन पर पदार्थों से भिन्न कौन तत्व है जो हमारा है, जिसे हम देख तो नहीं सकते, किन्तु अनुभवगम्य अवश्य है। अतः उस दृष्टि तत्व आत्मा को छोटे में गुण बहुत है की उक्ति के अनुसार परखिये एक परिच्छेद लें।

यह आत्मा निश्चयतः शुद्ध है, बुद्ध है, नित्य है, निरन्जन है, टंकोत्की ण्बिम्बकी तरह निश्चल है, परमात्मा है, परमेश्वर है, ज्ञानमय है, आनन्दमय है, सर्वकामनाओं से रहित है, अविकार है, चैतन्यमात्र है। इसके अनुभव में जो अनुभव में जो आनन्द है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। आत्मस्वरूप ही परमब्रह्म, ईश्वर, भगवान आदिके रूप में ध्याया जाता है। उं नमः समयसाराय, उं शुद्धं चिदस्मि, शुद्धं चिदस्मि जैसे समुद्र की सतरंग व निस्तरंग अवस्था का अनुभवन समुद्र में ही है, अतः समुद्र ही अपने आपको वहां सतरंग अथवा निस्तरंग अवस्थामय अनुभवता हुआ याने वर्तता हुआ अपने को ही भोगता है, अनुभवता है। ऐसा भी भेददृष्टि में प्रतीत होता है। वैसे ही जीव की ससंसार अथवा निःसंसार अवस्था का अनुभव जीव में ही है, अतः जीव ही अपने आपको वहां ससंसार अथवा निःसंसार अवस्था मय अनुभवता हुआ, वर्तता हुआ अपने को भोगता है। ऐसा भी भेद – दृष्टि में प्रतीत होता है। अन्य की तो कोई अनुभवता हो नहीं है। अन्य को अनुभवता कहना उपचार है।

जीव का स्वरूप देह कर्म आदि अजीवों से निराला बताया गया है। यद्यपि जीव और देहादि का सम्बन्ध बन रहा है, फिर भी निश्चय से आत्मा के वर्णादिक व रागादिक कोई भी पुद्गल परिणाम नहीं है, इसका वर्णन देखिये – जीवाजीवाधिकार 39 वां प्रकरण–

जैसे पानी मिले हुए दूध का पानी के साथ यद्यपि लक्षणों से देखो – क्षीरत्व गुण दूध में ही रहता है जो कि पानी में नहीं है, तब दूधका पानी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध तो नहीं काह जा सकता, जैसे कि अग्नि का तादात्म्य उष्णताके साथ है, यही कारण है कि निश्चय से दूध का पानी कुछ नहीं है। इसी प्रकार वर्णादि व रागादिक पुद्गल द्रव्य के परिणामों से मिले हुए आत्मा का यद्यपि पुद्गल द्रव्य के साथ परस्पर अवगाहरूप सम्बन्ध है, तथापि लक्षणों से देखो उपयोग गुण आत्मा में ही रहता है, अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहता, तब आत्माका अन्य सब द्रव्य व पुद्गल परिणामों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध तो नहीं कह जा सकता जैसे कि अग्नि का उष्ण गुण के साथ तादात्म्य है, यही कारण है कि निश्चय से आत्मा के वर्णादिक व रागादिक कोई भी पुद्गल परिणाम नहीं है।

जीव अपने भाव का कर्ता है, देह कर्म आदि अपने परिणामन के कर्ता हैं। निश्चय से जीव किसी अन्य पदार्थ कर्ता नहीं, इस विषय का दुष्टान्त देखिये कर्तुकर्माधिकारके 61 वें प्रकरण में–

जैसे अपने ज्ञान, इच्छा प्रयत्न को करते हुए लुहार के पास लोहा तलवार रूप बन रहा है, तलवार रूप अवस्थामें लोहा परिणाम रहा है, इसे जाननेवाला वह लुहार क्या लोहे का अथवा तलवार का कर्ता हो जायगा याने

क्या लुहार तलवार पर्याय में परिणाम जायगा ? कभी नहीं, इसी प्रकार अपने ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न को करते हुए जीनके पास कार्माणवर्गण कर्म रूप बन रही है, याने कर्मत्व अवस्था में परिणाम रही है, इसे जानने वाला वह जीव क्या पुद्गलकर्मपर्याय में परिणाम जावेगा ? कभी नहीं

प्रत्यके पदार्थ स्वयं अपने कर्ता क्रिया रूप है जो परिणमता है वह कर्ता, जो परिणाम है वह कर्म है, जो परिणित है वह क्रिया है। इस विषय को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कर्तृकर्माधिकार के 80 वें प्रकरण में ।

जैसे कुम्हार के व्यापार रूप कुम्हार ही परिणमता है, अतः उस व्यापार का कुम्हार ही कर्ता है और वही जो परिणाम है वह कुम्हार का कर्म है और कुम्हार की जो परिणति है वह कुम्हार कि क्रिया है। इस कारण कुम्हार विषयक कर्ता, कर्म, क्रिया ये तीनों वास्तव में भिन्न नहीं है। वैसे ही आत्मा अपने पर्याय रूप परिणमता है, अतः उस पर्याय का आत्मा ही कर्ता है और वही जो परिणाम है

वह आत्मा का कर्म है और आत्माकी जो परिणति है वह आत्मा की क्रिया है। आत्मविषयक यह कर्तृत्व, कर्म व क्रिया ये तीनों वास्तव में भिन्न आत्मा के नहीं हैं।

सर्व प्रकार के कर्मों में राग व संसर्ग नहीं करना चाहिए इस शिक्षा के लिए पुण्यपापाधिकार का उदाहरण देखिये 129 वें प्रकरण में—

शुभ व अशुभ दोनों ही कर्म कुशील हैं, इनका व इनके कारणरूप विभावों का राग व संसर्ग छोड़ देना चाहिये। जैसे कि करेण कुटिनी चाहे सुन्दर बनी हो, चाहे असुन्दर बनी हो, कुशील है, याने धोका देकर गिराने वाली है। अतः बुद्धिमान बनहस्तीको उसका राग व संसर्ग छोड़ देना चाहिये। बनहस्ती को हथियाने के लिये शिकारी लोग बन में एक गड्ढा खोदकर उस पर बांसों की पंर्चे बिछाकर जमीन जैस रंगवाले कागज से मढ़ते हैं और उसपर एक बांस कागजों की सुन्दर रचना में झूठी हस्तिनी तैयार कर देते हैं। यह झूठी हस्तिनी सुन्दर भी बने तो भी कुशील है याने गड्ढे में गिराने की कारण है। बुद्धिमान बनहस्तीको चाहिये इस कुशील करेणु कुटिनी का न तो मन से राग करे ओर न वचन से व काय से संसर्ग करे। इसी प्रकार पुण्य कर्म भी धोका देकर गड्ढे में गिराने वाली है व पाप कर्म तो दुःख देने की प्रकृति वाला है ही, सो दोनों कर्म कुशील हैं। कर्म कुशील हैं। इनका राग व संसर्ग नहीं करना चाहिये ।

किसी भी प्रकार का कर्मफल न चाहने वाले लोगों को कर्म कर्मफल नहीं दे सकता, इसका एक उदाहरण देखिये निर्जराधिकार में 160 वे प्रकरणमें —

ज्ञानी जीव कर्म का फल ही नहीं चाहते, इसलिए कड़ाचित् ज्ञानी को पूर्वार्जित कर्मविपाक को भोगना भी पड़े तो भी उस समय होने वाली चेष्टाका कोई फल नहीं चाहता और ऐसी चेष्टा हो, यह भी नहीं चाहता, यही कारण है कि वह कर्म या किया फलको नहीं देती है। अथवा, जो कर्म का राजा उसे चाहता उसे कर्म फल नहीं देता। जैसे कोई पुरुष नौकरी के लिए राजा की सेवा करता है तो राजा उसे नौकरी देता है और जो नौकरी की चाह से राजा की सेवा नहीं करता है राजा उसे नौकरी नहीं देता है।

लेग विकल्पों में उधेढबुन लगाते हुए बड़ा क्लेश पाते हैं, वे व्यर्थ ही प्रेम से क्लेश पाते हैं, विकल्प मिथ्या हैं, अर्थ क्रियाकारी नहीं है। विकल्पों की अनर्थ क्रियाकारिता जानने से विकल्प दूर हो जाते हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण देखिये बन्धाधिकार में 182 वें प्रकरण में —

मैं अन्य जीव को दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ, यह सब अध्यवसान मिथ्या है, क्योंकि किसी जीव ने परिणाम तो किया कि मैं अमुक को दुःखी करता हूँ और उस अमुकके असाता का उदय नहीं है तो वह दुःखी तो नहीं होता। तथा, किसी जीव ने परिणाम किया कि मैं अमुक को सुखी करता हूँ और अन्य में स्वार्थकिया तो नहीं हुई। जाहं स्वार्थ क्रिया नहीं है वह झूठ है। जैसे कोई ऐसा अध्यवसान करें कि मैं आकाश के फूल तोड़ता हूँ तो वह झूठा ही भाव तो है।

आत्मा स्वरूपतः सर्वविशुद्ध ज्ञानमात्र है, उसपर आवरण, विकार जो छाये हैं उनके हटते ही आत्मा का वह सर्वविशुद्ध स्वरूप व्यक्त हो जाता है, इस मर्म का संकेत देखें सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार 200 वें प्रकरण में —

जिस स्वरूप से आत्मा के देखे जाने पर व जिसका अश्रेय करने से निर्मल पर्याय प्रकट होती है अर्थात् मोक्ष मार्ग व मोक्ष प्राप्त होता है वह आत्मा अन्य सर्व से न्यारा ज्ञानमात्र सर्व विशुद्ध है। उसकी महिमा टंकोत्कीर्णवत् प्रकट होती है। जैसे कोई प्रतिमा पाषाण से प्रकट होती है वह किसी पदार्थ से बनाई नहीं जाती, जो प्रकट हुई है वह चीज उस पाषाण में थी। अगल बगल के पत्थर खंड दूर हुए कि वह प्रकट हो गई। इसी प्रकार समयसार जो प्रकट होता है अथवा शुद्ध आत्मा जो प्रकट होता है वह किन्हीं पदार्थों से नहीं आता। वह तो सदा अन्तः प्रकाशमान है, रागद्वेष आदि अज्ञान भाव अशं दूर हुए कि वह परमात्मा स्वरूप समयसार प्रकट हो गया।

22. अध्यात्मवृत्तावलि प्रथमभाग

पूज्यश्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराज द्वारा प्रणीत अध्यात्मवृत्तावलिका यह प्रथम भाग गम्भीर चिन्तन, मनन व आत्मशान्ति को प्रकट कर रहा है। इस पुस्तक का भावकर्ता व योगकर्ता शुद्धदिदृक्षु एक शुद्ध चेतन लिखा है, इससे ही विषय गम्भीर समझा जा सकता है।

इस पुस्तक का विषय तो पुस्तक के अध्ययन से ही आनन्दकारी होता है, अतः पाठकों से अनुरोध है कि इस पुस्तक का आद्योपान्त अध्ययन अवश्य करें। पुस्तक में कुल 39 पेज हैं, अधिक बड़ी नहीं है। हम यहां प्रत्येक निबन्ध के शीर्षक दे रहे हैं जिससे पुस्तक के हृदय का पता चल सके।

1. मैं अपने अस्तित्वमात्र हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है।
2. मेरा अन्य से रंच भी सम्बन्ध नहीं।
3. मैं हूँ और परिणमता हूँ, इतना ही तो मेरा धर्म है।
4. कुछ इच्छा न करो, इच्छा से कुछ होता नहीं है।
5. रंज और मौज दोनों से छूटकारा पा।
6. संयुक्त का वियोग होगा ही, अतः उसमें राग न करो।
7. दुःख है कहां, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ।
8. सत्य की उपासना करो, इसी में सर्व कल्याण है।
9. निज नाथ ! तू अखण्ड ज्ञानमय है, खण्डज्ञान का आदर ठीक नहीं।
10. मैं तो दुनिया से अपरिचित एक चेतन वस्तु हूँ।
11. मैं तो अपने को अपने में वर्तता हुआ देखता हूँ।
12. मैं तो स्वतः सिद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव हूँ।
13. मैं अपने कारण अपने में जगमग नित्य प्रतिमाह स्वरूप हूँ।
14. तुम तो अपने आप में रमकर अपने आप संतुष्ट रहो।

- 15- तुम जहां रहते हो उसको निर्मल रखकर अनाकुल रहो ।
- 16- तुम अनादि से जन्म मरण के चक्र में रहे, अब तो अपना उद्धार करो ।
- 17- तुम तो ज्ञानस्वभावी हो, ठीक ठीक जान लो, परेशानी खत्म हो जावेगी ।
- 18- बाह्य दृष्टि छोड़ो, अन्तर में अन्तर से अन्तर का काम करना है ।
- 19- शुद्धात्मानुभव ही सर्वोपरि तत्व है और सत्य शरण है ।
- 20- सबको शरण सत्य ज्ञान ही है ।

जो परको पर न मानकर किसी पर के स्वरूपमें अपना अधिकार मानता है वह अनेक दुःखों का मालिक तभी बन जाता है, पर क्या है ? इस उलझन से निकलना है तो एक 11 मई के उद्घरण में आकर रमो—

मैं मैं हूँ अन्य अन्य हैं । अन्य पदार्थों का लक्ष्य करने से अन्य से कुछ मुझ में आ नहीं सकता, केवल उपयोग अज्ञानरूप कर लेने से क्लेश ही बर्त जाता है । मैं भी अन्य में कुछ नहीं कर सकता । फिर किसी का किसी में सब अपने आप मैं वर्तते हैं, वर्तों में तो अपने को अपने में वर्तता देखता हूँ ।

23 अध्यात्मवृत्तावलि द्वितीय भाग

पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी महाराज द्वारा प्राणीत अब यह अध्यात्मवृत्तावलि द्वितीय – भाग आ रहा है, इसमें भी अधिक गम्भीर चिन्तन मिलेगा । देखिये 2 जनवरी के दूसरे अनुच्छेद में किन मार्मिक शब्दों में ज्ञानस्वरूप के सम्हालने की प्रेरणा दी है—

आत्मन् अपना ज्ञानस्वरूप संभालो, विडम्बनायें सब स्वयं खत्म हो जायेंगी । अहो, इस जीवन अब तक अज्ञान रूपोंको स्वीकार करते रहने का काम किया है । इस विपरीत कार्य के फल में विडम्बना और विपत्तियां मिलती हों, इसमें बुराई नहीं थी, आती रहें विपत्तियां, यह आत्मा धीर रहे तो क्या हानि है, परन्तु यह क्या कि ज्ञानानन्दस्वरूप यह आत्मा पेड़, जमीन, पानी, हवा, आग, कीड़े, पशु पक्षी आदि विभिन्न विडम्बनाओं को धारण करे । है आत्मन् अपना ज्ञानस्वरूप सम्हालो, विडम्बना सब स्वयं खत्म हो जावेंगी ।

लेकिन बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से आनन्द लेने की इच्छा से अनेक उद्योग बदल डाले, परन्तु वास्तविक आनन्द की खोज न कर सके । इसके लिए आइये 9 जनवरी के अन्तिम अनुच्छेद में —

आत्मा से बाहर कहीं भी कुछ तम ढूँढो । आत्मा से बाहर ढूँढने की कुछ आवश्यकता तो है नहीं। आत्मोपयुक्त होने पर चिरबद्ध देहका, कर्म का बन्धन भी तो नहीं रहता, फिर क्षुधा तृषा की शंका ही क्या, सन्मान अपमानकी शंका क्या ? सुख शान्ति के लिए तो अदल बदल करके कितना ही तो तुम श्रम करते, कितने आरम्भ में उद्योग करते ? अनेक लाखों उद्योग बदल डालें, अब जरा एक आत्मोद्योग करके भी तो देखो – निर्विकल्प होकर शुद्ध ज्ञान प्रकाश मात्र अपना अनुभव तो करलो, यदि यहां आनन्द न मिले तब और कुछ सोचना। सर्वसिद्धि तो यहां ही यहीं से ही प्राप्त होती है, फिर आत्मा से बाहर कुछ ढूँढना, कहीं निपट अज्ञान है। सर्प से डसा हुआ तो एक बार ही बरबाद होता है, किन्तु अज्ञान का डसा तो भव भव में बरबाद होता चला जा रहा है। इसका कुछ भी विवके नहीं किया जाता । आत्मा से बाहर कहीं भी कुछ तम ढूँढो।

लोगों की प्रवृत्ति दोष ग्रहण करने की रहती है, गुणों के ग्रहण करने की नहीं, किन्तु दोषग्रहण में कितनी हानि है और गुणग्रहण में कितना लाभ है इसकी झांकी देखिये पूज्य श्री वर्णी जी के कुछ शब्दों में—

हे आत्मन्, सदां गुणग्राही बनो। गुणग्रहण करने का स्वभाव रखोगे तो गुण का उपयोग होगा, गुण का लाभ होगा, गुण का विकास होगा। दोष ग्रहण करने का स्वभाव रखा तो दोष का उपयोग होगा, दोष का लाभ होगा, दोष का विकार बढ़ेगा।

अच्छा किसी के दोष ग्रहण किये और दोष बखानकर स्वपर वातावरण गंदा किया तो बताओ इससे दूसरे को क्या शिक्षा पहुंचाईया क्या लाभ पहुंचाया या क्या नुकशान पहुंचाया ? इससे तुमने अपने आपको ही दोषमय बनाकर अपनी बरबादी की।

मनुष्य का पतन असत्संग से होता है। सत्संग द्वारा किस प्रकार उद्धार हो जाता है उसका दिग्दर्शन पूज्य श्री सहजानन्द महाराज के इन शब्दों से कीजिये—

सत्संग सदा जयवंत होओ। जो उत्तम आचार विचार वाले हैं वे सत् हैं, उनका संग जयवंत होओ। जो संसार शरीर भोगों से विरक्त हैं, आत्मतत्व के मनन में अनुरक्त हैं वे सत् हैं, उनका संग जयवंत होओ जो मुझ में सर्वत्र सर्वदा बचाने वाला है परात्पर सत् का संग परात्पर आनन्द का कारण है। सत्संग सदा जयवन्त होओ।

मनुष्यों को आजादी प्रिय हुआ करती है, परन्तु गुलामी को ही आजादी मानने पर वास्तविक आजादी कैसे मिल सकती हैं ? जीव की

वास्तविक आजादी तो रागादिविकार छोड़ने व अविकार ज्ञानस्वरूप में उपयोगी होने में है, इसका दिग्दर्शन कीजिये—

अपनी वास्तविक आजादी में ही शान्ति है। हे आत्मन् जब जब अशान्ति हो तो उसका कारण परवस्तुविषयक राग को ही जानकर यह खोज करो कि मैंने किस वस्तु के सम्बन्ध में राग किया है। जिस वस्तु का राग किया हो, भेदविज्ञान के बल से उस रागको मिटा दो तो बस अशान्ति विलीन हो जायेगी। रागसे ही तो अशान्ति हुई और उस ही राग को पौषकर अशान्ति दूर करने का शान्ति प्राप्त करने का स्वप्न देखा जाये तो वह कोरा भ्रम ही है। पर के राग में आजादी नष्ट हो जाती है। अब आजादी नहीं है तब कष्टों का बना रहना प्राकृतिक है समस्त राग मिटाओ और निज आजाद स्वरूप को निरखकर अपनी आजादी प्राप्त करो। अपनी वास्तविक आजादी में ही शान्ति है।

परके प्रति प्रीति करना ही विपदा का कारण है परन्तु लोग दिन प्रतिदिन सम्पर्क बढ़ाने में ही आनन्द मानते हैं, इस उलझन से निकलने के लिए पूज्य श्री का एक अनुच्छेद देखिये—

बाहर में जितना सम्पर्क रखोगे, बढ़ाओगे उतने ही विहल होवेंगे। तेरा मात्र तू ही है। तेरे साथ तो तेरे ये विभाव भी न रहेंगे, जिनसे प्ररित होकर आत्मसुख खो बैठता है। जब तेरे में उठे विभाव भी विश्वास्य नहीं, फिर और किसकी कहानी कहते ? देह भी यहां विशीर्ण हो जाता है। बाह्य वैभव सब नियम से वियुक्त हो जाते हैं। यह अन्तर्जगत व बाह्य जगत सब कुछ अविश्वास्य व अरम्य है अनात्मतत्व के सम्पर्क में आत्मपतन ही है। बाहर में जितना सम्पर्क रखोगे, बढ़ाओगे उतने ही विहल हो जावोगे।

यह मनुष्य सुखकी खोज के लिए ज्ञानयपी आंखों को मींचकर किसी भी प्रकार के पाप से नहीं डरता, परन्तु वास्तविक सुख अगर चाहते हो तो जरा पूज्यश्री वर्णी जी के 9 मार्च के दूसरे अनुच्छेद में आइयेगा—

पाप कार्योये मन को हटाओ, यही एकमात्र निर्णय है। पाप कार्य करके सुखकी आशा करना विषपान करके जीने की इच्छा करने की तरह है। कदाचित् कोई विषपान करके भी न मरे यह संभव है, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि कोई पापकार्य करके भी सुखी हो जाय। इस कारण एक ही चित बनाओ। पाप कार्यो से मन को हटाओ।

यह जीव अनादि काल से इच्छाओंको ग्रहण करते —करते समुद्र में गोते लगा रहा है और अब भी इच्छा की करता रहता है। क्या चाह करके वह

अपना जीवन चाह में व्यतीत कर देता है इसके लिए जरा देखो तो 13 मार्च का मनोहर अनुच्छेद—

पराधीनता के वश होकर ही यह पगला मनुष्य डोल रहा है, परन्तु इस पराधीनता से उत्पन्न हुआ क्लेश परकी प्रति प्रीतिसे नहीं मिट सकता। इसको मिटाना चाहते हो तो पराधीनता दूर करने के ख्याल से 18 मार्च का एक सुन्दर विवरण अपनाइये। विषयों की वाच्छादी वास्तवमें पराधीनता है। परधीनता में कभी सुख याने आनन्द हो ही नहीं सकता। इस पराधीनता से उत्पन्न हुआ क्लेश किसी परकी करुणा से आशा से नहीं मिट सकता। विषयों की वाच्छा का परित्याग कर दो, सब क्लेश अभी मिट जायेगा। जब कभी तुम्हें क्लेश हो तो यह खोज करो कि हमारे किसी विषय सम्बन्धी वाच्छा है क्या ? यदि क्लेश है तो नियम से किसी विषय की वाच्छा होगी। ऐसी स्थिति में अपना ज्ञानबल प्रकट करो, इससे विषयों की वाच्छा मिटेगी। विषय वाच्छा मिटने से पराधीनता समाप्त हो जायेगी, पराधीनता मिटने से समस्त क्लेश दूर हो जायेंगे। पराधीनता में ही क्लेश है और विषयों की वाच्छा ही वास्तव में पराधीनता है।

कोई जीव किसी दूसरे के प्रतिकूल होते ही या उसके प्रतिकूल कोई कार्य करते ही उस जीव का दुश्मन बन जाता है परन्तु वास्तविक बैरी कौन होता है उसको देखिये 27 मार्च के अनुच्छेद में—

विषयाभिलाषा ही आत्माका वास्तविक बैरी है। यह आनन्दघन ज्ञानमहिम आत्मा तो स्वयं समृद्धिसम्पन्न है। यह तो परिपूर्ण है, इसको किसी अन्य की आवश्यकता ही नहीं है। विषयों के विषयभूत पुद्गल पदार्थ मुझसे त्रिकाल भिन्न है। पुद्गलका मेरे स्वरूपपर अधिकार ही नहीं है, वह न तो मित्र हो सकता है और न शत्रु हो सकता है। जिसका स्वक्षेत्र में प्रवेश नहीं है, वह मेरा शत्रु कैसे हो सकता है ? कर्म उपाधिके उदय का निमित्त पाकर और विषयभूत रूपादिमान पुद्गलस्कंधो का आश्रय पाकर उत्पन्न हुआ विषयाभिलाष ही आत्मा का वास्तविक बैरी है।

किसी सभामें बैठे हुए व्यक्तियों में अगर किसी एक जरा बड़े घर की स्थिति के प्रतिकूल कोई व्यक्ति समझता है कि मेरा अपमान हो गया तो उसकी सुलझ करने में लग जाता है, परन्तु वास्तविक अपमान कैसे होता है इसके लिए 31 मार्च का अनुच्छेद देखिये—

कषाय की कुटेब दुःख का ही कारण है। अपना अपमान भी होता हो तो उसको विशेष महसूस मत करो, दूसरों का सम्मान ही रखने का अपना परिणाम व प्रयत्न करो। संसार में रूलते फिरते भटकने का इतना बड़ा

अपमान सरासर भोग रहे हो, उसका तो खेद नहीं करते और लोकव्यवहार में जहां कि तेरा अपमान भी कोई नहीं कर सकता, केवल कल्पना बनाते हो और दुःखी होते, उसका ताड़ बना रखा है। यदि अपना हित चाहते हो तो अपने अपमान को अपमान ही मत मानो। एक ही निर्णय रखो—मुझे तो सबका सन्मान ही रखना उचित है। किसी के द्वारा पीड़ित व अपमानित होने पर भी उसके प्रति रोष मत करो। इससे तुम ही कष्ट पावोगे और कुछ फल न होगा। कषायकी कुटेब दुःख का ही कारण है।

आनन्द की खोज करने में ही यह जीव अपना सारा जीवन व्यतीत कर देता है, परन्तु वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं कर पाता। वह आनन्द कैसे मिलेगा इसके लिए पूज्य श्री वर्णी जी महाराज के कुछ शब्द देखिये—

ज्ञान की सावधानी ही सर्वोत्कृष्ट विभूति है। हे आत्मन् तू आनन्द ही तो चाहता है। आनन्द का सत्य उपाय तो ज्ञानकी सावधानी बनाये रहना है। जब यह उपयोग रागवश किसी पर पदार्थ पर जाता है तो यों पर पदार्थ पर उपयोग जाने से ही खुद में रीतापन का अनुभव होने लगता है और इसी कारण विह्वलता होने लगती है और जब माना हुआ वह इष्ट पदार्थ वियुक्त होता है अथवा मन के अनुकूल नहीं परिणमता है, तब विशेषरूप से विह्वलता होने लगती है। देख — अनादि कालसे रूलते — रूलते अनन्तों बार तो परके उपयोग में रह, अब तक कुछ मिला भी है क्या ? कुछ नहीं, बल्कि सब धारणाओं को, प्रतीतियों को तिलांजलि देकर ज्ञान की सावधानी का ही महान् किन्तु सुगम पुरुषार्थ कर। सहज ज्ञानस्वरूपकी उपासना करना ही ज्ञान की सावधानी है। अपने चित्त में यह पूर्ण निर्णय रख कि ज्ञान की सावधानी ही सर्वोत्कृष्ट विभूति है।

शान्ति एवं आनन्द प्राप्त करने के लिए ही यह जीव न होने वाले कार्य बेहोश होकर कर डालता है परन्तु उसका फल उसके विपरीत ही वह प्रपत कर पाता है। शान्ति व आनन्द की खोज करने के लिए आइये 21 अप्रैल के मनोहर वातावरण में—

परिणामों की निर्मलता ही सत्य आनन्द है। विकार भावों की कलुषता, पराधीनता, आकुलता, अशरणता, क्षणिकता व विषमता बसी हुई है। विकार में तो कभी आनन्द जग ही नहीं सकता। मोह, काम, क्रोध, माया, मान, लोभ ये तीन विकार हैं। अनादि से इन विकारों में चले आये, कुछ संतोष मिला है क्या ? ये विकार असन्तोष को ही बढ़ाने के लिए कराया जाता है। विकार भावों में न कभी शान्ति पाई और न कभी मिलेगी। शान्ति चाहते हो तो परिणामों को निर्विकार याने उज्ज्वल रखो। श्रद्धा तो पूर्ण निर्मल व उज्ज्वल होनी चाहिए। परिणामों की निर्मलता में ही सत्य आनन्द है।

यह जीव पाप करने में बिल्कुल नहीं डरता है, परन्तु डरता है। पाप करने में जरा भी संकोच नहीं करता। वास्तव में डरना किससे चाहिए, इसका समाधान पूज्यश्री वर्णी जी के एक अनुच्छेद से लीजिये—

पापक्रिया से भय करो, कष्ट से भय मत करो। जगत् तो कष्टों का निवारण करोगे ? बड़ा प्रयत्न करके कदाचित् किसी प्रकार का कष्ट मिटा लिया तो उससे बढ़कर नवीन कष्ट और आ जाता है। कष्ट हटा हटाकर कष्टों से विराम पाने का उपाय सत्य नहीं है। कष्टों के तो सहिष्णु बनो कष्टों का कारण है पाप कम पाप कर्म से हटने का यत्न रखो। पापक्रियायें न होगी तो भविष्य में कष्ट भी न होंगे। पापक्रिया से भय करो, कष्ट से भय मत करो।

24. अध्यात्मबृत्तावलि तृतीय भाग

पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज द्वारा लिखित यह भाग द्वितीय भाग की भाँति अध्यात्मभावनाओं से भरा हुआ है। प्रत्येक निबन्ध के अन्त में आत्मस्मरणका विधान होने से तो इसकी उपयोगिता और बढ़ गई है। इसका तृतीय वृत्त से अमृतपान का लाभ लीजिये, जिसका शीर्षक है—

“आत्मानुभवन ही वास्तविक अनृतपान है”

चतुर्थ वृत्त में तृतीय वृत्त का प्रतिपक्ष देखिये—

“विषयवृत्ति ही विषभक्षण है”

कुछ शीर्षक इसके बादके देखिये, शीर्षक के पढ़ते ही बहुत कुछ विषय का हार्द विदित हो जाता है—

“प्रभुभक्ति में पवित्र आनन्द बसा हुआ है”

“सद्गुरुसत्कृपा निकटभव्य को प्राप्त होती है”

“अपने को अकिंचन समझने पर सर्वार्थ सिद्धि होती है”

“हे अविकार ज्ञानस्वभाव, प्रसन्न होओ और जन्म मरण का संकट दूर करो”

नवमबृत्तके अन्तर्भाव का अब जराइस शीर्षक से मनन कीजिये—

“मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा ही अनुभव करना, इसी धुन में रहना

25. मनोहर — पद्यावली प्रथम भाग

यह मनोहर पद्यावली नामक पुस्तक अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य जी 105 क्षु0 पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज द्वारा विरचित है। प्रस्तुत पुस्तक का पठन ध्यानपूर्वक करने वाले व्यक्ति को स्पष्ट विदित हो जायगा कि पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज उच्चकोटि के लेखक एवं प्रवक्ता ही नहीं अपितु एक उच्चकोटि के कवि भी हैं। इस पुस्तक के अन्तर्गत आई हुई समस्त रचनायें साहित्यिक दृष्टि से भी बड़ी उच्च हैं। छन्दशास्त्र के जानने वाले लोग प्रस्तुत पुस्तक में आयी हुई हर एक रचनाओं में यही बात पायेंगे कि उनमें कहीं भी एक मात्र तक का भी दोष नहीं है। रचनायें मात्राओं, अलंकारों एवं रसादिकों से पूर्ण विशुद्ध हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी रचनायें उच्च हैं। अलंकारों से, रचना और भी रोचक हो गई हैं। प्रस्तुत पुस्तक की हर रचनामें बड़ी भावुकता भरी हुई है, रचनायें सरल एवं भावभीनी हैं।

बहुत से लोगों का ऐसा कथन है कि घरमें रहते हुए में, स्त्री, पुत्रादि में, धनवैभव में, परिजन मित्रजन आदिक में ममत्व न हो यह बात असम्भव है, पर उनका यह कथन मिथ्या है। इस बात के सच्चे प्रतीक इसी पुस्तक के रचयिता अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज हैं। आप भी जिन दिनों गृहस्थी के बीच में थे उन दिनों भी उनके कैसे परिणाम थे, इस बात का सम्पूर्ण परियच उनकी ही इन रचनाओं से हो जाता है। वे रचनायें संख्या में तो काफी हैं, पर उदाहरण के रूप में नीचे कुछ रचनायें आयेगी, जिनका ध्यानपूर्वक पठन पाठन करने से पूर्णरूपेण विदित हो जायगा कि वास्तव में वह गृहस्थी के अन्दर रहकर भी गृहस्थी से विरक्त थे।

प्रस्तुत पुस्तक के 9 वे भजन में देखिये कि उसके अन्दर कितनी आध्यात्मिकता की और उन्मुख होने वाली प्रेरणायें भरी हुई हैं। उस भजन को पढ़कर ऐता प्रतीत होता है कि उसकी रचना करते समय रचयिता का हृदय विरक्ति के परिणाम से ओतप्रोत था। उन्हें संसार में सर्वत्र असारताका ही भान हो रहा था। सांसारिक भोगसाधन उन्हें नीरस प्रतीत हो रहे थे, समस्त पदार्थों से अपने को बिल्कुल निराला अनुभव कर रहे थे, अपने आपको कल्याण के पंथपर अग्रसर होने के लिए प्रेरित कर रहे थे। ऐसी भावनाओं में रचा हुआ वह आध्यात्मिक भजन कल्याण के पंथपर अग्रसर होने के लिए प्रेरित कर रहे थे। ऐसी भावनाओं में रचा हुआ वह आध्यात्मिक भजन इस प्रकार है—

भजन—

कोई भाई मुझै बतला देना, जगमें कोई अमर रहा अब तक ।
 विषयोंकी आश लगाने में संतोष हुआ किसको अबतक ।।टेक।।
 निर्बल निर्धन असहायनका, निर्जन अति बृद्ध व रोगिन का ।
 बेकार व बुद्धिविहीननका, है साथ दिया किसने अब तक ।।1।।
 धन संपत्ति यह तन मात पिता, सुत पौत्र महल सेवक बनिता ।
 जिन में जन मोह सदा करते, क्या साथ रहा किसका अब तक ।।2।।
 इकला भ्रमता तू आता है, इकला जीकर मर जाता है ।
 भव भव जो साथ रहा उनमें, बतला क्या साथ रहा अब तक ।।3।।
 यह नरभव सत्कुल जैन धर्म, शिव साधक नवपद सत्य मर्म ।
 दुर्लभ है "मनोहर" न चेतै, जग मांहि भ्रमोगे फिर कब तक ।।4।।

प्रस्तुत पुस्तकके 12वें नम्बर के भजन में देखिये कि उस समय भंजन के रचयिता के किस प्रकार के भाव थे। उस समय उन्हें यही आभास हो रहा था कि हे आत्मन् तुम भ्रमवश ही इस संसार में दुःखी घोर यातनायें सह रहे हों। तुमने अपेन आपको सही रूपमें पहिचाना नहीं, अपनी निधिको अपने ही अन्दर पाया नहीं, भ्रमवश पर की और ही दृष्टि रखकर अपने आपको भूला रहा। यही कारण है कि तूने अभी तक अपनी इष्टवस्तु की प्राप्ति नहीं की। हे आत्मन् अब तो कुछ चेतो और अपना कल्याण करो। इस प्रकार की अलौकिक प्रेरणायें देने वाला आध्यात्मिक भंजन इस प्रकार है—

भजन—

अपहि भूलि फिरै, अपन को आपहि भूल फिरै ।।टेक।।
 ज्यों मृग नाभि गंध अज्ञानी, बन बन धाय फिरै ।
 सिंह कूप जल निज छाया लखि, तट तट फिरते गिरे ।।1।।
 कपि घट में मोदक मुट्ठी नहिं, खोलन चाह करे ।
 पकरै को भ्रम मान भगै पर, कर कैसे निकरै ।।2।।
 तू तो ब्रह्म मगर आशा को, पाशा बांध फिरै ।
 आशा तज लख रूप मनोहर शिवकी राह धरै ।।3।।

प्रस्तुत पुस्तक के 13वें भजन में देखिये कि प्रस्तुत रचना करते समय रचयिता किस प्रकार के भावों में डूबा हुआ था। गृहस्थी के बीच रहकर, भोग साधनों के बीच रहकर उन भागों के प्रति किस प्रकार के भाव थे उसका दिग्दर्शन उनके इस भजन से होता है। उन्हें सांसारिक समस्त भोगसाध नहीं अपने को संसार गर्त में भटकने के कारण प्रतीत हो रहे थे। समस्त भोगसाधन उन्हें झूठे प्रतीत हो रहे थे। बस उन्हें धर्म ही अपना हितकर प्रतीत हो रहा था। उनका यह आध्यात्मिक भजन प्राणिमात्र को कल्याण के पंथ का पथिक बनने के लिए, एक धर्म से ही अपना सम्बन्ध रखने के लिए, धर्म को ही अपना सर्वस्व, सार, शरणभूत समझनेके लिए प्रेरित कर रहा है उनका वह भजन इस प्रकार है—

भजन—

भोगे तो भोग क्या हैं, भोगों ने भोगा हमको ।
 इन भोग ही के करण, कर्मों ने घेरा हमको ।।टेक।।
 हम सोचते बड़ा सुख, धन, धाम मान जनमा ।
 सुख का बहाना, करके छोड़ेगा पुण्य हमको ।
 हम सोचते बड़े हैं, इनसे उमर बड़ी है ।
 कर कर बड़ा ये, ख लेगा काल हमको ।।2।।
 जिस तन को सजाते हैं, इतराते रूप लखकर ।
 सेवायें करा कर ये, छोड़ेगा देह हमको ।।3।।
 पितु मात भ्रात नारी, सुत संपदा भिसारी ।
 मोही बना बना सब, छोड़ेगे कभी हमको ।।4।।
 तन जन चमन खजाने, साथी न हों “मनोहर” ।
 इक धर्म ही हितू जो, होगा सहाय हमको ।।5।।

प्रस्तुत पुस्तक में 19 वां भजन तो बड़ा ही प्रेरणात्मक है। जिस प्रकार किसी युद्धस्थल में वीर सैनिकों को उत्साहित होने के लिए सेनापति डंके की चोट मारता हुआ आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है इसी प्रकार सांसारिक विपदाग्रस्त प्राणी को विपदाओं से संघर्ष करने के लिए और इस

आशा डाइन का विनाश करके कल्याण का साम्राज्य प्राप्त करने के लिये प्रेरित कर रहा है। वह भजन इस प्रकार है—

भजन—

प्यारी विपदाओं आओ। रति निद्रामें सोये जन को, बारंबार जगावो।।टेक।।

संपतिको छल जान न पायो, याने बहुत रुलायो।

आशहिं आशाहिं ज्ञान गमायों, आशहिं आश ठगायो।।1।।

करुणा तेरी पाकर पांडव कर्महि मजा चखाओ।।1।।

गजकुमार से बहुते जनको, तू ने शिव पहुंचायो।।2।।

आश करी संपति की अब तक, टुकड़ा नेक न पायो।

आशा तेरी सुखद, मनोहर के मन यही समायो।।3।।

प्रस्तुत पुस्तक 32वें भजन में तो रचयिता ने इस मोह बैरीका विध्वंस करने के लिए दृढ़ संकल्प किया है। इस

भजन के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि गृहस्थी के बीच पड़े हुए पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज को इस मोह बैरी का विध्वंस करके अपना कल्याण करने में ही भला दीख रहा था। इस मोह, बैरी” को ही वे अपना अकल्याणकारी समझ रहे थे, इसलिए जिनराज की शरण में जाकर जो दृढ़ संकल्प रचयिताने किये हैं उनका दिग्दर्शन नीचे आये हुए भजन से कीजिये व अपने लिए प्रेरणायें लीजिये—

भजन—

मेरी चुगली श्री जिनराजसे किसने की है।

मोह बैरी की शरारत ही मुझे दिखती है।।टेक।।

ढूढ़ते ढूढ़ते जिनराज को अब लख पाया।

देखूं इस मोह की अब, शान कहां रहती है।।1।।

नाथ उस मोह ने है, झूठ भिड़ाया तुमको।

शक्ति के रूपमें मम, ज्योति बनी रहती है।।2।।

पहिले तुमको भी इसी, रीति सताया इसने ।
इसके आदत की कभी, खोट नहीं हटती है ।।3।।
मोह मर्दन के लिए, सर्वसमागम पाया ।
नाथ, सद्भक्ति तिहारी ही रही कमती है ।।4।।
देव तुम ही में रहे, भक्ति घड़ी पल निश दिन ।
तो "मनोहर" को न डर मोह का इक रत्ती है ।।5।।

प्रस्तुत पुस्तक के 40 वें भजन में तो उसके रचयिता महोदय ने एक विशुद्ध आध्यात्मिकता भर दी है। रचना से कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है कि पूज्य श्री को एक अपने आपका चैतन्यस्वरूप ही अपना सर्वस्व दीख रहा था, अन्य समस्त पर पदार्थ तो दुःख के ही हेतुभूत प्रतीत हो रहे थे। समस्त पर पदार्थों से ममत्व तोड़कर समता के अंकुर अपने हृदयस्थल में उत्पन्न करने में ही अपनी भलाई दीख रही थी, इन्हीं भावों में डूबे हुए हृदय ने जिन प्रेरणात्मक गीतों को गाया था। वे गीत अध्यात्मप्रेमी बन्धुओं को न आनन्ददायक प्रतीत होंगे ? अर्थात् आनन्ददायक तो प्रतीत होंगे ही। उन समस्त भजनों में से भजन इस प्रकार का था।

भजन—

चेतन अपनो रूप निहार ।।टेक।।
विषय कषाय घोर दुखदाई, समरस अविनश्वर सुखदाई ।
एक विवके तराजू लेकर, इनका अन्तर तार ।।1।।
मिलत अनेक पथिक तरुके तट, रहत क्षणोक विछुड़ते हैं झट ।
त्यो जगज जीव बसत संग कुछ दिन, मरते अपनी बार ।।2।।
निजकृत पाप उदय फल भोगे, होगा कोइ न लार ।।3।।
तू विद्येश अकाम सनातन, जन्म मरण से रहित सुपावन ।
तू अनन्त सुख का सागर जब, सन हो मोह की रार ।।4।।
दुखकी खान मोह है भाई, समता अचल परम सुखदाई ।
बनो मनोहर समरस स्वामी, तज करि सब तकरार ।।5।।

प्रस्तुत पुस्तक 42वें भजन में रचयिता महोदय के उस समय के विचार देखिये। उस समय वे इस प्रकार के चिन्तन में थे हे आत्मन्, तुम क्यों अज्ञानी बनकर इस संसार में भटक रहे हो और भव भव में गोते लगा रहे हो ? अरे अपने स्वरूपको पहिचानो अपना कल्याण करो। गृहस्थी के बीच रहते हुए भी गृहयोगी श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज निज सहजस्वरूप के ही परिचय में यत्नशील रहा करते थें। उनके उस मनोभावों का परिचय नीचे लिखे भजन से कीजिये—

भजन—

वहां तूने ऐसा वेश बनायो । ।।टेक।।

नरक निगोदन प्शु योनिन में, बार बार भटकायो ।

मनुज स्वर्ग सबमें भ्रम आयो, सम्यक्ज्ञान न पायो ।।1।।

तू अनन्त गुण का सागर है, दोष कहां ते लायो ।

पद पद प्रीति रीति रस डूबे, सत्य विवके न पायो ।।2।।

समता शांति परम अमृत रस, जो नित परिणति गायो ।

दूर रहा अज्ञान धारि तू, विषय में नित धायो ।।3।।

रागद्वेष तज अब सम रस के, परम रसिक हो जावो ।

देख मनोहर साथ न जै कुछ, अरू कुछ संग न लायो ।।4।।

प्रस्तुत पुस्तक के 45 वें भजन में रचयिता महोदय ने अपने भाव इस प्रकार के व्यक्त किए हैं कि जो मानव पुण्यकर्म के उदय में उनसे संतुष्ट रहते हैं, उन्हें शुभ मानते हैं, उन्हें अपना हितकर समझते हैं, उनसे आशा तृष्णा रखेंगे तो वे मानव भव भवकी संतति में पड़कर घोर यातनाओं के ही पात्र बने रहेंगे। रचयिता की यह रचना मानव को यही प्रेरणा प्रदान कर रही है कि हे आत्मन् तुम पुण्य और पापकर्म इन दोनों को हेय समझो, सांसारिक सुखको दुःखों सम जानो, इस कर्मबन्ध की बेड़ी को तोड़कर अपना कल्याण करो। इस प्रकार का प्रेरणात्मक शिक्षण देने वाला प्रस्तुत भजन इस प्रकार है—

हरेंगे, वे नर कैसे कर्म हरेंगे ।।टेक।।

दुःख पड़े सब सुख आवत है, ये ये पुण्य करेंगे ।

दुःख गये फिर बिसर जात सब, मानो सुखहिं रहेंगे ।।

वे नर क्या गम्भीर बनेंगे ।।1।।
तप ब्रत में दुख मान संपदा, परिजन में लिपटेंगे ।
इष्ट नष्ट हो जाये तो रो रो, अन्धे होय मरेंगे ।
वे नर कैसे धीर बनेंगे ।।2।।
पर की संपत्ति देख मरें या, आशहि आश करेंगे ।
चाहे कोई मरे या जीवे, मतलब सिद्ध करेंगे ।
ते नर क्या पर पीर हरेंगे ।।3।।
होवे आश विनाश 'मनोहर' तो सन्तोष करेंगे ।
नहिं तो ज्यों दुख भोगते आये, वैसे दुःख रहेंगे ।
वे नर क्या सुख सीर भरेंगे ।।4।।

प्रस्तुत पुस्तक के 51वें भजन में रचयिता महोदय ने इस प्रकार का चिन्तन किया है कि हे आत्मन् इस संसार में तेरा कोई साथी नहीं है। ये दिखने वाले परिजन, मित्रजन, धन, वैभव आदिक तेरा कुछ भी साथ न देंगे। तेरा साथी है तेरा धर्म। अतः हे आत्मन् उस धर्म की ही शरण गहो और अपना कल्याण करो। प्रस्तुत भजन हम आपको यही प्रेरणायें दे रहा है कि दस मायामयी संसार में मत रमो, एक धर्म का ही आश्रय करके अपना कल्याण करो। यह प्रेरणात्मक भजन इस प्रकार है—

तेरा जग में साथी कौन ।।टेक।।
बोलें बानधव प्राण पियारे, सोचें माया होय सहारे ।
पुण्य बिना सब होत दुखारे, यासों बैठो मौन ।।1।।
धन कन कचन तन धन यौवन, धाम सदन वैभव बल उपवन ।
अन्त समय ये होत बिराने, पर्स चले जिम पौन ।।2।।
मोह महा घनघाट हटाले, ज्ञान भान किरणों प्रसटाले ।
धर्म बिना कुछ बोल 'मनोहर' साथ चलेगा कौन ।।3।।

इस पद्यावलीके 61वें भजन में इसके रचयिता महोदय ने इस प्रकार का चिन्तन किया है कि हे आत्मा, तुम ख्याति की चाह मत करो। कीर्ति को

चाह करने से तेरे शुभ अशुभ कर्मों क बन्ध होगा जो कि तेरे लिए दुःख के ही कारण होंगे। अतः कुछ चेती और कीर्तिकी बान्छा तजकर अपना कल्याण करो।

रचयिता का भजन भी बड़ा प्रेरणात्मक है। भजन इस प्रकार है—

छिन में भारी भूल बनेगी।

जो मति ख्याति और उलझेगी।।टेक।।

दुर्धर तप ब्रत संयम बलसे, जो विशुद्धता आन बनेगी।

कीर्ति चाह से भाव शुभाशुभ, कर्म रूप परिणेगी।।1।।

इन्द्रिय विजय परिषह जय सब, आकुलता की खान बनेगी।

निज अनुभूति पियूष कटोरीं, गिरकर टूक टूक होवेगी।।2।।

ज्यो चारो गति उलझत आये, तैसी उलझन होत रहेगी।

भूख प्यास गर्मी सदीं इत्यादि वेदना नहिं बिनशेगी।।3।।

क्षेत्र असंख्य अनन्त प्राणी, कह कहं लो कीरति प्रगटेगी।

कीर्ति अथिर दुख सुचिर मनोहर चेतो तो सुख शान्ति मिलेगी।

प्रस्तुत पुस्तक के 65वें भजन में रचयिता के मनोभावों का बड़ा गहन परिचय मिलता है। गृहस्थी के बीच रहकर उससे विरक्त रहने का पूर्ण परिचय उनके इस भजन में मिलरहा है। गृहस्थी के बीच तो समस्त परिजनों के पालन पौषण के लिए बड़ा दीनसा बसकर रहता है। उनके पीछे बड़े बड़े सहने पड़ते हैं। ये दशाये तो उनके मुख से सहसा ही ये शब्द निकल पहतें हैं— किस के अर्थ बनूं मैं दीन' अर्थात् कहां कहीं मेरा कोई नहीं है, मेरा किसी से कुछ नाता नहीं है, मेरे से सर्व पर पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं। मेरा तो मात्र मेरा ही चैतन्यस्वरूप है। उसी को लखूं ओर उसी में रमूं, यही मेरा सर्वस्व हे, अन्य समस्त जीवों के पीछे पड़कर उनसे ममत्व करके क्यों दुःख सहूं ? इस प्रकार के मनोभावों का परिचय कराने वाला भजन इस प्रकार है—

भजन—

किस के अर्थ बनूं मैं दीन।

आत्म तत्व तज अन्य जगत के, अर्थ सार से हीन।।टेक।।

प्रकट भिन्न जन बन्धु मानकर, हाय रह्यो में लीन ।
 बुद्धि विवके सभी खो बैठयो, पल लोभी जिम मीन ॥1॥
 भोगे दुख दुख विविध सुचिर पर, मानत अजहु नवीन ।
 तृप्त भोगे से हो नहिं पाई, हुई न आशा छीन ॥2॥
 तात मात सुत नार संपदा, भोग विषय क्षण क्षीण ।
 अब चैतन्य सनातन कुल को, भज कर होउं कुलीन ।
 आत्म ज्योति निधि पाप मनोहर होउं अहीन अदीन ॥4॥

प्रस्तुत पुस्तक का 68 वां भजन तो बड़ा ही प्रेरणात्क है। इसमें पूज्यश्री वर्णी जी महाराज गृहस्थाव्यवस्था की कष्ट सहष्णुता का परिचय मिलता है। वे निरन्तर यही भावना रखते थे कि हे मेरे ज्ञानदेव, तुम प्रकट होओ, हे विरागता माता तुम आवो और शीघ्र आवो। मेरी आकुलता के संताप को दूर करो। इस भजन से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि रचियता महोदय वास्तव में संसार को बड़ा दुःखदायी समझ चुके थे। अतः सांसारिके समस्त प्रकार के दुःखों से बचने के लिए अपने हृदय स्थल में ज्ञान और वैराग्य के अंकुर प्रस्फुटित कर रहे थे। इस भजन में शिक्षा लेने योग्य बात यह बताई गई है कि हे आत्मन्, यदि तुम्हें दुखों से बचना है और अपना सहज आनन्द प्राप्त करना है तो अपने आपके अन्दर ज्ञान और वैराग्य की जागृति करो। वह प्रेरणात्मक भजन इस प्रकार है—

भजन—

हे विरागता माता आओ। आकुलता का ताप
 मिटाओ ॥टेक॥

क्लेश गर्तमय मोह भूमि पे, बिलखू मुझको शीघ्र उठावो।

तत्व रमण संतोष श्रवण सम्यक्त्व सदन आनन्द जगादो।

सत्य मोदमद हास्य दिखाकर, सतत सहज आनन्द जगादो।

उस ही पद में अमरा रहूं ज्यों, समता अमृत पान
 करावो ॥2॥

साक्षर तदपि मूक बानी सुनि, भाव जानि निज विरद
 दिखावो।

बाल मनोहर पे करुणा कर, शरण राख भव पीर
मिटावो ॥३॥

प्रस्तुत पुस्तक के 91 वे भजन में रचयिता महोदय ने संसारी प्राणियों को संबोधन दिया है। कि हे आत्मन् तुम्हें ये बाह्य पदार्थ बड़े रम्य प्रतीत हो रहे हैं, उनसे तुम सखकी आशा कर रहे हो, पर तुम्हारी यह भूल है। तुम्हें किसी भी पर पदार्थ से सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। ये पर पदार्थ तो मुझे अनत में धोका ही दे देंगे। अतः पर पदार्थों की उपेक्षा करके अपने आपके निर्दोष स्वरूपको लखो और सहज सुख प्राप्त करो। इस प्रकार की प्रेरणायें देनेवाला प्रस्तुत भजन इस प्रकार है—

भजन—

भैया कहं चले तुम जात ।

राग लोक सुनो तनिक सुख, तहं भगे झट जात ॥टेक ॥

जा रहे तहं छल बड़ा है, सार का नहिं नाम ।

नाम के परिजन लूभाकर, करेंगे बदनाम ।

दुखमें दे सके नहिं हाता ॥१॥

जो तुम्हारी निधि न जिसका, लेक नाम निशान ।

मानते पर से मिले सुख, के विकृत परिणाम ।

जैसे श्वान अस्थि चबाता ॥०॥

देख ले निर्दोष मूरति, आप ही में आप ।

हो 'मनोहर' सौख्य सागर, क्यों सहत आताप ।

तुम तो स्वर्ग सम आवदाता ॥३॥

प्रस्तुत पुस्तक के 111 वें भजन में तो बड़ी ही आध्यात्मिक रचयिता महोदयने भर दी है। इस भजन के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय इस भजन की रचना कर रहे थे उस समय उनकी इस प्रकार की भावनायें थीं कि हे आत्मन् तुम हो स्वयं ज्ञानस्वरूप, पर उस ज्ञानधनका पता न होने के कारण स्थिर ही एक दरिद्रता बन कर संसार में भटकते रहे। तुमने परपदार्थों को ही

अपना सुखदाता समझा, अब तो कुछ चेतो, अपनी ज्ञाननिधि को अब तो पहिचानो और परपदार्थों से सुख की आशा तजकर अनन्त ज्ञानधन के धनिक बनो। इस प्रकार की प्रेरणायें देने वाला प्रस्तुत भजन इस प्रकार है—

भजन—

न अपना ज्ञान धन खोता, भिकारी क्यों बना होता।

खुदी का खुद पुजारी तू, कभी का बन गया होता।।टेक।।

अचेतन अन्य चेतन में, ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ।

इसी पुण्ड्रि से तो खा, रहा भवसिन्धु में गोता।।1।।

बना तू दास जिस तन का, खिलाते सुख दिलाते हो।

दुखो कर मिटने से पहिले, दुखों का बीज बो जाता।।2।।

तुझे हे कामना का रोग, इसका वेंघ न कोई।

ये मिट भी जाते जड़ से गर, चिकित्सक तू हं बन जाता।।3।।

भजो चारित्र की औषधि, मिलाकर ज्ञानके रसमें।

रखो परहेज पिषयींका, नही तो सर्व दुख दांत।।4।।

लखो निज आत्म विद्या निधि, मिटाओ दैन्य ये अपना।

न सुख सुख कर मनोहर देखकर जीवन में छिन सपना।।5।।

प्रस्तुत पुस्तक के 120 वें भजन में श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने कहा कि हे आत्मन् तेरा सुख तेरे ही अन्दर है, तू बाहर में मुख की खोज कहां कर रहा है ? वास्तव में अभी तूने अपने सुखस्वरूप आत्म को पहिचाना नहीं है। तू भ्रमवश अपने सुखकी खोज में यत्र यत्र दौड़ लगाता रहा। हे आत्मन् अपने ही सुखस्वरूप, आनन्दधाम परमात्मतत्वका परिचय पावों और उसी सुखसागर में डुबकी लगाकर आनन्द पा लो।

इस प्रकार का प्रेरणात्मक भजन इस प्रकार है—

भजन—

इतनी निगाह रखना, जब प्राण तन से निकले।

सम भाव सुधा पीना, जब प्राण तन से निकले ।।टेक।।

सुत नार तात परिजन, संसार के सुसाफिर।

इनमें न मोह लाना, जब प्राण तन से निकले।।1।।

धन संपदा है माया, चक्री भी यासों हारे।

तिनका समान तजन, जब प्राण तन से निकले।।2।।

विषफल समान सुन्दर, दुख पाक भोग जगके।

इनमें न प्यार करना, जब प्राण तनसे निकले।।3।।

क्या भोग भोग डाले, भोगो से खुद भुगे हम।

उनका न ख्याल करना, जब प्राण तनसे निकले।।4।।

चैतन्य चिन्ह चेतन, चिन्तन से चेत जाना।

डरना न छिन, 'मनोहर' जब प्राण तनसे निकले।।5।।

इस प्रकार से इस मनोहर पद्यावली के प्रथमभाग के प्रत्येक भजन बड़ी ही शिक्षायें एवं प्रेरणायें देने वाले हैं। इन भजनों का गायन—शास्त्र के आधार पर भी बड़ा उंचा स्थान है। एक बार भी लय से मन लगाकर कोई हारमोनियम आदि साज बाज के साथ इन्हें गाये तो स्वयं में ही हृदयतन्त्री के तार झनझना उठेंगे। आजकल तो अनेक प्रकार के राग रागनी के गायन भजन आदि चल रहे हैं। उनका बड़ा प्रचार किया जाता है, पर उनसे प्रेरणायें मिलती हैं संसार में ही फंसाने की, संसार में ही रूलाने की। हमारी तो यह भावना है कि यदि इन विरक्तिपूर्ण भजनों को हर स्थानों पर अनेक ढंगों से गाकर उनका सही ढंग से उपयोग किया जाय तो उससे मानव के अन्दर धार्मिकता के परिणाम जागेंगे, संसार से विरक्ति के परिणाम जागेंगे और कल्याण पात्र बन सकेंगे। इसी में इन विरक्तिपूर्ण भजनों की उपयोगिता है।

श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज जी ने सर्वप्रथम सन् 1942 में आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत व व्रत प्रतिमा गुरुवर्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज शिखरजी के निकट ईसरी में ग्रहण की। उसके बाद श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने जो पद्य रचे उनका संग्रह इस द्वितीय भाग में है। इससे पहले 123 पद्य गृहस्थी में रहते हुए रचे थे, उनका संग्रह प्रथम भाग में है। इसके बाद पहिला भजन है 124 नं० बा बारह भावना। इसकी भावनामें आध्यात्मिक दृष्टि भरी है जैसे –

तन धन पुत्र मित्र परिवार, परिणति इनकी इनके लार। मैं चाहूँ मौ माफिक रहें, सोचो फिर कैसे सुख लहें।

भावार्थ – शरीर धन पुत्र मित्र आदि की परिणति उन उनके ही साथ हैं। मैं चाहता हूँ मेरे कि वे माफिक रहें, इसमें सुख कैसे मिल सकता है ? इस अर्थ में यह तो फलित अर्थ हो ही जाता है कि पुत्रादिक वैभव अनित्य हैं। अध्यात्मि दृष्टि और मिली कि ये जैसे हैं सो जानलो, उसने अपने लिए कुछ मत चाहो। अशरण भावनामें बताया है कि—

तन धन गृह सुत किंकर नार, इनसे सुख जीवन भ्रम धार। इनको दास न बन सुन भ्रात, कर्म उदे जीवन सुख सात।

भावार्थ – तन धन घर पुत्र आदिसे मेरे को सुख मिलता है या जिन्दगी मिलती है ऐसा भ्रम करके इनके दास मत बनो। इसमें इन सबकी अशरणता तो प्रकट सिद्ध हो ही जाती है साथ ही यह अध्यात्मदृष्टि मिली कि दन अशरणों से अपना सुख मत मानो। शरण का भ्रम मत करो। इनके आधीन बनकर दीनता मत लादो। इसी प्रकार सभी भावनाओं में अध्यात्मकदृष्टि है।

श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज द्वारा प्रणित आत्मकीर्तन तो समस्त भारत में प्रसिद्ध है। इसमें कुछ लाईने ऐसी हैं जो आकस्मिक दूषित व्यवहार की स्थितियों में ही जानकर लोगों के मुख से निकल पड़ती हैं—जैसे—सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुखकी खान, जैसे कुछ शान्ति पाने पर—राग त्याग पहुंचू निज धाम। आकुलता का फिर क्या काम। जैसे – किसी उलझनकी स्थिति में बोल निकल पड़ता है होता स्वयं जगत इस समूचे आत्मकीर्तन को प्रति दिन सुबह शाम स्वाध्याय के समय, विद्याय के समय, प्रार्थना के समय आदि जब चाहे पढ़े जाने की पद्धति अब भी बहुत जगह है।

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आत्मराम ॥टेक॥

1

मैं वह हूँ जो हैं भगवान ।
जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
अन्तर यही उपरी जान ।
वे विराग यहं राग वितान ॥

2

मम स्वरूप है सिद्ध समान ।
अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ॥
किन्तु आशवश खोया ज्ञान ।
वना भिखारी निपट अजान ॥

3

सुख दुःख दाता कोई न आन ।
मोह राग रूष दुख की खान ॥
निजको निज परको पर जान ।
फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

4

जिन शिव ईश्वर ब्रह्म राम ।
बिष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ॥
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम ।
आकुलता का फिर क्या काम ॥

होता स्वयं जगत परिणाम । मैं जगतका करता क्या काम ॥

दूर हटो परकृत परिणाम । सहजानन्द रहूँ अभिराम ॥

परमात्म आरती भी आत्मकीर्तन की ही तरह भावपूर्ण है । इसमें प्रभु की साधु की, आत्माकी स्तुतिका प्रत्येक छन्द में भाव भरा है ।

परमात्मआरती

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, ॐ जय जय अविकारी ।

हितकारी भयहारी शाश्वत स्वविहारी ॥

ॐ जय जय अविकारी ॥टेक॥

काम क्रोध मद लोभ न माया समरससुखधारी ।

ध्यान तुम्हारा पावन सकल क्लेशहारी ॥ॐ॥१॥

हे स्वभावमय जिन तुम चीना भव संतति टारी ।

तुम भुलत भव भटकत सहत विपत भारी ॥ॐ॥२॥

पर सम्बन्ध बन्ध दुखकारण करत अहित भारी ।

परमब्रह्म का दर्शन चहुंगति दुःखहारी ॥ॐ॥३॥

ज्ञानमूर्ति है सतय सनातन मुनिमन संचारी ।

निर्विकल्प शिवनाकय शुचिगुणभंडारी ॥ॐ॥४॥

बसो वसो हे सहजज्ञाधन सहजशान्तिचारी ।

टले टले सब पातक पर बलबलधारी ॥ॐ॥५॥

इस पद्यावलिके अन्तर्गत आया हुआ आध्यात्मिक भजन “मुझे न है परका पतियारा, मुक्ति का प्रोग्राम हमारा” तो प्राणीमात्रको बड़ी प्रेरणायें दे रहा है । पूज्यरी का आध्ययात्मिक चिन्तन उस समय किस प्रकार का रहा होगा, न जाने अपनी आत्मशक्तिका किस प्रकार का परिचय वा रहें होंगे, और उसी

आत्मचिन्तनकी क्रीड़ा में न जाना कितना आनन्दविभोर हो रहे होंगे, इसका तो अनुभव उन्हें स्वयं ही होगा। हम आप तो केवल उनके मनोभावों का दिग्दर्शन मात्र कल्पनाओं के आधार पर कर सकते हैं। जिस समय लेखक महोदयके मुखसे ये शब्द निकले होंगे— “मुझे न है परका पतियारा’ तो वास्तव में उस समय वह एक आत्मस्वरूपके चिन्तन के अतिरिक्त सांसारिक समस्त पर पदार्थों को तिलांजलि दे उठे होंगे। कितनी उपरिमित शक्ति एक योगी को आत्मयोत्थान के मार्ग में लगानी होती है, कितनी कितनी तिलांजलियां देनी होती है, आदि का दिग्दर्शन आपके इस भजन के अन्तर्गत होता है।

भजन

मुझे न है परका पतियारा, मुक्ती का प्रोग्राम हमारा।।टेक।।

मैं खुद में खुद का करतारा, पर से नहीं मेरा निस्तारा।

था, है, होगा कोई न हमारा, मुझको केवल मैं ही सहारा।।1।।

होउं जब निज देखनहारा, हो तब ज्ञानचन्द पसारा।

संकट का नहीं लेश गुजारा, अब निज पद का होश संहारा।।2।।

भ्रम का भागा सब अन्धयारा, मुझमें मुझका है उजयारा।

सहजानन्द स्वरूप हमारा, खुद हो जिसका राखनहारा।।3।।

आत्मस्वरूपका सच्चा परिचय पाने वाले पूज्यवर लेखकजी महोदय ने आत्मा के अन्दर विद्यमान गुणोंका चित्रण इस भजन में कितना सुन्दर किया है। भजन नं0 145 – देखो देखो निजमें क्या रचना भरी।

वाहरे योगी, इस भोले संसारी प्राणी को कैसा विचित्र संदेशा आपके द्वारा दिया जा रहा है। यह संसारी प्राणी तो दुनिया की रचनायें देखने में लवलीन है, उसे यह पता नहीं कि मेरे ही अन्दर ही विद्यमान मेरा आत्मस्वरूप कितनी आलोकिक रचनाओं से परिपूर्ण है। इस रचना को जानने वाले योगीश्वरो को इसी आत्मोपवन की क्रीड़ास्थली में अद्भुत रचनायें देखने का शुभावसर

प्राप्त होता है। संसारी अज्ञानी भोले भाले प्राणी क्या जाने आत्मोपवनकी आलौकिक रचनाको। आत्माके अन्दर ज्ञान दर्शन चारित्र आदि गुण विद्यमान हैं, उनका अद्भुत प्रकाश पाने वाले योगीश्वरों को अन्यत्र दृष्टि डालने में सर्वत्र फीका सा लगता है। वे गुणोंके अनुरागी योगी गुणसागर में ही डुबकी लगाकर अद्भुत आनन्दका अनुभवन किया करते हैं। इस भजन की एक एक कड़ी प्राणिमात्र को यही प्रेरणा दे रही है कि ऐ संसारी प्राणी यदि तुम्हें आनन्द चाहिये तो अपने आपके अन्दर विराजमान सहज ज्ञायकरूप परमात्मतत्त्व के गुणों का स्मरण करो और उन्हीं गुणों को अपनाकर अपना कल्याण करो।

भजन

देखो देखो निज में क्या रचना भरी।

जिस रचना के लखनहार योगी तृत्व हैं वसु पहरी ॥टेक॥

दर्शन ज्ञान आदि गुण जिनकी महिमा बहुत बड़ी।

चिलिास में तीन लोक की रचना सकल
जड़ी ॥देखो०॥१॥

गुण में गुण का है प्रकाश कैसी यह ज्योति मढ़ी।

जिसमें नहि परका प्रवेश, केसी यह सुदृढ़
गढ़ी ॥देखो०॥२॥

सहज स्वस्रचेतन में लगती सहजानन्द झड़ी।

निष्कलंक इस निज अनुभव से कटती
कर्मलड़ी ॥देखो०॥३॥

अध्यात्मयोगी श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने आत्मस्वरूपका सहारा ही अपना ही अपना मुख्य सहारा तका। इन्होंने दुनिया की समस्त पर वस्तुओं को अपने स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न समझ। आपका भजन न० 151 चिद्वव हमारा, इसका हि सहारा, कितनी मार्मिक भावनाओं से श्रोतप्रोत है। इस भजनके अंतर्गत लेखक महोदयने डंके की चोट मारकर समस्त संसारी प्राणियों को संदेश दिया कि ऐ भोले भाले प्राणियों, तुमने अभी तक समस्त बाह्य पदार्थोंका ही अपना सर्वस्व समझा। उन्हीं से अपना सहारा तका, पर

अभी तक उन समस्त पर पदार्थों से धोका ही मिलता रहा। उनकी ओर से सदा ठोकर ही मिलती रही। उन समस्त पर पदार्थोंसे सहारे की आशा तककर उनके पीछे बड़ी दौड़ लगाया, पर उसके फल में सर्वत्र विपदायें मिली। हे आत्मन् अभी तक तुमने अपने सही सहारा देने वाले निज आत्मदेवको नहीं पहचाना अरे तुम निज बाह्य पदार्थों से अपने सहारे की आशा कर रहे हो वे ने निराशी की ठोकर ही देकर जायेंगे। ये दिखने वाले समस्त पदार्थ ये तेरे से प्रकट भिन्न हैं ही, इनकी तो बात ही क्या, अरे तेरे ही अन्दर तेरे से धुले मिले रहने वाले जो रागदिक विभाव हैं वे भी तेरे लिए सहारा देने वाले न होंगे। ये सबतो तेरी बरबादी के ही कारणभूत होंगे। अतः हे संसारी प्राणी तू इन समस्त पर पदार्थों से सहारे की आशा तजकर निज आत्मदेव कस सहारा तक। उससे ही अपने आपका हित समझ, उसको ही अपना सर्वस्व समझ, यही तेरे लिए कल्याणभूत बात होगी।

भजन—

चिद्रूप हमारा, इसका हि सहारा।

परभाव के प्रसंग में नहीं मेरा गुजारा ॥ चिदुप० ॥टेक॥

वस्तुस्वरूपमें नहीं की, परसे कुछ मिले।

खूदगर्ज भी किसको कहें—सब सतत्व के भलें।

स्पष्ट है क्या कष्ट है, विकलय ही क्यों चले।

नही हम किसी के कोई नहीं कुछ भी हमारा ॥
चिदु० ॥टेक॥ १ ॥

इक क्षेत्र में अवगहि होके, तन अमित मिले।

वे भी रहे न साथ जो इतने घुले मिले ॥

जड़ वैभवों की बात क्या, पर प्रकट ये डले।

रागदि भी न कह सका, बन करके हमारा। चिदु० ॥२॥

सहजसिद्ध सहज ज्ञान, सहज दर्शमय।

सहजानन्द स्वरूप सहज शक्ति मय ॥

सहज चिद्विलास का जिसमें हे सहज लय।

मेरा सहज स्वरूप अमित गुण का पिटारा॥ चिदुप०॥३॥

इस पद्यावलिके लेखक जी महोदय स्वयं ही आत्मस्वरूपमें बिहार करने वाले हैं। उनकी इन समस्त रचनाओं का पठन करने वाला जिज्ञासु कुछ क्षण के लिए अवश्य ही सांसारिक उल्लसनों से दूर होकर आत्मचिन्तन के कार्य में लग जाता है। आपका भजन नं० 162 टुक रूक जावो, यह मैं आया, लेने शरण तिहारी” कितना मार्मिक भजन है, कितना स्वात्मगुणोपलब्धिकी ओर प्रेरित करने वाला है। इस भजन को लेखक महोदय ने लिखते संयम पर अदांज नहीं होता है कि आपको उस समय केवल एक आत्मदेव का ही दर्शन ही रहा होगा। समस्त पर पदार्थों की पुर्णरूपेण उपेक्षा करदी होगी और ज्ञानन्दस्वरूपमें कुछ क्षणके लिए बिहार कर रहे होंगे। लेखक महोदय की यही लख रहा होगा कि वास्तव में इस संसार के कोई भी पर पदार्थ मेरे लिए शरणभूत नहीं है। जिसकी भी शरण में मैं जाउंगा वहां से बस चक्का ही मिलेगा। इसी आत्मध्यान में रत हुए योगीश्वर श्री लेखक जी महोदयने किसी शान्ति के धाम को देखा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। उन्होंने स्वयं ही अशान्ति के प्रगटावनहार समस्त परपदार्थों का संयोग करके देख लिया, पर उन्हें कहीं शान्ति प्राप्त होने की बात न दीखी। अतः समस्त परपदार्थोंको भूलकर अपनी ही शान्ति के धाम आत्मस्वरूपका अवलोकन चिन्तवन एवं मनन करने के लिए यत्नशील हुए। उस शान्तिस्वरूपका सहज दिग्दर्शन करने के इच्छुक लेखक महोदय ने बड़ा ही साहस करके अपने परमात्मदेवसे मिलन करने का बड़ा प्रयास किया, पर यह उपयोग न जाने क्यों यत्र तत्र दौड़ने के लिए प्रेरित होता, इस पर निर्णय व विपदकी रेखा भी परखिये। उस उपयोग को थामने के लिए, उसे एकाग्र करने के लिए बार बार उस सहज आनन्दस्वरूपके लिए ही प्रयत्नशील होते, परमशरणभूत निज आत्मतत्वका दर्शन करने की उत्कृष्ट इच्छा रखने वाले लेखक महोदय ने स्वयं भी उस परमात्मतत्व का दर्शन करने का पूर्ण प्रयास किया है और दूसरों को भी उसके दर्शन करने के लिए प्रेरित किया है। यह उपयोग ओर प्रभु एक हो गया सो निःसंकोच यह भी कह बैठे कि हे प्रभो, आप मेरे उपयोग में आते, पर आते आते न जाने क्यों लौट जाते। कौन टुकाई करता। अहा कैसा परमात्मादेव का मिलन हो रहा है।

भजन—

टुक रूक जावो, यक मैं आया, लेने शरण तिहारी, है

सहजानन्द बिहारी ।।टुक०।।टेक।।

जब से दृष्टि में आये प्रभूवर, शान्ति मिलत निभेद हो मिलकर।

टुक अन्तर रहता मिलाप में करत विकार लुटाई। हे
सहजा०।।टुक।।१।

शान्त कान्त निज अनुभव पथसे, गुप्त लुप्त हो थिर अविचलसे।

आते आते न जाने प्रभु करता कौन टुकाई। हे सहजा०।।टुक०।।२।।

इस उपयोग में ध्यान तुम्हारा, लौटे चाहे दुःख पुकारे।

मेरी लगन लगी तुम ही सों मेरे सहज सजाई। हे
सहजा०।।टुक०।।३।।

इस पद्यावलि में लेखक जी महोदयने भजन नं० 166 में कितना सुन्दर सन्देश इस भोले भाले अज्ञानी संसारी प्राणियोंको दिया है। जिस समय आपके मुख से ये शब्द निकले होंगे – रसना क्यों न ज्ञानरस पीती” उस समय लेखक जी महोदयने ज्ञानका कितना अधिक महत्व दिया होगा, इसका आभास आपके इस भजन से होता है। वास्तव में यह संसारी प्राणी विषयों में कितना अधिक लीन है, इस जिह्वा इन्द्रिय का लम्पटी बनकर न जाने अपना कितना अनर्थ कर रहा है, न जाने कितनी दुर्लभता से इस रसनाइन्द्रिय की प्राप्ति हुई पर उसको पाकर उससे लाभ कुछ न उठा सके। उसका दुरुपयोग ही किया। जिस रसना इन्द्रिय के द्वारा सुन्दर परम कल्याणकारी वाणी बोली जा सकती है, प्रभु के गुणों का गान किया जा सकता है, उस रसना इन्द्रिय को इस अज्ञानी मोही मलिन प्राणी में विषयों के सेवन में उपयोग किया। भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ विचार नहीं, मृदु एवं कटुक वाणी का कुछ विचार नहीं, जो चाहे, जब चाहे खाना-पिना, जो चाहे अटपट बकना, जैसे चाहे रागरागनी के शब्दों का आलाप करके विषयों को पुष्टि करना आदि के कार्यों में ही इस जीह्वा का प्रयास होता रहा। इस जिह्वा ने न जाने कितनी कितनी गन्दी चीजों को चखकर उसमें मौज माना, पर इसने कभी भी ज्ञानसुधारस का पान नहीं किया। इस प्रकार का सम्बोधन देने वाले लेखक जी महोदय अन्त में यही संदेश देते हैं कि हे आत्मन् अभी तक तुमने उस जिह्वा इन्द्रियको पाकर इसका दुरुपयोग ही किया, कोई लाभ की बात कल्याणकारी बात अभी तक नहीं प्राप्त किया। अब तो कुछ चेतो और इस रसनाइन्द्रिय का उपयोग ज्ञानामृत का पान करने में लगाओ। शुद्ध खावो, शुद्ध बोलो, तत्वज्ञानकी बात सीखो, दूसरों को सिखाओ, प्रभु के गुणों का गान खुद करो, दूसरों को

कराओ, इस प्रकार से इस रसनाइन्द्रिय से लाभ उठाओ। इस प्रकार का मार्मिक संदेश इस प्रस्तुत भजन में लेखक महोदय ने दिया दे—

भजन—

रसना क्यों न ज्ञानरस पीती, रसना क्यों न ज्ञानरस पीती।

पठ रस भोजन खा पी कर भी, रही रीती की रीती।।रसना०।।टेक।।

वैरभाववश तरल तरगनि, गोते खाये अभीती। विषयरागवश मृदुता की पर,
मिटा सकी नहीं भीती। रसना०।।1।।

अमित काल तो जन्मी भी न, जन्मी भी तो लीती।

वाणी मिली तो विषयनिहारी, करो न प्रभुगुण प्रीती।।रसना०।।2।।

ज्ञानअमृत का परम सूफल है, सहजानन्द प्रतीति।

विषयमरणका फल वह दुर्गति, जो अनादि से बीती।।रसना०।।3।।

27—मनोहर पद्यावलि तृतीय भाग

पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज द्वारा रचित यह पद्यावलि तृतीय भाग अभी अप्रकाशीत है, निकटकाल में ही प्रकाशित होगा। इसमें भी अध्यात्मिक भजन हैं।

28—29 दृष्टि मूल व सार्थ

यह दृष्टि नामक संस्कृत महा निबन्ध पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने सन् 1955 में बनाया। यह जितना जाना चाहिए था उतना नहीं बना, अपूर्ण रह गया, फिर भी इसमें माननीय विषय प्रायः सब आ गया, जो 56 पेजों में मुद्रित है। इसका अनुप्रास युक्ति गर्भ वृहद्वावयसमूह सब ललित है और शिक्षापूर्ण है। इसके 6 माह बाद ही धर्मप्रेमी जिज्ञासा बन्धुओं के अनुरोध से स्वयं लेखक महोदय ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। मंगलाचरण के बाद सर्वप्रथक यह बतलाया गया कि दृष्टि के वर्णन करने का प्रयत्न क्यों किया गया है — मूल व अर्थ देखिये—

स्वपरूपादानहाननिष्पाद्यात्मवसतुत्वविद्यायिनियसद्वियाविपरीतानाद्यविद्यासंगदोषद्भू
तिवि—षयवासनाकल्पषकलुषितात्मनामाकुलानामसुमतांचातुर्गत्यापनिनवारणं
किलाकुल्याबलिनिबन्धनविषयवासनामत्तःसाधनाविद्याविनाशनप्रवणा सती दृष्टः
शक्ता। अती दृष्टि लक्षायितवा ततुष्टिपुष्टिनिमित्तं किचिद्वक्तं यते।

स्वरूप के ग्रहण और पररूपके त्याग से उत्पन्न, आत्मवस्तु के तत्वकी प्राप्ति कराने वाले सम्यग्ज्ञान से विपरीत जो अनादि परम्परा से चले आये मिथयाज्ञानके संसगमें उत्पन्न विषयवासना से दूषित हो रही है आत्मा जिनका ऐसे चारों गतियों के जीवों के दुःख निवारण करने में, आकुलताओं की बांधने वाली विषयवासना को अंतरंग कारणभूत अविद्या के नास करने में कुशल समीचीन दृष्टि ही समर्थ है, इस कारण ऐसी दृष्टि को लक्ष्य कर उसके पोषण के निमित्त कुछ कहने के प्रयत्न करता हूँ।

धाराप्रवाह आत्मसम्बोधन की संक्षिप्त धारा तो देखिये और अपने को आत्मोद्धार की शिक्षा से अनुशक्ति कीजिये—

किन्नावलोकयन्ते वालाः पखालीयकीडासाधनं किञ्चितवस्तु स्वकीयं मत्वः तदवाप्यभाले रोदन्तः विलश्यंतस्य, तथव स्वात्मभिन्नमनात्मानमात्मोयमवगम्य स्वेच्छानुलोमपरिणत्यभावे विलशनासि। तद्विमुञ्च परेष्व्वात्मीयाध्यवसानम् समुपवस चात्मानम्। स्वात्मबोध्द्युतिमूला पीडा स्वात्मवांधादेव विनश्यति। कथमननतशी मुक्तोज्झितेषु पुद्गलेषु जडेत्युनुरज्य जडत्वं विभर्षि।

आत्मन् सर्वार्थाणं स्वेषु परिणतत्वेन कञ्चिदप्यर्थमन्यमुत्पादयितुं भक्त रक्षितुं संयोजयितुमाविर्भातुं वा च न शक्नोषि केवलं विधिशिपाकजमोहादिननिमिन्तौ स्वयोगीपयोगी विधिबन्धननिबंधनो विदधसि। न हि कुम्भकारः स्वशरीरात्मथमपि कुम्भमुत्पादयितुं शक्त केवल कुम्भनिर्मितिनिमितां स्वशरीरचेष्टा विदधाति। कुंभस्य तु वस्तुत्वेन कुंभोपादानमूतिकायामेवोत्पादस्तथैव च पुद्गलनामभिनव पर्यायाणां नानाव्यवहार्णवस्थापन्नं तदुपादानपुद्गलेस्वेवोत्पादः ततसतेषामवश्यंभावनिानामपरिणमनवमोवय नाकुलीभव। भावुक आस्तां तावत्सवर्धिणां स्वेच्छानुवर्ति परिणमनम् कैचिदकमपयर्थ कश्चिदात्मा कथापि परिणमयितुं न शक्तस्तसमात्त्वाभिलाषापरिणमनयोर्व्यापयव्यापकभावावादभिलाषानुलोम्नी परपरिणतिर्न भवतीति वस्तुस्थितिमगम्य निर्विकल्पविज्ञानधनपरमानन्दमयशुद्धस्वरूपपपवत्यनीकसविकल्पा—कुलवकलक्लेश मूलाशुद्धपरिणतिबीजामभिलाषे व्यावर्तय।

क्या नहीं देखे जाते हैं अबोध बालक किसी दूसरे बालक की अपनी मानकर, उसे न पाकर दुःखी होते हुए, रोते हुए उसी प्रकार तू संसारी भी अपने से भिन्न पर पदार्थ को अपना मान उसे न पाकर व उसके प्रतिकूल अपना परिणमन देखकर दुःखी होता है। इसलिए पर पदार्थों में आत्मीय बुद्धिको छोड़ तथा निजस्वरूप में ही रमण कर। निजात्मबोध से भ्रष्ट होने से उत्पन्न क्लेश आत्माज्ञान से ही दूर होता है। अनन्त बार भोग कर छोड़े हुए

जड़ पुद्गलों में अनुराग कर क्यों स्वयं जड़ अज्ञान बनता है? हे आत्मन् सम्पूर्ण पदार्थों की स्वाभाविक परिवृति होने से तू उनमें से किसी को भी अन्यथा करने में नवीन बनानेमें, तोड़ने में, बचाने में, परस्पर मिलाने में समर्थ नहीं है। केवल कर्मविपाक् से उत्पन्न मोह के कारण अपने मन, वचन, कायकी परिणति रूप योग तथा भावपरिवर्तनरूप उपयोगको कर्मबन्धका कारण बना रहा है।

जिस प्रकार कुम्हार अपने शरीर से किसी भी तरह घड़े की उत्पत्ति नहीं कर सकता, केवल घटनिर्माण में कारणभूत अपने शरीर की चेष्टा करता है, घड़े का उत्पादन तो वस्तुतः उसकी उपादान कारणभूत मिट्टी में ही होता है उसी प्रकार अनेक रूपसे व्यवहार में आने वाली व विचित्र रूपमें देखने वाली पुद्गलों की अनन्त पर्यायकों की उत्पत्ति स्वयं पुद्गली में ही होती है। इसलिए तू उनके अवश्यभावी अपने अनुकूल प्रति कुछ नाना परिणमन देखकर स्वयं दुःखीमत बना।

अभिभावुक आत्मन् जगत के समस्त चराचर पदार्थों का परिणमन स्वेच्छानुसार होता तो दूर रहा अर्थात् उनका जब जिस प्रकार परिणमन होना होता है वह स्वयं ही होता है। उसमें उपादान करण उन पदार्थों के स्वयं के गुण धर्म हुआ करते हैं। किसी तेरी इच्छानुसार जगत परिणमन होने की तो कथा ही क्या? किन्तु अपने पास के भी पदार्थ का अपनी इच्छानुसार कोई भी आत्मा परिणमन कराने में समर्थ नहीं है। इसलिए अपनी अभिलाषा और पदार्थों का परिणमन इन दोनों में व्याप्यव्यापक कराने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए अपनी अभिलाषा और पदार्थों का परिणमन इन दोनों में भाव होने से अभिलाषा के अनुसार पर-पदार्थ की परिणति नहीं होती है इस वस्तुस्थिति को जानकर निर्विकल्पविज्ञानघन परमानन्दमय शुद्धात्मस्वरूप विपरीत जो सविकल्प तथा आकुलता ही है शरीर जिसका एवं क्लेशों का मूल जो अशुद्ध परिणमन उसकी बीज कारणभूत अभिलाषा को दूर कर।

धन्यों सह स सुकाशलो मुनियो निकेतनाकरपरणिताम्बुवा
हविलयावलोकननिमित्तोपजातवैराग्यस्य मंत्रिब्रजाम्याख्यानेन
पुत्रोत्पत्तिप्रभुतिस्वीकृतराज्यभारस्यस्यात् सुतोद्भवश्रवणसमय
स्वांगीकृतनेग्रन्थ्यषदस्य स्वपितुर्महामुनेदर्शनाज्जातसंसारशरीरविषयानिर्वेदः
प्रारब्धयौवनानीप्सितस्वामानिअशुभभावसम्पादनो पलब्धव्याघ्रमवया मातृचरया
तिदीर्यमाणोअपि परमप्रकर्षप्राप्तवैराग्यबलेन क्षणमपि किञ्चिदपि
स्वानुभवादच्यवमानः परमानन्दसन्दोहास्य-दांपरमनिवृत्तिम लेभे।

गृहपरिणत किन्तु क्षणभर में ही नाश हो जाने वाले मेघ को देखकर विरक्त, किन्तु मंत्रिगणकी प्रार्थनापर ग्रहण किया है राज्यभारको जिसने और

पुत्रोत्पत्ति के समाचार पाते ही मुनि दीक्षा ले लेने वाले महा मुनिरूप अपने पिता के दर्शन से उत्पन्न हुआ है संसार शरीर व विषयों से वैराग्य जिसको तथा यौवन व्यवस्था का जहां प्रारम्भ हो चुका ऐसा पुर्णयुवा, अपनी पत्नी के गर्भ में स्थित शिशु के जन्म की और से उदासीन, पूर्वभव में अपने पति और पुत्रके वियोग से उत्पन्न आर्तध्यानपूर्वक मरकर अशुभपरिणामों के वश व्याघ्रयोनि धारण करने वाली पूर्वभव की माता द्वारा स्वयं के चीर डालने पर भी उत्कृष्ट वैराग्य बलसे क्षणभर के लिए भी अपने स्वरूप से विचलित न होना वाला वह सुकौशल मुनि धन्य है जो इस प्रकार वैराग्य को प्राप्त होकर अलौकिक अवर्णनीय आनन्द की भंडारस्वरूप मुक्ति को प्राप्त हुआ।

रागभाव हेय है पापभावके रागकी तरह पुण्य का राग भी हेय है, अनष्टि है। अतः वीतरागता गुणमें अनुराग की प्रेरणा देने वाला एक अंश देखिये—

रागः किल पुण्येऽपि वर्जनीयोऽवतते यतो हि पुण्यफलं
 सांसारिकवैभवावाप्तिः । यदि केनचित्पुण्यं याचितं संसार एव याचितः सिद्धः ।
 किंच पुण्यरागः किल वैभवे इच्छा, सच तीव्र कषायेः तीव्रकषाये च पुण्यबन्धीऽपि
 न भवति । इति पुण्यरागस्य
 स्वार्थक्रियाकारत्वाभावादत्यन्तहेयत्वं संसारप्रयोजकत्वाच्च पापबंधस्येव
 पुण्यबंधस्याप्यानिष्टत्वं च । ततः परमात्मनो वीतरागतागुणे नुरागंऽविधेहि । स एव
 शरणम् ।

पुण्यविषयक भी राग छोड़ना चाहिए, क्योंकि सांसारिक नाना प्रकार के सुख वैभवकी प्राप्तिरूप पुण्यफलको किसी ने चाहा तो उसने संसार ही मांग है यह स्वयं सिद्ध है। फिर पुण्यानुराग का अर्थ होता है वैभवों की अभिलाषा, और अभिलाषा का दूसरा नाम है तीव्र कषाय, तथा तीव्रकषाय की सन्तान में पुण्यबंध होता नहीं।

इस प्रकार पुण्यराग को अभीष्ट पूर्णदाता न होने से पापबन्ध के समान इसे भी अनिष्टकारी, बुरा करने वाला मानना चाहिए। इसलिए परमात्मा वीतरागता स्वरूप गुणमें अनुराग कर। वही शरण है। वीतरागता में अनुराग करने वाले के सरागता का दोष नहीं आता, क्योंकि वह वीतरागता के लिए है, संसार के लिए नहीं। वीतरागताको बढ़ानो वाला है। स्वयं ही वीतराग दशा को प्राप्त हुए महात्मा को ही मनुष्यभव की सफलता इसी वीतरागता के प्राप्त करने पर है अन्यथा रूप, रस, गंध स्पर्श, शब्द पर्यायात्मक पुद्गलों का उपभोग तो पशुओं के भी बार बार निरन्तर हुआ करता है। इसलिए हे आत्मन् धर्ममय निजस्वभाव में अथवा निजस्वभावरूप धर्म में रमण करने के लिए कमर कस ले।

इस निबन्धरूप ग्रन्थ में अनुप्रास, समास, लालित्य आदि वैभव बुद्धिमान पुरुष अध्ययन करके अनुभूत कर सकते हैं।

30—सुबोधपत्रावलि

सुबोध पत्रावलि क्या है, इसको श्री मूलचन्द जी जेन एम0 ए0 पी0 डी0 मुजफ्फरनगर निवासी के शब्दों में परख लीजिए।

“सर्वप्रथम जब मुझे पर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज 105 क्षु0 का पत्र प्राप्त हुआ तो उसे पढ़कर मुझे बड़ी शान्ति व सुखका अनुभव हुआ। मैंने विचार किया कि उनकी ओर से आये हुए पत्र तो हमारे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। यदि हम उन्हें सम्हाल कर रखें और जब कोई आपत्ति उपस्थित हो या हम दुःखी हों तो उनको एक बार पढ़ने से उस दुःखकी निवृत्ति काफी अंशों में हो जायेगी। यही सोच कर मैंने विचार किया कि क्या ही अच्छा हो, यदि उनकी ओर से आये हुए पत्र व उनके गुरु अध्यात्मिक संत पर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज की ओर से आये हुए पत्रों का संग्रह करके पुस्तक के रूपमें छपवा दिये जाये तो उनका एक जगह संग्रह भी हो जायेगा व बहुतों का लाभ पहुंचाने में सफल होगा। इसी उद्देश्यों को लेकर इस कार्य में जुट गया और जिन सज्जनोंसे सम्भव हो सका पत्र मंगाकर इस पुस्तक में संग्रह किया है।

इसमें गुरुवर्य पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज द्वारा अपने पट्ट शिष्य पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज जी को पत्र लिखे गये उनसे वात्सल्य हितैषिता आदि अनेक भाव प्रकट होते हैं। इसका परिचय मुद्रित प्रथम पत्र से कर लीजिए— इसमें चेतन परिग्रह से दूर करने की बात बड़ी मौलिक लिखी है। अचेतन परिग्रह की अपेक्षा चेतन परिग्रह स्नेह के बदले स्नेह प्रदर्शित करता है, जिस स्नेह के वशीभूत होकर अधिक बरबादी कर ली जाती है।

पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज 105 क्षु0 का इच्छाकार

पत्र आया समाचार जाने । हमारा स्वास्थ्य अवस्था के अनुकूल अच्छा है। पक्वपान है। हमको तो आपके उत्कर्ष में आनन्द है—हमारा उपदेश न कोई माने न हम देना चाहते हैं। हम स्वयं अपनी आज्ञा नहीं मानते, अन्य पर क्या आज्ञा करें—आप जहां तक बने चेतन परिग्रह से तटस्थ रहना। जितना परिग्रह जो त्यागेगा सुखी होगा। विशेष क्या लिखें ? आप स्वयं विज्ञ हैं। विज्ञ ही नहीं विवेकी हैं। जितने त्यागी हों सर्वको इच्छाकार।

सागर

आ० शु० चि०

जेठ बदि 8 सं० 2008

गणेशवर्णी

अब एक पत्र में देखिये गुरु शिष्का आन्तरिक धार्मिक सम्बन्ध। इसमें गुरु जी की सरलता और सल्लेखना कराने विषयक शिष्य के वायदेका दिग्दर्शन भी कीजिये—

श्रीयुत पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज की इच्छाकार—

पत्र आया — समाचार जाने — मेरा तो यह विश्वास है संसार में कोई किसी का नहीं, यह तो सिद्धान्त है। साथ ही यह निश्चित है कोई किसी का उपकारी नहीं—इसका यह अर्थ नहीं जो मैंने आपका उपकार किया हो—और न यह मानता हूँ जो आप मेरा उपकार करेंगे हां यह व्यवहार अवश्य होगा जो वर्णी पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने सभ्यक सल्लेखना करायी परन्तु मेरा तो यह कहना है जो आपने गुरुकुलकी नीव डाली है उसे पूर्ण करिये—हमारी सल्लेखना हमारे भवितव्य के अनुकूल हो ही जायगी—अथवा आप लोगों के भव्य भावों से ही हमारा काम बन जावेगा—वहां पर जो ब्रह्मचारी सुन्दरलाल जी हैं उनसे इच्छाकार तथा री जीवाराम जी से इच्छाकार—वहांकी समाज से यथायोग्य वहां जो हकीम जी हैं उनसे आर्शीर्वाद।

इटावा

आ० शु० चिं०

प्र० आ० ब० 13 सं० 2007

गणेशवर्णी

अब एक पत्र में गुरुजी की हितैषिता स्वयं पारस्परिक अनुरागकी झलक लीजिए—

श्रीयुत क्षु० मनोहर लाल जी योग्य, इच्छाकार—

पत्र आया समाचार जाने—मेरा तो यह विश्वास है परके कल्याणमार्ग का कर्तृत्वभाव भी मोक्षमार्ग का साधक नहीं—मोक्षमार्गका साक्षादुपाय रागादि दोष निवृत्ति है—रागादिक की अनुत्पत्ति ही सम्बर है—रागादि निवृत्ति तो प्राणिमात्र के होती है किन्तु रागादिकी अनुत्पत्ति सम्यग्ज्ञानी के ही होती है। अभी तो हम बरवासागर हैं—अब तो पक्वपान हैं न जाने कब झड़ जावें —श्री जीवाराम जी से हमारा इच्छाकार कहना—

बरुवासागर

आ० शु० चि०

बेसाख बदि 9 सं० 2008

गणेशवर्णी

अब गुरुजी का अपने शिष्य के प्रति वातसल्य, उनके सत्संगियों का ध्यान एवं सभी के लिए सम्बोधन, इन सबकी झांकी एक छोटे से पत्र से निरखिए—

श्री पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज योग्य इच्छाकार—

सानन्द होंगे—आंख के उपर फुड़िया शान्त हो गई होगी—जीवानन्द वास्तव नित्यानन्द हैं — और सत्र आनन्दों से इच्छाकार—विशेष क्या लिखें — सहजानन्द के सामने अन्य सर्व आनन्द फीके हैं ।

का० सु० 15

आ० शु० चि०

सं० 2005

गणेशवर्णी

इस सुबोधपत्रावलि नामक पुस्तक के अन्तर्गत निहित पत्र संग्रह वास्तव में अपनी बड़ी महत्ता रखता है। महापुरुषों के द्वारा लिखित रूपमें प्राप्त ज्ञानवार्ता क्यों न कल्याणकारी होगी। बड़े वर्णीजी पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज ने अपने एक पत्र में पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के प्रति अपने विचर व्यक्त करते हुए लिखा है कि आप एक ज्ञानी हैं। और विरक्त हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। तो उनके ये शब्द इस बात की ओर प्रेरित करते हैं। कि एक ज्ञान और वैराग्य ही इस जीव का भूषण है, यही ग्राह्य चाज है। इसी से इस जीव की महत्ता है। सांसारिक बात में बड़जाना कोई महत्ताकी बात नहीं। निरभिमानताकी एक झलक महापुरुषों में प्रकृत्या पायी जाती है। देखिये—वर्णी श्री गणेशप्रसाद जी जैसे महान संतने अपने को किन शब्दों में कहा—मैं अपने को कुछ नहीं मानता, मैं तो कुछ नहीं जानता।” उनके ये शब्द इस बात की प्रेरणा दे रहे हैं कि हमें थोड़े से ज्ञान, धन वैभव, यश प्रतिष्ठा आदिको पाकर अहंकारके प्रवाह में वह नहीं जाना चाहिये। पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजका अपने शिष्य के प्रति क्या आदेश था, उनकी कीतनी बड़ि वत्सलता थी, आदि बातों का सुन्दर दिग्दर्शन नीचे लिखे पत्र से प्रकट होता है।

महाशय 105 क्षु० पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज योग्य इच्छाकार—

आपको मैं ज्ञानी और विरक्त मानता हूँ—मैं अपने को कुछ नहीं मानता — जैसे जिन बालकों को पढ़ाया था वे मुझे 10 वर्ष पढ़ा सकते हैं—मैं उनको महान मानता हूँ। मैं तो कुछ ही जानता हूँ। मैं तो कुछ जानता ही नहीं और न इससे मुझे कुछ दुःख है। आपको यही सम्मत्ति दूंगा जो तुम्हें समक्ष कहें उसको मानो, परकी सुनी मत मानो —और शान्तभावे कार्य करो—हमको गुरु

मत मानो अपनी निर्मल परिणतिको ही अपना कल्याणमार्ग में साथी मानों—रेलके याता यात में विकल्प मत करो, जहां पर विशेष लाभ समझो जावो, न समझो मत जाओ—हमसे आपका हित हुआ यह लिखता तुम्हारी, कृतज्ञता है—यह भी भूषण है—किन्तु बात मर्यादित ही हितकर होती है। आत्मा ही गुरु है – वह जिस कार्य सम्मति देवे करो—

आ० सु० 10

आ० शु० चि०

सं० 2009

गणेशवर्णी

अब देखिये पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज का अपने पट्टशिष्य पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के प्रति कितना हार्दिक धर्मानुराग था कि कवे बार बार उन्हें सम्बोधते रहते थे। उन्होंने जो परम कल्याणकारी वाक्य अपने शिष्य के कल्याणकारी भावना से लिखा है वे कितने अमूल्य हैं, इसकी झांकी उनके थोड़े से शब्दों में देखिये—

श्रीयुत 105 महाशय क्षु० मनोहर लाल जो योग्य इच्छाकार—

पत्र आया समाचार जाने—मुझे तो आनन्द इस बात का है जो आप अपने स्वरूप में ही रत रहते हैं। श्रीमान पं० वंशीधर जी तो एक ही व्यक्ति हैं जो पदार्थों के अंतस्तलको स्पर्श करते हैं। उनके विषय में क्या लिखूं ? उनके सद्भावसे प्रायः बहुत जीवों का कल्याण होगा ।

हमारा इच्छाकार कहना—आपकी प्रतिभा ही तुम्हारे कल्याण में सहायक होगी—अन्यके आश्रयकी आवश्यकता नहीं—

का० ब० 3 सं० 2009

आ० शु० चिं०

गणेशवर्णी

अब देखिये—गुरुवर्य गणेशप्रसाद जी वर्णी के अपने पट्ट शिष्य के प्रति ये विचार पकि आप स्वयं ही योग्य है, आप कल्याण के पथका आचरण कर रहे हैं, व्यर्थ की चिन्ता से कुछ लाभ नहीं।' अरे व्यर्थ की चिन्ताये तो अज्ञानदशा में होती हैं। एक आत्मज्ञान के रुचिया मुमुक्षुको व्यर्थ की चिन्तायेक रने का अवसर कहां ? इन व्यर्थ के कारण ही तो यह जीव अपनी बरबादी का पात्र बन रहा है, अपनी अज्ञानतासे निवृत्त होकर कल्याण के पथका आचरण करें और शुद्धोपयोगी बनकर परम कल्याण करें। इस प्रकार की कल्याणकारी शिक्षायें देने वाला यह पत्र हम सभी के लिए शिक्षाप्रद है। पत्र यद्यपि गुरुवर्यने अपने शिष्य मनोहर जी वर्णी के प्रति लिखा है पर हम सभी के लिए शिक्षाप्रद है। पत्र इस प्रकार हैं—

श्रीयुत महाशय क्षु० मनोहर लाल जी योग्य इच्छाकार—

आप स्वयं योग्य हैं—कल्याण का पंथ आचरण कर रहे हैं—व्यर्थ की चिन्तामें कुछ लाभ नहीं हम तो आपके सदा शुभ चिंतक ही नहीं शुद्ध चिन्तक हैं भी जीवारांम जी से इच्छाकार—

भाद्रवदि 11 सं० 2008

आ० शु० चिं

गणेशवर्णी

गुरु और शिष्य के बीच क्षमावणी पर्वके उपलक्ष में लिखे गये आदेशोष देशशीर्वादात्मक पत्रोतर हम आपके लिए कितना शिक्षाप्रद है, इसकी झलक नीचे गये पत्रों द्वारा प्राप्त कीजिये—

अ. श्रीयुत 105 क्षु मनोहर लालजी योग्य इच्छाकार—

दशलक्षण पत्रसानन्द से गया—मैंने आपका अपराध किया नहीं और न आपने मेरा किया: अतः क्षमा मांगना सर्वथा ही अनुचित है, हां यह अवश्य अपराध है जो मैं आपको और आप मुझको अपना हितु समझते हैं एतदर्थ ऐसा भावना भावों जो यह मान्यता समाप्त हो तथा इतने निःशंक रहो जो हमारा न कोई सुधार कर्ता है और न इसके विरुद्ध करने वाला है—मेरा तो यह विश्वास है जो सम्यग्दृष्टि श्रद्धा से तो केवलीसदृश है—चारित्रमोहकृत तरतमता का कोई लोप नहीं कर सकता—वह गुणस्थान परिपाटी से होती ही है — मेरा आपके साथ जो भी ब्रह्मचारी हैं उनसे इच्छाकार कहता ।

भाद्र सुदि 14 सं० 2009

आ० सु० चि०

गणेशवर्णी

आ. श्रीमान प्रातः स्मरणीय गुरुवर्य पूज्यश्री 105 क्षु० वर्णीजी महेदय—सेवा में सविनय वंदना ।

अपरंच आपका कृपा पत्र मिला — पढ़कर निर्मलताका अनुभव हुआ । महाराज जी, कल ही मैंने आपकी सेवा में पत्र भेजा किन्तु इस बालक को यह ध्यान न रहा कि तेरे निमित्त गुरुजी को अनेक बाह्य कष्ट हुए और तू क्षमा मांगने का क्ष भी भूल गया और इतनी क्षमावाणी हुई कभी भी ध्यान न रहा सौ महाराज जी क्षमावाणी के नाते अर्थात् रुढ़िके अनुसार आप जैसे महान से क्षमा मांगने की बात का विकल्प ही नहीं हुआ कभी कुछ ध्यान हुआ तो साहस नहीं हुआ—कि इस दिन मैं क्षमा मांगने से पहिले जबर्दसती यह सिद्ध करूं कि आपको आकुलता कलुषता हुई । मेरे हृदय में यह बात है कि आप प्रकृतया क्षमाशील हैं, मुझे अपने आपको क्षमा करने को कमी है और जो आपने लिख

है वह मेरे कल्याणार्थ तत्त्वस्वरूपका दिग्दर्शन कराने के लिए लिखा है। इससे मेरे भाव में भलाई हुई – कभी कभी मेरे किसी के प्रति, व्यर्थ सताये जाने पर “यह मेरा अकारण विरोध क्यों होता” यह विचार हो जाया करता था परन्तु आपके उपदेश से अब मेरे इस विचार से दूर रहने का प्रयत्न है तथा भावना करता हूँ कि भविष्य में आपकी कृपा से ऐसा सहनशील रहूँ कि कोई कुछ करे करो अपनी चेष्टा से – सुखी होऊँ, मेरा तो जो भवितव्य है सो अपने चतुष्टय से हो रहा, इस निर्णीत के अनुसार अपने स्वात्मानुभव के योग्य रहने रूप मार्ग में व्यर्थ विकल्प के कंटक न बिछाऊँ। श्री ब० जीवाराम जी आदि सबका आपको बंदना पहुंचे। आपके आदेशोपदेशाशीर्वादात्मक पत्रका लाभ मुझे निज मार्ग पर चलन में विशेष सहायक निमित्त होता है।

आश्विन बढी 3 सं० 2009

आपका

विनम्र सेवक अकिंचित्कर

बालक मनोहर

पूज्य श्री 105 क्षु० सहजानन्द जी वर्णी महाराज की जयन्ति के अवसरपर उनके प्रातः समरणीय गुरुजी के पत्र—

वर्णी जयन्ती समारोह शुभ अवसर पर मुजफ्फर नगर समाज को गुरुवर्य श्री गणेशप्रसाद वर्णी महाराज ने जो पत्र भेजा था उसमें उनकी पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के प्रति उनकी अपनी क्या भावना में थी इसका दिग्दर्शन एक पत्र द्वारा कीजिये—

अ. मुजफ्फरनगर समाज को —

सर्वसमाज योग्य कल्याणभागी हो जिस संसार मीय असिन्न भव्य की जयन्ती सुना रहे हो वह हत्यारा मार्ग का प्रकाशक ही यही हमारी भावना है — यही कहना है ऐसे सुभअवसरपर यदि कुछ चिरस्थायी आत्मीय उपकार करने की अभिलाषा है तब परकीय पदार्थों से ममता त्यागो साथ ही ऐसा स्थायी कार्य करो जो आप लोगों की स्थायी कीर्ति रहे — जिन परपदार्थों में चिरकाल से उलझ रहे हों उन्हें त्यागी—हमारी तो यह भावना है जो मन्दिर जाकर भगवान से यह प्रार्थना करो हे भगवान हमें ऐसी सुमति दोजो फिर मन्दिर न आना पड़े—दान देकर भी यही भावना भावों फिर दान न देना पड़े—विशेष क्या लिखूँ—एक गुरुकुलसस्था आपको चिरजीवी हो जिसमें आगमका प्रसार है — यदि वहां पर पं० हुकमचन्द आदि हों तब हमारी क्या कहें कहना—

इटावा

आ० शु० चिं०

8 वर्ष की उम्रसे लेकर 17 वर्ष की उम्र तक अपने गुरु गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज की छत्रछाया में रहकर विद्यार्जन किया था जिससे गुरुजी को इनकी बुद्धि प्रकृति आचार आदि का विशिष्ट परिचय था, जिसकी झलक जयन्ती समारोह के अवसर पर वह जीवारामजी के माध्यम से मेरठ समाज को भेजे गये पत्र द्वारा कीजिये—

आ. मेरठ समाज को – आ० जीवाराम जी द्वारा—

श्रीयुत ब्र० जीवाराम जी योग्य इच्छाकार—

पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज ही हैं—मैं यह भावना भाता हूँ जो यह व्यक्ति आनन्द से जीवन बिताकर स्वपरोपकार करे । यह बहुत प्रतिभाशाली व्यक्ति है। इसकी धारणशक्ति बहुत ही उत्तम है। यह एक बार ही में धारणा कर लेता है। जब यह अष्टसहसी, प्रेमयकमलमार्तंड, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड को पढ़ता था एक घटामें याद कर लेता था। वर्तमान में भी अपने पदकी रक्षा करके समययापन करता है— आपने इनकी जयन्ती कर उत्तम कार्य किया। सच्ची भक्ति तो यह है जो इनके नामकी छात्रवृत्ति देकर 2 छात्र हस्तनापुर गुरुकुल में पढ़ाओ या किसी बड़े विद्यालय में पढ़ाओं—यह हमको मानता है इससे हम इनकी क्या प्रशंसा करें—हमसे पूछो तो यह निकट भव्य है। इसका नाम तो परमेष्ठी मन्त्र में लिया जावेगा। विशेष क्या लिखें—

आ० शु० चिं

गणेशवर्णी

वर्णी जयन्ती के शुभअवसर पर गुरुजी के एक पत्र द्वारा पाठकजन यह जान सकेंगे शिष्य के गुणोंका कितना विशिष्ट परिचय गुरुजी को था और कितना उनके प्रति धार्मिक अनुराग था जिससे पत्रमें प्रकरण बनाकर यथाअवसर धार्मिक शिक्षा भी लेते रहें

ड. इन्दौर समाज को—

श्री 105 मनोहर लाल जी की जयन्ती मंगलजनो हो – प्रथम तो यह विशिष्ट ज्ञानी है ज्ञानके साथ चारित्रवान् भी हैं साथ ही वक्ता भी उत्तम हैं ऐसे मानवकी जयन्ती किसको मंगलकारक न होगी—यह मनुष्य दीर्घजीवी रहे यह मेरी भावना है अंतरगसे यह कामना मेरी है जो हे प्रभो, तेरे ज्ञान में ऐसा जीव दिगम्बर मुद्रा का धरी हो जिससे धर्मकी प्रभवना विशेष हो।

चारित्र की महिमा ज्ञान से है –अभी इस समय इसका समागम प्रायः नहीं देखा जाता था—इस त्रुटि को आपने पूर्ण की, इसकी मूझे क्या, जनतामात्रको प्रसन्न है। आप ज्ञानचारित्र के साथ वक्तुत्व गुण से भी पुष्ट हैं—यह सोने में सुगन्ध गुणके सदृश है –इतना ही नहीं आप सरलस्वभाव के हैं आप शतवर्ष जीवी हों यह मेरा आर्शीवाद हैं।

सरल स्वभावके साथ आप कृतज्ञ भी हैं। मेरी अभ्यंतर भावना है जो आपका जीवन ज्ञान और चारित्र के समागम में ही पूर्ण हो आपका जैसा निर्मलज्ञान है वैसा ही निर्मल चारित्र हो—इस क्षुल्लकवृत्तिका अन्त हो और साक्षाल्मोक्षमार्ग का साधक दिगम्बरपथका लाभ हो। आपमें सब से महान गुण कृतज्ञता है जो कि मानवताकी जननी है। मेरी तो यह सम्पत्ति है जो वही मनुष्य संसार के बन्धनों को काट सकता है जो अपनी ओर देखता है। प्रायः परके विषयकी चिन्ता करते देखे जाते हैं। यह मोह का जाल है—परमार्थ से कुछ नहीं।

येन इष्टं परंब्रह्म सोहं ब्रहमेति चिन्तयेत्।

कि चिन्तयति निश्चिन्तो द्वितीय यो न पश्यति।।

मेरी तो यह श्रद्धा है पुण्य से या उसके फलसे शान्ति लाभ नहीं।

अलमथेन का मने कामेन कुकृतेनापि कर्म्मणा।

एभ्यः संसारिकान्तारि न प्रशान्तमभूत्मनः।।

कारण है जो सेठ को भी एकान्तवास करना ही पड़ा—संसार में सबसे महान् पुरुष तीर्थकरों को ही यह सर्व त्यागना ही पड़ा। शेषा में जैसे थे वैसे हो गये।

का० ब० ४ से २००९

आ० शु०

चिं०

गुणोशवर्णी

पुज्यश्री मनोहर जी वर्णी महाराज ने भी अनेक महानुभावोंको पत्र लिखे, जिनके पढ़ने से विदित होता है कि आपकी दृष्टिमें प्रतिक्षण भेदविज्ञान और आत्मोपासना इन दो तत्वों का ही महत्व रहा, देखिये एक पत्र—

श्रीमान ब्र० बाबा जो जीवानन्द जी सदर इच्छाकार।

परंच – आपका पत्र आया। आपका स्वाथ्य अच्छा हों गया, यह जानकर प्रसन्नता हुई। दुनियाके कण कण से सर्व आत्माओं से भिन्न अपने आपको

चैतन्यमय अनुभव करके निराकुल रहिये। आप स्वयं सत् है, अविनाशी है, चैतन्यस्वभावी आनन्दमय हैं, किसी चिंताको स्थान ही नहीं। परपरणति से अपना सुधार नहीं, अपने में रत न होने का प्रयत्न होना चाहिए। ब्र० विवेकानंद जी ब्र० जयानंदजी का इच्छाकार—

इंदौर

आ० शु० चि०

26.5.53

मनोहर

होनहार नवयुवको के प्रति आपका कितना सम्बोधन बना रहता था इसकी भी झलक रक पत्र से कीजियं—

श्रीयुत भैया रतन—योग्यधर्मवृद्धि—

परैच—आपका पत्र आया। मनुष्यजीवनमें वाल्यावस्था में ही सज्ज्ञानपूर्वक धर्मसंस्कार दृढ़ होना सुभवितव्यका सूचक है। कुछ भी विवकेशालियों को बुद्धि बुद्धावस्था में होती है उस बुद्धिका बहुत पहिले हो हो जाना सच्ची सावधानी है। आत्मा तो एकाकी है। अपने को एकाकी समझना, गेही पैगृह में न रचे ज्यों जल में भिन्न कमल है की चरितार्थताका मूल है—ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जो क्रोध अपमानके प्रसंग आने पर भी क्षोभ न आवे। यदि कुछ मनमें क्षोभ आ भी जाये तो वचनों से प्रदर्शित नहीं करे, क्योंकि भीतरी बात तो 2 मिनट बाद ही अपने को समझकर अलग की जा सकती है। प्रदर्शन से क्षोभ का तांता बढ़ जाता है। आप सुबोध पुरुष हैं।

इन्दौर

आ० शु० चि०

7.10.52

मनोहर

एक पत्र द्वारा यह विशद विदित होता है कि आप अपने भक्त शिष्यों के प्रति उद्धकार का कैसा भाव रखते थे और भक्तजन किस तरह उनकी शिक्षाओं से स्वयं के लिए लाभ लेते थे।

मैया मूलचन्द—

करना ही क्या शेष है संसार में सार व हित हो—आत्मा की भलाई इसी में है जो परवस्तु आशा करे ही नहीं तथा परवस्तु का समागम भी कम से कम रखे—आप 1 या 2 घटा समय परोपकार में 'जिसमें आपका उपकार स्वयं है' लगाते रहोंसब संयोग क्षणमगुर है। प्रत्येक आत्मा अपने कषाय की चेष्टा करता हुआ जीवन व्यतीत कर रहा है—पर उसे न कुछ हानि लाभ हो रहा मगर विकल्प से अपने सुख की हत्या कर रहा है।

मनुष्य में सबसे बड़ा रोग है यश प्रतिष्ठा चाहने का। ज्ञानी पुरुष न तो प्रतिष्ठा चाहता न अपयश अप्रतिष्ठामें घबड़ाता—ज्ञानी मो अपने अविकार स्वभाव के लक्ष्य से अपना अवनयन और स्वरूप से च्युत होने में अवनयन समझता है। जिनके लिए हम अहनिंश चिन्ता करते वे क्या कर देंगे ? यदि आपको कुछ मिलने की आशा हो तो बतायें। मेरी श्रद्धा में तो कोई पर पदार्थ कुछ भी देने में समर्थ नहीं है। बाह्य तो बाह्य ही रहता।

शिमला

आ० शु० चि०

5.6.1952

मनोहर

31. स्योत्रपाठ पुंज

पूज्य श्री मनोहर जी सहजानन्द जी वर्णी महाराजने संस्कृत भाषा में अनेक सतोत्र और पाठों की रचना की है जिसका संग्रह इस पुस्तक में है। सर्वप्रथम सहजसिद्ध—सहस्त्रनामस्तोत्र मुद्रित है। इस 1008 आत्मा के ऐसे नाम दिये गये हैं जिन नामों के व्युत्पत्त्यथ के परिज्ञान से आत्मा का अलौकिक परिचय प्राप्त होता है। इस पुस्तक के नाम से ही परिज्ञान होता है कि इसमें अनादि अनन्त अहेतुक सहजसिद्ध ज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्व का नामों द्वारा स्तवने किया गया है। इसमें कुछ श्लोक 135 एवं आशस्ति के 2 इस प्रकार 137 श्लोक हैं। इसका परिचय कराने के लिए जब उद्यत होते हैं तो ऐसा लगता है कि इसके सारे श्लोक उद्धृत करना चाहिए। किन्तु किंचित परिचय कराने के उद्देश्य से निर्मित इस "सहजानन्दसाहित्यज्योति" में अविशयम करके प्रत्येक दशकका आदिम श्लोक दे रहे हैं।

सहजाः सहजानन्दः सच्चिदानन्द ईश्वरः ।

सदाशियः स्वयंसिद्धः परमः पारिणामिकः ॥1-1॥

चैतन्य सहजज्ञानं चिच्चसत्कारमात्रकम् ।

अन्तः प्रकाशमानं चिज्ज्योतीरूपं चिदात्मक ॥2-1॥

गुणपु जोअव्यवीभावः शिवशंकरदृष्टिदः ।

स्वचतुष्टमात्रः श्री—गर्भोधाता परो वृषः ॥3-1॥

अनन्तः परमानन्दो निःसंकल्पो निराश्रवः ।

शुद्धः शुद्धात्मतत्व च शुद्धजीवास्तिकायकः ।

शुद्धात्मद्रव्यभाषणोः शुद्धजीवपदार्थकः ॥5-1॥

धर्मः धर्माकरो धर्मी धर्मात्मा धर्मनायकः ॥6-1॥

रामः सवजसज्ञानी द्विपादश्च स्वयंप्रभुः।

परः शिवमयः सूक्ष्मो भवदाहहरो हरः ॥7-1॥

महेशो विभवो भास्वात् वषेशो जित शासनः।

त्रेयोमयो विदेहश्च वीरो धीरः सनातनः ॥8-1॥

चिन्मयः सुगतः स्वामी वीराराध्यः सदाद्युतिः।

उत्तमार्थः प्रसन्नस्वोअक्षय्यो जय्यः पराकमी ॥9-1॥

सुहितः श्रीनिवासश्च प्राकृतोअसस्कृतोअहतः।

सुसंस्कृत स्वसवेद्यो योगेन्द्रोअजानउत्तमः ॥10-1॥

स्तोत्रपाठपु जमें दूसरा पाठ है अध्यात्मसूत्र। इसके सम्बन्ध में 37-38 वें नम्बरमें अध्यात्म सूत्र की सचीक्षा में उसके विषय में कुछ उद्धरण दिये हुए हैं।

स्तोत्रपाठपुज में तीसरा पाठ सहजानन्द गीता है उसके 2 नं0 सहजानन्द गीता में कुछ उद्धरण दिए हुए हैं।

स्तोत्रपाठपुज में चौथा पाठ तत्वसूत्र का है इसके उद्धरण तत्वसूत्रसार्थक समीक्षण में दिये जावेंगे।

स्तोत्रपाठपुज में पांचवा पाठ सहजपरमात्मतत्वाष्टक स्तोत्रका है। इसमें कारणसमयसार अपरमान सहजपरमात्मतत्व का स्तवन है, इसके 9 छन्द हैं। उनमें 8 छन्दों का चरम चरण "शुद्ध चिदस्मि सहजं परमात्मतत्व" है। 9 वें छन्द में उसके पाने की विधि है। सभी का अर्थ मर्ममुमुक्षुके लिए बड़ा उपयोगी है। इसके एक छन्द का भाव अतरंग में देखिये—

भिन्न समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्ण सनातन मनन्तमखण्डमेकम्।

निक्षेयमाननयसर्व विकल्पदूर शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्वम् ॥

जो समस्त परपदार्थों व समस्त परभावों से भिन्न है, पूर्ण है, सनातन, है असीम व अविनाशी है, अखण्ड है, एक है, निक्षेप प्रमाण नय सर्व विकल्पों से अतीत है ऐसा में शुद्ध चैतन्य सहज परमात्मतत्व हूँ।

स्तोत्रपाठपुज में छटा पाठ चित्संस्तवनस्तोत्र का है। इसमें 5 छन्द है। सभी छन्दों का चरम चरण है। “प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम्” इस स्तोत्र में भी कारणपरमात्मतत्त्व चिच्चमत्कारमय अन्तस्तत्को उपासना की गई है। इसके एक छन्द का मर्म अंतरग में निरखिये—

परिणामगतं परिणभरह, परिणामभवं पिरणामयुतम।

उपपादविनाशविकल्परहं प्रभजामि शिव चिदिदै सहजम् ॥

जो पर्यायों में गत है, पर्यायों से रहित है, पर्यायों में रहता है, पर्यायों से युक्त है और उत्पाद विनाश के विकल्प से रहित है ऐसा इस शिवस्वरूप सहज चैतन्यभावकों में प्रकृष्टरूप से भजता हूँ।

स्तोत्रपाठपुजमें 7 वां पाठ है ब्रह्मचर्यशितिका। इसमें 80 विशयणों से ब्रह्मचर्य की भक्ति की गई हैं।

इसके पहिले के कुछ स्लोक देखिये।

ब्रह्मचर्य पर दानं, ब्रह्मचर्य परं महः ॥

ब्रह्मचर्य पर ज्ञानं, ब्रह्मचर्य परं हितम्।

ब्रह्मचर्य पर यानं, ब्रह्मचर्य पर हितम्।

ब्रह्मचर्य पर ध्यानं, ब्रह्मचर्य परं सुखम् ॥

ब्रह्मचर्य परं तेजः ब्रह्मचर्य परं बलम्।

ब्रह्मचर्य पर श्रेयः ब्रह्मचर्य परं फलम् ॥

32. आत्मकीर्तन

क्षुल्लक ब्रत लेने के बाद पूज्य श्री मनोहर जी सहजानन्द जी वर्णी महाराज का प्रथम चातुर्मास सन् 1046 में मुज्फ्फरनगर में हुआ। आप प्रतिदिन प्रातः प्रयर्टन के बाद कुछ आसनों का प्रयोग किया करते थे। उन दिनों में स्रसवण नदी 1 के बाद आसनप्रयोग के मध्य आत्मकीर्तन बनाते जाते थे और लिखते जाते थे। इस आत्मकीर्तन की टेक व प्रथम छन्द 1947 में सहारनपुर गुरुकुल के क्षात्रों की झंडाभिवादन के समय की प्रार्थना के रूप में बनाया था, किन्तु तबसे इसका बनाना स्थगित रहा। अचानक ही एक दिन ऐसी धुन बनी कि यह आत्मकीर्तन पूर्ण और भावपूर्ण बन गया।

आत्मकीर्तन

हूं स्वतंत्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता दृष्टा आत्मराम ॥टेक॥
 मैं वह हूं जो हैं भगवान । जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
 अन्तर यही उपरी जान । वे विराग यहं रावितान ॥1॥
 मम स्वरूप है सद्धि समान । अमि शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
 किन्तु बावशवश खोया ज्ञान । बना भिखारी निण्ट अजान ॥2॥
 सुख दुःख दाता कोइ न आन । मोह राग रूष दुखकी खन ।
 निजको निज परकों पर जान । फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥3॥
 जिन शिव ईश्वर ब्रहमा राम । विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
 राग त्यागी पहुँचूं निज धाम । आकुलता फिर क्या काम ॥4॥
 होता स्वयं जगत परिणाम मैं जगका करता क्या काम ।
 दूर हटो परकृत परिणाम । सहजानन्द रहूं अभिराम ॥5॥

इस आत्मकीर्तन को अनेक धर्मप्रेमी लोग निम्नांकित अवसरोंपर पाठ और मनन किया करते हैं। बहुत गम्भीरता से पाठ पढ़ने पर स्वयं विदित हो जाता है कि आत्मकल्याण के लिए जिन जिन ज्ञानकिरणों की आवश्यकता है उन सबका संक्षेप में समावेश इस आत्मकीर्तन के अन्तर्गत है। इस आत्मकीर्तन का निम्नसांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियों में भारत में अनेक स्थानों पर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिये—

1. शास्त्रसभा के अनन्तर या दो शास्त्रों के प्रवचन के बीच में श्रोताओं द्वारा सामूहिक रूप में ।
2. जाप, सामायिक, प्रतिक्रमण के अवसर में ।
3. पाठशाला, शिक्षासदन, गुरुकुल, व विद्यालय लगने के समय में छात्रों द्वारा ।
4. सूर्योदय से एक घण्टा पहिले परिवार में एकत्र एकत्रित बालक बालिका महिला पुरुषो द्वारा ।
5. प्रातः सामायिक से पहिले या पश्चात् आश्रमों में आश्रमवासियों द्वारा ।
6. प्रातः सामायिक के बाद श्री साधुब्रतियों द्वारा ।

7. किसी भी विपत्ति के समय या अन्य शान्ति के अर्थ स्वरूचि के अनुसार किसी अर्ध चौपाई या पूर्ण छन्द का पाठ शान्ति प्रेमी बन्धुओं द्वारा।

भारतप्रसिद्ध आत्मकीर्तन की उपयोगिता आत्मकीर्तन निर्माण के अनन्तर एक दो वर्ष में ही इतनी उत्कट हो गई थी कि करीब 50 हजार बड़े कार्डों में प्रकाशित होकर अनेक स्थानों पर वितरित हो गये। सन् 1952 में आत्मकीर्तन का अंगलिश अनुवाद बा० महेशचन्द्रजी एम० ए० जनरलिष्ट लंदन ने किया। अनुवाद के शब्दों में आत्मकीर्तन की उपयोगिता निहारिये इस आत्मकीर्तन में जो प्रथम ही प्रथम टेक के रूप में पंक्ति बनी है उसका शब्दार्थ संक्षेप में लिखित है, जिसे पढ़कर एक कान्ति पाइये—

TRANSLATOR'S PREFACE

We see and haer innumerable congregational prayers hymns and psalms. Invariably the central them of them all is firstly the praise of an All Mighty God, Father of the World, and fountain of filial love for the devotees (Bhaktas) and secondly an entreaty of supplication to the effecr. “Thou; art the creator of the Universe; the Deliverer of the iness and misery and the Idol of Mercy for the lowly. Do take pity on my indigenee and degraded state also and deliver me too in thy great mercy” -----etc

But there is no directive whatever for one's own soul in these psalms or hymns.

In this sphere, “ the Psalm of the soul” by our learned spiritual sage Shri 105 Kshullk Manohar Ji Varni Sahjanand Maharaj, is an absolutely unique. In this hymn, the singer addresses his own soul in comparison to an Exteral Infinite power or God. He sings the former's praises, and establishes the similarity of the self's natural characteristics with the

supreme Being. Not recognizing any outside force as the maker of the world, the Bestower of pleasure and pain ect, he invokes not Its mercy or generosity nor entertains a hope or wish. But on the contrary, taking the very existence of all emations. passions. prejudices, and cravings to be a disease and ending their very birth in his soul, he wants to meditate and repose in the real nature of his self.

THE PSALM OF THE SOUL

Constant! Wishless! Absolute! Free. Knower! Seer! Soul is Me.

(1)

I am what Supreme being is;
what myself is that God is;
With this sole apparent difference.
Here-“Passions”. there-“Indifference”

(2)

MY real self like siddhas is:
Inffnite power! Knowledge! and Bliss!
Losing Knowledge, being aspirant.
I am left a beggar – ignorant.

(3)

None else bestows pain and pleasure.
Love’ and ‘Anger, are grief’s treasure.
“self” from “None-Self” distinguish.

(4)

Whose name Buddha, Rama, Ishwar, Jina,
Brahma Vishnu, Hari, or Shiva, -
Leaving passions, reach “the Goal”
No distress then in the Soul.

(5)

World does function by itself.
What work of it does myself?
Alien influence ! Do get away !
In Bliss for-e’er may I stay !!

Note:- The opening two lines are to be recited after every stanza.

मैं आत्मा जिसमें न रूप है, न रस है, न गंध है, न स्पर्श, तथा जो अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा, शरीर से भी जुदा है, इन्द्रियों से जानने में नहीं आत्मा, परन्तु अपने ही सहज ज्ञान द्वारा अनुभव में आता है, ऐसा मैं आत्मा स्वतंत्र हूँ। अर्थात् किसी के आधीन मेरा परिणाम, सुख दुःख आदि नहीं है। अपनी ही करनी करता और उसका फल भोगता तथा स्वयं अपने स्वरूपमें स्थित होकर मुक्त होऊंगा।

निश्चय हूँ—अनादि से लेकर अब तक कितने ही भावों में भटका, कितने ही कषायों से दवा तथापि मेरा चैतन्यरूप चलायमान यहीं हुआ, मैं अचेतन नहीं हुआ, और निश्चल ही रहूंगा।

निष्काम हूँ—काम, कामना, इच्छा से रहित चैतन्यस्वभावी हूँ।

ऐसा मैं आत्मा ज्ञाता द्रष्टा हूँ—जानने देखने स्वभाव वाला हूँ।

आत्मकीर्तन के प्रथम छन्द में जो उपरी अन्तर कहा गया है उसका भाव देखिये लेखक के ही शब्दों में—

यह अन्तर उपरी है, क्योंकि स्वभाव में भेद नहीं। यदि राग मेरे स्वभाव में आ जाय तथा रागदि कभी हट नहीं सकते, फिर धर्म तप, ब्रत सब व्यर्थ हो जायेंगे और आत्मा के उत्थान का मार्ग ही न रहेगा—

आत्मकीर्तन के तृतीय छन्द में जो भ्रम को क्लेशदाता बताया है उस भ्रम से क्या प्रभाव पड़ता है और क्लेश होता है इसका दिग्दर्शन लेखक के शब्दों में ही कीजिये—

वास्तव में यह भ्रम ही क्लेश बढ़ाता है कि मुझ सुख और दुःख का देने वाला कोई दूसरा पदार्थ है और मैं दूसरों को सुख दुःख देने वाला हूँ क्योंकि इन भावों में दीनता और अहंकार भरा हुआ है जो आकुलता करता है। इस भावको समाप्त करे अपने व जगज के स्वरूप को ठीक समझो।

छन्द नं० 4 अर्थ में किन किन संक्षिप्त शब्दों में भक्ति और शान्तिपूर्ण भाव भरा है इसका आस्वादन लेकर आनन्द तो अभी ही लेना चाहिये।

जिन अर्थात् जिन्होंने रागद्वैषादि कषायों को जीत लिया है, शिव—जो स्वयं सुख स्वरूप है, ईश्वर —जो स्वयं अपनी अवस्थाओं को करने में प्रभु है, राम — जिस स्वरूपमें योगीजन रमण करते हैं, विष्णु —जो अपनी ज्ञानक्रिया से सर्वत्र व्यापक है, बुद्ध—जो सर्वज्ञाता है, हरि — जिसने अपामलको हर लिया है, ये सब जिसके नाम हैं ऐसे आत्मस्वभाव में यदि परविषयक रागदि छोंड़कर मैं पहुँचूँ फिर उस दशा में आकुलता का क्या काम है अर्थात् वहाँ आकुलता नहीं रहती।

इस पुस्तिका में अपने आत्मा से स्वयं ने ही हितमयी बातचीत की है, जिसको भावपूर्वक हृदय में उतारने से कल्याणका मार्ग प्राप्त होता है। इसका इंग्लिश अनुवाद भी होचुका है। जरा अनुबादक के शब्दों में इसकी उपयोगिता का दिग्दर्शन कीजिये— पेज०-1,2,3.

34 —अपनी बातचीत

TRANSLATOR'S PREFACE

Every soul in the world wants happiness but happiness is of two kinds. One is that glimpse of pleasure or satisfaction which one feels in the fulfilment of the demands of the body or the senses. And the other is that happiness and peace which is experienced in 'the soul on the annihilation of desires by the recognition of the self from the non-self.

Considering carefully, from the ordinary needs like food and drink for hunger and thirst, clothes to cover the

body, and space to shelter, down to all the small and big external paraphernalia of the world, everything really panders to the comforts of the senses. The progress of the materialistic Western Civilisation itself consists in the discovery, manufacture and supply of these limitless objects. The inner voice of the soul has been suppressed by the loud cries of the body. But the end of desires is not yet in sight. Like the musk-deer running hither and thither in pursuit of scent, this world outside all the 24 hours. we are spending all our time thinking of the body, the wife, the son. the friend, the wealth and such other things, which to-day or to-morrow are bound to separate from us. We never talk to our soul; never ask what it wants. what its history is? What its real nature is like? What its needs or demands are? and in what its salvation lies? How then can happiness be found?

For the salvation of the tired afflicted world. our respected spiritual saint shri 105 Kshullak Manohar Ji Varni, Sahjanand Maharaj has by his pamphlet. "Talk to self" turned our attention inwards. An English translation of this very pamphlet I am presenting here for the benefit of non Hindi readers.

वस्तुस्वरूपके सम्यक अबबोध के बिना शान्ति प्राप्त करना असम्भव है। अतः प्रत्येक कल्याणार्थी का कर्तव्य है कि वस्तुस्वरूप के सम्यक ज्ञान के लिए पुरुषार्थ करे। वस्तुस्वरूप के बोधका विषय विशाल और गहन है, किन्तु पाठको का यह सौभाग्य है कि पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी महाराज ने केवल 22 वाक्यों में सर्वांग सुन्दर विवेचन करके पाठकों को बड़ी राहत दी है। उसका भी इंगलिश अनुवाद हो चुका है। जरा अनुवाद के शब्दों में इसकी उपयोगिता का भान कीजिये— पेज न0 1, 2, 3

35 वास्तविकता

TRANSLATOR'S PREFACE

Secular education has had a baneful influence on people. They have embraced the principle only of “Eat, drink, and be merry” Their on thought is to collect and store. That there is also something called the Alman (Soul) the self after death is a thing beyond their comprehension. Heaven and Hell, whatever there are, are here, on earth for them. In the fulfillment of their desires, they see the progress of civilization. and the result of all this before us is that there is so much misery and anguish in the world. people living aloof from the company of saints have from the very beginning been searching for happingess in materialism. But that happiness has not been found to this day. How can it, when it is not there? Now for sometime recently, their eyes have turned to see where happiness does really lie.

Our Spiritual Saint, Recered Shri 105 Kshullak Manohar Ji Varni, Sahajenand Maharaj. who, as a result of his untiring efforts in investigating brilliant ideas. From time to time, My present attempt is a translation of these 22 selected ideas into English for the benefit of the westorn Civilisation. with full confidence that these ideas will be of true help to seekers of –

“Reality Knowledge-and Bliss.”

प्रस्तुत पुस्तक सामाजिक पाठमें पूज्य श्री मनोहर जी सहजानन्द जी वर्णी महाराज ने सामायिक करने की उत्तम विधि संक्षेप में बताया है। उन्होंने बताया है कि प्रतिदिन सामायिक करना मानवका प्रथम कर्तव्य है। सामायिकका अर्थ है समता। मानव में संसार के समस्त प्राणियों के प्रति समता का भाव हो। किसी में राग, किसी को इष्ट, किसी को अनष्टि, किसी में हर्ष, किसी में विषाद आदि के भाव न जागृत हों। हर स्थितियों में समताका परिणाम रहे, ऐसा मानव ही एक सच्चा मानव है। समता अथवा सामायिक क्या है? प्रतिदिन सामायिक करना मानव को क्यों आवश्यक हैं? समता के परिणाम जागृत करने के लिए मानव को केसा उद्यम करना चाहिए आदि बातों का संक्षिप्त

विवरण मूलचन्द जी जैन एम० ए० पी० डी० मुज्जफ्फरनगर के शब्दों में देखिये—

36. सामायिक पाठ

सामायिक क्यों? —जिस समय हमारे उपर कोई विपत्ति आती है तो हम घबड़ा उठते हैं, रोने लगते हैं, बिल्लाने लगते हैं, परन्तु जिस समय वही विपत्ति नष्ट हो जाती है और पुण्य के उदय से कुछ वैभव, कुछ यश की प्राप्ति हो जाती है तो फूले नहीं समाते, अकड़-अकड़ कर चलते हैं और उपने सामने किसी को भी कुछ नहीं समझते। दुःख सुख में इस प्रकार के परिणाम न करना अर्थात् विपत्ति आने पर अपने को दुःखी और सम्पत्ति प्राप्त होने पर अपने को सुखी न अनुभव करना हो समता कहलाती है। इसी को दूसरे शब्दों में हम सामायिक भी कह सकते हैं। यूँ तो हर समय ही हमारे समता परिणाम रहना चाहिए, परन्तु चौबीसो घंटे दुनियादारी के चक्कर में हम इतने फंसे हुए हैं कि यह मार्ग सुझाया है कि चौबीसो घंटे नहीं तो कम से कम दिन में तीन बार, प्रातः, मध्याह और सायं, और यदि इतना नहीं तो कम से कम एक बार हम अवश्य ही उस रूप अपने परिणाम बनाने का प्रयत्न करें। वैसे तो समतारूप परिणामों के बनाने के लिए किसी प्रकार के विशेष नियमों की आवश्यकता कहीं कि इस प्रकार ही बैठो, इतनी ही देर बैठा, ये ये ही विचार करो, परन्तु फिर भी एक नियम सा बना दिया गया है सामायिक करने का, जो हमारे उस रूप परिणाम बनने में सहकारी कारण होता है। परन्तु हम सामायिक की क्रिया तो उसी समय के ठीक अनुसार करते रहें और कुछ अंशों में भी हमारे अन्दर समता न आये तो वह तो केवल समय समय की इति करना ही है, सामायिक करना नहीं है।

कुछ ऐसा भी विचार सुनने में आते हैं कि सामायिक करके करे क्या? क्योंकि मन तो इधर उधर हो भागा फिरा करता है। इस कठिनाई का अनुभव करते हुए हमारे उपर करुणबुद्धि करे हमारे आध्यात्मिक सत शान्ति मूर्ति परम पूज्य श्री 105 क्षु० पूज्य श्री मनोहर जी सहजानन्द जी वर्णी महाराजने बहुत ही अनोखे ढंगसे सामायिक पाठ की रचना की है, जिसको यदि हम रूचि पूर्वक बहुत धीरे धीरे पढ़े तो में दृढ़ विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मन अवश्य स्थिर होगा। उस में जो “शुद्ध चिदपोह” का जाप दिया गया है वह तो बडत्रा ही अनुपम है, क्योंकि मनको एकाय करने का एक मात्र उपाय यही तो है कि अपने को एकाकी, स्वतंत्र, शुद्ध, ज्ञान स्वभावी चैतन्यमात्र हो अनुभव करें। ऐसा स्वयमेव ही परपदार्थों से रागद्वेष हटेगा और समता प्रकट होगी जो कि हमारा ध्येय है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक पूज्य श्री मनोहर जी सहजानन्द जी वर्णी महाराजने शब्दों में देखिये—उन्होंने अपने थोंड़ेसे शब्दों में बताया कि मैं सामायिक क्यों करूंगा और किसप्रकार से करूंगा? उनके वे शब्द इस प्रकार है—

हे भगवान, मैं सहज ही अनन्त ज्ञान सुख स्वभावी हूं परन्तु अपनी ही बुद्धिके दोष से रागद्वेष करके आकुलित हुआ हूं। अब अपने विभावों की निवृत्ति के अर्थ सामायिक करूंगा, सो मैं सामायिक के समय तक आरम्भ परिग्रह के विकल्पों को छोड़ता हूं।

सामायिक पाठसे लेखकने सर्वप्रथम अरहंत सिद्धका स्मरण करके सर्वप्रकार के बाल विकल्पों का परित्याग करने का दृढ़ संकल्प किया है, जब सब प्रकार के बाल विलत्प दूर हुए तो प्रथम बारह भावनाओंका क्रमशः चिन्तवन करना प्रारम्भ किया है। इन बाह्य भावनाओं के चिन्तवन से संसारकी असारता का दिग्दर्शन हुआ, एक निज परमात्मतत्व के अतिरिक्त समस्त पर पदार्थ उपेक्षनीय प्रतीत हुए। अरहंत सिद्ध के स्वरूपका बार बार स्मरण करते हुए अपने आत्मस्वरूपके चिन्तवन में लवलीन हुए। आलोचना पाठके समय अपने किये गये मन, वचन करते हुए अपने कार्यकृत दोषों का आलोचना प्रभु से करने में रते हुए। पूज्य श्री का यह आलोचना पाठ इस सामायिक पाठ के अन्तर्गत बड़ा महत्व रखना है। आलोचना पाठ करते हुए मैं अपने द्वारा किये गये अपराधों का एवं भूलों का पछतावा लेखक महेदय ने बड़े मार्मिक शब्दों में किया है। उन समस्त प्रकार की आलोचननों का दिग्दर्शन उनके ही द्वारा लिखित: इस नीचे आये हुए आलोचना पाठसे कीजिए—

आलोचना

तनको प्रभु आतम मानानहिं भिन्न भिन्न पहिचाना ॥

रागदिभाव जिन माना। निज सहजस्वभाव भुलाना ॥1॥

अब कछु पहिचान भई है। पर वासन नाहिं मिटटी है।

परिजन निज मानत हारा। आरम्भ परिग्रह धारा ॥2॥

निज यश की चाह बढ़ाई परसों हितदृष्टि बनाई।

हा जगमें कौन सहाईसब स्वारथके हैं भाई ॥3॥

विषयनि रचि पाप कमाया। थाबर त्रस भी न बचाया।

तन अहित घिनावन भाषा। बहुबिध अभक्ष्य भी खाया ॥4॥

निश भोजन किया व राया । बिन छनजल पिया पिलाया ।

नहिं रखा न्याय व्यवहारा । ईर्ष्यावश अहित विचारा ॥5॥

परदोषदृष्टि की भारी । निज भूल न रंच विचारी ।

अधपूर्ण विकल्प अनन्ता । कीने भ्रमवश भगवैता ॥6॥

दुष्कृत मिथ्या हो स्वामी । फिर नहिं हो अन्तर्यामी ।

नहिं रच विकल्प करूं मैं । नित सहजानन्द रहूं ॥7॥

दोहा—वीतराग सर्वज्ञतुम निज निज सहजानन्द ।

ध्यान शरण गहि सहज लखि मैटूं भवदुख द्वंद ॥1॥

इस सामायिक पाठके अन्तर्गत क्षमा पाठ तो पाठकों की बड़ी ही मार्मिक प्रेरणायें दे रहा है। लेखक महोदय ने अपनी इन रचनाओं में गागर में सागर भर दिया है। रचनायें देखने में छोटी ही प्रतीत होती है परन्तु भावुकता से परिपूर्ण हैं। मानव के अन्दर क्षमा गुण का होना उसके लिए एक भूषण है। किसी कविने कहा है कि 'क्षमा बड़ेन को चाहिये, छोटेन को अपराध' अर्थात् अपराधी हों तो छोटे व्यक्ति हों, जो बड़े व्यक्ति हों, उनके अन्दर तो क्षमा गुण का समावेश होना ही चाहिए। हम आप सभी से इस जीवन में अनेक प्रकार के दोष बनते ही रहते हैं। ज्ञानीजन अपने किए हुए दोषों पर बड़ा पछतावा करते हैं। कदाचित् उनके द्वारा किसी को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचा हो तो वे उससे क्षमा मांगते हैं। सामायिक पाठ के अन्दर अर्थात् समता परिणाम की भावनायें भाते समय ज्ञानीजन प्राणीमात्र के प्रति समता का भाव अपने हृदय में धारण करते हैं। उनके अन्दर रागद्वेषादिक विभावोंकी तरंगे नहीं उठने पातीं, प्राणिमात्र से ऐसी क्षमा मांगते हैं कि मेरे द्वारा कभी भी किसी प्रकार का यदि कष्ट पहुंचा हो तो क्षमा करना। इन समस्त बातों का चित्रण नीचे लिखे पद्यखण्ड में लेखक ने अपनी रचनाओं में कितना मार्मिक किया है उसका दिग्दर्शन कीजिये—

क्षमा—

मां मन वच तन, योग सू जिनकूं जो जो कष्ट भयो है ।

सर्व क्षमों मुझकूं मम सब सौं समताभाव जग्यो है ॥

हम तुम सब आनन्दसदन पर यह क्या राग बन्यो है ।

क्षण संयोग में रागविरोध से निज निज अहित किया है ॥1॥

निज निज कर्त उद्यवश सबकी निज निज परिणति होती ।

दुःख दिया इसने अथवा मैं दुःख दउं मति थोती ॥

अब सब भ्रम की बात भुलाकर पावो निजातम ज्योति ।

मैं भी सर्व विकल्प हटाकर पाउं सहज सुख ज्योती ॥2॥

प्रस्तुत पुस्तक सामायिक पाठ में लेखक ने अपने समता नामक पद्यखण्ड में बड़ी बड़ी भावुकता अपनी संक्षिप्त रचनामें भर दी है । प्रस्तुत रचना में बताया है कि मेरे अन्दर समता का गुण प्रकट हो, इसके लिए चाहे कितनी ही तिलांजलियां करनी पड़ें । इस समताभाव की प्राप्ति के बिना ही यह जीव संसार में रूल रहा है । इस समता की दशा में । अतः अज्ञानदशाको मेटकर अपना भ्रम दूर करें, ममता डाइन से बचकर समता की शरण गहें । यही हमारे लिए कल्याणकारी बात है । इस सामायिक पाठके अन्तर्गत लेखक ने अपने संक्षिप्त शब्दों में जो समता की झांकी दर्शाया है उसका दिग्दर्शन नीचे अवतरित कुछ शब्दों द्वारा कीजिये—

पुण्य पाप फल, संपद विपदा, दोउ अहित आकुलता ॥

राग विरोध बन्धु रिपु गृह कल्पन सारी जड़ता ॥

मैं चित्पिण्ड सहजसुखसागर अलख, नहीं मम ममता ॥1॥

समताबिन भव मांहि रूल्या हूं, समता बिन बंधन था ।

समता बिन भारी व्याकुल था, समता बिन अशरण था ॥

अब जाना यह सर्व पदाग्थ निज निज भाव बसा है ।

मैं न किसी का कोई न मेरा, यह ध्रुव सत्य लखा है ॥2॥

भोग न भोगन हो हठ करते मैं भी न उनमें जाता ।

अब सब विकल्प दूर हटाये दूर हटी सब भ्रमता ।

सहजानन्दस्वरूप में रमता, नित्य भजूं में समता ॥3॥

37—38. अध्यात्मसूत्र व सार्थ

पूज्य श्री 105 क्षु0 मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज द्वारा रचित अध्यात्मसूत्र के सम्बन्ध में पूज्य श्री 105 क्षु0 दयासागर जी महाराज लिखते हैं—

अध्यात्मसूत्र, क्या है इसका वर्णन करना कठिन है। अध्यात्मरसिया ही इसे जान सकेगा। प्राचीनकाल के किसी अध्यात्ममर्मज्ञ आचार्यश्रेष्ठकी रचना के समान इसका गम्भीर्य प्रतीत होता है। जैन शास्त्रों में सूत्र साहित्य विपुल नहीं है। सूत्र साहित्य में प्राचीन काल में आचार्य उमास्वामी जी का तत्त्वार्थसूत्र तो अतिविख्यात है, जिसकी विदेशों में भी प्रसिद्ध रहो, परन्तु आज के इस युग में "अध्यात्म सूत्र ने जगत में एक नवीन प्रभाव का सृजन किया है। इसके रचयिता पूज्य श्री 105 क्षु0 मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज को अध्यात्मरसिकों ने अध्यात्मयोगी कहकर सम्बोधा, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

आत्मरसिक भव्यात्मा पाठक इन सूत्रों में निहित अर्थ के गम्भीर अमृतसिन्धु में जैसे ही प्लावन करने लगेगा वैसे ही वह अलोकिक स्वानन्द की झलकको पाने लग जायगा, ऐसा सामर्थ्य इन सूत्रों में भरी हुई है। यह गागर में सागर है, बिन्दु में सिन्धु हैं। अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् गूढं निर्णयः, इस सूत्र लक्षण के अनुसार इसमें से प्रत्येक सूत्र अल्पअक्षरवान्, असन्दिग्ध, सारभूत व गूढ बातों का सम्यक् निर्णयक अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ से भरपूर है, ऐसा नजर आता है। इस पुस्तककी करोड़ों प्रतियां भी वितरित की जायें तो भी कम हैं। इस अध्यात्मसूत्र पर स्वयं रचयिता ही के द्वारा हुए प्रवचन प्रकाश में आ चुके हैं। चिद्रसानन्दका इच्छुक उनके स्वाध्याय की तीव्र इच्छा करेगा ही। अस्तु, आध्यात्मिक जगत की अति सारभूत बातें इस मौलिक ग्रन्थ में निविष्ट हो गयी हैं। यह एक आजीवन अध्यात्मसाधनका अपूर्व दीप है। यह ग्रन्थ दीप निससन्देह निज परमात्माकी उपलब्धि के लिए जागृत हो उठे आत्मसिंहो को अग्रसर करेगा और अनेक सुप्त भव्योंको सम्यग्बोध के जागृति जगत में प्रविष्ट कराकर चिदानन्द विश्व में पहुँचाया। सभी को निज परमात्मा का सुपरिचयकी व उसकी उपलब्धि हों भद्रं भूयात्।

अध्यात्मस्वने क्या साध्य बताया है और उसके साधन क्या हैं? इस लड़ी को प्रथम ही 7 सूत्रों में किस प्रकार पिरोया है इसका मनन कीजिये—

सूत्र—ॐ नमः भुद्धाय ॥१॥

अर्थ—[ॐ] चैतन्यस्वरूपको नमस्कार हो।

सूत्र—निरूपधिस्थितिर्हिता साध्या ॥१—२॥

अर्थ—उपाधिरहित स्थिति अर्थात् परद्रव्य व विभाव के संयोग से रहित अवस्था हितरूप है और साधने योग्य है।

सूत्र—तस्याः साधिका निरूपाधिदृष्टिः ॥१—३॥

अर्थ—उस निरूपाधि स्थिति की साधने वाली निरूपाधिदृष्टि अर्थात् उपाधिरहित स्वभाव की दृष्टि है।

सूत्र—तस्याच्च स्वभाववरभावविकः ।।1-4।।

अर्थ—और उस निरूपाधि दृष्टि का साधक स्वभाव और परभावका विक है।

सूत्र—तस्य च परीक्षा ।।1-5।।

अर्थ—और उस स्वभावपरभावविककी साधिका परीक्षा है।

सूत्र—सा प्रमाणत् ।।1-6।।

अर्थ—वस्तुस्वभावकी परीक्षा प्रमाण से होती है।

सूत्र—तस्यांनिचयव्यवहारनयो ।।1-7।।

अर्थ—प्रमाणके अं दो हैं—1. निचयनय, 2. व्यवहारनय

निमित्त के सम्बन्ध में लोग अनेक प्रकार से चर्चा करते हैं और ऐसी घटना भी बता देते हैं कि देखो यह जीव समवशरण में अनेक बार गया, किन्तु सम्यक्त्व नहीं हुआ, सो निमित्त और आश्रय ऐसे दो कारणों को दिखाकर शकाका ऐसा समाधान किया है जिसे लोग वहां व रचित अन्य ग्रन्थों के प्रकरण देखेंगे तो कभी कुछ शंका न रहेगी और तथ्य का पता लगेगा। वास्तव में आश्रय कारण का नियम नहीं है कि उसके होने पर उपादान में कार्य हो ही हो। देखिये संकेत—

सूत्र—आश्रयनिमित्तोभयसम्बन्धका उपचरितानुपचरितासद्भूतव्यवहारा अशुद्धशुद्धपरमशुद्धनिरपेक्षशुद्धविरूपकाश्चेति ।।1-22.

अर्थ — 1. आश्रयसम्बन्धक, 2. निमित्तसम्बन्ध, 3. उभयसम्बन्धक, 4. उपचारितासद्भूतव्यवहार, 5. अनुपचरितासद्भूतव्यवहार, 6. उपचरितसद्भूतव्यवहार, 7. अनुपचरितसद्भूतव्यवहार, 8. अशुद्ध निश्चयनिरूपक, 9. शुद्धनिश्चयननिरूपक, 10. परमशुद्धनिश्चयननिरूपक, 11. निरपेक्षशुद्धप्ररूपक।

सूत्र—गृहदयो रागादेराश्रयाः ।।1-23

अर्थ—गृह, धन, चित्र, आदिक रागदि भावके आश्रयभूत हैं।

सूत्र—द्रव्यकर्म निमित्तम् ।।1-24

अर्थ—द्रव्यकर्म उपादानका परिचायक संक्षिप्त लक्षण देखिये—

सूत्र—अत्यन्ताभाववदन्वयव्यतिरेकसम्बन्धावच्छिन्नानीतरागिनिमित्तानि ।।2-16।।

अर्थ—अत्यन्ताभाव वाले व अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध से युक्त इतर पदार्थ पिमित्तमात्र हैं ।

सूत्र—यस्मिन् सत्येक परिगतिः सोअन्वयः ।।2-17।।

अर्थ—जिसके उपस्थित होन पर ही उपादान में परिणति हो उनका वह सम्बन्ध अन्वयसम्बन्ध है । सूत्र—नासति व्यतिरेकः ।।2-18।।

अर्थ—जिसके उपस्थित न होने पर उपादान में परिणति न हो उनका वह सम्बन्ध व्यतिरेक सम्बन्ध है ।

सूत्र—विवक्षितं परिणममानमुपादानम् ।।2-19।।

अर्थ—परिणमता हुआ विवक्षित पदार्थ उपादान कहलाता है ।

निमित्त और नैमित्तिक कार्य के सम्बन्ध में कैसी प्राकृतिक व्यवस्था का चित्रण किया गया है इसे तृतीय अध्यायके छठवें व सातवें सूत्र में देखिये—

सूत्र—निमित्तं प्राप्योपादानं स्वप्रभाववत् ।।6।।3-6।।

अर्थ—निमित्त को पाकर उपादान अपने प्रभाव वाला है ।

सूत्र—एष परिणाममानद्रव्य स्वभावः ।।3-7।।

अर्थ—यह परिणामते हुए द्रव्य का स्वभाव है कि निमित्त को पाकर उपादान अपने प्रभाव वाला होता है ।

आश्रव, बन्ध, संबन्ध, निर्जरा व मोक्ष ये 5 तत्व जीवरूप व अजीवरूपके भेदसे 2-2 प्रकार के हैं । उन दोनों प्रकार के आश्रव आदि तत्वों में लक्षण घटित हो जाये ऐसी पद्धति के लक्षण देखिए और घटित कीजिए—

सूत्र—विकारस्रवण मास्रवः ।।4-11

अर्थ—विकार के आने को आस्रव कहते हैं ।

सूत्र—स्वभावच्युतिबंध ।।4-12

अर्थ—अपने स्वभावसे च्युत होने को बंध कहते हैं ।

सूत्र-विकारनुत्पत्तिः संवरः ॥5-1॥

अर्थ-विकारों की उत्पत्ति न होना सो संबर हैं।

सूत्र-विकृतिनिर्जरण निर्जरा ॥6-1॥

अर्थ-विकारका झड़ जाना निर्जरा है।

सूत्र-पूर्णशुद्धस्वरूपसमवस्थानं मोक्षः ॥7-1॥

अर्थ-पूर्ण शुद्ध स्वरूपमें स्थिर अवस्थान होना मोक्ष है।

व्यवहार संयम की उपयोगिता व निश्चय संयम की साध्याता चित्रण तो देखिये-दशम अध्यायके दशम सूत्रमें -

सूत्र-सर्वयेते जोषितव्या आनिविकल्पसंयमात् ॥10-11॥

अर्थ-ये सभी भेदसंयम निविकल्प संयम से पहिले विधिपूर्वक पालन किये जाना चाहिये।

पूज्य साधुओं का उद्देश्य जिस एक मात्र सर्वविशुद्ध ज्ञानमय अंतस्तत्त्वका श्रद्धान ज्ञान आचरण द्वारा साधन करना है उस सर्वविशुद्ध ज्ञानतत्त्वपर कितना मार्मिक प्रकाश डाला है पूज्य श्री 105 क्षु0 मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने, इसका अवलोकर नवम अध्याय में कीजिये-

सूत्र-सर्वपर्याययेष्वेकरु पमखण्ड ज्ञानं शुद्धम् ॥9-14॥

अर्थ-पॉचों ही ज्ञान ज्ञान सामान्यकी पर्यायें हैं। इन पांचो ही जाति वाले सब पर्यायों में स्वभाव से एक रूप अखण्ड जो ज्ञानमात्र भाव हे वह विशुद्ध ज्ञान है।

सूत्र-तदनादि ॥9-15॥

अर्थ-वह विशुद्ध सामान्य ज्ञान आदि रहित है।

सूत्र-अनन्तम् ॥9-16॥

अर्थ-वह विशुद्ध ज्ञान अन्तर रहित है।

सूत्र-अहेतुकम् ॥9-17॥

अर्थ-वह विशुद्ध ज्ञान किसी भी कारण से उत्पन्न हुआ नहीं है, स्वयं से है।

सूत्र-विशेषतोअभेदषट्कारकविषयम् ।।9-18 ।

अर्थ-विशेष दृष्टि से विचारने पर वह सामान्यज्ञान अभिन्न छह कारकों से पहिचाना जा सकता है ।

सूत्र-परपरिगात्या परिणतिशून्यम् ।।9-19 ।।

अर्थ-वह दूसरे पदार्थ की परिणतिसे परिणमन नहीं करता ।

सूत्र-स्वपरिणमेन परिणान्तु ।।9-20 ।।

अर्थ-वह विशुद्ध ज्ञान समस्त आत्मशक्तियों को अपने में व्यापे हुए हैं ।

सूत्र-सामान्यतः स्वलक्षणमात्रम् ।।9-23 ।।

अर्थ-सामान्यदृष्टि से वह विशुद्धज्ञान अपने स्वरूपमात्र है ।

सूत्र-कतृभे क्त्रादिभावरहितम् ।।9-23

अर्थ-वह विशुद्ध ज्ञान कर्तृत्व और भौकर्तृत्व आदि भावों से रहित है ।

सूत्र-कतृतिसक्त्यकल्पितम् ।।9-24 ।।

अर्थ-वह विशुद्ध ज्ञान संसार और मोक्ष की कल्पना व रचना से परे हैं ।

सूत्र-तच्छाद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।।2-25 ।।

अर्थ-उस विशुद्ध ज्ञानमय आत्माका श्रद्धान होना सम्यज्ञान है ।

सूत्र-च्छाद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।।2-26 ।।

अर्थ-उस विशुद्ध ज्ञानमय आत्माका अनुभव होना सम्यज्ञान है ।

सूत्र-तदनुभूति सम्यग्ज्ञानम् ।।2-27 ।।

अर्थ-विशुद्ध ज्ञानमय आत्माका अनुभव होना सम्यग्दर्शन है ।

सूत्र-तत्स्थर्य सम्यक्चारित्रम् ।।9-28 ।।

अर्थ-विशुद्ध ज्ञानमय आत्माके अनुभवको स्थिरता को सम्यक्चारित्र कहते हैं ।

सूत्र-शुद्धं शुद्धंस्तत्स्फूर्जतु ।।9-29 ।।

अर्थ—परतत्त्वों से भिन्न होने से शुद्ध एवं स्वयं में भेद न होने से शुद्ध व सहज ज्ञान स्फुरित होओ।

39. एकीभावस्तोत्रम्—अध्यात्मध्वनि

यह एकीभावस्तोत्र पूज्य वादिराज मूनि द्वारा विचरित है। इसमें भगद्वभक्ति और आत्मदृष्टि अद्भूत समन्वय है। इसका अर्थ यद्यपि प्रभुगुणस्तवनरूप है तथापि उसके अतिरिक्त पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने प्रत्येक छन्दमें अध्यात्मध्वनि निकालकर अद्भूत आनन्दामृत बर्षाया है। प्रस्तुत पुस्तक के तीसरे श्लोक में बताया उसके शारीरिक आधिव्याधिया समूल समाप्त हो जाती है। इस प्रकार का अर्थ इस तृतीय श्लोक से ध्वनित होता है, पर लेखककी अद्भूत कला देखिये कि वह कैसा अपने चैतन्यस्वरूपके गुणों का अवलोकन करता है कि वह स्वयं ही स्वयं के द्वारा स्वयं को ही स्वयंका निमित्त बनाकर स्वयं को सर्वप्रकार के शारीरिक एवं मानसिक क्लेशों से बचा लेता है। लेखक ने कैसी अनोखी अध्यात्मध्वनि इस सम्बन्ध में निकालकर हम सबके समक्ष प्रस्तुत किया है कि जो अध्यात्मप्रेमी जनों के लिए आनन्दानुभूति कराने में कारण पड़ती है। अध्यात्मध्वनि इस प्रकार है।

अध्यात्मध्वनि—चैतन्यभाव के गहन ध्यान के प्रभाव के आनन्दरूप अश्रु करिस्निपित हुआ है मुख जिसमें मुख ज्ञान है जिसके द्वारा आत्मा पहिचान में आता है। अथवा आनन्दरूप अश्रुकर सर्वप्रदेशों में अवगाह गया है ज्ञान जिसमें—इस प्रकार तथा गद्गद् उत्तम स्तवन करता हुआ अव्यक्त ध्वनि में सूक्ष्म अन्तर्जल्प—विद्वज्ज्ञानी होता हुआ जो, हे चैतन्य—स्वरूप, तुम में दृढमन होता हुआ भजन—मनन से तुमको पा लेता है उस आत्मा में से अनादि प्रवाह से चले आये हुए सूक्ष्म शरीर रूप वाणी में बसे हुए अनेक विषम परिणामरूप व्याधियां वही हुए सर्प, वे शीघ्र ही निकल जाते हैं अर्थात् जो चित्प्रकाश में उपयुक्त रहता है उसके नाना क्लेशस्वरूपी विषम परिणाम रागद्वेषादि विभाव नहीं रहते।

इस एकीभाव स्तोत्र में आये हुए 11 वें श्लोक में पूज्य वादिराज मुनिराजने लिखा है कि हे प्रभो, मैंने भव भव में अपरिमित क्लेश सहे, आप बड़े दयालु है, मैंने बड़ी भक्ति करके आपको प्राप्त किया है। आप भव भव से सहते आये हुए संकटों का निवारण कीजिये। इस श्लोकपर पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने आध्यात्मिक दृष्टि को रखते हुए अपनी अध्यात्मध्वनि में बताया है कि हे चैतन्य देव, आपके ही स्वरूपका स्मरण करके अपने भव भवके संकट मेटुंगां। देखिये लेखक की अद्भूत कलाकी छटा कि

अपने आपको ही अपना सर्वसव समझ रहा है, अपने आपको ही अपना प्रभु समझ रहा है। लेखक के कुछ संक्षिप्त भावों का अवलोकन उनकी इस अध्यात्मध्वनि में कीजिये—

अध्यात्मध्वनि — हे ज्योतिर्भय चैतन्यदेव, तुम्हारे स्मरण से दूर रहने के कारण व्यवहार में मुर्तिवान बने हुए मुझ इस जीव के भवमें जो दुःख हुआ है। जिसका कि स्मरणमात्र शस्त्र की तरह पीड़ा देता है उस सब दुःख को भी तुम जानते हो, क्योंकि तुम्हारी दृष्टि से परे अनादिसे ही कुछ नहीं रहा। अब मेरे यह श्रद्धा जगी है कि तुम ही सबके ईश हो—सर्वस्व हो, कृपा—प्रसाद कर सहित हो सो तुम्हें भक्ति पूर्वक प्राप्त हुआ है। अब मेरा क्या कर्तव्य है ? जो कर्तव्य है इस विषय में चैतन्यदेव तुम ही प्रमाण हो अर्थात् जो चैतन्यस्वरूपकी स्थिति है वही प्रमाण है अर्थात् वही होना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक के अन्तर्गत आये हुए 13 वें श्लोक में वादिराज मुनिराज ने बताया है कि हे प्रभो, कोई शुद्ध ज्ञान और शुद्ध चारित्र में कितना ही बढ़ा हुआ क्यों न हो, पर आपके प्रति विशुद्ध भक्ति हुए बिना वह जो पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने किया है। उन्होंने जिन ज्ञायकभावके स्वरूपका सम्यक बोध कराने वाले विशुद्ध ज्ञानको ही महत्व देते हुए बताया है कि कितना ही ज्ञान और चारित्र में कोई बढ़ा हुआ हो पर निज एकत्व स्वरूपका सम्यक बोध हुए बिना कोई मुक्तिका पात्र नहीं हो सकता। लेखक के विशेष मनोभावों का दिग्दर्शन नीचे लिखी अध्यात्मध्वनि से कीजिये—

आध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव, मैं स्वभावसे शुद्धज्ञान—ज्ञान सामान्यरूप पर्याय में अथवा सम्यग्ज्ञानरूप, एवं शुद्ध चारित्र—चारित्रसामान्यरूप अथवा पर्यायमें आत्मद्रव्य के अभिमुख चारित्ररूप हूं, तो भी अनन्त सुख से दूर न रखने वाली कुंजी रूप, तुम चैतन्य में उत्तम भावनमस्काररूप या अद्वैतरूप नमस्कार रूप भक्ति नहीं हो, तो मुक्ति चाहने वाले पुरुष के व मेरे जिसमें चिरकाल में मोहता लेकर संहित मजबूत द्रव्यकर्म के किवाड़ डटे हुए हैं ऐसा मुक्ति का बालद्वार निश्चय ने कैसे खोला जा सकता है ?

सारांश—अनादि अनन्त ज्ञायकतत्त्वमय निज चैतन्य की सेवा, भक्ति व परिणति बिना रागद्वेष नहीं हट सकते हैं और हम सुखी भी नहीं हो सकते हैं, यही मुक्तिद्वार खोलने की चाबों है, वह अंतरगमें है, परापेक्षाके कष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक के 15 वें श्लोक में वादिराज मुनिराजने कहा है कि मेरे भव भव के संचित पापमयी कलुषित प्ररिण म घुल गये। तो मुनिराजकी इस दृष्टि का आध्यात्मिक दृष्टि से समन्वय पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी

महाराजने निम्न शब्दों में किया है। उसका अवलोकन नीचे दिये अध्यात्मध्वनि नामक गद्यखण्ड से कीजिए—

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव निश्चय दृष्टि रूपों हिमालय से निकलो हुई अमृत अर्थात् अविनाशी अभेद आत्मतत्त्वरूपी समुद्र कि लम्बी चली गई जो तुम्हारे पददय की सेवा परिणति रूपी गंगा नदी समीप बह रही है, उस गंगा में शुद्धतत्त्वकी चंचि के वशसे डूबा हुआ मेरा उपयोग पापरूपी कालिमासे क्षालित अर्थात् शुद्ध जो हो जाता है, हे देव, क्या यह कोई सदेह का भी स्थान है ? यह तो नियमतः इसी प्रकार हो हो जाता है।

साराशं—जिन्होंका उपयोग अनादि अनन्त ज्ञान सामान्य दर्शनसामान्यके अभेदरूप चैतन्य तत्त्व की सेवारूपी गंगा में डुबोया हुआ है अर्थात् जो निर्विकल्प हो गये हैं वे सर्व विकल्पों से रहित स्वच्छ हो ही जाते हैं, इसमें सन्देहका कोई स्थान नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक में 17वें श्लोक में वादिराज ने कहा है कि हे प्रभो, आपके मुख से जो सपतभंगी रूप वाष्णी निकली है उसका जो विद्वज्जन मंथन करते हैं अर्थात् चिन्तवन एवं मनन करते हैं वे अवश्य ही मोक्ष सुख की प्राप्ति करते हैं। तो मुनिराजके इन वचनों का अध्यात्मेवेभव के साथ समन्वय पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने किन शब्दों में किया है उसका दिग्दर्शन नीचे दिये गये अध्यात्मध्वनि नामक संक्षिप्त शब्दों से कीजिये—

अध्यात्मध्वनि—

यह चैतन्य स्वरूप है, परस्वरूपसे नहीं, आदि सप्तभंगों की तरंगों से शरीरादि परस्वरूप में आत्मतुद्धि आदि रूपमलको दूर करता हुआ आपका यह अन्तर्वितर्क काव्यरूप समुद्र समस्त पदार्थों को घेरे हुए हैं 'समलतत्त्वका ठीक निर्णय कराता है उसके आवर्तनको निश्चल उपयोग के द्वारा करने बाल सम्यग्ज्ञानी आत्मा शीघ्र चैतन्यामृग के आसेवन से अनन्तकाल तक अनाकुल हो जाते हैं।

साराशं—स्याद्वाद के विधि निषेधादि दृष्टियों के द्वारा मिथ्याबुद्धि को दूर करके स्वपर के यथार्थ स्वरूपका निर्णय करके निकटभव्यजन सम्यग्ज्ञानके फलस्वरूप निज चैतन्य अमृत का अनुभववान करके शाश्वत सुखी हो जाते हैं। यही चैतन्यतत्त्व सुखार्थी को लक्ष्य होना चाहिए, जिससे अन्य सर्व पदार्थों से वैभाविक भावों से रुचि स्वयं हट जाये।

इस एकीभावस्तोत्रके 21वें श्लोक में वादिराज मुनिराज ने कहा है कि हे प्रभो, आपमें रंच भी रागद्वेष नहीं, रिश्चयतः अप निरपेक्ष है फिर भी मारा

संसार आपको ही अपने हृदयस्थल में बिठाकर अपना कल्याण करता है, अतः आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं। इस बात का समन्वय करने वाली अध्यात्मध्वनि पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराज द्वारा लिखित नीचे देखिये—

अध्यात्मध्वनि—हे ज्योतिर्मय, तुम्हारे कहीं कोषका आवेश नहीं और कहीं भी हर्ष नहीं अर्थात् तुग रागद्वेष के स्वरूप न्यारे ही हो। निश्चय से तुम्हारा निरपेक्ष उपयोग अर्थात् परिणमन भी परम उपेक्षासे व्याप्त है, फिर भी लोक तुम्हारी आज्ञा—प्रसन्नता के आधीन है, जब लोकोंके गुरु मुनि, साधु, विवके तुम्हारी आराधना करते हैं तो सब लोक तुम्हारे आधीन स्वयं सिद्ध हो गया अथवा तुम्हारी आज्ञा अर्थात् व्यक्ति के आधीन यह लोक है ही। तुम्हारी निकटता समस्त बैर विरोध को हर ने चाल है। हे लोकोत्तम, ऐसा प्रभाव तुम से भिन्न, बुद्धि, राग, काम आदि किन्हीं भी भावों में कहीं हो सकती है ?

सारांश—चैतन्यका प्रसाद ही सर्वकल्याण है, इसलिए परम शुचि चैतन्य देव की आराधना करो।

40. कल्याणमदिन्द्रस्तोत्र—अध्यात्मध्वनि

यह कल्याणमन्दिरस्तोत्र आचार्य री कुन्दचन्द्र जी महाराज द्वारा विचरित है। इसमें भगवान पार्श्वनाथ की स्तुतियों का सुन्दर संकल्प है। पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने अपनी प्रखर बुद्धि के द्वारा आचार्यदेव द्वारा कहीं हुई प्रत्येक बात को आध्यात्मिक तराजूपर तौलकर हम सभी के समक्ष प्रस्तुत किया है। उनकी बुद्धिमता का दिग्दर्शन उनके द्वारा लिखित अध्यात्मध्वनियों द्वारा होता है। प्रस्तुत तीसरे श्लोक में आचार्यदेव ने जब यह कहा कि हे प्रभो, आपके स्वरूपका वर्णन कर सकनेमें हम असमर्थ हैं। जैसे दिन को न देख सकने वाला जल्लू का बच्चा सूर्य के प्रकाश का अवलोकन व उनके रूपका वर्णन कर सकने में असमर्थ हैं इसी प्रकार हम भी आपके स्वरूपका सामान्यरूपसे भी वर्णन कर सकने में असमर्थ हैं। तो आचार्यदेव की इस बात का समन्वय करते हुए पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने जिस आध्यात्मदृष्टि का माध्यम लेकर अपनी अध्यात्मध्वनिको सभी के समक्ष प्रस्तुत किया है उसका अवलोकन नीचे दिये गये गद्यखण्ड से कीजिये—

अध्यात्मध्वनि —हे अधीश चैतन्यदेव, तुम्हारा सामान्य से भी वर्णन करने के लिए हम सारिखे लोग क्या समर्थ हो सकते हैं अर्थात् जब हम आपका स्वरूप सामान्य से भी वर्णन करने के लिए समर्थ नहीं है तब विशेषतया अर्थात् अनन्त गुण उसके अविभागप्रतिच्छेद उनके विनास आदि का तो हम वर्णन ही क्या कर सकते हैं अथवा आपके कुछ विषयों का तो वर्णन

कथमपि कर सकते हैं, किन्तु सामान्यदृष्टि से ही वर्णन करना बड़ा कठिन है। वह अनादि निधन चैतन्यतत्त्व लक्ष्य में तो आता है परन्तु वचन के अगोचर है।

सारांश—हम तेरा वर्णन कर सकने में असमर्थ हैं, क्योंकि जैसे दिन को अन्धा रहने वाला उल्लू का बच्चा हट भी करे तो भी क्या सूर्य का—सूर्यप्रकाश का प्ररूपण कर सकता है ? अथवा निवाध अर्थात् स्वर्ग में अन्ध कौशिक का बेटा अर्थात् इन्द्रतुल्य सुखी एवं ज्ञानी देव हट भी करे तो भी क्या कर्म के दहन करने में प्रचण्ड तेजयुक्त ज्ञानमात्र भाव का वर्णन कर सकता है।

आचार्य श्री कुमुदचन्द जी महारा ने अपने इस सतोत्र के 9वें श्लोक में जब यह कहा कि हे प्रभो, जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होने पर चोर भागने लगते हैं और उन भागते हुए चोरों के भय से पशु छूट जाते हैं इसी तरह हे प्रभो, आपके दर्शका आभासमात्र होतेही सैकड़ों प्रकार के उपद्रवों का विध्वंश हो जाता है। तो आचार्य देवने इस कथन को अध्यात्मप्रेमी पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराज ने आध्यात्मिक कसौटी में कसकर जिस अद्भुत छटाका दिग्दर्शन अपनी आत्मध्वनि में कराया है उसका अवलोकन नीचे लिखे गये गद्यखण्ड में कीजिये—

अध्यात्मध्वनि—हे रागादिभावों से रहित शुद्ध ज्ञायकभाव, तेरे दर्शन करते ही मनुज—विवेकी आत्मा कठिन विकल्पपरूप सैकड़ो उपद्रवों से शीघ्र ही छूट जाते हैं। जैसे कि स्फुरायमान है तेज जिसका ऐसे सूर्यके उदित होते ही, देखते ही भागते हुए चारों के द्वारा पशु छूट जाते हैं

सारांश यह है कि जैसे चोर गाय भैंसे चुराकर रात में कहीं लिए जा रहे हों तो सुबह होते ही लोगों के द्वारा खदेड़ने पर चोरों से वे पशु जाते हैं इसी तरह संकल्प विकल्पों द्वारा पीड़ित विकल ज्ञानमय आत्मा अपनी ज्ञानमयताके दर्शन करते ही शीघ्र विकल्परूप उपद्रवों से छूट जाते हैं।

आचार्यदेव ने प्रस्तुत कल्याणमन्दिरस्तोत्र में 19 वें श्लोक में जब यह कहा कि हे प्रभो, धर्मोपदेश के समय आपकी निकटता पाने के कारण जंगलों में खड़े हुए अशोक जैसे वृक्ष भी शोकरहित हो जाते हैं, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या? अथवा जिस प्रकार सूर्योदय होने पर सर्वजगत प्रकाशमयी होजाती है इसी प्रकार हे प्रभो, आपकी वाणी का प्रवाह बहनें पर वृक्षोंसहित जीव लोक ज्ञानजल से सिंचित होकर हरा भरा हो जाता है अर्थात् विवोध—विकासज्ञान को प्राप्त होता है। तो आचार्य देव की इस बात का समन्वय पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने अध्यात्मिक शैली से किया है।

उन्होंने निज चैतन्यदेव की अभिमुखताकी ही प्रधानता रखकर अपनी बात की पुष्टि किया है। उनकी आत्मध्वनि इस प्रकार है।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव, आपकी अभिमुखताके प्रताप सेही स्वभाव के सावधानी सहित स्वके प्रतिबोध के समय विविधज्ञानी विद्वानों की बात तो दूर रही अर्थात् वे तो शोकरहित निज संवेदक होही लेते हैं, किन्तु साधारण ज्ञानी भी केवल स्वपर बोध बाला भी शोकरहित आत्मानन्दी हो जाता है। हां स्वकी चेतना अवश्य चाहिए। जैसे दिनपति सूर्यके उदय होते ही कमल आदिक छोटे बड़े वनस्पति सहित जीव समूह विकासको, सजगता को प्राप्त हो जाता है वैसे ही ज्योतिस्वरूप ज्ञानस्वभाव के उदय होने पर, लक्ष्य के होने पर पशु पक्षी सहित मनुष्य समूह विबोध, विवेकको प्राप्त हो जाता है।

सारांश—जिसकी निकटता से, चर्चा से जागृति उत्पन्न होती है उस चैतन्यभावका लक्ष्य ही हितकारी है।

प्रस्तुत पुस्तकके 22 वें श्लोक में आचार्यदेवने जब यह कहा कि हे भगवान्, आपके उपर ढुलते छत्र चमरों के समूह मानों यह कह रहे हैं कि जो इन मुनिश्रेष्ठको नमस्कार करता है वह नियम से शुद्ध परिणामवाला उद्धश्रेष्ठगति का पात्र होता है। तो आचार्यदेव की इस बात का समन्वय पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने किस प्रकार से अपनी अध्यात्मध्वनि में किया है इसकी झांकी नीचे के अवतरित भाव भीने शब्दों से कीजिये। लेखक ने जो अपनी हर एक बात की पुष्टि आध्यात्मिक दृष्टि से की वह एक अनोखी बात है। अध्यात्मिकता के रंग से रंगें हुए लेखक महोदय ने आध्यात्मिकता की जलवृष्टि करके अध्यात्मप्रेमी भाइयोंको आनन्दविभोर कर दिया है। निचे लिखे हुए गद्यखण्डका पठन करके कुछ रसास्वादन कीजिये।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव, बड़े बेग से कुशलतापूर्वक जो आपके सन्मुख झुकते हैं ऐसे सुरचभले प्रकार स्वयं में रचे हुए, अमर—अन्तरात्माओं के समूह विशिष्ट शुक्लध्यानी होकर उछलते निर्मल ज्ञानधाराओं से अत्यन्त उंचे उठ गये हैं ऐसे अहतक के रूप में होकर ये जगत को मानो प्रतिबोध रह हैं कि हे भव्यों जो इस मुनिपुंगव—मुनि कहिये निर्मलज्ञान उसमें श्रेष्ठ अर्थात् ज्ञानस्वभावके लिए उपयोगका झुकाव करते हैं वे नियम से इस ही प्रकार निर्मल भावयुक्त होते हुए अत्यन्त उर्द्ध किहये श्रेष्ठ गतिवाले अर्थात् श्रेष्ठ अवस्था वाले होते हैं।

सारांश—जिस चैतन्यस्वभावके झुकाव से आत्मा इतना उंचा उठ जाता है चैतन्यभावका सर्व प्रयत्न से आदर करो।

आचार्यदेव 20 वें श्लोक में और भी कहा है कि हे भगवान जिनेन्द्र देव, जिस समय आप श्यामवर्ण वाले गम्भीरध्वनियुक्त स्वच्छ स्वर्ग के बने रत्नोंकर जड़ित सिंहासन पर विराजमान होते हैं तो भव्यजन आपको उस तरह देखते हैं जैसे कि नवीन मेघसमूह की तरफ उच्च पर्वतों की चाटियों पर बैठे हुए मयूर पक्षी देखा करते हैं। आचार्य देवकी इसी बातका समन्वय करते हुए पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने अपनी आध्यात्मिकता के माध्यम से अपनी अद्भुत कलाका परिचय पाठकवृन्द को दिया है। यह एक अनोखी कला है। हर बातको अध्यात्मकी कसौटी पर कसकर उसका सही दृष्टि से समन्वय करना कोई सरल बात नहीं। बड़ी प्रखर बुद्धि के तीक्ष्ण प्रहारों द्वारा हर बात की पुष्टि की गई है। पाठकजन नीचे अवतरित गद्यखण्ड का पठन कर आनन्द लें।

अध्यात्मध्वनि—हेमवर्णकी उपमा जिसकी साहित्य में है ऐसी रूचि शब्द से सूचित शुद्धात्मरूचि रूप उज्ज्वल निर्मल सम्यग्दर्शन वही हुआ रत्नसारभूत तत्व, उसके सिंहासन कहिये उपयोग उसमें बैठे हुए अर्थात् सम्यग्दर्शन के अनुभवके विषयभूत है अखण्ड चैतन्यदेव, आप कैसे हैं ? विषयकषायदिक शत्रुओं के जीतने केलिए श्यामस्वरूप हैं तथा आपके विषय की वाणी है अत्यन्त गम्भीर रागद्वेषादि क्षोभ के अवकाश से रहित है ऐसे उत्कृष्ट, आपको भव्यजीत बहुत ही लगाव व वेगसे अवलोकन करते रहते हैं। जैसे कि गम्भीर गर्जना वाले मेरुशिखर पर स्थित मेघ को मयूर बड़े चाव से देखते हैं।

सारांश—जो चैतन्यभव से परिचित है जिसके अनुभव के आसनपर चैतन्यदेव विराजमान हो चुका है वे अन्यत्र कहीं नहीं रमते हैं। केवल इस ही निज सहजानन्दमय चैतन्यस्वरूप में ही रमते हैं और अनाकुल हो जाते हैं। इस ही चैतन्यभाव की आराधना सुखर्थियों का मुख्य कार्य है।

आर्चा देव ने प्रस्तुत पुस्तक के 24 वें श्लोक में जब यह कहा कि हे वीतराग जिनेन्द्र देव, तुम्हारे स्फुरायमान प्रभामण्डल के द्वारा अशोकवृक्ष भी कान्तिहीन पत्रोंवाला हो गया, सो यह ठीक ही है, पर आपके समीप्यको पारक चेतनजन यदि वीरागता को प्राप्त करलें तो इसमें क्या आश्चर्य ? आचार्य देव की इस बात का समन्वय लेखक ने अपनी अध्यात्मध्वनि में किया है। उस अध्यात्मध्वनि का पठनकर पाठकजन आनन्द लें।

प्राध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव, तुम्हारी निर्मल स्वच्छ ज्योति के पुंज से 'जो तुमका ही उपादान करके प्रकट होता है' उसके लक्ष्य से अशोक अवस्था के लिए संवरण का यत्न रखने वाले साधारण मुमुक्षुजन शीघ्र ही नष्ट हो गई है विषयकषायदिक आवरणों में छवि कहिये रूचि जिसकी ऐसे ही जाते हैं

अर्थात् रागद्वेष की रुचि रूप महान् पापसे मुक्त हो जाते हैं। सो ठीक ही है—है आदि कारी भाव, तुम्हारी निकटता पाने से ऐसा कौन सचेतन—सावधान—बुद्धिमान आत्मा है जो नीरागपने की — रागद्वेषरहित परमानन्दमय ज्ञायकभावको नहीं प्राप्त हो अर्थात् — बुद्धि स्वच्छ होते ही विकार रुचि नष्ट करके सहजानन्दस्वभावकी ओर ही अन्तरात्मा एकाग्रचित रहते हैं और फिर सर्वविकल्पों से मुक्त होकर स्वसंवेदक हो जाते हैं।

सारांश—एक निज ज्ञायकभाव का लक्ष्य ही सर्वहित है जिसके रागदि सर्वविभावों की रुचिरूप मिथ्यात्व महापाप नष्ट हो जाता है जिससे सत्य सुख प्राप्त होता है।

आचार्यदेव 28 श्लोक में जब यह कहा कि हे जिनेन्द्रदेव, जब बड़े बड़े देवेन्द्र आपके चरणों में झुकते हैं तो रत्नरचित मुकुटों में लगी हुई पुष्पमालायें भी उन मुकुटों को छोड़कर आपके चरणों का ही आश्रय लेती हैं। जो पुष्पमालायें उन मुकुटों में रम रही थी वे अब आपका संगम पाकर अपने में ही रम रही हैं। तो आचार्यदेवकी इस बात का समन्वय करते हुए पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने अपनी अव्यात्मध्वनि में जिस आनन्ददायिनी शब्दावलि का अनुकरण किया है उसे देखते ही बनता है। वास्तव में आध्यात्मरसके प्रेमी बन्धु पूज्य श्री की इस पवित्र आध्यात्मिक दृष्टि के समन्वयर मुग्ध हो जायेंगे। उसका रस स्वान नीचे दिये हुये उनके कुछ कीजिये—

आध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव, ये दिव्यस्रज अर्थात् आत्मीय परम आनन्द स्रक बड़े बड़े पुण्यशाली देवेन्द्रों के मौलिवंध अर्थात् पुण्यप्रकृतियों की आधीनता न स्वीकार कर तुम्हारे विशुद्ध ज्ञान दर्शनरूप पादद्वयों का आश्रम करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि अनुपम सत्य आत्मीय आनन्द, बड़े बड़े देवेन्द्रों के भी जिनके अतिशय पुण्य का बन्ध है, नहीं होता है वह तो जहां ज्ञान, दर्शन निर्मल है ऐसे चैतन्यका ही आश्रम करता है। सो ठीक ही है तुम्हारे अभिन्न संगम को पाकर वह अन्यत्र कैसे रमे? जैसे ज्ञेयकार द्वारा तुम्हारे संगम को पाकर विवेकी लोक अन्यत्र नहीं रमण करते।

सारांश—सत्य परम आनन्द एक चैतन्यस्वभाव के अनुभव में ही है।

आचार्य देव के 29 वें श्लोक में और भी कहा गया है कि हे भगवान् जिनेन्द्रदेव, आप तो संसार सागर से अत्यन्त परान्मुख हो चुके हैं तो भी आपके पीछे लगे हुए जो भव्य जीव हैं उन्हें आप तार देते हैं। जैसे मिट्टी का घड़ा जल में ओंधे रूपमें रहकर तैरता है और उसकी पीठकर बेठा हुआ व्यक्ति उस जल में तैर जाता है इसी प्रकार हे जिनेन्द्रदेव, आप संसार से

परान्मुख हैं फिर भी आपकी पीठ पर बैठे हुए अर्थात् आपके अनुयायी भव्य जीव संसार सागर से तिर जाते हैं। हे नाथ, वह घड़ा और आप तो एक तिर जाने वाली दृष्टि से बराबर हो गये, पर एक विशेषता आप में और अधिक देखा कि वह घड़ा पक चुकने के बाद यह तिराने का काम कर सका, पर आप तौ बिना पके हीं अर्थात् कर्मविपाक से रहित दशा में यह तार देने का काम रक सके हों। तो आचार्यदेव की इन मनाभावनाओं को आनन्दविभोर कर देने वाली शैली का अनुकरण प्रस्तुत अध्यात्मध्वनि में किया गया है। इसके पढ़ने से आध्यात्मिकता का पवित्र आनन्द प्राप्त होता है। पूज्य श्री की आध्यात्मिक दृष्टि का वर्णन कहां तक करें? वह तो ध्यानपूर्वक अध्ययन, चिन्तवन एवं मनन करने से ही भली भांति विदित हो पायेगा। नीचे लिखे गये अध्यात्मध्वनि के संक्षिप्त शब्दों का पठनकर आध्यात्मप्रेमी बन्धु आनन्द ले।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्य प्रभो, तुम जन्ममरणदिमय संसारसागर से अत्यन्त विमुख हो तुम्हारे स्वरूपमें जन्म तथा मरणादि कुछ भी नहीं है। आप इस दुःखसागर से परे हो, फिर जो तुम्हारे पीछे लग जाता है, तुम्हारा स्मरण ध्यान अनुभव करता है उस आत्माको आप तार देते हो।

भावार्थ—दुःखसंकट से तरने का उपा चैतन्यस्वभाव का आश्रय है। यह बात ठीक ही है— संसार सागर का तारक वही हो सकता जो संसार के स्वरूपसे परे हो, उसी के लक्ष्यरूप परिणाम में यह शक्ति है, जो उत्तरोत्तर शुद्ध स्थितिपर पहुंचने के पूर्ववर्ती होते हैं। लोक में भी देखा जाता है कि घड़े को आँधा मुख करके उपर आश्रय लेकर नदी समुद्र में तिरें तो तिरने का निमित्त होता है। साथ ही एक आश्चर्य है — घड़ा तो पका हुआ ही इस कार्य का निमित्त हो पाता किन्तु तुम तो कर्मविपाक से शून्य हो। कर्मविपाकका, अनुभव निश्चतः पुद्गलवर्गणा में है, व्यवहारतः पर्याय में है, स्वभाव में तो है ही नहीं। विशेष — लौकिक बात में तो इसका आश्चर्य माना जाता है कि जो परान्मुख है वह तारेगा कैसे? किसे परमार्थ में यही बात ठीक है कि जो परान्मुख है वही तार सकता है।

सारांश—भवसागर से तिरने का उपाय चैतन्यस्वभाव का आश्रय है। अतः इसको लक्ष्य करके सहजवृत्तिक रूप परिणमना ही भला है।

41. विशापहारस्तात्रम् अध्यात्मध्वनि

यह विषापहारस्तोत्र धनंजयसेठ द्वारा रचित है। रचयिता के विषय में ऐसी प्रसिद्धि है कि एक बा रवह किसी मन्दिर में भगवान का पूजन कर रहे थे। घर पर उनके लड़कों को सर्पने काट लिया। उनकी नौकर को मन्दिर में भेजा कि जाकर सेठ जी को बुला लावो, उनको बता देना कि पुत्र को सर्पने

काट लिया है, शीघ्र ही चले आवें। परन्तु जब नौकर मन्दिर पहुंचा तो देखा कि वह भगवान की भक्ति में लीन थे। नौकर ने बहुत कहा, पर उन्होंने अपना ध्यान न छोड़ा। नौकर वापिस गया। बाद में स्त्री स्वयं उस मूर्छित बच्चे को लेकर मन्दिर में गई और बच्चे को सेठजी तो पूजा में मग्न थे। उन्होंने अपने भगवद्भक्ति के कार्य को नहीं छोड़ा। उस बच्चे की ओर भी उन्होंने कुछ ध्यान नहीं दिया। पूजन करते हुए उन्होंने एक स्तोत्र की रचना की। वही सवोत्र प्रस्तुत पुस्तक के अन्तर्गत आया है। बताते हैं कि उस भगवद्भक्ति के प्रताप से वह बच्चा निर्विष हो गया। प्रायः लोगों का ऐसा ही अभिमत है कि सेठ जी ने भगवान की भक्ति की इसलिए भगवान ने प्रसन्न होकर बच्चे को निर्विष कर दिया। पर उन्हीं स्तोत्रों का अर्थ करते हुए में पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने आध्यत्मिक दृष्टि से अर्थ करते हुए बताया कि सेठ जी ने कोई अन्य भगवान की स्तुति नहीं की, बल्कि आत्मा के गुणों का स्मरणमात्र किया, जिसको करते करते परिणामों में विशुद्धि आयी और उस बच्चे का विष दूर हो गया।

प्रस्तुत पुस्तक के 7 वें श्लोक में जब सेठ जी ने भगवानकी भक्ति करते हुए में यह कह कि हे प्रभो, जो आपके प्रति भक्ति रखता है वह नियम से सुख प्राप्त करता है और जो आपकी भक्ति से विमुख रहता है वह दुःख पाता है, पर हे नाथ, आपकी दृष्टि में भक्ति करने वाला और न करने वाला दोनों ही समान हैं। तो सेठ जी की इन बातों का पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने कोई अन्य भगवान की स्तुति नहीं की, बल्कि आत्मा के गुणों का स्मरणमात्र किया, जिसको करते करते परिणामों में विशुद्धि आयी और उस बच्चे का विष दूर हो गया।

अध्यात्मध्वनि—हे ज्ञानमय सत्व, रूचि श्रद्धापूर्वक तुम में जो अभिमुख होता है वह स्वभावसे ही सुख प्राप्त करता है और जो तुमसे विमुख रहता है, परलक्ष्मी रहता है वह प्रकृत्या विभावके परिणामन से दुःख को प्राप्त करता है और तुम उन दोनों की दोनों दिशाओं में सदा प्रकाशमान एक स्वरूप आदर्शकी तरह शोभायमान होते हो। सांराश यह है कि जैसे दर्पण के सामने मुख कने वाला मुखसौन्दर्य देख लेता है और जो विमुख है वह नहीं देख पाता, देखता स्वयं है, इसी प्रकार जो चैतन्य भावपर दृष्टि करता है वह अनाकुलता को पाता है, जो निजस्वभासे विरुद्ध पर पदार्थ पर लक्ष्य करता है वह स्वयं दुःख पा लेता है, इसलिए मेरी तो स्वभावदृष्टि ही रही।

सांरांश—हे चित्स्वभाव, जिसका उपयोग अथवा जो ज्ञानी तेरे से विमुख रहता है वह संसार के दुखों में ही फंसा रहता है।

प्रस्तुत पुस्तक के 11 वें श्लोक में सेठजी ने भगवान की भक्ति करते हुए में जब यह कहा कि हे प्रभो, जैसे समुद्र की महिमा स्वयं ही है, स्वतः ही है, कहीं तालाबों की तुच्छता बताने से नहीं है इसी प्रकार आप स्वयं ही महान हैं, कहीं अन्य व्यक्तियों के दोष प्रकट करने से आपकी महत्ता नहीं है। तो सेठ जी की इस बात को लेखक महोदय ने आध्यात्मिक दृष्टि को रखकर कहा है। उसको नीचे के अवतरित गद्यखण्ड में देखिये—

आध्यात्मध्वनि —हे प्रकाशमान चैतन्यदेव, वह सामान्यतत्त्व निर्मल है, निर्विकल्प है और विशेष तत्त्व पापादिपरिणत होता है—इस प्रकार विशेषके दोष वर्णन करने से तुम्हारी महत्ता नहीं है, किन्तु महत्ता तो स्वयं है जैसे विशाल क्षेत्रगत जलसमूह के पिण्डरूप समुद्र की महिमा स्वयं है कहीं तालाबों की तुच्छता बताने से नहीं है।

सारांश—जो सामान्यतत्त्व स्वयं महिमावान् है, त्रैकालिक गम्भीर है, जिसके लक्ष्य से पर्याय की निर्मलता प्रकट होती है, अनन्तमुखमय परमपद प्रकट होता है, उसकी निरन्तर आराधना करो अर्थात् उसी ही एक लक्ष्य में उपयोग स्थिर करो।

प्रस्तुत पुस्तक के 13 वें श्लोक में सेठ जी ने जब यह कहा कि हे प्रभो, जिस प्रकार आपके सिद्धान्तके प्रतिकूल चलने वाले बालू के कणों को पेलकर उनसे तेल निकालने का प्रयत्न करता है इसी प्रकार आपके सिद्धान्तके प्रतिकूल चलने वाले मनुष्य सुख प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के पापाचार करते हैं। सेठ जी के इन मनोभावों को लेखक महोदय ने आध्यात्मिकता का माध्यम लेकर अपनी अध्यात्मध्वनि में जो लिखा है उसका दिग्दर्शन नीचे लिखे गद्यखण्ड से कीजिये—

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव, जो तुम्हारी श्रद्धा के प्रतिकूल हैं अर्थात् अखंड निज चैतन्य के स्वरूप से जो च्युत हैं, परपदार्थों में व परभावों में जिनका अहंत्व ममत्व है वे चाहते तो सुख हैं और सुखके लिए ही प्रयत्न करते हैं किन्तु दुःख की ही चेष्टा, क्योंकि स्वयं सुखसवभावकी तो दृष्टि नहीं है। इसी तरह वे बढ़ाना तो चाहते अपना गुण उत्कर्ष, परन्तु दोषों का ही प्राचरण करते हैं, विषयकषायों को ही पैदा करते हैं—इसी तरह वे कदाचित् नाम तो करते हैं धर्मका, किन्तु पापको आचरते हैं क्योंकि, अकषायस्वभाव निजतत्त्वकी तो श्रद्धा नहीं फिर शुभ भावों में ही अटके रहते हैं, खेद है कि यथार्थ बालक अर्थात् अज्ञानी मानों बालू पेलकर तैल निकालने की कोशिश कर रहे हैं।

सारांश— बाह्य दृष्टि में न तो सुख है, न गुणोत्कर्ष है और न धर्म है, अतः बाह्यदृष्टि छोड़कर चैतन्यदृष्टि को प्रबल बनाओ।

प्रस्तुत पुस्तक के 17 वें श्लोक में जब घनंजयसेठ ने भगवान की भक्ति करते हुये में यह कहा कि हे प्रभों, आपके द्वारा किए गये उपकार से उपकृत हुआ स्वर्गोका इन्द्र प्रतींद्र आपकी महान सेवायें करके बड़ा हर्ष मानता है, उस देवकी यह सेवा आपके किए हुए उपकार का बदला चुका सकने में असमर्थ है, पर उस इन्द्र प्रतीन्द्र देवकी सेवा उसके सुख के लिए ही सुखका कारण है। सेठ जी की इस बात का समन्वय आध्यात्मिक दृष्टि से करते हुए लेखक महोदयने अपनी आध्यात्मिकध्वनि में जिन मनोभावों का परिचय दिया है उसे नीचे लिखे संक्षिप्त शब्दों में देखिये—

आध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव, तुम अगम्य हो, तेरा स्वरूप इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं हैं — ऐसे जो तुम अनादि, अनंत, ध्रुव एक स्वभाव हो सो तुम्हारी जो आराधना करता है, वह पर्याय में शक हो, मुनीम हो, स्वग्रेष हो, कोई भी सदृष्टि हो उसके द्वारा तुम्हारी आराधना से कहीं तुम्हारा उपकार सेवा आराधना करता है उस ही को आत्मसुख के अनुभवका कारण होता है। इस ध्वनि में कितने ही रहस्य भरे हैं। 1. निर्मल पर्यायका कारण निर्विकल्पद्रव्यकी आराधना है। 2. आत्मसुखका अनुभवन पर्याय ही करती है, सामान्यस्वभावी द्रव्य अथवा अनादि अनादि अनन्त है उसकी दृष्टि न होने से अज्ञानी है, दृष्टि हो जाते ही ज्ञानी है। इत्यादि।

सारांश—अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वभाव की सेवा आत्मसुख का कारण है, अतः उस ही की आराधनाका लक्ष्य रखो।

प्रस्तुत पुस्तक 19 वें श्लोक में जब यह कहा गया कि है प्रभो, जिस प्रकार बड़े बड़े पर्वतों से महान नदियां निकलती हैं न कि समुद्रों से इसी प्रकार आप जैसे वीतराग जिनेन्द्र देव से उंचा से उंचा फल पाया जा सकता है, जो कि बड़े बड़े धनिकों से नहीं प्राप्त हों सकता। सेठ जी की इन्हीं बातों की आध्यात्मिक तराजू से तौलकर अपनी अध्यात्मध्वनि में जो अपने मनोभाव व्यक्त किया है उनका रसास्वादन कीजिये। लेखक की आध्यात्मिकदृष्टि अध्यात्मप्रेमी बन्धुओं के लिए आनन्दायिनी है। आपकी शब्दावलि में दुरुह शब्दावलिका अनुकरण नहीं किया गया है, प्रकरणवश कहीं दुरुह शब्दावलि का अनुकरण हो गया है, पर उसे सरस एवं रोचक बनाने का भी ध्यान रखा गया है। लेखक के आनन्ददायिनी आध्यात्मिकशब्दों का रसास्वादन करके आनन्द लीजिये—

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यप्रभो, तुम्हारा स्वरूप अकिंचन है, मात्र तुम में तुम ही हो पर्याय से भी तुम चिपटे नहीं हो, सर्व पर्यायों में गुजरकर भी तुम एक स्वलक्षण रहते हो, किन्तु हो तुंग, त्रिकालव्यापी और कल्पना से रहित अतः तुम से अर्थात् तुम्हारी आराधना से जो फल मिल सकता है वह बड़े बड़े पुण्यभावरूप या पुण्यभावक फल वाले परिणामों की आराधना से नहीं मिल सकता। यह बात दृष्टान्त से भी प्रसिद्ध है कि जिस पर जल नहीं ऐसे उंचे पहाड़ों से तो नदी निकलती मिलती है किन्तु समुद्र जिसमें कि जल व्यक्तरूप से भरा हुआ दीख रहा उससे एक भी नदी नहीं निकलती यहां यह बात ध्वनित है कि सामान्य का स्वलक्षण अविशेष है तो भी उसमें विशेष प्रकट नहीं होता है ऐसी जिन्होंने प्रतीति अनुभूति की है उनके उच्चतम विशेष परिणाम प्रकट होते हैं, जिन्हें यह तत्व ज्ञात नहीं है उनकी विशेषपर ही दृष्टि रह पाती है, उससे उच्चतम लाभ नहीं मिल सकता है।

सारांश—चैतन्यस्वभावकी आराधनाको शान्ति मार्ग समझकर इसकी आराधना करो।

प्रस्तुत पुस्तक के 23 वें श्लोक में जब यह कही कि हे भगवान, भक्त आपको इस रूपमें मानकर गान तान करते हैं कि आप अमुक कुल के हैं, अमुक आपके मां बाप हैं—तो वे भक्तजन आपके सही ढंग से भक्त नहीं हो पाते हैं। वे तो इस तरह से गाकर आपका अपमान ही करते हैं। जैसे हाथ में आये हुए स्वर्ण को अज्ञानीजन अयथार्थ देते हैं कि यह तो अमुक के पुत्र हैं। सेठ जी की इसी बात को अध्यात्मिक रंग में रंगकर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने अपनी अध्यात्मध्वनि में जो अपने मनोभाव प्रदर्शित किये हैं उनका अवलोकन नीचे लिखे गद्यखण्ड से कीजिये—

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यप्रभो, पर्याय में अनादि से विकार को प्राप्त चले आये हुए तुम जब निबृत होने को होते हुए चरम मनुष्य पर्याय में विराजमान रहते हो और अनन्तज्ञानादिगुणों से सम्पन्न भी हो जाते हो, फिर भी यदि कोई आपके स्वरूपको न जानकर महिमा का निश्चय न कर शरीर की ही स्तुति करते हैं, तो प्रथम तो वे आपके स्वरूपका अपमान करते हैं, क्योंकि आप तो अमूर्त अनादि अनन्त हो। वस्तुतः वह अपने स्वभाव का ही अनादर करके अपनी महाहिंसा कर रहा है, फिर दूसरे वह मानों हाथ में आये सुवर्ण की तरह अर्थात् अनुपम आपको प्राप्त करके उपरी दृष्टि से अयथात्र निर्णय करके छोड़ देता है। वस्तुतः वह अपने आपका स्वभावदर्शन ही छोड़ देता है।

सारांश—चैतन्यस्वरूप जो तुम हो सो उसकी विवर्तो में न उलझकर अने उपयोग में उस ध्रुव निर्मलस्वरूपको देखो।

प्रस्तुत पुस्तक के 32 वें श्लोक में जब यह चर्चा आयी कि हे भगवान, केवल आपकी स्तुति करने मात्र से ही समस्त प्रकार की इष्टसिद्धियां नहीं प्राप्त होतीं, किन्तु आपके प्रति अंतरंग से भक्ति हो, आपका सच्चा स्मरण हो और आपके प्रति वास्तव्य प्रणमन हो। अतः हे देव, धर्ष प्रकार की इष्टसिद्धियां प्राप्त करने के लिए मैं आपको नित्यप्रति भजता हूं, स्मरण करता हूं और आपको हृदय से नमस्कार करता हूं। तो सेठ जी के इन मनोभावों को लेखक महादय की आध्यात्मिक दृष्टि को प्रस्तुत अध्यात्मध्वनि में देखिये—

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यप्रभो, केवल स्तुति अर्थात् गुणचर्चा से ही अभीष्ट सिद्धि नहीं है, किन्तु गुण चर्चा के बाद भक्ति प्रगाढ़ रूचि उस ही की स्मृति तथा उसकी में अद्वैत भाव से स्थिरता भी होना चाहिए, तब इट निज चिन्दानन्द की उपलब्धि है। अतः हे चैतन्य प्रभो, मैंने नाना नयों से आप की सर्व विशेषताओं को जानकर के चर्चा द्वारा स्वबाध दृढ़ कर लिया, अब मैं आपको ही भजता हूं। वस्तुस्थिति जानने से अब अन्यत्र मेरी रूचि ही नहीं रही, अतः आपको ही सेवता हूं और निरन्तर आपका ही समरण करूं, बीच में क्षण मात्र अन्यस्मरण इष्ट नहीं है, और आप कहीं अलग नहीं है। यह मैं ही तो हूं। परपरिणति भावना के कारण जुदा हो रहा था, अब अज्ञानदशा मिटी, परपरिणति करने का भ्रम समाप्त हुआ, स्वभाव में एकता प्रकटी सो इस ही में अद्वैतभाव से स्थिर रहूं। किसी भी उपाय से अर्थात् इस ही उपाय से अभीष्ट स्वरूपानुभूति साध्य है ही।

सारांश—इस ही चैतन्यप्रभुकी चर्चा, भक्ति, स्मृति, प्रणति स्थिरता करो, यही शिव है।

प्रस्तुत पुस्तक सेठ जी धनंजयजीने 38 वें श्लोक में जब यह कहा कि हे देव मैं आपके प्रति भक्ति करके आपके गुणों का गान करके दीनतापूर्वक आपसे कोई वरदान अर्थात् इष्ट फलकी सिद्धि नहीं मांगता हूं। आपसे मांगूं भी तो क्यों मामूं ? आप तो उपेक्षक ही हैं। यदि मैं आपसे कुछ मांगूं तो आप मेरी बात की ओर ध्या नही कहां देंगे? अथवा कुछ आप दे ही कहां सकेंगे? अरे आपका आश्रय करने वाले भक्तको तो वे सभी चीजें स्वयमेव ही प्राप्त होती हैं? जिस प्रकार वृक्ष के आश्रय में गये हुये व्यक्ति को वृक्ष द्वारा छाया सवयमेव ही प्राप्त हो जाती हैं, इसी प्रकार हे जिनेन्द्र देव, जो आपके प्रति सच्चे हृदय से भक्ति करता है उसको तो सभी इष्ट सिद्धियां स्वयमेव ही प्राप्त होती हैं। उसे किसी चीज के प्राप्त करने के लिए प्रभु से याचना नहीं करनी पड़ती। तो सेठ जी के इस प्रकार के मनोभावों को लेखक महोदय ने आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है। निज चैतन्य प्रभु के ही गुणों का स्मरण करके उसी को ही अपना स्वस्व लखा है। आध्यात्मिकता की अनोखी छटाका

दिग्दर्शन कराने वाली अध्यात्मध्वनि पाठक वृन्दों को अनादिविभोर कर देती है। लेखक की इन आध्यात्मिकता की लहरों में डुबकी लगाने वाले अध्यात्मप्रेमी बन्धु इस अध्यात्मवाणी को पढ़कर एवं सुनकर गद्गद् हो जाते हैं। इस गद्गद् कर देने वाली आध्यात्मिक वाणी का संक्षिप्त संकलन क्या आनन्द देता है इसे नीचे लिखे गद्यखण्डको ध्यान से पढ़कर देखिये—आनन्दानुभूति स्वयमेव ही होगी।

अध्यात्मध्वनि हे—चैतन्यप्रभो, इस प्रकार तुम्हारे गुणगान करके स्वरूपमहिमा बता करके दीनता से कोई घर नहीं मांगता हूँ, क्योंकि तुम तो अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यभाव हो, तममें लेन देन का व्यवहार नहीं है, स्वलक्षण ही ऐसा है। फिर मैं तुम से क्या याचना करूँ? दूसरी बात यह है कि याचना के भाव से तो कुछ लाभ होना ही नहीं है, तुम्हारे तो दर्शनमात्र से स्वयं लाभ होता है, पर्यायनिर्मलता प्रकट होती है। जैसे छाया वृक्ष के आश्रय से स्वयं का छायारूप परिणमन हो जाती है, वहाँ तो तुम अनादि अनन्त एक रूप होने से उपेक्षक ही हो फिर भी सर्व पर्याय तुझ में से ही प्रकट हाती हैं। जो तेरा आश्रय करता है वह शुद्ध परिणत हो जाता है और जो तुझ से विमुख रहते हैं वे अशुद्ध परिणत होते हैं।

सारांश—अनादि अनन्त अहेतुक उपेक्षक चैतन्यभाव के आश्रय से स्वयं परमपद प्रकट होता है। आध्यात्मिक रंग में हुए लेखक पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजनने पुस्तक के स्वानुभव का उपाय क्या है व स्वानुभाव का फल क्या है, इन सब तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। स्वानुभवकी परिभाषा देखिये पृष्ठ तीन पर—

स्व+अनु+भव—स्वानुभव, स्वके अनुकूल होना, परिणमना सो स्वानुभव है। स्व कहिये मैं स्वयं आत्मा स्वयं परसग रहित ज्ञानमात्र हूँ। ऐसा ही उपयोग में परिणमना सो स्वानुभव है। भेददृष्टि से आत्मा में अनेक गुण हैं। उनमें कितने ही गुण ऐसे हैं जिनके परिणमन से हित अहितका सम्बन्ध नहीं, जैसे अस्तित्व अमूर्तत्व आदि। कितने ही गुण ऐसे हैं जिनके परिणमन से हित व अहित का सम्बन्ध है। ये गुण भी ज्ञानमात्र स्वका अनुभव होने पर जो संकल्पविकल्परहित निज आत्मतत्त्व का उपयोग में अनुभवन होता है वह स्वानुभव है।

प्रस्तुत पुस्तक में मुक्ति के अमोघ उपायभूत स्वानुभवकी स्थिति व पद्धति के सम्बन्ध में जो वर्णन है वह अक्षर अक्षरशः पठनीय है। अतः किसी विशेष स्थलोंको न देकर पाठकों की जानकारी के लिए इस पुस्तक के पाठों का नाम दिया जा रहा है।

स्वानुभव	अद्वैतावलम्बीभाव	निश्चयभाव
चित्तनिरोधभाव	स्वसंवेदनवस्तुमग्नभाव	स्वरससाम्यभाव
आत्मसन्मुखोपयोग	इन्द्रियमनातीतभाव	समाधिभाव
भावश्रुत	निर्विकल्पदशा	वीतरागभाव
भावमति	स्वाचरण	निजधर्मभाव
स्थिरता	स्वसुखनुभव	यथास्वादरूपभाव
विश्राम	शुद्धोपयोगस्व	रूपमग्नभाव

प्रस्तुत पुस्तक के प्रतिपादन का क्या ध्येय है इसका दिग्दर्शन पुस्तक के प्रारम्भ में दिये गये मंगलाचरण से ही स्पष्ट हो जाता है। मंगलाचरण यह है—

स्वस्मिन् शुद्ध स्वयं स्तुत्वा स्वेन स्वस्य स्वतः ।

स्वस्मै स्वस्मिन् स्वयं स्वोअहं संचेतानि स्वसिद्धये ॥

अन्वय—स्वस्मिन् शुद्ध आत्मान स्वयं स्तुत्वा स्वयं स्वः अहं स्वस्य शं रूपं स्वेन स्वस्मै स्वतः स्वस्मिन् स्वसिद्धये संचेतानि ।

अर्थ—अपने आत्मा में शुद्धात्मा को स्वयं भाव से स्तुत करके स्वयं स्वरूप यह मैं अपने सुखमय रूपको अपने द्वारा अपने लिए अपनी अपनी परिणति से अपने में अपनी सिद्धि के लिए अनुभव करूं ।

इस मंगलाचरण का जो तात्पर्य लेखक महोदय ने लिखा है उसमें भेदस्तवन व अभेदस्तवनका विवरण देकर जो अभेद स्तवन की विधि का परिणाम बतया है वह तो अलौकिक है। पाठकजन इसे पढ़कर अध्यात्मविभोर हो जावेंगे ।

43. धर्म

पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजन द्वारा प्रणीत धर्म नामक यह पुस्तक यद्यपि छोटी है, किन्तु इसके विषयों का मनन करने वाले मानव निरन्तराय कल्याणलाभ कर सकेंगे, ऐसा उनका हृदय कह उठेगा। प्रथम ही प्रथम धर्मस्वरूपके प्रतिपादन के लिए लिखित संक्षिप्त भूमिका पढ़िये—

धर्म नाम स्वभाव का है, प्रत्येक वस्तु जब अपने धर्म का असली रूप रखता है तब तो वह सम शान्त सुस्थित रहता है और जब किसी अन्य वस्तु

का मेल पाकर अपने धर्म के विपरीत विकृत रूप में परिणमता है तब वह विषम अशान्त दुःखित हो जाता है। सब यही बात आत्मा में पायी जाती है।

सबसे पहिले तो आत्मा के विषय में यह निर्णय करना आवश्यक है कि मैं हूँ। इसके लिए अनुभव अधिक प्रामाणिक है। जिस पदार्थ में सुख, दुःख बोध की कल्पना पाई जाती है वह वास्तविक कोई पदार्थ है, अन्यथा सुख दुःख कौन करता? यदि यह कहा जाय कि सुख, दुःख आदि भ्रम मात्र हैं तो भ्रम ही सही, उस भ्रम को कौन करता? आधारभूत एक पदार्थ के माने बिना भ्रम बोध आदि का परिणमन हो राह है वह मैं आत्मा हूँ अनुभव द्वारा आत्मा की सत्ता स्वीकृत होने पर अब यह विचार कीजिए कि जो भी वस्तु होती है वह अपना स्वभाव अवश्य रखती है, अन्यथा स्वभाव बिना पदार्थ क्या? में वस्तुभूत हूँ, तब मेरा भी स्वभाव है। स्वभाव वह होता है जो अनादि अनन्त अपने आप सिद्ध है। आत्मा में ऐसा तत्व चैतन्य पाया जाता है जिसकी पहचान ज्ञानभाव है। जिसका सीधा सरल चिन्ह ज्ञानस्वभाव है, ऐसी प्रतीक हुआ। जहां ज्ञानस्वभाव है वही अनुभव है। जिसके अनुभव है चाहे स्वाभाविक परिणमन हो या वैभाविक उसको वेदन होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्मा का धर्म ज्ञानभाव है। अर्थात् मात्र जानना देखना आमा का धर्म है।

शान्ति—सुख चाहने वाले लोग धर्म में लगे उनको प्रकाश देने में समर्थ द्वितीय विषयक के संक्षिप्त तीन अनुच्छेद देखिये—

धर्म से शान्ति—सुख होता है तथा अधर्म से अशान्ति दुःख होता है अथवा धर्म स्वयं सुख शान्ति स्वरूप है अधर्म स्वयं अशान्ति —दुःखस्वरूप है।

जहां मात्र जानने देखने की स्थिति है एवं लेशमात्र न राग है, न द्वेष है, न इष्ट अनिष्ट संकल्प विकल्प है। वहां आकुलताका क्या काम है जहां आकुलता नहीं वहां सुख ही सुख है।

जहां मात्र जानने देखने की स्थिति नहीं है, किन्तु जानना देखना होने पर जानना देखना गौण करके रागद्वेष विषयक प्रवृत्तियों को अपनाया गया है, विषय कषायों का आदर हो गया है, उस भाव में आकुलता का ही भाव है। जहां आकुलता है वहां दुःख ही दुःख है।

संसार में जो दुःखों की वृद्धि है उसका कारण भ्रम है। इसका चित्रण देखिये एक उदाहरण द्वारा तृतीय विषय के अन्तिम अनुच्छेद में—

दुःख दूर करने का उपाय भ्रम दूर करना ही है। जैसे किसी हरिणको स्वेत धूलि वाली विशाल शष्क नदी में रेत के प्रति जलका भ्रम हो जाय तो वह प्यास बुझाने के लिए आगे डौड़ लगाता है। वहां यद्यपिज ल

नहीं मिलता, किन्तु आगे की धूलि में भ्रम होते रहने में दौड़ लगाता रहता है ओर जीवन समाप्त कर देता है जैसे ही मोही प्राणी इन्द्रियों के विषयों में सुख की बुद्धि करके विषयभूत पदार्थों के संग्रह में यत्न करता है, कदाचित् कुछ संयोग हो जाय तो शान्ति तो प्राप्त होती नहीं, संतोष तो होना नहीं किन्तु और संयोग के लिए के लिए यत्न करता है जिस परिश्रम से सक्लिष्ट होकर जीवन समाप्त कर देता है और आगे के भव में इससे भी निकृष्ट स्थिति पाता है। भ्रम ही महापाप है, सर्वदुःख का मूल है। भ्रम को सम्यग्ज्ञान के उपाय से दूर करो।

भ्रम दूर होने के उपाय के प्रकरण में तत्वज्ञान की संक्षिप्त विधि निरखकर अपने कल्याण लाभ की तैयारी कर लीजिए—

पदार्थ, पदार्थ तब ही रहता है जब कि वह अन्य सर्व के स्वरूपसे, परिणमन से पृथक् हो अन्यथा पदार्थ ही नहीं सकता। इस प्रकार जो अनन्तानन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल हैं एवं आकाश आदि द्रव्य हैं, वे सब अपने से अतिरिक्त सबसे अत्यन्त पृथक् हैं। यह ही वस्तुस्थिति है।

इस यथोक्त विधि से अपने आपको उन्मत्त पदार्थों से पृथक् अपनी अभिन्न शक्तियों से ही तन्मय पा लेना भेदविज्ञान है। इसके फलस्वरूप अपने आपके प्रति ज्ञानी को यह विश्वास बना रहता है कि मेरा ज्ञान व सुख अन्य पदार्थ नहीं आता। मैं ही अकेला मुक्त होने योग्य हूँ। अन्य पदार्थ का मुझमें अत्यन्ताभाव है। इस तरह सर्व से पृथक् अपने आपका ज्ञान होना भ्रम दूर होने का उपाय है।

दशवें प्रकरण में अनेक सम्प्रदायों के नामके अर्थ बताकर यह सिद्ध किया है कि सभी सम्प्रदायों का मूल में आत्मधर्म ही लक्ष्य शब्दों से प्रसिद्ध होता है।

धर्म एक वस्तुस्वभाव है, जो स्वयं सुखस्वरूप है, जो सुखस्वरूप है। यह ही तत्व सर्व सम्प्रदायों के नाम से ध्वनित होता है यथा—

जैन—मिथात्व रागद्वेषादि शत्रुओं को जीतने वाला जिन कहलाता है अर्थात् विशुद्ध ज्ञानस्वभाव से प्रकट हुआ परमात्मा जिन है और जिन भगवान द्वारा आदिष्ट उपदेशों को मानने वाला जैन है।

शैव—शिव परमसुख या रमकल्याणको कहते हैं। वह परमसुख आत्मा की विशुद्ध अवस्था स्वरूप है, उसकी उपासना करने वाला शैव है।

ईश्वरवादी—जो अपने अनन्तज्ञान आदि ऐश्वर्य से सम्पन्न है उसे ईश्वर कहते हैं, उसकी उपासना, स्तुति करने वाला ईश्वरवादी है।

ब्रह्मोपासक—जो अपने गुणों से वर्द्धनशील है, एवं अपनी सृष्टि में स्वतंत्र है इसे ब्रह्म कहते हैं। उसकी उपासना करने वाले ब्रह्मोपासक हैं।

रामभक्त—योगी जिसमें रमण करें वह राम है, उसके सेवक को रामभक्त कहते हैं।

वैष्णव—जो सर्वत्र व्यापे सो विष्णु है, उसकी उपासना करने वाला वैष्णव है।

बौद्ध—जो सर्व चराचर जगत को जाने सो बुद्ध है। उसके सेवक को बुद्ध कहते हैं।

हरिभक्त—जो पापो को हरे सो हरि है। हरि के सेवने वाले हरिभक्त हैं।

हिन्दू—जो हिं अर्थात् हिंसा से दूर हों सो हिन्दू हैं, वस्तुतः हिंसा रागद्वेष को ही कहते हैं।

उससे दूर ज्ञानस्वभाव है, उसके मानने वाले हिन्दू हैं।

पारसी—पारस समीप को कहते हैं, समीप में रहने वाले भगवान् मानने वाले पारसी हैं।

सिक्ख—ज्ञानस्वभावरूप धर्म के अनुशासन उपदेश में रहने वाले सिक्ख हैं।

मुसलमान—मुसले ईमान, ईमान पर दृढ़ रहने वाले मुसलमान हैं।

नैयायिक—न्याय को मानने वाले नैयायिक हैं।

वैशेषिक—विशेष को मानने वाले वैशाषिक हैं।

मीमांसक—निज को मानने वाले वैशेषिक हैं।

यौग—योग की उपासना करने वाले यौग कहलाते हैं।

ईसाई—ईस स्वामी को कहते हैं, यह अनुमूतिमात्र निज आत्मा भगवान ईश है, उसके भावकी उपासना करने वाले ईसाई कहलाते हैं।

राधावल्लभ—राधु संसिद्धौ, राधा आत्मसिद्धि का नाम है और आत्मसिद्धि के रुचिवान अथवा स्वामी को राधावल्लभ कहते हैं।

आर्य – जो विशुद्ध और सारभूत तत्वको परिणामें वह आर्य है। वह है अपने में चैतन्यभाव, उसकी उपासना करने वाले आर्य कहलाते हैं।

सनातनी—सनातन अर्थात् सदा से अनादि से और अनन्त काल तक रहने वाले तत्वको सनातन कहते हैं वह है अपने में चैतन्यस्वभाव, उसकी उपासना करने वाले सनातनी कहलाते हैं। इत्यादि सम्प्रदायों के नाम ज्ञान स्वभाव आत्मधर्म को सूचित करते हैं।

44. आत्मउपासना—

प्रस्तुत पुस्तक अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने 105 द्वारा रचित है। इसमें आत्मा की उपासना करने का सर्वत्र संकेत किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में आत्मकान्ति जिन्दाबाद नामक शीर्षक में लेखक महोदय ने आत्मा में एक कान्ति पैदा करने के लिए बड़ा ही प्रेरणात्मक शिक्षण दिया है। उसमें बताया है कि हे आत्मन् तुम्हारे अन्दर अचिन्तय भक्ति है। तुम व्यर्थ ही अपनी शक्ति को भूलकर अपरिमित यातनायें सह रहे हो। तुम तो स्वयं ज्ञानमय हो आनन्दमय हो, सर्वशक्तिमान हो, अनन्त वैभव के स्वामी हो। अपनी शक्ति को पहिचानो और साहस करके अपने सर्व संकट मेट लो। इस प्रकार की अनेक प्रेरणायें देने वाला आत्मकान्ति जिन्दाबाद नामक शीर्षक का गद्यखण्ड नीचे अवतरित है, उसका पठन पाठन कर अध्यात्मप्रेमी बन्धु अपने आपके आत्मतत्व में एक नवीन कान्ति उत्पन्न करें। गद्यखण्ड इस प्रकार है।

हे आत्मन् तुम ज्ञान—मय ही तो हो, सब अब सर्वत्र विलास होने दो, ज्ञान का साम्राज्य सत्य साम्राज्य है, अन्य तो सब आंतक ही हैं।

कोई जानता होगा कि राग का साधन मिल गया तो बड़ी कमायी पा ली। उस उस इन्द्रजाल के उपयोग से अपनी कितनी बरबादी करली, इस और चित ही नहीं डालता यह मोही प्राणी।

सुख एकाकीपन में है। है भी तू प्यारे एक। भ्रमबुद्धि में यह मनुष्य पर्याय का भी समय गुजार दोगे, तो मेरे शरण, बताओ कब नैया पार होगी?

मनको मार, वचन मत बोल, काय से तो तुझे करना ही क्या है? एक बार तो ऐसा सांचा ढाल, फिर मनसे जो बन पड़ेगा, वचन से जो बोला जायगा, कायकी जो चेष्टा हो बैठेगी, उनसे तुम्हें बाधा न आयेगी।

अब तो पूरी पूरी ठान ले, स्वमें ही रत होना है। कर्मों को हमने बांधा था, कुछ बात होने पर भी बांधा था—इस धैर्य के साथ कि बंध जाओ,

किसी भी समय थोड़ी ही बेला में तुमसे अच्छी तरह निजट लेंगे। अब उस धैर्य के साथ काम कर डालो।

मेरे आत्मन् तुमने दर्शन दिया, अब दर्शन के लाभ से बंचित न होने देना मुझे। इसके एवज में यदि किसी को उपसर्ग करके, बाधायेँ दे करके मन भरना है तो खूब भर लेवे। बन्दा इसके लिए सविनय तैयार है।

प्रस्तुत पुस्तक के अपना प्रसाद नामक शीर्षक में लेखक महोदय ने बताया है कि हे आत्मन् तुमही एक अनुपम तत्व हो, तुम ही ब्रह्म हो, अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करो। उस ही दृष्टि के प्रताप से तुम्हारा प्रसाद तुम्हें ही प्राप्त हो जायेगा अर्थात् तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। अतः अपने आत्माकी उपासना करो। “अपनी प्रसाद” नामक गद्यखण्ड इस प्रकार है।

हे प्रभो, हे आनन्दधन, तुम ही अनुपम तत्व हो, तुम ही ब्रह्म हो। अहं ब्रह्मस्मि। हे देव देवाधिदेव, निजरसनिर्भर, सच्चिदानन्द जयवंत प्रवर्ती।

हे परमतत्त्व ! तुम्हारी दृष्टि के प्रसाद से पर्याय भी निश्चल हो जाती है।

हे परमतत्त्व! तुम्हारी दृष्टि के प्रसाद से पर्याय भी निश्चल हो जाती है।

हे स्वतन्त्र तत्व! तुम्हारी दृष्टि के प्रसाद से पर्याय भी स्वतन्त्र हो जाती है।

हे स्वतः सिद्ध तत्व! तुम्हारी दृष्टि के प्रसाद से पर्याय भी स्वतः सिद्ध हो जाती है।

हें निर्विकल्प तत्व! तुम्हारी दृष्टि के प्रसाद से पर्याय भी निर्विकल्प हो जाती है।

लेखक महोदयने “विद्यार्थियों से” नामक शीर्षक में विद्या के अर्थी लोगों को आत्मा की उपासना के लिए प्रेरणा दिया है। आत्माकी उपासना करने का अर्थ है आत्माको उन्नतिशील बनाना। उनहोंने बताया हे कि आत्माकी उन्नति इस मानव पर्याय में ही की जा सकती है और आत्मा को उन्नत बनाने के लिए आत्मविद्याभ्यास करना, आवश्यक है। विद्यार्थी जीवन की शोभा इसी में है कि वह अपनी आत्माको प्रगति के पथपर अग्रसर करता रहे। यह भी बताया है आत्मविद्या के अर्थी जनमें कुछ विशेष गुणों का समावेश भी होना चाहिए ताकि वे आत्मविद्या प्राप्त करके अपना कल्याण कर सकें। आत्मउपासना करने की प्रेरणा जिस ढंग से विद्यार्थियों को दी है वह एक

सराहनीय चीज है। पाठकजन नीचे लिखे गद्यखण्ड का पठन पाठन कर एक अमोघ प्रेरणा लें और अपने आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हों।

विद्यार्थी जीवन संसार के समस्त प्राणियों में से केवल मनुष्य की ही प्राप्त होता है। अपनी उन्नति का मार्ग बना लेना ही विद्यार्थी जीवन की विशेषता है।

विद्यार्थियों को उन्नति के लिए संक्षेप में बताया जाये तो यह है कि वे इन 3 बातों पर अपना अधिकार जमालें: 1. विनय, 2. ब्रह्मचर्य, और 3. विद्याभ्यास।

विनय विद्योपार्जन का एवं स्वयं के व दूसरों के अभ्युदय की प्राप्ति का भूल मंत्र है। विनय से विद्यार्थे अल्पप्रयास से ही प्राप्त हो जाती हैं, गुरु एवं अन्य जनों का आशीर्वाद एवं प्रसाद प्राप्त होता है। विनयशील मानव कभी दुःखी नहीं हो सकता। विनय सेवा से आती है।

ब्रह्मचर्य—वीर्य शरीर का बल है और शुद्धभाव आत्माका बल है। यदि शरीर और आत्मा दोनों की ओर से बलिष्ठ रहना है तो शुद्ध भावों को बनाओ व वीर्य की रक्षा करो। अशुद्ध भाव होने पर वीर्य की रक्षा कठिन है। शुद्ध भाव वीर्य की रक्षा के कारण है। अतः शुद्धभाव व वीर्यरक्षा द्वारा ब्रह्मचर्य का अखण्ड पालन करो। एतदर्थ शुद्ध सात्विक आहार विहार करो।

प्रस्तुत पुस्तक में “गृहस्थपुरुषों से” नामक शीर्षक में लेखक महोदय ने गृहस्थों को सम्बोधा है कि हे गृहस्थजनो, तुम भी अपने आत्माकी उपासना में लगे। यही कार्य तुम्हारे किये जाने योग्य है। तुम्हें यह मानव पर्याय बड़ी दुर्लभता से प्राप्त हुई है और आत्मा उपासनाका कार्य इसी भव में किया जा सकता है। अब हे गृहस्थजनों, तुम्हें आत्मउपासना करने के लिए क्या करना होगा इसपर भी तो कुछ विचार करो। इस प्रकार का सम्बोधन देने वाला गद्यखण्ड प्रस्तुत पुस्तक में सभी के लिए अनुकरणीय है। अतः नीचे लिखे हुए गद्यखण्ड से प्रेरणायें प्राप्त करें और अपने कल्याण का कार्य करें।

गृहस्थजनों को अपना जीवन पार करने के लिए 3 बातों का पालन आवश्यक है—

1. आध्यात्मिकता, 2. आय से कम खर्च, 3. हितामियप्रिय व्यवहार।

आध्यात्मिकता — अपना व परपदार्थों का स्वरूप जानकर परपदार्थों की आसक्ति न करना और आत्मगुणों की ओर झुकना आध्यात्मिकता

है । इस आन्तरिक वृत्ति के कारण कलह विसम्बाद कपट आदि अनेक अवगुण समाप्त हो जाते हैं, जिससे शान्ति का साम्रज्य छा जाता है ।

आश्रसे कम खर्च –आय से कम खर्च करने से जीवन की अनेक चिन्तायें समाप्त हो जाती हैं ।

कम से कम खर्च जितना चाहे किया जा सकता है, इसके विश्वास के लिए गरीबों पर दृष्टि डालों । इस असार संसार में संकोच का क्या काम? अपना लाभ देखो ।

हितमियप्रिय व्यवहार:– आत्मशक्ति के अतिरिक्त सब अहित है । जड़ के उपयोग से तो जड़ता और अशान्ति ही मिलती है, ऐसा जानकर सबसे हितकारी परिमित सभ्यतापूर्ण प्रिय व्यवहार रखना उन्नति का अपूर्व साधन है ।

प्रस्तुत पुस्तक में 'गृहस्थ महिलाओंसे' नामक शीर्षक में लेखक महोदय ने गृहस्थ महिलाओं को सम्बोधन दिया है कि हे महिलाजनो, तुम अपनी शक्ति को पहिचानों आत्मानुभवके कार्य में लग जावो । आत्मोपासना करने का यही अवसर है । इस मानवजीवन को पाकर इस व्यर्थ में मत गवां दो । आपने पाये हुए इस दुर्लभ मानव जीवन से फायदा उठाओ । उस आत्मोपासनाक कार्य करने के लिए तुम्हें कुछ कार्य करने होंगे । वे कार्य क्या हैं व उनके करने से क्या लाभ होगा आदि बातों का अमूल्य सम्बोधन नीचे आये हुए गद्यखण्ड से कीजिये—

प्राप्त दुर्लभ इस मनुष्य जन्यकी सफलता निःसंग रहकर आत्मानुभव में रमने में है ।

परन्तु इसकी असमर्थता होने से महिलाओं ने गृहस्थधर्म ही अंगीकार किया है । इसे सफलता से गुजारने के लिए इन तीन बातों की आवश्यकता है— सत्यशीलमयवृत्ति, 2. गृहकार्यकी सुन्दर व्यवस्था, 3. हितमित प्रिय वचन ।

1. सत्यशीलमयवृत्ति—शीलव्रत से रहना, दूसरों का बुरा नहीं विचारना, न्याययुक्त प्रकट होते हैं जिससे खुदको एवं दूसरों को भी सत्यशान्ति प्राप्त होती है । यह गुण प्रधान आभूषण है ।
2. गृहकार्य की सुन्दर व्यवस्था—रसोई का प्रबंध, चीजों के रक्खे जाने की व्यवस्था, शिशुपालन, शिशुशिक्षण आदि गुरु सम्बन्धी ऐसी उत्तम व्यवस्था रखना जिसमें अन्य जीवों की हिंसा न हो और कुटुम्बको कोई चिन्ता न हो या रोग न हो ।

3. हितमित प्रिय वचन—जो दूसरों को सरमार्ग में लगावें ऐसे हितकारी वचन बोलना। साथ ही यह ध्यान रखना कि वे परिमित एवं प्रिय वचन हों।

यदि उक्त प्रकार का निष्काम कर्मयोग रखा तो यह भी गृहस्थ पदमें आत्माकी उपासना ही है। यह वृत्ति भी मोक्षमार्ग में परम्शरया सहायक है।

प्रस्तुत पुस्तक के धर्मके चिन्तरकण नामक शीर्षक में पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने यह बताया है कि आत्माकी उपासना करने वाले धर्मात्मा पुरुषको किस प्रकार का चिन्तन करना चाहिए जिससे कि वह कल्याण का पात्र बन सके। तो इस बात को लेखक ने जिन संक्षिप्त शब्दों में बताया है उसका पठन पाठन कर कान्ति कारी प्रेरणायें प्राप्त करें और अपना कल्याण करें।

- 1—मैं अनः दि अनन्त चैतन्यस्वभावी अभूर्त आत्मद्रव्य हूं।
2—हे' प्रभो, हे शुद्धात्मन्, जेसा तू शक्तिमान, स्वभाववाला द्रव्य है, वैसा ही मैं शक्तिमान् स्वभाव वाला हूं।
3—मैं सर्वपदार्थों से जुदा हूं न मैं दूसरों का हूं न मेरे दूसरे हैं। मैं तो एक ज्ञानमात्र हूं।
4—क्रोध, मान आदि सब दशायें नैमित्तिक भाव है, विनाशीक हैं, उन स्वरूप मैं नहीं हूं।
5—अहो, ये विकत्यजाल उठ रहे हैं, उठ भागो, तुमसे मेरा नाता नहीं, मैं ज्ञानमात्र हूं।
6—मैं अहेतुक अनादि अनन्त त्रुव हूं सदा सुरक्षित हूं।
7—मैं सर्व पर्यायों में जाने वाला, किसी भी पर्यायरूप न रहने वाला त्रैकालिक एक हूं।

45. समयसार महिमा

पूज्य श्री मत्कुन्दकुन्दाचार्यदेब द्वारा प्रणीत समयसार ग्रन्थ अनुपम अलौकिक अध्यात्मग्रन्थ है। उसकी प्रस्तावनारूप में पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने समयसारमहिमा की रचना की है। सर्वप्रथम पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने यह बताया है कि अनेक महर्षियों ने अतस्तत्त्वकी ओर ले जाने के लिए अपने अपने मर्तव्य प्रकट किये हैं। सावधीनी भरी दृष्टि से निहारने पर

विदित होता है कि सबका लक्ष्य समयसार होगा याने आत्माका सहजस्वभाव होगा। भले ही चाहे किसी दृष्टिका एकान्त करने से वह परिचय से परे हो जाय देखिये—

कुछ विवेकी महान् भावों की धारणा है— कि जिस परमब्रह्म परमेश्वर ने अपनी सृष्टि की है उस परमपिता परमात्माकी उपासना से ही दुःखी की मुक्ति हो सकती है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है—कि प्रकृति और युरुष में एकत्वका अध्यास होने से ही क्लेश एवं जन्म परम्परा हुई है, सो प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान कर लेने से ही क्लेश एवं जन्म परम्परा से मुक्ति मिल सकती है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है—कि क क्षणिक चित्तवृत्तियों में जो आत्मा मानने का भ्रम है, इस आत्मभ्रम से सारा क्लेश है, सो आत्माका भ्रम समाप्त कर देने से ही निर्वाण प्राप्त हो सकता है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि आत्मा तो शाश्वत निर्विकार है। उसमें विकार का जब तक भ्रम है तब तक जीव दुःखी है, विकास का भ्रम समाप्त होने से ही जीव शान्ति प्राप्त कर सकता है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि — दुष्कर्मों से ही जीव सांसारिक यातनायें सहता है और यातनाओं से मुक्ति पाना सत्कर्म करने से ही सम्भव है।

और, कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि विकल्पात्मक विविध उपयोगों से ही जीव का संसार परिभ्रमण चल रहा है । इस भवभ्रमणकी निवृत्ति निर्विकल्प समाधि से ही हो सकती है।

इत्यादि प्रज्ञापूर्ण अनेक धारणायें हैं। इनमें से किसी भी धारणा को इनमें कोई भी धारणा किसी दूसरे के विरुद्ध है। इन सब धारणाओं का जो लक्ष्य है वह सब है एक समयसार।

एक समयसार के यथार्थ परिज्ञान में उक्त समस्त उपाय गर्भित है। एक समय सार के परिज्ञान से उक्त सब उपाय कैसे प्रचलित हो जाते हैं यह बात अभिधेय समयसार के यत्किंचित् अभियान के पश्चात् कहीं तो विशद उक्तियों में और कहीं फलितार्थ रूप में प्रकट हो ही जावेंगी।

समयसार ग्रन्थ आत्महित के लिए कितना उपयोगी है इसकी झलक समयसार के मूलनाम समयपाहुड की शब्दव्यवस्था से विदित कीजिये—

समयसार आत्मतत्त्व की विवेचना का अनुपम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्राकृत भाषा में नाम समयपाहुड़ है, जिसका संस्कृतानुबाद है सम यप्राभृतका अर्थ भेंट भी होता है। जिससे यह ध्वनित हुआ कि समय अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा करने वाले मुमुक्षु समयसार राजा के दर्शन करने के लिए उद्यम करे तो इस भेटका उपयोग करें।

अब समयसार का लक्षण और समयसारके परिचायक नयों का प्रयोजनतत्व देखिये—

समयसार अर्थात् शुद्धआत्मतत्त्वका लक्षण इस प्रकार किया गया है कि जो न प्रमत्त्या कषायसहित और न अप्रमत या कषायरहित है, किन्तु एक शुद्ध ज्ञायकभावमय है, वह शुद्ध आत्मा है। इस शुद्ध आत्मा में बन्ध की कथा दूर ही रहे, इसमें ज्ञान दर्शन चारित्र आदिक गुणभेद भी नहीं है। फिर भी बुद्धि में गुणभेद आदि किये बिना परमार्थभूत आत्म को समझाया नहीं जा सकता। इसलिए गुणभेद आदि निरूपक व्यवहार परमार्थ के प्रतिपादक होने से वक्तव्य होतो है और यह व्यवहार भी पहिली पदवी में प्रयोजनवान है, किन्तु परमार्थभूत चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वके अवलोकन करने वालों को व्यवहार प्रयोजनवान नहीं है।

भूतार्थनय से जाने गये जीव अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संबर निर्जरा, बंध और मोक्ष सभ्यक्त्व है। यहां कारण में कार्य का उपचार करके सभ्यक्त्व का वर्णन किया है। जिससे यह भाव निकला कि भूतार्थ नय से जाने गये जीवादि नवतत्त्व सभ्यक्त्व के कारण हैं। गुण पर्यायों के भेद से उठा कर एकत्व में लें जाने वाले नयको भूतार्थनय कहते हैं।

अहंकार और ममकार भाव तो अज्ञान है ही, किन्तु परद्रव्य के साथ अपना कर्तृकर्मत्व सम्बन्ध मानना भी विकट अज्ञान है। अथवा यह कर्तृकर्मत्वकी मान्यता अहंकार व ममकार में भी गर्भित हो सकती है। यह कर्तृकर्मत्वकी मान्यता आनी जीवों के आशय से इतनी प्रबल बैठी होती है कि उस जीव को परमात्मतत्व, अन्तस्तत्वका दर्शन नहीं हो पाता। इसी कारण आचार्य देव ने समयसार ग्रन्थ में कर्तृकर्मत्वाधिकार पृथक से लिखा है। उसके सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण करने के पश्चात् पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने निष्कर्ष लिखा है—

यहां दो दृष्टियों से यह निर्णय करना चाहिए—1. निश्चयननसे जीव पुद्गलकर्म का कर्ता नहीं है। 2. व्यवहारनय से जीव पुद्गल कर्मका कर्ता हैं 1. निश्चयनय से जीव पुद्गलकर्मका भोक्ता नहीं है। 1. व्यवहारनयसे जीव पुद्गल कर्मका भोक्ता है। 2. निश्चयनय से जीव में राग द्वेष आदि नहीं है।

2. व्यवहारनय से जीव में रागद्वेषादि हैं। 1. निश्चयनय से जीवपुद्गल के परिणमन का निमित्त नहीं है। 2. व्यवहार से जीव पुद्गल परिणमन का निमित्त है। इत्यादि अनेक चर्चायें दोनों नय से स्पष्ट कर लेना चाहिए। पश्चात् समयसार के अनुभव के उद्यम में दोनों ही नयपक्षों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैसे कि पूर्ण निर्मल, देवाधिदेव, सर्वज्ञ परमात्मा विज्ञानधनभूत होने के कारण नयपक्ष के परिग्रहसे दूर होने से किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते हैं, इसी प्रकार जिनसंज्ञक जो निर्मल सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी, अन्तरात्मा श्रुतज्ञानात्मक विकल्प वाले हैं होकर भी परिग्रह के प्रति उत्सुकता से निवृत्त होने के कारण विकल्प-भूमिका से दूर होकर स्वरूप को ही जानते हैं और किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।

निर्जराधिकार के विवरण करने से पहिले ही निर्जरा के मार्मिक स्वरूपको संक्षिप्त कथन में स्पष्ट किय है सो मनन कीजिये—

कर्तकर्माधिकार में सब द्रव्यों की स्वतन्त्रता बताकर यह सिद्ध किया गया है कि कोई भी पदार्थ किसी भी अन्य पदार्थ का कर्ता नहीं हो सकता तथा भोक्ता नहीं हो सकता। आत्मा भी निकट सम्पर्क वाले भी कर्मका कर्ता भोक्ता नहीं है। देखिए पृ0 17-18

अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा तो मात्र अपने अशुद्ध भावका कर्ता है, उसको निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्म यपसे स्वयं परिणाम जाता है। जैसे कि हवा के चलने के निमित्त से समुद्र में तरंग उठती है। निश्चय से तरंगों का कर्ता समुद्र ही है, हवा तो उसमें निमित्त है। हवा में हवा कार्य है, समुद्र में समुद्र की परिणति है। प्रत्येक द्रव्यकी स्वतन्त्र सत्तात्मकता के ज्ञान से कर्मबन्ध रूकता है। और परको आत्मा मानने व आत्माको पर रूप मानने से कर्म का बन्ध होता है। अथवा पर को आत्मा मानने वाला अज्ञानी जीव कर्मका कर्ता होता है। वस्तुतः तो अज्ञानी जीव भी कर्मका कर्ता नहीं है। परन्तु अपने अशुद्ध भावका कर्ता है। उस अशुद्ध भाव को निमित्त मानकर कर्मका आश्रव स्वयं हो जाता है। वस्तुतः कर्माश्रवका निमित्त रूपसे भी जीव कर्ता नहीं है, किन्तु उसके योग व उपयोग जो कि अनित्य हैं, वे अनित्य परिणमन ही वहां निमित्त हैं। क्योंकि यह वस्तुस्वभाव अटल है—कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के रूप या अन्य के गुणपग्रय रूप नहीं हो सकता ह। इसलिए यह सुसिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गल कर्म का कर्ता नहीं है।

पुण्यकर्म व पापकर्म दोनों ही जीवन के लिए बन्धन हैं। दोनों से पार होकर अवस्था में हित है इसका चित्रण देखिये पृष्ठ 19 में—

जैसे कि चाहे सुवर्ण की बेड़ी हो, चाहे लोहे की बेड़ी हो, कैदी के लिए दोनों भारभूत हैं। इस लिए दोनों प्रकार के कर्मों को बंधमार्ग जानकर इनमें जानकर इनमें या इनके कारणभूत भावों में व आश्रयभूत विषयों में मन, वचन, काय से राग व ससर्ग छोड़ देना चाहिए। रागी जीव कर्मों को बांधता है व विरागी आत्मा कर्मों से छूट जाता है, इसलिए चाहे शुभ कर्म हो, चाहे अशुभ कर्म हो, किसी भी कर्म में राग मत करो।

सर्वविशुद्ध ज्ञाज्ञाधिकार में ज्ञानकी सही महिमा बताते हुए ज्ञानकी निर्लेपताका वर्णन एक दृष्टान्तपूर्वक किया है—देखें पृ0 30—31।

जैसे दृष्टि दृष्टमान पदार्थ से अत्यन्त भिन्न हैं वह दृश्य वस्तुको न तो करती है और न भोगती है। केवल देखती मात्र है, क्योंकि यदि करे तो अग्नि को देखने से नेत्र तृप्त व भस्म हो जाना चाहिए। इसी प्रकार ज्ञान भी एक दृष्टि ही तो है, वह किसी पदार्थ को न तो करता है और न भोगता है। वह तो तत्त्वज्ञान के कारण परपदार्थ को अहं व ममरूपसे अनुभव न कर सकने के कारण केवल जानता है, चाहे बंध हो, मोक्ष हो, उदय हो या कुछ हो।

आत्मा तो सहज अविकार स्वभाव है, उसमें विकार आना तो अज्ञानकी महिमा है। इस विषयको पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने कैसे संक्षिप्त सरल शब्दों में समझाया है—देखिए पृ0 34।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में परिणमन नहीं होता, अन्यथा द्रव्यसीमा ही नष्ट हो जायगी। अब आत्मा जो दूसरे द्रव्य की और आकर्षित होता है वह रागी द्वेषी होता है, वह अज्ञान की प्रेरणा है। यह रागद्वेष तब तक रहता है जब तक ज्ञान ज्ञानरूप से न रहे, किन्तु ज्ञेयार्थ परिणमन करता रहे।

कौई भी ज्ञेय आत्मा को प्रेरित नहीं करते कि तूम हमको जानों, देखो, स्वादो, छूओ, सुनो, सूँघों और आत्मा भी स्वप्रदेश से च्युत होकर उनमें प्रवेश कर जानना आदि का कार्य नहीं करता, किन्तु ज्ञान अपने परिणमन से जानता है। बाह्य पदार्थ का आत्मा में सम्बन्ध नहीं फिर भी आत्मा भी आत्मा में विकार आवे तो व अज्ञान की महिमा है।

विकार के झड़ने का नाम निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है— 1. भावनिर्जरा, 2. द्रव्यनिर्जरा। सुख दुःख रागद्वेषादि विभाव जो उदित हुए, वे बन्धके कारण न बनें और झड़ जावें इसका नाम तो भावनिर्जरा है और इसी कारण अन्य बन्ध का कारण न बनकर उन कर्मों का व अन्य कर्मों का निष्फल झड़ जाना सो द्रव्यनिर्जरा है।

समयसार का टिकाकार पूज्य श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा रचित परिशिष्ट अधिकार बहुत महत्वपूर्ण अधिकार है। इसके विवरण में पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने 8 सिद्धान्त युगलों का संक्षिप्त में जो प्रकाश बिखेरा है। उससे सभी दार्शनिकों को अपनी समस्याका समाधान भी मिलता है और मुमुक्षुओं को अपना पन्थ भी दृष्ट होता है—वह इस प्रकार है—

1-2. आत्मा ज्ञानशक्ति से चिद्रूप है व ज्ञेयाकार परिणमन से अतद्रूप है। मैं ज्ञायकता से भी शून्य हूं ऐसा अथवा सर्व वस्तुओं से भी तद्रूप हूं ऐसा नहीं मानना।

3-4. ज्ञानमात्र आत्मा अखण्ड एक ज्ञानस्वभावकी अपेक्षा एक है, वह ज्ञेयाकार पर्यायों में अपेक्षा अनेक है, ज्ञेयाकार मुझमें नहीं है। ऐसा यह ज्ञेयाकार हूं ऐसा नहीं मानना।

5-6. ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञाता द्रव्यकी अपेक्षा से सत् है वह ज्ञेयाकार पर्यायों की अपेक्षा असत् है अथवा ज्ञाता द्रव्यकी अपेक्षा सत् है, वह ज्ञायमान परद्रव्यकी अपेक्षा असत् है। ज्ञाता द्रव्य ही द्रव्यरूप है व परद्रव्य सब ही मैं हूं ऐसा नहीं मानना।

7-8. ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानाकार क्षेत्र से असत् है, अथवा स्वक्षेत्र से सत् है वे ज्ञेयभूत पर वस्तु के क्षेत्र से असत् है, परपक्षेत्रसे असत् है। परपक्षेत्रगत ज्ञेयार्थ परिणमन से ही मैं हूं ऐसा व ज्ञेयाकार का मुझ में सर्वथा त्याग है ऐसा नहीं मानना।

9-10. ज्ञानमात्र आत्मा कालपर्याय सामान्य से सत् है व काल विशेष से असत् अथवा स्वपर्यायसे सत् है अथवा परपर्यायसे असत् है, पदार्थों के आलम्बनकाल में ही सत् है व आलम्बित अर्थ के विनाशकाल में विनाश है, ऐसा नहीं मानना।

11-12. ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञायकभाव से सत् है, ज्ञेयभाव से असत् है अथवा गुण से सत् है, परके गुण से असत् है। सब ही भाव में मैं हूं या मैं ही सब भाव हूं ऐसा नहीं मानना।

13-14. ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानशक्ति अपेक्षा नित्य है, ज्ञेयाकार विशेष पर्याय की अपेक्षा अनित्य है ज्ञानमात्र आत्मा को सर्वथा नित्य या अनित्य नहीं मानना।

14-15. ज्ञानमात्र आत्मा द्रव्यदृष्टि से अभेदात्मक है, व्यवहारदृष्टि से भेदात्मक है।

46. अध्यात्मरत्नत्रयी

पूज्यपाद श्रीमत्कुन्दकुन्दाआचार्यदेव प्रणीत समयसार, प्रवचनसार, नियमसार इन ग्रन्थों की प्राकृत गाथाओं के रूप में पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने हिन्दी अनुवाद किया है, जिसकी गाथा के रागमें पढ़ा जाता है और मूल गाथाओं के पाठ जैसा-ज्ञानानन्द लाभ होता है। इसमें सर्वप्रथम गाथा में मंगलाचरण कहकर चार गाथाओं में प्रतिपाद्य विषयकी सूचना के रूप में भूमिका का वर्णन करके छठी गाथा में शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहा है गाथा 1 से 6-

बंदन करि सिद्धों को, ध्रुव अचल अनूप जिन सुगति पाई।

सकय प्राभूत कहूंगा, यह श्रुतकेवलि-प्रणीत अहो॥2॥

दर्शन ज्ञान चरित में सुस्थित जीवों को स्वसमय जानो।

औपाधिक माया के, रूचियों को पर समय मानो॥2॥

सुन्दर शिव सत्य यहां एकस्वरूपी विशुद्ध चित्तत्वम्।

किन्तु मृगा बन्धकथा, आत्मविसंवादकारिणी बनती॥3॥

जानी सुनी अनुभवी, जीवों ने काम-भोगबंध कथां

इससे विविक्त यह निज, एकस्वभावी न ज्ञात हुआ॥4॥

आत्मविभवके द्वारा उस उक्तविभक्तको लखाउं।

यदि लख जावे मानों, न लेख तो दोष मत गहना॥5॥

नहिं रागी न विरागी, केवल चैतन्यमात्र ज्ञायक यह।

निर्नाम शुद्ध वह जो, ज्ञात हुआ वह वही शाश्वत॥6॥

अज्ञानी जीव कैसा होता है इसका वर्णन करके भ्रमनिवारण के यत्न में आत्मा अनात्माकी परस्पर विभिन्नता दिखाने के लिए युक्ति दी गई हैं, इसे देखिये गाथा 19 से 25 तक-

यदि विभाव देहों में, यह मैं मैं यह, की एकता जब तक।

मति में जिसके रहती, अज्ञानी, जीव है तब तक॥19॥

जगमें जो कुछ दिखता, सजीव निर्जीव मिश्र वा वस्तु।

यह में यह मैं मैं हूं, इसका यह सब तथा मेरा ॥20॥

मैं पहिले मेरा था, इसका मैं था भि पूर्व समयों में ।

मैं होउंगा इसका, यह सब होगा तथा मेरा ॥21॥

ऐसा असत्य अपना, करता मानन विकल्प यह मोही ।

किन्तु नहिं भ्रान्ति करता, भूतार्थात्मज्ञ निर्मोही ॥22॥

अज्ञान मुग्धबुद्धि, जीव बना विविधभावसंयोगी ।

इससे कहता तन तुति, नारी भवनादि मेरे हैं ॥23॥

सर्वज्ञज्ञान में यह झलका, चित् नित्य ज्ञानदर्शनमय ।

वह पुद्गल क्यों होगा, फिर क्यों कहता कि यह मेरा ॥24॥

यदि जीव बने पुद्गल, पुद्गल बन जाय जीव जो कबहूँ ।

तो कहना बन सकता, पुद्गल मेरा न पर ऐसा ॥25॥

अब पूर्वरंग अन्त में आत्मा के स्वरूप और उसकी भावना की संक्षिप्त
शैली में पद्धति देखिये— गागा

मैं एक शुद्ध चिन्मय, शुचि ज्ञानदर्शनमय अरूपी हूँ ।

अन्य परमाण तक भी, मेरा कुछ भी नहीं होता ॥38॥

सयमसार ग्रन्थ में कर्तृकर्माधार रखकर प्रणीता आचार्य देव ने
भव्यजनों का महान उपकार किया है । प्रायः संसारी प्राणी अपने को परका
कर्ता मानकर व परको अपना कर्ता मानकर जन्म मरण करते रहने की
यातनायें सहरहे हैं । एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें कर्तृत्व मानने का भ्रम मिटे
बिना जीव को सम्यक्त्व की पात्रता नहीं होती । इसहित का अविष्कार इस
अधिकार में है । इसकी प्रारम्भिक गाथायें देखिये—69 से 73 तक—

जब तक न लखे अन्तर, आश्रव आत्मस्वरूप दोनों में ।

तब तक वह अज्ञानी, क्रोधदिक में लगा रहता ॥69॥

यों क्रोधदिक में लगा जो, संचय उसके ही कर्मका होता ।

यों बंध जीवका हो, दर्शाया सर्व दर्शीने ॥70॥

जब इस आत्मा द्वारा, आश्रव आत्मस्वरूपमें अन्तर ।

हो जाता ज्ञात तभी से, इसके बंध नहीं होता ।।71

अशुचि विपरित आश्रव, दुःख के कारण हैं जानकर ज्ञानी ।

क्रोधदि आश्रव से, स्वयं सहज पृथक हो जाता है ।।72 ।।

में एक शुद्ध केवल, निर्ममत सुयुक्त ज्ञान दर्शन से ।

इसमें लीन हुआ अब, आश्रव प्रक्षीण करता हूं ।।73 ।।

अज्ञानी आत्माको कर्मका कर्ता व ज्ञानी को कर्मका अकर्ता कहा है
इस विषय को व्यक्त करने वाली दो गाथाये इस प्रकार हैं—गागा —92—93

परको अपना करता, अपने को भि पररूप यह करता ।

अज्ञानमयी आत्मा, सो कर्ता होय कर्मोका ।।92 ।।

परको निज नहीं करता, अपने को न पर रूप करता यह ।

सज्ञानमयी आत्मा, कर्ता होता न कर्मोका ।।93 ।।

पुण्य पापाधिकार में यह दर्शाया है कि पुण्य और पापकर्म दोनों ही
जीवका अहित करने वाले हैं, इसका वर्णन एक दृष्टान्त में रखकर किया
है—गाथा 143—147 तक ।

शुद्धात्मतत्त्व ज्ञाता, दोनों नयपक्ष जनता केवल ।

नहीं कोई पक्ष गहता, वह तो नयपक्षपरिहारी ।।143 ।।

सर्वनयपक्ष अवगत जो है उसको समयसार कहा ।

यह ही केवल सम्यग्दर्शन, संज्ञान कहलाता ।।144 ।।

है पापकर्म कुत्सित, सुशील है पुण्यकर्म जग जाने ।

शुभ है कुशील कैसा, लोह संकल है जीवको बांधे ।

जैसे सुवर्ण अथवा, लो संकल है जीवको बांधे ।

त्यों कृतकर्म अशुभ या, शुभ हो सब जीवों को बांधे ।।146 ।।

इससे तम राग करो, नहीं संसर्ग दोनों कुशीलों से ।

स्वाधीनघात निश्चित, कुशील संसर्ग अनुरति से ।।147 ।।

निर्जराधिकार में कहा है कि ज्ञान व वैराग्य के बल से ज्ञानी कर्मोदय को भोगता हुआ भी कर्म से बंधता नहीं है। उसका दृष्टान्तपूर्वक वर्णन देखिये—195—197 तक

जैसे विष उपभोगी, वैध पुरुष मरणको नहीं पाता।

पुद्गल कर्मउदयको, भोगे नहिं पिञ्जजन बंधता ॥195॥

अरति भावसे जैसे, मदिरा पीता पुरुष नहीं मदता।

द्रव्य भोगमें तैसे, विरक्त ज्ञानी नहीं बंधता ॥196॥

सेता हुआ न सेवे, सेते भी कोई नहीं सेवक।

परजन कार्य निरत भी, प्राकरणिक भी नहीं होता ॥197॥

ज्ञान में लीन होने व परवस्तु से उपेक्षा करने में ही जीवका हित है, इसकी प्रेरणा कितने सरल व सरस शब्दों में किया गया है—देखिये — 206

—209 —

इस ज्ञान में सदा रत हो ओ संतुष्य नित्य इस ही में।

इससे हि तृप्त हो ओ, सुख तेरे उत्तम हि होगा ॥206॥

कौन सुधी है ऐसा, जो परद्रव्यको कह उठे मेरा।

आत्मपरिग्रह आत्मा, निश्चय से जानता भी यह ॥207॥

अन्य परिग्रह मेरा, यदि हो मुझ में अजीवपन होगा।

ज्ञाता ही में इससे, कोई परिग्रह नहीं मेरा ॥208॥

छिदो भिदो ले जावो, विनशो अथवा जहां तहां जावो।

तो भी निश्चय से कुछ, कोई परिग्रह नहीं मेरा ॥209॥

बंधाधिकार में बताया है कि कर्मबन्धका कारण बाह्यपदार्थ परचेष्टायें नहीं हैं, किन्तु उपयोग में रागदि का आना है। तथा बंधाभावका कारण उपयोग में रागदिका न आना है। इसका वर्णन देखिये गाथा 237 — से 246 तक —

जैसे तैल लगाये, कोई पुरुष धूलिपूर्ण भीमी मैं।

स्थिर होकर शस्त्रों से, नाना व्यायाम करता है ॥237॥

ताड़ बांध कदलीको, विछेदता भेदता हि व्यायामी ।
 करता उपघात वहां सजीव निर्जीव द्रव्यों का ॥238॥
 नाना विध करणों से, उपघात कर रहे हुए पुरुष के ।
 चिपटी हुई धुलीका, किस कारण से हुआ बंधन ॥239॥
 स्नेह लगा उस नरके, इस कारण से हि धूलिबन्ध हुआ ।
 निश्चयसे यह जानो, हुआ नहीं कायचेष्टा से ॥240॥
 यों यह मिथ्यादृष्टि, विविध चेष्टा में वर्तमान हुआ ।
 उपयोग में रागादि, करता लिपता बंधे रजसे ॥241॥
 जैसे फिर वही पुरुष, समस्त उस तैल को अलग करके ।
 उस धूलि भरी क्षिति में, करता श्रम पूर्ण शस्त्रों से ॥242॥
 ताड़ बांस कदलीको, विछेदता भेदता पुरुष वैसे ।
 करता उपघात वहां, सजीव निर्जीव द्रव्यों का ॥243॥
 नाना विध कारणों से, उपघात कर रहते हुए पुरुषके ।
 निश्चय से सोचो किस कारण से धूलिबंध नहीं ॥244॥
 तैल नहीं उस नरके, इससे उसके धूलिबंध हुआ ।
 निश्चय से यह जानो, हुआ न कुछ कायेष्टासे ॥245॥
 यों यह सम्यग्दृष्टि, विविध योगों में वर्तमान हुआ ।
 उपयोग में रागदि करता न कर्म से बंधता ॥246॥

वास्तविक ज्ञान हुए बिना जीव शास्त्र पढ़कर भी विकार को नहीं
 छोड़ता व वास्तविक ज्ञान जागने पर विकार से हटा हुआ होता है । कर्मका
 अकर्ता व अभौक्ता होता है । इसका वर्णन देखिये गाथा-317 से 320 तक –

नहीं छोड़ता प्रकृति को, अभव्य अच्छे भि शास्त्र को पढ़कर ।
 गुड़ दूध पानकर ज्यों न सर्प निर्विष कभी हो तो ॥317॥
 वैराग्य प्राप्त ज्ञानी, मधर कटुक विविधकर्म के फलको ।

जानता मात्र केवल, इससे उनका अवेदक वह ।।318।।

नहिं कर्ता नहिं भोक्ता, ज्ञानी नाना प्रकार कर्मोका ।

जानता मात्र निधिफल, बन्ध तागि पुण्य पापों का ।।319।।

ज्ञान नयन दृष्टि क्यों, होय अकर्ता तथा अभोक्ता भी ।

बन्ध मोक्ष कर्मोदय, निर्जको जानता वह है ।।320।।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में बताया है कि एक द्रव्य का परिणमन नहीं करता और न उससे तन्मय होता है । इसका वर्णन -349- से -355- तक देखिए -

जैसे शिल्पी करता, भूषण कर्म नहिं कर्म से तन्मय ।

वैसे जीव भि करता, कर्म नहीं कर्म से तन्मय ।।349।।

जैसे शिल्पी करता, करणों से करण में नहिं तन्मय ।

वैसे जीव भि करता, करणोंसे किन्तु नकहं तन्मय ।।350।।

जैसे शिल्पी गहता, करणों को करण में नहीं तन्मय ।

वैसे जीव भि गहता, करणों को किन्तु नहिं तन्मय ।।351।।

ज्यों शिल्पी कृतिफलको, भोगे नहीं फलसे न तन्मयी होता ।

ज्यों जीव कर्मफलको, भोगे नहीं तन्मयी होता ।।352।।

यों व्यवहारशयका, दर्शन संक्षेप से बताया है ।

अब निज परिणाम चिहित, निश्चयनयका वचन सुनिये ।।353।।

ज्यों शिल्पी करता है, चेष्टा उससे अनन्य होता वह ।

ज्यों भावकर्म करता जीव भि उससे अनन्य हुआ ।।354।।

ज्यों चेष्टा करता यह शिल्पी फल में अभिन्न दुःख पाता ।

त्यों चेष्टा कर आत्मा, फलमें भि अभिन्न दुःख पाता ।।355।।

प्रवचनसार ग्रन्थ में ज्ञानाधिकार के प्रकरणों में एक स्थल पर बताया है कि इन्द्रिय विषय से पीड़ित होकर प्राणी प्राकृतिक ही दुःख पा लेता है और फिर कभी जो कुछ सुखकी अनुभूति करता है वह कहीं विषय से निकला वह

भी आत्माके आनन्द गुणका एक विपरिणमन है। इस सम्बन्धी गाथाओं का पूज्य पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराज के द्वारा किया गया अनुवाद देखिये— गाथा नं. 63 से 68 तक,

नृसुरासुरेन्द्र पीड़ित, प्राकृतिक इन्द्रियों के द्वारा ही।
उस दुःख को न सहन कर, रमते हैं रम्य विषयों में ॥62॥
जिनकी विषयों में रति, उनके तो क्लेश प्राकृतिक जानो।
दुःख यदि हो उनके तो, विषयार्थ प्रवृत्ति नहीं होती ॥64॥
स्पर्शादि से समाश्रित, इष्ट विषय या स्वभाव से आत्मा।
परिणममान स्वयं सुख, होता नहीं हेह सुखहेतुक ॥65॥
स्वर्ग में भी नियम से, देही के देहसे नहीं सुख है।
विषयवश से स्वयं यह सुख या दुःखरूप होता है ॥66॥
जिसकी दृष्टि तिमिरहर, उसकी दीपसे कार्य ज्यों नहीं कुछ।
त्यों आत्मा सौख्यमयी, वहां विषय कार्य क्या करते? ॥67॥
स्वयमेव सूर्य नभमें तेजस्वी उष्ण देव हैं जैसे।
स्वयमेव सिद्ध सुखमय, ज्ञान तथा देव हैं तैसे ॥68॥

प्रवचनसारके चारित्राधिकार में साधुजनों के लिए आगमज्ञान, तत्वश्रद्धान, निर्मोहता, समता, रागद्वेष रहितताका उपदेश किया है, उसका दिग्दर्शन कीजिए अनुवाद में गाथा 236 से 245 तक –

आगमपूर्वक दृष्टि, जिसके न है ही न संयम उसके।
ऐसा है जिन भाषित, असंयमी हो श्रवण कैसे? ॥236॥
आगमज्ञानमात्र से, सिद्धि नहीं यदि न तत्वश्रद्धा हो।
तत्वश्रद्दालु भी यदि असंयमी हो न मोक्ष पाता है ॥237॥
अज्ञानी जितने विधि, कीड़ा भवमें विनष्ट कर देता।
ज्ञानी उतने विधिको, त्रिगुप्त हो छिनक में नशता ॥238॥
परमाणुमात्र मूर्छा, देह तथा इन्द्रियादि में जिसके।

रहती हो वह सर्वा—गमधर भी सिद्धि नहीं पाता ।।349 ।।
 समिति गुप्तिसे संयुक्त, इन्द्रियविजयी कषायपरिहारी ।
 दर्शन ज्ञान सु—संयत, श्रमण कहा संयमी जिनने ।।240 ।।
 शत्रु बन्धुओं में सम सुख दूख में सम प्रशंस निन्दा मे ।
 लापठ व कांचन में सम, जन्म — मरण सम श्रमण होता ।।241 ।।
 चारित्र ज्ञान दर्शन, तीनों में एक साथ जो उत्थित ।
 ऐकाग्रयगत हुआ वह, उसके श्रामण्य है पूरा ।।242 ।।
 यदि अज्ञानी हो मुनि, करि आश्रय पर विभिन्न द्रव्यों का ।
 मोह तूषे रूषे तो बांधे विविध कर्मों को ।।243 ।।
 मोह न पदार्थोंमें, तूषे नहीं द्वेष नहीं करे जो यदि ।
 वह श्रमण विविध कर्मोंका, प्रक्षय नियत करता है ।।244 ।।
 श्रमण शुद्धोपयोगी, शुभोपयोगी भि श्रमण दोनों हैं
 किन्तु शुद्धोपयोगी, अनाश्रवी शेष सास्रव हैं ।।245 ।।

नियमसार शुद्धभावाधिकार में शुद्ध आत्माकी विशेषता जाती है उसकी
 दो गाथाओं के अनुवादमें मनन कीजिए—गाथा—43—44 —

निर्दण्डी निर्द्वन्दों, निर्मम निष्कम तथा निरावलम्बी ।
 नीरागी निर्दोषी, निर्मोहि निर्भयी आत्मः ।।43 ।।
 निर्गन्धी नीरागी, निःशल्य व सकज दोष से व्यपगत ।
 निष्कामी निष्क्रेधी, निर्मानी विगतमद आत्मा ।।44 ।।

नियमसार के परमार्थ प्रतिक्रिमणधिकार ने साधकों का बड़ा उपकार
 किया है । भावशुद्धि की कितनी अमोघ साधना इसमें भरी है, पाठक स्वयं मनन
 करके जान सकते हैं गाथा 77 से 94 तक—

मैं नरक भाव नहीं, तिर्यच मनुष्य देव भी नहीं हूं ।
 कर्ता न न करियता, कर्ताका, हूं न अनुमोदक ।।77 ।।
 हूं मार्गणास्थान नहीं, न गुणास्थान व जीवस्थान नहीं

कर्ता न, न करियता, कर्ताका हूं न अनुमोदक ।।78।।
बाल नहीं, बृद्ध नहीं। तरुण नहीं उनका न कारण भी।
कर्ता न करियता, कर्ता का हूं न अनुमोदक ।।79।।
राग नहीं, द्वेष नहीं, मोह नहीं उनका कारण नहीं।
कर्ता न न कारयिता, का हूं न अनुमोदक ।।80।।
क्रोध नहीं मान नहीं माया नहीं हूं न लोभ भी मैं हूं।
कर्ता न न कारियता, कर्ता का हूं अनुमोदक ।।81।।
यों भेदाभ्यास हुए, हो माध्यस्थ्य उससे ही चारित्र।
उसको दृढ़ करण निमित्त, प्रतिक्रमणदिक को कहूंगा ।।82।।
छोड़कर वचन रचना, करके रागादिभावका बारण।
आत्माको ध्याता जो, प्रतिक्रमण सत्य है उसके ।।83।।
आराधनामें रहता, जो तजकर सब विराधनाको मुनि।
वह प्रतिक्रमण होता, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है ।।84।।
अनाचारको तजकर, आचारमें स्थिरभाव जो करता।
छोड़ि उन्मार्ग को जो, जिन पथमें स्वयं भावको करता।
वह प्रतिक्रमण होता, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है ।।86।।
सत्यभावको तजकर, जो निःशल्य में साधु परिणमता।
प्रतिक्रमण होता, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है ।।87।।
तजि अगुपत भावों में को, त्रिगुप्तिगुप्त जो साधु होता है।
वह प्रतिक्रमण होता, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है ।।88।।
आर्त रौद्र ध्यानों को तजकर जो धर्म शुक्ल हो ध्याता।
जिनवर प्रोद्गत सूत्रों में, वह स्वयं प्रतिक्रमण है ।।89।।
किथ्यात्वभाव आदिक, जीवने पूर्व सुचिार समय आये।
सम्यक्त्वभाव आदिक, भाये नहीं जीवने कबहूँ ।।90।।

पूर्ण रूपसे तजकर, दर्शन ज्ञान चारित्र मिथ्याको ।
सम्यक्त्व ज्ञान चर्याको जो भावे प्रतिक्रमण वह ॥91॥
उत्तमार्थ यह आस्मा, उसमें स्थित साधु कर्म को नाशे ।
इसमें परम ध्या नही, उपमार्थ का प्रतिक्रमण है ॥92॥
ध्यान विलीन साधु ही, समस्त दोषका तयाग करता है ।
इससे परम ध्या नही उत्तमार्थ का प्रतिक्रमण है ॥93॥
प्रतिक्रमण सूत्रों में जैसा वर्णित प्रतिक्रमण वैसा ।
जानकर भावता जो सो उसके प्रतिक्रमण होता ॥94॥

नियमसार के परमसमाधि अधिकार में परमसमाधिके विषय में तीन गाथाओं में एक प्रकाश दिया गया है उसका अनुवाद गाथा 122 से 124 तक देखिये —

वचनोच्चारणकिरिया—को—तजकर वीतरागभाव छि से ।
जो आत्मा को ध्याता, उसके हि परमसमाधी है ॥122॥
संयम नियम तपस्या, धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान के द्वारा ।
जो आत्माको ध्याता उसके हि परम समाधी है ॥123॥
समता रहित श्रमणके, कायक्लेश बनवास विविध अनशन ।
अध्ययन मौन आदिक, क्या फल ये कुछ भि कर सकते ॥124॥

Samayasar Exposition Purva Rang

Samayasar Exposition Jivanjivadhikar

समयसारकी गाथाओं का पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने इंगलिश भाषा में एकसपोजीशन किया है । गाथाओं के भावों को कुछ आर्टीकिलों में विभक्त करके उसका संक्षिप्त शब्दों में जो सपष्टीकरण है वह मननीय है । देखिये समयसारकी दूसरी गाथाओं में छिपे हुए इस भाव कि जो स्वससमय व परसमय दोनो अवस्थाओं में रहता है वह अखण्ड आत्मा क्या है इसको देखिये पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी महाराजने शब्दों में —

What is the indivisible soul?

The Soul which has its simple existence in all its states is called an indivisible soul. It is described as the source of becoming supreme soul, because the soul can not be developed if one dose not concenrate on the simple soul.

आत्मा का एकत्व आश्रयणीय है, किन्तु आश्रय करने का उपाय क्या है? इसका अबधारण कीजिये तीसरी गाथा के तीसरे आर्टिकल में –

The way of perceiving the soul's nature:-

The nature is oneness it is perceived in its nature of oneness without relativity. Perceived in this way the soul is sublime. This realization which is occasioned from the point of view of the oneness is blissful.

| शुद्धात्माके वर्णन के प्रसंग में आत्मा का स्वभाव, पवित्रत्व व एकत्व के सम्बन्ध में वर्णन देखिए, 6ठी गाथा के तीसरे आर्टिकल में—

The nature or singularity of soul:-

the purity can not be perceibed through the vision of any state whether contrary or nature Becouse, the states are not the pure soul but the one of which the states are passing in ssuccession in a pure soul. It is neither dispassionate, nor passionate. The pure soul is permanent commn and the sameone. And the modes of soul, whether contrary or naturalare passing distinctively and severally. There is a difference, that contrary modes are passing in dissimilar ways but natural states are similar.

| आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श व शब्द से रहित है, इस तत्य को 6-6 प्रकार से घटित किया गया है। अदाहरणार्थ आत्मा की रसरहितता का विवरण पढ़िये गाथा 49 के प्रथम आर्टिकल में—

Soul is tasteless.

Soul is tasteless because of six reasons.

1-Soul is separate and different from matter which has taste's so soul has no taste the attribute.

2-Soul itself is not taste the attribute because the soul is different from attributes of matter and the taste is nature of matter only.

3-Soul is not owner of mass. Therefore it cannot taste through body sense.

4-Really soul does not taste through emotional sense because the emotions which are caused due to subsidence cum decay of Karmas are not natural.

5-Soul has a nature of knowing, so taste also as others is reflected in knowledge of soul. It does not know only taste.

6-Soul is not identical with taste and mass through it knows taste and mass.

| आत्मस्वरूप ममतारहित है, इसका संयुक्तकथ्य विवरण देखिये गाथा 36 के प्रथम आर्टिकल में—

Why in the delusion not of the soul.

Delusion arises on arising of deluding Karma. The delusion is said to be continued due to Karma the material thing. Because of this the delusion is an emotion of other things that is Karma. Therefore the delusion can not be some thing of soul. The simple Knowledge perception etc, are of soul.

समयसार ग्रन्थी की जीवजीवाधिकार में आत्मा को शुद्ध अविकार सहज चैतन्यस्वरूप बताकर समस्य विकारों को अजीव प्रसिद्ध किया है। गुणस्थान, संयमलब्धिस्थान, अध्यात्मस्थान, मार्गण आदि जैसे परिणामों को भी अजीव प्रसिद्ध किया है। इसका कारण यह बताया गया है कि ये सब पुद्गल परिणाम हैं। इसके हेतू देखिए गाथा 44, आर्टिकल 3, पेज 97, 98 ।

जीव रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द से रहित है, चैतनागुण वाला, अलिंगग्रहण व अनिर्दिष्टसंस्थान है। यहां रस आदि से रहित पनेकी 66-6-6 युक्तियां बताई गयी हैं। उदाहरणार्थ रस रहित सिद्ध करने की 6 पद्धतियां देखिए-गाथा 49, आर्टिकल 1, पृ0 107 व 108 ।

वर्ण आदि गुणस्थानपर्यन्त भाव निश्चय के जीव के नहीं हैं, फिर भी ग्रन्थों में व्यवहारनय से जीव के कहे गये हैं। इस विषय को स्पष्ट समझने के लिए यह देखिए कि निश्चयन की दृष्टि क्या तत्व बताती है और व्यवहारनयकी दृष्टि क्या वर्णन कर देती है। देखें गाथा 56, आर्टिकल 1 व 2 ।

गुणस्थान आदिक निश्चय से जीव के नहीं हैं इसका कारण समझने के लिए देखिए गाथा 68 आर्टिकल 1 ।

49. समयसार एक्सपोजीशन कर्तृकर्माधिकार

समयसार ग्रन्थ में जीवजीवाधिकार के अनन्तर कर्तृकर्माधिकार आया है। इस अधिकार का परिचय जिज्ञासु मुमुक्षुओं के लिए बहुत उपयोगी है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में कर्तापन व कर्मत्व नहीं है, किन्तु स्वयं का स्वयं में कर्तृत्व व कर्मत्व है। इस तथ्य के परिज्ञान के बल से अहंकार, ममकार, कर्तृत्व व भोक्तृत्व बुद्धि जैसी महती विडम्बानयें नष्ट हो जाती हैं। इसका इंगलिश भाषा में एक्सपोजीशन पूज्य श्री महाराज वर्णी महाराज द्वारा रचा जा चुका है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

50. द्रव्यसंग्रह प्रनोत्तर टीका

पूज्य श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ का 58 गाथाओं में निर्माण किया है। इसी प्रकार ग्रन्थपर पूज्य श्री महाराज वर्णी महाराजने करीब 2400 प्रश्न व उत्तर के रूपमें ऐसी सुगम और तत्वदर्शन करने वाली टीका रची है जिसके अध्ययनसे आध्यात्मिक करणानुयोग, चरणनुयोग व दार्शनिक विषयों का बहुत ही स्वष्ट परिज्ञान हो जाता है। इसमें प्रत्येक बात को युक्तिपुरःसर सिद्ध किया गया है।

इस ग्रन्थ की प्रथम गाथा में मंगलचरण में जीवमजीव लिखा है। इस ही के विषय में देखिये किस युक्ति से सिद्ध किया गया है कि गाथा में जवमजीव देने की ही महती उपयोगिता है। बदले में अन्य शब्द की नहीं। देखिये प्रश्न नं० 3 व 4।

प्रश्न 3—द्रव्य के नाम के लिए यहां जीव व अजीव इतने शब्दों से क्यों कहा?

उत्तर—जीव व अजीव के परिज्ञान बिना स्वभाव की प्राप्ति असम्भव है अतः निज के स्वभाव जानने के प्रयोजन को जीव शब्द से बताया है व अन्य जिन सबों से लक्ष्य हटाना है उनको अजीब शब्दों से कहा है।

प्रश्न 4—मूर्त अमूर्त इस प्रकार भी तो द्रव्य के दो प्रकार हैं तब मुत्तममुतं दव्वं इस प्रकार क्यों नहीं गहा गया?

उत्तर—मूर्त अमूर्त कहने पर अमूर्त आत्मा मूर्त से तो पृथक हो गया किन्तु अमूर्त अन्य 4 द्रव्यों से पृथक प्रतीत नहीं हो पाता अतः केवल आत्मा के ध्यान का मार्ग बताने के उद्देश्य से रचित ने इस ग्रन्थ में जीव अजीव शब्द का प्रयोग किया है।

ज्ञान तो 5 कहे हैं और दर्शन 4 बताये गये हैं सो मतिज्ञान के पहिले चक्षुदर्शन या अचक्षुदर्शन हो जाते हैं। अवधिज्ञान से पहिले अवधिदर्शन हो जाता है। केवलज्ञान के साथ साथ केवलदर्शन होता रहता है। अब श्रुतज्ञान व मनः पर्ययज्ञान ये दो ज्ञान ऐसे रहे जिनके पहिले दर्शन नहीं होता तो प्रश्न हुआ है क श्रुतज्ञान व मनः पर्ययज्ञान से पहिले दर्शन क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर देखिये कितने संक्षेप में युक्तिपुःसर दिया गया है—

प्रश्न6—श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान से पहिले दर्शन क्यों नहीं होता?

उत्तर—ये दोनों ज्ञान पर्यायविकल्पकी मुख्यता करके जानते हैं और जो पर्यायविकल्प की मुख्यता लेकर जानते हैं उन ज्ञानों से पहिले दर्शन नहीं होता। ये दोनों ज्ञान मति ज्ञानोपयोग के अनन्तर हो लेते हैं।

गुणस्थान व मार्गस्थानों के विस्तृत वर्णन करके जब उन सबसे अतीत सिद्ध भगवान के स्वरूपका वर्णन कर चुके तब यह जिज्ञासा होती है कि सिद्ध प्रभु का स्वरूप जानने से हमें क्या शिक्षा मिलना चाहिये? इसके उत्तर में देखिये 14 वीं गाथा का 50 वां प्रश्नोत्तर—

प्रश्न—सिद्ध प्रभुके स्वरूप जानने से हमें क्या शिक्षा लेना चाहिये?

उत्तर—अनन्त आनन्द आत्यांतिक शुद्ध सिद्ध पर्यायकी जिस स्वभाव के साथ एकता हुई एकता हुई है वह स्वभाव मुझ में भी अनादि सिद्ध है। इस स्वभाव की भावना, उपासना और इसी स्वभाव के अवलम्बन से शुद्ध निर्मल सिद्ध पर्याय प्रकट होती है। एतदर्थ निज सहज सिद्ध चैतन्यस्वभाव में अपनी वर्तमान ज्ञानपर्याय जोड़ना चाहिये।

शुद्ध जीव में उत्पाद व्यय ध्रौव्य किस प्रकार सिद्ध होता है इसका विवरण देखिये 24 वीं गाथा के न.0 14,15,16 प्रश्नोत्तर में —

प्रश्न 14— शुद्ध जीव में उत्पाद व्यय ध्रौव्य कैसे है?

उत्तर—मनुष्यगतिरूप विभावव्यजनपर्याय का व्यय व सिद्ध पर्यायरूप स्वभावव्यंजन पर्याय का उत्पाद और जीवप्रदेश वही है अथवा द्रव्यतव वही है तो ध्रौव्य इस प्रकार जीव में उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। यह व्यंजन पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व्यय ध्रौव्य है।

प्रश्न. 15—अर्थपर्याय की अपेक्षा शुद्ध जीव में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य कैसे है?

उत्तर—परममसमाधिरूप कारणसमयसार का व्यय और अनन्तज्ञान दर्शन आनन्द विकास रूप कार्य समयसार का उत्पाद व जीव द्रव्य यही है ध्रौव्य, इस प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्य है।

प्रश्न 16—यह तो मुक्त होने के समय का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य है, क्या मुक्त होने पर भविष्यत्कालों में भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सिद्ध जीवों में होता है?

उत्तर—वर्तमान केवलज्ञान आदि शुद्ध विकास उत्पाद व पूर्वक्षणीय केवलज्ञान आदि शुद्ध विकास व्यय व द्रव्य वही, इस प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्य रहता है। सिद्धजीवों में शुद्ध विकास रूप शुद्ध परिणमन ही प्रतिसमय नव नव होता रहता है।

परमाणु तो शुद्ध होकर फिर भी अशुद्ध हो सकता है, किन्तु जीव शुद्ध होकर फिर अशुद्ध नहीं होता, इस तथ्य के कारणों का समाधान प्राप्त कीजिये गाथा 25 के 4 त्र 5 नं.0 के प्रश्नोत्तर में—

प्रश्न 4—परमाणु तो शुद्ध होकर फिर अशुद्ध क्यों हो जाता है?

उत्तर—परमाणु के अशुद्ध होने का कारण स्निग्ध रूक्ष परिणमन है। शुद्ध होने पर अर्थात् केवल एक परमाणु रहजाने पर भी स्निग्ध या रूक्ष

परिणमन रहता ही है, अतः स्निग्ध या रूक्ष परिणमन रूप कारण के होने से स्कंधरूप कार्य का होना याने अशुद्ध होना युक्त हो जाता है।

प्रश्न 5—शुद्ध जीव फिर अशुद्ध क्यों नहीं होता है?

उत्तर—जीव के अशुद्ध होने का कारण रागद्वेष है। यह रागद्वेष चारित्रगुण का विकार है। जीव के शुद्ध होन पर रागद्वेष का अत्यन्त अभाव हो जाता है और चारित्रगुण स्वभाव रूप स्वच्छ परिणमनन हो जाता है। इस तरह अशुद्ध होने के कारणभूत रागद्वेष के न पाये जाने से शुद्ध जीव फिर अशुद्ध नहीं हो सकता।

जिस शुद्ध चैतन्यस्वभाव का आश्रय करने से ऐसा शुद्ध चेतन परिणाम होता है कि वह आस्रवका निरोध कर देता है, उस चैतन्यस्वभाव के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त कीजिए 34 वीं गाथा के 3, 4, 5, 6, 7 न0 के प्रश्नोंत्तर से —

प्रश्न 3—शुद्ध चैतन्यस्वभाव अनाद्यन्त कैसे है?

उत्तर—चैतन अथवा चैतन्यस्वभाव सत् है सत् की न आदि होती है और न अन्त होता है। केवल परिणमन होता रहता है । यहां परिणमन पर दृष्टि नहीं है, क्योंकि परिणमन तो समयसार रह कर नष्ट होता रहता है । यहां परिणमन पर दृष्टि नहीं है, मैं आगे भी रहता हूं। परिणमन समय मात्र को होता है, मैं उससे पहिले भी था। अतः मैं अनाद्यन्त हूं।

प्रश्न 4— शुद्ध चैतन्यस्वभाव अहेतुक कैसे है?

उत्तर—चैतन्यस्वभाव स्वतः सिद्ध है, वह किन्हीं कारणों से उत्पन्न नहीं हुआ। कारणों से उत्पन्न तो पर्याय होती है, क्योंकि प्रति विशिष्ट पर्याय जो होती है वह पहिले नहीं थी। मैं अथवा चैतन्यस्वभाव पहिले नहीं था ऐसा नहीं है। अतः मैं अहेतूत हूं अथवा चैतन्यस्वभाव अहेतुक है।

प्रश्न 5—चैतन्यस्वभाव सहजानन्दमय कैसे है?

उत्तर—चैतन में आनन्द गुण सहज है, स्वभावस्वरूप है। आत्मा का न तो आनन्दगुण किसी अनय द्रव्य से होता है तथा शुद्ध चैतन्यस्वभावकी भावना में सहज अनुपम परम आनन्द प्रकट होता है जिससे स्वभाव का पूर्ण साक्षात परिचय मिलता है। अतः चैतन्यस्वभाव सहजानन्दमय है।

प्रश्न 6— चैतन्यस्वभाव नित्य प्रकाशमान कैसे है?

उत्तर – चैतन्यस्वभाव दर्शनज्ञान सामान्यात्मक है। यह स्वभाव तो नित्य प्रकाशमान है ही, किन्तु इसका प्रत्यय सम्यग्दृष्टि को होता है । व्यवहार में भी ज्ञान दर्शन का किसी न किसी रूपमें विकास प्रत्येक जीव में रहता है । वह चैतन्यस्वभाव का ही तो विकास है । अतः चैतन्यस्वभाव नित्य प्रकाशमान है ।

प्रश्न –7– चैतन्यस्वभाव ध्रुव क्यों है?

उत्तर—चैतन अथवा चैतन्यस्वभाव अविनाशी है, सत् है । सत् का कभी विनाश नहीं होता। अतः चैतन अथवा चैतन्यस्वभाव ध्रुव है।

ब्रत समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, चारित्र, परीषहजयों का विवरण करके जब यह प्रश्न उठाया गया परीषहजय से क्या क्या लाभ हैं, तो उसके उत्तर में देखिए लाभ, गाथा न. 35 के 290 न. के प्रश्नोत्तरमें—

प्रश्न 290—परीषहजय से क्या क्या लाभ है?

उत्तर—परीषहजय के लाभ इस प्रकार हैं—

1. बिना दुःख के अभ्यास किया हुआ ज्ञान दुःख उपस्थित होने पर भ्रष्ट हो सकता किन्तु दुःखों में धैर्य बनाने वाले परीषहजय के अभ्यासी का ज्ञान भ्रष्ट नहीं हो सकता। अतः परीषहजय से ज्ञान की दृढ़ता का लाभ है।
2. कर्मों का उदय निष्फल टल जाना।
3. पूर्व स्थित कर्मों की निर्जरा होना।
4. नवीन अशुभ कर्मों का व यथोचित शुभ कर्मों का संबन्ध होना।
5. सदा निःशंक रहना।
6. आगामी भ से, मुक्त रहना।
7. धैर्य, क्षमा, संतोष आदि की वृद्धि से इस लोक में सुखी रहना।
8. पाप प्रकृतियों के नाश होने से परलोक में नाना अभ्युदय मिलना।

9. सर्वसंसार दुःखों से रहित परमानन्द मय मोक्षपद मिलना इत्यादि अनेक लाभ परीषहजय से होते हैं।

रत्नत्रयके संविस्तृत वर्णन के प्रसंग में एक प्रश्न हुआ कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के क्या कारण हैं? उसका समाधान देखिये कितनी संक्षिप्त भाषा में सर्वांग समाधान है। गाथा न. 40 प्रश्नोत्तर न. 3—

प्रश्न—3— सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के क्या कारण हैं?

उत्तर—सम्यग्दर्शन उपादान कारण सम्यग्दर्शन के पूर्व की पर्याय से परिणत व इस प्रकार की विशिष्ट योग्यता वाला आत्मा है। अंतरंगं निमित्त कारण दर्शनमोह व अनन्तानुबन्धी कषायका उपशम, क्षयोपशम या क्षय है। बाह्य निमित्त कारण जिन सूत्रका उपदेश है। उपचरित्र बाह्य कारण जिन सूत्र के जानने वाले वे पुरुष हैं जिनसे यर्थाथ उपदेश प्राप्त होता है। तथा जिन विम्ब के दर्शन, तपस्वी, ध्यानी साधुओं के दर्शन आदि हैं

हिंसा के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में देखिये संक्षिप्त में ही कितनी स्पष्टता है। गाथा न. 30 के प्रश्न 12 से 20 तक—

प्रश्न—हिंसा किसे कहते हैं

उत्तर—कषाय के द्वारा अपने व परके प्राणों के घात करने को हिंसा कहते हैं।

प्रश्न—13 परके घातमें अपनी हिंसा तो नहीं होती होगी?

उत्तर—कषायवश दूसरों के घात करने में अपनी हिंसा तो सुनिश्चित ही है। दूसरों के घात का उद्यम ही किया जावे और उसमें पर जीव का चाहे घात न भी हो तो भी निज हिंसा तो हो ही जाती है।

प्रश्न14—मरण के अतिरिक्त भी कोई हिंसा है क्या?

उत्तर—निज हिंसा तो वास्तव में कषायों का होना है। इससे अपने चैतन्य प्राण का घात होता है, पर हिंसा चित्तका दुखाना, संक्लेश करना आदि भी है।

प्रश्न15—हिंसा के कितने भेद हैं?

उत्तर—हिंसाके 4 भेद हैं—1.संकल्पी, 2. उद्यमी हिंसा, 3. आरम्भी, 4. विरोधी।

प्रश्न16—संकल्पी हिंसा किसे कहते हैं?

उत्तर – इरादतन किसी जीव के घात करने को संकल्पी हिंसा कहते हैं।

प्रश्न-17-उद्यम हिंसा किसे कहते हैं?

उत्तर-सावधानी सहित व्यापार करते हुए भी हिंसा हो जाती है वह उद्यमी हिंसा है।

प्रश्न18-आरम्भी हिंसा किसे कहते हैं?

उत्तर-रसोई आदि घर में आरम्भों को सावधानी से विचारपूर्वक करते हुए भी जो हिंसा हो जाती है उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं

प्रश्न-19-विरोधी हिंसा किसे कहते हैं?

उत्तर – किसी आक्रमक मनुष्य या तिर्यच्च के द्वारा धन जन शील आदि के नाश का प्रसंग आनेपर रक्षा के लिये उसके साथ प्रत्याकृमण करने पर जो हिंसा हो जाती है उसे विरोधी हिंसा कहते हैं।

प्रश्न-20-सुना है कि गृहस्थ को केवल संकल्पी हिंसा ही लगती है, शेष हिंसा नहीं?

उत्तर-हिंसा तो जो करेगा उसे सभी हिंसा लगती है, किन्तु गृहस्थ ने अभ संकल्पों हिंसा ही त्यागकर पाया है शेष हिंसावों का कह त्याग नहीं कर पाया है।

प्रथम गाथा के मंगलाचरण में देववृन्दवन्य वृषभदेव को नमस्कार किया है। इस वन्दना के सम्बन्ध में बन्दना की पद्धतियों का वर्णन किया है किस नय से किस प्रकार बन्दन होता है। देखिये गाथा- 1. प्रश्नोंत्तर 11 से 17 तक।

प्रश्न-11-बंदन कितने प्रकार से होता है?

उत्तर- जितनी दृष्टियां हैं उतने प्रकार से बन्दन हैं, उनको संक्षिप्त करने पर ये पांच दृष्टियां प्राप्त होती हैं-1. व्ययहारनय, 2.अशुद्धनिश्चयनय, 3. एकदेश शुद्ध निश्चयनय, 4. सर्वशुद्धनिश्चयनय।

प्रश्न-12- व्यवहारनय से किसको बंदन किया जाता है?

उत्तर-व्यवहारनय से अनन्त ज्ञात अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्तशक्ति सम्पन्न घातिकर्म क्षयसिद्ध तीर्थकर परमदेव को नमस्कार किया है।

प्रश्न-13-अशुद्ध निश्चयनय से किसको बन्दन हुआ?

उत्तर-तीर्थकर परमदे के लक्ष्यके निमित्त से जो प्रसाद व भक्तिभाव हुआ है उस भाव को उस भावमें परिणत होने रूप बन्दन हुआ है।

प्रश्न-14-एकदेश शुद्ध निश्चयनय से किसका बन्दन हुआ?

उत्तर-इस नयसे निज आत्मा में ही जो शुद्धोपयोग अंश प्रकट हुआ है उसके उपयोगरूप बन्दन हुआ है।

प्रश्न-15-सर्वशुद्धनिश्चयनयसे किसको बन्दन हुआ है?

उत्तर-इस नयसे पूर्णशुद्ध पर्याय गृहीत होती है वह बन्दन के है नहीं और जब होगी तब केवल शुद्ध परिणमन है, वहां मात्र ज्ञाता दृष्टा रहते हैं।

प्रश्न-16-परमशुद्ध निश्चयनयसे किसको नमस्कार हुआ?

उत्तर-यह नय विकल्पातीत अनादिनिघन स्वतः सिद्ध चैतन्यमात्र को देखता है, वहां बंध बंदक भाव नहीं है।

प्रश्न-17-शब्दप्रणाली से तो व्यवहारनय से बंदन हुआ ओर परमशुद्ध निश्चयनय व सर्वशुद्ध निश्चयनयको छोड़कर शेष अशुद्ध निश्चयनय व एकदेश शुद्ध निश्चयनय से पूर्वाक्त बंदन अन्तर्निहित है।

उपयोग के वर्णन के स्थल में उपयोगका स्वरूप और उसके भेदका वर्णन करके भेदों के जो स्वरूप दिये है वे मननीय हैं। उदाहरणार्थ मतिज्ञान का स्वरूप देखिये गाथा 5, प्रश्नोत्तर 8 से 15 तक।

प्रश्न-मतिज्ञान का क्या स्वरूप है?

उत्तर-मतिज्ञानावरण एवं वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से तथा इन्द्रिय मन के निमित्त से वस्तु का एक देश ज्ञान होना मतिज्ञान है।

प्रश्न-9-तब तो यह मतिज्ञान बहुत ही पराधीन हो गया?

उत्तर-उक्त निमित्तों के रहते हुए भी मतिज्ञान ज्ञानस्वभाव के उपादान से ही प्रकट होता है अन्य द्रव्यों से नहीं, अतः स्वाधीन ही है।

प्रश्न-10-मतिज्ञान का प्रसिद्ध परनाम क्या है?

उत्तर-मतिज्ञानका प्रसिद्ध अपरनाम अभिनिबोधिकज्ञान है।

प्रश्न-11-आभिनिबोधिकज्ञानका शब्दार्थ क्या है?

उत्तर-आभियाने अभिमुख और नियाने नियमित अर्थ के अवबोध को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न12-अभिमुख किसे कहते हैं?

उत्तर - स्थूल, वर्तमान और व्यवधान रहित पदार्थों को अभिमुख कहते हैं।

प्रश्न13-नियमित किसे कहते हैं?

उत्तर - इन्द्रिय और मनके नियत विषयों को नियमित पदार्थ कहते हैं?

प्रश्न-15-मनमें कौन सा विषय नियत है?

उत्तर-मन में दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पदार्थ नियमित है।

ग्यारहवीं गाथा में स्थारवर व त्रस जीवों का वर्णन किया है उसमें बनस्पतिकायिक जीवों का विवरण देखिये। प्रायः लोगों को इसके सम्बन्ध में परिचय कम रहता है व स्पष्टता नहीं हो पाती। इस विषयको प्रश्नोत्तर के रूपमें कितनी कमबद्धता व स्पष्टता से पूज्य श्री महाराज वर्णी महाराज वर्णन किया है सो देखिये गाथा 11, प्रश्नोत्तर 13 से 29 तक।

प्रश्न-13-बनस्पतिकाय जीव किन्हें कहते हैं?

उत्तर-जिनका बनस्पति ही शरीर है उन्हें बनस्पतिकाय जीव कहते हैं। जो जीव बनस्पतिकाय में उत्पन्न होने के लिए मोड़े वाली विग्रहगति से जा रहा है उसे भी वायुकाय कहते हैं इस जीव का -शुद्ध बनस्पति जीव है।

प्रश्न-14-बनस्पतिकाय जीव कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर-बनस्पतिकाय जीव दो प्रकार के होते हैं-

1.प्रत्येक बनस्पति,

2.साधारणबनस्पति।

प्रश्न-15-प्रत्येक बनस्पतिकाय जीव किन्हें कहते हैं?

उत्तर-जिन बनस्पतिकाय जीवों का शरीर प्रत्येक है अर्थात् एक शरीर का स्वामी एक ही जीव है उन्हें प्रत्येक बनस्पतिकाय जीव कहते हैं।

प्रश्न-16-साधारण बनस्पतिकाय जीव किन्हें कहते हैं?

उत्तर-जिन बनस्पतिकाय जीवों का शरीर साधारण है अर्थात् एक शरीर के स्वामी अनेक हैं उन्हें साधारण बनस्पतिकाय कहते हैं।

प्रश्न-17-प्रत्येक बनस्पतिकाय जीव के कितने भेद हैं?

उत्तर-प्रत्येक बनस्पतिकाय के 2 भेद हैं।-

1. सप्रतिष्ठा प्रत्येक बनस्पति
2. अप्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पति।

प्रश्न-18-सप्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पति किन्हें कहते हैं?

उत्तर-जो प्रत्येक बनस्पति साधारण बनस्पतिकाय जीवोंकरि प्रतिष्ठित हो याने सहित हों उन्हें सप्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पति कहते हैं

प्रश्न-19-सप्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पतिकायों की पहिचान क्या है?

उत्तर-जिनका शिरा, संधि सर्व अप्रकट हों, जैसे - जरूवाककड़ी, जरूवातुरई, थोड़े दिन का गन्ना आदि। जिनका भंग करने पर समान भंग हो, जैसे - घनन्तरके पत्ते, पालक के पत्ते आदि।

छेदन करके जो उंग आवें, जैसे आलू आदि।

जिस बनस्पतिका कन्द, मूल क्षुद्र शाखा या स्कंधकी छाल मोटी हो, जैसे ग्वारपाठा, मूली, गाजर आदि।

प्रश्न-20- सप्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पति भक्ष्य है अथवा नहीं अभक्ष्य?

उत्तर-सप्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पति में अनन्त साधारण बनस्पति जीव रहते हैं? अतः सप्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पति अभक्ष्य है।

प्रश्न-21-साधारण बनस्पति के कितने भेद हैं?

उत्तर-साधारण बनस्पति के दो भेद हैं

1. वादर साधारण बनस्पतिकाय
2. सूक्ष्म साधारण बनस्पतिकाय।

इन दोनों के भी दो भेद हैं-

1. नित्यनिगोद,

2. इतरनिगोद

प्रश्न-22-नित्यनिगोद किन्हें कहते हैं?

उत्तर-जिन जीवों ने निगोद के अतिरिक्त अन्य कोई पर्याजन आज तक नहीं पायी उन्हें नित्य निगोद कहते हैं। ये जीव दो तरह के हैं-

1. अनादि अनन्त नित्यनिगोद

2. अनादिसान्तनित्यनिगोद

प्रश्न-23-अनादि अनन्त नित्य निगोद किन्हें कहते हैं?

उत्तर-जिन्होंने निगोद के अतिरिक्त अन्य कोई पर्याय न आज तक पाई और न कभी पावेंगे उन्हें अनादि अनन्त नित्य निगोद कहते हैं।

प्रश्न-24-अनादि सान्त नित्यनिगोद किन्हें कहते हैं?

उत्तर-अनादि सान्त नित्यनिगोद उन्हें कहते हैं, जिन्होंने निगोद के अतिरिक्त अन्य कोई पर्याय आजतक नहीं पाई, किन्तु आगे अन्य पर्याय पालेंगे याने निगोद से निकल जावेंगे उन्हें अनादि सान्त नित्यनिगोद कहते हैं।

प्रश्न-25-इतर निगोद किन्हें कहते हैं?

उत्तर-जो जीव निगोद से निकलकर अन्य स्थावर कार्योमें या त्रस जीवों में उत्पन्न हो गये थे, किन्तु पुनः निगोद में आ गये हैं उन्हें इतर निगोद कहते हैं।

प्रश्न-26-वादर और सूक्ष्मभेद नहीं होता क्योंकि वे वादर ही होते हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, व बनस्पतिकाय इन चारों के वादर और सूक्ष्म भेद होते हैं।

प्रश्न-27-प्रत्येक बनस्पतिकाय जीवों की कितनी अवगाहना होती है। एक हजार योजनकी अवगाहना स्वयंभूरमणसमुद्र में कमल की है।

प्रश्न-28-साधारण बनस्पतिकाय जीवों की कितनी अवगाहना होती है?

उत्तर-अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण साधारण बनस्पतिकाय अर्थात् निगोद जीव की अवगाहना होती है।

प्रश्न-29-स्थावर जीव किन्हें कहते हैं?

उत्तर—जिन जीवों के एक स्पर्शनइन्द्रिय ही होती है और अंगोपांग नहीं होती उन्हें स्थावर जीव कहते हैं उक्त सभी पांचो कायके जीव स्थावर हैं।

कर्मयुक्त जीनके आत्मप्रदेश अनावृत दीपक के प्रकाश की तरह क्यों नहीं फैल जाते हैं? इस समस्याका सम्बन्धित प्रश्नोत्तरों से कैसा स्पष्ट समाधान पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने किया है, देखिदे गाथा 14, प्रश्नोत्तर 37 से 40 तक।

प्रश्न—37—जैसे दीपक के आवरण का अभाव होने से दीपका प्रकाश एकदम फैल जाता है, इस तरह आत्मप्रदेश भी फैल सकते हैं?

उत्तर—दीपक तो पहले भी निवारण हो सकता है, पीछे आवरण आ सकता है, अतः दीपक आवरण न होने पर दीप प्रकाश फैल सकता है, किन्तु आत्मा पहिले शरीररहित हो, पश्चात् शरीरबद्ध हो, ऐसा नहीं है। अतः शरीर का आवरा हटने पर भी आत्मा शरीर प्रमाण रहता है।

प्रश्न—38—जो दीपक पहिले से आवरण के भीतर जला हो उसे फिर बाहर निकाल दिया जाय तो जैसे वह फैल जाता, इस तरह क्यों नहीं फैलता?

उत्तर—दीपक तो निवारण भी रह सकता, यह आत्मा तो अनादि से शरीर में ही रहा अतः दृष्टान्त विषम है और दूसरी बात यह है कि लोक में रूढ़ि ऐसी है जो कहते हैं कि दीपक का प्रकाश फैल गया। वास्तव में दीपक प्रकाश दी के बाहर नहीं है।

प्रश्न—39—तो वह प्रकाश किसका है? जो सारे कमरे में फैलता है?

उत्तर—जिस पदार्थ पर प्रकाश है उसी पदार्थ का प्रकाश परिणमन है। हां वह प्रकाश परिणमन दीपक का निमित्त पाकर हुआ है।

प्रश्न—40—तब दीपक के सामने के बहुत दूर के पदार्थ क्यों नहीं प्रकाश परिणमन को प्राप्त करते?

उत्तर—यह परिणमनने वाले पदार्थ की योग्यता है कि वह कितने दूरवर्ती और कितने तेजोमय पदार्थ का निमित्त पाकर प्रकाशरूप परिणामे। पदार्थ अपनी योग्यता के अनुसार प्रकाश परिणत होते तभी तो कांच विशेष प्रकाशरूप परिणमता है, दीवाल आदि साधारण प्रकाशपरित होते हैं।

बारह अनुप्रेक्षा का सविस्त्रित वर्णन 35वीं गाथा में पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने किया है जिनमें से उन भावनाओं से कया लाभ होता है इस विषयों का गाथा 35 के प्रश्नोत्तर में देखिये—

प्रश्न-180—इस अनित्य भावना से क्या लाभ होता?

उत्तर—उक्त ग्रनित्य भावना भाने वाले पुरुष को इन पदार्थों का संयोग व वियोग होने पर भी ममत्व नहीं होता है और यों ममत्व न होने से त्रेकालिक नित्य ज्ञायकरूप निज परमात्माकी भावना होती है, जिससे यह अन्तरात्मा पर आनन्दमय अवस्थाको प्राप्त होता है।

प्रश्न-184—इस अशरण भावना से किया लाभ होता है?

उत्तर—बाह्य पदार्थों की शरण मानने का अभिप्राय मिट जाने से जीव शास्वत शरणभूत निज शुद्ध आत्मा का शरण प्राप्त कर लेता है, जिससे यह अनतरात्मा भय और निदान बाधा रहित सहजानन्द का अनुभव करता है।

प्रश्न-200—इस संसारानुप्रेक्षा से क्या लाभ है?

उत्तर—निज शुद्ध आत्मसत्त्व की भावना के बिना अज्ञान से यह जीव इस प्रकार नाना देहों को धारणकर नाना क्षेत्रों में भव धारण कर चारो गतियों में भटककर नानाकर्मों को बांधता हुआ भयकरं दुःख भोगता हुआ चला आया है। अब यदि दुःख भोगता इष्ट नहीं है तो संसारविपत्ति का विनाश करने वाले जिन शुद्ध आत्मा की भावना करना चाहिए। इस हित कर्तव्य की प्रेरणा संसारानुप्रेक्षा से मिलती है।

प्रश्न-202—इस एकत्कानुप्रेक्षा से क्या लोभ हैं?

उत्तर—एकत्वभावना से दुःखों की शान्ति होकर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज प्रकट होता है, क्योंकि दुःख विकल्पों से उत्पन्न होता है और किसी न किसी पर पदार्थ के सम्बन्ध से, उपयोग से होता है। अतः सहजानन्दस्वरूप निज आत्मा में एकत्व में उपयोग होने पर निर्विकार अनाकूलतारूप अनुपम आनन्द प्रकट होता ही है।

प्रश्न-205—अन्येत्वानुप्रेक्षासे क्या लाभ हैं?

उत्तर—परभावों की भिन्नता जानने से आत्माकी परवस्तुओं में हितबुद्धि नहीं होती और परम हितकारी निज शुद्ध आत्मतत्त्व में भावना जागृत होती है।

प्रश्न-208—अशुचित्वानुप्रेक्षासे क्या लाभ होता है?

उत्तर—देह की यह अशुचिता की भावना से देह से विरक्ति होती है और देहसे विरक्त होने के कारण देहसंयोग भी यथाशीघ्र समाप्त हो जाता है।

तब परम पवित्र निज ब्रह्म में स्थित होकर यह अन्तरात्मा दुःखों से मुक्त हो जाता है।

प्रश्न-210-आश्रवानुप्रेक्षा से क्या लाभ होता है?

उत्तर-आश्रवके दीषों के परिज्ञान और उससे दूर होने के चिन्तन के फलस्वरूप यह आत्मा निराश्रव निज परमात्मतत्त्व के उपयोग के बल से आश्रवा से निवृत्त हो जाता है और अनन्त सुख आदि अनन्त गुणों से परिपूर्णसिद्ध अवस्थाका अधिकारी हो जाता है।

प्रश्न-212-संबरानुप्रेक्ष से क्या लाभ है?

उत्तर-परमसंबर स्वरूप निज शुद्ध कारणपरमात्माकी भावन से आश्रव की निबुत्ति होती है। संबरतत्त्व मोक्षमार्ग का मूल है। इसकी सिद्धि से मोक्ष प्राप्त होता है

प्रश्न-214-निर्जरानुप्रेक्षा से क्या लाभ होता है?

उत्तर-शुद्धोपयोगरूप निर्जरा परिणामों के बलसे एक देश मुक्त होकर सवदेश कर्मों से मुक्त हो जाता है। इस रहस्य के ज्ञाताओं को निर्जरानुप्रेक्षा से कल्याणमार्ग की प्रगति के लिए अन्तःप्रेरणा मिलती है।

प्रश्न-257-इस लोकानुप्रेक्षा से विशेष लाभ क्या है?

उत्तर-लोकके आकर रचनाओं के बोध रूप विशेष परिचय से उत्कृष्ट वैराग्य होता है और इसको संस्थाका विचय होने से सस्थाविचय नामका उत्कृष्ट धर्मध्यान होता है।

धर्मानुप्रेक्षा का विवरण मनन करने योग्य है। संक्षिप्त और तत्त्वप्रदर्शक शब्दों में इसका वर्णन है, देखिये गाथा 35 प्रश्नोंत्तत, 264।

प्रश्न-264-धर्म का क्या स्वरूप है?

उत्तर-धर्मके स्वरूपका कई प्रकारों से वर्णन है उन्हें कमसे लिखते हैं उनमें प्रायः उत्तरोत्तर पहिले की अपेक्षा आगे को व्यवहार या बहिरंगरूप लक्षण जानना चाहिए।

1. अखण्ड चैतन्यस्वभाव को धर्म कहते हैं।
2. अखण्ड चैतन्यस्वभाव के पूर्ण अनुरूप परिणमनको धर्म कहते हैं।
3. मोह क्षोभसे सर्वथामुक्त आत्मपरिणमम को धर्म कहते हैं।

4. रागद्वेष की वाधारहित परम अहिंसाको धर्म कहते हैं ।
5. निज शुद्ध आत्माके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप अभेद रत्नत्रयको धर्म कहते हैं ।
6. शुद्धात्माके सम्बेदन को धर्म कहते है ।
7. शुद्धात्माके अवलम्बन को धर्म कहते है ।
8. शुद्धात्मतत्त्वके उपयोग को धर्म कहते हैं ।
9. शुद्धात्मतत्त्वकी भावनाको धर्म कहते हैं ।
10. शुद्धात्मतत्त्वकी प्रतीति, दृष्टि को धर्म कहते हैं ।
11. उत्तम क्षमादि दश विशुद्धभावों को धर्म कहते हैं
12. जीवादी तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान, यथार्थ ज्ञान और अब्रत-त्यागरूप भेद रत्नत्रयको धर्म कहते हैं ।
13. जो दुःखों से छुटाकर उत्तम सुख में ले जावे उसे धर्म कहते हैं ।
14. समता बंदनादिक साधु के सत् आवश्यकों के पालन करने को धर्म कहते हैं ।
15. देवपूजा गुरुपास्ति आदिक श्रावकों के 6 कर्तव्यों के पालन करने को धर्म कहते हैं
16. जीवदया करने को धर्म कहते हैं ।

सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूपका वर्णन करने वाली गाथा न. 51 की टीका करते हुए पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने सिद्ध शब्द के तात्पर्य शब्दनिरुक्ति के ढंग से लिखे हैं । देखियेगाथा 51, प्रश्नोत्तर 11 ।

प्रश्न-11-सिद्ध शब्दका क्या तात्पर्य है?

उत्तर-सिद्ध शब्द के निम्नलिखित तात्पर्य हैं-

1. सितं दग्ध कर्मन्धनं एन स सिद्धः जिसने समस्त कर्म ईन्धन को जला दिया है, नष्ट कर दिया हे उसे सिद्ध कहते हैं ।

2. संधतिष्म अपुनरावृत्या इति सिद्धः जो फिर न लोटे इस प्रकार चला गया अर्थात् निर्वाणपुरी को चला गया उसे सिद्ध कहते हैं।
3. सेधति षिुसंराद्धौ सिद्धयतिस्म निष्टितार्थी भवतिष्म इति सिद्धः, जो सर्वासिद्ध कर चुका याने कृतकृत्य हो गया उसे सिद्ध कहते हैं।
4. सेधतिष्म शास्ता अभवत् इति सिद्धः, जो हितोपदेशक या धर्मानुशासक हुआ था उसे सिद्ध कहते हैं।
5. सेधतिष्म मांगत्यरूपतां अनुभवतिष्म इति सिद्धः, जिसने मागल्यरूप को अनुभव किया उसे सिद्ध कहते हैं।
6. सिद्ध –जो सदा के लिए सिद्ध हो चुका, अनन्त काल तक ऐसे ही पूर्ण रहेगा उसे सिद्ध कहते हैं।
7. सिद्ध–प्रसिद्ध, जो भव्य जीवों द्वारा प्रसिद्ध है उसे सिद्ध कहते हैं। भव्य जीवों द्वारा सिद्ध प्रभु के गुण उपलब्ध हैं, अतः यह निर्मल आत्मा सिद्ध कहलाता है।

इत्यादि सिद्ध शब्द के अनेक अर्थ हैं सबअर्थों का प्रयोजन एक यह ही है कि निष्फल, निष्फलक? निरंजन परमात्मा कारण परमात्मतत्त्वके पूर्ण अनुरूप विकासको प्राप्त हैं। सिद्ध प्रभु समस्त अनुजीवी व प्रतिजीवी गुणों को पूर्ण सिद्ध कर चुके हैं, ये लोक सिखर पर स्थित हैं।

51. समाधितन्त्र सतात्पर्य

समाधितन्त्र ग्रन्थ पूज्यश्री पाद स्वामी द्वारा विरचित है। इस पर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने अन्वय अर्थ व तात्पर्य लिखा है। इसमें नमस्कार व उद्देश्य प्रदर्शन के पश्चात् प्रथम ही आत्मा के तीन भेद बताये हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा व बहिरात्मा के लक्षण के प्रसंगमें 11 वें श्लोक में भ्रमविस्तार का कारण बताया है कि जिसका अर्थ व तात्पर्य पढ़िये— पृ0 6, 7 ।

अर्थ—नहीं जाना है आत्मस्वरूप जिन्होंने ऐसे पुरुषों को शरीर में यह मैं हूँ, यह पर है, ऐसा अध्यवसारय होने से पुत्र, स्त्रो आदि सम्बन्धी भ्रम होने लगता है।

तात्पर्य—अज्ञानी पुरुष का ये तीन भ्रम लगे हैं—1. जिस शरीर में यह बस रहा है उसे अपना आत्मा मानना। 2. जिस पर शरीर में यह आत्मा बस

रहा है उस पर शरीर को अन्य आत्म मानना। 3. जो शरीर जिस शरीर के उत्पादन निमित्त है वह जो शरीर रमाने में निमित्त है इस ही प्रकार के अन्य अन्य प्रकार परम्परा में निमित्त है। उनसे परस्पर रिस्तेदारी मानना। जैसे जो शरीर का उत्पादन निमित्त है उसे पिता-माता मानना, जिस शरीर के उत्पन्न होने में यह शरीर निमित्त हुआ उसे पुत्र पुत्री मानना, जो स्त्रीलिंग शरीर पुलिंग शरीर के रमाने में निमित्त हुआ उसे स्त्री मानना, जो पुलिंग शरीर, स्त्रीलिंगशरीर के रमाने में निमित्त हुआ उसे पति मानना, पुत्र शरीर को रमाने वाले द्रव्यको पुत्रबधु मानना, पुत्रीशरीर के रमाने वाले शरीर को दामाद मानना, स्त्री शरीर के उत्पादन निमित्त शरीर को सास-सुसर मानना, स्त्री शरीर के उत्पादन निमित्त शरीर से उत्पाय शरीर को साला-साली मानना, साली के रमाने वाले शरीर को साढू मानना, इस शरीर के उत्पादिका निमित्त से उत्पाथा शरीर को मौसी मानना, इस शरीर के उत्पादक निमित्त से उत्पाया शरीर को बुवा मानना, इस शरीर के उत्पादक निमित्त के उत्पादक निमित्त से उत्पाय शरीर को चाचा मानना इत्यादि रूपसे उत्पादन या रमण के हेतु रिश्तेदारी मानना, इस प्रकार तीन तरह के भ्रम बहिरात्मा पुरुषने लगा रखे हैं।

देह में आत्मबुद्धि करने का क्या फल मिला है, क्या विडम्बना हुई है इसकी झांकी 14 वें श्लोक के अर्थ व तात्पर्य देखिए—

अर्थ — शरीर में आत्मबुद्धि होने से पुत्र भार्या आदि कल्पनायें हो गई है। हाय यह जगत इस प्रकार नष्ट हो रहा है।

तात्पर्य—देखो देह में आत्मबुद्धि करने के क्या फल हुए—स्वदेहको स्व आत्मा माना, पर देहको पर आत्मा माना, पर देहों में पुत्र भार्या आदि का भ्रम किया और इस लोकमें बतलाया कि मित्र स्त्री आदि की समृद्धि को अपनी समृद्धि माना, इस कारण उनके सुख में सुखका नाटक और उनके दुःख में दुःख का नाटक यह कर रहा है। इस तरह यह अज्ञानी लोक बरबाद हो रहा है।

देह में आत्मबुद्धि होने के कारण क्या चेष्टाये होने लगती हैं इसका एक चित्रण देखिये श्लोक 21 के अर्थ व तात्पर्य में —

अर्थ—ठूठमें उत्पन्न हो गई हे पुरुषपने की भ्रंति जिसको, ऐसे मनुष्यकी जिस प्रकार की विपरीत चेष्टा होती है उस प्रकार की मेरी चेष्टा आत्मभ्रम के कारण आत्मज्ञान से पहिले थी।

तात्पर्य—जैसे ठूठको आदमी समझ जाने वाला पुरुष अब यह मुझे साथी मिल गया या यह मुझे ठीक रास्ता बता देगा या कहीं यह मुझे लूट न

लेगा, इत्यादि कल्पनायें करके व्यर्थका सुखी दुःखी होता है, इसी प्रकार शरीर को आत्मा समझ जाने के कारण मैं अज्ञान अवस्था में यह मैं बड़ी अच्छी पाजीशनका हूं, इससे मुझे बड़े सुख मिलते हैं, या यह कभी बीमार न हो जाय, मर न जाय, ऐसा हुआ तो मैं बरबाद हो जाऊंगा इत्यादि कल्पनायें करके व्यर्थ का सुखी दुःखी हो रहा था।

देहमें आत्मत्वका भ्रम न रखने पर कैसा पवित्र विश्राम मिलता है इसकी भी ज्ञांकी देखिए श्लोक 22 के अर्थ व तात्पर्य में—

अर्थ—ठूठ में पुरुष मानने का भ्रम नष्ट होने पर यह पुरुष इस प्रकार चेष्टा करता है शरीर आदि में आत्मभ्रमरहित होता हुआ मैं उसी प्रकार की चेष्टा वाला हुआ हूं।

तात्पर्य—ठूठ में आदमी मानने का भ्रम नष्ट हो जाने पर यह पुरुष किस प्रकार से अर्थात् उससे हित अहित की कल्पना त्यागकर अपने साम्यभाव में रहकर प्राकृतिक प्रवृत्ति करता है। शरीर आदि में आत्मभ्रमरहित होता हुआ मैं भी उसी प्रकार अर्थात् देह आदि में अपने उपकार—अपकार होने की कल्पना त्यागकर अपने साम्यभाव में रहकर स्वभावपरिणति में प्रवृत्त होता हूं।

लोगो के प्रति जो शत्रुता व प्रियता के भाव रहते हैं उन भावों से रागद्वेष की वृत्ति के कारण आत्माकी बरबादी हो रही है। विवके इसी में है कि किसी भी जीव के प्रति शत्रुता व प्रियता का भाव न रहे। इसके लिए 26 वें श्लोके अर्थ व तात्पर्य का मनन कीजिए—

अर्थ—मुझको न देखने वाला यह लोक न तो मेरा शत्रु है और न मेरा प्रिय है। मुझे देखने वाला यह लोक न मेरा शत्रु और न मेरा प्रिय है।

तात्पर्य—जिस किसी पुरुष के विषय में शत्रु या मित्र की कल्पना होती थी उसके सम्बन्ध में यह विचार करें कि यह पुरुष यदि मुझ ज्ञायकस्वभावमय आत्माको ज्ञान दृष्टि से देख रहा है तो वह शुद्ध ज्ञाता ही रहेगा। मेरा शत्रु मित्र कैसे हो सकता है? और यदि मुझे नहीं देख रहा है तो मेरा शत्रु मित्र कैसे हो सकता है? जिसे देख रहा है उसका शत्रु मित्र बन सकता हो तो बनता रहो, मेरा तो नहीं हो सकता।

29 वें श्लोक में बताया है कि मोही जीव जिनमें हितको विश्वास किये हुए हैं वे बरबादी के कारणभूत हैं और जिससे भय करता है वह इसके लिए अभय का स्थान है। यह दृष्टि बहुत ही हितकारी है, एतदर्थ 29 वें श्लोक का अर्थ व तात्पर्य देखिए—

अर्थ –मोही आत्मा जिसमें विस्वस्थ है उनसे अतिरिक्त और कुछ भय का स्थान नहीं है और जिससे डरा हुआ है उससे अन्य ओर कुछ अभयका स्थान नहीं है।

तात्पर्य—बहिरात्मा जिन स्त्रीपुत्रादिक में यह विश्वास किये हुए है कि ये मेरे हितकारी हैं, उनसे मुझे कभी धोका न होगा, किन्तु संसारके दुःखों के त्रास के स्थान वे ही हैं। तथा जिस केवल परम सुख आत्मस्वरूपके सम्वेदन से दूर हो रहा है, हितका विश्वास नहीं करता हे यही आत्मवेदन अभयका स्थान है अर्थात् संसार के दुःखों का अभाव हो जाय ऐसे पुर्ण अभय का स्थान है। इस कारण आत्मभावना में कष्ट व भय की शंका न करके ज्ञानभावना में दृढ़ यत्न करना चाहिए।

निश्चयः उपसाय निज आत्मा ही है। इसका वर्णन देखिये 31 वें श्लोके के अर्थ व तात्पर्य में देखिये—

अर्थ— जो उत्कृष्ट आत्मा है वह ही मैं हूँ और जो मैं हूँ वह परमात्मा है, इस कारण मैं ही मेरे द्वारा उपसाय हूँ, दूसरा कोई नहीं। यही तथ्यभूत स्थिति है।

तात्पर्य—कल्याणमय परमात्मस्वरूप की भावना के समय में परमार्थतः अपना स्वरूप ही आराधक होता है और अपना स्वरूप ही आराध्य होता है, इस कारण ही परमात्माका जो स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है, मेरे द्वारा मैं ही आराध्य हूँ। मुझसे भिन्न अन्य आराध्य नहीं है। अपने से भिन्न अन्य स्थान में आराधना करने की दृष्टि होने पर चूँकि उपयोग अपने इस स्रोत को छोड़कर बाह्य की ओर चला है अतः यथार्थ सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव नहीं हो पाता। अतः यही निर्णय है कि आत्मस्वरूपकी ज्ञानमात्ररूप में आराधना करने पर ही आत्मा की प्राप्ति होती है।

आत्मज्ञान ही एकमात्र हितमय कार्य है, इसके अतिरिक्त अन्य कार्य पर ध्यान नहीं देना चाहिये, इसका स्पष्टीकरण देखें श्लोक—50

अर्थ—आत्माज्ञान से अन्य कार्यकी बुद्ध में अधिक समय तक धारण न करें, प्रयोजन वश कुछ करें तो वचन, काय से अतत्पर होकर करे।

तात्पर्य—किसी ज्ञानी पुरुष की ऐसी भी स्थिति होती है कि आत्मज्ञान में रत होने का लक्ष्य तो पूर्ण है और यत्न भी करते हैं, फिर भी पूर्णवत् कर्मविपाकवश कुछ व्यवहार में भी प्रवृत्त होना पड़ता है, ऐसे ज्ञानी के प्रति कहा जा रहा है कि ज्ञानी आत्मज्ञान को छोड़कर अन्य उपयोग को भी धारण न करें। कदाचित बुद्धि में लेना भी पड़े तो अधिक समय अन्य कार्यों को बुद्धि

में धारण न करें तथा कदाचित् अन्य कार्य करना भी पड़े तो वचन से व काय से अतत्पर होकर, लीन न होकर प्रयोजनवश कुछ करे, किन्तु शीघ्र ही उस से हटकर फिर आत्माज्ञान में उपयुक्त हो जाय।

मोही बाह्य विषयों में संतोष मानते हैं, ज्ञानी अंतस्तत्त्वमें संतोष पाते हैं। इसका संक्षिप्त विवरण मनन कीजिये श्लोक 60 के अर्थ व तात्पर्य—

अर्थ—अंतरंग में तिरोहित हो रही है ज्ञानज्योति जिसका ऐसा मूढ़ आत्मा बाह्य पदार्थों में संतुष्ट होता है और बाह्य पदार्थों से जिसका कौतुक हट गया है ऐसा प्रबुद्ध आत्मा स्वरूपमें संतुष्ट होता है।

तात्पर्य—जिसका ज्ञान महान मोह से तिरोभूत हो गया है ऐसा पर्यायबुद्धि मोही जीव तो चूंकि उसे सारंभूत सुख साधन शारीरिक बाह्य पदार्थ भी दिखते हैं इस कारण शरीर आदिक पदार्थों के पुष्ट होने में सन्तोष करता है। किन्तु जिसका ज्ञान मोह से तिरोहित नहीं यथार्थ स्वरूपका प्रबोद्ध मिल गया हो वह चूंकि आत्मानुभूति सहज आनन्दका कर चुकने से शारीरिक बाह्य पदार्थों से अनुराग हट गया है, इस कारण चिदानन्दस्वरूप निज ज्योति के दर्शन में आश्रय में संतोष करता है। कल्याणार्थी पुरुष को उत्तम आनन्द में विकास पाने के लिए अतः स्वरूपका श्रद्धान अनुष्ठान करना चाहिए। यह शिक्षा इस वर्णन से ग्रहण करनी चाहिए।

जिन्होंने आत्मतत्त्वका दर्शन नहीं किया उन्हें तो सुप्त और उत्तम दशा ही भ्रमभरी मालूम होती है, किन्तु जो आत्मदर्शी हैं उन्हें रागी द्वेषी जीवकी सारी अवस्थायें भ्रमरूप विदित होती हैं। इसका विवरण देखिए श्लोक 93 के अर्थ व तात्पर्य में —

अर्थ— बहिरात्माओं को तो सुप्त उन्मत आदिक व्यवस्था ही भ्रमरूप मालूम होती है, किन्तु अन्तरात्माको मोही जीवकी सर्व अवस्था भ्रमरूप मालूम होती है।

तात्पर्य—जिन्हें आत्मस्वरूप का यथार्थ परिज्ञान नहीं हुआ अतः शरीर में ही जिनकी आत्मबुद्धि लगी है उनको तो सोये हुए की हालत में व पागल हुए की हालत में मालूम देता है कि यह अचेत है, बेहोश है, किन्तु जिसने चित्प्रकाशमात्र अनुभव कर लिया है उसे बहिरात्मा की सुप्त उन्मत अवस्थाकी तरह जागृत सचेत अवस्था व्यवहार आदिक सारी अवस्थाओं में यह मालूम देता है कि यह भ्रम रूप हो गया है, अचेत व बेहोश है, क्योंकि इसे न स्व का और न परका किसी भी वस्तु का यथार्थ प्रतिभास नहीं है। अथवा दूसरा भाव यह भी जानना कि आत्मज्ञानियों को सुप्त व उन्मत की दशा भी विभ्रमरूप नहीं है, क्योंकि उनके ज्ञानदृष्टि का दृढ़ अभ्यास होने के कारण

आत्मस्वरूपके सम्बन्ध में इस अवस्थामें भी भ्रम नहीं होता। स्वरूप संवेदन से च्युत नहीं होता। सुप्त और बेहोश अवस्था में इन्द्रियों का अपने विषय में प्रवृत्त होने की रूकावट है, किन्तु आत्मसंवेदनकी रूकावट नहीं है, किन्तु जो अपनी उपलब्ध वचपन, जवानी, बुढ़ापा, पुरुषलिंग, स्त्रीलिंग, नपुसंक लिंग आदि अवस्थाओं को अपना स्वरूप मसझते हैं वे सुप्त व बेहोशी अदि अवस्था को ही भ्रम रूप मानते हैं और बाकी जागृत होना नाना व्यवहार करती हुई अवस्थाको अपनी चतुराई समझते हैं। हे मुमुक्षु पुरुषों तुम एक ज्ञातृत्व अवस्थाको छोड़कर अन्य विभाव दशावोंको विकार व अहित जानकर आत्मसावधान रहो।

कल्याणर्थी को यथाशक्ति तपश्चरण क्यों करना चाहिए, इसके हेतुका स्पष्टीकरण देखिये श्लोक न. 102 के अर्थ तात्पर्य में—

अर्थ—बिना कष्ट के प्रकट हुआ भेद विज्ञान आत्मज्ञान दुःखों की उपस्थिति होने पर नष्ट हों जाता है, इसका कारण योगी पुरुष की शक्ति के अनुसार कायक्लेश आदिक तप सहित आत्मस्वरूपकी भावना करनी चाहिये।

तात्पर्य—वस्तुस्वरूपका बारबार ज्ञान मन, चिन्तन करने के सुकुमार उपाय द्वारा कष्ट सहें बिना जिसे आत्मस्वरूपका परिज्ञान हुआ है उस पुरुषपर कदाचित कोई कष्ट आ पड़े तो वहां यह सम्भावना उत्पन्न है कि उसका वह ज्ञान क्षीण हो जाय क्योंकि उस पुरुष की कष्ट सहने का तो अभ्यास ही न था, इस कारण ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि शक्ति के अनुसार नाना कायक्लेश आदिक तपों को करके कष्ट सह बनता हुआ अर्थात् कष्टों के सहने की क्षमता उत्पन्न करता हुआ आत्मस्वरूप की भावना करे, इसमें यह शिक्षा दी गई है कि हितार्थी को शक्ति अनुसार ब्रत नियम तप संयम आदि को निभाना चाहिए और उसमें कोई कष्ट भी आये तो कष्ट सहणु बनना चाहिए, ऐसी वृत्ति सहित वह आत्मस्वरूपकी भावना में प्रगति करें।

52. निष्काम कर्मयोग

संसार के संकटों से छुटकारा पाने के लिए सत्य ज्ञान का आलम्बन साधक है। जो पुरुष सत्यज्ञानी तो हो गये, किन्तु पूर्वबद्ध कर्म के विपाक से विशुद्ध ज्ञानस्वरूप निज ब्रह्म में लीन नहीं हो पाये उन पुरुषों की प्रवृत्ति कैसी होती है व उनका अंतरंग कैसा होता है, इसको समझाने के लिए पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने निष्कामकर्मयोग पूस्तक की रचना की है। इसमें एक स्थल पर बताया है कि सत्यज्ञानी सत्योगी के बाह्य पदार्थों में जाने की कामना ही नहीं होती, अतः निष्कामता तो उसका मूल अधिकार है। देखिये पृष्ठ 4—

आनन्दमय सुरक्षित ब्रह्मवासी के ब्रह्म में जाने की कामना—जिस ज्ञानी पुरुष ने अपने आपके विशुद्ध स्वरूपको तका है और उस की के कारण विशुद्ध आनन्दका अनुभव किया है उसके अब बाहर में इच्छा नहीं है कुछ। भला बरसात के समय में जहां घनघोर वर्षा हो रही है, बिजली चमक रही है, ओले भी पड़ने लगे तो ऐसे समय में यदि जंगल में यदि कोई पक्की झोपड़ी मिल जाये ठहरने के लिए तो वह झोपड़ी में ठहरा हुआ पुरुष क्या बाहर निकलने की बात सोचेगा? अरे वह तो वहीं आनन्द मानता है। इसी प्रकार बाहर तो सारे उपद्रव ही उपद्रव हैं। दूसरे लोग जो कि अन्नत जीवों की तरह अत्यन्त भिन्न हैं, सो आज जो इनसे संयोग हुआ है वह क्षणिक संयोग है, लेकिन उस क्षणिक संयोग में इष्ट अनिष्ट की बुद्धि रखकर रागद्वेष करते हैं और उन रागद्वेषों के कारण अनेक प्रकार की आपत्तियां आती हैं, इन जीवों पर घनघोर आपत्तियां छायी हैं, ऐसी घनघोर आपत्तियों की जहां वर्षा चल रही है, जहां बड़ी आपत्तियों की घटनायें घट रही हैं ऐसे समय में यदि अपने आपकी झोपड़ी, अपने आपका निजी घर मिल जाय, जहां यह आपत्तियों का जल रंच भी नहीं चूता है, जो निवासक्षेत्र सुरक्षित है, जिस निजी क्षेत्र में बाहर का कोई उपद्रव आता ही नहीं है ऐसे निज क्षेत्र में पैठ ही जाय तो ऐसे अपने आपके सुरक्षित निजगृह में बसने वाला क्या चाहेगा कि मैं इन आपत्तियों में पड़ूं? यों यह ज्ञानी प्रकृत्या निष्काम हो जाता है।

ज्ञानी पुरुष निष्काम होता हुआ कार्य करता है, इसमें यह आशंका होने का अवसर है कि कहीं बिना अभिलाषा के भी क्रिया हो सकती है? इसका समाधान देखिये पृ०-11

निरङ्गिक्रिया – ऐसी भी कोई स्थिति होती है कि किसी भी कार्य के करने का अंतरंग भाव नहीं है और फिर भी करना पड़ता है, ऐसी स्थिति व्यवहार की बातों की तो जल्द समझमें आ सकती है, लेकिन अपने आपकी बात—इच्छा नहीं है, करने की फिर भी करना पड़ रहा है, यह कुछ कठिनाई से समझ में आती है और कभी कभी इस उपयोग का दुरुप्योग भी किया जा सकता है। सके मनमें इच्छा नहीं है किन्तु चारित्रमोह के उदय से करना पड़ रहा है, इस प्रकार कभी कभी उसमें अपनी अन्तः स्वछन्दता भी जा सकती है। बाहर की बात यों जल्दी समझ में आती है कि बाहर की बातें देखा करते हैं और खुद पर भी बाती करती हैं। जैसे एक कैदी का दृष्टान्त लौ, जाहं कोई दण्ड भी नहीं देखा करते हैं और खुद भी बीता करती हैं। जैसे एक कैदी का दृष्टान्त लौ, जहां कोई दण्ड दे रहा, किन्तु एक लोकलाज के कारण अथवा व्यवहार के कारण करना पड़ रहा है, भीतर में भाव नहीं है। जैसे कितनी ही बार लड़किया अपनी ससुराल जायें, इसों बार गयीं और अन्तः कामना भी है कि घर जाना चाहिए, बरसात के दिन हैं कहीं घर न चूता हो, कुछ नुकशान

भी न हो जाय, कभी कभी संदेश भी भेजती है कि लेने जल्दी आ जाओ। तो माता पिता के घर से जाने में उन्हें कोई कष्ट नहीं होता, जाने की इच्छा है लेकिन जाते समय शोक प्रदर्शित करना पड़ता है, रोना पड़ता है, भेंट करना पड़ता है। यह बात देखों कि रोने की इच्छा नहीं, शोककी मन में बात नहीं है, बल्कि कुछ हर्ष है कि हम अपने घर जा रही हैं, जहां हमारा पूरा पड़ेगा, फिर भी व्यवहार में ऐसा करना पड़ता है कि उन्हें शोक प्रदर्शित करना पड़ता है।

ज्ञानी जीव भी किसी स्थिति में परोपकार करता है, उसका अंतरंग आशय क्या रहता है यह समझियें पृष्ठ 13 पर—

ज्ञानी का परोपकार के समय आशय—जितने भी परोपकार किये हैं परसेवा, कर्मयोग उन परोपकारों को करके यह पुरुष लाभ पायगा या हानि पायगा इसका निर्णय परोपकार करने वाले के आशयपर निर्भर है। कोई इस दृष्टि से परका उपकार करे कि इससे हमारा नेतृत्व बढ़ता है, हमारी प्रतिष्ठा हाती है नामबरी होती है, प्रशंसा मिलती है, लोग सम्मान करते हैं अथवा किसी से एक अन्धकारमय राग उत्पन्न हो, विवके न होकर मोह के ढंग का कितना उपकार करते हैं, रात दिन ख्याल रखते हैं, घरका कोई बीमार होजाय तो दुकार भी बन्द है, हजारों रूपये उस पर खर्च भी किये जा रहे हैं अनेक कष्ट भी उठा रह हैं, कितना बड़ा परोपकार हो रहा है, परन्तु आशयपर सब कुछ निर्भर है कि ऐसे उपकर का श्रमक रने वाला व्यक्ति लाभ पायगा या हानि। अगर मूर्छा का परिणाम है, रागद्वेष के वश होकर कर रहा है, अपनी नामवरी के लिए कर रहा है, और और भी ऐसे आशय है तो वहां घर के उपकार का भ्रम करके भी वह अपने आपमें तो हानि उठा रहा है, कर्मबंध कर रहा है, तत्काल भी अशान्ति है, और कोई विवेकी पुरुष अन्दर में चाहता तो यह है कि मेरे ज्ञान की स्थिति रही। अर्थात् मैंने परखा हे, अपने को जाता हैं, मैं ज्ञानमात्र हूं, केवल जानन इसका विशुद्ध कार्य है, रागदिक परिणमन उसमें आ रहे हैं, ऐसी स्थिति में क्या करता हे वह? प्रथम तो ऐसा कर्म करता है जिसका अपने आपसे ही मात्र सम्बन्ध है। ज्ञानार्जन किया, सत्संग किया और फिर साथ ही स्वसेवा के इन प्रवर्तनों में न रह सका तो दूसरों की सेवायें, परके उपकार इनमें भी प्रवृत्ति करता है। परन्तु पर के उपकार में उसका लक्ष्य यह है कि मेरा उपयोग किवषय कषायों में न जाय, मेरा उपयोग ममता, तृष्णा में न फसेक ही मुग्ध न बन जाय, सो अपनी रक्षा के लिए वह परसेवा भी करता है।

ज्ञानी पुरुष निष्काम क्यों रहता है, उसका मूल कारण ध्यान में लीजिये—पृ०—21

निष्कामता का मूल कारण वस्तुस्वातच्यका निर्णय—निष्कामता होना बहुत बड़ा वैभव है। यह सामर्थ्य ज्ञानी पुरुष में होती है। जब मुझमें पर पदार्थों से कुछ आता नहीं, मैं रूप को देखूँ, उस रूपका कारण मात्र भी तो उस रूपके आधार से निकलकर मुझ में नहीं आता तो उसको मैं क्या ग्रहण करूँ? यह बात जरा जल्दी समझ मैं आ जाती है। वह तो अपने आधार में ही रहकर अपने आधार में परिसमाप्त है। इसी प्रकार अन्य भी जितने विषय हैं, स्पर्श हैं, रस है, गंध है, शब्द है, सभी के सभी विषय अपने आपके इस आधार को छोड़कर मेरे आत्मस्वरूपमें प्रविष्ट नहीं होते हैं, किन्तु यह एक पद्धति है, कोई स्पष्ट होकर ज्ञात होता है, कोई अस्पष्ट होकर ज्ञात होता है। किसी भी तरह ज्ञात होता हो, किन्तु कोई भी विषय अपने आपके आधार को तजकर मेरे आत्मस्वरूपमें आये या मेरे में प्रवेश करे ऐसी विषयकी बात नहीं होती है। इतना निर्णय कर चुकने वाले ज्ञानी पुरुष में निष्कामता प्रकट होती है। ऐसा निष्काम ज्ञानी जब कर्मयोग में चलता है, अपने इन्द्रिय उपयोग आदिके में भी प्रवृत्ति करता है तो सर्वत्र वह प्रगति करता हुआ निष्काम है और उसकी इन सब वृत्तियों को निष्काम कर्मयोग कह सकते हैं।

जो पुरुष कर्मफल नहीं चाहता उसकी कर्म करते हुए निष्कामता ही रहती है। उसका अंतरंग समझिये— पृ०—25

कर्मफल के त्यागी ज्ञानी पुरुषकी कर्ममें निष्कामता :—कर्म करके कर्मफल न चाहने में निष्कामताको सहयोग मिलता है। किसी का उपकार करके अथवा कोई भी यहां प्रवृत्ति करके उसका फल चाहना, आगामी कालके लिए उसका सम्बन्ध जोड़ना अथवा उससे आगामी काल में भी सुखी होने की आशा रखना यह सब कर्मफल चाहने जैसी बात है। जैसे लौकिक कार्यों में देखा जाता है कि कोई दूसरे की सेवा करता है गरीबों की दीन दुखियों की और उस सेवा के एवज में कोई फल नहीं चाहता, उनसे भी फल नहीं चाहता तो उसकी वह सेवा पवित्र मानी जावेगी और दुःखियों की सेवा करके उनेस कुछ चाहता, जनता में हमारा नेतृत्व कायम रहे, जनता से हमारा एक नायक के रूपमें सम्पर्क बढ़े, ऐसा भी चाह लिया तो वह पवित्र सेवा नहीं हुई। यहां भी आत्माके सम्बन्ध में देखें तो जो कुछ भी कार्य किये जाते हैं उन कार्यों को करके उसकी संतान जोड़ने की भावना रखना और उसके एवज में भविष्य में हमें कुछ भी फायदा होगा, ऐसी आशा बनाना यह सब काम करके कामका फल चाहना है। जैसे सुख मांगते हुए उस सुखकी संतान बढ़ाने की भावना होना—ठीक है, इसी तरह दुःख मिलता रहे और वैसा ही यत्न बनाये, भाव बनाये तो वह कामफल चाह लिया। जो भी सेवाकी उसके एवज में यह भविष्य में काम आयगा, इससे भविष्य में मेरी पोजीशन अच्छी बनेगी, यह सब फल चाहने की बात हैं। कर्तव्य करके उस कर्तव्य के एवज में भविष्य की कोई

वांछा न उत्पन्न हो, और आया है उदय, प्रसंग सो करना पड़ रहा है, उसे कर दिया ढंगसे, पर चाह कुछ नहीं बनाई, दृष्टि अपने आत्मस्वरूपकी ओर ही बन सके, ऐसी बन सके, ऐसे ज्ञानी पुरुष का वह निष्काम कर्मयोग है।

ज्ञानी जीव अन्तर में निर्मल होता है कि निष्काम कर्मयोग तो उसकी पहिली अवस्था है, उससे उत्कृष्ट अवस्था है प्रभुभक्ति और उससे भी उत्कृष्ट अवस्था है ज्ञानतत्त्वकी उपासना। फिर भी निष्काम कर्मयोग के मूल रहस्य को मना नहीं किया जा सकता है। इसका स्पष्ट प्रतिपादन पढ़िये—34,35—

निष्काम कर्मयोगी से प्रभुभक्ति की उत्कृष्टता :- निष्काम कर्मयोग, प्रभुभक्ति और ज्ञान तत्त्वकी उपासना, इन तीनों का सम्बन्ध ज्ञानी जीवों से है, पर उत्तरोत्तर उनमें विशेषता उनकी प्रगति के लिए बढ़ती जाती है निष्कामकर्मयोग में कर्मकी और दृष्टि नहीं है प्रधानता से, किन्तु हटने की ओर प्रधानता है, और इन कार्यों में परोपकार सेवा, विषयसेवन आदिक जो जहां जिस प्रकार सम्भव है इनसे हटने की इनमें भावना है अंतरंग से देखा जाये तो हटे हुए रहते हैं। ऐसे यत्न के फल में इनके प्रभुभक्ति बढ़ती है। प्रभु क्या है? जो एक विशुद्ध निर्दोष ज्ञानपुंज है वह तो प्रभु है। जहां जन्म जरा आदिक अठारह दोषों का कणिका मात्र भी नहीं है, केवल एक ज्ञानविलास है ऐसा जो प्रभु ज्ञानपुंज है उसकी उपासना करो। ज्ञानी पुरुषों का ऐसे प्रभु के प्रति कितना विशुद्ध ध्यान है, उन्हें लोक में एक प्रभुस्मरण और ज्ञानतत्त्व की उपासना के सिवाय अन्य कुछ शरण दिखता, और जीवन भी उनका सफल है जिनका ध्यान इन दो तत्वों की ओर रहे। वे दो क्या हैं? उन्हें एक भी मान लीजिये— एक विशुद्ध ज्ञानपुंज । उस ही के स्वभावरूपमें पाने की परख होती है, और जो ऐसे निर्दोष बन चुके हैं वे पर्यायरूपमें भी ज्ञानपुंजत्वरूपमें प्रकट हुए हैं, उनकी उपासना है। तो निष्काम कर्मयोग से और उपर चलकर उनके यह प्रभुभक्ति की प्रमुखता है।

प्रभुभक्ति से ज्ञानतत्त्वोपासना की उत्कृष्टता:—अब प्रभुभक्ति से आगे ज्ञानतत्त्वकी उपासनाकी प्रमुखता होती है। यह ज्ञानस्वरूप क्या करती है? जानता है। इसकी कला पर जो इसमें विशुद्ध तेज हैं, चमत्कार है, उस पर ये ज्ञानी पुरुष आकृष्ट होते हैं। ज्ञान जानता है, किसे जानता है? अपने आपको, जानता है, ज्ञान ज्ञानको जानता है। ऐसा जानन किसके द्वारा करता है? यह जाननहारके द्वारा करता है। ऐसा किया जाने का फल क्या है? जानन जानने के लिए जानता है, और यह सब जानन में हो रहा है, जानते में हो रहा है। जरा गुण गुणी का अभेद भी इस सत्त्वको निरखिये। और, थोड़ी ही देर बाद, ऐसा एक विकल्प होने के बाद फिर यह बुद्धि होती है। अहो यहां इतनी

कारकप्रक्रिय कहां? यह है, यों है, इस प्रकार इन सबको भी अभेद करके रूक चैतन्यमात्र अपने को निरखता है।

53. अध्यात्मयोग

सत्य शान्ति के लिए अध्यात्मयोग की आवश्यकता है। अध्यात्मयोग की इस महिती उपयोगिता के कारण पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने इस ग्रन्थ की रचना की है। इसमें सर्वप्रथम यही दिखाया गया कि अध्यात्मयोग के बिना शान्ति होना असम्भव है। देखिये पृ0 1-

अध्यात्मयोग के बिना शान्ति का अलाभ: - आत्माकी भलाई शान्त रहने में है। अशान्त अवस्थामें जो कि किसी परद्रव्य के राग अथवा विरोध के कारण होती है उसमें इस जीवकी कोई भलाई नहीं होती। परदृष्टि से अपने आपमें इसको शान्ति और यथार्थ संतोष नहीं हो पाता। तो यह आवश्यक है कि हम समस्त परद्रव्यों के स्नेह से हटकर, मोह ममता से हटकर हम अपने आपके निज सहज स्वरूपमें पहुँचें, रत हों, निकट रहें जिससे कि हमें शान्ति प्राप्त हो। ऐसा प्रयत्न करने का नाम है अध्यात्मयोग। अध्यात्मयोगके अर्थी को अर्थात् अपने आपमें जो शान्ति चाहता है ऐसे पुरुष को आवश्यक है कि वह अपने आपके यथार्थ स्वरूपको जाने, अपना यथार्थ स्वरूप जानने के लिए सर्वप्रथम तो यथार्थ व्यवहारकी परख करें, कारण यह है किय ह जीव अनादि कालसे व्यवहार में, पर्याय में मूढ होकर इसीको ही अपना सर्वस्व मानकर इस ही के आदेश में चला, पंचेन्द्रिय के विषयों में इसकी रूचि रही। ऐकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक समस्त संसारी जीवों ने यही किया जो मोह अवस्था में होता है।

अज्ञानी जीव व्यवहारविमुग्ध होते हैं और ज्ञानी जीव अध्यात्मयोग प्रिय होते हैं, उनकी वृत्ति परस्पर विलक्षण है, इसका कारण यह है कि अध्यात्मयोग और व्यवहारविमुग्धता में ही परस्पर प्रतिपक्षता है—इसका संक्षिप्त चित्रण देखिये पृ0 2-

अध्यात्मयोग और व्यवहारविमुग्धता में परस्पर प्रतिपक्षता:—अध्यात्म कहो या अपने आपका विशुद्ध स्वरूप जो अपने आपमें स्वतः है, अपने ही सत्त्व के कारण है, किसी परकी अपेक्षा जिसमें नहीं है, ऐसा जो निज में अन्तः प्रकाशमान स्वरूप है उस अध्यात्मत्वकी दृष्टि हो, धुन हो, उसके निकट बनने की बात हो उसे कहते हैं अध्यात्मयोग। योग मायने उपाय, प्रयत्न किस। जैसे लौकिक योग बहुत किये जाते हैं। बड़े-बड़े व्यापार करना, अनेक आरम्भ करना, और कितने ही प्रयत्न किस-किस ढंग से किये जाते हैं, अपना पक्ष बनाने के लिए, अपनी पार्टी मजबूत करने के लिए जो न किया जाय सो

कर डाला जाता है। इससे बढ़कर और व्यवहारविमुग्धता किसे कही जाय? कभी किसी राज्य सरकार की पार्टी कमजोर हो रही हो तो जितने मंत्री अब तक भी हुए उतने मंत्री और बढ़ा लें ऐसा प्रलोभन दे करके पार्टी में मिलने की बात रहती है। इस जनता क्या समझती नहीं कि कितना अन्याय है, कितना जनता पर बोझ लादा जा रहा है। देशसेवा का बहाना लेकर और धर्मसेवा का भी बहाना लेकर अपने कषायों की पुष्टि चलती है। तो यह सब क्या है? व्यवहारविमुग्धता। इसके कारण यह जीव अनादि से अब तक इस ही तरक भटकता रहा।

बहिर्योग में जीव अधीर और व्याकुल रहता है आध्यात्मयोग में आत्मा धीर व अनाकुल रहता है। यह सब बहिर्योग व अध्यात्मयोग का प्रभाव है, इसका दिग्दर्शन देखिये पृ0 11—

बहिर्योग और अध्यात्मयोग का प्रभाव:— अध्यात्मयोग में अभिमत आत्मतत्त्वकी भी सुन्दरता जंचती है और उस तत्व का परिचय करने वाले में भी शान्ति—होने के कारण सुन्दरता उत्पन्न होती है जबकि विभाव परिस्थिति को अपनाने पर जो क्रोधादिक भीतर में परिणमन हुए और जो देहादिक परिणमन चले आये यह मैं हूँ, इस प्रकार का एक भ्रम बन जाय तो उसके आधारपर इसको अपनी दुनिया लम्बी करनी पड़ती है। दूसरों से सम्बन्ध जोड़ा, विषयों के साधन जुटाये, और उन जुटावों में कितना इसका लम्बा आयोजन चलता और तब यह बेचैन रहता है, इसे शान्ति नहीं मिली। अरे शान्त स्वरूप का आश्रय हो तो शान्ति मिले। जहां शान्तिका अंश नहीं, और इतना भी नहीं कि उनका यह विश्वास हो कि यह मेरे पास मेरे निकट रही तो आयगी ऐसे भिन्न पर पदार्थों में तो अशान्ति की बुद्धि की और इच्छा कर रहे हैं कि शान्ति मिले, तो शान्ति का उपाय इसे कैसे प्राप्त हो?

आत्मा का सहज स्वरूप जाने बिना मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं हो सकता। अतः आत्मा का सही स्वरूप जानना अति आवश्यक है, इसका संक्षिप्त वर्णन देखिये— पृ0 19—20

आत्माका व्यापक अविशिष्ट स्वरूप :—आत्मा शुद्ध स्वरूप ज्ञायकभाव है, वह न कषाय सहित है और न कषाय रहित है। कुछ लोग संसारी जीवों में जीवों की परख करते रहने के कारण कहते हैं कि जो मोह करे, सुख दुःख भोगे, प्रेम करे वह जीव होता है। सो यों कहा कि जो कषायों से रहित है, विकारों से रहित है वह जीव है। दोनों के कहने में जीव का स्वरूप तो नहीं आया, जीव की विशेषता आ गई। एक ने जीव की विकृत विशेषता बतायी और एक ने जीव की अविकृत विशेषता बतायी पर जीव का स्वरूप कषायसहित कषायरहित सविकार निर्विकार इन शब्दों में नहीं आता है। उस

आत्मा में पाया क्या जाता है? जो उसका सनातन तत्व ही उस विधि रूप तत्वकी बात कही गई है। विधि रूप तत्त्व आत्मा का चैतन्यस्वभाव है, जो स्वतः सिद्ध है अनादि है, अविनाशी है, नित्यप्रकाशमान है, ऐसा नहीं है कि आत्मा का यह स्वरूप निगोद अवस्था में न रहा हो और पंचेन्द्रिय अवस्था में आ गया हो या सिद्ध अवस्था में आ गया हो, ऐसा नहीं है। वह स्वरूप अनादि अनन्त है। कोई जाने तो भी वहां स्वरूप है और न जाने कोई तो भी वहां स्वरूप है, लेकिन संसार अवस्था में अनादि बन्ध परम्पराके कारण कर्म पुद्गल के साथ और उन परभावों के साथ वहां एक क्षेत्रावगाह हुआ है और भावकर्म के साथ एकमेक बन गया है तो कषायका उदय इतना कठिन है कि अपने को वह शुभ अशुभ भावों से नहीं निरख पाता है। कोई बड़ा क्रोध कर रहा हो उसे कोई समझाये कि देखो तुम गलती पर हो तो वह मान नहीं सकता कि हम गलती पर हैं। वह तो समझेगा कि मैं ठीक कर रहा हूँ। यहां बात क्या है? उन भावों के साथ एक आत्मीयता जोड़ली है। वह यह नहीं जान पाता कि ये कषायें मेरा स्वरूप नहीं हैं, अहितकार हैं।

जीव संसार अवस्था में बद्ध है और बद्ध संसारी को ही मुक्ति चाहिए। तो समस्या यह आ खड़ी होती है कि किसका आश्रय लें कि मुक्ति प्राप्त हो। स्वयं तो बुद्ध है, बद्ध के आश्रय से मुक्ति नहीं और प्रभु पर जीव है, परके आश्रय से उपयोग स्थिर भी नहीं हो सकता। इस समस्या का समाधान यह है कि बद्ध होने पर भी स्वरूप, स्वभाव अबद्ध है, उस अबद्ध स्वभाव के आश्रय से मुक्ति प्राप्त होगी। तो बद्ध अवस्था में अबद्ध रूपको देखने की क्या विधि है, इसका दिग्दर्शन कीजिये—पृ0 23—

बद्ध दशा होने पर भी अबद्ध स्वरूपके देखने की कला:—जैसे गाय रस्सी से बंधी है। गाय के गले में रस्सी बांध दी है तो उस समय क्या आप इस तरह नहीं देख सकते कि गाय गेरवें से बंधी है? देखते हैं, बंधी है, छूटती नहीं कहीं जा सकती। गले पर भी बन्धन नजर आ रहा है, और क्या इस तरह नहीं देख सकते कि गाय जिनती है, जितने उसके अंग हैं, गला है, शरीर है, वह सब अपने आप में पूरा है वह किसी से नहीं बंधा है, किन्तु यह रस्सी का एक छोर रस्सी के दूसरे छोर से बंधा हुआ है, गाय नहीं बंधी है, रस्सी ही परस्पर में बंधी है, क्या इस तरह नहीं देख सकते? इसी तरह अध्यात्ममें निरखिये—यह बात ठीक है कि हम कर्मों से बंधे हैं, लोगों से भी बंधे हैं, इतना तक भी लोग ख्याल रखते हैं, हम वहां रुके हैं, और क्या ऐसा नहीं निरख सकते अपने आपके एक आत्म के एक उस विशुद्ध ज्ञान कलापर दृष्टि देकर, जाननमात्र स्वरूपको लक्ष्य में रखकर क्या यही नहीं, समझ सकते कि यह ज्ञानमात्र आत्मा तो अपने स्वरूप में अछेद्य अमेद्य है? यह अपने आपमें परिपूर्ण है? इस बन्धनकी अवस्थामें, कषायों के बन्धन की हालतमें भी केवल

कषायों को निरखें तो उसको हम बद्ध देखते हैं इस प्रकार बन्धन की दशा में, जैसे हम केवल कषायों को निरखें तो उसको हम बद्ध देखते हैं इस समय में हमें वह आत्मा अबद्ध विदित होगा। वह एक स्वरूप है, वह अपने चैतन्यमें भी निहित है, उसमें कुछ विशेषतायें नहीं है। जो विशेषतायें वह मैं नहीं हूँ। रागद्वेष आदिक विविध विकल्प ये मैं नहीं हूँ। अपने स्वरूप पर दृष्टि देते हुए भी निरख सकते हैं।

विशुद्ध अंतस्तत्वकी प्राप्ति ही हित है। उस विशुद्ध अंतस्तत्वकी प्राप्ति मार्ग क्या है, इस विषयमें अनेक लोग अपनी धारणा बनाये हुए हैं, किन्तु विशुद्ध अंतस्तत्व एक रूप और उसकी प्राप्तिका मार्ग भी एक ही है। इसका दिग्दर्शन कीजिये— पृ० 27—

विशुद्ध अंतस्तत्वकी प्राप्तिका एक मार्गः— प्रायः लोग कहते हैं कि धर्म धर्म सब एक हैं। उस भगवान के पास पहुंचने के सारे रास्ते हैं, कोई किसी रास्ते से पहुंचे, कोई रास्ते से, सो भाई थोड़ी बहुत मौज वाली शान्ति होना, सुख होना, थोड़ी आकुलता कमहोना, ऐसे को ही अगर वसपद मान लिया जाय परमात्मा का, तो थोड़ा कह भी सकते हैं कि किसी भी धर्म के रास्ते से चलें, वहां पहुंच जायेंगे, किन्तु जहां एक विशुद्ध आत्मा का विकास ही निर्वाण पद है तो ऐसे पद की प्राप्ति तो वीतरागता के मार्ग से ही हो सकती है, और वीतरागता के मार्ग पर वह चल सकेगा जो अपने आप में यह निरख रहा है कि रागदिक रहित मेरा स्वरूप ही है। तो ज्ञान और वैराग्य दोनों बातें आ गईं और उसकी साधनामें अविकार ज्ञानस्वभावकी स्थिर दृष्टि रखना यह बात की गई। सर्व सम्यग्दृष्टि अपने अपने पद में अपनी योग्यतानुसार मूल में आन्तरिक यही काम किया करते हैं।

पराधीनता ही क्लेश है, पराधीनता ही संसार है—उससे छुटकारा पाने के दो उपय हैं— 1. सत्याग्रह, 2. असहयोग, जिनमें प्रथम उपाय पर दृष्टिपात कीजिये—पृ० 30—

पराधीनता से छुटकारा पाने के लिए सत्याग्रह का प्रयोगः—भैया, कोई पराधीनता आ गई हो तो पराधीनता से मुक्ति पाने के लिए केवल दो ही अस्त्र हैं—एक तो सत्याग्रह और दूसरा असहयोग। किसी भी प्रकार की परतन्त्रता हो, समाज की परतन्त्रता हो, देशकी गुलामी हो, सभी स्थितियों में कोई आजाद होने का विकार करता हो तो उसे ये दो बातें अपनानी होती हैं—सत्याग्रह और असहयोग। देशवासियों ने यही किया था। जब अपने को माना कि मैं विदेशियों के आधीन न रहूँ तो उन्होंने सत्याग्रह और असहयोग इन दो विधियों को अपनाया था। यहां है हम पर विषयों की परतन्त्रता, कषायों की परतन्त्रता, कर्मों की परतन्त्रता, शरीर की परतन्त्रता, लोगों की आधीनता, जो

कुछ भी निमित्त नैमित्तिक भाव में अथवा कल्पना में पराधीनतायेंच ल रही हैं उनसे मुक्त होने का उपाय सत्याग्रह और असहयोग। सत्य का कैसा आग्रह कि मुझ में सत्य क्या है? स्वतः सति भवं सत्यं। स्वयं अपने आपके सत्की जो बात हो वह है सत्य। मेरे में स्वयं अपने आपके ही सत्व के कारण जो कुछ बात हो वह तो है मेरा सत्य अर्थात् वह ज्ञानज्योति, ज्ञानस्वभाव, चैतन्यशक्ति। उसका करें, आग्रह, मैं तो यह ही हूं। कोई नाम लेकर गाली बके तो बकने दो, मैं तो यह हूं ही नहीं मैं तो चैतन्यशक्तिमात्र हूं। कोई अपना जान कर राग करे तो करने दो, वह उसकी कषायक का काम हैं। मैं तो यह नहीं हूं। मैं तो चैतन्यशक्ति मात्र हूं। सत्य का आग्रह रहता है। किसी भी बीच, किसी भी प्रसंग में वे सत्य के आग्रह को नहीं छोड़ता हैं। जेलों में बन्द कर दिया नेताओं को, देशकी अजादी चाहने वालों को, किन्तु उन्होंने अपना माना हुआ सत्यका आग्रह नहीं छोड़ा। यहां पाप के उदय आ जायें, निर्धनता आ जाय, कोई हर तरह से सताने लगे, कैसी भी विपदायें आ जायें पर ज्ञानी जीव अपने सत्याग्रह को नहीं छोड़ते। मैं हूं यह ज्ञानस्वभावमात्र।

अब पराधीनता से मुक्त होने के द्वितीय उपय का दिग्दर्शन कीजिये—
पृ.31— पर

पराधीनता से छूटकारा पाने के लिए असहयोग का प्रयोग: आत्मस्वात्न्त्रय पाने के लिए दूसरा क्या उपाय करना है? असहयोग। जो मेरी परतन्त्रता के हेतु हैं, अनात्मतत्व हैं, जैसे पहिले विदेशी वस्तुओं से असहयोग किया था नेताओं ने, इसी प्रकार जो मुझ में विदेशी तत्व हैं, परभाव हैं उन सबसे असहयोग करना। राग उत्पन्न होता है तो आ जाय राग, अब मेरा सहयोग तुम्हारे लिए नहीं रहा तुम परतत्व हो विदेशी तत्व हो, परमान हो। भले ही विकार आकर जमा हुआ है मुझ में, लेकिन मेरे स्वभाव भाव नहीं हों इन परभावों से, इन पर पदार्थों से सहयोग न करना, यह दूसरा अन्त है अध्यात्मयोग में बढ़ने का। जब रागदिक भावों में इन ज्ञानी पुरुषों का सहयोग नहीं रहता तो रागादिक के साधनभूत पदार्थों में उनका हठ न रहेगा। कोई किसी प्रकार परिणमता है तो परिणमे। सबमें अपनी अपनी कषाय के परिणमन हैं। मैं तो इन सबसे निराला केवल एक ज्ञानस्वभावमात्र हूं। प्रभुपूजामें, प्रभुदर्शनमें, प्रभुभक्ति में, हम केवल ज्ञानपुंज के नाते से तका करें तो इसके दर्शनमें साक्षात् शीघ्र लाभ होंगे। तो हम अपने आपके सत्य तत्वकी जानें और उसमें ही यह मैं हूं इस प्रकार का अनुभव करें तो हम अध्यात्मयोगमें, मोक्षमार्ग में निर्वाध बढ़ सकते हैं और शान्ति प्राप्त करेंगे। इस नाते से समझिये कि हमारा मनुष्य जन्म पाना यह सफल हुआ है।

कोई पुरुष निमित्त नैमित्तिक भाव पर जोर लगाते हैं और कोई पुरुष सहज स्वभाव ओर सवातन्त्रयके सिवाय और कुछ नहीं देखना चाहते हैं । इनका समन्वय समाधान देखिये— पृ0 39

निर्णय और समाधान के स्थान: देखिये भैया, निर्णय की जगह निर्णय है और साधन की जगह साधना है। निर्णय में यद्यपि यह बात सत्य है कि कोई भी पदार्थ विकाररूप परिणमता है, तो योग्यता तो उसके हैं, पर वह किसी पर निमित्त को प्राप्तकर अपने विकाररूप परिणमता है, इतने पर भी स्वतन्त्रता खतम नहीं हुई। जैसे कोई पुरुष चौकी पर बैठ गया तो उसके बैठने में यद्यपि चौकी निमित्त है, फिर भी चौकी की कुछ भी परिणति कुछ भी अंश, कुछ भी असर बैठने वाले में पहुचता नहीं है। बैठने वाले ने स्वयं अपने आप उस चौकी का निमित्त पाकर अपने आप में परिणति की, तो स्वात्त्रयका घात तब भी नहीं है, परन्तु साधना के प्रसंग के तो उसका एक लक्ष्य है जो निरपेक्ष उसका अपने आप ही स्वरूप समाया है उसकी दृष्टि रखना, उसमें रमना, साधना में केवल उस एकत्व से ही प्रयोजन है साधनाकी स्थिति में । तो अध्यात्मयोग एक साधनाका प्रकरण है और उसमें पूर्व साधक है निर्णय, तो निर्णय कर लेना चाहिए, क्योंकि निर्णय के बिना कुछ भी पग नहीं बढ़ाया जा सकता। लेकिन जब साधना की बात हो, हम अपने विशुद्ध आत्मस्वरूपके अनुभव के लिए यत्न करें तो वहां हमें द्वैत से प्रयोजन नहीं है। हां निर्णय के समय तो सब दृष्टियों से निश्चयदृष्टि, व्यवहारदृष्टि, सभी दृष्टियों से हमें निर्णय कर लेना चाहिए, पर यह साधनाकी बात है। साधना में एक अद्वैत, एकतववसरूप, वही दृष्टागत रहना चाहिए।

जो शुद्ध तत्त्व ध्येय है, आश्रेय है, उसमें विकार की स्वीकारता नहीं हैं इसका सयुक्तिक मनन कीजिये— 43—

शुद्ध तत्त्व में विकार की अस्वीकारता: क्यों जी, किसी से कहा जाय कि आपके पिता जी जेल से मुक्त हो गये, चाहे जेल गया हो या नहीं, जेलेसे मुक्त हुआ हो या नहीं, पर सुनने वाले को तो भला नहीं लगता। यदि वह नाराज हो और वह कहने वाला कहे कि भाई क्यों नाराज होते, हमने तो मुक्त की ही बात कही, मुक्त होना तो अच्छी चीज है। अरे भाई, उस बात में भीतर तो यह बात समायी है कि वे जेल में थे। तो आत्मस्वरूप सम्बन्ध में आत्मा रागी है या आत्मा रागरहित है, मुक्त है बद्ध है इसका अवकाश नहीं है उस एकस्वरूपके निरखने की स्थिति में । वहां तो जो विशुद्ध विधि रूप भाव है बस उस के ही दर्शन का वह प्रसंग है। किसी से कहा जाय कि तुम देखो 12 बजे रात्रिको स्टेशन चले जाओ, और देखो रास्ते में बरगदका एक बहुत बड़ा पेड़ मिलता है, सो लोग झूठ मूठ कहते हैं कि वहां भूत रहता है। वहां भूत

नहीं है। बात तो उसने बढ़िया समझायी, पर अब यह जाने वाला जब उस पेड़ के नीचे से निकला तो इतनी बात तो वहां चित्त में आ ही गई कि यहां भूत नहीं है। पहिले उसके ख्याल में भूतकी सकल आयी, बाद में नहीं की बात आयी। अब चित्त में भूत की बात आये बाद नहीं की बातका कितना वश चल सकता है।

परमहितरूप अध्यात्मयोग क्या कहलाता हैं, जरा इसका सिंहावलोकन तो कीजिये— पृ044.

अध्यात्मयोग का सिंहावलोकन:—अध्यात्मयोग क्या है कि अध्यात्मसे विछुड़े हुए अध्यात्म के तत्व को अध्यात्म में ले जाना इसका नाम है अध्यात्मयोग। जैसे सूर्य की तीव्र किरणों के संतापके कारणसमुद्र के जल का समुद्र से कुछ वियोग हो जाता है अर्थात् वह जल भाप के रूपमें उड़कर समुद्र से बहुत दूर आसमान में पहुंच जाता है, और चिरकाल तक वियोग रहा, यों समझिये कि 7-8 महीने तक वियोग रहा। अब वह समुद्र का जी जो सकल बदल कर आसमान में ठहर रहा था सुयोग समय पाकर फिर बरषता है और बरषकर, उस जलकी प्रकृति होती है, अवएव नीचे ढलने के कारण आखिर बड़ी नदियों में मिलकर समुद्र में पहुंच जाता है, इसी प्रकार इस ज्ञान समुद्र से इसका उपयोग उड़कर चला। संसार के संतापों के कारण, रागद्वेषादिक विकल्पों की वेदनाके कारण, मोह अज्ञान की प्रबल वायुबेग के कारण यहां से विमुख होकर चला। इससे बिछुड़कर बहुत दूर हो गया और इस ज्ञानने सकले भी बदल ली। आत्माका विशुद्ध ज्ञान किस पद्धति को लेकर हुआ करता है और इस ज्ञानसमुद्र से बिछुड़ा हुआ यह ज्ञान जो विषयों में लग गया है, बाह्य पदार्थों में उलझ गया है, यह किस पद्धतिका हो रहा है। अपनी सकलें बिगाड़ कर इस ज्ञानसमुद्र से बहुत दूर बाहर में यह उड़ रहा है, विचर रहा है। सुयोग से यह ज्ञान जब कुछ नम्र बने, उसमें कुछ आद्रता आये, इसको अभिव्यक्त हो और यह बरषकर नीचे की और ढले अर्थात् अपने आपकी और आये और आकर यह ज्ञान जब ज्ञानस्वरूपमें मिल जाय तो ऐसा मिलने का नाम ऐसा जुड़ने का नाम है अध्यात्मयोग।

लोग किसी न किसी का जो कभी शरण ग्रहण करने का भाव करते रहते हैं, किन्तु शरण कुछ होता नहीं है। इसका कारण यह है कि जो कभी शरण हो ही नहीं सकता उसका शरण लेने का विकल्प चल रहा है। निश्चयतः जो अपने लिए शरण हो सकता हो उसका शरण लेने का यत्न करें तो शरण मिलेगा। इसका अवलोकन कीजिये—पृ0 न. 48—

निश्चयतः अपना शरण लेने की शक्यता:—देखिये भैया, जीव शरण लेता है तो निश्चय से अपने भावों का शरण लेता है, कोई भी जीव अन्य

पदार्थ का शरण नहीं लेता। अज्ञानी पुरुष भी किसी पर पदार्थ का शरण नहीं लेते, वे व्यवहार से शरण लेते हैं। अज्ञानी पुरुष भी अन्य में किसका शरण ले रहे हैं? वे अपने भावों का ही शरण ले रहे। जो उन्होंने मोह रागद्वेष किया, जो भीतर में विकार किया उस विकार का शरण ले रहे। बाह्य शरणका लेना तो चूंकि उनकी कल्पनामें है उनकी कल्पनाका विषय है, अतएव उपचार से अज्ञानी पुरुष बाह्य पदार्थ का शरण लेते हैं और निश्चय से अज्ञानी पुरुष अपने विकारभावों का शरण लेते हैं। तब ज्ञानी जीव उपचार से व्यवहार से पंचपरमेश्वरों का शरण लेते हैं, पर इन दोनों शरणों में पद्धति का भी और अनुभवका भी और उसके फलका भी कितना अन्तर है? अज्ञानी अपने विकारों को नहीं छोड़ना चाहते वे विकारों को ही अपना सर्वस्व शरण मानते हैं। कभी किसी कारण से विकार कम सा हो तो जानबूझकर उसके बढ़ाने का यत्न करते हैं, किन्तु ज्ञानी जवी कर्मविपाकवश आ पड़े हुए इन विभावों से निवृत्त होने का यत्न करते हैं और आपमें अतः प्रकाश मान जो कि एक ज्ञानके, सम्मेलन से विज्ञात हुआ है बस उससे मिलना चाहता है, उसके ही निकट बसना चाहता है।

लोग अपनी कषाय के अनुकूल परवस्तुका हठ पूरी न हो सकने से अति व्याकुल हो जाते हैं। सो ठीक है— परवस्तुकी हठसे कोई सिद्धि नहीं हो सकती। अन्तः प्रकाशमान परमपिता से अपना विशुद्ध आग्रह बने तो सिद्धि लाभ में कोई संदेह नहीं है। इसकी उपलब्धि कीजिये—पृ० न. 75—

परमपिता से विशुद्ध आग्रह में सिद्धिलाभः कोई बालक अगर हठ करे तो पिता को झुकना पड़ता है उसकी बात सुननी पड़ती है, और उस बालक की सारी सुविधायें बन जाया करती हैं। लेकिन यह मैं अपने इस परमपिता सहज चैतन्यतत्त्व से कुछ भी हठ नहीं कर पा रहा हूँ। यदि मैं इससे हठ करूँ तो इस परमपिता को मेरी रक्षा करनी होगी। मेरे को सारी सुविधायें देनी होगी, दर—दर झटकने से बचना होगा, लेकिन बड़े तीव्र आग्रह के साथ यह मैं उपयोग कभी परमपिता, कारण समयसार सहज चैतन्यस्वभाव के पास आया ही नहीं, इससे हठ की ही नहीं। हठ की तो बाह्य से हठ की, बाहरमें किसी पर को अपना मानमर वहां हठ की। कोई बात चित्त में अनुकूल न हुई तो चाहे उसका कुछ भी हो पर वहां अपने हठ में ही यह रहा। तो हठ इसने बाह्य में की। विदेशी तत्वों में इसने हठ की। जो जिस जगह रमता है उसकी हठ वहां ही चल सकती है। कोई बालक किसी दूसरे के पिता के पास हठ करेगा तो उसके थप्पड़ ही तो लगेगा। अपने से ही तो हठ किया जाता है, इन मोही जीवों न इन विदेशी तत्वों से इन परभावों से, इन बाह्य पदार्थों से अपना स्नेह लगाया, इनमें रमा तो इनमें ही इसके हठ की बात हो गई। यदि ये उस अपने परमार्थ सत्यस्वरूप से आग्रह करने की ठान ले तो फिर इन्हें कोई बाधा

ही न हो कि अपने स्वरूपमें मग्न न हो सकें। इन संसारी जीवों ने इतना आग्रह कर लेने का साहस ही नहीं बनाया। साहस बन सकता है। इसके लिए थोड़ा त्याग चाहिए, थोड़ा साहस चाहिए, सत्संग, स्वाध्याय, मनन के लिए समय और उपयोग चाहिए। बात सुगम है, स्वाधीन है बन सकती है।

आत्मरक्षा आत्मगोपन में है, उसका विधान देखिये पृ० न. 80—

आत्मगोपन—देखो भैया, कल्याणमार्ग में क्या किया था प्रभुने? सुगम काम, स्वाधीन काम। दर्शनज्ञान सामान्यात्मक विशुद्ध स्वभावको अपने चित्त में लिया। बस गुप्त हुए अर्थात् रक्षित हुए। गुप्त का अर्थ लोग छिपाने से लगाते हैं? पर गुप्त का अर्थ है वास्तव में रक्षित होनी। जैसे कहते हैं। ना, कि अमुक चीज को सन्दूक में गुप्त रख दो, तो उसका अर्थ यह हुआ कि उस चीज को रक्षित कर दो। तो यहां आत्माकी भी रक्षा अपने आपको अपने में ऐसा छिपाकर रखने में है जो अपना वैभव दूसरे को प्रकट न हो पाये कि क्या गुण है इसमें अर्थात् अपने मुखसे, अपने ढंग से अपने गुणकी, प्रशंसाकी बात कहना, इसका नाम है अपने को अरक्षित बना देना। अपने स्वभाव को अपने में लेकर उसकी उपासना से वहीं रहकर प्रसन्न बने रहना, तृप्त बने रहना, यह गुप्त उपाय है अपने आपकी रक्षा करने का।

प्रायः लोग कहते हैं कि परमात्मा घट घट में विराजमान है और उसकी सब कृपा है। बात तो सत्य है, किन्तु इस तथ्यका सही परिचय किस प्रकार प्राप्त होता है और अनुभव में किस प्रकार आता है व उसकी परम कृपा कैसे मिलती है और उस कृपाका फल क्या है? इन सब जिज्ञासाओं का समाधान पाइये, आइये पृ० 91 पर—

ध्रुव कारण समयसार की आश्रेयता:— सहज कारण समयसारकी यह बात चल रही है। इसे कारण परमात्मतत्त्व शब्द से कह लीजिये—यह कारण परमात्मरूप कार्य पामात्माहो ने पर भी बना रहता है, क्योंकि सहज कारण पामरात्मतत्त्व अनाद्यनन्त है जहां केवल ज्ञान केवल दर्शन के वैभव की बात दिखाई गई है वहां इन शब्दों में बताया गया है कि ये प्रभु निरावरण नित्य शुद्ध ज्ञानदर्शन के द्वारा कार्य समयसार होकर, कार्य परमात्मा होकर भी कारण परमात्मतत्त्वको जानते व दर्शते रहते हैं। चीज क्या है कि स्वभाव का नाम है कारण परमात्मतत्त्व और पूर्ण विकास का नाम है कार्यपरमात्मतत्त्व। वहां भी प्रतिक्षण निरन्तर कारण परमात्मतत्त्वके उपादान से वह कार्य परमात्मतत्त्व उत्पन्न होता रहता है। जो पद्यरूप कारण समयसार है उसका भी कारण सहज कारणपरमात्मतत्त्व है। हमें इस प्रकरणसे यह शिक्षा लेना है कि हम कहां दृष्टि लगायें कि जहां पर जमकर रागद्वेष के संकटों से दूर हो जायें, वह बाहर कहीं नहीं है। वह मिलेगा अपने आपमें?

अध्यात्मयोग ही उत्तम ब्रह्मचर्य है अथवा अध्यात्मयोग से परमब्रह्ममग्नता होती है, इसका दिग्दर्शन करें पृ0 125—

अध्यात्मयोग में उत्तम ब्रह्मचर्य:—जैसे किसी कार्य को कितने ही दिन करने के बाद कोई आखिरी दिन फलका हुआ करता है, जैसे किसी भी समारोह या घर सम्बन्धी काग्र के प्रोग्राम में बहुत दिन तक लगने के पश्चात् एक आखिरी सम्मिलन होता है, जहां वह फल मिलने की बात है, कार्य पूर्ण होने की बात है, इस प्रकार की क्षमा आदिक 9 प्रकार के धर्मों के पालने के पश्चात् अब 10 वां एक उस समस्त धर्मपालन का फलरूप है। जीवन भर जीवन भर जितने धार्मिक आचरण किये जाते हैं उन समस्त व्रत तप आचरणों का फलरूप है, जिसमें तरंग क्षोभ विकार नहीं है, ऐसे विशुद्ध ज्ञानप्रकाश में ज्ञानको लीन करना यही है ब्रह्मचर्य। इस परम ब्रह्मस्वरूपमें ल न होने के पथमें जो पुरुष बढ़ते हैं उनका कैसा आचरण होता है, उन सब आचरणों का वर्णन तो हो चुका है, अब उन सब वर्णनों के फल में इसको क्या अवस्था प्राप्त होती है वह अन्त में कहना चाहिए ना, सो वह उसका एक अन्तिम रूप है अथवा यह संयोजित अध्यात्मयोग का परिपूर्ण रूप है। अपने आत्मा में जोड़ने के फल में जो कुछ होना चाहिए वह पूर्ण रूप यही उत्तम ब्रह्मचर्य हैं व्यवहार में अर्थात् अन्य वस्तु की अपेक्षा करके होने वाले प्रवर्तन में बेह्मचर्य घातक कुशील नामक पातका परिहार होना और अपने आपमें अपने स्वरूपके अवलोकन में तृप्त रहना यह बात समस्त साधुओं का एक अन्तिम परिपूर्ण रूप है।

अध्यात्मयोग ग्रन्थ के अन्तिम अनुच्छेद में बताया है कि अध्यात्मयोग के लाभ के लिए हमारे लिए क्या कर्तव्य होना चाहिए, इसका अध्ययन कीजिए—पृ0 129—

अध्यात्मयोगके लाभ के लिए हमारे कर्तव्य:—अध्यात्मयोग की स्थिति पाये बिना मनुष्य शान्ति की मांग न पा सकेगा। इसके लिए हमारे में व्यवहार में देव, शास्त्र, गुरु के प्रति भक्ति हो, जो वीतराग है, सर्वज्ञ है, वही आदर्श है, वही हमारा देव है। जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होकर केवल ज्ञानप्रकाशमात्र ब्रह्मतेज में समाना चाहते हैं वे हमारे गुरु, वीतरागके प्रतीक है। उन वीतराग ऋषी संतो के वचन हे। वे शास्त्र समागम हमने पाया, उत्तम जाति, कुल, धर्म, संगति आदि उनका लाभ तो उठा लेना जायें। जो श्रेष्ठ समागम हमने पाया, उत्तम जाति कुल, धर्म, संगति आदि उनका लाभ तो उठा लेना चाहिए। नहीं तो समझिए कि इन समस्त समागमों का पाना निष्फल रहा अपना एक ध्येय बनायें कि हम जी रहे हैं एक ज्ञानस्वरूप आत्मामें उत्तम होने की विधि बनाने के लिए। यह ध्येय बन जायेगा तो समझिये कि इस जीवन

की सार्थकता है। इसके लिए मूल में हमें यह ज्ञान करना ही होगा कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। मेरा मैं हूँ, मुझ से बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। यों निर्णय कर सर्वको उपेक्षा करके अपने स्वरूपमें रत होना यही है उत्तम ब्रह्मचर्य और यही है अध्यात्मयोग का परिपूर्ण धाम।

54. द्रव्यदृष्टप्रकाश

परमोपेक्षाका आनन्द चाहने वाले पुरुषों को द्रव्यस्वरूपका सुपरिचय कर लेना अति आवश्यक है। उसी लक्ष्य की पूर्ति में सहायक रहे द्रव्यदृष्ट प्रकाश पुस्तक है, जिसे पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने विविध बुबुधों द्वारा कहे गये व शब्दविरुक्तिसे प्रकट हुए प्रकाशों को प्रकाश में लाने के लिए रचा है। इस प्रकाशको पाने के लिए इस पुस्तकका अध्ययन करना चाहिए। फिर भी संक्षेप में इनमें प्रयुक्त कुछ संगतियों का उदाहण देखिये—

संगति: गुणपर्यायाधारो द्रव्यम्।

भावार्थ—गुण और पर्यायो का जो आधारभूत है वह द्रव्य है अर्थात् द्रव्यमें ही गुण है ओर पर्याय है। जो द्रव्य है वह गुण नहीं व पर्याय नहीं जो गुण है वह पर्याय नहीं, द्रव्य नहीं, जो पर्याय है वह द्रव्य नहीं, गुण नहीं क्यों, सबका अभिप्राय पृथक है। गुण तो एक त्रैकालिक शक्ति का नाम है, पर्याय क्षणावर्ती अवस्था का नाम है। गुण पर्यायों का समूह या आधार या एकत्व मूलभूत वस्तु द्रव्य है।

संगति: गुणन पर्याया भवति यस्य दद्रव्यम्।

भावार्थ : गुण से स्वभावसे स्वचतुष्टय से जिसकी पर्यायें होती हैं वह द्रव्य है, जैसे आत्माका जो भी परिणमन है वह आत्मा के चतुष्टय की परिणति से होता है, अन्य किसी गुण से चतुष्टयसे, पग्रयसे नहीं होता। अतः जिसके गुणके स्वभाव से चतुष्टयी से पर्यायें होती है वह द्रव्य है।

संगति:गुणाः पर्यायेन भेतोमात्रेण संति यत्र तद्रव्यम्।

भावार्थ: द्रव्य एक अखण्ड पदार्थ है, उसे जब भेद दृष्टि से प्रतिबोधन के लिए विशेषतायें बताकर वर्णन करते हैं तब वहां गुण है ऐसा उपयोग ग्रहण कराता है, अतः पर्याय से भेददृष्टि से जहां गुण प्रतीत होता है वह द्रव्य अखण्ड द्रव्यों को सुलक्षित करता है। द्रव्य तो अवक्तव्य, किन्तु ज्ञातव्यमात्र है, उसको समझाने के लिए जो कुछ कहा जावेगा वह द्रव्य की विशेषतामात्र बताई जावेगी। वस्तुतः द्रव्य अखण्ड एक सत् है।

संगति: गुणाय स्वरूपाय पर्याया संति यत्र तद्रव्यम्।

भावार्थः जहां गुण अर्थात् स्वरूपका अस्तित्व रखने के लिए पर्यायेंह^१ वह द्रव्य है। इस लक्षण ने यह सिद्धान्त पुष्ट किया है कि यदि परिणमन पर्याय न मानी जाय, न हों तो द्रव्य कुछ भ वस्तु नहीं ठहरती है। कभी त्रिकाल में ऐसा हो ही नहीं सकता कि परिणामें ही नहीं और सत् कोई वस्तु रहे। अतः जहां पर्यायें स्वरूप के लिए होती है वह द्रव्य है। इसमें यह सिद्धान्त भी आ गया कि उत्पाद व्यय बिना ध्रौव्य ठहर नहीं सकता। वस्तु ध्रुव तभी होत हैं जब कि उसमें नव नव दशायें होती जावें।

संगतिः—गुणात् पर्यायाः सन्ति यत्र तद्द्रव्यम्।

भावार्थः गुणसे अविभूत होकर पर्यायें है जहां वह द्रव्य है, पर्यायों का उदयाम स्थान शक्ति ही है। इस लक्षणसे इस सिद्धान्तको पुष्ट किया कि पर्यायें किसी अन्य द्रव्य, गुण से नहीं आती, स्वगुण की ही दशा होने से स्वगुण से ही आविर्भूत होती है। यहां गुणात् शब्द पंचम्यन्त है। जिससे यह प्रसिद्ध होता है कि गुण तो एक स्वभावरूप अनादि अनन्त हैं, उससे पर्याय एक समय को उठती है और दूसरे समय में नष्ट हो जाती है। इस लक्षण ने सब द्रव्यों को लक्षण किया।

संगतिः गुणियताः आमन्त्रितइव पर्यायाः सन्ति यत्र तद्द्रव्यम्।

भावार्थः पर्यायोंका स्वरूप स्थायी गृह नहीं है। अतः वे पर्यायें उस समय की योग्यता के कारण बुलाई हुई की तरह होती हैं सो जब तक योग्यता व कारण कलाप अनुकूल रहते तब तक स्थूल दृष्टि से पर्यायें आमन्त्रित हैं ऐसी जहां पर्यायें होती हैं वह द्रव्य है। पर्यायें बिल्कुल नई नई आती है। कहीं ऐसा नहीं है कि द्रव्य स्वरूप में सभी पर्यायें अन्तर में उपस्थित हैं और उनका आविर्भाव होता जाता है। किन्तु अनतर्योगता व बाह्य करण कलाप का उपादान व निमित्त पाकर पर्यायें उत्पन्न होती है। इसको आविभाव इसलिए कहते हैं कि पदार्थ किसी अन्य द्रव्य से नहीं आती, स्वयं में प्रकट होती है।

संगतिःगुणानां गुणैः पर्यायापेक्षया पर्यायाः भेदाः सन्ति यत्र तद्द्रव्यम्।

भावार्थः गुणों का गुणों के साथ पर्याय भेद दृष्टि से जहां पर्याय अर्थात् भेद है वह द्रव्य है। यद्यपि द्रव्यमें अनन्त शक्तियों अभेद स्वभाव से हैं तथापि उनके स्वलक्षण से देखा जावे तो सबका स्वलक्षण भिन्न भिन्न है, जिसे आत्मा ज्ञान दर्शन सुख शक्ति आदि अमित गुणों का पिण्ड है, इस आत्मामें जो ज्ञानस्वभाव है वह ज्ञानस्वभाव ही है, दर्शन आदि रूप नहीं है। इसी तरह जो दर्शन हैं वह दर्शन ही है, सुख आदि नहीं। यही व्यवस्था सभी गुणों की

हैं। यहां अन्य द्रव्य के गुणों का नास्तित्व तो सुतरा सिद्ध है ऐसी व्यवस्था जहां हो वह द्रव्य है।

संगतिः गुणेण पर्यायाः अमेदेन संति यत्र तद्द्रव्यम्।

भावार्थ—जाहं पर्यायें गुणों में अभेदरूपसे है वह द्रव्य है। इस लक्षण से यह प्रकट हुआ है कि पदार्थ का मूल्य गुणों से पृथक कहीं पाये नहीं जाते एवं पदार्थों का उद्गम गुणसे है किसी अन्य द्रव्यके गुणों से नहीं। अथवा पर्यायें गुण परिणति के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं, इसलिए पदार्थों का गुणों में ही अन्तर्भाव है। ऐसा जहां होता है वह द्रव्य है। इसमें यह सिद्धान्त भी आया कि गुण जिस काल में जिस पदार्थरूप परिणमता है वह उस काल में तन्मय है।

इस प्रकार की 90 संगतियां इस पुस्तक में पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज द्वारा रचित हैं इन संगतियों से द्रव्य की विशेषताओं के सम्बंध में विभिन्न प्रकाश मिलता है।

55—56 तत्वसूत्र मुल व सार्थ

पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज द्वारा रचित यह तत्वसूत्र अति संक्षिप्त सूत्रों में अष्टाध्यायी है। इसके प्रथम सूत्र “उं” के विवरणमें उं के 12 अर्थ किये हैं, जिनकी व्याकरण व युक्ति से सिद्धि बतायी गई। उन अर्थों को विस्तार से समझाने के लिए पुस्तकका अवलोकन करें। संक्षेप में अर्थसूचना इस प्रकार है:—

1. पंचपरमेष्ठी, 2. तीन लोक व सिद्धशिला, 3. पांच ज्ञान व ज्ञान सामान्य, 4. सर्व शब्दों का प्रतिदिनित्रि, 5. उपाय उपेयभावकी आकृति, 6. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, 7. शब्दोंच्चारण विधि द्वारा बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परआत्माका प्रदर्शन, 8. सर्वआगमका बीज, 9. मंत्रों का प्राण, 10. देव शास्त्र गुरु, 11. जीवादि सात तत्व, 12. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान वसम्यक् चारित्र।

तत्वसूत्र के प्रथम “उं” में उ को सर्व शब्दों का प्रतिनिधि वहां इसी प्रकार द्वितीय सूत्र “तत्” में तत् को समस्त ज्ञानब्रह्म का संकेत कहा। तथा तृतीय सूत्र “सत्” को सर्व अर्थ का वाची कहा। तत् ।।1।2। सूत्र की व्याख्या में उसका मर्म मनन कीजिये— पृ 9—

तत्—।1।2। — वह यह ज्ञानब्रह्म चैतन्यचमत्कार मात्र ज्ञानाकार अन्तरंग में चकचकायमान निजस्वरूपसेतत् है। ज्ञानभाप आकार प्रकार से रहित है अतः वह असीम है, सर्वक्षेत्र में स्थित सर्वद्रव्यगुण पर्यायों के जानने का स्वभावरूप, सहज वृत्ति रखता हुआ, व्यापक ज्ञान ब्रह्म उ शब्द से वाच्य व

स्वीकृत है और तत् शब्द से रमर्तव्य है। परमार्थतः स्वात्मबोध से अधिक कुछ भी नहीं प्रतिभासमान होता और वह ही प्रतिभास्य स्वरूपकी अपेक्षा लोकालोकमें व्यापक हो लोक इतना ही है अतः इसे जानता है किन्तु ज्ञान अशक्ति से लोकमात्र को जानता हो तब ज्ञान उन्हें जानता ही। ज्ञान का स्वरूप ज्ञान है अतः सर्व ज्ञानों के स्वरूप में विशदृशता न होने से वह एक ज्ञान एक ब्रह्म एक ब्रह्म एक ईश्वर आदि अनेक नामों से कहा जाता है।

अब द्वितीय सूत्र सत् 1।3। की व्याख्या में देखिये—यह सर्वार्थगर्भ है—पृ0 11—12 —

सत् -1।3—उं शब्द से वाच्य, तत् शब्द से ग्राह्य अर्थ ब्रह्म सत्स्वरूप है। सत्में सर्व अर्थ निहित है। जो सत् नहीं वह अर्थ नहीं। सत् उत्पादव्ययधौव्यात्मक है। यह सामान्य दृष्टि से एक है, द्रव्यदृष्टि से अनंतद्रव्यात्मक है क्योंकि सदभूत वस्तु प्रत्येक अखंड है। उसकी वर्तमान क्षणकी परिणति उत्पाद—व्यय—स्वरूप है। वही परिणति उत्पादस्वरूप है, वही परिणति व्यवहार रूप है वर्तमान पर्याय में अनन्तर पूर्व पर्यायका अभाव है, अतः व्ययस्वरूप है। वर्तमाना पर्याय पूर्व समय में न थी, नवीन ही हुई है, अतः उत्पादस्वरूप है सत् वही का वही अनादि अनन्त है, जिसकी कि पर्यायें बनती रहती है, अतः वस्तु इस ही प्रकार सत्स्वरूप है। सत् के कहने में सर्व अर्थ आ गये। अतः सर्व अर्थों की ओर से प्रतिनिधि सत् है। अथवा सभी अर्थ ज्ञानात्मक व अर्थात्मक होते हैं, जिसमें सारा विश्व शब्दात्मकतासे उं है, ज्ञानात्मकता से तत् है, अर्थात्मकता से सत् है। इसके पश्चात् सत् विशेषता बताने वाले सूत्र इस प्रथम अध्याय में किये गये हैं, जैसे —

एकम् 1।4। नित्यम् 1।5। सप्रतिपक्षम् 1।6। अप्रतिपक्षम् 1।7। अतत् 1।8। असत् 1।9। अनकेम् 1।10। क्षणिकम् 1।11। अविभक्तम् 1।12। विभक्तम् 1।13। अखण्डम् 1।14। सांशम् 1।15। स्वापरिणतम् 1।16। अस्वापरिणतम् 1।17। स्वभाववत् 1।18। अस्वभावकम् 1।19। ज्ञानमात्रम् 1।20।

ये सब सूत्र मात्र कहे हैं इनका रहस्य पुस्तक का अध्ययन करके प्राप्त कीजिये। तत्त्वसूत्र के द्वितीय अध्यायमें आत्मा के संकेतक 20 सूत्र हैं—

तदहम् 2।1। चित् 2।2। जीवः 2।3। आत्मा 2।4। ब्रह्म 2।5। ज्ञाता 2।6। द्रष्टा 2।7। अमूर्तः 2।8। कर्ता 2।9। भोक्ता 2।10। अकर्ता 2।11। अभोक्ता 2।12। इत्यादि सूत्र कहकर अन्त में ज्ञानमात्रम् 2।20। प्रसिद्ध किया गया है। इनका रहस्य पाने के लिए पुस्तक में अवलोकन कीजिये—

तृतीय अध्याय में स्वसे सम्बन्धित 19 सूत्रों को कहकर अन्तमें ज्ञानमात्रम् । 13 । 20 । व्यवस्थित । 5 । 3 । हरः । 5 । 4 । इत्यादि 19 सूत्रों को कहकर इसे भी अन्त में ज्ञानमात्रम् । 5 । 20 । अन्तिम सूत्रमें ज्ञानमात्र प्रतिभासित किया गया ।

छठवें अध्याय में परसे निवृत्त कराने की प्रेरणा देने वाले अस्वादयेत्य । 16 । 1 । जडात् । 16 । 2 । बन्धोः । 16 । 3 । देहात् । 16 । 4 । इत्यादि सूत्रों से बहिरंग से उत्तरोत्तर अंतरंग परसे निवृत्त कराते हुए अन्तिम सूत्रों से मनन कीजिये कि कितने अन्तः परसे निवृत्त कराया । जैसे—ज्ञानव्यक्तेः । 6 । 18 । ज्ञेयाकारात् । 16 । 19 । निवृत्त कराया है और अन्तिम सूत्र ज्ञानमात्रम् । 16 । 20 । से ज्ञानमात्र स्थापित किया है ।

सातवें अध्यायमें निजको उत्तरोत्तर अंतरंगरूपमें 19 सूत्रों में लक्षित कराकर अन्तिमसूत्र ज्ञानमात्रम् । 17 । 20 । में ज्ञानमात्र सहज लक्षित हुआ है ।

आठवें अध्यायमें प्रयोग द्वारा अपने आपके अंतरंग में पहुंचकर ज्ञानमात्र अनुभवकी प्रसिद्धि की है, जैसे—

तच्छणवानि । 8 । 1 । अवगृहणीयाम् । 8 । 2 । धारयानि । 8 । 3 । बुवाणि । 8 । 4 । गच्छानि । 8 । 5 । जानीयाम् । 8 । 6 । मन्ये । 8 । 7 । इच्छामि । 8 । 8 । रोचे । 8 । 9 । प्रत्येमि । 8 । 10 । श्रदधानि । 8 । 11 । भावयेयम् । 8 । 12 । ध्यायेयम् । 8 । 13 । पुशानि । 8 । 14 । प्राप्नुवानि । 8 । 15 । प्रतपानि । 8 । 16 । अनुभवानि । 8 । 17 । सचेतानि । 8 । 18 । एकीभवेयम् । 8 । 19 । ज्ञानमात्रम् । 8 । 20 ।

यह सूत्र ग्रन्थ अति संक्षिप्त सूत्रों में है, किन्तु इन सूत्रों के रहस्य अद्भूत निधिरूप है । पाठजन पुस्तकका अध्ययन मनन करके अपनी योग्यता को सफल करें ।

57. ज्ञान और विज्ञान

आत्माका हित ज्ञानमें है और ज्ञान परमार्थातया किसको कहते हैं एवं उस ज्ञानकी उपलब्धिका क्या उपाय है, इन सभी समस्याओं का समाधान इस पुस्तिका में मिलेगा । पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने इसकी रचना करके मानव समाज को अतसंक्षेप में हितका उपाय बता दिया है । प्रामि आटिकिल में ही ज्ञान और विज्ञान की रूपरेखा की झांकी आ गई है, देखिये—पृ0 1—

ज्ञान और विज्ञान—बन्धुओं, आजकल जैसे धन संचय के लिए लोग होड़ लगा रहे हैं, वैसे ही कुछ अनेक लोग विज्ञानविकास में भी होड़ लगा रहे हैं । यद्यपि यह निश्चित है कि हम सब जीवों का ज्ञान ही वास्तविक सर्वस्व है,

तथापि उसके विकासों के प्रकारों में यह भी निर्णय है कि किस प्रकार का ज्ञान हमारी शान्ति का कारण न हो पावेगा। लोग जानकारी के अर्थ में कभी ज्ञान शब्द का प्रयोग करते हैं और कभी विज्ञान शब्द का प्रयोग करते हैं। यद्यपि ज्ञान विज्ञान का कहीं प्रयोग करने पर प्यापत्ति नहीं है तथापि प्रति शब्दशः अर्थ की सूक्ष्मदृष्टि उपयुक्त करने पर ज्ञान और विज्ञान के अर्थ में अन्तर पाया जाता है। ज्ञानका अर्थ जानन है, जहां मात्र जानन है, रागद्वेषकी तरंगों का लगाव नहीं है ऐसे जाननको ज्ञान कहते हैं। इनकी स्थिति में चूंकि रागद्वेषका लगाव नहीं होता, अतः उसमें पर पदार्थ को विषय करने का प्रयत्न नहीं रहता, और इस ही कारण प्रायः स्व ही विषय रहता है। तब इसका प्रगतिशील विशद स्वरूप यों कहा जा सकता है कि ज्ञान ज्ञानको जाने वह ज्ञान है। विज्ञान शब्दमें दो शब्द हैं और ज्ञान जिसका अर्थ है विविध ज्ञानाना पदार्थों से नाना पद्धतियों से होने वाले ज्ञानको विज्ञान कहते हैं।

हमारा सत्य शरण ज्ञानभाव ही है, उसकी उपलब्धि के लिए हमारा पौरुष होना चाहिए, इसका संदर्शन कीजिये— पृ० 14—

ज्ञानकी सत्य शरणता:— हम आपका निरपेक्ष नित्य शरण सर्वत्र एक विशुद्ध ज्ञान है, निर्मल ज्ञान है, जिस ज्ञानके साथ रागद्वेष की तरंग कुछ बाधक न बन रही हो ऐसा ज्ञान यद्यपि जिस किसी भी पदार्थ को जानकर भी रह सकता है, किन्तु जिन जीवों में रागद्वेष करने की प्रकृति पड़ी है, अभी वासना है, ऐसे मनुष्यों का यह कर्तव्य होता है कि वे अपने ज्ञान का प्रयोग एक ज्ञानस्वरूपके जाननेमें करें। परपदार्थ के जाननेमें बूझकर अधिक दृष्टियां देना, इसके बजाय यह हितकर होगा कि हम अपने आत्माके ज्ञानस्वरूपको जानने का यत्न अधिक रखे। निर्णय और साधना ये दो विषय सम्बन्धित होकर भी अपना न्यारा महत्व रखते हैं। निर्णय के प्रकरण में तो बहुमुखी सब तरफ़ी दृष्टियां रखी जाती हैं, वस्तु का निर्णय अनेक विधानों से किया जाता है, पर जब एक साधना की टानले कोई, मुझे तो एक शान्ति चाहिए, किसी भी नामपर मुझे विषमता स्वीकार नहीं है ऐसी अपने आपमें आत्महित की अभिलाषा करले ऐसा पुरुष साधना के पथपर बढ़ता है और उस साधना के समय उसकी स्थिति, उसका उद्यम एक निष्तरंग, निर्विकल्प सहज निरपेक्ष जो कुछ भाव है उस स्वभावकी और रहकर होता है। ज्ञान और विज्ञान में इन्हीं बातों का अन्तर है। ज्ञान तो ज्ञानस्वरूपकी और झुकता है और विज्ञान नाना निर्णयों में चलता है।

अध्यात्मम में, आत्महित में सामान्यतत्वका कितना महत्व है इसका दिग्दर्शन कीजिये पृ०—16

सामान्य का महत्व:— आत्मपथपर सामान्यका जो महत्व है उसे विशेष नहीं प्राप्त करता साधना में, लोकव्यवहार में तो साधानण का प्रयोग कुछ हेय और निन्द्य जैसे आशयमें किया जाता है और विशेष शब्द का प्रयोग महत्व के आशयमें किया जाता है। जैसे कहते हैं कि यह विशिष्ट पुरुष है, इसका यहां विशेष स्थान है। सामान्य शब्द का लोकव्यवहार में महत्व नहीं है, विशेष शब्द का महत्व है, पर अध्यात्मसाधना की ओर बढ़ने वाले पुरुष को उस सामान्यस्वरूपमें निर्विकल्पस्वरूपमें अपनी रुचि दृष्टि और महत्व बनाना होता है जिसमें वह साधना के उस मार्ग में चलता है और इसी कारण शुद्धनयके स्वरूप के वर्णन में अविशिष्ट तत्वको निरखने की बात कुन्द कुन्द स्वामी ने मुख्यता बतायी है।

द्वध्यमान जितना भी पर समागम है उनकी ओर लगाव होने का प्रभाव दुःखप्रद है। पर-सम्पर्क के प्रभाव से बच लेने में ही आत्मरक्षा है। परसम्पर्क प्रभाव से वही पुरुष बच सकता है जो सहज सुन्दर ज्ञानज्योति से परिचित है। इस आत्मरक्षाके लिस्थह आर्टिकिल पढ़कर प्रेरणा प्राप्त कीजिये—पृ० 23, 24—

परसम्पर्क के प्रभाव से बच लेने में आत्मरक्षा:— देखिये इस विनश्वर लोक में जो इन चर्मचक्षुओं से दृष्टगत होता है सभी समागम वहां सभी लोग अपना कार्य प्रायः इसी आशय में तो करते हैं जैसे कि हिन्दी में कहावत है—चढ़ जा भाई बांस पर, भला करेगा राम, इसी प्रकार के करने वाले दुनियावी लोग हैं। उन्हें दूसरों के हित की कुछ गर्ज नहीं है। जिस प्रकार से मनोरंजन हो, जिस प्रकार से विषयों का साधन हो उस प्रकार से लोक व्यवहार करने में चतुर हुआ करते हैं, लेकिन ज्ञान पाया है, जैन शासन पाया है, कुछ अपने आपका बोध पाया है तो म दुनिया के बहकाने में न आयें, क्योंकि दुनियां तो प्रायः मोहियों से भरी हुई हो। जैसे आजकल वाटों की प्रथ है, अगर अपने बारे में, आत्महितके बारे में कोई इन प्रजाजनों की वोट ले तो क्या वह तरीका सही बैठेगा? अरे वोट मिलेगी मोहियों की मिथ्यादृष्टियों की। वे अपनी ही बात कहेंगे। हमें तो अपने आपसे बात करना है, और जो ऋषि संत जनों ने इसी दिशा में अपने अनुभव लिखे हैं उनसे लाभ उठाना है। यों हम अपने आपके उद्धरण के लिए अपना जीवन मानें और रागविरोध के लिए हम अपने जीवनको न समझें। उद्देश्य अगर हमारा सही होगा तो हम अपने हिताकार्य में सफल हो सकते हैं।

उत्तम धर्मपालन वह ठे जहां ज्ञान ज्ञानस्वरूपमें हवगहित हो जाता है। सभी योगीजनों का यह पौरुष रहा है इसके प्रताप से मुक्ति व सिद्धि

प्राप्त की है। उस ज्ञानावगाहनकी दिशा का आर्टीकिल मनन करके ज्ञानावगाहन का पौरुष कीजिये—पृ0 31, 32—

ज्ञानावगाहन की दिशा:—हम अन्य सबको भूलकर किसी भी क्षण ऐसा ख्याल रखलें कि मैं तो नामरहित एक ज्ञानमात्र हूँ। इसे ज्ञानमात्र ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वमें लगनेको जानकारी कहेंगे। ऐसे ज्ञानरूप करतूत हमारी बन सके तो वे क्षण धन्य हैं। यह बात कुछ भी कठिनाई को लिए हुए नहीं है। जैसे कि द्रव्य कमाना, और और प्राकर के झकड़ें सुलझाना लोगों को अपनाना, लोगों को अनुकूल करना, अन्य अन्य बातें जैसे कठिन है? जहां हो वहां ही रहकर केवल मुख मोड़ना है, और वह मोड़ भी लम्बी नहीं है। जैसे यहां शरीर के मुख की मोड़ उससे कुछ बड़ी है, इस ओर निहारा, अब दूसरी ओर निहारना है तो उसका रास्ता बड़ा है, लेकिन यहां तो कुछ उस रास्तेमें लम्बाई नहीं है कि मोड़में ज्यादा श्रम करना पड़े। उपयोग है, अपने आपमें रहता हुआ यह उपयोग जीवन कलासे इस प्रकार इस ओर मुख कर रहा है, और वही ज्ञान वहां से विमुख होकर अपने को निहारना चाहे जानना चाहे, अनुभावना चाहे, यह बात सुगम है, किन्तु इसकी धुन अत्यन्त दृढ़ होनी चाहिए।

58. समयसारभाष्य जीवातीवाधिकार

भगवत्कृन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विचरित समयसार ग्रन्थ के जीवाजीवाधिकारकी गाथाओं का पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने भाष्य किया है। समयसार भाष्यपीठिका की तरह यह भाष्य भी गाथाओं के सम्बन्धित विषयों का सविधि प्रतिपादक है। अभी यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। उदाहरण के लिए अप्रतिबद्धका लक्षण बताने वाली 19 वीं गाथा का हृदय पाण्डुलिपि से उद्यत किया है, इसका अवलोकन कीजिए—

न हि पर्यायमुग्धा इद शरीरमहमिति मन्यन्ते,

किन्त्विदमहमिति मन्यते शरीरत्मनोः परिवयथार्थकियाभावात् ।

तथैव चाते क्रोधादिष्वयं क्रोध अहमिति मन्यन्ते,

किन्तु क्रोधादिविभावं संलक्ष्यायमहमिति प्रतयन्ति ।

सा भाषा हि ज्ञानियां समाप्ति यते वहिरात्मानः शरीरे हामिदमिति क्रोधादिषु चा हमयमिति निश्चिन्वन्ति । ते न खलु शरीरादि परपदार्थषु वस्त्वभेदेनात्मानमनुभवन्ति यथान्तरात्मानो निर्विकल्पनिजा खण्डज्ञायककस्वभाववस्तुनि वस्त्वभेदेना त्मानमनुभवन्ति ।

59. षोडश भावना प्रवचन भीर्ष

दर्शनविशुद्ध आदि सौलह भावनायें तीर्थकर प्रकृति के बंधका कारण हैं। इन सौलह कारण – भावनाओं की विशेष आराधना के लिए वर्ष में तीन बार भादों, माघ एवं चैत मास में विशेष रूप से आराधना की जाती है। उन सौलह भावनाओं के विषय में पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने इटावा चातुर्मास में प्रवचन किये थे। उन प्रवचनों के स्थलवार शीर्षक लिख दिये गये हैं, उन शीर्षकों के अध्ययन से वक्तव्यका सार विदित हो जाता है। अतः कुछ प्रवचन शीर्षक पाठकों के अध्ययन और मनन के लिए लिखे जा रहे हैं।

पहली भावना का नाम दर्शनविशुद्धि है। इसका अर्थ है कि सम्यग्दर्शन के होने पर लोककल्याण के लिए जो भावना जगती है उसका नाम दर्शनविशुद्धि है। इस भावनापर पन्द्रह दिन प्रवचन हुए थे, उनका शीर्षक पाठकों के मनन के लिए दिये जा रहे हैं—

षोडश भावना प्रवचन के द्वितीयभाग में विनय सम्पन्नता आदि शेष पंद्रह भावनाओं पर प्रवचन हुआ था, जिन प्रवचनों के शीर्षक अपने विषयका स्पष्टीकरण भली भांति करते हैं जिनमें कुछ शीर्षक पाठकों के मनन के लिए विषयवार लिखे जा रहे हैं।

द्वितीयभावना—विनयसम्पन्नता के भीर्षक

दर्शनविनय। दर्शनविनय परिकर। आत्मदर्शनका महत्व। ज्ञानविनय। चारित्रविनय। विनयसम्पन्नता का प्रभाव। तप विनय। उपवार विनय। नम्रता के रहस्य का एक दृष्टान्त। परमार्थ नम्रता से आत्मलाभ। नम्रता का संदेश।

शीलवृत्तातिचार नामक तृतीय भावना के शीर्षक

शालब्रतेवनतिचारभावना। शीलब्रतानतिचारकी आवश्यकता। कुशीलकी प्रबल बाधकता। शीलकी सम्पन्नता। मनहस्तों की उदण्डता। अविवेकी मनकी उच्छंखलता। मनमतंगकी मूढ़ता। मनमतरंग स्तम्भन। काम की अनंगता व मनोमात्रता। काम का मनमथता, संबरारिता व कंदर्तता। काम साधनांगों की मुखताका कारण कामका दोषपूर्णता। परमार्थ ब्रह्मचर्य। कुशलता ब्रह्म बाधकता। शील का महत्व।

अभीष्ण ज्ञानोपयोग नामक चतुर्थ भावना के भीर्षक—

अभीष्णज्ञानोपयोग। कल्पित जड़ धन व ज्ञानधन में अन्तर। अभेष्ण ज्ञानोपयोग से मानव जीवन की सफलता। अपना वर्तमान परिचय। समयका विवेक। धर्मकी सुविधा, किन्तु अज्ञानीका व्यामोह। ज्ञानाभ्यासके उपाय।

सुखका यत्न। समय का सदुपयोग, आवश्यककर्तव्य। सत्कृत्य करने लगे। उपयोगका सारभूत और असारभूत आश्रय। व्यामोहियों की परेशानी और निर्मोहियों की धुन। ज्ञानयोग की सुगमता। ज्ञानका सतत उद्योग। आनन्द का व्यवसाय: ज्ञानोपयोगका प्रसाद। आदि।

संवेग नामक पंचम भावना के भीर्षक

संवेग भावना। धन वैभव में अशरणता। पुत्र संसर्ग में अनर्थ। अनयमनएकता! कुटुम्भसंसर्ग में अशरणता। शरीर में अनुरागकी वयर्थता। भोगों की आसारता। जीवन की व्यर्थ यातना। मित्रों की कहानी। विषयोंकी क्लेश कारिता। विषय संताप। बाह्य में सर्वत्र अरभ्यता। विशुद्ध ज्ञानमें श्लेष का अभाव। अमृत स्वरूप। अमृतपान की पात्रता। यथापद धर्मपालन। धर्म का संगतिमें प्रभाव। प्रतिसमृद्धि। उल्टा वहाव। ज्ञानी सतों द्वारा प्रतिबोधन। संवेग और संवेग का फल।

भाक्तितस्त्याग नामक छठवीं भावना के भीर्षक

शक्तितस्त्याग भावना। परमार्थरूप शक्तितस्त्याग से संकटों का विनाश। वास्तविक त्याग। यथार्थ ज्ञानवृत्तियों में त्याग वृत्ति का उपचार। लोक परिचय का भ्रम। आत्मोद्धार में त्यागका प्रमुख सहयोग। भ्रमका बोझ। परग्रहणमें शान्ति की आशा का अभाव आदि।

भाक्तितस्तप नामक सातवीं भावनाके भीर्षक

शरीर की उपेक्षा और अपेक्षा: तपश्चरण का प्रथम प्रयोजन। तपश्चरण का तात्कालिक लाभ। उपयोग स्वच्छता की प्रथमावश्यकता पर एक दृष्टान्त। आदि।

इस प्रकार शेष की सर्वभावनाओं के प्रवचनों के उपयोगी शीर्षक है। पाटकजन शीर्षकों की पुस्तक से अथवा प्रवचन से इन शीर्षकों का अध्ययन मनन करके इनके अंतस्वत्त्वका सम्यक उपयोग बनाकर अपनी योग्यताको सफल करें।

60. प्रवचनसार प्रवचन भीर्ष

प्रवचनसार ग्रन्थराज पर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने के विस्त्रित प्रवचन हुए जिन्हें शोर्ट हैण्ड स्टेनोग्राफर द्वारा नोट कराया गया। उन्हीं प्रवचनों के स्थल कम से पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने शीर्षक लिखे हैं। इन शीर्षकों से विषय परिचय हो जाता है। जैसे कुछ शीर्षक निम्न प्रकार हैं—

गाथा-1 भेदविज्ञानकी पराकाष्ठा। सुसम्बेदनके आत्मा का प्रत्यक्षीकरण। आत्माका अन्वेशन। स्वका ज्ञान करो। गुणोः हि सर्वत्र पदं निधीयते । स्वभाव और विभाव। आदि।

प्रवचनसार प्रवचनके ज्ञैयतत्व प्रज्ञापन नामक द्वितीय अधिकार की प्रथमगाथा के शीर्षक-

जानकारी का फल स्वयं पर प्रयोग करना। पदार्थ का शुद्ध नाम हो नहीं। कार्य अकेले में ही होगा, अन्य कोई कुछ नहीं करेगा। द्रव्य सब स्वतंत्र हैं। यह सारा विश्व क्या है। आदि गाथा 96- द्रव्यकी जाति व व्यक्तियां। किसी भी पदार्थ का अस्तित्व परापेक्ष नहीं। कल्पना में ही पदार्थ का समर्थन या विरोध । आदि।

गाथा 100- क्या सुमेरु पर्वत सर्वथा ध्रुव हैं। उत्पाद व्यय का आधार। उत्पाद व्ययध्रुवय तीनों एक साथ। स्यात् व स्व का प्रभाव। भाव अभाव रूप है व अभाव भाव रूप है। एक का उत्पाद एक। विकल्प जाल से छूटना ही श्रेय। हम अपने आप रूप ही हैं विकल्प क्यों करें, अन्वय व्यतिरेकों में पाया जाता है। अटपट मिसमरेजन नहीं हो सकता। व्यय के बिना उत्पाद नहीं। उत्पाद के बिना व्यय नहीं । सत् के नाश में तुम भी कहां टिकोगे। आदि।

गाथा-144- सामान्य विशेष बताने के लिए मनुष्य का दृष्टान्त । सामान्य बिना विशेषका अभाव। विशेष के बिना सामान्य का अभाव। तत्त्वज्ञान की शरण गहने का फल शाश्वत आनन्द। दृष्टि का प्रताप। द्रव्यार्थिक नेत्र द्वारा दर्शन। पर्यायार्थिक नेत्र द्वारा दर्शन। सामान्यतत्त्व के दर्शन की दो पद्धतियां। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक का व्यापों अर्थ। जीवस्वरूप की अपेक्षा एक व अर्थ क्रिया की अपेक्षा अनेक।

गाथा 122- दृष्टान्तपूर्वके उत्पाद व्यय का अभिन्नत्व व कर्तृकर्मभाव। अपना परिणमन ही अपना कार्य । भ्रमकी भ्रामकता। दृष्टि के अनुसार सृष्टि होने का वियोग। अतः शुद्धि बिना धर्म कहां । कल्याण का कारण मौलिक दर्शन । दुर्लभनरजन्मको सफल करने वाली एक दृष्टि। धर्मकी निज में उपलब्धि आदि

गाथा 126- मुक्ति क्या। बंधन का कारण स्वयं । शुद्ध दृष्टि क्या। अज्ञानमें विडम्बना। निमित्ताधीन दृष्टिका परिणाम। लक्ष्यभ्रष्ट दृष्टि। निज गली का निरीक्षण । निज हित साधना की प्रेरणा। आत्मा की स्वतंत्र परिणति पद्धति। ज्ञानी की परिणति । आत्मा का फसाव और उसका कारण। हम स्वयं

अपनी सृष्टि के निर्मापक । पुरुषार्थ का प्रोत्साहन। स्वपरिणमाधार बन्ध मोक्ष पद्धति। आदि

गाथा 145— समाप्तिका अर्थ परिपूर्णता। सम्पूर्ण द्रव्यों में ज्ञाता। ऐश्वर्य ही ईश्वर। सर्वाद्वैतवाद में निणय। जीवकी अलभ्य शक्ति। सत् अपरिवर्तनीय। अज्ञान परिणति ही संकट का प्रसार। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के बिना संयोग विडम्बनाके कारण। सर्वोत्कृष्ट कार्य। शक्ति में जिम्मेदारी। जीवका अलौकिक ऐश्वर्य । सत्य की खोज। अनिन्द्रय सत् की खोज की कल्पना। चिदनन्द राजा की प्रतिशठा । आदि

गाथा 160— परद्रव्यमें मध्यस्था। मन के विश्राम में ही शान्ति। करणीयता का अभाव। दूसरों की देखा देखी का परिणाम। जीवका त्रियोग से पृथक्त्व। स्वचेष्टाकी स्वयं प्रयोजकता । निज पुष्टि के लिए आध्यात्मिक भोजन। आत्माकी शरीर से पृथकता। शरीर के पक्ष में शरीर का विकट भार। वचन से आत्मा का पृथक्त्व। आत्महित के लिए गुप्तत्व। एक बड़ी समस्या। वचनपक्ष का त्याग व ज्ञानानुभूति की प्रेरण । आदि

गाथा 175— उत्कृष्ट विभूति। आत्माके साथ वास्तविक बन्धन मात्र विभाव। उपयोग विशेष। बन्धन व द्वैत भाव का कारण उपयोग विशेष। भूल से ही यह मैं कुछ से कुछ दूसरा। विभाव की गंदगी पर कर्म संचय का प्राकृतिक। प्रत्येक द्रव्य में प्रेभुता। बन्धन की द्रव्य पर्यायकता। सामान्यता आर्षि पर्यायकी शाश्वतिकता का नियम। जीनन मात्र जीवन का ऐश्वर्य। निर्मोहिता से ही जीवनकी सफलता। बंध के प्रकार । आदि

गाथा 185— जीव त्रिकाल भी पुद्गलादि कर्मों का कर्ता नहीं । अनुमान क अंगों से जीव के अकर्तुत्व की सिद्धि । एक क्षेत्रावगाहमे भी द्रव्यों की स्वतंत्रता। तीक्ष्ण प्रज्ञा की महिमा । अज्ञानियों की संसार समुद्र में तैरने की स्थिति । ज्ञान कला से तैरने की प्रेरणा। विकल्पजनित भयंकर प्रसाद। धर्मात्माकी सेवा अपनी सेवा। विपरीत मान्यता का नाम संकट। हमारी धार्मिक प्रवृत्ति में शंका। प्रत्येक कार्य में निश्चित समय। आदि गाथा 198— सर्वज्ञ देव की विशेषता । इन्द्रियां सर्व ज्ञानकी बाधक। इन्द्रियां सत्य सुख की बाधक। भगवान का सार्वोदक्य ज्ञान। भगवानके ध्यानका उपचार व एक प्रश्न। भगवानका कार्य व ध्यान। भगवान के ज्ञानानन्दविकासकी अनन्तता। आकुलताओं के तीन कारण । सम्यग्दृष्टि की निःकाक्षिता। जीवन का उदेश्य धर्मधारण। धर्म क्या और कहां भगवानके अभिलाषा का अभाव। भगवान के जिज्ञासा का अभाव। भगवान के संदेह का अभाव। आदि।

गाथा – प्रवचनसार प्रवचन के चारित्राधिकार नामक तृतीय अध्यायकी द्वितीय गाथा क्रम न.0 202 गाथा के शीर्षक—

विरक्त संतकी बंधवर्ग से प्रच्छना। विरक्त संत की माता पिता से प्रच्छना। ज्ञानी संत की करुणा। परका मुझमें अत्यन्ताभाव । ज्ञानी संतका माता से छूटकारा । ज्ञानी संत की रमणी से रमणी। ज्ञानी संतकी पुत्रसे प्रच्छता। विरक्त संत की अलौकिक दया। स्वयं ही स्वयं का पिता व पुत्र होने का हेतु। वैराग्यकी छटा । आदि

गाथा 205—व 206— साधु के मुख्य दो बाह्य चिन्ह। साधु के नग्नत्व होने का कारण। केशलुचन आदि का कारण। साधुका अंतरंग चिन्ह। मूर्छा व आरम्भका विवरण। साधु के पांच अंतरंग चिन्हों का विवरण। सर्वउन्नति की नीव भेदविज्ञान। घरका ही भगवान। विरक्त संतका परिवार से पूछने के दो कारण। मार्ग ज्ञानी संत का चिन्तन। आचार्य देव का अनुग्रह । दीक्षा समयकी विशुद्धि । ज्ञानी संतका त्याग । आदि

गाथा—235— आकम चक्षु से सर्वज्ञान। ज्ञानकी सत्यता व ज्ञानी संतो के प्रति भक्तों की भक्ति । आगमका आभार प्रदर्शन। आगम से सर्वज्ञानकी मूल विधि। आगम की प्रमाणता। स्याद्वादका एक प्रयोगस्थल। कुयुक्तिक निषेध। आगम द्वारा सर्व पदार्थों की सिद्धि। ज्ञेयों में ज्ञेयत्वकी स्वयं प्राप्ति । विश्वका मर्मभूत ज्ञान। ज्ञानके सदुपयोगकी प्रेरणा। आत्महित के प्रयत्न का स्मरण। ज्ञानी पर परचेष्टा का अभाव—आदि

गाथा— 239— अणु प्रमाण भी मूर्छित सर्वागम घर साधु के भी सिद्धि का अभाव। मोह कीलत कर्म। आकिंचन्यभाव मोहविजय का उपाय। नेसर्गिकी निर्मलता। यथार्थ जानने की समानता। आत्मश्रद्धा की दिशा पर सुख दुःखकी निर्भरता। निर्विकल्प समाधि की समर्थता। आत्मनिष्पन्न का महत्व। ज्ञान और अनुभावात्मक ज्ञान। शाब्दिक ज्ञान ओर प्रयोगात्मक ज्ञान। अनु

मानिक ज्ञान और अनुभावात्मक ज्ञान। आदि

गाथा—343—उपयोग की कहीं न कहीं टिकने की बात। अज्ञानका प्रताप व ज्ञान की कुशलता । ज्ञान बिना श्रमों का लाभ क्या। अपनी शरणगतता का स्थान। विवाद का मूल न कुछ सी तुच्छ बात। शान्ति को न छुपाकर आत्महितमें उपयोग की प्रेरणा। आत्मत्पर्शका स्मरण। प्रधान प्रयोजन की बात की पुनः पुनः स्मारकता । आदि

गाथा – 254— शुद्धोपयोग व शुभोपयोग के मुख्य गौण रूपमें पात्रविभाग । भावश्रद्धा में व नीति वर्तना में आनन्द । संकटों का विश्लेषण।

कल्पनोद्भव संकट। स्वप्न का साहस। स्वप्नकी डाट। साधुओं के शुभोपयोगकी गौणताका कारण। सिथिलता का फल सिथिलता प्रसार। कदाचित् शुभोपयोगकी उपादेयता। शुभोपयोगकी मुख्यता व गौणता का हेतु। शान्ति के अर्थ गृहस्थ के प्रधान कर्तव्य। आदि

गाथा 268— उच्च उदेश्य में निरर्थक विकल्पों का अनवसर। शुभोपयोग और उसके शोधनका एक दृष्टान्त। लौकिक संतिकी सर्वथा प्रतिषेध्याता। ज्ञानियों के किसी भी प्रकार में हुए समागमकी हितकारिता। मूर्ख मित्र व पंडित शत्रुके व्यवहारका एक दृष्टान्त। विनयशील मूर्ख से भी अहित की संभावना। महापुरुषों के वाक्यों में अपूर्व मर्म। तप्तजलवत् लौकिक। संग। श्रावकों को सदगोष्ठीकी । आवश्यकता। दृढ़तासहित नियमकी सफलता । आदि।

गाथा 270— गुणहीनों की संगति का निषेध। संगतिका परिणाम। उत्तम संगति से उन्नतिका अवसर। उच्च विचाराका नाम उद्धार। विवध संगति व उसका परिणाम। शुभोपयोग प्रवृत्ति व शुद्धोपयोगोन्मुखताका भूला। पंचरत्न। आदि।

गाथा 272— मोक्षतत्त्वका अधिकारी। अफलसंसारका तटवर्ती। शुद्धवृत्ति। एक भाव व द्वितीयभाव। संसारभ्रमणका कारण प्राणों की दीनता। अभ्युदयका मूल उपशान्ति। ज्ञान प्रकाश। मोक्षतत्त्वका उपकार। संसारतत्त्वको रत्न कह देने का कारण। संसारतत्त्वको रत्न कह देने का द्वितीय कारण। मोक्षत्व—यत्न। प्रभु के ज्ञानोपयोग व दर्शनपयोग की युगपद्धति। प्रभुके ज्ञानकी शुद्ध वृत्ति। आदि

गाथा— 273— मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वका वर्णन। मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्वका बल। पदार्थों के व्यवस्थित रहने की स्वयं में व्यवस्था। सर्वत्र स्वकाय में स्वसाधनतत्त्व। सम्यक्त्वसाधनका बल। इच्छा के अभाव का बल। सुभवितव्यता। सम्यक्त्व ज्योति। मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व निश्चय रत्नत्रय। स्वरसस्वादी की निष्परिग्रहतां अंतस्तत्त्वकी उपासना से स्वरस्वानुभव। अंतस्तत्त्वकी उपासनाका परमपुरुषार्थ व प्रताप । आदि

61. समयसार प्रवचनशीर्ष

भगवत्कुन्दकुन्दाचाग्रदेव द्वारा विरचित समयसार ग्रन्थरोजपर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने प्रवचन हुए। इन प्रवचनों में व्यवहारका अविग्रह करके निश्चयनयकी प्रधानता से वर्णन है। इस जीवने अब तक अन्य कुछ जाना व अनुभवा, किन्तु आत्मा के सहज स्वरूपको नहीं जाना और न अनुभवा। इसी कारण जीव संसारदुर्गति में जन्म मरण कर रहा है।

आत्महितकारक ग्रन्थों के निर्माण व प्रवचनों की आवश्यकता इसी कारण है कि जीव अपने सहज स्वरूपका बोध व प्रयोग करके संसार संकटों से छूट जाय। इन प्रवचनों के स्थलवार शीर्षक पाठकों के मनन के लिए दिये जा रहे हैं, जिसके मनन के पाठक भावभावसना करके प्रतिभा-जन्य बांध पाये।

गाथा-265-परमार्थ, निश्चय और व्यवहार बन्ध। पराश्रयतापूर्वक अध्यवसानका निर्माण। अन्तर्बाह्य उपाधि परिहार। मानसिक परारयताकी भी त्याज्यता। बन्धके मूल हेतुकी उपेक्षा। चरितार्थता व प्रश्नोत्तर। बाह्य वस्तु के त्याग का प्रयोजन। निराश्रय अध्यवसान का अभाव। शुद्धरमयतत्वके ज्ञानकी आवश्यकता। निज परिचय बिना शान्तिकी अगति। हेतुनिषेधसे हेतुमानका भी निषेध। बाह्यमलत्याग बिना अत्याग। आदि

गाथा- 267-विकल्पों का मिथ्यापन। विकल्पों के मिथ्यापनका उदाहरण। बंध मोक्ष का अपने परिणामसे ही अविनाभाव। मिथ्याका अर्थ स्वार्थीक्रियाकारिता का अभाव। आश्रय और निमित्त में अन्तर। अध्यवसानमें अहंकार रसका पौषण। सोचत और बनत कुछ और हिअनुभूत परख। आशय मलिनता। अध्यवसान में मान्यतायें। प्रगतिभेद होने पर भी श्रद्धाकी समानता। अध्यवसानमें नानात्मकता। शान्तिका उद्यम। ज्ञातृत्वके यत्न से ही लाभ आदि

गाथा -275-अभव्यके धर्म के वास्तविक श्रद्धान का अभाव। अभव्यके भूतार्थकर्मका अभाव। अभव्यकी आगमफलकी अपात्रता। अभव्यकी भागनिमित्त अधर्मकी श्रद्धा। भूतार्थ व अभूतार्थ धर्म के आरयका फल। अन्तर ज्ञायकस्वरूपकी रुचि। ज्ञानियों की मूल रुचि की समानता। लक्ष्य और उपलक्ष्यका दृष्टान्त। द्वितीय दृष्टान्त पूर्वक ज्ञानी के लक्ष्य और उपलक्ष्यका विवरण। भव्यके भी मिथ्यात्वके उदय में अज्ञानता। आदि

गाथा-290-बंधस्वरूपके ज्ञानमात्रके मुक्ति का अभाव। बन्धनमें चतुर्विधताका एक दृष्टान्त। कर्मबन्धनकी चतुर्विधता। बंधस्वरूपके भी आत्मस्पर्श बिना मुक्तिका अभाव। मुक्तिका साधकतम आत्मस्पर्श। एकत्वके अनुभवमें और आकिन्चन्यके प्रत्यक्षमें हित एवं संतोष। ज्ञान के अनुष्ठान की कार्यकारिता। परसे परकी अशरणता। गर्वकी सर्वत्र व सर्वदा अनवसर। प्रभुदर्शन के अधिकारी प्रभुस्वरूपके तीव्र अनुरागी। ज्ञानीकी दृष्टिमें। परीक्षणसाध्यनिर्णय। आदि

गाथा-293-मोक्षकी साधना। विभावका विदारण। मोह रागद्वेष से शान्तिकी असंभवता। जैन सिद्धान्तकी वास्तविक भक्ति। उदाहरणकी खोज। निर्मोह मानव की पहिचान। अंतस्तप। स्वघटि ज्ञान। धर्मपालन। शान्ति का साधन। शान्तिसाधना। आत्मा और बन्ध के द्वेधीकरण का साधन। आदि

गाथा-297-आत्मग्रहण। आत्मग्रहणका बाधक विकल्प। शान्ति जड़ विभूति से व असम्भव। विचित्र गर्त। स्वकीय प्रगति। सहज व बनावटी तोषका अन्तर। भ्रान्तिका संकट। संसार क्लेशका उपनाम। भली विधिसे जानन। भलापनका निष्कर्ष निकालते हुए जानन पर एक दृष्टान्त ज्ञानविधि पर सुख दुःख की निर्भरता। आदि

गाथा-311-विभावका साधक निमित्त, नैमित्तिक भाव। साथ होने पर भी कार्य कारणभाव सम्बन्ध। स्वतन्त्रता सत्तासिद्ध अधिकार। कठिन संसर्ग में भी वस्तुत्वका अव्यय। पराधीनतासे पराधीनताका अभाव। मर्जीसे बन्धन का अपनाना। अपराध छिपानेका बहाना। दर्शनमोह महापराध छिपाने में चारित्रमोह का बहाना। जीवका ज्ञातृत्व जीवका विस्तार विवके की आवश्यकता। भाग्यका पीछ लगा रहना। परिस्थितियां। आदिक

गाथा-314-315-मिथ्यां आशय। मिथ्यात्वनाशका उपाय। ज्ञान और मोह मिथ्यादर्शन के नामान्तर। मोह के परिहार की कठिनता। आत्माबधानका ध्यान। कर्तृत्व के आशयकी निःसारता। त्रुटि और नखरा। अभिमान का कटुफल। विचारकी सावधानी। आत्माका निःशुद्ध स्वरूप। भेदविज्ञानका प्रताप। प्रभुनावाधिनी अज्ञानवृत्ति। विडम्बना और कल्याणका हेतु। अज्ञान और ज्ञान में आदर का विषय। अज्ञानमें अस्थिर कल्पनायें। आदि

गाथा-320-आत्मा के अकर्तृत्व व भौक्तृत्व में दृष्टिका दृष्टान्त। दृष्टिके कर्तृत्व व भौक्तृत्व मानने पर आपत्ति। दृष्टान्त द्वारा आत्माके आकर्तृत्वकः समर्थन। ज्ञानीकी अन्तः अनाकुलताका एक उदाहरण। परिणामिक स्वरूप। परिणामसे परिणामीकी रक्ष। स्वभावदृष्टिके उद्यमनकी शिक्षा। आत्मा को कर्ता ही मानने में मोक्ष का अभाव। आदि

गाथा-334-मौलिक शंका समाधान। अज्ञान अवस्था में कर्तृत्व। ज्ञान-कला। बन्धनमें भी स्वातन्त्र्यदृष्टि। आत्माका बाह्य में सर्वथा अकर्तृत्व। अज्ञानपरिस्थिति। आत्मधर्म। अन्तर्बृत्ति द्वारा धर्माश्रय। व्यक्तप्रभुत्वसे पहिले की परिस्थिति। आर्तृत्वका म्याद्वाद द्वारा निर्णय। जीव से प्राणी की भिन्नता या अभिन्नता। आत्मप्रयोजन। प्रकरण का स्पष्टीकरण। कर्म द्वारा अब्रह्म होने की चर्चा का स्मरण। जीनके शाश्वत शुद्धताकी मान्यता। आदि

गाथा-337-उदण्डता की समस्या। कर्मकी झांकी। कर्मस्वरूप निरूपणमें भोजनपरिणामनका एक दृष्टान्त। परमें व्यर्थका उद्यम विकल्प। विषयों में भ्रान्तिका कारण। कर्मों में भ्रान्तिका कारण। प्रज्ञापूर्ण दृष्टिमें विकारकी निराधारता। कर्मोंके आश्रवके साक्षात्। कारणके सम्बन्धमें विचार। दृष्टान्त पूर्वक निमित्तत्वके निमित्त होने का स्पष्टीकरण। आदि

गाथा-372- सिद्धान्त और भ्रमका कारण। परके द्वारा परके घातका अभाव। विघातव्य विभाव। परमार्थविरोधकी विघातव्यता। व्यामोहदृष्टि। कर्ता कर्म की अभिनता। निमित्त स्वभावसे उपादान का अनुवाद। प्राकृतिक व्यवस्था और ज्ञानभावनाका फल। निजस्वभावकी अनुल्लंघनीयता। निमित्तसे पृथक उपादानका परिणमन। आदि

गाथा-382- स्वमहिमाके अज्ञानमें परका आकर्षण। परसे विकारसे ग्रहण परिहारका स्वभाव। रागद्वेष का रूप। आश्रयकी अदृष्टिसे विकारों का विनाश। निजगृहविसमरणसे भटकन। आत्माके परिचय में पराशा से प्राणघात। कर्ममुक्ततस्वरूपदर्शी। ज्ञानीकी संभाल। विविक्त ज्ञानस्वरूपकी दृष्टव्यता। ज्ञानानुभूतिसे सकलसंकट संहार। अपराधमुक्त्युपायकी जिज्ञासा। आदि

62. नियमसार प्रवचन शीर्ष

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित नियमसार ग्रन्थपर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने प्रवचन हुए। इन प्रवचनों में सहज परिणामिक भावकी उपासना की प्रमुखता से अध्यात्मज्योति प्रकट होती है, वास्तवमें यही ज्योति आत्माके परमहितका कारण है। इसी कारण ये प्रवचन बड़ी ही ध्यानसे मनन करने योग्य हैं। इस पुस्तक में उन सब प्रवचनों के शीर्षक उल्लिखित हैं। जिनमें से कुछ शीर्षक पाठकों के अध्यात्ममननके लिए यहां उद्धृत किये जा रहे हैं-

गाथा-2-जिन शासन के दो उपदेश। मार्ग और मार्गफल। त्रिरत्नों का प्रादुर्भाव। प्रमादकी अकर्तव्यता। कृत्घनताका एक दृष्टान्त और कुफल। आत्मदेवकी अकृतज्ञताका फल। मार्गफल निर्वाण। मार्ग का अर्थ। शान्ति का ज्ञान से मेल विशुद्ध ज्ञानार्जनका पुरुषार्थ। पुरुषार्थका आवश्यक कर्तव्य। विकल्पमें क्लेशजाल। शान्तिका कारण यथार्थज्ञान। आदि

गाथा-7-उत्कृष्ट व्यवहारशरण भगवद्भक्ति। निधिलाभके प्रसंग में आनन्दका उद्रेक। भगवद्भक्तिके प्रताप से आत्मनिधि की समृद्धि। मूढ़तावश खुशी खुशी विपद्गत में पतन। व्यवहारशणात्रय। कार्यपरमात्मा आप्तका निर्देश। कार्यपरमात्मा होने का साधन। भावनानुसार कार्य होने का एक लोकदृष्टान्त। आत्मभावनानुसार आत्मपरिणमन, केवल की पूजा। अनुरागका परीक्षण। भक्ति की करा। दृष्टि के अनुसार वृत्ति। आदि

गाथा-25-कारणापरमाणु और धातुचतुष्क। पिण्डरूप कार्यो को पृथ्वीमें गर्मित की जा सकने की दृष्टि। जलधातु। अग्नि व वायु नामक धातु। धातुचतुष्ककी एकद्रव्यता। पदार्थोंकी जातियों के सम्बंध में बेमेल दर्शन।

धातुचतुष्कों का परिवर्तन। प्रत्येक धातु में गुण-चतुष्कता के सम्बंध में चर्चा। प्रत्येक धातु में गुण चतुष्कता। हवा में भीगुण चतुष्कता। आदि

गाथा-39-शुद्ध जीवास्तिकाय के विभावस्वभावस्थानों का अभाव। आत्मस्वरूपमें स्वभावविभावस्थानों का निषेध। जीवको ही पदार्थ, अस्तिकाय, द्रव्य व तत्व के रूपमें निरखनेकी दृष्टियां। आत्मामें सहज भावका सत्व व असहज भावका असत्व। अपने भविष्यकी दृष्टि पर निर्भरता। अन्तर से संकटकी कृतिम उद्भूति। अन्य प्राणी द्वारा आत्मस्वरूपके सन्मान अपमानकी अशयकता। अंतस्तत्वमें असहज भावों का अभाव। विडम्बनाओं के अभावका उपाय विडम्बनारहित स्वभावका परिचय। आदि

गाथा-43-आत्माकी निर्दण्ड स्वरूपता। शुभ मनका उपकार। निर्दण्डता में आत्मरसास्वादन। प्रभुमिलन पद्धति। शुद्ध जीवास्तिकायमें मनोदण्डका अभाव। जीवमें वचन-दण्डका अभाव। जीवमें कायदण्डका अभाव। तीन दण्डों के कहने का कारण। अमोधशरण। उपादानके अनुकूल चमत्कार। ज्ञानस्वरूप भावना। लेश्यामार्गण। दृष्टान्तपूर्वक लेश्या परिणामों की तीव्रता व मंदता का निरूपण। आपत्तिकी कल्पनायें। आदि

गाथा-48-कार्यसमयसार और कारण समयसारकी अविशेषता। उपदेशसार। दृष्टान्तपूर्वक संसारी व मुक्त जीवों की स्वरूपसाम्य समर्थन। भवालीन और भवातीत में स्वरूपसाम्याका कुछ विवरण। समयसारका अशरीरत्व। समयसारका अविनाशित्व। समाधिमरणकी अत्यावश्यकता शुद्ध ज्ञानवृत्तिके अर्थ प्रथम कदम। समयसारकी परपरित्याग स्वीकाररहितता। समयसारकी अतीन्द्रियता। आदि

गाथा-59-ब्रह्मचर्यब्रतमें कर्तव्य। सुन्दरता का मूल। संसारी सुभटका पराक्रम। ब्रह्मचारी की शुचिता व व्यभिचारी की अशुचिता। गृहस्थों का कर्तव्य स्वदारसंतोषब्रत व अधिकारधिक पूर्ण ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्यका प्रभाव। ब्रह्मचर्य के घात में हानि की सूचना।

गाथा-71-निर्दोष देव। मोहनीयके क्षयका क्रम। मोहनीयके क्षयके पश्चात् शेष तीन घातियाकर्मों का युगपत् क्षय। संयोगकेवलीका आकर्षण। घनघातियाकर्म और उनके विनाश करने का उपाय। अनात्माका स्वीकार करने से अनुपमये बरबादी। आत्मतत्वकी उपासना का प्रताप। प्रभुमें घातिकर्मकी मलरहितता। प्रभुकी अशेष गुणसम्पन्नता साधुसाधनाफल अरहंत परमेष्ठी। आकर्षणका कारण गुणविकास। गुणविकासका साधन। आदि

गाथा-77-चित्स्वरूपकी विविक्तता। परमार्थस्वरूपके अनुभवका उद्यम। परमार्थोपासके परमार्थप्रतिक्रमणका अधिकार। मोहमें अप्रतिक्रमण का

संसर्ग। परपदार्थ के स्नेह से हानियां। सकल-सकटों का मूल देहात्मबुद्धि। दोषमय समारोह व कल्याणमय महोत्सव। सच्चे सलाहगीरों की विरलता। निज ज्ञानबलकी पूंजी का प्रताप। आत्मध्यान के अनन्तर संभावित स्नेह का विषय सकल जीवलोक। दोषशोधन। कर्तृत्वविषयक जिज्ञासा समाधान। आदि

गाथा-86-शंकालुके निश्चय प्रतिक्रमणकी अपात्रता। भौगाभिलाषी के परमाथप्रतिक्रमण की अपात्रता। जुगुप्सकके दोषशुद्धिकी अपात्रता। उन्मार्गरुचियाके दोषानिर्वर्तनकी अपात्रता। उदण्ड पुरुषों के परमार्थ प्रतिक्रमणकी अपात्रता। धर्म के द्वेषी व अप्रभाव के निश्चयमप्रतिक्रमणकी अपात्रता। सन्मार्गगामी के निश्चयप्रतिक्रमणका अधिकार। अज्ञानी का मनगडडत भाव। स्वयंका स्वयं महत्व। व्यर्थ अटक। द्विज महापुरुषके निश्चयप्रतिक्रमण। आदि

गाथा-93-ध्यानकी उपादेयता निर्देशन। दोषग्रहणका महादोष। अभेदध्यानमें निश्चय उत्तमार्थप्रतिक्रमण। अन्तर्मुखताका प्रभाव। दोषदूरीकरणका यत्न। मूल में अल्पअन्तरका विस्तार। बहिर्मुखतामें अशान्ति। आजके दुर्लभ उत्कृष्ट समागमका अज्ञान में दुरुपयोग। स्पर्शनेन्द्रियवशतामें क्लेश। रसनेन्द्रियवशता में क्लेश। मनुष्य की विडम्बना। घ्राणेन्द्रियवशता क्लेश। नेत्रोन्द्रियवशता से विडम्बना। कर्णोन्द्रियवशताके क्लेश व मनुष्यका पंचेन्द्रियवशता।

गाथा-97-ज्ञान का स्वात्मचिन्तन। निजभावका परिहार और परभावका अग्रहण। वस्तुस्वरूपमें स्वभावका सतत्व व परभावका असत्व। परमार्थ का आन्तरिक चर्चा। आत्मभावकी अभिमुखता व अनुमोदन के रूप और उनका प्रत्याख्यान। वचन और कार्यसे प्रत्याख्यान। मन, वचन, कायसे अनुमोदनके रूप और उनका प्रत्याख्यान। निजभावके वियोग का त्रिकाल अभाव। त्रिकाल निरावरण निरजनभाव। अपरिणामी पारिणामिक भाव। अन्त परब्रह्म दर्शन का निर्देशन। आदि

गाथा-99-ममत्व परिवर्जन और निर्ममत्वानुष्ठान। निर्दोषता और गुणसिद्धि का एक मात्र उपाय। स्वरूपतः ममताका अवकाश। स्वका परमें अत्यन्ताभाव। गजब। परकी ममत्वके लिए अयोग्यता। अंतस्तत्वके परिचय के लिए दुग्धधृतका दृष्टान्त। अंतस्तत्वकी उपलब्धिका उपाय। प्रत्याख्यानकी मंगलरूपता। स्वके उपादान और परके अपोहन का संकल्प। आदि।

गाथा-100-आत्माका स्वके भावमें अवस्थान। आत्मतत्वकी अनादि निधनता। अमृत अतीन्द्रिय स्वभाव शुद्धत्वका स्वरूप। सहजानन्द स्वभाव। शाश्वत अमृत अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दस्वभाव। आत्माका प्राप्तिस्थान। सिद्धत्वकी

सिद्धिका स्वतः सिद्ध स्वयंसाधन। संकटहारीपरग्रहम। अंतस्तत्त्वकी अंतः संयम साध्यता। परिचयचिन्ह। व्यामोह का संकट। कायरतामें भोगसेवन। निरीहता में परमसमृद्धि। आदि

गाथा-104-ज्ञानीकी परम समता। समस्त परजीवों में ज्ञानीके रागद्वेषका अभाव। परमार्थतः क्षमाका स्वयं पर ही प्रयोग। ज्ञानीका निःसकट सहज विश्राम। स्वसमामथ्यके प्रयोगका अनुरोध। परमार्थ कुलाचार की सम्हाल। ज्ञानामृत। समताकी उत्कृष्टता। ज्ञानी और अज्ञानीका संस्कार। समातका प्रताप। हल्दी की गांठ पर संसारी पना। आभूषण और बेड़ी। समाधि स्वरूप आत्मतत्त्वका शरण। आदि

गाथा-108-परमालोचना और उसका अधिकारी। शरीर से विविक्त आत्माके प्रकाश में सहज परम आलोचना। एक क्षेत्रावगाही परपदार्थ से भी आत्माकी विविक्ता। शरीरों का संक्षिप्त विवरण। कर्म का संक्षिप्त विवरण। कर्मकी रूपरेखा। स्वभावदर्शनमें परम आलोचना। निर्दोष अंतस्त्वके दर्शन से दोष निराकरण। आलोचनाके पुरुषार्थ में कार्य समयसार व कारण समयसार का ध्यान। विभावगुण पर्यायकी व्याख्या व ज्ञान गुणपर उसका उदाहरण। दर्शन, श्रद्धा व चारित्रगुण पर विभाव पर्यायों की उदाहरण। आदि

गाथा 112-भावशुद्धि नामक आलोचनाका स्वरूप। श्रेष्ठ आलोचक का लोक दृष्टान्त। बाहरमें सरणका अभाव। भावशुद्धिकी अतुल सम्पदा। मनोविवर्जित भावमें भावशुद्धि। निहहंकारतासे भावशुद्धि। कल्पित चतुराई के मदमें आत्मनिधि पर कुठाराघात। कुलमदका दुष्परिणाम। कुलीनता का सदुपयोग बलकी अपनायतसे आत्मबलका विनाश। बलका उपयोग। लोकर्वभवकी अपकृति। अपूर्व अवसर। परम तत्त्वज्ञोंके, ऋटद्धियों के गर्वका अभाव। आदि

गाथा-120-निश्चय नियम और उसका अधिकारी। नियममें कर्मनिर्मूलनका सामर्थ्य। नियम पुरुषके कन वचन कायका नियंत्रण। विभाववारणमें अध्यात्मयोगका प्रकाश। अखण्ड आत्माका मात्र प्रतिपादन-व्यवहारके लिए खंडीकरण। आत्मतत्त्वकी निरूपमता। आत्मतत्त्वकी निरंजनता। नियम शब्दके अर्थ का विवरण। नियममें नियमसे नियत असीम आनन्दकी उद्भूति। आत्मतत्त्वमें भेदभावका अप्रवेश। अनुभवकी अवक्तव्यता। आदि।

गाथा-123-ध्यान द्वारा परम समाधि। परम समाधिमें संयम का अनिवार्य सहयोग। परम समाधि में नियमका अनिवार्य सहयोग। परम समाधि में परमार्थ तपक। अनिवार्य सहयोग। विवेकियों द्वारा सुरक्षित धामका अपरित्याग।

अन्तः क्रियाके आधारभूत परम पदार्थ के आश्रयमें परम समाधि। धर्मध्यानमें ध्येयभूत असीम ब्रह्मत्व। निश्चय शुक्लध्यानमें परम समाधि। निरंजन ब्रह्मके परम समाधि। विविक्त ज्ञानस्वरूपके आलम्बनमें परम समाधि। आदि

गाथा-134-समता और भक्ति की निकटता । आत्महितका कार्य । आत्माका ऐश्वर्य । आशयके अनुरूप प्रबृद्धि की दिशा। वस्तुका एकत्व। आत्मकार्य । लुटे पिटे तृष्णा। श्रावक पद। श्रावक पदों में विभाजन। संकटहारी निर्वाणभक्ति। स्वरक्षित स्वधामें विश्राम का अनुरोध। परम भक्ति व निर्वाण भक्ति का सम्बंध । आदि

गाथा-138-निर्विकल्प आत्मयोगमें योगभक्ति। शुद्ध स्वभावका परिचय। मायाव्यासंगमें योगका अभाव। गुलामी और उससे मुक्त होने के दो उपाय। सत्याग्रहका संकल्प। उसहयोगका प्रभाव। भक्तिमें दासोंहं का प्रथमरूप। भक्तिमें सोहं व अहं के अनुभवका विकास। हितपूर्ण आन्तरिक निर्णय और साधन। आत्ममहत्वका स्वीकार। वस्तुतः क्लेशका अभाव । आदि

गाथा-150-निश्चय परमावश्यकके अनधिकारी व अधिकारी। द्रव्यलिंगी साधुकी शुभाशुभ भावों में अटक। श्रमणाभासका सत्कार विषयक लोभ। साधुओं को सन्मान अपमानमें समता। झूठी शानकी चेष्टा। ज्ञानी की वृत्ति। निराधार मोह। ज्ञानीका आत्मसोधन। विकल्पजालोंका स्वच्छन्द विवरण। ज्ञानी द्वारा न्येपक्षों का उल्लंघन। आदि

गाथा-155-मौन ब्रत सहित प्रतिक्रमण आदिकी साधनाका सन्देश। उपादान निमित्तकी विपरीत खेचमें असिद्धि। निर्दोष अंतस्तत्वकी आराधनामें सिद्धि। अंतः भान बिना द्रव्य भजनसे अलाभ। प्रभुभक्तिकी पद्धति। जैनेन्द्र परमागम। सरस्वतीका स्वरूप। ज्ञानका प्रसार। अपनी भूल से अपना घात। अज्ञानमें बहक। साधना से सिद्धि। निन्दाकी उपेक्षा के बिना बाधा। मलिनाशयोंके प्रसंगका प्रभाव। प्रसंगके अनुसार बुद्धिकी गति आदि।

गाथा-158-परमावश्यकके फलके प्रतिपादनमें पुराण पुरुषों का उदाहरण। मोहभारसे पीड़ित जीवकी दशा। मोही जीनके विकल्पजालोंकी अपनायत। निकटभव्यताका परिपाक। ज्ञानीकी सातिशय अप्रमत्तता। बाह्य और अन्तः आवश्यक। मोहनिद्रा के स्वप्नके दृष्य। अपनी करनी व भरनी में हर जीवकी अतंत्रता। परमावश्यक आराधनाका प्रसाद। प्रभुकी प्रभुता। प्रभुता प्राप्तिके पुरुषार्थ की आदेयता। केवल्यमें शक्तिब्रह्मणका स्वभाव। केवल के उपयोगमें केवल्यका प्रादुर्भाव। अवश वृत्तिका प्रसाद। आदि

63. पच्चास्तिकाय प्रवचन भीर्ष

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विचरित पच्चास्तिकाय ग्रन्थपर हुए पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजान्द महाराज प्रवचनों के शीर्षक है। यह ग्रन्थ सहारनपुर में छप रहा था, इसके थोड़े से फार्म छपे उसके बाद प्रेसकापी गुम हो गई है। तलाश की जा रही है।

64. आत्मानुशासन प्रवचनशीर्ष

पूज्य श्री गुणभद्राचार्य द्वारा प्रणीत आत्मानुशासन ग्रन्थपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजान्द ने जो प्रवचन किये उन पर उन्होंने लिखे हैं। आत्मानुशासन ग्रन्थमें अनेक विधियों से हितके अर्थ आत्मापर अनुशासन उपदेश किया गया है। उन सब विषयोंकी झांकी इन शीर्षकों मिल जाती है। अतः पाठकों के मनन के अर्थ वे कुछ शीर्षक निरखिये—

छन्द-5-वक्ता के लक्षणों का प्रतिपादन। विशिष्ट बुद्धिमता। शास्त्रमर्मका नेतृत्व। मर्मकी अनभिज्ञता में विडम्बना। लोकव्यवहारकी अभिज्ञता। आशारहितपना। प्रतिमाससम्पन्नता। प्रशमत्व। प्राग्रव दृष्टोत्तरता। प्रश्नसहता। छद्मस्थावस्थामें संभव ज्ञानहीनता का आवरण। वक्ता की प्रभुता। माया व असत् आचार से प्रभूता की हानि। वक्ताकी मनोहारिता। निन्दादूरता। निन्द्यवचनों का घाव। सद्वचनव्यवहारकी आवश्यकता। आदि

श्रोता के लक्षणों के प्रतिपादक 7 वें छन्द के शीर्षक देखिये—

छन्द-7-भव्यता। हितचिन्तना। हितप्रयोगकी उत्सुकता। श्रवणकालमें भी सत् श्रोता का अनुभव यत्न। हिताहितविचारकता। संसारसंकटमय। संसारमें दुःखों का साम्राज्य। अशरणतापर एक दृष्टान्त। जन्तु जीवों का असहायपना। पापका फल क्लेश। अपने आचरणों पर दृष्टिपात। अब्रतियों में रात्रिभोजन त्यागकी स्थिति। आचार से प्रतिष्ठा। जैनों के तीन प्राथमिक सदाचार। अशुद्ध परिणामस्वरूप संकटसे भीतता का गुण। परमार्थसुखका अभिलाषित्व। संसारी जीवों के सुखके उपयोगोंकी विफलता। आदि

छन्द-17-मोह ज्वर पीड़ित जीवको मुगम चिकित्साका आश्वासन। विषयविषभोक्ता की आशक्ति। रागवेदनाकी चेष्टायें। विषयविष रागफल। बैरी विषयसाधन। मोह की निन्दा में प्रशंसा की मान्यता। दुनियावी यश की स्वीकारता भी वास्तविक अपमान। सब स्वकार्यो में स्वतन्त्रता। मोहक में मायाकी मायामय चाह। अपनी सुधका कर्तव्य। विषयोन्माद। तृष्णाकी विडम्बना। तृष्णारूग्णकी चिकित्साका उपक्रम। आदि

छन्द-27-धर्मविधात न करके सुखानुभवका उपदेश। ज्ञानीके अन्तर में भोगका अभाव। धर्मकी सुखहेतुयाका अभाव। फलानुभवकी दृष्टयनुसारिता।

दृष्टिकी उत्कृष्टताका कर्तव्य। आत्माके परमार्थतः परके भौवतृत्वका अभाव। आत्मस्वातन्त्र्यका भावन। वैषयिक सुखरुचि का कर्तव्य। प्रवृत्ति से विरक्ति। ज्ञानी के दुःख भोग में भी अधीरताका अभाव। ज्ञानी के सुख में आसक्ति का अभाव। मन और जीभ के विषयसुख में आकुलतायें। आदि

छन्द-34-धर्म के प्रसाद बिना मोह की विडम्बना। मृत्यु का विस्मरण वीर रौद्रध्यान। मृत्युकी दाढ़में बैठकर विषयका खेल। काल की गोद। अतृप्ति और भटकना। सुख हम ही में था नहीं जाना। वास्तविक पराधीनता। विषयचाह की दाह। आत्मसुधबिना बरबादी। जन्म मरणकी दाह के बीच। मोहियों के प्रसंगे प्रसाद का एक दृष्टान्त। आदि

छन्द-36-विषयों के चाहकी व्यर्थता। संसारियों का संज्ञाओं से पीड़ितपनः मोह की विडम्बना तृष्णाकी दौड़। विनश्वरता। विषयों की अनर्थता। मायारूपतां मूर्छाका फल। परिणाम विशुद्धिकी सावधानी आवश्यकता। देवपूजामें धर्मपाल। गुरुसेवामें धर्मपालन। ज्ञानवैभवका महत्व। अस्थिर निवास। धर्मकी सर्वदा आवश्यकता। आदि

छन्द-45-46-शुद्ध धनसे संपदाका अभराव। सम्पदाबुद्धिकी धुनमें अन्यायका आलम्बन अन्यायार्जित धनके सदुपयोगका अभाव। आंखों देखते धनका अनुपयोग। दुर्लभ मानवजन्मके सदुपयोगका अनुरोध। ज्ञानबलका प्रबल साहाय्य। परिग्रहकी क्लेश हेतुता। धर्मपालनका साहसी। पर्यायबुद्धितामें मूढ़ता। जीवका सही बड़प्पन। विवेकबुद्धिसे लाभ। विपत्तिमें धर्मके ख्याल की प्रकृति। पापों की आत्मबैरिता। मोहका बैरीपन। धर्मका संवास। आदि

छन्द-52-विनश्वर समागम से सावधान रहने का सम्बोधन। मोह की व्यर्थता। वस्तुकी निरपेक्षता। सम्बर्ती परेतराट। यर्थाथ ज्ञानमें निराकुलता। ध्रुवत्व के आलम्बनकी दृष्टि। गृहस्थविचार। परिजनों का परिजनके आत्मासे अनुराग का अभाव। सुविधाका लाभ उठाने का अनुरोध। परिजनों व मित्रजनों का अन्तिम व्यवहार। समागमकी अनित्यता के निर्णयका लाभ। निर्भान्त परिणतिमें क्लेशका अभाव। आदि

छन्द-59-अशणता। बान्धवों की बन्धमूलता। आपदाका द्वार। पुत्रादिकों की कष्टहेतुता। निरपेक्ष आनन्द। परमार्थ और व्यवहारशरण। णमोंकारमंत्र में आत्मविकारों को नमस्कार। साधुता। आचार्य और उपाध्याय। अरहन्त प्रभु। अनर्थकारी अनुराग। यशोमाया। मोहकी परिहर्यता। देहप्रीति की परिहार्यता। प्रयोजनीभूत सप्तत्व। मोहकी असारता। जीनके बन्धनका मूल कारण विपरीत आशय। प्रभुपूजनमें आत्मशिक्षण। आदि

छन्द-66-पराधीन सुखकी अवहेलना। विविक्ता के अनुभवका अन्तः पुरुषार्थ। पराधीन संखक तृष्णकी हेयता। स्पशनेन्द्रियजन्य सुखकी परधीनता। परापेक्ष सुखकी पराधीनताका कारण। कातजप्य सुख की असारता। रसनेन्द्रियजन्य सुखकी पराधीनता। संतो के पारमार्थिक स्वाधीनताकी रुचि। विनश्वर भोगों की वान्छाकी है व्यर्थता। गन्धभोगकी संतो के अनाकांक्षा। व्यर्थरूप व्यामोह। रसना व नेत्रके ढक्कनों से विजयसुविधा। विकल्पों को थकान मेटनेका उपाय। शब्दादिक भोगों की पराधीनता। मानसिक सुखकी पराधीनता। आदि

छन्द-71-72-मरणमें जीवनकी भ्रम। गुजरे समयका पुनः आनेका अभाव। शेष आयु के सदुपयोगका स्मरण। दुर्लभ नरदेहसे अपूर्व लाभकी बुद्धिमानी। अंतस्तत्व की दुष्टि होने पर पीड़ाका अभाव। भटकन और भ्रम। जीवनकी आशाके असाधन। स्वपरकी शाश्वत भिन्नता। व्यर्थका व्यामोह। रिश्तेदारीका मूल निमित्त विषयसाधना। बाह्यसंचयसे बड़प्पनका अभाव। परकी अविश्वास्यता। उम्र उपनाम आयुक्षय। ज्ञानीका आत्मविश्वास व पुरुषार्थ।

छन्द-83-बन्धुजनों से हितकी अनाशा। विपरीत श्रद्धाकी हेयता। समागमका वियोग। विघटन। जीवन और मरणकी दशायेँ। सम्यक्भावकी आदेयता। कृतज्ञता। यथार्थ ज्ञानका आन्तरिक सुफल। ज्ञानियों के आत्मसाधनाकी मुख्यता। पापका भागी अन्य नहीं। आदि

छन्द-103-104-संतों का वैराग्यपूर्वक त्याग। वैराग्यमें त्यागका निभाव। आनन्दका आधार ज्ञान और वैराग्य। क्लेशका आधार परका अनुराग। प्रभुत्वमें भक्तकी चाह। अपूर्व मिलन। विशुद्ध ज्ञानमें विरागताका स्वागत। लक्ष्मी के प्रति अज्ञानी और ज्ञानीकी प्रतिक्रिया। ज्ञानी की पराक्रम तत्वज्ञानी का ज्ञान व त्याग। ज्ञान और वैराग्यका शरण।

छन्द-120-संयमीको प्रकाशप्रधान होने की अनिवार्यता। लक्ष्यके बिना खेवटियाओं की विडम्बना। यथार्थ निर्णयकी ही तपस्यासे सिद्धि। मुमुक्षुका प्रताप और प्रकाश। वस्तुस्वातन्त्र के अवागमसे आध्यात्मिक अपूर्व साहस। ज्ञानीका लक्ष्य। निज समृद्धि के यत्न का अनुरोध। आदि

65. अध्यात्मसूत्र-प्रवचन-शीर्ष

पूज्य श्री मनोहर जी सहजानन्द महाराजने इस अध्याय में आध्यात्मिक मार्मिक तत्वों के प्रतिबोध के लिए अध्यात्मसूत्र नामक सूत्रग्रन्थकी रचना की है। कल्याणार्थी पुरुषों को इस ग्रन्थका मनन अवश्य करना चाहिए। यह ग्रन्थ संस्कृत सूत्रों में है। इस पर पूज्य श्री मनोहर जी सहजानन्द

महाराजके प्रवचन हुए थे। उन प्रवचनों के शीर्षक लिखे गये हैं। शीर्षकों से ही बुद्धिमान पाठकजन प्रवचनका विषय समझ सकते हैं।

सूत्र—विकारनुप्पतिः संवर ।1।5। के शीर्षक—आत्मविकार ही महा क्लेश है। कोई किसी का मित्र, नहीं विकार विकार का मित्र बन जाता। विकार शत्रु है उसका काटने वाला ज्ञान है। हम क्षण क्षण मरते जा रहे हैं। अपने मित्रको पहिचानों। आदि

सूत्र—तन्मुलं स्वभावविभावयः भेदविज्ञानं: ।।5-4।। के शीर्षक—मोहमार्गका आदि मूल सम्यग्दर्शन है। मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, परभाव मेरे नहीं है। रागदि विभाव आत्माके सहज तत्व नहीं है। जैसी भावना करो वैसा फल मिल जायेगा। उपायसे निश्चय के अभिमुख होना चाहिये। विजयका मूल ज्ञा श्रद्धा है। परिग्रहका फल तो रोना है। सही भाव विसम नहीं होता। पर पदार्थ की ओर का आकर्षण दुःखका ही परिग्रहका फल तो रोना है। सही भाव विसम नहीं होता। पर पदार्थ की ओर का आकर्षण दुख का कारण हैं। अपना ध्रुव अचल परमात्मस्वरूप तो देखो। लाभ की शैली से निमित्त की पूछ। नैमित्तिकावलोकनके साथ स्वभावकी पूछ। आदि

सूत्र—संसारभावे सदा तेषामभावा ।।5-12।। के शीर्षक — कर्मकी दृष्टि से कर्म नहीं हटते। थोड़ी सी असावधानीका भयंकर परिणाम। लौकिक सुख पुण्यके नाशसे मिलता है। हम आपका बड़प्पन अभीष्ण ज्ञानीपयोग में हैं। आपके हित आप ही हैं। व्यवहारका उपयोग व्यवहार में है। आश्रय, निमित्त व उभय । आनन्दका मूल है। सम्यग्ज्ञान। सम्यक्त्वमें आनन्द रहता ही है। सिंह वृत्ति व श्वास तृप्ति। रागदि दूर करने का यथार्थ उपायः आदि

सूत्र—संवार्यो विभावानास्रवः ।।5-17।। द्रव्यानस्रवश्च ।।5-18।। के शीर्षक—सम्यक्त्वकी महिमा। स्वदृष्टि से विपदायें समाप्त हो जाती है। सम्यग्दृष्टि अपने पर किसी का भान नहीं समझता । पर्याय बुद्धिमें भार ढोना पड़ता है। आत्माज्ञानकी सच्ची विजय है। अनात्मज्ञानकी मोक्षमार्ग रूचता नहीं। जाने वाले से क्या राग करना। हित के लिए थोड़ा भी समय दो। मोही सुभटकी सहनशीलता। विद्यार्थी की भांति स्वाध्याय करो। आदि

सूत्र—आदेचमिदं तत्वमानिर्विकल्पात् ।।5-22।। के शीर्षक—शान्तिके मार्ग पर ही उद्यम करो। किसी वस्तुका कार्य अन्य कोई नहीं करता। शान्तिके लिए अपने को एकान्ति देखो। धर्मकी लगन वाले की एक पहचान। कुछ अपनी भी चिन्ता करो। पुरुषार्थ उग्र समेत माना। सर्व विवके का मूल ज्ञानमें समय देंगे। यथार्थ ज्ञान श्रद्धान में आनन्द है। होता स्वयं जगत परिणाम। आदि

सूत्र-विकृतिनिर्जरणं निर्जरा ॥6-1॥ के शीर्षक-जीव निर्जरा क्या है। पुण्य से भी धर्म नहीं होता। निज ध्रुवस्वरूपकी दृष्टिमें शान्ति है। दृढ़ता भी कला है। सुनने के आदती मत हो। कभी तो आराम कर लिया करो। धर्मके पास पुण्यको आना पड़ता है। सतत्उदारता की दृष्टि रहना चाहिये। उच्च विचार शान्ति की ओर ले जा सकते हैं। अपने को प्रसन्न निर्मल रखो। उदारता का आनन्द अनुपम होता है।

सूत्र-अनाकांक्षः ॥6-9॥ के शीर्षक - कर्म जड़ है, उसके कुछ भी विचार होता ही नहीं। ज्ञानीकी परख मोही को नहीं। इच्छायेंही दुःख की जननी हैं। विपदारहित की ही शरण लो। अबकी बार तो यह जीवन व्यर्थ ही न गमाओ। इच्छा करना खूदका अनादर। कोई दूसरा अधूरा नहीं फिर किसकी क्षति। केवल निज चित्स्वरूप ही जानता रहूं। निर्विचिकित्सा। दिव्य शरीर भी आनन्दका साधन नहीं। तृष्णा व धर्मभाव साथ नहीं रह सकते। सम्यग्दृष्टि विचिकित्सा या ग्लानिरहित होता है। लोग अज्ञानचेष्टा ही करते हैं। ज्ञानी की होनी अनहोनी का पूरा विवके है। आदि

सूत्र-प्रभावकश्च ॥6-15॥ के शीर्षक -स्वयं का पता न होने से होने वाली विडम्बना। आत्माकी वास्तविक प्रभावना। व्यावहारिक प्रभावना का मुख्य उपाय। स्वयं का उत्थान परके उत्थानका कारण हो सकता है। आचरणका कारण वस्तुविज्ञान है। प्रभावना केवल खुद में ही की जा सकती है। ज्ञानी को अपने सदगुणों में उत्साह बढ़ाना चाहिये। पापों के त्यागसे ही महत्ता है। धार्मिक उदारता लाना चाहिये। आदि

सूत्र-तत्यागाय सवभावौ दृश्यः ॥6-20॥ के शीर्षक -एतदर्थ वस्तुज्ञानका यत्न आवश्यक है। जो बिगाड़ का कारण होता वही मोही को सुन्दर लगता। विर्यन्वों को तो यह चिन्ता भी नहीं। स्वाधीनता की बात सरल ही होती है। उत्तर जीवन भला तो सब भला। शुद्ध आचार ही वास्तविक इज्जतका हेतु है। हितके अर्थ अपनी अद्रैतताका विचार करो। स्वभावपरिचय अनुभवगम्य है। हितके लिए पुरुषार्थ स्वयं को ही करना पड़ेगा। आदि

सूत्र-स्वभावमाश्रिप्य सवबिंतयानुभवेत् ॥6-22॥ के शीर्षक-ध्रुव स्वभावके दृष्टाका उदेश्य दृढ़ होता है। सब एक ध्रुनके हों तो विवाद नहीं होता। निर्शक होकर धर्म मार्ग में लगे। निज स्वभावका आश्रय ही अपना सर्वस्व धन है। निजमें ही करने की बात देखो। पराश्रयज बात ही विडम्बना है। सत्याग्रह से स्वतन्त्रता मिलती। अपने विचार पर अपना निर्माण है। शुद्धचिस्मि। हृदय की शुद्धि तो कर ही लो। आत्मभावना का सत्फल अवश्य मिलेगा ही। आदि

सूत्र—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपनिजशुद्धात्मानुभूतिः सम्यग्दर्शनम्
 ॥७-३॥ के शीर्षक—घृणा कभी मत करो, ज्ञाता बनो। समानता का दर्शन करो। कोई किसी का कुछ करता ही नहीं। शत्रुता व मित्रता कल्पना पर ही निर्भर है। स्वभावके परिचय से ही बड़प्पन है। घर में सुविधा है, क्यों दुःखी होते हो। जो है वह मरता नहीं। है। लाभ अलाभ का निर्णय तो करलो। मोक्षमार्ग की बात भगवानकी वाणी है। निजके अनुभव बिना प्रयास व्यर्थ है। आदि।

सूत्र—स बन्धभावारागात् ॥७-९॥ के शीर्षक—दुःख कल्पनाओं से तैयार होते हैं। इष्टता भी कल्पनाओं से तैयार होती है। राग का कारण परिचय बन जाता। धर्म आत्मदृष्टिसे प्रकट होता है। रागमें सुखी कब थे। धर्म भवों की बेज्जती। छूटना सब है, किसी तरह छोड़ो। अपने विकारका राग ही दुःखका कारण है। राग मिटने का उपाय ज्ञान है। भेदविज्ञान प्रकाश देता है। शुद्ध चर्यामें विपत्ति नहीं है। जिसे निजपर राग नहीं वह अन्य पर क्या राग करेगा। आदि

सूत्र—अविरत सम्यक्त्वम् ॥८-८॥ के शीर्षक—स्वामी व भावभेद से सम्यग्दृष्टि के प्रकार। आत्मा की भलाई आत्मा के अवलोकन में ही है। देखो सुख का उपाय कितना सरल और स्वाश्रित है। अविरत सम्यग्दृष्टिकी विजय सम्यक्त्वकी विजय है। जिस चीज से प्रेम करोगे वहीं तो तुम्हारे पास आयगी। पाक्षिक श्रावक कौन। एक द्रव्य का सम्बन्ध दूसरों में हो हा नहीं सकता। अपने को बचाया तो सबसे बचाव हो जायगा। इस दूर्लभ नर—देह में रहकर शाश्वत शान्ति का उपाय करलो। अपने से आत्मा का नाता मान कल्याणमार्ग में लगे। आदि

66. समाधितन्त्रप्रवचनशीर्ष

पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित समाधितन्त्र ग्रन्थ पर पूज्य श्री मनोहर जी सहजानन्द महाराजने भावभी ने प्रवचन किये हैं, जिनका जिन्होंने मनन किया है उन्होंने भली भांति प्रवचनाभूतोंका स्वाद लिया है। इस ग्रन्थ में व इन प्रवचनों में अध्यात्मविधा बताई गई है। आत्मा जिस तंत्र से समाधि अर्थात् समता व परमविश्रामको प्राप्त करे उस तंत्रका इसमें वर्णन है। इन प्रवचनोंके कुछ शीर्षक पाठकों के मननके लिए दिये जा रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थमें पहिले आत्मा के तीन भेद कहे हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। उनमें बहिरात्मा और अन्तरात्मा का लक्षण बताने वाले पांचवें छन्द के शीर्षकों से स्वरूपका विवरण प्राप्त कीजिये।

श्लोक-5-देहात्मबुद्धिता । चित्तदोषत्मविभ्रान्तिता । परमात्मतत्त्वमें । दीपावली निर्वाणपूजा व ज्ञानपूजा का प्रतीक । निर्मल आत्मत्वकी प्राप्ति का उपाय । मात्र शैयाकार ग्रहणकी सक्यता । ज्ञानाकार ग्रहणका यत्न । आदि

परमात्माका स्वरूप ग्रहण करने वाले 5 वें श्लोक के शीर्षक-त्रिविध आत्माओं के स्वरूप विवरणका क्रम । परमात्मकी निर्मलता । सकल परमात्माकी निर्मलता । प्रभुका कैवल्य । प्रभुकी शुद्धता । परके अकर्तृव्य व ज्ञातृत्व में शुद्धताकी स्थिति । प्रभुकी विविक्तता । प्रभुता । परमेठिता । परात्मा एवं परमात्मा । ईश्वर । जिनरूपता । इन्द्रियविजयका उपाय । एक काल में इन्द्रियों की एक विषयता । प्रभुके अनेक नाम व अजरत्व । आदि

श्लोक-11- अज्ञानी के स्वपर निर्णाय में भूल । बोले सो विवूचे । बोले की विवूचनपर एक दृष्टान्त । बोलेकी विवूचन पर एक उपदृष्टान्त । बोले की विवूचन पर अन्तिम उपदृष्टान्त । व्यर्थके श्रमसे विराम लेकर एक अपूर्व कार्य का प्रयोग परीक्षण । भ्रमत्रयकी विडम्बना । अन्तर्भावना की मूल आवश्यकता । पर परिणति से निज में विपरिमणन का अभाव । आन्तरिक इच्छा के बिलासके बहाने स्वकीय योग्यतानुसार परिणमन । शरीर शरीरों की निमित्तनैमित्तकता । आदि

श्लोक-15-में बताया है कि संसार के दुःखों की जड़ शरीर में आत्मबुद्धि करना है, इसलिए इस बुद्धिको त्याग कर अन्तरंग में प्रवेश करना चाहिए । अब इस श्लोक के शीर्षक देखिये- सकलसंकटोंका मूल । देहात्मबुद्धि में बुढ़ापा का क्लेश । ज्ञानबुद्धके शरीरबृहतासम्बन्धी क्लेशका प्रभाव । देहात्मबुद्धि के रोगका क्लेश देहात्मबुद्धि के पोषणका क्लेश । विवेकी गृहसी । देहात्मबुद्धि में इष्टवियोग व अनिष्ट संयोगका क्लेश । देहात्मबुद्धि के निदान का क्लेश । देहात्मबुद्धि में वान्छावों का क्लेश । मनः संयम । मूर्छा में विडम्बना । क्लेशकारी पक्षपात । साबासीका चक्कर । आदि

श्लोक-29-वें में बताया है कि यह मूढ़ जीवजिन विषयों में विश्वास किये है उससे अन्य कोई भयका स्थान नहीं, और जिस ज्ञान वैराग्यसे यह भय करता है उससे अन्य कुछ अभयका स्थान नहीं । इस प्रवचनके शीर्षक पढ़िये-

श्लोक-29-वास्तविक भयका स्थान । समागम में लाभ की निराशा । भय और अभयके साधन । विभूति का अज्ञात गमनागमन । विश्वास्य और अवशिवास्य तत्वके अनुभव के लिए प्रेरणा । विषयव्यामोही की रुचि पर एक दृष्टान्त । योग्यतानुसार परिणमन । क्लेश साधनों से हटकर आत्महित की और । ज्ञान और वैराग्यकी अविनाभावता । वैराग्य अलग चीज नहीं है । ज्ञानका ही रूप

वैराग्य है। वैराग्य सहित ज्ञानकला । प्राणी की स्वार्थवृत्ति। मोहं की भावनामें अभयत्व का समर्थन वैराग्य है। वैराग्य सहित ज्ञानकला। प्राणी की स्वार्थवृत्ति। मोहं की भावना में अभयत्व का समर्थन । आदि

33 वें श्लोक में बताया है कि जो देहसे भिन्न अविनाशी आत्माको नहीं जानता वह कठिन तप करके भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर पाता। अब इसके शीर्षक देखिये—

श्लोक 33—योगिगम्य अंतस्तत्त्व। विविक्त आत्मतत्त्वके परिज्ञान बिना निर्वाणकी अप्राप्ति। सर्व क्लेशों का कारण स्वयं का अपराध। मूल अपराध ममता। सकल प्रवृत्तियों की क्लेशरूपता। हर्ष में आकुलता। यत्न का स्रोत्र आकुलता। आकिंचन्य धर्म की उपासना। बाहरी धर्मशाला। किसपर गर्व। स्वच्छताकी प्रथम आवश्यकता। परमार्थ साधनाके समय व्यवहारको स्थानका अभाव। अप्रकृत चेष्टा। वृत्तिकी लक्ष्यानुसारिता । तपका मर्म। आदि

50 वें श्लोक में बताया है कि आत्मज्ञान के अलावा अन्य कोई कार्य बुद्धि में चिरकाल धारण न करें। यदि किसी प्रयोजनवक्ष कोई कार्य करना भी पड़े तो यह समझते रहें कि मेरा यह वास्तविक कार्य नहीं । मेरा तो मात्र आत्मज्ञानका ही कार्य है। इसका स्पष्टीकरण करने वाले अनेक शीर्षक देखिये—

श्लोक 50—ज्ञानी के प्रधान कर्तव्य और परिस्थितिकृत्यका वर्णन। मात्र आत्मज्ञानकी धारण्यता। फुटबालकी तरह मोही की दशा। ज्ञानलक्ष्मी की उपासना। विडम्बना में शानकी होड़। आत्मनिर्णयपर सुखकी निर्भरता। निवृत्ति के भाव से प्रवृत्ति। आशय के अनुसार । प्रयोजनवश ज्ञानीकी कृतार्थताके साधनों पर रुचिवश विभिन्न उत्तर। शान अथवा चाकरी। आदि

श्लोक 56—महती विपदा। ज्ञानियों की दया। चिरकालीन विडम्बना। प्राणीकी दयापात्रता। कुयोनियोंकी तुलना। शिक्षाप्रद प्रश्नोत्तर। उक्त प्रश्नोंत्तरक में शिक्षा। वास्तविक जीवन। पराधीनता। पराधीनता की तुलना। पराधीनता और परेशानी । न कुछ का डर। भ्रमका उन्माद। स्वतंत्रता दृष्टिका आदर। आदि

श्लोक 68—ज्ञान का संवरण । ज्ञान में शरीरवलम्बनका विघ्न। क्लेशों का कारण शरीरसम्बंध। क्लेश विनाशका उपाय। समयका लाभ। बरबादियों का कारण। एक क्षेत्रावगाहआयरण। हर्ष और विषाद दोनों में आकुलता। समागत पदार्थों की अधुवता मानने का द्वितीय लाभ। स्वकी अन्य द्रव्यों से सदा भिन्नता। आदि

श्लोक 74—सब द्रव्यों का एकत्र अवगाह। एकत्र अवगाह होने पर भी प्रत्येक सत्की स्वरूप भिन्नता। अनात्मदर्शीकी परिस्थिति। सृष्टिकी सुगमता। इच्छामात्रकी कलापर सांसारिक सृष्टि। विचित्र कला। बिगड़ने में कलाका विस्तार। संभालने में कलाका विस्तार। भ्रममें मान अपमान का भ्रम। कष्टों का कारण बहिर्मुखी वृत्ति। आदि

श्लोक 76—अज्ञानीका मरणभय। मरणभयके कारणभूत अहंकार और ममकार। समागमका आद्यौपान्त क्लेश। रागी जीवन में विकट समस्या। फुट्टू देवी उंट पुजारी। क्लेशका मूल कारण अभेदाभ्यास। भेदविज्ञानसे ही क्लेशविनाशकी संभवता। स्त्री समागममें क्लेश। पुत्रादिसमागममें क्लेश। कोढ़ में खाज। मरणकालमें फोटक तृतीय कारण। मरण भयकारी चिन्तन। आत्मा के मरणका अनवकाश। अविवेक और विवके में लाभ अलाभ। आदि

श्लोक 83—पुण्य पापमें अकुलत्वकी स्थिति व पुण्य पापके अभाव में मुक्ति। रागका विशेष बन्धन। मोक्षार्थी की वृत्ति। कर्ममात्रके सम्यर्ककी हेयता। पुण्य और पाप प्रकृतियों की विघ्नरूपता। आत्मशिक्षण। रागसे सर्वदा अलाभ। अंधेर नगरीका मौज। अंधेर नगरीका फैसला। अंधेर विडम्बना। अंधेर दुनिया से बचने का यत्न। आदि

67. ज्ञानार्णपप्रवचनशीर्ष

आचार्य श्री शुभचन्द्र देव द्वारा प्रणीत ज्ञानार्णव ग्रन्थ पर पूज्य श्री मनोहर जी सहजानन्द महाराज के जो प्रवचन हुए उनके स्थल पर शीर्षक लिखे गये हैं। ज्ञानार्णव ग्रन्थ में आत्महितकारी अनेक विषयों पर स्पष्ट सरल विवेचन किया गया है। इसी प्रकार इसके विस्त्रित प्रवचन भी अतीव सरल एवं स्पष्ट है। उनके शीर्षक इस पुस्तक में है जिनको कुछ यहां उद्धृत किया जा रहा है।

श्लोक 9 वें में जन्म की निःसारता बताकर उसमें व इन्द्रियों में प्राणियों को जो मोह उत्पन्न होता है उस पर आश्चर्य व विषाद प्रकाट किया गया है। यह भाव शीर्षकों सेही पाठकजन समझ सकते हैं।

श्लोक—9—शास्त्रश्रवणका प्रयोजन। श्रोताओंको धर्मानुवाकका विशेष अवसर। श्रोता का एक दृष्टान्त। सफल विज्ञान। आत्मपरिच्छेदन। बिना विज्ञानकी निष्फलता। उपरी ज्ञान वचनका एक दृष्टान्त। वास्तविक विज्ञान। अनुभूति की प्रम्यौगसाध्यता पर एक लौकिक दृष्टान्त। हितकारी ध्यान। संसारी जीवमें ध्यानकी वृत्तियां। नीरंग और निष्टरंग उपयोग। वास्तविकक तपश्चरण। तपश्चरणकी लाभप्रद पद्धति। आदि

अनित्यभावनाके प्रकरण के शुद्ध शीर्षक—श्लोक—57—से —इन्द्रियसुखों में रतिको प्रतिषेध्यता। आत्माका आकिंचनयं। आत्मपोषणका यत्न। सांसारिक सुखों में रति न करने का अनुरोध। सुख दुःख आनन्द सब ज्ञान के विचार से है। नित्य तत्त्वकी दृष्टिसे अनित्यभावनाकी सफलता। सम्बंधोंकी विपदास्पदता। निर्लेपताकी पूज्यता। यथार्थ उपासना का ध्यान। अनित्यकोअनित्य मानने से खेद का अभाव। अनित्यको अनित्य मानने पर खेद के अभाव पर दृष्टान्त। द्रव्यधर्म व पर्यायधर्म। परमार्थ में रागका अभाव। अविनाशी तत्त्वकी भावना।

अशरणभावनाके प्रकरण के कुछ शीर्षक—श्लोक—99 से —यमका फंदा। यम की समान दृष्टि। कलयुगका प्रभाव। कुबुद्धि। आत्महितका विवेक। त्रिदर्शों की अन्यदशा। मरणकी दुर्निवारता। निरापदस्थानका अभाव। धर्मपालनके पात्र की चिन्तकता। मूर्खोंका विचित्र शोक। आत्मीय विशुद्ध आनन्दका स्रोत। इष्टवियोगके क्लेशकी व्यर्थता। निर्मोह पर इष्टवियोगकी प्रक्रिया का अभाव। ज्ञातादृष्टा रहने में बुद्धिमानी। आनन्दकी अनिवार्यता। आदि

संसारभावनाके प्रकरण के कुछ शीर्षक—श्लोक—99 से —यमका फंदा। यम की समान दृष्टि। कलयुगका प्रभाव। कुबुद्धि। आत्महित का विवेक। त्रिदर्शों की अन्यदशा। मरण की दुर्निवारता। निरापदस्थानका अभाव। धर्मपालनके पात्र की चिन्तकता। मूर्खों का विचित्र शोक। आत्मीय विशुद्ध आनन्दका स्रोत। दष्टवियोग के क्लेश की व्यर्थता। निर्मोह पर इष्टवियोगकी प्रक्रियाका अभाव। ज्ञातादृष्टा रहने में बुद्धिमानी। आनन्दकी अनिवार्यता। आदि

एकत्वभावना प्रकरण के कुछ शीर्षक श्लोक—133 से — भवमरुस्थल में जीव का एकाकी भ्रमण। शरीर का अन्त में टका सा जवाब। जीव का सर्वत्र एकाकीपन। संसारी जीव के अकेलेपन का विवरण। संसारी जी की चर्चा। करनी व भरनी में अकेलापन। जीवका एकाकीत्व। स्वर्ग—सुख में भी अकेलापन। सुख—दुःख दोनों में जीव का अकेलापन। संयोग वियोग में जीनके साथी का अभाव। मरण में टोटा किसका। अज्ञान में वास्तविक टोटा। मरणका महत्व। आदि

अन्यत्वभावना प्रकरण के कुछ शीर्षक—144 से बद्ध दशा में भी जीव की स्वभाव शुद्धता। एकत्व व अन्यत्व भावना लक्ष्य। पुण्य पापका फल। पुण्य पाप दोनों में आत्मकल्याण का अभाव काल्पनिक क्लेशों का कर्षण। सुख दुःख बंध मोक्षकी एक एक सामान्य पद्धति। आत्मधर्मकी सम्हाल। प्रत्येक जीवकी अखण्डता। दृष्यमानों में भी प्रत्येक में एकता। आत्मभक्ति में परमात्मत्वका दर्शन। आत्मनिर्णय के लिए आवश्यक मूल ज्ञान। आदि

अशुचिभावना प्रकरण के शुद्ध शीर्ष के श्लोक 156 से –शरीर को आसारता। शरीर के स्नेह में बन्धनका महा ऐब। शरीर की अशुचिता व उसका मूल कारण। अपृश्यता की प्रसिद्धि में एक लोक पृथा। देही की अस्पृश्यता के मूल कारण पर विचार। प्रयोजनवश शुचि अशुचिका वितर्क। अ चि भावनाका प्रयोजन। अस्थिपिजरके प्रति कामी की कामना। देहकी अशुचिता ढकने के लिए साजश्रंगार। अशंचिशरीर के प्रति हितमय उपयोग। आदि

आश्रवभावना प्रकरण के शुद्ध शीर्षक श्लोक-169- से योग और आश्रव। योगों में विशेषता। दृष्टान्तपूर्वक आश्रव स्वरूपका विवरण। आरवका फल और साधन। आश्रवमें अपध्यानकी विशेषता। अपध्यानकी नितान्त व्यर्थता। प्रवृत्तियों में लाभ हानि का ईक्षण। मोहका अपराध। यम ब्रत में शुभाश्रयका कारणता। नियम ब्रत में शुभाश्रयकी कारणता। प्रसमभायसे शुभाश्रय। निर्येद भावसे शुभाश्रय। तप्यचिन्तनसे शुभाश्रय। मैत्रीभायसे शुभाश्रय। गुणियों में प्रमोदभायसे शुभाश्रय।

संबर भावना प्रकरण के शुद्ध शीर्षक श्लोक 178- से –संबरका स्वरूप। जीवका परपरिणतिकर अनधिकार। आत्मभावना और आत्मदया। कर्मकी क्लेशहेतुता। द्रव्यकमके सम्बरका स्वरूप। कर्मों का स्वरूप। भावसंगर के समय द्रव्यसंबर का स्वयं मावन। कषायों के अभाव में शान्तिलाभ व संबर। कलमसता निवृत्ति के लिए सत्संगति व स्वाध्याय करने की शिक्षा। संयम में पापवर्णों का अप्रवेश। विषयकषायमें अलाभका चिन्तना। आदि

निर्जराभावना प्रकरण के शुद्ध शीर्षक श्लोक 190- से निर्जरणभूमिका। जीवनकी विनश्वरताका प्रत्यय। तद्भवमरणके अवबोधका दृडीकरण। निर्जराभावका उत्सहन। निर्जराके प्रकार। सक्यता। सोपायनिर्जर से लाभ। विशुद्धि का उपाय। धर्महेतु कष्टसहिष्णुता में लाभ। तपश्चरण से विशुद्धि। आत्मलाभका कर्तव्य। कर्तव्यपरायणता की वृद्धि। आदि

धर्मभावना प्रकरण के कुछ शीर्षक श्लोक 207- से संयमी जनों की सर्वसमृद्धिलाभ। विशुद्धज्ञानमें अकर्तुत्व। कार्यसमापनका उपाय। ज्ञानसे ही कृतकृत्यता संभव। चितकी अस्थिरताका कारण। शुद्ध दृष्टि से धर्म की प्राप्ति। धर्ममूर्ति का सम्मान। धर्मका महत्व। धर्मीकी आपत्तिमें रक्षा सुयोगकी अचिन्तित संभावना। वीतरागताका आकर्षण। वीतरागता का महत्व। स्वयं के धर्म की ही सरण। धर्म का उन्नायकत्व। धर्म की ही गुरुता। आदि

लोकभावनाप्रकरण के कुछ शीर्षक 230-से –निगोद की अपेक्षा स्थावरपना उत्तम। स्थावरत्वसे विकलत्रयपनेकी उत्कृष्टता। असनी पंचन्द्रियपनेकी प्राप्तिकी दुर्लभता। अपर्याप्त श्रेणीकी असामर्थ्य। पर्याय श्रेणी

पनेकी दुर्लभता। पर्याप्त सज्ञी के भेदविज्ञान की योग्यता। देशजात्यदि गुणसम्पन्न नरपर्यायकी प्राप्ति की दुर्लभता। सांसारिक सुखों की उपेक्षा में ही सुख । उत्तम कुल देश आदि प्राप्ति की अति दुर्लभता । आदि

बोद्धदुर्लभावनाप्रकरणके कुछ शीर्षक श्लोक-237-से मार्ग से च्युत होने के कारण। पतनसे बचने के लिए सावधानी। अज्ञानी का प्रवर्तन। परवस्तु में परिणमन करने की आवश्यकता। वस्तुस्वरूपके यथार्थ बोध से मोहादिक दोषों का परिहार। व्यवहार। व्यवहार कर्मों में उदेश्यकी लक्षितता अधम पुरुषों के द्वारा अविचारितम्य शासनों का सेवन। स्वके अनुशासनमें विवके की आवश्यकता। बौधिरत्नको भ्रष्ट न होने का अनुरोध । आदि

गुण दोष विचारके प्रकरण में कुछ शीर्षक श्लोक 290-से विवेकी गृहस्थके गृहत्यागकी भावना से श्रेष्ठता। भावनाका स्वातंत्र्य। गृहश्रम के आश्रमत्वका कारण। ज्ञानीका गृहवास दोष चिन्तन। गृहवास में ध्यानकी सिद्धि की अशक्यताका वर्णन। परिग्रहमूर्च्छितों का विवेकवीथी से सखलन। श्रावक की हितोसुक्ता। स्वानुभूति के लिए जाननविधि। हिताहिता विमूढ़ों की स्वविनाशिनी वृत्तिका समर्थन। आदि

योगीश्वर प्रशंसा के प्रकरण के कुछ शीर्षक श्लोक-360-से तपश्चरण में शान्ति लाभ। तृष्णावीकी शान्ति में समर्थ ज्ञानमेघमालाके उद्गम ध्याता। सकलसंगसन्ध्यासियों का ध्यातृत्व। ध्यानसिद्धि के पात्र। विषयसाधनों से आत्माका अलाभ। विविक्तसे ध्यानकी पात्रता। त्रानपवित्रित करुणपूरति योगियों की ध्यानपात्रता। स्थिरचितता में ध्यानकी पात्रता। निःसंग योगियोंकी ध्यानपात्रता। पुण्याचरण योगियों की ध्यानपात्रता । आदि

सम्यग्दर्शन के प्रकरण के कुछ शीर्षक श्लोक 289- से सम्यक्त्वका स्वरूप। सम्यक्त्वमें द्रकटभूतचिन्ह। सम्यग्दर्शन में शंकादिक दोषों का अभाव। सम्यग्दर्शनमें मद, अनायतन, मूढ़तादिक दोषों का अभाव। सम्यक्त्वकी शरणरूपता। सम्यक्त्वमें निर्दोषताका बल। सम्यक्त्वमें श्रद्धेय जीवदिक सात तत्त। जीव और जीव के भेद। तत्त्वज्ञानकी शरणता । कैवल्यस्वभावकी श्रद्धामें सम्यक्त्वकी उद्भूति। संसारी जीवों में त्रस और स्थावरका भेद । आदि

सम्यवचारत्रि के प्रकरण के कुछ शीर्षक श्लोक 478 से -उपयोग में विशुद्ध प्रकाश बनाये रहने की शिक्षा। संकटों से मुक्ति का उपाय समताभाव। पापों से नरकों के दुःखका पात्र। धर्म से दुःखों का छुटकारा। अहिंसक दृष्टि से ही कल्याणं संभव। पर्यायबुद्धि के त्याग में अहिंसा। हिंसा से धर्मवृत्त का नाश। ज्ञानकी सावधानी में सम्पूर्ण समृद्धि। अहिंसक वृत्ति बिना सब निरर्थक । आदि।

ब्रह्मचर्य महाव्रत के प्रकरण के कुछ शीर्षक श्लोक 599 से मोह में यथार्थ अंस्तत्वके भानका अभाव।

आत्मतत्त्वकी प्रतीति में ही सत्य सूझकी प्रगति। ज्ञानका सौरभ आरण। प्रयोग से ही प्रयोग का विकास। समत्रिवर्गसाधना में गृहस्थधर्मकी पूर्ति। कर्तव्यशीलता से सफलता से सफलताका लाभ। आत्मा की महिनीयताका उपाय। शुद्धात्माध्यान से ही आत्माका हित। यथार्थाविश्रामके उद्यमकी श्रेष्ठता। कल्याणकी अप्रतीघातता। इन्द्रियविजयका उपाय। आदि

आशानिषेध के प्रकरणके कुछ शीर्षक श्लोक 867 से —आशापिशाची के दूर होने पर ही श्रुतकी सत्यता। आशापिशाची के नष्ट होने पर ही चारित्र्यविवेकके निर्मत्व व तत्त्वनिश्चयकी समीचीनता। आशाग्निज्वलितचित्त में दुःखदाह शान्तिकी असंभवता। नैराश्यसुधायुत जीनके शान्ति का लाभ। आशानाद में न डूबे हुए जीव के ज्ञानकी फलितरूपता। आशाग्निज्वलित इन्द्रके भी सुखका अभाव। आशाका प्रलय करने वाले जीवों के समीहित की सिद्धि। आदि।

68. पुरुषार्थ सिद्धियुपाय प्रवचनशीर्ष

पूज्य श्री अमृतचन्द्राचार्य देव द्वारा विरचित पुरुषार्थसिद्धियुपाय पर पूज्य श्री मनोहर जी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हुए थे, उनके शीर्षकों की यह पुस्तक है। इसमें अहिंसाकी प्रधानता से श्रावकों के आचारका मुख्य वर्णन है। इसका परिचय पाठकशीर्षकों के अध्ययन से भी कर सकते हैं। उनके शीर्षकों में से कुछ शीर्षक यहां उद्धृत किये जा रहे हैं।—

विषयविवरणकी दो पद्धतियां होती हैं 1. मुख्यविवरण, 2. उपचारविवरण। दोनों को यथार्थ समझने वाले पुरुष तीर्थकी प्रवृत्ति कर सकते हैं। फिर भी उनमें निश्चयनय तो भूतार्थ है और व्यवहार अभूतार्थ है। यह जगत प्रायः भूतार्थ के बोध से विमुख हैं तथापि अज्ञानी के प्रतिबंधनके लिए ज्ञानी पुरुष अभूतार्थ का उपदेश करते हैं। इस मर्म के प्रकरण के 4, 5, 6 गाथा के शीर्षक पढ़िये—मुख्य और उपचार विवरण। वचनव्यवहार में मुख्य व उपचार कथन की छांट। व्यवहार व यथार्थ मर्मज्ञों की तीर्थप्रवृत्ति। स्वातन्त्र्य। सहजभावको दृष्टिका पुरुषार्थ। सम्यग्ज्ञान में आनन्दस्वरूप प्रापकता। वर्तमान ज्ञानोपयोग। लक्ष्यभ्रष्टों के अथसिद्धिका अभाव। भूतार्थ और अभूतार्थ। भूतार्थ और अभूतार्थका विवरण। व्यवहारनयका तत्त्वसे सम्बन्ध। प्राणियों की भूतार्थबोध विमुखता। भूतार्थ बोध विमुखतामें प्रायः सर्वसंसारकी स्थिति। भूतार्थबोध विमुखतापर खेद। निश्चयकी भूतार्थता और व्यवहारनयकी

अभूतार्थता। व्यवहारदृष्टिका रोग। व्यवहारभाषाका प्रयोजन। भूतार्थ बोध विमुखताकी हठकी चिकित्साकी असाध्यता। आत्महितकी भावना में भलाई।

पुरुष स्वरूप सिद्ध करके पुरुषार्थसिद्धिको वह कैसे प्राप्त करता है इस विवरणके शीर्षक गाथा 9, 10, 11 में पढ़िये—चिदात्माका अस्तित्व। एक कल्पना द्वारा सत्का विस्तार। नामस्थापना। द्रव्यक्षेत्र काल भावकी दृष्टि व जीवकी भाव प्रभावना। जीवकी प्रासंगिक 5 विशेषतायें। पुरुषका चिदात्मत्वका विश्लेषण। पुरुषकी अमूर्तता व गुणपर्ययसंवेदता। पुरुषकी सिद्धि। अनादि संततिसे अशुद्धता। मोह और रागादिक भाव। पुरुषार्थसिद्धि प्राप्त आत्माकी कृतकृत्यता। कृतकृत्यताके भाव से शान्ति। स्वयं की वृत्ति की स्वयं पर वर्तना। आत्मा का सविकार और अविकार परिणमन। ज्ञानियों का निर्णय। विवतोत्तरण अचल चैतन्यकी उपलब्धि। अचलचैतन्यकी उपलब्धि से सन्मार्ग का अनुसरण।

साम्यगज्ञानी पुरुष सम्यक्चारित्रको धारण करता है इस सम्यक्चारित्रकी भूमिका से संबंधित गाथा 37 से 50 श्लोक तक शीर्षक पढ़िये—सम्यग्दृष्टि तत्वज्ञानी संतंकी सम्यक्चारित्रके आलम्बनका उपदेश। सदबृत्ति और स्वानुभूतिका परस्पर सहयोग। अज्ञानपूर्वक चारित्र में समीचीनताका अभाव। पर्यायबुद्धि में चारित्र की भाररूपता। निष्पाप निष्कषाय आत्मस्वरूपकी चारित्ररूपता। चारित्र की निष्कषयताका विवरण। लक्ष्य ओर लक्ष्यप्रगति में प्रवर्तन। चारित्र की निरूपतिका विधान। यति और उपासककी ब्रत के भेद से चारित्रकी द्विविधता। पंचपापों में हिंसारूपता। द्रव्यहिंसा व भावहिंसा दोनों में कषाय योग का आधार होने से हिंसारूपता हिंसा और अहिंसाका योग्यचरणी संत पुरुषों के हिंसाका अभाव। हिंसा परिणमन दोनों स्थितियों में हिंसाका दोष। हिंसा को आत्मापराधजता।

अहिंसाके स्वरूपका विवरण करनेवाले व प्रारम्भिक अनिवार्य हिंसात्याग से सम्बन्धित शीर्षक देखिये— गाथा 51 से 90 तक —आशय के कारण हिंसा न करके भी हिंसा के फलका भोक्तृत्व। आशयवश हिंसा करके भी हिंसाके फल की अभाजनता। परिणामवश अल्प हिंसाका महान फल तथा महाहिंसाका स्वरूप फल। आशयवश अकृत व कृत हिंसा के फल का पूर्व, तत्काल व पश्चात् भोग। आशयवश एक कृतोहिंसा के फलभागिता व अनेककृत हिंसा के एककी फलभोगिता। आशयवश हिंसासे हिंसाफलके परिणाम में पैदा हो जाने पर भी आशयवश हिंसाफल व अहिंसाफलका अन्तर। गुरुकृपासे तत्वका यथार्थ बोध। नयचक्रके विपरीत प्रयोग से अज्ञानियों की हानिभाजनता। हिंसाप्रसंगकी जानकारी करके हिंसा परिहार करने का अनुरोध। हिंसापरिहारेच्छ जनों की मद्य मांस मधु व उदम्बरफलों की त्यागने का उपदेश। धर्मपालन में अहिंसा का आधार। मद्यपानके अनर्थ। मद्यमें पूर्वापर

हिंसा। मद्यपानमें हिंसाकी अवश्यभाविता। मद्यपायी के अनेक भावहिंसायें। मांसभक्षणमें अनिवारित हिंसा। स्वयं मृत प्राणी के भीष्मासभक्षणमें हिंसाका दोष। मांसकी सर्वदशाओं निरन्तर जीवों की उत्पत्ति। मांसभक्षणमें अनेक जीव समूहों की हिंसा। स्वयं विगलि मधुके भक्ष में भी हिंसा। महाविकृतिरूप मधु मद्य मांस मक्खन के भक्षणका निषेध। पंच उदम्बर फलों के भक्षण में त्रस हिंसा शुष्क उदम्बर फलों के भी भक्षण में हिंसा। मद्य मांस मधु पंच उदम्बर फलों के त्याग बिना जिनधर्म देशणाकी अपात्रता। श्रावकों के मूल गुणों का तीन प्रकार में विवरण। हिंसा और अहिंसा का मौलिक स्वरूप। अहिंसाधर्म के पालन का अर्न्तबाह्य रूप। अहिंसाधर्मके पालन के लिए गृहस्थ धर्म व मूल धर्मका निर्देश। चार प्रकार की हिंसा और उसके त्याग का अनुविधान। चार प्रकार की हिंसा और उसके त्याग का अनुविधान।

रात्रिभोजन में हिंसा का दोष है, आसक्तिका भी दोष है। इन दोषों के बताने वाले प्रकरण के शीर्षक देखिये गाथा-129- से 134-रात्रिभोजन में अनिवारित हिंसा होने से रात्रिभोजनके त्याग का कर्तव्य। अहर्निस भोजन करने वालों के तीव्र राग होने से हिंसा का दोष। हिंसा कम करने के लिए दिनमें भोजन का त्याग कर रात्रि भोजन करने की शंका व उसका समाधान। रात्रि भोजनमें विशेष हिंसा होने का प्रतिपादन। रात्रिभोजनके त्याग बिना अहिंसा ब्रतकी

सिद्धिका अभाव। दुर्लभ मनुष्य जीवनको अंसयम में बिताने की मूढ़ता। अहिंसाब्रत की सिद्धि के लिए रात्रि भोजन त्याग की अनिवार्यता। आदि।।

अतिथिसंविभागब्रत अहिंसाब्रत की तरह प्रधान ब्रत है। श्रावकजनों के अतिथि सविभागब्रतके बिना धर्मपूर्वक आहार दान करने का उपदेश। अपात्र पापी जनों के आदर का अर्थ पापका आदर। दातारके सप्तगुण। पात्रके लिए योग्य द्रव्य की देयताका कथन। तीन प्रकार के पात्र। दानमें अहिंसारूपताकी सिद्धि। गुणी अहिंसाक अतिथि के लिए दान न करने वाले गृहस्थ के लोभवत्वकी सिद्धि। निर्गन्थ साधुकी आहार चर्यामें गर्तपुरण वृत्ति व भ्रामरी वृत्ति। साधुकी आहा गोचरी वृत्ति व अक्षुमुक्षण वृत्ति। अतिथि संविभागब्रत में संविभागब्रत में अहिंसाधर्म की सिद्धि का पिरूपण। समतापरिण-मसहित मरणका बहुत अधिक महत्व है। इसी कारण साधुजनों को तो समाधिमरण का उपदेश है ही श्रावक जनों को भी अनिवार्यरूपसे अन्तमें समाधिमरणका उपदेश किया है। इस प्रकरण से सम्बन्धित शीर्षक देखिये गाथा 175-180 -सलखनाका महत्व। आवीचिमरण और तद्भव मरण दोनों मरणों में संलेखनाकी आदेयता। सर्वधर्मस्व ले जाने के लिए सल्लेखनाका समर्थवाहन।

मरणकी निकटता में सविधि सल्लेखनाका संकल्प। सल्लेखना में स्वभावदृष्टि बनाये रहने का यत्न। ज्ञानी के सर्वत्र स्वभावदृष्टि के यत्न की सुध कषायसल्लेखना में रागादिभावके अभावके कारण आत्मघातके दोषका अभाव। सल्लेखनाके यत्न में आत्मरक्षण। कषायाविष्ट होकर अपने प्राण व्यपरोपडा करने में आत्मबधका दोष। अद्यतनयुग में नियम सल्लेखनाकी श्रेयस्कारिता। हितमय विवेक। सल्लेखना ब्रतीका मौलिक विचार। सल्लेखना ब्रतीकी आन्तरिक पात्रता। समाधि मरणमें अति सावधानताकी आवश्यकता। सल्लेखना ब्रती का कर्तव्य और उसके हितु जनों का कर्तव्य। सल्लेखना ब्रतीकी सेवा में धर्मानुरागियों का कर्तव्य। जन साधारणके दुःख रूप विचार। संस्थानविचय धर्मध्याका परिणाम। वेदना भय दूर करने का उपदेश। कष्ट सहष्णु बनने के लिए विचार। आत्मीय अविनाशी स्वरूप का विचार। समाधि मरण की पवित्रता। सल्लेखनामें अहिंसाकी प्रकृष्ट सिद्धि।

श्रावकों को यथायोग्य यथाशक्ति तप, गुप्ति, समिति, परीषहजय, दशधर्मपालन व अनुप्रेक्षा आदिके आत्मीयताकी प्रेरणा देकर उपसंहारवत् कही हुई अन्तिम कुछ गाथाओं में प्रायोजनिक लक्ष्यपूरक प्रकरण से सम्बन्धित शीर्षक देखिये गाथा 211 से 224 तक— विकलरत्नत्रयकी भावना में भी मोक्षोपायताका दिग्दर्शन। मुक्तिका साधन वीतरागभाव। रत्नत्रयकी समय व असमय साधनाके अधिकारी। सम्यक्त्वमें बन्धनकी अहेतुता व रागांश में बन्धनहेतुता। रत्नत्रयकी समय व असमय साधना के अधिकारी। सम्यक्त्वमें बन्धनकी अहेतुता व रागांश में बन्धनहेतुता। सम्यग्ज्ञान होने पर भी सरागता व वीतरागता के भेद से प्रभाव में भेद की झलक। ज्ञानांश में बन्धन की अहेतुता व रागांश में बन्धहेतुता। चारित्रांश में बन्धन की अहेतुता। जीव ओर कर्म के विवेचन की मोक्षमार्ग में गति के लिए आवश्यकता। शास्त्रभ्यास और जिनपदभक्ति की भावना। सत्संगति, सद्वृत्त, गुणकथा, दोषावादमोन व प्रियहितवचनकी भावना। आत्मतत्त्व—भावना व उदेश्यपूरक जीवकर्मविवेचन का अवशेष निर्दोष। सम्यक्त्व व चारित्र होने पर विशिष्ट रागभावसे तीर्थकर व आहारकद्विका बन्ध। रत्नत्रयमें बन्धनकी अहेतुताका समर्थन। सम्यक्त्व चारित्र होने पर योग व कषाय से ही तीर्थकर व आहारकद्विकका बन्धन। सहज स्वरूपके बोध बिना कष्टों की भरमारी। वर्तमान जीवनक प्रयोजनका निर्णय। पुराणपुरुषों के जीवनसे ज्ञातव्यजीवनके प्रयोजन। स्वरूपश्रद्धान, विवके और स्वरूपरमणकी वृत्तिका लक्ष्य। रत्नत्रयधारी मुनिवरोके भी राग में शुभप्रकृतिबन्धका कारणपना। आत्माको निर्बध करने का उपाय। उपेयको उपयोगमें लेने का उपाय। रत्नत्रयसे सत्प्रकृतियों के बन्धनका अभाव और राग से बन्धनकी सिद्धि। आदि।।

महाराजश्री के देवकी पूजापर जो प्रवचन हुए थे उनके शीर्षक इस पुस्तक में हैं पूजक गृहपर देवपूजाका विचार करता है। तब से लेकर मन्दिर प्रवेशतक पूजक की सद्भावना देखिये और उससे अनुमान कीजिये कि पूजा में और कितना अधिक सद्भाव होता होगा। देखिये कुछ प्रारम्भ के शीर्षक।

पूजक की पात्रता का आधारनिष्पाप जीवन।

पूजक की विशुद्धि की सार्वकालिकता।

पूजक का नवदेवताओं में प्रथम जिनचैत्यालयश अभिवादन।

जिनमंदिर में प्रवेश करने के समय के कर्तव्य—

एक कायोत्सर्ग में 27 श्वासोच्छ्वास में नव बार णमोकार मंत्र जपने का विधान।

स्वरूपस्मरणसहित णमोकार मंत्र के जपने का विधान।

णमोकार मंत्र के ध्यान का प्रभाव आत्म विशुद्धि।

ओंइम् की ध्वनि का भाव।

अक्षरों की प्रशोशित।

शब्द ब्रह्मकी उपयोगिता व महत्ता।

भक्त का गुणनुराग।

ओंइम् शब्द की परमेष्ठिवचकता,

ओंइम् शब्द की सत्वस्वीकारसूचकता, देवशास्त्रगुरुवाचकता

व रत्नत्रयवाचकता।

ओंइम् शब्द की उत्पादव्यय ध्रौव्यवाचकता व मोक्षमार्गसूचकता।

ओंइम् शब्द को ज्ञान विधिवाचकता।

ओंइम् की त्रिविधात्मसंकतिता, मंत्रमूलता व सप्रतत्त्वसूचकता।

पूजा में मंत्रों की, जयवाद, आदि की सार्थकता। विदविध नमस्कार—

प्रभुपूजा संकल्प के समय जो पढ़ा जाता है उस पर हुए प्रवचन के शीर्षक से प्रभु प्रशस्ति का अनुभव दीजिये—श्री जिनेन्द्रदेव का अभिनवन्दन करके पूजा किये जाने का संकल्प, प्रभुकी जगत्त्रयेशता—, प्रभुम के अतिशय—, प्रभु की स्यादवा दनायकता—, अप्रभुकी अनन्त चतुष्टयाहिता—, त्रिलोक गुरु जिन श्रेष्ठ प्रभुका नमस्कार—, त्रिलोवश त्रिकाला प्रभु को प्रणमन—, शुद्धिपूर्वक भूतार्थयज्ञ पुरुष की पूजा का संकल्प, सर्वस्व समपर्ण के भावसहित प्रभुपूजा का उद्यम—, प्रभुभक्त का समग्रपुण्यहवन का भाव—, जिनेन्द्र पूजनकके मन की स्वच्छता का दिग्दर्शन—

सिद्ध पूजा के भावाष्टकके प्रवचन के कुछ शीर्षकों को पढ़ कर पूजा का आन्तरिक भाव परखिये— सहज सिद्ध प्रभुकी अभ्यचैना सहजबोध कला रमणीय सहजसिद्ध की अभ्यर्थना—अन्तर्भावकी परख—सहजसिद्धका सहजभाव से परिपूजन—सहजसिद्ध की अभ्यचैना में परमार्थतः ज्ञात भावना— उपासना—

पूजक द्वारा पूजा के अन्तमें अभ्यर्थना के प्रबन्धगों के शीर्षक से अनुभव कीजिये पूजाभाव के उद्देश्य का प्रभुकी अभ्यर्थना में सप्त सारणनाथकी अभ्यर्थना—शास्त्रभ्यसं जिनपतिनुति व सर्वदार्मसंगति की भावना—गुणगण कथा व दोषबाद मौनकी भावना—सबके प्रति प्रियहित बचन की भावना आत्मतत्त्वभावनाकी भावना—

71 – द्वाधर्मप्रवचनशीर्ष

जीवका कल्याण कर सकने वाला भाव उत्तमक्षमादि दशलक्षणरूप है। यही कारण है कि प्रतिवर्ष तीन बार दशलक्षणधर्मकी उपासना की जाती है। उन दशलक्षणधर्मों पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने प्रवचन किये हैं, उनमें से कुछ शीर्षक यहां उद्यत किये जाते हैं। उत्तम क्षमा क्रोध न करने को कहते हैं। इस क्षमा धर्म के प्रताप से जीव इस लोक में भी सुखी रहता है और परलोक में भी शान्त एवं आनन्दमय रहता है। इस धर्म के प्रवचन के शीर्षक देखिये—

उत्तमक्षमाकी त्रिलोकसारता। परमार्थतः स्वयंपर क्षमाकी शक्यता। अपनी भलाई के लिए दूसरों पर क्षमा की कृति। अपने उपशम भावों में ही वास्तविकी क्षमा। क्षमा के रश्मरिवाजमात्र में क्षमा के तथ्यका अभाव। स्वयंपर ही क्रोध की व स्वयंपर ही क्षमाकी शक्यता। उत्तमक्षमा से जन्मेदधिनिस्तरण। प्रतिकूल वचनों को अनसुनासा कर देने में लाभ। शुद्धात्मतत्त्वसे उपेक्षापराधकी क्षमायाचना उत्तमक्षमा में रत्नत्रयका विकास। आदि

उत्तम मार्दव मान न करने को कहते हैं। जहां मृदुता है नम्रता है वहां शान्ति है, कर्मोदयका क्षय है। इस धर्म भावसे प्रभुता प्राप्त होती है। इसके प्रवचनके कुछ शीर्षक – मार्दवस्वरूपका विवरण। मार्दवधर्मकी भवमर्दनता। कर्तुत्वबुद्धि व अहंकारकी व्यर्थता। कलहका भूल अमार्दवता। मार्दवभावकी दयामृतला। मान कषाय से अतुल आत्मनिधिका विनाश। हठ से आत्माकी बरबादी। मानमर्दन से प्रभुभक्ति व अनन्त आनन्दका लाभ। मान कषायमें अपमानका प्रसंग। संसासंकटोंके लाभ में मानका मुख्य हाथ। खुद के लिए खुदका महत्व। दया नम्रता की बल्ली। मार्दवधर्मसे प्रभुभक्तिप्रसार। मार्दवकी कुमतिप्रसारनिनशिकता। आदि

आर्जव सरलता व कपट रहित वृत्तिको कहते हैं। आर्जव मोक्षका मूल ळै। इस धर्मके प्रवचनके कुछ शीर्षक देखिये—मार्दवधर्मकी सेवा करके प्रसन्न रहने का अनुरोध। मार्दवशून्य पुरुषकी हीनदशा। कपटसे खुदकी ठगई। सरल भावों के द्वारा आर्जवधर्मकी प्राप्ति। कपटके कारण निरन्तर संक्लेशरूपता। कपट से कपटकी दुर्गति। मायाचार न होने से विराम व आराम। कुटिल हृदयमें धर्मका अप्रवेश व सरल हृदयमें धर्मका अप्रवेश व सरल हृदय में धर्मपात्रता। सरलताके कारण हानि का अभाव। कपटीका पराजय। कपट के कारण चित में उधेड़पनका कष्ट। मायाचार द्वारा स्वयं की वंचना। प्रवंचनाकी अशोध्यता। आदि।

उत्तम शौचधर्म लोभकषाय के परिहार को कहते हैं। इस धर्मभावसे आत्मा में उत्तम स्वच्छता प्रकट होती है। इस प्रवचन के कुछ शीर्षक देखिये— शौच धर्म के अभाव में जीव की अशुचिता। लोभ की पापजनकता। औपधिक भावों में मलिनताकी प्राकृतिकता। आत्माकी सम्यक्त्वसे पवित्रता। बाह्य ठाठबाटसे आत्मा का असम्बन्ध। आत्मस्वभाव के परिचय बिना उत्तम शौचधर्मकी असंभवना। शाश्वत अंतसतत्वकी दृष्टिसे उत्तम शौचधर्मकी विकास। अन्यायाजित धनके सदुपयोग का अभाव। मनकी पवित्रता से शौचधर्मकी संभवता। पवित्र परिणाम होने पर पापों का प्रक्षय। ब्रह्मचर्य आदि पवित्र भावों में शौचधर्मकी प्रकटता। आदि

सत्य चारों कषायों का अभाव होने पर आत्माका सत्य स्वरूप प्रकट होता है। आत्मीय सत्य प्रकट होने पर यह आत्मा उत्तमसत्यस्वरूप स्वयं हो जाता है। इस सत्यता के लिए सत्यवचन कहने को भी उत्तमसत्य कहते हैं। इस धर्म के प्रवचनके शीर्षक पढ़िये—

सत्यव्यवहार द्वारा सुपात्र बनकर सत्य अन्तस्तत्तकी उपासना अनुरोध। वैभवकी सत्यानुसारिता। अहित असत्य व्यर्थके वचनालाप से कलंक की वृद्धि। दोषनिवारक वचनकी उपयोगिता। अलौकिक सत्यके प्रसाद में परमहित। सत्यधर्मकी लोकद्वयसुखकारिता। उत्तमसत्यकी सर्वधर्मप्रधानता। सत्यके प्रसाद से व्यसनिवृत्ति। सत्यवादीपर लोकविश्वास। सत्य से मनुष्यजन्मकी सफलता। सत्य से पुण्यकर्मकी प्रवृत्ति। सत्कसे गुणचमत्कार। सत्यके धात से घोर आपदाओं का भोग आदि।।

उत्तमसंयम संसाररोग के विनाश के लिए परमौषधि है। संयम के प्रसाद से योगीश्वर मुक्ति प्राप्त करते हैं। इस संयमश्रमके प्रवचनके कुछ शीर्षक देखिये—संयम स्वरूप जानकर संयमपालनका अनुरोध। दुर्लभ मनुष्यजन्म में संयमके पालने का आदेश। संयमकी शीघ्र कर्तव्यता। विषयरति से खुदकी बरबादी। इन्द्रियविजय में सर्वविजय। कषायपरिहार से संयम की साधना। परवस्तुसन्ध्यास द्वारा संयमधारणाका अनुरोध। परमार्थसंयमका समीक्षण। असंयमी जनों को संयम में प्राप्त होने वाले आनन्दके अन्दाजा की असंभवता। आदि

उत्तम तप परम निराकांक्षताको कहते हैं। तपश्चरणमें उत्पन्न हुए विशुद्ध आनन्दके प्रताप से कर्मनिर्जरा होती है। इस मोक्षमूल धर्म के प्रवचन के कुछ शीर्षक देखिये—इस दुर्लभ नरजीवनमें तपश्चरणकी श्रेष्ठ कर्तव्यता। पर्यायबुद्धि तजकर अन्तः स्वभावकी और उपयुक्त होने में तपश्चरण की सार्थकता। तपश्चरण में शुद्ध आनन्द और उससे कर्म—संकट का विनाश। परसम्पर्क व कर्तृवबुद्धि में पीडाधिक्य। परिग्रहत्यागमें व कामखण्डन में तपश्चरण। अन्तर्ब्रह्म नग्नता में तपश्चरण। विविक्तशरूयाशनमें तपश्चरण। संपदासे उपेक्षा करके स्वभावदृष्टि में तपश्चरण। संपदासे उपेक्षा करके स्वभावदृष्टिमें

विषयेच्छानिरोध से मनुष्यभवकी आदर्शता। धर्मबिना जिन्दगी क्या? आदि।

उत्तमत्याग सर्वविकल्प के परिहारपूर्वक आत्माको उत्तमशान्ति प्रदान करने का उत्तमत्याग कहने है। एयतर्थ किये गये उपयोगी आहार शास्त्र, औषधि, अभयदानको भी उत्तमत्याग कहते हैं। इस धर्म के प्रवचन के कुछ शीर्षक देखिये—उत्तमत्यागका स्वरूप। त्यागबिना संसार से पार होने का अभाव आन्तरिक त्याग और बाह्य त्यागकी आवश्यकता। दानसे धर्मप्रवृत्ति। दानप्रकृति वाले महापुरुषों को दान न दे सकने की परिस्थितिपर विषाद। ज्ञानदानकी श्रेष्ठता। शान्तिके अर्थ ज्ञानविकास की आवश्यकता। ज्ञानदान मात्रको तात्कालिक फल। त्याग द्वारा बैरियों पर सत्यविजय। ज्ञानविकास की सदाचार से सफलता। चारों दानों की उपयोगिता। आदि

अपने आपको उत्तम आकिंचन्य अनुभव करने को उत्तम आकिंचन्य कहते हैं। मेरे स्वरूपमें किसी अन्यका प्रवेश भी नहीं, मेरा मात्र में ज्ञानस्वरूप हूँ, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मेरा नहीं, ऐसा भेदाभ्यासपूर्वक अपने को ज्ञानमात्र अनुभवना सो आकिंचन्यधर्म है। इस धर्म के प्रवचन के शीर्षक—

आकिंचन्यधर्म की उपासना। परिग्रहलालसाकी विडम्बना का चित्रण। परिग्रहमूर्छा के कारण गुरुजनों पर संदेह करने का पाप करने की नौवत। स्वयंभिन्न परपदार्थों के भिन्नत्वका प्रवेश होने में परमविश्राम। आकिंचन्यभाव के अभाव से दुःखीजनता। निजअंतस्तत्त्व अन्यका पार्थक्य। निर्भार, कृतार्थ निजतत्त्वके ध्यानका आदेश। अपनी यथार्थ परिपूर्णता के भाव से चिकने में आपदाओं की भरमारी। परसम्पर्ककी विवृचनका फल महाक्लेश। लक्ष्यविशुद्धि व आकिंचन्यकी धुन में विसंवाद व कलहका अभाव। पक्षभावमें बुद्धिकी विपरीतता। आत्मधर्म के प्युषणमें आत्मलाभ। स्वयं के लिए स्वयं की महत्ता। अपने को बाह्य की ओर से अकिंचन मानने में अपना महत्वं संतोषभावसे दरिद्रताका विनाष। आकुलताके समागमों से दूर रहने में ही आत्महित। ज्ञानी के परमें हठबुद्धिका अभाव। आदि

अपने सर्वविशुद्ध ब्रह्मस्वरूपमें मग्न होने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। एतदर्थ इन्द्रियविषयों से हटने को भी ब्रह्मचर्य कहते हैं। और, उनमें प्रधानताया कुशील से सर्वथा हटने को उत्तम ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस प्रवचनके शीर्षक पढ़िये—ब्रह्मचर्यकी विशेषतायें। सुशील माता के चरित्रका सन्तानपर सत्प्रभाव। सम्यग्ज्ञानीके ब्रह्मचर्यकी सुगमता। कामविकारकी व्यर्थ अनर्थ माया। ब्रह्मचर्यव्रतकी अत्यावश्यकता। ब्रह्मचर्यसिद्धि के लिए असंत्संगति और अभक्ष्य के त्याग की परआवश्यकता। कुशील की कुशीलता जान कर कुशील के त्याग का आदेश। कामविकार की विडम्बना। कामी की तुच्छताका उदाहरण। कामभाव के उपसर्ग से बचने की सावधानी की आवश्यकता। कामीकीकुबुद्धि और दुर्गति। आदि

72—सिद्धभक्तिप्रवचन[गोर्ष

सिद्धभक्तिपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हुए हैं उनके शीर्षक इस पुस्तक में हैं। यह ग्रन्थ झांसी में छपने के लिए दिया गया था, अब तक छपना प्रारम्भ भी नहीं हुआ।

73—योगिभक्ति प्रवचन भीर्ष

योगरस रहने वाले साधु संत जनों की भक्ति करने वाली यह योगभक्ति दश भक्तियों में से एक भक्ति है। इस पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने प्रवचन किया है। उन प्रवचनों पर शीर्षक भी लिखे हैं। उन शीर्षकों में से कुछ शीर्षक यहां उद्धृत किये जा रहे हैं पाठकजन उन शीर्षकों को पढ़कर विषयका अनुमान कर सकेंगे। संस्कृत योगिभक्ति के प्रथम छन्द में कहा है कि क्या सोचकर किसलिए मुनियों ने बन का आश्रय लिया। शीर्षक छन्द 1—

योगसाधना। संसार में जन्म मरणका मूल क्लेश। मोहियों की स्ववश वेदनासहन में कायरता। सम्यक अवबोध और आचरणकी कलाकी आवश्यकता। अनित्यसमागम और सुखभ्रम। सम्यग्ज्ञान का जीवन पर प्रभाव। संसार में जन्म जरा मरण रोगका कठिन क्लेश। योगियों के एकान्त के आश्रय का औचित्य। साधुओं की द्विजता। दुःसह नरकवेदनाके कारणभूत नरकायुके आश्रवका वर्णन। नरकस्थान

और परकों में जन्म। जन्मने वाले नारकी पर चारों ओर से नारकियों का आक्रमण। नरकी पृथ्वी के स्पर्शका क्लेश और नरक देहकी विक्रिया से सुलाम शस्त्रप्रहार वाले णिवसे आत्मोत्थानकी अशवयता। प्रबुद्धचेता आत्मार्थी पुरुषका जीवनकी चपलता के सम्बंध में चिंतन। आत्मलाभ के कार्य के उत्साह और यत्नकी आवश्यकता। वैभव की चंचलताका चिन्तन। योगियों का आत्मलाभ के योगका उद्यम।

तृतीय व चतुर्थ छन्द में दिगम्बर संतो के उष्ण परीषहविजयका वर्णन है। शीर्षक—छन्द 3 व 4 योगियों के ग्रैष्मपरीषहसहनका कथन। परीषहसन में योगियों की निस्पृहता का बल। योगियों की स्वरूपदर्शनकी कलाका बल। योगियों का सहजज्ञान और वैराग्य की कला का बल। शान्ति का उपाय राग का अभाव। समागमों की अलाभकारिता के निर्णय की प्रथम आवश्यकता। आत्मस्वरूपके यथार्थ चिन्तनकी परम आवश्यकता। ज्ञानवत्सल योगियों की सहजतृप्ति। अनुरज्यताका निर्णय। सदगृहस्थ जीवनके दो मोलिक विश्वास। सज्ज्ञानमृत पायी मुनेन्द्रों का समाता से तीव्रतापसहन। ज्ञानानुभूतिके महत्व के परिचयका प्रयोग। शान्ति के निर्णय, परिचय और अनुभव के लिए आत्मप्रयोग। धर्मपालन के लिए जीवनकी ढाल। क्षमासलिलसे सिच्यमान पुण्यकाल वाले योगीन्द्रों का समता से त्रब्रताप सहन अज्ञान के अंधेरे में अन्दर बाहर सर्वत्र अन्धेरा। परव्यसंग में शान्तिका अभाव रमार्थज्ञानी विरक्त संतों को परीषहों के मध्य भी प्रसन्नता। परीषहों में भी प्रसन्नता प्रदान करने वाली निधि। योगियों का शान्तिप्रद स्वाधीन आधार।

प्राकृत योगिभक्ति के सर्व छन्दों में योगियों के गुणवर्णन करते हुए योगियोंका बन्दन स्तवन किया। इनके प्रवचनों का कुछ शीर्षक पढ़िये—योगियों की द्विदोषविमुक्तता। योगियों की त्रिदण्डवर्जितता। योगियों की मायाशल्यरहितता। योगियों की मिथयाशल्यरहितता। योगियों की निदानशल्यरहितता। योगियों की रसगारवरहितता। योगियों की रिद्धिगारवरहितता। योगियों की सातगरवरहितता। योगियों का मनः शुद्धिपूर्वक प्रणमन। योगियों को वचनशुद्धिपूर्वक प्रणमन। योगियों को कायशुद्धिपूर्वक प्रणमन। योगियों

की चतुर्गतिगतनागमनभयभीतता। योगियों की पंचास्रवविरतता। योगिजनों का पंचेन्द्रियविजय।

कुछ छन्दों में अधिकारी योगिजनों का अभिबन्दन किया है। उन प्रवचनों के कुछ, शीर्षक। सर्वोषधिरूप योगियों का अभिनन्दन। आहारतिशय द्वि सम्पन्न योगियों का बन्दन। योगबलातिशयसम्पन्न योगियों का बन्दन। कोष्ठद्वि एवं बीजत्रयद्विके धारक योगियों का बन्दन पदानुसारी भिन्नश्रीतुत्व सूतार्थ धारक योगियों का अभिवन्दन। आदि।।

74 भान्तिभक्ति प्रवचन भीर्ष

1— दश भक्तियों में एक शान्तिभक्ति है। उस पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हुए थे, उनके शीर्षक इस पुस्तक में है—प्रभुकी शरण में जाने का प्रयोजन संसार दुख है इस भाववाले प्रथम छन्द के कुछ शीर्षक देखिए— दुःख पीडित प्राणियों की प्रकृति—विषयसाधनों की शरण से अशान्ति की वृद्धि—यिथ्यात्वके योग में ज्ञानकी भी विडम्बना—मानवों द्वारा बुद्धिका दुरुपयोग—क्लेशपूर्ण जगत में श्रावकों का कर्तव्य—इस जीवन में भी अन्तस्तत्वकी बात में शान्ति की प्रतीति—शरणका अन्वेषण—संसार की भायावहता — बाह्यसमागमकी चिन्ता न करके आत्महितके यत्नकी आवश्यकता—स्वयं की भावनासे स्वयं की उलझसुलझ —सत्य शरणका अन्वेषण—भक्ति की पद्धिति—भक्ति परीक्षा—मोहियों की भक्ति में होड़—

2—प्रभुभक्तों के विघ्न सब शान्त हो जाते हैं इस भाव वाले द्वितीय छन्द के प्रवचन के कुछ शीर्षक पढ़िए—प्रभुचरणद्वयस्तवनोन्मुख पुरुषों के विघ्नों का शमन—प्रभुस्वरूप स्मरणकी शरणयरूपता—महात्मओं के विनय प्रसंग में पादद्वयके विनयकी प्रथा का करण भक्ति प्रेभावका एक दृष्टान्त—ज्ञानबलसे मनका नियन्त्रण करके, कष्ट सहिष्णु होकर धर्माभूतके पानका कर्तव्य—अदभुत निमित्त नैमित्तिक और स्वतन्त्रताका अवरोध—सर्वक्लेमुक्ति के लिए प्रभुभक्तिका समर्थ सहयोग—

3-प्रभुपाद पावन गीत से रोगों का प्रक्षय सूचित करने वाले 5 वें छन्द के प्रवचनके कुछ शीर्षक देखिए- ज्ञानमूर्ति प्रभु के चरण स्तवनसे रोग प्रक्षय-प्रीतुदर्शनविधि-स्वरूपसक्षात्क-कारपूर्वक स्तवनकी विशेषता-ज्ञानविकास में विस्मयका अभाव-अविशिष्ट ज्ञान में शान्ति का साम्राज्य-मोहियों का निर्वाचित भागवान-ज्ञानैकमूर्तिकी भावनाका परिनाम-सहजाज्ञानस्वरूपकी भावनामें हित का प्रत्यय-देशप्राभावनाका विकल्प तोड़कर ज्ञान भावना करने में कुशलता नहाकर भ्रमसे पवित्रता मानने की अवित्रताविशुद्ध उपयोग होने की सारभूतता-अद्भुत चमत्कार सम्पन्न आत्माकी भक्ति से रोग क्षय-

4-जब तक प्रभुपाद प्रसाद प्राप्त नहीं हुआ तब तक पाप बहनही हाता है इस भाववाले 7 वें छन्दके प्रवचन के कुछ शीर्षक देखें। प्रभुवरण प्रसाद के अभावमें पाप बहन-कृतकृत्य निर्विकार ज्ञानमात्र प्रभु उनासना से पापप्रक्षय-मंगल, लोकोत्म व शरण्य निर्विकार प्रभुकी उपासना-मोहकी आद्रता के विनाश - प्रभुस्वरूप स्मरणकी ईप्सितता-विकारोपयोग में प्रभुताका अभाव अविकास स्वरूपी प्रभुके दर्शनका प्रभाव-आत्मत्वके नाते शान्ति के उपायका अनवेक्षण-ज्ञानके आधार और आश्रय के मर्ममें वैभव का दर्शन-

5-ऐसे द्रव्य, देश काल व भावके उदय की भावना की है जिसके साधन से रत्नन्जयका प्रलय बद्ध, पढ़िए 16वें छन्द के कुछ शीर्षक -शान्ति का एक मात्र पर्याय पने आप में आपकी मग्नता-बाह्योपयोग में भी शुभ अशुभका विवेक-शुभोपयोग में परमात्मा भक्ति की प्रधानता-प्रभुभक्ति के प्रसंग में योग्य द्रव्य क्षेत्र काल भावके योगका - दर्शन -रत्नत्रयप्रतपन समर्थ योग्य द्रव्यके योगकी उत्सुकता-रत्नन्नपप्रतपनयोग्य के अर्थ योग्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव के योग की अभ्यर्थना-

75-इष्टोपदेशा प्रवचनशीर्ष

पूज्यपाद स्वामिविरचित इष्टोपदेश पर पूज्य री मनोहर जी वर्णी सहजाननद महाराज के प्रवचन हुए थे, उन प्रवचनों पर शीर्षक भी लिखे गये थे। उन शीर्षक से उस छन्द में होने वाले विवेचनका अन्दाजा हो जाता है। संसार में सुख केवल कल्पना मात्र है, ये भोग

तो उद्वेग क्षोभ उत्पन्न करते हैं। इस भाववाले 6 वें श्लोक के प्रवचनों के शीर्षक पढ़िये—सुखकी क्षुब्धरूपताके वर्णन का संकल्प। सुख और आनन्द में अन्तर। वासनामात्र कल्पित सुख में बाधा और विषमता। सांसारिक सुखों की उद्वेगरूपता। परमतत्वके लाभ बिना कोरी दारिद्रता। सांसारिक सुखों की वासनामात्र रम्यता। परसमागम में कल्पित सुखकी भी अनियतता। सुखके नियत विषय का अभाव। सुखका दुःखरूपमें परिणमन। वास्तविक आनन्द के लाभ का उपाय। करणीय आशा। सांसारिक सुख में आस्थाकी अकरणीयता।

यह प्राणी दूसरों की विपत्ति की तरह अपने पर आने वाली विपत्ति को नहीं समझ पाता है, देखिए इस भाव वाले 14वें श्लोक के प्रवचनों के शीर्षक—आत्मविपत्तिके अदर्शनका कारण। आत्मविपत्तिके अदर्शकके एक दृष्टान्त। आत्मविपत्ति के अदर्शककी परिस्थिति। अज्ञानीको स्वकीय अपराधका अपरिचय। मोही के विवेके का अभाव। ज्ञानीका प्रवर्तन। अनर्थ आवश्यकताओं की वृद्धि में बरबादी। व्यामोह में अविवेक और विनाश। गलतीको भी कला माननेका व्यामोह। अज्ञानीकी समझमें अपनी मूल भी फूल। विभावविपदा। भ्रमकी चोट।

एक तरफ चिन्तामणि रत्न है, एक तरफ रत्न का टुकड़ा रखा है, दोनों ही चीजें जब ध्यानसे प्राप्त होती हों तो विवेकी पुरुष किस तरफ आदर करें, इस संकेतको प्रकट करने वाले 20 वें श्लोक के प्रवचनों के शीर्षक देखिए— ज्ञान और अज्ञान के आश्रयका परिणाम। ज्ञान और ज्ञान और अज्ञान के आश्रयका विवरण। कल्पनाजालका क्लेश। उदारताका अवसर। उदारताकी एक घटित पद्धति। परमार्थिक उदारता। धर्मपालनका अंतरंग आशय से सम्बन्ध। संगतिविवेक। ज्ञानका तात्त्विक फल। ज्ञानी व अज्ञानी के संग से लाभ हानि का कारण। अज्ञानी के धर्मसमागमकी अरुचिका भाव। ज्ञानमें तृप्ति। कर्तव्यस्मरण। परमार्थ पुरुषार्थ।

मेरे मृत्यु नहीं, भय कहां से हां। मेरे वयाधि नहीं, व्यथा कहां से हो। मैं बालक बुद्ध, जवान, नहीं, ये दशाये तो पुद्गलमें है। देखिए इस भाव वाले 29 वें श्लोक के प्रवचनों के शीर्षक—

ज्ञानी के मरणभयका अभाव। आत्माके जन्म मरणका अभाव। मोहियों का विकट भय। आत्मज्ञानमें भयका अभाव। वस्तु के प्राणभूत स्वरूपका अविनाश। ज्ञानी के देहव्यथाका अभाव। आत्मामें दशाओं का अभाव। परपदार्थ का आत्मामें अत्मान्ताभाव। नीरोग ज्ञानस्वरूपका चिन्तन। घनजीवनविधयक मोह के अभाव में कर्मफलका अननुभव। ज्ञानीकी ज्ञान से अविचलितता। संसारव्यवहारका वैचित्र्य। निःसंकट स्वरूपके अवलम्बनकी स्वच्छता में बाधाओं का अभाव। माया से परे परम ज्योति का चिन्तन।

योगीजन समस्त इन्द्रजालोपम जगत को दूर है।, तथा आत्मलाभ के लिए स्पृहा रखते हैं और किसी बाह्य तत्त्वमें कदाचित् उपयोग चला जाए तो उसका पश्चात्पज करते हैं। पढ़िये इस भाव वाले प्रवचनों के शीर्षक— जगत की इन्द्रजालोपमता। इन्द्रजाल विषयसाधनों की जलबुद्बुद्सम असारता। वस्तु में अभिन्नषट्कारकता। पदार्थ के परिणमनका सम्प्रदान। योगीकी आत्मस्पृहा। आत्मलाभकी आकांक्षा। मेरा और मैं का निर्देष। ज्ञानीका परायोगमें अनुताप अज्ञान से व्यवहार धर्म में भी कर्तृत्वबुद्धि। ज्ञानी की अन्तर्दृष्टि। सजग वैराग्य। अज्ञानी और ज्ञानी की दृष्टि में साहस का रूप। जाल में विविधपता। इन्द्रजालका अवबोध। ज्ञानियों की उपेक्षा व उद्यम।

जिसने आत्मतत्त्व में मन स्थिर किया है ऐसा ज्ञानी पुरुष बोलता हुआ भी नहीं बोलता, जाता हुआ भी नहीं जाता, और देखता हुआ भी नहीं देखता है। पढ़िये इस भाव वाले 41 वें श्लोक के प्रवचनों के शीर्षक— समाधिनिष्ठ योगीका व्यवहार। आनन्दधाम में उपयोग। योगीश्वरका व्यवहार। प्रत्येक प्रसंगों में आत्महितदृष्टि। ज्ञानी के क्रिया में आसक्ति का अभाव। सुख दुःख की ज्ञानकला पर निर्भरता। अहंकार व ममकार का दोष। औपाधिकता। मोह की अंधेरी। ज्ञानी की दृष्टि। ज्ञानियों की अलौकिकी वृत्ति। वर्तमान संगमें ज्ञानी की अनास्था पर एक दृष्टान्त। ज्ञानी की प्रवृत्ति के प्रयोजनपर एक दृष्टान्त। कर्मबन्ध का कारण सारभूत शिक्षा। परकी हठ का क्लेश।

आन्नद ही प्रबल कर्मबन्धनको दग्ध कर पाता है। यह योगी तप उपसर्ग आदिक बाह्य क्लेशों में तो अचेतन सा हो गया है। यह

उन दुःखों में जरा भी खेदखिन्न नहीं होता, उसके तो आत्मानुभव का आनन्द प्रकट हो रहा है। इस भाव वाले 48 वें श्लोक के प्रवचनों के शीर्षक पढ़िए—आत्मोत्थ शुद्ध आनन्दका परिणाम। अध्यात्मयोगकी आनन्दमग्नता से कर्मप्रक्षय। भावकर्म और द्रव्यकर्म। कर्मस्थिति का समर्थन। क्षणिक गल्ती से असंख्यातें वर्षों तक क्लेशभोग। सागर का प्रमाण। दूर्लभ मनुष्यजन्म का अवसर। आत्मप्रभुपर अन्याय के दुष्परिणाम का दृष्टान्तपूर्वक प्रदर्शन। आत्मदेवपर मनुष्य का अन्याय। धर्म का आनन्द और कर्मक्षय। धर्मवध। अध्यात्मयोगी के संकटों के खेद का अभाव। दुनिया के अजायब घरों में निःसंकट रहने का उपाय।

76. परीक्षामुखसूत्र प्रवचन भीर्श

वस्तुस्वरूप सम्बंधी मतमतान्तरों के निर्णयक दर्शनशास्त्र होते हैं। पूज्य श्री माणिक्यनन्दि आचार्य ने परीक्षामुख नामक एक ऐसे दर्शनसूत्र का निर्माण किया है जिसमें निश्चय करने की समस्त युक्तियां गर्भित हैं। इस सूत्रग्रन्थपर पूज्य श्री प्रभाचनद्राचर्य ने प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक टीका की। इस टीका के आधार पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने प्रवचन किये और उन सब प्रवचनों के स्थल पर आपने शीर्षक लिखे हैं। इन शीर्षकों से ही दार्शनिक विद्वान वक्तव्य विषय समझ सकते हैं। उन शीर्षक में से कुछ शीर्षक उद्धृत किये जा रहे हैं। सर्वप्रथम सूत्रों में प्रमाणका लक्षण स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक प्रमाण कहा है, जिसका भाव है—जो ज्ञान स्वयं का या अपूर्ण अथवा ज्ञानकी प्रमाणता का निरूपण। कारकसाकल्यमें प्रमाणता की अनुप्पत्ति। प्रमाण में ज्ञानकी ही साधकता साक्षात् साधकतम में साधकप्य की प्रतिष्ठा। प्रमाण में ज्ञान की ही साक्षात् साधकतमता। उपचार साधन में साधकतमत्व की असम्भावना। ज्ञानके प्रमाणत्वका निरूपण। उपचार में स्वरूपनिबन्धता का अभाव। लिखित में प्रमाणत्वकी उपचारता। साक्षी और भुक्ति में प्रमाणत्वकी उपचारता। व्यवहित कारणोंविवक्षितकिया की असाधकतमता। कारकसाकल्य के स्वरूपनिर्माण के विकल्प।

कुछ दार्शनिक सन्निकर्ष को " इन्द्रिय और पदार्थ के भिड़ने को प्रमाण मानते हैं, उसके विषयके कुछ शीर्षक पढ़िये—सन्निकर्षके प्रामाण्यक पूर्वपक्ष। सन्निकर्ष के स्वरूपका विवरण। समवायसम्बन्ध मानने का कारण। समवायसम्बन्ध के मूल में सत्त्वभेद। सन्निकर्ष की प्रमितिक्रिया में साधकमता के समर्थनका। पक्ष। सन्निकर्ष की प्रमितिक्रिया में साधकतमता का अभाव। सन्निकर्ष होने पर प्रमाण की अनुपपत्ति। सन्निकर्ष में सम्बन्ध की प्रधानता। सन्निकर्ष के अभाव में भी प्रमाणकी उत्पत्ति। सन्निकर्ष में योग्यता की असिद्धि। सहकारी कारणों के सान्निध्यका अयोग। सन्निकर्ष सहकारी कारणों के विकल्प। सन्निकर्ष में द्रव्य की सहकारीकारणता की असिद्धि। सन्निकर्ष में सहकारीकारणरूपसे अवमत गुण के विकल्प। सन्निकर्ष में गुण की सहकारीकारणता की असिद्धि। सन्निकर्ष में कियारूप सहकारी कारणकी असिद्धि। प्रमाण का साठकतम प्रतिबन्ध का उपाय। सर्वज्ञानियों के ज्ञानावरणप्रकृति के उपाय का नियम। आदि

कुछ दार्शनिक इन्द्रिय के व्यापार को प्रमाण मानते हैं। इसके यथार्थ निर्णय के प्रवचन से सम्बन्धित कुछ शीर्षक देखिये इन्द्रियवृत्ति में प्रमाणस्वरूपका अभाव। इन्द्रियवृत्ति क असिद्धस्वरूपता। इन्द्रियका वृत्ति से सम्बन्ध के विषय में विकल्प तीन सम्बन्धों का उदाहरण इन्द्रिय की वृत्ति से सम्बन्ध की असिद्धि। इन्द्रिय का वृत्ति से सम्बन्ध के लिए प्रतिनियतविशेष का अभाव। इन्द्रियवृत्तिकी असिद्धि व ज्ञान के प्रमाणत्वकी असिद्धि व ज्ञान के प्रमाणत्वकी निर्णय। आदि

द्वितीय सूत्र में समझाया है कि ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है। अन्य कुछ कारकसाकल्य, सन्निकर्ष इन्द्रियवृत्ति आदि प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि हितप्राप्ति और अहितपरिहार करने में समर्थ ज्ञान ही है। इस सूत्र के प्रवचनों के कुछ शीर्षक देखिये—ज्ञान में, प्रामाण्यका समर्थन। प्रमाणके प्रसंग में प्राप्ति का अर्थ। ज्ञानकी हितप्राप्ति समर्थता के सम्बन्धमें एक प्रश्नोत्तर। प्रकृतज्ञानकी उसी ज्ञान में हितप्रापकता। प्रवृत्ति और प्रमाणका जुदा जुदा स्वरूप। प्रवृत्ति और नानासाधन प्रभावता और प्रमाणकी अर्थप्रदर्शकता। ज्ञानकी हितप्राप्तिसमर्थताका समर्थन। ज्ञान का सत्त्वर व समर्थ उपकार। आत्मविश्वास का अनुरोध। अर्थ प्रदर्शकत्व से ही प्रामाण्यका सम्बन्ध। ज्ञप्ति में प्रवृत्ति का अभाव।

अर्थप्रदर्शकत्व के कारण प्रमाणता। ज्ञानकी प्राप्ति में हितप्राप्ति व अहित का परिहार। प्रमाणताकी व्यवस्था। आदि

तृतीय सूत्र में बताया है कि प्रमाणभूत ज्ञान निश्चयात्मक ही होता है। इससे सम्बन्धित प्रवचनों के कुछ शीर्षक पढ़िये—स्ववसायात्मकज्ञानकी प्रमाणता का समर्थन। पर निरपेक्षज्ञानकी प्रमाणता। अव्यवसायात्मक ज्ञानकी प्रमाणताका पक्ष। निर्विकल्प ज्ञानका आलोचन। व्यवसायात्मक ज्ञानकी प्रमाणताका निर्णय। क्षणिकवाद सिद्धान्त का मूल आशय। परज्ञानापेक्षज्ञानकी अप्रमाणता। निर्विकल्प ज्ञानकी सिद्धि में परापेक्षता। निर्विकल्प ज्ञान की प्रतीतिका अभाव। दार्शनिक क्षेत्र में अलौकिक तत्व के ज्ञान का प्रयास। अव्यवसायत्मक ज्ञान के प्रमाणत्वका व्यर्थ प्रयास। निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञान में और एकत्व के अध्यवसाय का अनवकाश। निर्विकल्प ज्ञान में परमार्थता व परमाथहेतुता के कारण की खोज संतान। वस्तु में तात्त्विकता। योगपद्धता से दोनों ज्ञानों में एकत्व के भ्रम का निराकरण। लघुबृतिसे दोनों ज्ञानों में एकत्व का निराकरण। ज्ञानकी प्रमाणताका पोषण। आदि

कुछ दार्शनिक ज्ञानको परसंवेदक ही मानते हैं, उसे स्वसम्वेदक नहीं मानते। इस सम्बन्ध में 1-6 व 1-7 सूत्र में कहा है कि स्वकी उन्मुखता से स्वके प्रतिभास होने को स्वव्यसाय कहते हैं। सो स्वव्यसाय ज्ञान में है जैसे कि अर्थ की उन्मुखता से अर्थक। प्रतिभास होने से अध्र अर्थव्यवसाय ज्ञान में है। इस मीमांसासे सम्बन्धित प्रवचनों की शीर्षक पढ़िये—स्वोन्मुख से स्वव्यवसायात्मक ज्ञान की ही परव्यवसायात्मकता। ज्ञानकी स्वोन्मुखताका उदाहरण द्वारा समर्थन। स्वपर प्रकाशकता के विरुद्ध अचेतन ज्ञान का एक सिद्धान्त। अपने ज्ञानस्वरूपकी चर्चा। प्रकृति से ज्ञान की व्यक्तता का सिद्धान्त। ज्ञानकी अस्वव्यवसायसत्मकता का पूर्व पक्ष। अचेतनज्ञानवाद की अयुक्तता। पदार्थ की उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मकता से हितव्यवस्था। ज्ञानके एकत्वपरिणाम से शान्तिलाभ। ज्ञानकी अनित्यता से आत्माकी अनित्यतापर शंका समाधान। व्यक्ताव्यक्तरूप से नित्यानित्यत्वकी सिद्धि का यत्न। द्रव्यर्पायरूपता से नित्याचित्यत्वकी सिद्धि। दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानकी स्वपरप्रकाशात्मकता से सम्बन्ध कुछ विशेष रहस्य।

व्यक्तपरिणमन की व्यवस्था। सिद्धान्तों में द्रव्य गुण पर्यायात्मकताकी ज्ञांकी। वस्तुत्वकी ज्ञांकी। वस्तुत्वकी अन्तः प्रसिद्धि। प्रमाण के स्वरूप की मीमांसा। पूर्वपक्षकारों के अचेतन ज्ञानकी मीमांसा। व्यक्ताव्यक्तरूपता से नित्यानित्यात्मकता की सिद्धि। सत् में सर्वथा अपरिणामित्वका अभाव। अस्वव्यवसायी के परव्यवसायित्व का अभाव। ज्ञानकी स्वसम्बिदितता का निर्णय आदि।

कुछ दार्शनिक आत्माकी पृथक् सता नहीं मानते किन्तु पृथ्वी, जल आदि के मेल से चेतना बिजली उत्पन्न होती और पृथ्वी आदि के बिखरने से उस बिजली का अस्तित्व नहीं रहता ऐसा मानते हैं। उनकी मीमांसास सम्बन्धित शीर्षक पढ़िये—भौतिक वाद और उसकी अयुक्ता। सूक्ष्मभूत परिणमन का तर्क। चैतन्यस्वजातीय सूक्ष्म भूतपरिणमन का भाव। ज्ञानको चैतन्यविजातीय परिणमन मानने पर आपत्ति। सत्त्वकी सजातीयता से अर्थक्रिया से अनियामकता। असाधारण लक्षण से ज्ञानके आश्रयभूत आत्माकी सिद्धि। नास्तिकता का स्वरूप। आत्मा की भूतचतुष्टय से विलक्षणता का विरण। नास्तिकता में शान्ति के गुजारे का अभाव। अशान्तिकी विधि से शान्ति की अशक्यता। शान्ति की विधि से सर्वत्र शान्तिकी सम्भवता। चार्वाकका आशय। आत्मा की अहंप्रत्ययवेद्यता। आत्मा की विशुद्ध प्रत्यक्षगम्यता। आत्मा के प्रत्यक्षगम्य की पुरष्टि। शरीर की अवस्था में अहं प्रत्यय की औपचारिकता। अहंरूपसे शरीर की अप्रतीति की एक घटना। शरीर अहंप्रत्यय की मान्यता की अव्यवहारिकता। भावात्मकवृत्ति से भावात्मक पदार्थ का निर्णय। भावनुसारिणी सृष्टि। आत्मस्वभाव की दृष्टि से ही आत्मा के परखकी सम्भवता। आदि

प्रथम अध्याय के 13 वें श्लोक में बताया है कि वह प्रामाण्य स्वतः भी होता है और परतः भी होता है? इस सम्बन्ध के प्रवचनों कुछ शीर्षक पढ़िये— प्रामाण्यकी उत्पत्तिविधिकी जिज्ञासा। प्रामाण्यकी उत्पत्ति और विधि का निर्णय। अम्यासदशा में प्रामाण्यकी उत्पत्ति विधि। अनभ्यासदशा में प्रामाण्यकी उत्पत्ति और ज्ञप्ति का विश्लेषण। सर्वथा स्वतः प्रामाण्य मानने वालों के प्रति विकल्प। स्वतः प्रामाण्यके पक्षका प्रतिविधान। स्वतः व परतः प्रामाण्यकी विवेक। स्वयः परतः प्रामाण्यक एक लौकिक उदाहरण। ज्ञानमात्र से प्रामाण्यकी असिद्धि। विज्ञानमात्र

से प्रामाण्यका अनिर्णय। स्वतः व परत प्रामाण्यका अनुविधान। गुण का अभाव होने से प्रामाण्यका परतः सिद्ध न होने का पक्ष। पूर्वपक्षकार गुणों की प्रत्यक्ष से असिद्धि का कथन। पूर्वपक्षकार द्वारा गुणों की प्रत्यक्ष से असिद्धि का कथन। पूर्वपक्षकार द्वारा गुणों की अनुमान से असिद्धि का कथन। गुण के अभाव की मान्यता के आधार की कल्पना। प्रत्यक्ष अनुमान दोनों प्रमाणों से गुणों के अभाव के समर्थन का पक्ष। गुणों के अभाव के पक्ष का विश्लेषण। गुण और दोषों की वस्तुगतता। पूर्वपक्ष में दोष के अभाव को गुण कहने की पम्परा। गुण के आवककी सिद्धिका प्रयास। गुण के प्रतिशोध से दोष का भी प्रतिशोध। इन्द्रियों में गुण के अभाव की मान्यता पर प्रश्न। इन्द्रियों में गुण और दोष की सिद्धि। गुणसिद्धि के प्रसंग में विविध प्रश्नोत्तर। आदि

कुछ दार्शनिक मानते हैं कि ज्ञान बाह्य पदार्थ व प्रकाश से उत्पन्न होता है। उनका समाधान करने के लिए 2-8, 2-9, व 2-10 सूत्र में कहा है कि पदाथ्र व आलोक से उत्पन्न न होकर भी ज्ञान उन सबका प्रकाशक है प्रदीप की तरह। इस सम्बन्ध में प्रवचन हुए उनके कुछ शीर्षक पढ़िये—पदार्थ और प्रकाश से ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर भी ज्ञान की अर्थालोकप्रकाशकता। अतज्जन्य होने पर भी तत्प्रकाशकता होने में प्रदीप का दृष्टान्त। प्रकाश्य प्रकाशक सम्बन्ध में प्रकाशकजन मानने पर प्रकाश को प्रकाशयजन मानने का प्रसंग। स्वकारण निस्पन्न पदार्थों में सम्बंधवश भी परस्पर कार्य कारणता की असंभावना। प्रतिसिद्ध तत्वके अपलाप में विडम्बना। ज्ञान को अर्थ से अजन्य मानने पर प्रतिनियत ज्ञानकी व्यवथा में शंका। स्वावरणक्षयोपशरूप योग्यता से प्रतिनियत अर्थज्ञानकी व्यवस्था। दीवकवत् प्रकाश्य से अजनय होकर ज्ञानप्रकाश की वृत्ति। कारण की परिच्छेद्यता अनियम। प्रमाणविवरण में स्वरूप उत्पत्ति आदि का विचार। कारणकी परिच्छेद्यताकी असिद्धि होने से ज्ञानकी अर्थजन्यताका निराकरण। आदि।

कुछ दार्शनिक सर्वज्ञ को नहीं मानते, उनकी शंका बताकर उनके समाधान के बहुत अधिक विस्त्रित प्रवचन है। उनमें के कुछ शीर्षक देखिये—सर्वज्ञ के अभावकी आशंका। प्रत्यक्ष से सर्वज्ञकी असिद्धि। अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की असिद्धि। सर्वज्ञस्व साध्यका

हेतुके साथ सम्बंधका प्रत्यक्ष से अनिर्णय। सर्वज्ञत्वसाध्यका हेतु के साथ सम्बंध का अनुमान से अनिर्णय। सर्वत्वसाध्य के साधन में दोषत्रय। अनुमाण प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि। आत्मा में समस्त पदार्थों का अवगम करने के स्वभावकी सिद्धि। अनुमान रमाण से ज्ञान में अशेषार्थ ग्रहण स्वभावकी सिद्धि। ज्ञानमें सक्लार्थ ग्रहण स्वभावकी झांकी। सर्वज्ञत्व साध्यका हेतु के साथ सम्बंध का तर्क से निर्णय। सर्वज्ञत्व साध्य में अन्य अनुमानवत् धर्मकी सिद्धि। अविशेष या विशेषरूपसे सर्वात्व सिद्ध करने की आशंका। अविशेष रूपसे सर्वज्ञत्व सिद्ध करके विशेष रूपसे सिद्ध करने की पद्धति। विशेषरूपसे सर्वज्ञत्वकी सिद्धि। अविशेष या विशेषरूपसे सर्वज्ञत्वप्रतिषेध की असंगति। विशेष रूपसे सर्वज्ञत्वका परिचय। आदि

कुछ दार्शनिक सकल परमात्माको भोजन करने वाला कहते हैं, किन्तु सकल परमात्मा अनन्त ज्ञान, आन्त आनन्द व अनन्त शक्ति से सम्पन्न है। उसके भोजनका कोई प्रसंग नहीं, इस प्रकरण से सम्बंधित कुछ शीर्षक पढ़िये—वीतरागतान्यथानुपपत्तिसे सकल परमात्मा के कबलाहारका अभाव। वीतरागता के स्मरणसे भक्तका लाभ। जीवनकी एकमात्र समस्या। प्रभुताके कारण प्रभुमें अनेक अतिशय। सदेह प्रभु में आहार मात्र की अप्रतिषिद्धता। षड्विध आहार का वर्णन। अनाहारका अवस्था। विग्रह गति में अनाहारक अवस्थाका तीन समय से अधिक का अनवसर। नोकर्माहार से प्रभुदेह की स्थिति। साधारणजनों के देह से प्रभुदेहकी तुलना की उपहासता। भगवानके स्वाधीन आनन्द के स्मरण का सत्य आनन्द। अप्लज्जों की तुलना करके प्रभु के कबलाहार माने पर इन्द्रियज ज्ञानका भी प्रसंग होने से प्रभुताके भी अभावका प्रसंग। प्रभु में यहां की तुलना और स्वेच्छामिमत् में अनेक अनिय प्रसंग। अल्पज्ञ देहस्थिति के प्रकार का प्रभुदेहस्थिति में अभाव। अल्पज्ञों से प्रभु की विनक्षणता एवं परमोपेक्षा। ज्ञानधन आत्माकी परमशान्तरूपता। छदमस्थ देह से प्रभुदेहकी विलक्षणताका संक्षिप्त विश्लेषण। प्रभु के अन्य अतिशय की भांति भुक्त्यभाव में भी देहस्थिति का अतिशय। देहस्थिति के विभिन्न आधार। केवलज्ञान होने पर देह की दर्शनीयताका नियत अतिशय। आदि

कुछ दार्शनिक सिर्फ प्रत्यक्ष कोई प्रत्यक्ष अनुमान व कोई कुछ और मानते हैं उन सबके समाधान तृतीय परिच्छेद में है। उनके विस्त्रित विवेचन हैं। उनमें से स्मृति प्रमाण विषयक कुछ शीर्षक यहां उद्धृत किये जाते हैं—परोक्षज्ञानका स्वरूप। परोक्षज्ञान के भेद। स्मरण ज्ञानका निमित्त और स्वरूप। स्मृति ज्ञानकी तच्छब्दमुद्रतता। स्मृतिज्ञानकी प्रमाणभूतता। क्षणिकवादी द्वारा स्मरणज्ञान के निराकरणमें स्मृतिशब्दवाक्य अर्थ के प्रथम विकल्पका निराकरण। स्मरणशब्दवाक्य अनुभूतार्थविषयविज्ञारूप द्वितीयविकल्पमें अनुभविज्ञानता के विकल्प के स्मृतिविज्ञानता के विकल्प का शंकाकार द्वारा निराकरण। स्मरणज्ञानके निराकरणका निराकरण। आत्मामें नाना ज्ञेयाकारों का अवरोध। स्मृति ज्ञानमें गृहीतागृहित्व दोष का अभाव। क्षणिकवाद में विशदज्ञानकी अप्रमाणता। स्मृतिज्ञान में गृहीतग्राहित्व दोषका अभाव। अस्त अतीत अर्थ में प्रवर्तन मान होने से स्मृतिज्ञान की अप्रमाणता। स्मृतिज्ञान में प्रत्यक्षको अर्थजन्यता कहकर प्रमाणसिद्ध करने का व्यर्थप्रयास। अविसम्बादत्व होने से स्मृतिज्ञानकी प्रमाणरूपता। स्मरणको विसम्बादी मानने पर अनुमान की प्रवृत्ति का अभाव। स्मृतिज्ञानकी अप्रमाणताके कारणों के पृष्टव्य तीन विकल्प और प्रथम विकल्प का निराकरण। स्मृतिकी अप्रमाणता में पृष्ट कल्पित विषयरूप द्वितीय विकल्प का निराकरण। स्मृति की अप्रमाताके कारण में पृष्टव्य सम्बंध की विवेचनाशक्यतारूप तृतीय विकल्प का निराकरण। स्मृति की अप्रमाणता के कारण में पृष्टव्य सम्बंधकी विवेचनाशक्यतारूप तृतीय विकल्पका निराकरण लिंगलिंगिकी सम्बंधकी अनुमानप्रवृत्ति—हेतुभूतता में तीन विकल्प और उनमें से तद्दर्शनरूप विकल्प का निराकरण। लिंगलिंगी सम्बंध की अनुमान—प्रवृत्तिहेतुभूतता में दिये गये शेष विकल्पों का निराकरण। समारोपव्यवच्छेदक होने से स्मृतिज्ञानकी प्रमाणरूपता । आदि

कोई दार्शनिक वस्तुको सामान्यमात्र कोई विशेषमात्र व कोई निरेपेक्ष सामान्यविशेषरूप मानते हैं। उनको चौथे परिच्छेदमें प्रत्येक वस्तुको सामान्यविशेषत्मक सिद्ध करते हुए समाधान दिया है, उससे सम्बन्धित प्रवचनों से कु शीर्षक पढ़िये।

प्रमाण के विषय की जिज्ञासा। सामान्यविशेषात्मक पदार्थ की सामान्यविशेषरूपता। सामान्यविशेषात्मकपदार्थ के ही प्रमाणविषयत्व होने का कारण। सामान्यविशेषात्मक पदार्थ के प्रमाणविषयत्व जानने का स्वयं के लिए स्वयं पर प्रभावित परिणाम। सामान्य के प्रकार। तिर्यक सामान्य का स्वरूप। अनुगताकार प्रतिभासका निर्विकल्प समाधि के लिए पूर्ववर्ती सहयोग। बुद्धिभेद से सामान्यविशेषकत्वकी सिद्धि। एकेन्द्रियगम्य तथा एक पदार्थ में प्रतिभासाभेद की सिद्धि। व्यवहार में भी एक ही वस्तु में सामान्यविशेष का प्रतिभास। सामान्य विशेष दोनों के प्रतिभास के सम्बंध में प्रश्न और उत्तर। दूरनिकटदेशसामग्रीकी सामान्यविशेषात्मक पदार्थ के स्पष्टास्पष्ट प्रतिभास में हेतुरूपता। व्यावृत्तकार पदार्थ के ही प्रमाण विषयत्वका निष्कर्ष। अतत्कार्यकारणव्यावृत्ति से एकत्व प्रत्यय होने का शंकाकार द्वारा वर्णन। दृष्टान्त पूर्वक अनेक कारणों में एकत्व प्रतिभासका शंकाकार द्वारा विवेचन। अतत्कार्यकरणव्यावृत्ति से एकत्वप्रत्यय मानने की शंका का समाधान। अतत्कार्यकारणव्यावृत्ति से प्रवृत्ति के अभाव का प्रसंग। शंकाकार द्वारा किये गये दृष्टान्त में अनेक कारणों में सर्वथा भिन्नता का अभाव। समान परिमाण न मानने पर प्रतिनियत इन्द्रियज्ञानकी अव्यवस्था। व्यावृत्तकार प्रत्ययकी तरह अनुगताकार प्रत्यय में वास्तविक आलम्बनरूपता। आदि

कुछ दार्शनिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, व अभाव ये साथ पदार्थ मानते हैं । वस्तुतः पदार्थों की जातियां 6 हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल। जीव अनन्तानन्त हैं, पुद्गल अनन्तानन्त हैं, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक हैं, आकाशद्रव्य एक है, काल द्रव्य असंख्यात हैं, प्रत्येक पदार्थ द्रव्यकमगुणकर्मसामान्यविशेषात्मक हैं, अधर्मद्रव्य एक है। समवायकी जरूरत ही क्या, अभाव कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं, वह परभावत्मक है। इस सम्बंध में बहुत विस्त्रित प्रवचन है। उनमें से समवाय नामक पदार्थ के निराकरण विषयक प्रवचनों के कुछ शीर्षक देखियें—

समवाय नामक पदार्थ की मीमांसाका स्थल। समवाय नामक पदार्थ की अप्रतीति। शंकाकार द्वारा समवाय नामक पदार्थ के स्वयंपका निर्देशन। समवाय स्वरूपोक्त सम्बंध शब्द की सार्थकता का

प्रदर्शन। समवायस्वरूपोक्त आध्याधारभूत शब्द की सार्थकता का प्रदर्शन। समवायस्वरूपोक्त अयुतसिद्ध शब्द की सार्थकताका प्रदर्शन। समवाय स्वरूपोक्त अयुतसिद्ध शब्द की शंकाकार द्वारा व्याख्या। समवायस्वरूपोक्त अयुतसिद्ध शब्द के अर्थ के अनिर्णय से समवायस्वरूपकीय सिद्धि। प्रथमाश्रयाश्रयित्व के निरूपरण से तंतु पट में समवाय की असिद्धि के निराकरण का शंकाकारक प्रयास। प्रथमाश्रयाश्रयित्व से युतसिद्ध कहने पर आकाश आदिक में युतसिद्धत्व सिद्ध करने के अनवकाश का प्रसंग। नित्यपदार्थों में पृथग्गतिमत्वकी असिद्धि होने से युतसिद्धि की असिद्धि:। समवाय पदार्थवादियों के गुण कर्म सामान्यादि में परस्पर समवाय हो जाने का प्रसंग। सविशेषण भीसमवाय के लक्षण में व्यभिचारनिवृत्तिकीशंका व उसका समाधान। शंकाकार द्वारा समवायके लक्षण के दोनों विशेषणों के अवधारणकी सार्थकताका प्रतिपादन। समवायके लक्षण में दोनों विशेषण के देने पर भी अनेकांतिक दोष का अनिवारण। समवायके लक्षण को भेदक लक्षण कहकर शंकाकार दोष से बचाव। तादात्म्यसंबंधातिरिक्त स्वरूप सम्बंधकी अनुपपत्ति। समवायकी प्रत्यक्षसे सिद्धिका पूर्वपक्ष और उसका निराकरण। सामान्यात्मकत्व व सम्बंधमात्रत्वमें समवायस्वरूपकी असिद्धि। आदि।

षचम परिच्छेद में प्रमाण के फल के सम्बंध में निर्णय किया है – प्रमाण के फल चार हैं— अज्ञाननिवृत्ति, त्याग, ग्रहण और उपेक्षा। इन फलों के सम्बंध में कोई दार्शनिक कहते हैं कि प्रमाण के फल प्रमाण से भिन्न हैं इस सम्बंध में हुए प्रवचनों के कुछ शीर्षक देखिये— प्रमाणफल में अज्ञाननिवृत्तिकी शंका और उसका समाधान। दृष्टान्त पूर्वक अज्ञाननिवृत्ति में प्रमाणकार्यत्वकी सिद्धि। धर्म धर्मी में सर्वथा भेद व अभेद का प्रतिषेध। भेद होने पर सामर्थ्यसिद्धित्वकी सिद्धि। प्रमाण से अभिन्न होने पर भी अज्ञाननिवृत्ति व प्रमाण में कार्य कारणभाव का अविरोध। परिच्छित्ति में साधकतम और परिच्छित्ति में अभेद होने पर भी कार्यकारणभावका अविरोध। प्रमाण और हानादिक में व्यवधान होने से प्रमाण से हानादिफलकी भिन्नता का अभाव। आदि

परीक्षामुख ग्रन्थ मं प्रमाणका विस्त्रित वर्णन किया गया है, इसके बाद प्रमाणाभासों का भी वर्णन है। इसके सम्बंध में जो प्रवचन

हुए उनके कुछ शीर्षक देखिये—आभासों का निर्दोष। प्रमाणभासों का निर्देश। प्रमाणभासादिकोका आभासत्व बताने का कारण। प्रमाणभासों के दृष्टान्त। सन्निकर्षकी प्रमाणभासताका दृष्टान्त। प्रत्यक्षाभासका वर्णन। परोक्षाभास का वर्णन। स्मरणभासका वर्णन। एकत्वप्रत्यभिज्ञानाभासका वर्णन। तर्काभासका वर्णन। अनुमानाभासका वर्णन। पक्षाभासका निर्दोष। अनिष्ट नामक पक्षाभास। आदि

इस ग्रन्थ में प्रमाण और प्रमाणाभास के वर्णन के बाद जय पराजय की व्यवस्था भी बताई गई है। इस सम्बंध में जो प्रवचन हुए उनके कुछ शीर्षक देखिये—प्रमाण और प्रमाणाभास के स्वरूप के परिज्ञानका सार्वजनिक प्रयोजन। बाद में दूषण और भूषणका रूप। चपुरंगवाद और उसमें जय पराजयकी व्यवस्था। बाद में जय पराजयकी व्यवस्था। बाद में जयपराजयव्यवस्थानिबंधत्व का शंकाकार द्वारा प्रतिषेधवाद में विजिगीषुके अविषयत्वका और जल्प वितंडा में विजिगीषु के विषयत्वका शंकाकार द्वारा प्रतिपादन। जल्पवितंडा से जय परजय करने की आशंकाका समाधान। आदि

80 अनुप्रेक्षाप्रवचन भीर्श

पूज्य श्री कार्तिकेयस्वामी द्वारा विरचित स्वार्भिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने प्रवचन किये हैं और उन प्रवचनों के स्थलवार शीर्षक लिखे हैं। इन प्रवचनों में 12 भावनाओं का वर्णन है। और लोक भावना में लोक परिचय कराने के भावसे नाना विषयों का वर्णन है उन शीर्षकों में से कुछ शीर्षक पाठकों के मनन के अर्थ उद्धृत किये जा रहे हैं। प्रथम अधुव भावना के प्रवचन के शीर्ष पढ़िये—

अधुव भावनाका वर्णन। मोही का विपरीत अध्यवसाय। वस्तुका अन्तः बाह्य स्वरूप। जन्मकी मरणसहितता। लक्ष्मी की क्षणभंगुरता। जन्म, जवानी, लक्ष्मीका सांसारिक सुखों की विपतिरूपता। पुत्र कलत्र व स्वजन ककी अस्थिरता। लावण्य गृह गोधन आदि की अस्थिरता। भिन्न व अधुव पदार्थों के व्यामोह में आत्मा की बरबादी। समागमों की इन्द्रधनुषतवत चपलता। स्पर्शनेन्द्रिय विषयकी भंगुरता। रसनेन्द्रिय विषयकी भंगुरता। घ्राण, चक्षु, व कर्ण इन्द्रिय के विषय की भंगुरता।

सेवकादि सभी पथिक जनों की तरह बन्धुजनों के समागम की क्षणिकता। प्रेमदर्शनकों की भंगुरता। अतिलालित देह का भी क्षणमात्र में विघटन। वर्तमान दुर्लभ अवसर न खो देने के लिए चिन्तन। लक्ष्मी के किसी के पास बंधकर रहने की अशक्यता। लक्ष्मी के वियोगकी अवश्यंभाविता। कुलीन व धीर में भी लक्ष्मी के रमने का निषेध। आदि।

अशरण भावनाके प्रवचन के कुछ शीर्षक के कुछ शीर्षक—भवमें परकी शरण्यता का अभाव। दुर्लभ तरण साधन पाकर उससे लाभ न उठाने का भयंकर अज्ञान। इस भव मे हरिहर की भी कालकंवलितता। ब्रह्मादिकी कालकविलितता। अशरण मानवका भ्रन्ति में व्यर्थश्रम। मृत्युगृहीत प्राणी की रक्षाकी अमुपायता। ज्ञानकी जागृति में ही यथार्थ जीवनता। जीव का अपने अपने विभाव में राग। ज्ञानकी जागृति में ही स्वयं की स्वयं में शरणरूपता। मनुष्यों का व्यर्थ अनर्थ शरणभ्रम। सुरक्षा के लिए मृत्युंजय और तन्त्रका अनवेषण। मृत्यु से बचाव करने के लिए देवी देवताओं की व्यर्थ और भ्रान्त मान्यता। आदि।

संसारभावना के प्रवचन के कुछ शीर्षक—मिथ्यात्वकषायसंयुक्त जीवका संसार में संसरण। संसारकी दुःखरूपता और चेतन की विडम्बना। मिथ्यात्वके अध्यवसायमें कष्टकी वीजरूपता। भेदविज्ञानामृतपानके बिना मिथ्यात्वविषकी अपरिहार्यता। मिथ्यात्व ओर कषायभावमें दुःखों का संयोजन। पापोदय से नरकगति में देही का जन्म। परकगति में जन्म लेने के बीजभूत पापों का संक्षिप्त निर्देशन। नरकों में असुरोदीरित दुःख। नरकों में अन्य चार—प्रकार के दुःख। असुराबीरित दुःख के सम्बंध में कुछ ज्ञातव्य। दुःख का वेदन करने कराने में उपयोगिता अशुभ विक्रिया। नकरों में दुःख के अन्य साधन। आदि।

एकत्वभावनाके प्रवचन के कुछ शीर्षक—अपने एकतववसरूपको जानने में जीव का श्रेयोलाभ। अपने रचनाओं का मूल हेतु। विविध विचित्र रचनाओं के आधारका रहस्य। वस्तुस्वरूप ही नहीं कि परसे कुछ मिले। समता की परीक्षा के लिए अनुकूल घटनाओं का आगमन।

जीवका अंतः बाह्य सर्वत्र अकेलापन। जन्मसंकट से मुक्ति पाने का लक्ष्य बनने का अनुरोध। सहज एकत्वभावना की साधना के साधन का महोपकार। आत्मकत्वस्वभाव के निरखनेपर विकल्पविपदाओं का विनाश। रोग शोक आदि में सर्वत्र जीव का अकेलापन। संतापमरण आदि में किसी की सहयोगिता का आभाव। आदि

आत्मभावना प्रवचन के कुछ शीर्षक—देह की अन्यता और देह की अनन्यताके भ्रम का कारण। जीव पर लदे हुए भार की दृष्टि से जीव के यहां अकेलेपन का आभाव। देहदेवालय से भिन्न आत्मदेवक की वार्ता। यथोचित् रागव्यवहार करते हुए भी निर्मोहताका एक दृष्टान्त। रागव्यवहार होकर भी निर्मोह रहने में गृहस्थ का निर्वाह। रागव्यवहार होने पर भी निर्मोहता का एक दृष्टान्त। रागव्यवहार होकर भी निर्मोह गृहस्थ की वृत्ति। अपने को परसे भिन्न जानकर अपने सहजस्वरूपमें अपनेकी शिक्षा। समस्त परपदार्थों की भिन्न जानने का प्रतिबोधन। अन्यत्वकी बात जानते हुए भी मोही के ममत्वत्याग के भाव का अभाव। अन्यत्वभावना भाने का प्रयोजन बताने के प्रसंग में संसार और एकत्व भावना भाने के प्रयोजनका उदाहरण। अन्यत्वभावना भाने का प्रयोजन। इन्द्रियों से ज्ञान और सुख मिलने का भ्रम होने का कारण। आदि

अशुचिभावना के प्रवचन के कुछ शीर्षक—देह की अशुचिमयता। इस शरीर की उत्पत्ति वृद्धि की स्थिति में भी अशुचिता की प्रसिद्धि। शरीर में पाई जाने वाली रचनाओं की अशुचियता। मोह की सर्वाधिक अशुचिता। देह के सम्बन्ध में पावन सुगन्ध मनोहर पदार्थों की भी अशुचिता। भेदविज्ञानका प्रारम्भ और प्रकर्षपना। मोह में आत्मा और पुद्गलके अनमेल मेल का प्रयास। देहानुराग के साधनों की असारता। त्रिविध भौगसाधक। शान्ति और संकट पाने के उपाय का मर्म। नरदेहरचना के प्रयोजन की कल्पना। असार अशुचि—भिन्न विनाशीक देह में अज्ञान से जबरदस्तीका मोह। आदि

आश्रव भावना के प्रवचन के कुछ शीर्षक—ज्ञानानन्दस्वभावी जीव की विडम्बनाका कारण। जीवस्वरूप जीवविडम्बना हेतु की परख। जीवविडम्बना हेतुभूत उपाधिके विशेषस्वरूपका निर्णय। मनोयोग,

वचनयोग व काययोग से कर्मों का आश्रवण। आलौकिक स्वाधीन सहज आनन्द के दिग्दर्शन हुए बिना मोही अहित की विषयों में आसक्ति। अविरतसम्यक्त्व नामक चतुर्थगुणस्थानकी तृतीया द्वितीय तृतीय गुणस्थान की उत्पत्ती। पंचम गुणस्थान से तेहरवें गुणस्थान तक का संक्षिप्त विवरण व उनमें योगनिमित्तक आस्रवका कथन। आदि

संवरभावना के प्रवचनके कुछ शीर्षक—मोक्षमार्ग में मूलमार्ग में मूलभूत संगरतत्वकी अनुप्रेक्षा। संवर भावों में मूलभूत सम्यक्त्वभावका निर्देश। सम्यग्दृष्टि के अविरत अवस्था में 41 प्रकृतियों का संवर। सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्वहेतुक सोलह प्रकृतियों का संगर। ज्ञानीजीवके अनन्तानुबन्धीहेतुक 25 प्रकृतियों का संवर। सम्यक्त्वोत्पत्ति के योग्य संक्षिप्त ज्ञानविवरण। देह से भिन्न अमूर्त ज्ञानमात्र अंतस्तत्व के आलम्बन में सम्यक्त्व की उत्पत्ति। सम्यक्त्व नामर सबर भाव के लाभ के अनन्तर होने वाले अन्य महान संवरभाव। आदि

निर्जराभावना के प्रवचन के कुछ शीर्षक—ज्ञानी आत्मा में मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत निर्जराकी पात्रता। निरहंकार ज्ञानी जीव में मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत निर्जराकी पात्रता। निदानरहित ज्ञानी आत्मा में मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत निर्जराकी पात्रता। मोक्षमार्ग का प्रयोजनभूत निर्जराका कारण वैराग्यभावका अनुभव। निर्जराका उपायभूत प्रयाश्चित तप। निर्जराका उपायभूत वैयावृत्य और स्वाध्याय तप। आदि

लोकभावना के प्रवचन के कुछ शीर्षक—लोकानुप्रेक्षा में सर्वप्रथम लोक के स्थान का निर्देश। लोकका वैज्ञानिक युक्ति से लोक की अनादिनिधनता। आदि

78. आप्तमीमांसा प्रवचनशीर्ष

पूज्य श्री स्वामी समन्तभद्रा वार्य ने अपने द्वारा नमस्कार किकए जाने के योग्य आप्त की मीमांसा इस ग्रन्थ में की है। याह भी प्रसिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र की गन्धहस्तिमहाभाष्य नाम की टीका श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य ने की है, उसके मंगलाचरण के विवरणमें यह आप्तमीमांसा है। इसमें श्री मद्भट्टाकलकंदेवने अष्टसती टीका की और अष्टसती के वाक्यों को अपनी टीका के बीच बीच समन्वित कर

कर पूज्य श्री मद्-विद्यानन्दि स्वामीजीने अष्टसहस्री टीका की। अष्ट सहस्री टीका की इस पद्धति को देखकर विद्वज्जन समझ सकते हैं कि यह कितनी महिति प्रतिभाका कार्य है। इस समस्त ग्रन्थ व टीका पर पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराजने प्रवचन किये है। और उन प्रवचनों के शीर्षक लिखे हैं। प्रथम द्वितीय कारिक में यह कहा गया है कि प्रभु के पास देव आते हैं या वे आकाश में चलते हैं या उनके पास चामरादिवभूति है इस कारण प्रभु महान् नहीं हैं, क्योंकि ये बातें कभी मायावी में भी सम्भव हो सकती हैं। प्रभु के उत्तम देह है इस कारण भी प्रभु महान नहीं है, क्योंकि दिव्यदेह तो रागदिमान देवताओं के भी हैं। इससे सम्बन्धित प्रवचनों के शीर्षक देखिए—

निश्रेयस शास्त्र के अवतरण में आत्ममीमांसाकी भूमिका। आप्तगुणज्ञसमन्तभद्रका संप्रयोजन आप्तमहत्व के निरीक्षणका प्रयास। देवागम आदि हेतु की प्रभु महता सिद्ध करने में विपक्ष वृत्तितता। मायावियों में वास्तविक विभूति न होने के कारण मायावियों के साथ व्यभिचार के अभावकी शंका। उक्त हेतु के अव्यभिचरित होने की उक्त आशंका का समर्थन। देवागमादि मायावियों में अव्यभिचरित होने का अनिणोयरूप हो —समाधान देते हुए प्रकृत बात की सिद्धि। विग्रहादिमोदय से शरीर विशयादिसे भी प्रभुता, महत्ता न होने का निरूपण। प्रभुके महत्वकी सिद्धिमें विग्रहादिमहोदय हेतु के अव्यभिचरित होने की शंका। आगमाश्रित हेतुकी दार्शनिक क्षेत्र में अप्रतिष्ठा होने से हेतु के अव्यभिचरित होने का समाधान। प्रमाण सम्प्लवका आधार बताकर आगमाश्रित हेतु में हेस्तत्व के समर्थनकी आशंका। उपयोग विशेषके अभाव में प्रमाण सम्प्लवकी अमान्यताका समाधान। आदि

मानो भगवान के प्रश्न किया कि हमने तीर्थ चलाया है इससे हम महान हैं तो इसके समाधान में आचार्य देव कहते हैं कि तीर्थ तो अनेकोंने चलाये और उनके कथनमें स्वयं में परस्पर विरोध है सो सबके नियोग होने से नियोगार्थकी अनुष्टेयताका आक्षेप व समाधान। अनुष्टेयता के विकल्पों से विधिवाद वाद में आक्षेप व समाधान। नियोग प्रतीतिके अप्रमाणत्वका आक्षेप व समाधान। विधिवाद में विषयकी अपूर्वाथेता न रहने से प्रमाणत्वकी असिद्धि का कथन। गौणरूपता या

प्रधानरूपता के विषय करने के विकल्पों में विधिविषयत्वका निराकरण। नियोग और भावना के असद्विषयत्वके अभावकी व विधिके सत्यत्व असत्यत्व। वाक्यमें नियोगार्थ की ध्वनि होने से स्वरूपमात्र के वाक्याश्रितत्वका निराकरण। का समर्थन। वाक्यमें नियोगार्थकी ध्वनि होने से स्वरूपमात्र के वाक्यार्थत्वका निराकरण शब्द का अन्य व्ययच्छेदार्थ न मानने पर अर्थप्रवृत्तिका अभाव। विधिकी परपरिहारसहित माननेपर शब्दार्थ मानने पर नियोगभावना में दोनों में नियोग अर्थ की प्रधानता होने से नियोग के वाच्यार्थत्वकी सिद्धि। नियोग में स्वपराभिप्रायवश प्रधानत्व अप्रधानत्व होने से विधिकी भी असिद्धता। विधिके प्रधान अर्थ मानकर विधि को शब्दार्थ सिद्ध करने के प्रयास में भावना नियोग व अन्यापोह में भी प्रधानत्व होने से वाक्यार्थकी की सिद्धि प्रसंग। परिहार्थको न जानकर क्रम से परपरिहार की असक्यता बताकर विधिवादी द्वारा अन्यापोह के शब्दार्थत्व के निराकरणका प्रयास। युगपत परपरिहारकी मान्यामें दोष बताते हुए विविधवादी द्वारा अन्यापोह के शब्दार्थत्वका निराकरण। विविधवादी के परपरिहारार्थ निराकरण का निराकरण। अनिष्ट प्रतिषोधकी, अन्यापाह की प्रत्याक्षप्रमाण से ही सिद्धि हो जाने का कथन। आदि

तीसरी कारिका के अन्तिम प्रवचन में सर्वज्ञसिद्धि की भी कुछ चर्चाकी गई है उन प्रवचनों के कुछ शीर्षक पढ़िये—

सर्वज्ञ की सत्ता के साधक प्रमाण के निश्चय का और बाधकप्रमाण के न होने का दृढतम निर्णय। आत्मा में ज्ञानस्वभावताकी सिद्धि और अज्ञत्वस्वभावका प्रतिशोध। सहजज्ञानस्वभावी होने से आत्मा में ज्ञानस्वभावता और किसी परमपुरुषकी सर्वज्ञताकी सिद्धि। ज्ञानस्वभाव आत्मा के अज्ञान होने का कारण। जीव विभाव और कर्मका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध। उपाधि औपाधिक भाव। ज्ञानावरणकर्म का अभाव। योग्यता के ही ज्ञानकारणना। सर्वज्ञज्ञानकी अज्ञानपेक्षता। अवधिज्ञानी व मनःपर्ययज्ञानी की अज्ञानपेक्षताका कारण। सर्वतोविरतव्यामोहत्व व सर्वदसित्वहेतुकी निर्दोषताका वर्णन। अस्मदादि प्रत्यक्षसे विलक्षण सर्वज्ञ प्रत्यक्षकी अक्षानपेक्षा।

चौथी कारिका में यह सिद्ध किया है कि कोई महान आत्मा ऐसा हो सकता है जिसमें रागदि दोष तगि अज्ञान रंच भी नहीं रहता। इसके प्रवचनके कुछ शीर्षक पढिये—

दोषों और आवरणों की पूर्ण हानि सिद्ध करने वाले अनुमान प्रयोग में धर्मित्वकी प्रसिद्धि का कथन। और आवरणों की हानिकी निःशेषताकी साधना। दोष और आवरण दोनों की भिन्नस्वभावता का वर्णन। रागादिक दोष की केवल स्वपरिणमहेतुकताकी असिद्धि। अज्ञानादि दोष में केवल पग्णिमहेतुकता का अभाव। दृष्टान्त व विरणसहित उपादान, निमित्त निमित्तनैमित्तिक भाव व स्वातन्त्र्यका दिग्दर्शन। परस्पर कार्यकारण भावकी प्रसिद्धि के लिए दोष और आवरण दोनों की निःशेष हानिरूप साध्य का कथन। आवरणकी कारणरूपता व दोषकी कार्यरूपताका वर्णन। दोषकी कारणरूपता व आवरणकी कार्यरूपताका दोष और आवरण में परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव युक्ति द्वारा समर्थन। पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मकी संसारहेतुताकी सिद्धि। आदि

कुछ दार्शनिक भावैकान्तका दर्शन मानते हैं, इस एकान्त पक्षकी मीमांसा से सम्बन्धित नवमी कारिका के प्रवचनों के कुछ शीर्षक देखिये—

भावैकान्त मानने में अभावकी अमान्यता होने के कारण विडम्बनाका प्रतिपादन। अभाव के भेद और अभावका अपन्हव करने से होने वाली विडम्बना की सूचना। भावेकान्तबाद में श्तरेतभाव का अपन्हव होने वाली विडम्बना निर्देश। भार्वकान्तवाद में प्रागभावका अपन्हव होने से होने वाली विडम्बना निर्देश। भावेकान्तवाद में प्रध्वसाभावका अपन्हव होने से होने वाली विडम्बना निर्देश। अत्यत्ताभाव न मानने से होने वाली विडम्बनाका निर्देश स्याद्वादशासन से बहिर्भूत भावैकान्तवादमें विडम्बनाको आपत्ति। व्यक्त व अवयक्त व पुरुषके स्वरूपके वर्णन से ही चारों अभावों का अम्ययगम बताकर भावैकान्तवादियों द्वारा आक्षेपनिराकरणका प्रयास। वसतुमें किसी भी प्रकार अभाव तत्व मान लेने पर वस्तु के भावात्मकपनेकी सिद्धि। सर्वव्यक्तपदार्थोंको एकात्मक माननेकी हठ में प्रकृति व पुरुष तत्व का

लोप होकर एक तवाद्वैतमात्र की मान्यता बना सकनेका प्रसंग। सत्ताद्वैतवादीका मंतव्य ओर उसकी मीमांसा। ब्रह्मद्वैतवादी और ब्रह्मद्वैतवादी में अभेदसाधनके लिए आक्षेयसमाधान। प्रतिभासभेदके अन्तर से ही प्रतिभासताका ज्ञान। चित्राद्वैतवादियों द्वारा सत्ताद्वैतमें दिये गये प्रतिभासभेदासिद्धके आक्षेपपर सत्ताद्वैतवादियों का तुलनात्मक समाधान। आदि

कुछ दार्शनिक कहते हैं कि तत्व तो अभाव ही है, शून्य ही है। सो 12 वीं कारिका में अभवैकान्तका आग्रह करने वालों की मीमांसाकी गई है। उन प्रवचनों के कुछ शीर्षक देखिये—

अभावैकान्त मानने पर स्वेष्ट तत्वकी सिद्धि की निरूपयता। अभावैकान्त में स्वपृष्ट साधन व परपक्षदृषणकी अशक्यता। शून्यवादके मंतव्य में विडम्बना का वर्णन। अभावैकान्तपक्षमें विज्ञानाद्वैतकी असिद्धि। शून्यवादकी अन्तः स्वीकारता न होने पर भी शून्यवादकी व्यर्थ पुकार। कल्पना से सद्वादकी हेयता व शून्यवादकी उपादेयता मानने का व्यर्थ व्यामोह। कल्पना है इसके अर्थ रूप चार विकल्पों में सयाद्वादकु अनुसरणकी झलकका विवरण। विचारानुपपत्तिरूप संवृत्तिनक्षणकी अयुक्ता होन से शून्यवादकी असगतता। अभावैकान्तपक्षी शून्यवादियों के सिद्धान्तमें माया, स्पन्, भ्रम आदि सकल योजनाओं की असिद्धि। आदि।।

चौदहवीं कारिका में बताया है कि वस्तु भावाभावात्मक है। इसकी सिद्धिके प्रवचनों के कुछ शीर्षक पढ़िये—

अरहंतशासनका प्रारम्भिक दिग्दर्शन। विधिकल्पनाको ही सत्यस्वरूप मानकर एक ही भंग मानने वालो के प्रतिषेध कल्पनाकी भी असत्य स्वरूपताकी प्रमाणसिद्धता। प्रतिषेध कल्पनाको ही सत्य स्वरूप मानकर केवल प्रतिषेध कल्पना वाले एक भंग को मानने के प्रति विधि कल्पनाकी सत्यस्वरूपताका निर्देश निरपेक्ष विधि कल्पना व प्रतिषेध कल्पना मानने वालों के प्रति एक सत् में ही उभयरूप तृतीयभंग की सिद्धि। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्तिकी भांति शेष चार भंगों की भी तृतीय सिद्धता। अपेक्षाविवरण सहित सप्तभंगीका निर्देश। सप्तभंगीके लक्षणों में प्रयुक्त अविरोधन तथा एक वस्तुनि इन्

दो पदों की सार्थकता का कथन। एक ही वस्तु में अनन्त धर्मों की अपेक्षा अनन्त सप्तभंगियों के होने की भी अभीष्टताका प्रतिपादन। प्रत्येक वस्तु धर्मके प्रसंग में 7 ही भंग हो सकने के कारण पर प्रकाश। प्रथम व द्वितीय भंग मानने को अनिवार्यता पर प्रकाश। शेष तृतीय आदि सब भंगों की प्रसिद्धता। सविषय व्यवहार से प्रसिद्ध सप्तभंगीकी पद्धति से प्रयुक्त अरहंतशासन की तिर्वाधता। विविक्षित स्वरूपसे एक वस्तु में दो सत्त्वों की असंभवता होने से प्रथम व तृतीय भंग के संयोग वाले भंगकी अनुपपत्ति। एक वस्तु में अनेक गुणों की अपेक्षा से अनेकरूप सत्वकी कल्पना होने पर भी विविक्षित धर्म की अपेक्षा में दो सत्त्वों की संभवता। एक वस्तु में एक अपेक्षा से दो सअसत्त्वों की असंभवता होने से द्वितीय तृतीय के संयोग के भंगकी अनुपपत्ति। शंकासमाधानपूर्वक अन्तिम सप्तभंगी के अन्तिम तीन भंगों के उपपत्तिका प्रतिपादन। सप्तभंगी मे वर्णन की पद्धति व प्रतीति । आदि ।

चौबीसवीं कारिका में बताया है कि जो दार्शनिक एक अद्वैकान्तका ही पक्ष करते हैं जैसे कि लोकमें केवल एक ही ब्रह्म है, अन्य मिथ्या है अथवा अन्य कुछ नहीं है। ऐसे अद्वैतवाद के एकान्त में कारकक्रिया आदि का भेद विरुद्ध हो जायगा, इत्यादि तथ्यों का प्रवचन में स्पष्टीकरण है, उसके कुछ शीर्षक उद्धृत किये जा रहे हैं—

अद्वैकान्तग्रहकी दूषितता। प्रमाणसिद्ध क्रिया कारकादि भेद के प्रतिरोधकी असंभवता। शंकाकार द्वारा अद्वैकान्तका प्रतिपादन। क्रियाकारक भेद व अद्वैतकी विरुद्ध बताते हुए उक्त शंका का समाधान। क्रियाकारक भेदका पर से जन्म माननेपर द्वैतकी सिद्धि। अविद्धास्वरूपकारणसे अविद्यास्वरूप कार्य की उप्पत्ति संगत न होने से कारणकार्यवदकी वास्तविकताकी सिद्धि। क्षणिकवादकी तरह अद्वैतवादमें भी अवस्तु से अवस्तु की उत्पत्ति की असिद्धता। अद्वैतकी प्रत्यक्षादि प्रमाणविरुद्धता। अनुमान प्रयोग से भेदप्रतिभास के मिथ्यात्की असिद्धि। राम्युपगममात्र से भी पक्ष हेतु आदि भेद प्रतिभासको सच मानने पर भेदप्रतिभास के तथ्यकी सिद्धि। बाध्य बाधक भावके भेट्स द्वैतकी सिद्धि। आदि

कुछ दार्शनिक पृथक्त्वका एकान्त करते हैं। जैसे विशेषवादका सिद्धान्त इतना अति कर गया कि एक द्रव्य में तादात्म्य से रहने वाले गुण, कर्म, सामान्य, विशेष भी जुदे जुदे पदार्थ बन गये। तथा क्षणिकबादका पार्थक्य ऐसा बन गया कि सन्तान भी सिद्ध नहीं हो सकती। ऐसे पृथक्त्वेकान्तबादकी मीमांसा में जो प्रवचन हुए उनके कुछ शीर्षक पढ़िये—

पृथक्त्वैकान्त पक्षमें द्रव्य से गुण से गुण की पृथकता व अपृथकता दोनों विकल्पों में पृथक्त्वैकान्तके मिथ्यात्वकी सिद्धि। शंकाकार दार्शनिकों के सिद्धान्तका संकेत करते हुए पृथक्त्वैकारनत के विकल्पका निराकरण। पृथक्त्वका ज्ञानद्रव्य। पृथग्भूत गुणों को जिनसे पृथग्भूत हैं उन्हीं अनेकों में रहने वाला मानने पर आश्चर्य। आकाश, सत्ता द्रव्यत्व आदिको पृथक् एकका अनेकोमें रहना सिद्ध करने के प्रस्ताव में उदाहरणरूपमें बतानेकी असंगतता। संयोग विभाग, परत्व, अवरत्व, द्वित्वादि संख्याको भी पृथक् एक का अनेकों में रहने के प्रस्ताव में उदाहरणरूपसे प्रस्तुत करने की असंगतता। पृथक्त्वैकान्त पृथक्त्वगुणकी असिद्धि। पृथक्त्ववान पदार्थों से पृथक्त्व गुणका पार्थक्य या अपार्थक्य मानने के दोनों विकल्पों से पृथक्त्व गुणकी सिद्धि की अशक्यता। एकत्वका निषेध करने पर अर्थात् पृथक्त्वैकान्त में संतान, समुदाय, साधर्म्य, प्रैत्यभाव सभी सिद्धान्तों के अपलापका परलोक दत्तग्रहण आदि न हो सकने की विडम्बना। आदि

79. सहजानन्द डायरी 1968

इस पुस्तक में पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराज के अंतरंग विचारों का संग्रह है। मैं क्या हूँ, इस विषय 8 जनवरी का एक विचारांश देखिये—पृ0 7 मैं क्या हूँ? इसका यथार्थ उपादेय निर्णय करके उसके अनुकूल ज्ञानाचरण करना सो ही वास्तव में मेरा शरण है। बाह्य अर्थ मित्रादिक व धनादिक तो मैं हूँ ही नहीं। शरीर भी मैं नहीं हूँ। कर्म भी मैं नहीं हूँ। रागादिक भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि परस्वभाव होने से यह भी पर है। बाह्य पदार्थों के जानने रूपा परिणमा ज्ञानभी मैं नहीं हूँ, क्योंकि परोपयोग है अधुव है। यावन्यमात्र विकल्प व कल्पनायेंह”, वह भी मैं नहीं हूँ क्योंकि वे सब भी कर्म की

ही किसी परिस्थिति के निमित्त से होती हैं तथा अभ्रुव है। निजात्मा के विषय में हो रहा है गुणपर्यायका ज्ञान भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि वह भी कर्म भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि वह भी कर्म ही किसी परिस्थिति के निमित्त से होता है तथा अभ्रुव है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि किसी भी दृष्टि से परखमें आने वाला निज तत्व मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं अखण्ड स्वस्वरूपतामक हूँ। परनिरपेक्ष उत्पाद्ययध्रोव्यकल्पना से हाता गुणपर्यायों से परे, सर्व परद्रव्यों से विविक्त, सर्व परभावों से परे, सर्व नयपक्षातिकान्त, परमपारिणमिक भावमय कारणसमयसार मैं हूँ। इसकी दृष्टि करके इसकी शरण ग्रहण करना सर्वक्लेशों से मुक्त होने का एक उपाय है। आत्मोद्धार के लिए कहा गया प्रयत्न करना, पढ़िये 14 जनवरी का विचारांश—पृ0 11—

आत्माका उद्धार कहाँ करना है? आत्मा में। आत्माका उद्धार किसको करना है? आत्माको। आत्मा में किसको उद्धृत करना है? आत्मा स्वभावरूपसे जान लिया जावे और फिर उस ही में उपयुक्त हो जावे। यह कार्य अत्यन्त सुगम है। कौन किसका है? फिर किसके प्रति राग और किसी के प्रतिद्वेष यह विडम्बना क्यों लगा ली है? किसने लगा ली? अज्ञान से लग गई?

देखो भाई, राग, द्वेष, सुख, दुःख तो कर्मके उदय होने पर होते हैं और ज्ञान करतूत तो ज्ञान है। तुम अपनी करतूत पर दम भरो और ज्ञाता होने का पौरुष करो। इस विधि में उद्धार अवश्य हो लेगा।

देखो करना क्या है—मनन कीजिये—पृ0 11 — प्रवृत्ति में तो अहिंसा का पालन और निवृत्ति में निज चैयन्यस्वभाव के उपयोग का धारण। निजचैयन्य स्वभाव में उपयोग बनाये रहने में सत्यनिवृत्ति है, क्योंकि इस निज परमपरमाणिक भावकी उपासना में विकल्प शान्त हो जाते हैं और विकल्पों की शान्ति ही सत्य निवृत्ति है। जब प्रवृत्ति करना पड़े तो अहिंसा के पालन का विशेष ध्यान देना चाहिये। अहिंसा का विशेष पालन परिग्रह के त्याग के साथ चलता है, ब्रह्मचर्य के साथ चलता है, अचौर्य व असत्य भाषण के साथ चलता है।

अहिंसा का पालन व परमात्माका उपयोग—ये दो ही काम जीवन में करना है, अधिक बात नहीं दुर्गम नहीं, साहस करो सफलता ही मिलेगी।

वास्तविक स्वतन्त्रता परखिवे 26 जनवरी के विचारों में पृ0
20—

आज भारतका स्वतन्त्रता दिवस है। आत्माका स्वतन्त्रता दिवस वह है जब निज स्वातन्त्रतय पर आत्माकी दृष्टि हो जाय। आत्मा ही क्या सभी द्रव्य स्वतन्त्र हैं। स्वतः सिद्ध हैं, उनमें ही आत्मतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ अचेतन हैं। उन अचेतन पदार्थों में से धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य व कालद्रव्य चे चार तो स्वभावपरिणति ही करते हैं, केवल पुद्गलद्रव्य ऐसा है जो विभावपरिणति जो करता है। सो पांचों अचेतन हैं, उन्हें कुछ भी परवाह हो ही नहीं सकती। केवल आत्मद्रव्य ही चेतन है। चेतना सामान्यविशेषात्मक है, सामसान्यचेतना में तो उपद्रव है ही नहीं। विशेषचेतना ज्ञानात्मक है। ज्ञानस्वभावोन्मुख होकर भी जानकारी करता है व परान्मुख होकर भी जानकारी करता है। स्वाभिमुख जानकारी में भी उपद्रव प्रसार नहीं है। केवल परामिमुख जानकारी में उपद्रव फैलते हैं, और यह ही पतन्त्रता है। यह परतन्त्रत' भी जीवने स्वतन्त्रता से की। यदि यह जीव अपनी स्वतन्त्रताका उपयोग परतन्त्र रहने में न करे और स्वतन्त्रता के लिए स्वतन्त्रताका उपयोग करे तो जिस क्षण इस स्वतन्त्रता की दृष्टि व चर्चा हो जाय वही स्वतन्त्रता दिवस है।

सम्यक्त्व ही हित है इसके लिए सर्व प्रयत्न करने की प्रेरणा लें, पृ 30—

देख, सम्यक्त्व से बढ़कर कुछ वैभव नहीं है। सम्यक्त्वकी वृत्ति के लिए बाह्य समस्त अर्थों की उपेक्षा करनी होगी। उपेक्षा करने में कष्ट क्या? आखिर सब पर ही तो। उनसे कुछ अपना आना जाना तो है नहीं, तू तेरे सिवाय किसी का भी स्वामी नहीं, अधिकारी नहीं, कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं। रे प्यारे मूर्खता न कर, नरभव रत्न यों हीं न गवां दे, सत्य से प्यार कर।

किसी भी परद्रव्य के बारे में विकल्प भी न करने की प्रेरणा कितने शब्दों में दी है— देखिय 14 फरवरी का प्रवचनांश—पृ0 32 — देखो प्यारे, किसी भी द्रव्यके परिणाम का भार जुम्मा, विकल्प तुम अपने उपर मत लो। सब कुछ सर्वज्ञ प्रभुके ज्ञान को समर्पित कर दो। इस सब ज्ञेय में तेरा अधिकार नहीं है। यह सब ज्ञेय उपवन परमात्मा के ज्ञान के अन्दर की बात है। इसमें हाथ न लगा अर्थात् इसके परिणामनके बारे में कल्पना न कर। अनधिकार चेष्टा तम कर। सर्वज्ञ परमात्माकी खूब भक्ति कर।

स्वावधानकी महिमा देखें 30 मार्च के एक विचारांश में पृ0 55 — हे आत्मन्, तू तो ज्ञाता दृष्टा रहे। नाटकदर्शक बन। निजभूमिमें जो औपाधिक चित्रण हैं उसे औपाधिक जान व तत्क्षण नष्ट होता हुआ देख। हैरानी किसी बात की नहीं है। यदि तू अपने अवधान में है तो शतावधानी से स्वावधानी महान् है।

आत्मा का भोजन क्या है, जिससे आत्मा तृप्त हो जाय, देखें 14 अप्रैलका एक विचारांश मृ0 64—स्वाध्याय भोजन के समान आवश्यक हैं। जैसे आनन्द के लिए भोजन आवश्यक माना गया है उससे भी अधिक आवश्यक स्वाध्याय है। जैसे भोजन का आनन्द तुरन्त आता है। विशेषता यह है कि भोजन का आनन्द पराधीन है, वह भी आगे नहीं रहता। तथा कभी रोगादिके मार्फत महा सक्लेशका कारण हो जाता है, परन्तु स्वाध्याय का आनन्द स्वाधीन है। वह आगे भी रहता है तथा है भी शुद्ध सहज आनन्द।

83 सहजानन्द स्वाध्याय चर्चा

महाराज श्री ने स्वाध्याय करके जो विशिष्ट तत्व देखे उनका इसमें प्रतिपान है। यह ग्रन्थ बिहार करते समय 7-4-71 को प्रातः सम्मनिक के बाद उसी स्थान पर छूट गया, बाद में तलासने पर वह नहीं मिला। दिनांक 19-11-71 को टाइप के बंडल में टाइप किये हुए ढाई पेज मिल गए हैं उसका उल्लेख दिया जा रहा है।

80 सहजानन्द—स्वाध्याय—चर्चा

1—साकारोपयोगी जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को करता है ऐसा लब्धिसार की द्वितीय गाथा में कहा है इस प्रसंग में यह आशंका हो सकती है कि अनाकारोपयोगी जीव तो और अधिक सामान्य का अनुयायी है फिर अनाकारोपयोग में अर्थात् दर्शनोपयोग में सम्यक्त्व करने की क्षमता क्यों नहीं बतायी है? इसके समाधान की झांकी धवला 6 वीं पुस्तक पेज 239 पर उल्लिखित गाथा न0 5 में मिल जाती है। इसमें बताया है सायारे पटठवओं णिटठझयो य भयणिज्जों, साकार उपयोग में अर्थात् ज्ञानोपयोगमें यह जीव प्रथमोपशमका प्रस्थापक होता है, प्रारम्भ करने वाला होता है किन्तु निष्ठापक भजनीय है अर्थात् मध्य की अवस्था में अथवायों कहिये प्रारम्भ के बादकी अवस्था में साकारोपयोगी भी हो सकता है और निराकारोपयोगी भी हो सकता है। इससे यह आभा मिली है कि प्रारम्भमें यह जीव परमतत्वके परम चिन्तन में होता है इस परमतत्व के आश्रय के प्रसाद से प्रथमोपशम सभ्यक्त्वका प्रारम्भ होता है पश्चात् ही वह साकारोपयोग में और अधिक अभेदापयोगी हो जायगा या अभेदग्राही साकारता से भी परे होकर निराकारोपयोगी हो जायगा, किन्तु, मिथ्यात्व वासित जीव हो तो त्रिकरण विशुद्ध बनकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व करता है ना, सो ऐसे जीवकी स्थिति अभेदानुभवके लिए अभेदस्वरूपके परम चिन्तन होती ही है।

2—लब्धिसार की द्वितीय गाथा में यह भी कहा है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्वका उत्पादक जीव गर्भज होना चाहिए। इसमें यह ख्याल आ सकता है कि सम्मूर्च्छिभक्ति। पर्याप्त तिर्यन्च देशविरत भी हो सकता है तो सम्यक्त्व में उसे पात्रता क्यों नहीं दी। इसके समाधान में यह बात आती है कि प्रथमोपशम सभ्यक्त्व की प्राप्ति के लिए गर्भज जीव ही होना चाहिए। क्षयोपशम सम्यक्त्व व देश समय सम्मूर्च्छिम तिर्यन्च पर्याप्त कर सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव १ और सम्यक् प्रकृति व सभ्यगमिथ्यात्व की उद्वेलना कर चुकने वाले जीव की सभ्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए उच्च पुरुषार्थ की आवश्यकता है। ऐसे जीव सभ्यक्त्व में प्रथमोपशमसभ्यक्त्वकी ही उत्पन्न कर पात हे। सम्मूर्च्छि में जीवों की अपेक्षा गर्भज जीवों में उच्च पुरुषार्थ करने की क्षमता होती है।

3—धवला 6 वी पुस्तक में 242 पेज पर 12 न. को गाथा इस प्रकार है सम्पत्ति पठमर्लभस्सर्णतरै पच्छदो य मिच्छतै। लैमस्म अपढमस्म दु मजिदर्व्व पच्छदो होदि। इस गाथा का अर्थ इस प्रकार लिखा है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीनके जो सम्यक्त्वका प्रथम बार लाभ होता है उसके अनन्तर पश्चात् मिथ्यात्वका उदय होता है। किन्तु सादिमिथ्यादृष्टि जीनके जो सम्यक्त्वका अप्रथम अर्थात् दूसरी आदि बार लाभ होता है उसके अनन्तर पश्चात् समय में मिथ्यात्व भजितव्य है। इस उतरार्ध अर्थ के बाद इसके स्पष्टीकरण के लिए लिखा है कि अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्वदृष्टि होकर वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। यह बात प्रायः ऐसी ही जचती है कि अनादि मिथ्यात्व से वासित जीव किसी प्रकार सम्यक्त्व प्राप्त करले तो यह सम्यक्त्व उपशम है इसका उपशम काल समाप्त होने पर मिथ्यात्व उदय में आ जाता है। अब इस तथ्य के मुकाबिले यह भी एक विचारणीय विषय है कि धवला में जहां जीव स्थान की अन्तररूपणा कहीं गई है वहां उपशमक आदिका पुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर प्रथमोपशमसम्यक्त्व पाये और उसके बाद वेदक सम्यग्दृष्टि होकर व द्वितीयो पशम सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणि चढ़े और फिर गिरकर कुछ बने रहकर फिर मिथ्यात्व में आये इस मिथ्यात्व में चिरकाल तक रहे संसार के कुछ थोड़ा काल शेष रहे तब विधिवत् सम्यक्त्व उत्पन्न कराकर पद्धतिवत् उपशम श्रेणि प्राप्त करना बताया जावे तब ही ना हुए उपशम सम्यग्दृष्टि के उपशमसम्यक्त्व छोटे बाद मिथ्यात्व नहीं हो पाया। फिर उक्त गाथा की क्या संगति है यह विचारणीय विषय है। कुछ विचार में यह आ सकता है कि गाथा का शब्दानुसारो अर्थ करके उसका मर्म सोचा जाय—इस गाथाका अर्थ है सम्यक्त्व प्रथम लाभ के अनन्तर पश्चात् मिथ्यात्व होता है—गाथाकी प्रथम पंक्ति के इस अर्थका यह निष्कर्ष भी निकलता है कि प्रथम बार हुए उपशम समयक्त्व के अथवा प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अनन्तर पिछले समय में मिथ्यात्वक होता ही निश्चित है, क्योंकि सासादन या मिश्र आदि किसी भी गुणस्थानके बाद प्रथमोपशमसम्यक्त्व नहीं होता, मिथ्यात्व गुणस्थानके अनन्तर ही प्रथमोपशमसम्यक्त्व होता है। अब द्वितीय पंक्ति का अर्थ विचारिये—“अप्रथम सम्यक्त्व के लाभ के अनन्तर पश्चात् मिथ्यात्व मजितव्य है।” द्वितीय पंक्ति के इस अर्थ का यह

निश्कर्ष निकलता है कि जो प्रथम सम्यक्त्व नहीं है अथवा प्रथमोपशम सम्यक्त्व नहीं है उसके अनन्तर याने एकदम पिछले समय में मिथ्यात्व भी रहा हुआ हो सकता है और सम्यक्त्व भी रहा हुआ हो सकता है। जैसे वेदक सम्यक्त्व मिथ्यात्वके बाद भी प्रकट हो सकता है, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के बाद भी हो सकता है, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व वेदक सम्यक्त्व के बाद ही होता है, क्षायिक सम्यक्त्व वेदक सम्यक्त्व के बाद ही होता है। इस संगति को पच्छा न देकर पच्छदी शब्द देने से और अधिक सहयोग मिल जाता है। पच्छदो का अर्थ पीछे या पीछे से होता है जिसका स्पष्ट प्रयोग पिछले समय के लिए हुआ करता है।

4—गौम्मट्टसार जीव कांड में एक गाथा आई है “सम्माडिटठं सददहदि पवयणंणियमला दु उपवयिटठं सददाहादि आसब्भावं अजाणमाणं गुरणि योगा।” इस गाथा की द्वितीय पंक्ति का अर्थ कुछ भाई यों कह देते हैं कि सम्यग्दृष्टि पुरुष अजाणमान गुरुके नियोग से असद् भावका भी श्रद्धान कर लेता है, इस अर्थ में दो बात का विचार करना है, 1. अजानमान गुरु है या यह शिष्य, 2.सम्यग्दृष्टि गुरुनियोग से कैसे असद्भावका श्रद्धान भी कर लोता है। प्रथम विभक्ति का एक वचन है और वह कर्ता का विशेषण है। इस वाक्य में किया है श्रद्धान करता है उसका कर्ता है सम्यग्दृष्टि उसका विशेषण है अजानमान जिसका भाव यह है कि कदाचित् ज्ञानकी मंदता से अद्भुत अर्थको स्वयं नहीं जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव गुरुनियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है। अब द्वितीय चर्चा पर आइये। जो मोक्षमार्ग का प्रयोजनभूते अर्थ है उसमें तो विपरीत श्रद्धा रखने वाला जीव मिथ्यादृष्टि ही रहता है, अन्य परोक्ष अर्थों में गुरुनियोग से असद्भूत का श्रद्धान भ कर तो भी मिथ्यात्व का नियम नहीं।

85 अध्यात्मयोग भीर्ष

अध्यात्मयोगविषयक पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन बहुत उपयोगी और सरल हैं इसी प्रकार इस पुस्तके शीर्षक भी बहुत सरल व उपयोगी है। ग्रन्थ के प्रारम्भ के शीर्षक देखिये—

अध्यात्मयोग के बिना शान्ति का अलाभ। अध्यात्मतत्त्वकी सुध बिना जीवन की दुर्दशा। अध्यात्मयोग और व्यवहारविमुग्धता में परस्पर प्रतिपक्षता। व्यवहार के भी निर्णयक अवश्यकता। तत्त्वपरिचयके लिए बहुत समय भी उद्यम किये जाने के कर्तव्य पर दृष्टान्त। अध्ययमयोगीर्थी की सर्वप्रथम व्यवहारजीवत्व जानन की भूमिका। जीव के व्यावहारिकरूपके अध्ययन में भी परमार्थतत्त्व मिलने की दिशा। देहात्मबुद्धित्वमें अध्यात्मयोगकी दिशा का भी अभाव। जीव में भावों का ही कर्तव्य। अध्यात्मपद्धति से जीव के प्रकार। अध्यात्मपद्धति से जीव के प्रकारों की सूचना का एक आर्ष निर्देशन। त्रिगुणात्मक पदार्थ में किसी गुण का एकान्त करने का परिणाम। वस्तु परिचय की दो पद्धतिया। अभेद और भेद की अद्वैत की मंसा। अंतस्तत्त्व व बहिस्तत्त्वका परिचय व प्रयोगात्मक परीक्षण। बहिर्योग और अध्यात्मयोग का प्रभाव। ज्ञानकी प्रायोगिक अन्तरज्ञता। सात्विक परिणमन के लाभ। आत्माका अस्तित्व। आत्मा का वस्तुत्व। आत्मा का द्रव्यत्व। आत्मा का अगु लघुत्व।

आत्मा का प्रदेशत्व और प्रमेयत्व। अनात्मपदार्थों से भेदपरिचयका कारणभूत आत्मीय असाधारण धर्म। आत्मननके प्रसाधन में शकुनरूपता। ज्ञानी के अध्यात्मयोगभिमुखता। देह से भिन्न रूपमें आत्मा के परिचयकी प्रथम आवश्यकता। देह से भिन्न आत्मा के निर्णय में पापनिवृत्तिक सुगमाता। स्वयंमय और परसयमे में शान्ति और अशान्ति का स्पष्ट निर्णय। आत्माके परमार्थ स्वरूप ज्ञायकस्वभाव का संकेत। आदि

परमार्थ तीर्थयात्रा से कुछ शीर्षक देखिये—परमार्थतीयता। अखण्ड आत्मतत्त्वका परिज्ञान करने का उपाय। बद्धदशा होने पर भी अबद्ध स्वरूपके देखने की कला। प्रज्ञाकी पारगमिता। अध्यात्मयोग से आत्मोत्कर्ष। आत्माकी मुख्य शक्तियां और अज्ञानी जीव द्वारा उनका उपयोग। आत्मशक्तियों का ज्ञानी जीव द्वारा उपयोग। अध्यात्मयोग में आन्तरिक कर्तव्य। विशुद्ध अन्तस्तत्त्व की प्राप्तिका एक मार्ग। इन्द्रियविजयका वास्तविक उपाय। अध्यात्मयोगकी प्रगति के लिए एक मात्र कर्तव्य। अध्यात्मयोग के यत्नवानका अनुभव। पराधीनता से छुटकारा पाने के लिए सत्याग्रह का प्रयोग। पराधीनता से छुटकारा

पाने के लिए असहयोग का प्रयोग। अध्यात्मयोग में विविक्त तत्त्वके दर्शन। शुद्धिका विश्लेषण। आदि

कारणसमयसारसे संबंधितकुछशीर्ष कारणसमयसारका स्वरूप इन शीर्षों में पढ़िये— कारणसमयसारका स्वरूप। शाशवत कारणसमयसारकी उपासना से कल्याणलाभ। विशेषदृष्टि में वैषम्यका अवकाश। अज्ञानतत्त्वकी उपासनाका स्पष्ट सबूत। सहजकारणपरमात्मतत्त्वकी उपासना का प्रभाव। आशयविशुद्धि में मार्गदर्शन। शान्ति लाभ के लिए अपना कर्तव्य। अधुवतवककी सेवासे स्वस्थता का अलाभ। कारणसमयसारका विवरण। रागादिक भावों से मिटाने के लिए मौलिक अमोध पुरुषार्थ। स्वकेन्द्र में पहुंचने की केन्द्रित गली। इन्द्रियसंयमनका प्रभाव। आदि

अध्यात्मयोग में क्षमादि दश धर्मोंका विकाससहज है, इससे संबंधित कुछ शीर्षक पढ़िये— अध्यात्मकयोगी का दशधाधर्म यत्न। कषायों के उपशम से सत्यताका विकास। संयमादि विधि से ब्रह्मरमण। आत्मोत्कर्ष में संयमकी अनिवार्यता। असंयत जीवनमें सुखकी निराशा। संयमोत्साह की सराहना। संगम छूटने की विधियां। धर्म के प्रसंग का सुखिया जीवन। मूढ़ता में सर्वतः आपदायें। आदि

86 अध्यात्मसहस्रीप्रवचनशीर्ष

अध्यात्मसहस्री के दशम परिच्छेद मे—वस्तु का विविध परिचय नयों के द्वारा होता है। आत्मतत्त्व का परिचय इन सब नयों में किस किस प्रकार होता है इसका वर्णन है। आगमिक दृष्टि से 9, आध्यात्मिक दृष्टि से 15, सैद्धान्तिक दृष्टि से 16, स्फूट दृष्टियों से 40, इतने नयों में आत्मपरिचयका प्रकार बताया है। जिनका बोध अध्यात्मसहस्रीप्रवचनके अध्ययन से सुगम है, फिर भी क्या वक्तव्य है इसका संकेत कुछ इन शीर्षकों से अन्दाज कीजिये—

नगमनयमें आत्मदर्शन का प्रकार। संग्रह नय में आत्मदर्शन का प्रकार। व्यवहारनयमें आत्मदर्शन का प्रकार। ऋजुसूत्रनयमें आत्मदर्शन का प्रकार। शब्दानयमें आत्मदर्शनका प्रकार। समभिरूढ़नय एवं भूतनय से आत्मदर्शनका प्रकार। निरपेक्ष शुद्धनयमें आत्मदर्शनका प्रकार।

परमशुद्ध निश्चयनय में आत्मदर्शन का प्रकार। शुद्ध निश्चयनमें आत्मदर्शन का प्रकार । सुनने और यथावत समझने में सावधानी की आवश्यकता। वयर्थ और बरबादी के लिए लगे हुए मोहादि विभावों से छुटकारा पाने में ही कल्याण। आश्रयसम्बंधक व्यवहार में आत्मपरिचयका प्रकार। आश्रय और निमित्त के परिचय का विवेक। आश्रय सम्बंधक व्यवहारनय में हुए आगम से उपलब्धव्यय शिक्षा। उभयसम्बंधक व्यवहार में आत्मपरिचयका प्रकार। संसार में उभय सम्बंधक व्यवहार में आत्मपरिचय का प्रकार। संसार में जीव की परतंतन्त्रता व दुःखभाजनताकी नजर। आदि

दशवें परिच्छेदमें करीब 70 प्रकार से नयविधि से आत्माका परिचय कराया है। अब इस 11 वें परिच्छेद में कषायों का 12 प्रकार से निर्देश करके उसका विवरण किया गया है। यह विषय उच्च सैद्धान्तिक है, फिर भी कुछ शीर्षकों से अन्दाज कीजिये—

बारह प्रकारों में कषायका निर्देश। नामकषाय से कषाय—परिचय । स्थापना कषाय। आगम द्रव्यकषाय से परिचित किया गया आगमद्रव्यकषाय। निर्देश से नो आगमद्रव्यकषाय के परिचित किया गया नौआगमद्रव्यकषाय। प्रत्यय कषाय का परिचय। समुत्त्विकषाय का परिचय। समुत्पत्ति कषायों के 8 घटित प्रकारों में से प्रथम व द्वितीय प्रकार। समुत्पत्ति कषायका 7 वां प्रकार। समुत्पत्ति कषाय का 8 वां प्रकार। समुत्पत्ति कषाय कक वर्णन का उपसंहार। भिन्न द्रव्यकषायों के रूपों का वर्णन। आदेशकषायका परिचय। आदि

अब उक्तप्रकरण की समाप्ति के बाद के कुछ शीर्षक पढ़िये—स्वात्मानुभूति की परम उपादेयता। निश्चयनयके विषय पर पहुंचाने के लिए व्यवहारनयकी उपयोगिता। अन्य विविध निर्णयों की अभेद स्वभाव अंतस्तत्त्व के परिचयके लिए उपयोगिता। अभेदस्वभावरूपमें आत्मोपासना होने पर स्वात्मानुभूति का नैकट्य। स्वात्मानुभूतिकी उपादेयता के उद्देश्यको बना लेने की शिक्षा। सहज परमात्मतत्त्व के मिलने की अलौकिक प्रसन्नता। ज्ञाता व बाह्यज्ञेय में ज्ञानविषयक भी कर्तुकर्मव्यका अभाव। प्रकाशक व प्रकाशमान के दृष्टान्त द्वारा वस्तुस्वातंत्र्यका दिग्दर्शन। आत्मा का अपने कार्य में

स्वातंत्र्य का दिग्दर्शन। अज्ञान मोह के विनष्ट होने पर रागद्वेषादि विभागों का सुगम बिनाश। स्वच्छता व वीतरागताका प्रभाव। एकत्वविभक्त अंतस्तत्त्वके उपयोगकी सरणरूपता। आदि

परभावसे हटकर स्वभाव में आने का पौरुष महान उद्यम है, इससे संबंधित कुछ शीर्षक पढ़िये—अनियत भाव से हटकर नियत सहजस्वभाव में आने का ज्ञानी का उद्यम। विभाव परिणाम की उपपत्ति का निर्णय—

स्वभाव व परभावकी निरखने से उपलब्ध शिक्षा। परभावसे हटकर स्वतत्त्व में आने का दृढ़ कदम। सहजपरमात्मतत्त्वके निर्णयका मांगल्य। सहज परमात्मतत्त्वकी उपासनाके पौरुष का प्रभाव। निज में सहजपरमात्मतत्त्वकी दर्शन। मुमुक्षा का अंतः पौरुष विक्रम। वास्तविक वैभवलाभका उपाय। आकिंचन्यकी उपासना। चरणानुयोगमें विकल्पों के परिहार का उपदेश। दृष्टि के अनुरूप अनुभव। विशुद्ध दृष्टिका लाभ। देवोपेत पौरुष से लौकिक लाभ व दैवाघातक पौरुषसे अलौकिक — लाभ। आदि।

नयों का उपयोग किस विधि से करके हम अपना हित पा सकेगें, इस विषय से संबंधित प्रवचनों के कुछ शीर्षक निरखिये—

अध्यात्मदृष्टि में उपयोगी नयों में से परमशुद्धनिश्चयनयका प्रतिपादन। अन्य दृष्टियों का विरोध न करके एक मात्र परमशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि में भलाई। शुद्धनिश्चयनय व अशुद्धनिश्चयनय मै तत्त्वदर्शन। व्यवहारनयका प्रयोग। कल्पनाविदित उपचार की असमीचीनता। अध्यात्मदर्शनमें नयों की उपयोगिता। हमारा वर्तमान अवसर व कर्तव्य । आदि

अर्न्तदृष्टि होने पर ही संकट समाप्त हो सकते है, एतदर्थ जो विचार आचार होना चाहिए उससे संबंधित प्रवचनों के कुछ शीर्षक— अर्न्तदृष्टि होने पर संकटों की समाप्ति। परेशानियों के हटाने के अर्थ अध्यात्मतत्त्वका अवबोध। मोह शल्य की निवृत्ति में ही लाभ । सम्यग्ज्ञानोपयोग से परेशानियों की निवृत्ति। आत्माकी परमअवस्था का दिग्दर्शन। मोक्ष और मोक्षमार्ग के प्रोग्रम के लक्ष्य उपलक्ष्यकी

सारभूता। बाह्यपदार्थ से लाभ लगाव हटाकर स्वभावोपयोग करने में कल्याण। आनन्दलाभ के यत्न का विचार। आनन्द चाहने वाले स्वरूप का निर्णय। सहजप्रभु के मिलन व विछोह की स्थिति का प्रभावः। अन्तः अंधेरा और उजेला। प्रियतमताका निर्णय। ज्ञानी के सत्य के वैभव का दृढतम निर्णय। सहजअंतस्त्वका सुगम निर्णय। आदि

अध्यात्मसहस्री के 13 वें परिच्छेद में आत्मा की शक्तियों का वर्णन है। इस विषय में पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने बहुत अधिक विस्त्रित विवेचन शुद्ध विधि से किया है। यह प्रत्येक मुमुक्षु के लिए उपकारक ग्रन्थ है। इस विषय में जो प्रवचन हुए हैं उनके कुछ प्रारम्भिक शीर्षक उद्धृत किये जा रहे हैं।

संसारी जीवों पर मूल संकट। चाह की अपूर्यता। जन्म मरण के संकट से दूर होने का उपाय। जन्ममरण के संकट मेटने में ही कल्याणलाभ। उपसाय आत्मतत्वकी ओर। अपने अंत-अस्तित्व के परिचय में प्रारम्भिक बोध। व्यवहार अनेकान्त के बोध से शुद्ध अनेकान्त में पहुंचा। तत्त्व में छह साधारणगुणों की अनिवार्यता। अपना साधारण परिचय। आत्मतत्व के बोधबिना लेश मात्र भी शान्ति की अपात्रता। आत्माकी सतत ज्ञप्तिशीलता। आत्माकी उत्पाद्रव्यय घ्नौव्यमयता। आत्मा के त्रिगुणात्मकत्व की अनिषेध्यता। वस्तु की सत्वरजस्तमोयता। आत्मतत्वकी अनात्मविविक्तता। आदि

दशम परिच्छेद में आत्मशक्तियों का वर्णन है जिसमें आद्य कुछ शक्तियों का परिचय कराने वाले प्रवचनों के कुछ शीर्षक देखिये—आत्मा में मूलभूत शक्ति। जीवत्वशक्ति के परिचय का उपकार। जीवत्वशक्ति से जीवकी शाश्वत स्वरूपप्रतिष्ठा। आत्मजीवनी स्वतः सिद्धता। जीवत्वशक्तिकी असाधारण साधारणस्वरूपता। जीवत्वशक्ति के बोध से परिचित हुए अखण्ड आत्मतत्वकी उपासनाकी स्थिति। जीवमें चित्शक्ति का महत्व। इस जीवन में जीवनका उद्देश्य। वर्णित प्रथम द्वितीय शक्ति का प्रसंग में विशेषवाद सममत द्रव्य गुणकर्म पदार्थ का ज्ञान द्वारा विश्लेषण व याथात्म्य परिचय। विशेषवाद के समवाय पदार्थ का ज्ञान द्वारा विश्लेषण व याथात्म्य परिचय। आदि

जीव की स्वच्छत्वशक्ति व प्रकाशत्वशक्ति के प्रवचनों के शीर्षक— जीव की स्वच्छत्वशक्ति का प्रताप। विकल्प—पंक से हटकर स्वच्छ ज्ञानसागर में प्रवेशकर संकटसंताप हटा लेने का सदेश। शान्तिके विपरीत प्रयासों को छोड़कर शान्तिसागर पौरुष करने का अनुरोध। अपनी करतूत और वास्तविक अपूर्व अवसर व उपाय। महात्मजनों के वृत्ति की उपासना। अपनी स्वच्छत्वशक्ति की संभालमें सहज आनन्द का लाभ। आदि

जीव की भावभावशक्ति, अभावाभावशक्ति, भावाभावशक्ति, अभावभावशक्ति के विषय के प्रवचनों के कुछ शीर्षक—आत्मा में भावभावशक्ति का निरूपण। स्याद्वाद के दोष में वस्तुव्यवस्था की असक्यता। आत्मा में भावाभावशक्ति व अभावभावशक्ति का प्रकाश। निर्मल पर्याय की संततियों में भावाभाव व अभावभाव होते रहने का दृष्टान्तपूर्वक कथन। शुद्ध अशुद्ध सभी जीवों में प्रतिक्षण भावाभाव व अभावाभावका दिग्दर्शन। वस्तुतः सर्वपदार्थों में प्रतिक्षण भावाभाव अभावभावका वर्तन। स्वपर्याय के अभाव और भावका आधारभूत शुद्ध आत्मद्रव्य के सन्मुख उपयोग की निर्मल परिणतिहेतुता। अनन्तशक्यात्मक अखण्ड आत्मद्रव्यको ज्ञानमात्र भावरूपमें उपासित करके आकुलता से मुक्ति पाने का कर्तव्य। भावभावशक्ति व अभावभावशक्ति से आत्मा के वस्तु की व्यवस्था। आदि

इसी परिच्छेद में षट्कारशक्तियों के व सम्बंधशक्ति के विषय में बहुत प्रवचन हुए। सम्बंधशक्तिपर तो 13 दिनों तक प्रवचन हुए थे, उन प्रवचनों के यथावसर शीर्षक उद्धृत करेंगे। उससे प्रथम देखिये अभिन्नषट्कारकता के प्रवचन के कुछ शीर्षकः—आत्मतत्त्वकी परमार्थता सकलकारकचक्रप्रक्रियोतीर्णता। अखण्ड ज्ञानमय आत्मतत्त्वकी प्रसिद्धि के यत्न में कारकोत्तीर्ण स्वभावदर्शन की क्षमता। अभेदषट्कारकक्रियाप्रयोग से भी बढ़कर कारक प्रक्रियोतीर्णता में साक्षात् स्वसंवेदन अवसर। आत्मा में क्रियाशक्ति का प्रकाश। तृद्धावस्थामें भी जीव की भावकर्म के साथ ही अभिन्नषट्कारकताका वर्णन। जीवभाव की जीव के साथ अभिन्नषट्कारकता। उदाहरणपूर्वक भावकर्मकी जीव के साथ अभिन्न षट्कारकता का आख्यान। अशुद्धनिश्चयनय व शुद्ध निश्चयनयमें अभिन्नषट्कारकता का योग।

केवल में व्यवहारपद्धति से निरीक्षण का फल अभिन्न षट्कारकता का परिचय। आदि

आत्माकी कर्मत्वशक्ति के विषय के प्रवचनों के कुछ शीर्षक—आत्मा में कर्मशक्ति का प्रकाश। आत्माका वास्तविक कर्म और उसकी भवन पद्धति। आत्मा का कार्य और आत्माका धर्म। ज्ञानकी विशुद्धता। आत्माकी अक्षय सहज निधि से अक्षय ऋषि की सम्पन्नता। आने आश्रय से हटकर दर दर ठोकरें खाने वाले उपयोग के भ्रमणशमन का साधन स्वाश्रयावलम्बन। निर्विकल्प ज्ञानमात्र अन्तरतत्व के उपयोग में अनन्तसंसारपरिग्रह का सहज त्याग। विकल्पवासना संस्कार के अभाव व सद्भाव से निःपरिग्रहता व सारिग्रहता का निर्णय। आत्मा का परनिरपेक्ष प्राप्यमाण सिद्धरूप भाव। ज्ञानानन्दस्वभाव निज द्रव्य से हो ज्ञात और आनन्द की प्राप्यमाणता। परमार्थधर्म व व्यवहारधर्मकी उपयोगिता। धर्मपालन और धर्मफल। आदि।

आत्मा अपना अभिन्न कर्म किस साधन के द्वारा पाता है इसका समाधान करणशक्ति के प्रवचनों से प्राप्त कीजिये। उन प्रवचनों के कुछ शीर्षक उद्धृत किये जा रहे हैं—

आत्मा में करणशक्ति का प्रकाश। निर्मल परिणमन में आश्रयभूत कारणका अनाश्रय। कल्याणमार्ग की श्रुयआत के लिए प्रारम्भिक साधन के पूर्व का वातावरण। स्वभाव और विभाव में अन्तर परखने का वैभव और साधकतम। ज्ञानी का परभाव से असहयोग का उपकम। असहयोगभाव और भेदविज्ञान में साधकतमका विचार। आत्मा और बन्ध के द्वेधीकरणका कार्य में प्रज्ञामय आत्माको साधकतमता। आत्मा व बन्धका स्वलक्षण। आत्मा व बंध के द्वेधीकरण का महान पौरुष। प्रज्ञात्मक निज करण से चैतन्यस्वभाव और रागदिक का द्वेधीकरण। आदि

आत्माका जाननरूप कर्म किसको देने के लिए है, क्या करने के लिए है, किसके लिए समर्थ है, किस क्षेत्र के लिए है, सबका समाधान सम्प्रदानशक्ति के प्रवचनों से प्राप्त करें। उससे संबंधित कुछ उद्धृत शीर्षक से अन्दाजा भी करलें—सम्प्रदान कारक से संबंधित

त दानार्थक शक्तार्थक, भद्रार्थक व तादर्थ्य नामके चार विभाग। दानार्थक सम्प्रदान की मीमांसा। मेरे सहजस्वाधीन कार्य के सम्प्रदान का निर्णय। परमपावन भाव के अनुपम दाता और अनुपम पात्रकी एकता। अन्य में आत्मभाव के सम्प्रदानकी असक्यता। एकीभावरूप से प्रकृष्ट दान में सम्प्रदानता। दान की विधि आदि की विशेषता से विशेषता। अध्यात्मसम्प्रदानकी विशेषता। सम्प्रदानकी सम्प्रविधि। सम्प्रदान काकरके चार महाविभागों में प्रथम दानविभाग की मीमांसा में आत्मा की सम्प्रदान शक्ति का निरीक्षण। प्राकरणिकस्वहित प्रेरणा। वास्तविक आत्मरक्षा की प्रमुखता में ही कल्याण। आत्मरक्षा के लिए समताभावको उपेय करने की शीघ्रताका कर्तव्य। स्वयं दीपमानभावापेयता। अतिरिक्त भावों की मिथ्यारूपता। विकार विहार से निवृत्त होकर चैतन्यस्वरूप अंतस्तत्त्वके उपासककी भावना। आदि।

अधिकरणशक्ति के प्रवचनों में बताया गया है कि आत्मा के कर्म का सर्वस्वका आधार स्वयं यही आत्मा है। इस विषयपर 6 दिन तक विस्त्रित प्रवचन हुए। उनके कुछ शीर्षक यहां उद्धृत किये जा रहे हैं ताकि पाठकजन प्रवचनों के विषय का अन्दाजा कर सकेंगे—आत्मा में अधिकरणशक्ति का प्रकाश। बाकर शरण पाने की असक्यता। स्वयं को स्वयं की ही शरण्यता। बाह्य पदार्थ का सरण न हो सकने की स्पष्ट ज्ञांकी। अहा, मेरा स्वाथ्य बने फिर कोई फिकर नहीं। स्वयं को स्वयं का ही आलम्बन। स्वयं में स्वयं की अवधार्यता। आदि

अध्यात्मशास्त्र में तथा संस्कृतव्याकरण में सम्बन्ध को कारक नहीं माना है उसके कारण से प्रारम्भ करके सम्बन्धशक्तिपर 13 दिन प्रवचन हुए हैं उनके शीर्षक में से कुछ शीर्षक यहां उद्धृत किये जाते हैं— सम्बन्धशक्ति के वर्णन के प्रारम्भ में सम्बन्ध को कारको में न रखने के कारण की जिज्ञासा। सम्बंध विभक्ती को कारकों में न रखने का कारण आत्मा में सम्बंधशक्ति का प्रकाश। ससंगता में विषैला जीवन। परमार्थ स्वस्वामी सम्बंध से अपरिचित पर्यायव्यामुग्धों को अपनी विपत्तिका भी अपरिचय। परविविक्त व स्वकत्वगत होने की शिक्षा के लिए सम्बंधशक्ति का वर्णन। सम्बंधशक्ति के परिचय का प्रयोजन अन्य पदार्थ के सम्बंध के विकल्प परिहार। अज्ञान में रागजन्य पीड़ा सहते जाने पर भी राग को न त्याग सकने की कुबुद्धि।

विकारों का अस्वामित्व। दृष्यमान पदार्थों की मायारूपता। बाह्य पदार्थों को अपना बनाने की रंच भी वजह की अशक्यता। सम्बंध शक्ति के परिचय से परविमक्तताका विशद बोध। आदि

इस परिच्छेद के प्रवचनों के कुछ अन्तिम शीर्षक—आत्मा में अर्थपर्याय व व्यंजनपर्याय । परविविक्त चैतन्यमात्र स्वके निर्याय में आत्मलाभ। अमूलाधार विभावव्यंजक पर्याय में मोही की वृत्ति। अज्ञानियों को ज्ञानियों की वृत्तिपर आश्चर्य। अज्ञानियों की अन्तःशरण्य से अपरिचितता। अपने ज्ञानमात्र स्वरूपकी धुन बनाकर भावमरण से छुटकारा पाने का अनुरोध। आत्माकी विभावद्रव्यव्यंजनपर्याय की उपपत्ति अखण्ड ज्ञानमात्र अंतस्तत्वके परिचय के लिए अनन्तशक्तियों का परिचयन। ज्ञानीकी बाह्यवृत्ति होन पर भी अर्न्तलीला का रहस्य । सत्वदर्शी के तत्वदर्शनकी सुगमता। अंतस्तत्वकी उपलब्धिके लिए असहयोग व सत्याग्रह का आंदोलन। आदि।

87 सप्तभंगीतरंगिणी—प्रवचन भीर्ष

स्याद्दसिद्धान्तका विवरण करने वाले सप्तभंगतरंगिणी ग्रन्थ पर महाराजश्री के जो प्रवचन हुए उनके शीर्षक इस पुस्तक में हैं। सप्तभंगों की उपयुक्तता के सम्बन्ध में प्रारम्भिक शीर्षक पढ़िए—

सप्तभंगतरंगों के अधिगम की आवश्यकता का आधार, स्वाथोधिगम व परार्थोधिगमका प्रकार, सप्तभंगों का विवरण, सप्त वाक्यों में अधिगम की पर्यापता का कारण, सप्तभंगों के निर्माणों में प्राशिनिक के प्रश्न का आधाराव, प्रकृतग्रन्थांक सप्तभंगी के लक्षण की अन्य आचार्यप्रणीत लक्षण से पुष्टि, सप्तभंगी के लक्षण में कहे गये अविरोद्ध शब्द की सार्थकता का विवरण, सप्तभंगी के लक्षण में एकवस्तु विशेष्यक शब्द की सार्थकता, सप्तभंगी के लक्षण में सप्त शब्द की सार्थकता, अधिगम में सप्तभंगी की संभवता, सप्तभंगी के विधान में प्रश्न, जिज्ञासा, प्रश्नज्ञान व समाधान का सम्बन्ध, प्रश्नकर्ता की सप्तविध जिज्ञासा का कारण।

स्यादस्त्येव जैसे प्रथम भंगी कहे गये सब शब्दों की उपयोगिता का दिग्दर्शन इन कुछ शीघ्रक में कीजिए—प्रथम भंग में अवच्छेदकता व अवधारण का प्रकाश, शंकाकार द्वारा एवं शब्द की व्यर्थता का निरूपण, एवं शब्द की अव्यर्थता व आवश्यकता का निरूपण एवं शब्द की व्यर्थता की शंका व उसका समाधान, द्योतक शब्द के लिए अन्य द्योतक शब्द की अनपेक्षा का कथन, द्योतक शब्द में भी अन्य द्योतक शब्द जुड़ने की एक शंका व उसका समाधान, अन्यव्यावृत्तिवाद में एवं शब्द की व्यर्थता की आशंका व उसका समाधान, एवं शब्द की अयोगव्यवच्छेद बोधकता, एवं शब्द की अन्ययोगव्यवच्छेद बोधकता, एवं शब्द की अत्यन्तायोगव्यवच्छेद बोधकता, स्यादस्त्येव घटः इस प्रथम भंग में संयुक्त एव की अत्यन्तायोगव्यवच्छेद बोधकता होने से अनिष्ट निवृत्ति के अभाव की शंका, प्रथम भंग में प्रयुत एवं शब्द की अयोगव्यवच्छेदबोधकता का समाधान, अस्ति के साथ एव शब्द के योजित रहने पर भी उसके अयोगव्यवच्छेदरूप अर्थ का वर्णन, एवं मरका अन्यनिवृत्तिरूप उद्देश्य स्यात् शब्द की अनेकान्त अर्थ में वृत्ति, भंगों में स्यात् शब्द की उपयोगिता, स्यात् शब्द की स्याद्वाद न्याय में आवश्यकता, स्यात् शब्द के प्रयोग की व्यर्थता की शंका, स्यात् शब्द की अव्यर्थताका व स्यात् शब्द से द्योतित अर्थ का वर्णन।

घट का स्वरूप सत्व व पररूपासत्व की धाराये देखिये इन कुछ शीर्षकों में—घटपटवाक्य स्वरूप से अस्तित्व वापररूप से नास्तित्व, नाम स्थापना द्रव्य भाव में विवक्षित स्वरूप से अस्तित्व व अन्यरूप से नास्तित्व, परिर्गहीत घटष्टि स्थोल्यादि धर्म स्वरूप से घट का अस्तित्व व इतर घटादि धर्मरूप पर रूप से नास्तित्व, पूर्वापरान्तरात्मवर्ति घट पर्यायस्वरूप से अस्तित्व पूर्वातरा यायोवसे नास्तित्व, वर्तरान क्षणवर्ति घट पर्यायस्वरूप से अस्तित्व व अतीतान्तगत घट पर्याय पर रूप से अस्तित्व, घटका पृथुबुध्नोदराथाकार स्वरूप से अस्तित्व, घटनाक्रियाविषय कर्तृत्व स्वरूप से अस्तित्व कुटत्वादि पर रूप से नास्तित्व, द्रव्यापेक्षया मृदात्मकता स्वरूप से घटका अस्तित्व व सुवणेधात्मक पर रूप से नास्तित्व, घटका स्वक्षेत्र की अपेक्षा से अस्तित्व व परक्षत्रापेक्षया घटका घटत्व स्वरूप से अस्तित्व व

पटत्वादिपररूप से नास्तित्व घटत्वेनास्ति व पटत्वादिना नास्ति इन दो वाक्यों का बोध प्रकार।

अवतव्यान्तयक चतुर्थ भगं के विषय की जानकारी के अनुमान के लिए इन शीर्षकों को पढ़िये— चतुर्थ भगं के विवरण का उपक्रम, घटकी अल्लव्यता के सम्बन्ध में शंका और समाधान, एकापद की एकार्थवाचकता के नियम में शंका व उसका समाधान, एक पक्ष की एकार्थवाचकता की भांति एक वाक्य की एकार्थविषयता का निरूपण, अवतव्य भगं की सकारण उपपत्ति वर्णन, शंकाकार द्वारा एक शब्द की नानार्थवाचकता दिखाकर अल्लव्य भगं की अनावश्यकता का प्रतिपादन, एक शब्द की नानार्थ प्रतिपादनशक्ति होने से अल्लव्य भगं की आवश्यकता का सयुक्तिक विवरण, एक शब्द द्वारा अनेकार्थ का प्रतिपादन होने की पुनः शंका व उसका समाधान, वृक्षो वृक्षोः आदि पदों से अनेका का बोध होने से रूप शंका व उसका समाधान, प्रत्ययवान प्रकृति शब्द से भी एक शब्द की एकार्थाधिकता के नियम का अभगं, प्रत्ययवान, प्रकृतिशब्द के प्रयोग में एक शब्द से अनेक धर्म का परिज्ञान होने की शंका, प्रत्ययवान प्रकृतिशब्द के प्रयोग में दो धर्मों का प्रधानता व गौणत्व से परिज्ञान होने से एक शब्द की एकार्थ वाचकता के नियम का अभगरूप समाधान एक द्वारा एक अर्थ ही वाक्य होना में ननपर अनेकान्त की सिद्धि के अभाव की शंका व उसका समाधान, अल्लव्य शब्द से उभयधर्मात्मक की वाच्यत सिद्ध करने के लिये द्वन्द्व समास की साक्षिताका शंकाकार द्वारा कथन व उसका समाधान, द्वन्द्वगर्भित तत्पुरुष समास की साक्षिता में भी अल्लव्य शब्द से उभयात्मिक पदार्थ वाच्यता की अनुदभूति, अल्लव्य शब्द की वाच्यता के सम्बन्ध में शंका व उसका समाधान, संकेत सिद्ध मानकर भी अल्लव्य शब्द से उभयात्मक पदार्थ की वाच्यता का अभाव, स्याद अबतब्यत्व में एकान्त से अबाच्यता के अभाव की ध्वनि।

एक वस्तु में सत्व असत्व दोनों के होने के समर्थक प्रवचन में शीर्षकों से सत्व व असत्व के अविरोधका परिचय प्राप्त कीजिए:— एक वस्तु में सत्व व असत्व की प्रतीति का कथन, एक वस्तु में सत्व असत्व के रहने में वध्यघातभावरूप विरोध कहने के पक्ष में दोनों की अवस्थिति का समर्थन, एक वस्तु में सत्व और असत्व के

सहानवस्थारूप विरोध का अभाव, एक वस्तु में सत्व और असत्व के रहने में प्रतिवच्य प्रतिबन्धक भावरूप विरोध का अभाव, एक वस्तु में सत्व और असत्व के विरोध में शंकाकार द्वारा दिये गये उदाहरणों के विरोध की सिद्धि का अभाव, एक वस्तु में सत्व और असत्व के रहने में वैयधिकरण्य दोष का अभाव, एक वस्तु में सत्व और असत्व के मानने में अनवस्था दोष अभाव, एक वस्तु में सत्व और असत्व के रहने में संकर दोष का अभाव, एक वस्तु में सत्व असत्व के रहने में वैयधिकरण्य दोष का अभाव, एकवस्तु में सत्व और असत्व के रहने के विषय में संशय, अप्रतिप्रति व अभाव दोष का अभाव, हैतु वाद में साधकत्व व दूषकत्वकी स्थिति की भांति एक वस्तु में सत्व असत्व की सिद्धि ।

88 पच्चीध्यायी प्रवचन भीर्ष

इसमें पच्चाध्यायी ग्रन्थराजपर श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजके जो प्रवचन हुए उनके शीर्षक है। पच्चाध्यायीप्रवचन 1 से 8 भाग तक के प्रवचन सहारनपुर प्रेस में छप रहे हैं। अतः उनके शीर्षक अभी यहां न होने से 9 वें भाग तक के प्रवचनों के शीर्षकों में कुछ उद्धतकर रहे हैं। देखिये 29 वें श्लोक से कुछ शीर्ष—सात तत्वों में जीवतत्वकी प्रागुद्देष्यता, जीवतत्वके अस्तित्वकी सिद्धि, जीवद्रव्यकी अमूर्तर्तिकता अनन्तधर्मात्मकता एवं अविनाशिता। जीवद्रव्यक साधारण गुणोपेतत्व एवं असाधारणधर्मभाक्त्व, जीव द्रव्य की विश्वरूपता व अविश्वस्थता, जीवद्रव्यकी सर्वोपेक्षता व सर्ववेदिता, आदि।

देखिये 67 वें श्लोक से कुछ शीर्षक— मोहकर्मावृत बद्धज्ञानकी विडम्बना, अबद्धमोहातिकान्त ज्ञानकी शुद्धता और महिमा, शुद्ध अबद्ध ज्ञानसे ही महतव ब शाश्वत कल्याण, अबद्ध ज्ञानमें मलिन अनुभूतिक अभाव। सोदाहरण अमूर्त आत्माका मूर्त कर्म के साथ बन्ध हो सकने का निर्णय, बद्धत्व व अशुद्धतवके स्वरूपकी जिज्ञासा, जीनके बद्धत्वका वर्णन, वैभावकी शक्तिकी व उसके उपयोगकी बन्ध में अहेतुता व रायतताकी बन्ध में प्रयोजकता, तैभाविकी नामक उपजीविकी शक्तिको बन्धहेतु माननेपर मुक्ति की असंभवता का प्रसंग, वैभाविकी शक्ति के उपयोग मे भी बन्ध की अहेतुता, आदि

देखिये 135 वें श्लोक से नयापेक्ष जीवत्व के वर्णन के विषय के शीर्षक—व्यवहारनय और निश्चयनय में अन्तर, शुद्धनय से जीवका स्वरूप, व्यवहारनयसे जीवका स्वरूप, एकत्वभक्ति शुद्ध आत्माकी व्यवहाराश्रयण बिना प्रसिद्धि की अशक्यता, सम्यक्त्वगोचर शुद्धनयकी ही प्रयोजकता होने के कारण व्यवहारनयकी अवाच्यता की सूचि का एक आरेका, उनके शंका के समाधान में न्यायबल से व्यवहारनयकी उपागिता का कथन, शुद्धनय व व्यवहारनय दोनों को अपने स्थान में लाभकारिता, आदि

देखिये 153 वें श्लोक से शीर्षक—जीव और पुदगल की प्रत्येक की 9 अवस्थाएं होने का कारण, पुदगल की 9 अवस्थाएं, शुद्धता व अशुद्धता का अर्द्धभूतार्थ के आश्रयण में सम्यक्त्वाविभूर्ति, भूतार्थ का आश्रय करने वाले की दृष्टि, सम्बद्ध जीव पुदगल में ही निमित्त निमित्तक भापूर्वक प्रत्येक की नब पदार्थ गत होने पर जीव के एकत्व की राजमानता, नबतत्व गत होने पर भी दृष्टि वल से जीव के एकत्व की उपलब्धि और अभूतार्थ गोपराता के कारण जीव के एकत्वका अदर्शन, आदि।

इन्द्रियज्ञानकी हेयताविषयक प्रवचनों के शीर्षक 280 श्लोक से — इन्द्रियजज्ञान की प्रवृत्तिकाल में भी दुख प्रदता, ज्ञान मात्र आत्मा के ज्ञान की अस्वभाव परिणति में कलुषताओं का प्रतिनिधित्व होने से इन्द्रियज ज्ञान के दुख प्रदत्वका वर्णन, प्रयत्तता व निकृष्टता होने के कारण इन्द्रियज ज्ञान की दुःख प्रदता, व्युच्छिन्नता और कृच्छता होने के कारण इन्द्रियज ज्ञानकी दुःख प्रदता, परोक्षअक्षय अंशयादिदोषमय इन्द्रिय ज्ञानकीद्वैअनादोयता, विरुद्ध होने से इन्द्रिय ज्ञानकी अग्राह्यता, कर्मज होने से इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता, अश्रेयोमय होने से इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता, अशुचि होने से ज्ञानकी अग्राह्यता, मूर्चिच्छ होने से इन्द्रियज ज्ञानकी अग्राह्यता, आदि।

सम्यक्त्वस्वरूपसंकेतक प्रवचनों के शीर्षक 381 श्लोक से—सम्यक्त्वकी निर्विकल्पता, दृष्टान्त द्वारा सम्यक्त्वाभ्युदय में आत्मप्रसाद का कथन, दर्शनमोह का उपशम होने पर सर्वप्रदेशों में शुद्धता व प्रसन्नता, सम्यक्त्वका अर्जय होने पर असुविधा व संकटों

को समाप्ति, दर्शनमोह के उदय व अनुदयमें जीव के मूर्च्छित व अमूर्च्छित रहने के सम्बन्ध में दृष्टान्त, दर्शनमोह के उदय से मूर्च्छा वैचित्य एवं भ्रम और दर्शनमोह के उपशान्त होने पर मूर्च्छाविनाश हो जाने से जीव की निरामयता, आदि।

सम्यक्त्वका लक्षण अनिर्वचनीय है फिर भी प्रधान चिन्ह स्वानुभूति है, शेष जितने लक्षण बताये जाते हैं वे सब उपलक्षण हैं इस सम्बन्ध के प्रवचनों के 466 श्लोक से शीर्षक देखिये—उपलक्षणका लक्षण, संवेगका लक्षण एवं सम्यक्त्वका उपलक्षण भक्ति तथा वात्सल्य, भक्ति एवं वात्सल्य, भक्ति एवं वात्सल्यका स्वरूप विश्लेषण, संवेग और सम्यक्त्वका लक्षण और उपलक्षणना भक्ति एवं वात्सल्यमें घटित होने का विवरण, प्रशमगुणका अभिव्यञ्जक निन्दक और गर्हण, निन्दन गुण का स्वरूप, प्रशमगुणगर्भित सम्यक्त्वका उपलक्षण निन्दन और गर्हण, आदि

सम्यक्त्व के आठ अंगों के प्रकरण में पढ़िये कुछ शीर्षक 592 छन्द से—अर्थाभास में भी मूढ़ न हो सकने वाले जीव के मिथ्यार्थ में भगम को नितान्त असंभवता, अनिष्ट फल प्रद लौकिकी रूढ़ि की निःसार पुरुषों द्वारा आश्रितता का ज्ञानी द्वारा चिन्तन, अफला, अनिष्टफला हेतु शून्या योगापहारिणी लौकिकी रूढ़ि की दुष्कर्मपाकवश अज्ञानी जनों द्वारा दुस्तयाज्यता, देवमूढ़ता धर्ममूढ़ता व गुरुमूढ़ता लक्षण, लोक—मूढ़तावश देहिक सुखो के लिए दुर्बुद्धियों द्वारा कुदेवों का आराधान, आदि

परमेष्ठीस्वरूपके प्रकरण के 694 श्लोक से शीर्षक—आचार्य उपाध्याय व साधुवों में गुरुत्वकी समानता का सयुक्तिक वर्णन, शुद्धिकी तरतमता से प्रत्येक में बहुविधता, आचार्य के भी जघन्य, मघन्य, व उन्नत विशुद्धि का अवसक, आचार्य परमेष्ठी की विशुद्धि व बहुविधतायें श्लोक से संज्वलनस्यद्धेकों की कारणता तथा धर्मोपदेशादिकी अकारणता उपाध्याय व साधुवों में भी विशुद्धितारतम्य से भेद होने पर भी गुरुत्व की अपेक्षा तीनों में अविशेषता, आचार्य परमेष्ठी के जघन्यमध्यमादि विशुद्धि में धर्मोपदेशादि बाह्य क्रियाओं से

विशुद्धि में बाधा का अभाव, बाह्य क्रियाओं को करके भी उनकी अनिच्छाकी आचार्य में विशेषता, आदि

ज्ञानचेतनाविषयक प्रकरण में देखिये कुछ शीर्षक 823 वें श्लोक से –सम्यग्दृष्टि का प्रधानगुण ज्ञानचेतना में श्रद्धानादि सर्वगुणों का पूरकत्व, सरागसम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना न हो सकने की शंकाकारकी आशंका, उक्त शंका के समाधान का प्रारम्भ, उक्त शंका का शान्तिपूर्वक समाधान का उद्यम, सम्यग्दृष्टि से ज्ञानचेतना को पृथक किये जाने की अशक्यता, ज्ञेयार्थान्तरसडरूप ज्ञानबिकल्पकी सम्यग्दर्शन में असंयोज्यता, ज्ञायिकज्ञान में संक्रान्तिकी भी असंभवता, जाननमात्ररूप विकल्पकी ज्ञानस्वरूपता, स्वापूर्वार्थग्रहणकी ज्ञानलक्षणता आदि।

वैभावकिभावों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है उस प्रकरण के कुछ शीर्षक देखिये श्लोक 963 से –स्वान्तः परीक्षणका महत्व व कर्तव्य, वैभाविक भावों के सम्बन्ध में चार प्रश्न, महाप्राज्ञ साधु शंकाकारको ग्रन्थकार द्वारा समाधान का आश्वासन, वैभाविक भाव कितने हैं कैसे हैं किस नामवाले हैं किस उपाय से ज्ञेय हैं इन चार प्रश्नों का समाधान देने का प्रमाणिक संकल्प, भावों की असंख्यातलोक प्रमाणता ब जाति की अपेक्षा से पच्चप्रकारता, जीनके पच्च भावों का निर्देश आदि।

89 अध्यात्मभावना

इस पुस्तक में मनन करने योग्य अध्यात्मभावनाये हैं—प्रथम ही प्रथम मनन कीजिये—

मैं हूँ, जाननहार हूँ, प्रतिभावस्वरूप हूँ, भावस्वरूप हूँ, अपने सत्वमात्र हूँ, अनादि सिद्ध हूँ, अविनाशी हूँ, सर्व अन्य पदार्थों से निराला हूँ, ज्योतिस्वरूप हूँ, देह से निराला हूँ, जाननमात्र हूँ, विकार से परे हूँ, जैसा मैं सहज स्वयं अपने सत्वमात्र हूँ, वैसार ही मुझे प्रकट रहना है, बस यही मेरा प्रोग्राम है। इसी प्रोग्राम में मेरी मेरे सहजस्वरूप में धुन रहे। ओं शुद्ध चिदस्मिं

मैं केवल रह जाऊं, यही मेरी पवित्रता है, यही मेरा उत्कृष्ट स्वरूप है, यहां पूर्ण सत्य आनन्दमय स्थिति है: यहाँ परमकल्याण है, यही सर्वोपरि वैभव है। बस, जब मुझे केवल रहना है तो अन्य किसी पदार्थ से मेरा क्या प्रयोजन? केवल मेरा यही अनुभव होवे—मैं सबसे निराला केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। ओं शुद्धं चिदस्मि।

मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, इस मुझका यहां किसी को परिचय नहीं, तब मैं अपरिचितों से क्या लेह लगाऊं, अपरिचितों में उपयोग लगाने से फायदा कुछ नहीं। जैसे अजानकार भीत आदि से सिर अड़ाने में, सिर पटकने में, सिर ही फूटेगा, ऐसे ही अजानकार लोकजनों में उपयोग लगाने से, नेह रखने से स्वयं की बरबाद ही होगी, मुझे बरबाद नहीं होना, मैं अपरिचितों में नहीं फसूंगा, मैं स्वयं में ही रमूंगा। यह मैं स्वयं शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। ओं शुद्धं चिदस्मि।

मेरी रक्षा कहां है। इसका मनन कीजिये—मेरी रक्षा अनाकुलता में है। अपने को अनाकुल रखने की भूमिकान में आने के लिए पहिले बाह्य अदयाको मिटाना है, मेरे में किसी को भी आकुलित करने की वृत्ति मत जगो। सब जीव मेरे ही समान हैं। संसार में सभी जीव अपने अपने भाग्य से जीवनका साधन पाये हुए हैं, मैं किसी का कुछ नहीं करता। किसी पर भी मेरे में अदया मत जगो। शान्त अन्तः स्वरूपमें ही मेरी दृष्टि रहो। ओं शुद्धं चिदस्मि। मेरी रक्षा अनाकुलता में है। अपने को अनाकुल रखने के लिए वचन व्यवहारमात्र भी न करना होगा। असत्य, अहित, अप्रिय वचन बोलना तो नियम से आकुलता को ही बढ़ायेगा। ऐसे वचन व्यवहार से तो हटना ही है। असत्त्वचनको निवृत्ति अपने को संयत रखनेपर भले प्रकार होगी। अतः मैं पवित्र आचार विचार में रहूँ और सतय हित प्रियतम निज प्रभुको निहारता रहूँ। ओं शुद्धं चिदस्मि।

मेरी रक्षा अनाकुलता में है। अपने को अनाकुल रखने के लिए परको त्यागकर अपने को अपनाना होगा। मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, इसके अतिरिक्त जितने भाव हैं—काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, विरोध, विकल्प आदि भाव हैं, वे सब पर हैं, जितने भी पदार्थ हैं वे सब पर हैं। उन सर्व पर पदार्थ व परभावों को ग्रहण न करके निज सहज

ज्ञानमात्र स्वरूपको ही ग्रहण करूं और अनाकुल होऊं। ओं शुद्धं चिदस्मि।

मेरा कल्याण का मामला तैयार और मेरी प्रसन्नता भी यहां हैं। जरा मनन कीजिये—

मेरा कल्याण मामला तैयार है। ज्ञान भी योग्य पाया है, जीवन निर्वाहकी भी चिन्ता नहीं, अन्तर्दृष्टि से अन्तःस्वरूपका अनुभव भी हो चुका है। अब तो केवल यह साहस करना है कि व्यर्थ अनर्थ का जो परविषयक विकल्प चल रहा है उसे फेंक देना है। समझ लूं कि मैं इस भव से मरण कर गया हूं, कहीं अन्य कीड़े आदि भवमें होऊं उससे तो अच्छा हूं यहां। अब गुप्त ही गुप्त अन्तः साहस करके, परविषयक राग दूर करके अपने में समा जाऊं। ओं शुद्धं चिदस्मि।

मेरी प्रसन्नता मुझ में है। उसका साधन निष्पाप जीवन है। पाप व्यर्थ का और अज्ञानमय परिणाम है। पापमय जीवन न बितायें तो इसमें कुछ घटता है क्या? वास्तविक आनन्दकी वृद्धि ही होती है। निष्पाप जीवन बनाने में निष्पाप अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि का बड़ा सहयोग है। इस दृष्टि के प्रताप से निष्पाप जीवन व्यतीत हो जाता है और भविष्य में सदा निष्पाप रहकर शाश्वत प्रसन्नता बरतती रहती है। मैं निष्पाप शुद्ध चैतन्यमात्र हूं। ओं शुद्धं चिदस्मि।

मेरा साथी कौन है? गहरी दृष्टि से जांच करो और उसकी निष्कपट सेवा करो। मनन कीजिये— पृ010 —

मेरा साथी कौन? मेरा आचरण। लोक में लौकिक साथी जो कोई हो जाते हैं वे मेरे पुण्योदय से। वह पुण्य बंधा था मेरे कुछ सहो आचरण से। सो यहां भी साथी हमारा पूर्व आचरण रहा। आज भी हम सही आचरण वाले जचते हैं लोगों को तो लोग साथी बनते हैं। यह तो है कुछ बाह्य आचरण की बात। यदि मैं। अपना अन्तः आचरण सम्हालूं, अविकार शुद्ध चिन्मात्र स्वतत्त्वकी स्व जानकर स्वमें रमूं तो वहां स्वयं शरण्य हो जाता। फिर साथी की अपेक्षा या चर्चा ही नहीं। वहां तो कल्याणार्थी लोक स्वयं भक्त, उपासक हो जाता। मेरा शरण चिन्मात्र स्वतत्त्व जयवन्त होओ। ओं शुद्धं चिदस्मि।

प्रियतम आत्मन् अपने को भाररहित बनाओ और सत्य आराम पावो। इसका मनन करें—पृ० 11—

प्रियतम आत्मन् अपने ज्ञानस्वरूपको अपने ज्ञानमें लो और अपना कल्याण करलो। बाहर कहीं भी तेरा कुछ तत्त्व नहीं है। परमार्थविषयक कल्पना का भार ही तेरे पर बड़ा भार है। तीन लोक का सारा पौद्गल ढेर तेरे पर आ गिरे, उसका भी कोई भार बोझ तुझ में लग बैठे हैं, इनके बोझ से तेरी बरबादी हो रही है। विकल्पों को छोड़ परपदार्थों को विषय न बना, ज्ञानस्वरूप को ही ज्ञान में ले और शान्ति का मनन कर—मैं ज्ञानमात्र हूँ। ओं शुद्धं चिदस्मि।

मुझे अपना किस रूप अनुभव करना चाहिए जिसमें मेरा शाश्वत परम हित है। इसका उपाय बनाइये मनन कीजिये— पृ० 12—

ज्ञानाकार की प्रधानता से मुझे ज्ञानका अनुभव होओ। ज्ञेयाकारकी प्रधानता से मुझे अपना अनुभव मत होओ। यद्यपि ज्ञानाकार व ज्ञेयाकार दोनों ही मुझ में हैं, फिर भी ज्ञयलुब्धता ही विचित्र ज्ञेयाकारों की प्रधानता से अपने अनुभव का कारण है, ज्ञेयलुब्धताअनर्थ हैं। अतः मुझे अपना अनुभव ज्ञेयाकार की प्रधानता से मत होओ। मैं विशुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र हूँ, इस ज्ञानकारका ही अनुभव रहो। ओं शुद्धं चिदस्मि।

90 सहजसिद्धसहस्रनामस्तोत्र टीका

अध्यात्मयोगी पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराने आत्माके 1008 नाम ऐसे इस सहस्रनामस्तोत्र में बनाये जिनेस आत्माका सही परिचय मिलता है व उसके प्रति भक्ति भी उमड़ती है। जिस आत्मतत्त्वका परिचय इन नामों में दिया है सहजसिद्ध। सह आत्मस्वरूप सहजसिद्ध है इसकी उपासनासे आत्मा प्रकट सिद्ध होता है।।

इस सहजसिद्ध नाम स्तोत्रकी टीका भी पूज्य श्री वर्णी जी महाराजने की है। शब्दार्थ व्युत्पत्तिपूर्वक प्रत्येक नामों का मर्म इसमें स्पष्ट है। यह टीका भी संकट भी संस्कृत भाषा में ही बनाई गई है। अभी यह ग्रन्थ अप्रकाशित है।

91 मंगलतन्त्र

इस पुस्तक में वे सद्बचन तात्पर्यसहित हैं जिन वचनों की पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज प्रवचनों में पहिले बोलते हैं और निन्हें श्रोतागण दुहराते हैं वे वाक्य ये हैं:— ओं नमः शुद्धाय, ओं शुद्धं चिदस्मि। 1. मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं, अतः निर्भर हूं। 2. मैं ज्ञानघन हूं, मेरे स्वरूपमें अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूं, इत्यादि।

92 प्रभुस्वरूप

इस पुस्तक में उपसाय प्रभुके स्वरूपपर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। प्रभुस्वरूप समझनेकी कुंजी यह है कि पहिने अपने में यह निर्णय करलें कि हमारी कौन सी स्थिति स्वाधीन निराकुल, तृप्त और परिपूर्णविकासका हो सकती है। अन्तदृष्टि करने से इसका समाधान मिल जाता है। बस ऐसी उत्कृष्ट निर्मल कैवल्यदशा जिनके प्रकट हुई है वे उपसाय प्रभु हैं। कल्याण के लिए लिए प्रभुभक्ति आवश्यक है और प्रभुस्वरूप जाने बिना प्रभुभक्ति कैसे हो? प्रभुस्वरूप जानने के लिए यह पुस्तक मननीय है। यह पुस्तक अभी अप्रकाशित है।

93 दर्शनाध्यात्मदर्शन

जितने भी दर्शन हैं उनका प्रयोजन अध्यात्मसाधना है तो वे दर्शन हैं अन्यथा वह आग्रहमात्र है। पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराजने सभी दर्शनों में यह सारांश निकालने का यत्न किया है कि इस मंतव्य में इन अध्यात्मनिधिका दर्शन हो सकता है। यह ग्रंथ विशाल बनेगा, अभी इसका निर्माण चल रहा है।

94 समाधिमरण

विवेकी मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सत्य ज्ञान प्राप्त करे और उसके अनुसार अपने आत्मा में सत्य सहज स्वरूपका अनुभव करें, श्रद्धान करे। तथा यथाशक्ति ब्रत तप संयम में अपने की लगाये। अन्तमें मरण समय शुद्ध और ससाभ्य भाव रखे। इसके लिए समाधिमरण एक महोत्सव कहा गया है। उसका इस पुस्तक में सविधि वर्णन है। अभी यह ग्रंथ अप्रकाशित है।

95 आत्माकी अभेद षट्कारक भाक्तियां

पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराज द्वारा प्रणीत इस ग्रंथ की एक अनोखी विशेषता यह है कि इसमें हितकारी शुद्ध पद्धति का वर्णन है। अभेदषट्कारकताका संक्षिप्त सारांश यह है कि एक द्रव्य में उसी को कर्ता कर्म करण सम्प्रकरकको ादान अपादान व आधार जानना। इस ज्ञानके प्रकाश से आत्मा अध्यवसानसे, व्यर्थ विकल्प से दूर हो जाता है। इसके पश्चात् यदि कारक प्रक्रिया से भी उत्तीर्ण हो जाय तो उसका परसहित हो जाता है। इसका अध्ययन कीजिये निम्नांकित निबंधांशमें—

अभेदषट्कारकप्रक्रियाप्रयोगसे भी बढ़कर कारकप्रक्रियोत्तीर्णता में साक्षात् स्वसंवेदन का अवसर:— यद्यपि औदषट्प्रक्रिया भी उपयोगी है। वह कहां उपयोगी है। जो पुरुष भिन्न षट्कारकों के प्रयोग में ही उलझ रहा है और वही इसे तथ्य दिख रहा है तो भिन्न षट्कारक की बातजैसे मैंने मकान बनाया, मैंने रूप्यों से मकान बनवाया, अमुक के रहने के लिए बनवाया, ऐसी जो भेद की बात लोग लादे हुए हैं और उस कर्तव्य में अहंकार बनता है।— मैंने किया। और, उस अहंकारके फल में इसे क्षोभ होता है। सो इस महान दुःख को मिटवाने के लिए समझाया है अभेद षट्कारक के द्वारा। अभेद षट्कारकके द्वारा उसकी विधि समझने के द्वारा दो काम तो बनते हैं—एक तो भिन्न षट्कारकपने का निषेध हो जाता है। कौन कहता है कि मैंने मकान को किया? मैंने तो मकान संबंधी विकल्पको ही किया। यहां ही अपना जाननपरिणमन बनाया। ऐसा ही मैं कर रहा, इससे आगे मैंने कुछ नहीं किया। तो वह भिन्न कारकता, भिन्न क्रियापनेका जो एक संस्कार लगा है, जिससे कर्तृव्यबुद्धि बन रही है उसका प्रतिषेध करने के लिए, वह किस प्रकार मिटे इसके लिए अभेद षट्कारकके द्वारा एक तो यह काम किया है कि भिन्न षट्कारकका भ्रम दूर कर दिया गया और एक ऐसी पात्रता ला दी गई कि वह इस विकल्प से भी हटकर उस अभेद अखण्ड आत्मद्रव्यका लक्ष्य में ले ले। इसके दोनों ही काम हुए। जैसे बताते हैं कि तीन प्रकार के आत्मा होते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, जिनमें अन्तरात्मा होना दो कामों के लिए है—बहिरात्मत्वको छोड़ दे और परमात्मत्व में आये। तो

बहिरात्मतवके त्याग का साधन बना और परमात्मा होनेका, क्षोभ मिटाने का साधन बना। इसी प्रकार अभेद षट्कारककी प्रक्रिया का प्रयोग भेद षट्कारकके उल्लान और क्षोभ मिटाने का साधन बना। और अभेद आत्मद्रव्य में पहुचनेका प्रयोग भेद षट्कारकके उल्लान और क्षोभ मिटाने का साधन बना और अभेद षट्कारककी प्रक्रियाका प्रयोग भेद षट्कारकके उल्लान और क्षोभ मिटाने का साधन बना और अभेद आत्मद्रव्य में पहुचनेका भी साधन बना। यों अभेदषट्कारकका प्रयोग भी उपयोगी है तथापि जो साधन है सो साध्य नहीं है, यह साधन है और पूर्ववर्ती पर्याय है। लक्ष्य में क्या लेना है? जब इस ओर आग्र बढ़ते हैं तो प्रक्रियावों से उर्तीर्ण है। यद्यपि उस समझने के मार्ग में अभेद षट्कारक प्रक्रियाकी बात आयी थी। उस से गुजर करके अब आगे चले तो उससे उत्तीर्ण हो गये। उत्तीर्ण कहते हैं पर होने को। जैसे सिद्धभगवान गुणस्थानसे उत्तीर्ण है, कभी ये गुणस्थान उनके थे। उनसे चलते आये लेकिन अब वे उत्तीर्ण हैं अर्थात् अब उन गुणस्थानों को पार करके यहां आये हैं। ज्ञानीजन अब यहां बता रहे हैं कि षट्कारकको प्रक्रिया से अब वे उत्तीर्ण हो गये। अब यह आत्मद्रव्य अपने उपयोग में जमा रहता है।

निश्चयनय का तो वास्तव में विषय अद्वैत है। उसमें षट्कारकताका प्रयोग करना व्यवहारका काम है। इस दृष्टि से यह कहना युक्त है कि केवल में व्यवहारपद्धति से निरीक्षणका फल है अभेदषट्कारता। इस विषयका अवलोकन कीजिये निम्नांकित निबंधाश में—

केवल में व्यवहारपद्धति से निरीक्षण का फल अभिन्न षट्कारकता का परिचय—यहां एक शुद्धकी दृष्टि से सब निरखना है। केवल को देखना है। उस केवल में क्या बात गुजर रही है और इस बात को समझना है एक व्यावहारिक ढंग से। केवल में गुजर क्या रहा है इसी बातको समझ रहे हैं हम व्यवहार पद्धति से तो इस मेल में कि समझा तो जाता है केवल द्रव्य और समझ रहे हैं इस व्यवहार पद्धति से तो यहां अभेद षट्कारकता की जानकारी उत्पन्न होती है। अपने को क्रिया, अपने लिए क्रिया, अपने से क्रिया, अपने में क्रिया, अपने द्वारा क्रिया, अपने आप में क्रिया। यह बात इन बातों के मेल से समझ

में आयगी कि देखते हैं केवल को और देख रहे हैं हम व्यवहारपद्धति से। निश्चयपद्धति में तो षट्कारकता नहीं चलती है। वहां तो एक सस्तुस्वभाव निरखा जा रहा है और जिसको कि परमार्थतः प्रतिषेधगम्य भी कहते हैं तो अब केवल में व्यवहारपद्धति से देखा जा रहा है तो इस अवस्था में भी जीव अपने ही कारकों के अनुसार अपनी परिणामी हुई रूप परिणति को करता जा रहा है। यह तो बात एक अशुद्धताकी कही, लेकिन यह विकार अशुद्धता, यह आत्माका स्वभाव नहीं। आत्माकी शक्तियों के स्वभाव से इस प्रकार की बात याने संकट नहीं है। हो गया आत्मापर, गुजर गया आत्मापर, पर ऐसा नहीं कर रहा है ऐसी कोई विशेषतायें हुआ करती है। तो इसी तरह अनादि परम्परा से अशुद्ध हुए आत्मा में एक ये विषमतायेंच ल रही हैं, परन्तु आत्मा में आत्मस्वरूपका निर्माण करने वाली शक्तियों में यह स्वभाव नहीं पड़ा है कि वह विकार करे। अशुद्ध निश्चयसे जीवकी भावकर्म के साथ अभिन्नषट्कारकता निरखने पर्यायको निमित्तसम्मुख न देखा, किन्तु द्रव्यसम्मुख देखा और द्रव्यसम्मुख देखने से यह अशुद्ध पर्याय मिटे ऐसा अवसर पा लिया जायगा।

आत्मा स्वभावरूप परिणम रहा है उस समय इस क्रिया में अभेद षट्कारकता किस प्रकार है। इसका अध्यय कीजिये निम्नांकित शीर्षक के निबन्ध में—

स्वभावपरिणमन क्रिया में अभेद षट्कारकता: यहां स्वभाव परिणमनकी बात देख लीजिये। अनन्त ज्ञान मिला, अनन्त आनन्द हुआ वह पूर्ण स्वभाव प्रकट हुआ वह कैसे प्रकट हुआ? क्या विधि बनी? वस्तुतः उसको एक शब्द से बता दिया। वह तो स्वयंभू है। स्वयं हुआ है, स्वयं में हुआ, स्वयं के लिए हुआ और वह जो हुआ वह स्वयं ही है। धर्म और स्वयं के साधन से हुआ, वह अनन्त शक्ति, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द रूप परिणमन जो हुआ वह ऐसा ही भरा हुआ था, स्वभाव वही प्रकट हुआ है उसे परख लीजिये। शुद्ध स्वभाव के दर्शन, आलम्बन, आश्रय से जो हो रहा है साधकदशा में भी वह अभेदषट्कारकरूपमें हो रहा है और जहां परमात्मदशा प्रकट हुई है वहां पर वह जो अनन्त ज्ञानस्वभाव रूपसे व्यक्त हुआ है उस व्यक्त होने में दूसरा मददगार हो रहा क्या कि दो मिलकर एक कामको कर

रहे हों? वह स्वतंत्र रूपसे अपने आपमें विकसित ह। अतः स्वरूपतः कर्ता है और उस स्थिति में प्राप्त क्या हुआ? पाया क्या गया? उस परमात्मा को मिला क्या? मिलने की बात कोई पृथक नहीं हुआ करती है। मिलना प्राप्य वह अपने आपका ही परिणमन होता है। उसमें प्राप्य हुआ वही स्वभाव है। वह अनन्त ज्ञानात्मक प्रकट स्वभाव कहीं परमात्मा से भिन्न चीज नहीं है, किन्तु तद्रूप है। वही प्राप्य है, वही कर्म हुआ। और, उसमें साधकतम क्या है? शुद्ध अनन्त शक्तियों का जो परिणमन है उसी स्वभाव से तो वह हुआ। किसी दूसरे साधन के द्वारा हुआ क्या? केवल ज्ञान किसी अन्य पदार्थ के साधन से बना है क्या? वह अपने ही स्वभाव से हुआ। वही कारण है। और केवलज्ञान होने का फल किसे मिला? उसी भगवान को मिला या अन्य और प्रभुओं को मिला? जो महा शुद्ध परिणमन है उसका फल अनुपम शाश्वत आनन्द में लीन रहना यह उनको ही तो मिला है। अथवा फल क्या है? उसका सहज उत्पाद व्यय ध्रुव्यमयी सत्ता से अनुस्यूत रहना यही फल है। तो सम्प्रदान भी यह आत्मा स्वयं अपने आपका है। अपादान—एक पर्याय से दूसरी पर्याय में आना, ऐसा होने से जहां से आया, जिस द्रव्य से आया वह द्रव्य तो ध्रुव हैं, उसी को अपादान कहत हैं। आपादान कौन है? वही आत्मद्रव्य। यह पर्याय कहां से निकली है? इस आत्मद्रव्य से। जैसे वृक्षसे पत्ता गिरता है—वृक्षमें पंचमी विभक्ति लगाते हैं क्योंकि पत्ता गिर रहा है वह निकल रहा है। जहां से निकल रहा है वह ध्रुव है। जिस वाक्यरचना में पंचमी अध्रुव पदार्थ में भी लगी हो तब भी भावना ध्रुव जैसी है, उस अपादानार्थ में पंचमी है और वहां अपादानपना जाता है। यहां ध्रुव अवस्था ही तो है, उस आत्मा में ही अपादान कारकता प्रकट हुई है। तो अपादान भी दूसरा नहीं है और अधिकरण तो स्पष्ट हो अभिन्न है। वह केवलज्ञान कहां विराज रहा है? वह शुद्ध अनन्त ज्ञानशक्ति का जो परिणमन है उसका आधारभूत यह स्वयं आत्मा है। जब स्वयं अभेद षट्कारकरूपसे उत्पन्न हुआ है तो स्वयं आविर्भूत हो गया है, इसलिए उसका नाम स्वयंभू है।

धर्म वास्तव में किसका आश्रय लेने में है इसका उत्तर देखिये—

शुद्ध अन्तस्तत्त्वके आश्रयण में धर्म: भैया, करना है तो धर्म का मार्ग यही है। अपने उस शुद्ध सत्वको निरखना जैसा कि सहजस्वरूप है। अपने आपको सही जानना क्या बुरा है? सही जानने की सब इच्छा करते हैं। कोई यह नहीं चाहता कि मैं उल्टा जानूं। उल्टा जानते हुए भी उसकी अभिलाषा यह नहीं है कि मैं उल्टा जानूं। जब सही जानने की अभिलाषा सबकी है तो क्यों न सही जानें? जब सही जानने चले तो पूर्ण सही बात यह मिली कि यह मैं शुद्ध सहज ज्ञानमात्र हूं। अगर यह बात आपको जच गई हो तो बस ऐसा ही जानो। उस ही में उपयोग लगाओ, उस ही की धुन लगाओ। भला होगा। संसार के जन्म मरण छूटेंगे, सदाके लिए बंधनका छुटकारा होगा। धन वैभव मकान स्त्री पुत्रादिक में अपने उपयोग को फसाना, धनके पीछे आने उपायोगकी मलिन करना यह तो मूढ़ता है इसमें कोई विवके है क्या? अपने आपकी करुणा नहीं है। यह तो अपने आप पर निर्दय हो रहा है ऐसा अपने शुद्ध स्वभाव का और विशुद्ध कार्य का निर्णय करके अब प्राकृतिक रूपसे अपने आपको इस मोक्षमार्ग बढ़ायें।

परद्रव्यभावों में ज्ञानी सध्यस्य रहता है उस विषय में ज्ञानी की अन्तः परिणाका अध्ययन कीजिये—

सर्व परभावों में ज्ञानी का मध्यस्थ रहने की अन्तः ज्ञानी को ऐसी अंतःप्रेरणा है, ऐसी भावना है कि यह मैं सबसे निराला स्वयं का कर्ता, स्वयं, कर्म, स्वयं ही षट्कारकरूप परिणमता हुआ एक स्वतंत्र सत् हूं। मेरे साथ लगा हुआ है तन, मन, वचन, आदिक का सम्पर्क, लेकिन ये तो सब परद्रव्य हैं, उनमें मेरा पक्षपात क्यों होना चाहिए, इस शरीर को आराम में रखना, इसको अच्छा स्वादिष्ट भोग न देना, इसको बहुत सजाना, इसकी सेवा में लगे रहना आदि सब शरीर के पक्षपात में क्यों पड़े हो? इसी तरह मन, वचन, आदिक का भी पक्ष न करो। इनत न, मन, वचन, आदिक का आधार तो यह अचेतन द्रव्य है। यह मैं नहीं हूं। वे सब तन, मन, वचन, काय क्या मेरे इस चैतन्यस्वरूपका आधार लेकर, आश्रय लेकर तन्मय होकर रह रहे हैं, परिणमन कर रहे हैं। अरे मेरे स्वरूपके आधार के बिना ही ये बने हुए हैं। इनमें तो मैं अत्यन्त निराला हूं। कोई यह सोचे कि मेरे स्वरूपका

आधार तो इन्होंने नहीं पकड़ा लेकिन तन, मन, वचन का कारण तो मैं होउंगा? अरे कहां है मुझमें कारणपना, उनका कारण तो उनका ही अचेतन द्रव्य है। मन, वचन, काय तो मुझे कारण के बिना ही अपने कारणसे परिणम रहे हैं, तब उनमें पक्षपात क्यों करूं? कोई यह सोचे कि मैं तन, मन, वचनका करने वाला तो हूं, मैं करने वाला कैसे नहीं? यह तन, मन, वचन का परिणमन किसका है? कहां से निकला है? कौन परिणमा आदिक बातों पर जब विचार करते हैं तो मैं कर्ता नहीं हूं। मन, वचन, काय मुझमें निराले हैं। जैसे ये बाहर दिखने वाले काठ, चौकी, आदिक स्वतंत्र द्रव्य है उसी तरह मेरे स्वरूप से बाहर अपना स्वयं का स्वरूप रखनो वाले ये मन, वचन, काय मुझसे भिन्न हैं। और इतना भी तो नहीं है कि उनका मैं कुछ प्रयोजक होउं या वे मेरे कुछ प्रयोजक होवें? उनके लिए मैं होउं और मेरे लिए वे होवें ऐसा तो नहीं है। वे हैं अपने लिए, मेरे प्रयोजनपने को छोड़कर अपने प्रयोजनता से रह रहे हैं। फिर उनमें मेरा क्या संबंध है? उनसे विविक्त अपने आप स्वभावको निरखते हुए मैं उनमें अत्यन्त मध्यस्थ रहूंगा।

आत्माका वास्तविक कर्तव्य क्या है? जो आत्मा का परनिरपेक्ष प्राप्यमाण सिद्धरूप भाव हो, इसकी झांकी देखिये निम्नांकित निबंधांश में—

आत्माका परनिरपेक्ष प्राप्यमाण चिदूपभावः— आत्मा में जो सिद्धरूप प्राप्यमाण है अर्थात् अपने वर्तमान समय में जो पर्याय प्राप्त हुई है ऐसी पर्यायों रूप होने के कारण की शक्ति को कर्मशक्ति कहते हैं। कर्मशक्ति में यह बात प्रसिद्ध की गई है कि आत्मा का कर्म आत्मा से अभिन्न है। आत्मा में है शाश्वत ज्ञानस्वरूप। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का जो परिणमन है वह है ज्ञानरूप, ऐसा ज्ञानभाव आत्मा का कर्म है। यद्यपि सग्यग्दृष्टि पुरुष की भी कुछ नीचला भूमिका में रागभाव बर्तता है लेकिन यह ज्ञानी उस रागको जानता है और रागको जानते हुए में उनकी यह प्रतीति है, ऐसा बोध है कि रागका जानना यह तो उसका काम है, पर यह राग मेरा काम नहीं है। यह तो औपाधिक भाव हैं इस तरह का भेदविज्ञान उछल रहा है और

ज्ञानस्वरूप आत्मा की ओर उपयोग उसे सम्मुख होता जाता है। यह मैं ज्ञानमात्र हूँ और जानना यही मेरा काम है।

परमार्थ आत्मक में आत्मश्रित है इसका मनन कीजिये निम्नांकित निबन्धमें:—

आत्मकर्म की आत्माश्रितता:— आत्माकी कर्मशक्ति का वपन चल रहा है। आत्मा में कर्म होने की शक्ति है अर्थात् आत्मा का जो परिणाम है, समय समयपर होने वाला जो आत्मा का परिणमन है वह आत्मा का कर्म है। वह प्राप्यमाण चिदूप भाव है, उसरूप हाने की शक्ति है। अब यहां इस दृष्टि से निरखियेगा कि आत्मा का निरपेक्षरूपसे अपने आपके ही बल से जो काम हो उसे कहत हैं आत्मा का कर्म। ऐसा कर्म क्या होगा? आत्मा के स्वभावके अनुरूप जो आत्मा का विकास है वह होगा अर्थात् निर्मल परिणमन। जीव संसार में दुःखी हो रहे हैं इस निर्मल परिणमनके बिना। और, निर्मल परिणाम से परिणत हो जाना यह है आत्मा की एक स्वभाविक कर्म की स्थिति। ऐसा आत्माका वह निर्मल परिणमन आत्मा की शान्ति के लिए है, उस समृद्धि के लिए है, कल्याणके लिए है। सतय तो यही बात है कि आत्मा ऐसी ही स्थिति में सुन्दर है, सुभग है, सहज है, अनोखा है और यह ही एक भलाई है। यह निर्मलपरिणाम किस तरह उत्पन्न होगा? उसकी क्या विधि है? विधि क्या देखना, आत्माको केवल अपने स्वरूपमें जानने पर आप विधि समझ में आ जाती है। आत्माके इस निर्मल परिणाम के निष्पादन में किसी भी परद्रव्यकी अपेक्षा नहीं होती यह तो आत्मद्रव्य के आश्रय से ही प्रकट होता है।

परमार्थतः आत्मा कर्ता किस प्रकार है, इसका अवलोकन एक संक्षिप्त निबन्ध में कीजिये—

कर्तृशक्ति के स्वपरिचय से व तदनुरूप भवन से सकल संकट परिहारः कर्ता का अर्थ है कि जो परिणमे। परिणमन का अर्थ है जो कि परिणमे। परिणमन का अर्थ है कि जो उस भावरूप बने। भावरूप बनने का अर्थ है भाव होना और यह भावक बना। हुआ, क्या हुआ? किसका हुआ? और होने में स्वतंत्र कौन रहा? द्रव्य क्या रहा? स्वामी कौन रहा? इन सब बातों के निरिक्षण से यह विदित होगा कि ऐसे

परिणामों का यह मैं कर्ता हूँ। यों यह जीव यह आत्मा चैतन्यस्वरूप परमात्मतत्त्व यह परका तो कर्ता ही क्या बने, परका अकर्ता है व स्वयं का कर्ता है। यह अनेकान्तविधि है। यह मैं आत्मा परका अकर्ता व स्वका कर्ता हूँ और वह किस तरह से? इसके लिए एक ऐसा दृष्टान्त लीजिये—रोज रोज हम आंखों से देख रहे हैं अनेक पदार्थ, पर इन आंखों में किसी पदार्थ का कुछ लिया है क्या? आंखों ने किसी पदार्थ को भोगा है क्या? आंख आंकी जगह है, यही अपने स्वरूपको करता है, अपने को अनुभवता है। इसी तरह इस ज्ञानको भी देखिये—यह ज्ञान क्षायिकज्ञान, किन्तु यह ज्ञान किसी का कुछ कर्ता है अथवा भोक्ता है क्या? यह तो अपना ही कर्ता है और अपने आपके ही परिणामों का भोक्ता है। तो यह मैं किसे कर सकता हूँ? इस ज्ञानपरिणाम को ही कर सकता हूँ, ऐसी शक्ति जान करके हम पूरे बलपूर्वक इसी शक्ति के कार्य में लगें और इसको और ही उपयोग रखें। यों हमारा आत्मा आनन्दमय होगा। हम वह मार्ग पायेंगे कि निकटकाल में ही सर्व संकटों से छुटकारा प्राप्त हो जायगा।

आत्मा का अभिन्नकरणशक्ति के वर्णन के पश्चात् करणशक्ति के वर्णन में क्या मिलती है इसका वर्णन इस निबंधांश में देखिये—

करणशक्ति के वर्णन में गृह्य शिक्षा:— यहां अपने को यह सीख लेना है कि अपनी भलाई है अपने शुद्ध कार्य में। अर्थात् केवल उसके ही द्वारा परके आश्रय बिना, जो कुछ हो सकता हो वह मेरे लिए अच्छा है। जैसे कोई लोग अनेक लोग, लौकिकजन कहते हैं ना कि यह भगवान ने किया, खुदाने किया, उसकी शक्तिया हम अदा करते हैं। तो इस प्रकार आत्मा में आत्मा के ही द्वारा केवल आत्मा में ही जो कुछ होता हो, तो उसके लिए शुक्तिया हो, धन्यवाद है, भला है, कल्याणमय है, उसी का भला है— मेरे कुछ कार्य में है। करने योग्य मेरा शुद्ध कार्य है। मेरे लिए वह मेरा शुद्ध कार्य है। वह कार्य करना है मुझे ऐसी यदि अपनी तैयारी हो रही हो तो ऐसे में हमारा एक ही निर्णय है कि वह मेरे इस शुद्ध आत्मद्रव्य के आश्रय से ही होगा, अन्य के आश्रय से न होगा। शुद्ध आत्मद्रव्य के मायने विकार छोड़ दें, अन्य उपाधि उपराग इनका संसर्ग तजकर जो अपने आपमें दृष्टिगत हो वही इस आत्माका शुद्ध स्वरूप है। इसके आलम्बन से ही

मेरा कार्य होगा, भला होगा, कल्याण होगा। अन्य किसी भी परके आश्रय से मेरा कल्याण नहीं है। बाहरी जो आश्रयभूत कारण हैं, घर मकान आदिक अशुभोपयोग के कारण भूत हैं, उनसे हटना ही है।

आत्मा की अभिन्न सम्प्रदानशक्ति का वर्णन कर चुकने के पश्चात् उपसंहाररूपमें 8 शिक्षाप्रद परिचयों का वर्णन किया है जिसमें प्रारम्भिक 5 परिचयों के वर्णन के प्रसंग में 4 परिचयों का परिचय कीजिये—

सम्प्रदानतवशक्ति के वर्णन के उपसंहार में 5 शिक्षाप्रद परिचयों का वर्णन:—कलतक सम्प्रदानशक्ति का वर्णन चल रहा था, उसके संबंध में हमें निष्कर्षरूपमें क्या अभिन्न उत्तम आदान प्रदान की बात निरखना चाहिए। यह केवल आत्मा अपने ज्ञातादृष्टान्तरूप परिणमण को देता है और इसके परिणमण को यह आत्मा ग्रहण करता है। 2. दूसरी बात यह समझिये—इसमें ऐसे ही शुद्ध परिणामको देने की सामर्थ्य है, अन्य परपदार्थों को या विकारों को देने की सामर्थ्य नहीं है अर्थात् आत्मा में सामर्थ्य यदि विकार देने की थी तो विकार देता ही रहता, फिर कभी विराम क्यों पाता है? हमें उस सामर्थ्य की बात करना है जो निरपेक्षतया सामर्थ्य का कार्य बने। पराश्रय न हो, उपाधिसन्निधान न हो तो वहां विकार परिणमन नहीं होता। यद्यपि परिणामा वह ही जीव, लेकिन स्वतंत्रतया निरपेक्षतया जो कार्य न कर सके तो समझना कि उस आत्मा के इस तरह परिणमनेका प्रयोजन क्या है? प्रयोजन है स्वयं क्योंकि ज्ञाता—दृष्टा रह रहा है किसका? किसके लिए यह निर्मल परिणमन चल रहा है? तो उसका उत्तर है कि इसी की सत्ता के लिए इसी शुद्ध स्वभाव के प्रयोजन के लिए। ऐसे ही यह चलता है, इसमें अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। यदि आत्मा ज्ञाता दृष्टा बन रहा है, जानन देखनहार हो रहा है तो जानन देखनहार रहने के लिए हो रहा है। इसका प्रयोजन और निमित्त दूसरा नहीं है। 4. चौथी बात आत्मा का जो केवल विशुद्ध परिणमन या शुद्ध परिणमन है इस आत्मा के क्षेम के लिए है, यही आत्मा का कल्याण है, यही हितरूप है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव में आत्मा का हित नहीं है। लोग कषायभाव करते हैं, शान्ति के लिए कषाय करते हैं और प्रयोजन बनाया है अशान्ति का। कितनी

विरुद्ध बात है। यदि एक सच्चाई साथ यह लक्ष्य बनाया है तो यदि सारे जगत का विकल्प छोड़ना पड़े ऐसी बात करने के लिए कहा जाय तो उसमें आनाकानी न करना चाहिये। यदि कोई आनाकानी करता है कि इस बिना मेरा काम ही नहीं चलता, यह तो करना ही पड़ेगा, सो समझिये कि मैंने शान्ति का उद्देश्य नहीं बनाया। आत्मा का शुद्ध परिणमन आत्मा के क्षेम के लिए हुआ करता है।

आत्मा की अपादानशक्ति के वर्णन के प्रसंग में अपादान की महत्ता, गंभीरता और अनुदातापनका कैसा चित्रण किया है इसका दिग्दर्शन कीजिये दस छोटे निबंधांश में—

धर्माकर आत्मतत्त्वः—अब देखिये यह आत्मा कैसा दाता है, कैसा निर्मल पर्याय की यह खान है कि निकालते जाओ—परउसमें कभी न्यूनता न आने पायेगी। सिद्ध भगवान निरन्तर ज्ञान, आनन्द शक्ति आदि से परिणमते रहते हैं, प्रतिसमयकी पर्याय होती है, विलीन हो जाती है होती है, विलीन हो जाती है और ऐसी निर्मल पर्याय होते रहने का वहां तांता बना रहता है, लेकिन वह ध्रुव अपादान वह शुद्ध आत्मद्रव्य क्या कभी कुछ खाली हुआ? अरे यह धर्म कल्पवृक्ष है स्वयं भगवान आत्मा। इस स्वयं के भगवना आत्मापर ही दृष्टि दं, बाहर में किसी से तेरा कुछ संबंध नहीं है। देख तेरी चतुराई इसमें नहीं है जो बाहरी पदार्थों के प्रति सुधार बिगाड़की बात मन में रखे हुए हैं।

आत्मकर्मका, आत्मधर्मका आधार क्या है यह समझना धर्मार्थी को अत्यावश्यक है। इस परिचयके लिए अधिकरण शक्ति के प्रवचनों में से एक संक्षिप्त निबंधांश देखिये—

धर्मलाभ के लिए धर्माधार की दृष्टि का अनुरोधः—प्रियतम आत्मन् जहां होता है धर्म वहां ही देखिए—इन पदार्थों का तो मैं कर्ता नहीं, इनका कराने वाला नहीं इनका मैं कारण भी नहीं, स्वतंत्र सत् है ये सभी पदार्थ और विकारों की बात अनेक बार बतायी जा चुकी है कि कैसी उनकी निष्पत्ति है, उन्हें भी पौद्गलिक रूपसे निहारा जाता है। तो ये परद्रव्य जिनका सत्त्व मुझसे निराला है, जिनका मैं कर्ता भी नहीं, कारण भी नहीं, जिससे मैं उत्पन्न भी नहीं होता, अत्यन्त भिन्न सत् हैं, वहां मेरा धर्म, वहां मेरी शान्ति कहां से प्रकट हो सकती है?

इन बाह्य पदार्थों का उपयोग तजकर हमें यह अनुभवता चाहिये कि मैं अपने को ज्ञानमात्र जितना अनुभव करूँ वह है मेरा कल्याण—धर्म और वास्तविक पौरुष। कृतार्थताका कार्य ज्ञानमात्र अनुभव में है और ज्ञानमात्र अनुभवको तजकर बाहर से जितना जो कुछ भी आश्रय लेना है, विकल्प करना है, ये सब मेरे लिए कल्याणरूप हैं। वास्तविक आनन्द तो आत्मा में आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए जो प्रकट होता है वह है। वह क्या है? विशुद्ध ज्ञानमात्र आत्मीय आनन्द। आनन्द का अर्थ है—आ समन्तान् नन्दनं आनन्दः आ का अर्थ है चारों ओर से, नन्दन का अर्थ है। समृद्धिशाली होना। जिसका अर्थ है कि सर्व ओर से समृद्धिशाली होना। इसको कहते हैं अ नन्दमय।

96 स्वस्वामित्वसम्बन्धविहित

सम्बन्ध अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है, किन्तु सम्बन्धको न तो अध्यात्मशास्त्र में कारक कहा गया है और न संस्कृत व्याकरण में कारक कहा गया है। इसका कारण यह है कि क्रिया का प्रभाव सम्बन्धपर नहीं होता किन्तु कर्ता आदि 6 कारक हैं 1. नोमिनेटिव और 2. औब्जेक्टिव। इसके अतिरिक्त अन्य सब शेष हैं और उनका प्रयोग टू, बाई, फोर, इन, फ्राम आदिक शब्दों को लेकर किया जाता है। संस्कृत व्याकरण में भी यह बात सुनाई जाती है कि कारकपना 6 में आता है, क्योंकि बताया है मृदथदितिरिक्त स्वस्वामिसम्बन्धः। प्रतिपादिकों में बसने वाले अर्थों से जो भिन्न अर्थ है वह स्वस्वामित्व सम्बन्ध अर्थ हुआ। षष्ठीका प्रयोग दो शब्दों से अपना ताल्लुक रखेगा, सम्बन्ध का प्रयोग दो पदार्थों से ही ताल्लुक रखेगा, शब्दसे सम्बन्ध कैसा? जैसे —पढ़ा किसने पढ़ा? पढ़ा—किसको पढ़ा? पढ़ा—किसके द्वारा पढ़ा? पढ़ा किसके लिए पढ़ा? पढ़ा—किसमें पढ़ा? यों एक क्रियाका कारकभूत एक एक शब्द से ताल्लुक सीधा हो गया? लेकिन सम्बन्ध में दो शब्द ही बोले गये—जैसे राज का पुरुष, फलाने देश का राजा आदि। उसका संबंध क्रिया से नहीं है, बल्कि शब्द का शब्द से सम्बन्ध है। इसलिए इसे कारक अर्थ में नहीं लिया गया। फिर भी यह छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि यह विभक्ती अर्थ में आता है। दो का भी सम्बन्ध हो तो उसमें भी अर्थ है।

आत्मा का परमार्थतः सम्बन्ध किससे है, इस विषय का संक्षिप्त संकेत और प्रयोजन इस निबंधांश से प्राप्त कीजियेगा।

सम्बन्धशक्ति के परिचय का प्रयोजन अन्य पदार्थ के सम्बन्ध के विकल्प परिहार—सम्बन्ध—शक्ति में यह बताया जा रहा है कि हे आत्मन् तेरे मालिकाइ पनेका सम्बन्ध तेरे आत्मा के गुण और स्वभावपरिणमन से है। गुणों का मालिकाई तो यों है कि तू भी शाश्वत है और ये गुण भी शाश्वत हैं। अतः आत्मा में पायी जाने वाली जो शक्तियां है—ज्ञान, दर्शन आदिक गुण हैं उनका तू स्वामी भले प्रकार है ही और स्वाभाविक परिणमनका स्वामी तू यों है कि निरपेक्ष रूपसे, परके आश्रय बिना, उपाधिसे रहित होकर अपने आपके एकत्व में रहते हुए ये परिणमन होते हैं। इन परिणमनों पर तेरा अधिकार है, अर्थात् किसी अन्यकी प्रतीक्षा, आश्रय नहीं करना होता है, इस कारण स्वाभाविक परिणमन का स्वामी भी तू ही है लेकिन इन बाहरी पदार्थों का, जो अत्यन्त भिन्न हैं, जिनमें अपना कुछ भी स्वरस नहीं वे तेरे कतई नहीं। तू उनमें रंच मात्र भी यह बुद्धि मत कर कि ये मेरे कुछ हैं, किसी भी प्रकार हैं। इस तरह जरा भी उनमें ममत्व या आत्मीयताकी बुद्धि मत कर। तेरा सम्बन्ध इन परपदार्थों से नहीं है।

मैं तन, मन, वचनका न कर्ता हूं, न कराने वाला हूं, न अनुमोदने वाला हूं, न लाने वाला हूं इत्यादि विस्तृत वर्णन करने के पश्चात् उपसंहार रूपमें संक्षिप्त शिक्षण निम्नांकित निबन्धांशमें—

बाह्य पदार्थों को अपना बनाने की रंच भी वहज की अशक्यता—कोई पदार्थ मेरा बने उसकी वजह तो कोई होना चाहिए। या तो मैं उसका कारण हाउं, तो कुछ सम्बन्ध जोड़ लिया जाय कि ये बाहरी पदार्थ मेरे हैं या उनमें मैं कुछ करता होउं तो थोड़ी सी उपचारभूत भी गुंजाइश मिले कि मैं इनका स्वामी हूं। इन पदार्थों का स्वामी जब भी किसी ढंग से अपने को बताया जाय तब वहां देखिये कि उनमें मेरा सम्बन्ध क्या है? मैं उन में कुछ करता हूं या कराता हूं या उनकी में कुछ अनुमोदना करता है या कराता हूं या उनका मैं पौषण करता हूं आदिक किसी भी रूप में मैं सहयोगी होउं तब भी कुछ सम्बन्ध की बात मान ली जाय। लेकिन ऐसा कोई भी निदान

नहीं मालूम होता है कि जिससे यह निश्चय किया जाय कि इन मन, वचन, काय आदिक समस्त परपदार्थों का मैं स्वामी हूँ। अरे ये तो अनेक परमाणुओं की पर्यायें हैं। ये मैं नहीं हूँ। मैं तो एक सहज चैतन्यस्वरूप आत्मत्व हूँ, ये पुद्गल पदार्थ मेरे कैसे हो सकते हैं? इनमें तो सम्बन्ध की बात मानना एक अज्ञानभरी बात है।

स्वस्वामित्वसम्बन्धशक्तिके विस्तृत वर्णन के पश्चात् यह बताया है कि सर्व तत्व, पदार्थों के जानने का क्या प्रयोजन है? देखिये निम्नांकित निबंधाशमें—

जैनशासन के विवेचनों का मूल प्रयोजन—जैन शासन में जो बहुत बहुत विवेचन किया गया है ह किस प्रयोजन से किया गया है? क्या यह सुनकर कि तीन लोक इतने प्रमाण वाले हैं, उर्द्धलोकमें इतने विमान हैं, ऐसी स्वर्गों की रचना है, ऐसा सुन सुनकर क्या यहां खेल खिलौनों का देखने में जिस तरह मन बहलाया जाता है, क्या इस तरह से ही उनको निरखने में मन बहलाना है? किसलिए यह सब वर्णन है, अथवा जहां जीवादिक तत्वों का वर्णन है वहां भी ये सब विवेचन अशुद्ध शुद्ध, अभेद, सर्व प्रकार के विवेचन ये किसलिए है? क्या ज्ञानियों की गोष्ठी में रहकर अपनी विद्वताका परिचय देकर उन्हें प्रभावित करने के लिए हैं? किसलिए है यह तत्वका प्रयोजनपरमागमके परिज्ञानका। वर्णन बहुत जगह आता है कि अरे आत्मन् स्वानुभव यही है कि ऐसा सर्व विविक्त आपके इस शाश्वत सहज ज्ञानस्वभावमें एकत्वरूप इस अपने आपको जानलें तो जिसने यह जान लिया उससे मानोसारा ही जैन शासन जान लिया। अरे स्व और पर इतने के परिचय में तो सारी दुनिया जान ली गयी। अरे सम्यग्दृष्टि को क्या प्रयोजन है कि उस परका इस तरह विश्लेषण सहित ज्ञान करें कि अगर वहां मेरु पर्वत की चोटी है तो बीच बीच में कितने कितने ढेला हैं, इन सब बातों के परिचय से इसका प्रयोजन नहीं मान रहा, किन्तु इन सब परिचयों का जो प्रयोजन है वह सब उसने अब पा लिया क्या? स्व और पाकर भेदविज्ञान यह मैं स्व हूँ, इसके अतिरिक्त बाकी सब पर हैं कहने का प्रयोजन यही है कि यह बात यदि कोई समझ सके तो 11 अंग 9 पूर्व का या और भी जो विशाल ज्ञान हुए हैं उनका ही सदुपयोग हुआ और इतनीबातजिनकी समझ में नहीं है वे

11 अंग 9 पूर्व कितनाही विशाल परिज्ञान लिए हैं लेकिन उनकी गुत्थी नहीं सुलझी है और वे संसार से नहीं निकल पाते हैं। बड़े कठिन तपश्चरण भी कर डालते हैं और बड़ी साधनायें कर लेते हैं लेकिन यह एक ऐसा गौरखधन्ध है कि जिसी गुत्थी सुलझ गई तो सुलझ गई और न सुलझी तो फिर उलझ गई । फिर चाहे वह मेढक हो अथवा अन्य कोई बन्दर आदिक पशु हो अथवा मनुष्य हो, यदि अन्दर की गुत्थी न सुलझ पाई तो बड़े बड़े तपश्चरण करके भी उसको अनदर से रीता ही समझिये। यह स्वस्वामित्व, यह ज्ञानानुभूति, यह शुद्ध तत्त्वका वर्णन यह ऐसा अमोघ फल देने वाला है, यह इतना महान कल्पवृक्ष है कि जिसने उसका प्रकाश पाया है वह पुरुष मानो सर्व जैनशासन रहस्य पा चुका है।

97 अध्यात्मसिद्धान्त

पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज द्वारा प्रणीत अध्यात्मसिद्धान्तमें 100 प्रश्नोत्तरों में अध्यात्मविषयक उपयोगी विषय आ गये हैं। इतनी संक्षिप्त विधि में गहन विषयों को निष्पक्ष स्पष्ट कर देने वाली पुस्तक का प्राप्त होना जिज्ञासुओं के लिए बड़े सौभाग्यकी बात है। इसका सुपरिचय तो इसके अध्ययन से ही होगा, फिर भी कुछ अंश उद्धृत किये जा रहे हैं। प्रथम पेज पर गुणों के भेदों की पद्धति देखिये—

प्रश्न-5—गुण किन्हें कहते हैं?

उत्तर—द्रव्यमें सदा रहने वाली शक्तियों को गुण कहते हैं।

प्रश्न-6—गुणों के कितने प्रकार हैं?

उत्तर—गुणों के तीन प्रकार हैं—1. साधारणगुण। 2. असाधारणगुण, 3. साधारणासाधारणगुण।

प्रश्न-7—साधारण गुण का क्या लक्षण है?

उत्तर—जो गुण सब द्रव्यों में समान रूपसे जावे, उन्हें साधारण गुण कहते हैं। जैसे —अस्तित्व, वस्तुत्व आदि।

प्रश्न-8— साधारणगुणका क्या लक्षण है?

उत्तर—जो गुण लक्षित द्रव्यमें हो तथा कुछ अन्य द्रव्यों में भी हो व अन्य कुछ द्रव्यों में न हो उसे साधारणासाधारण गुण कहते हैं। जैसे जीव में अमूर्तत्व आदि।

अब पर्याय का लक्षण व पर्यायों की भेदपद्धति देखिये—

प्रश्न-18—पर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर—गुणों की अवस्था को पर्याय कहते हैं।

प्रश्न-19—पर्याय के कितने प्रकार हैं?

उत्तर—पर्याय के दो प्रकार हैं— 1. अर्थ पर्याय, 2. व्यंजनपर्याय।

प्रश्न-22—व्यंजन पर्याय के कितने भेद हैं?

उत्तर—व्यंजन पर्याय के दो भेद हैं—1. द्रव्यव्यंजनपर्याय, 2. गुणव्यंजनपर्याय।

प्रश्न-24—द्रव्यव्यंजनपर्याय के कितने प्रकार हैं?

उत्तर—द्रव्यव्यंजनपर्यायके दो भेद हैं— 1. स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्याय, 2. विभावद्रव्यव्यंजनपर्याय,

जीवमें अशुद्धता व कर्मबन्ध कबसे है, किसने किया है, इस विषय का समाधान दो प्रश्नोत्तरों में ही पर्याप्त हो जाता है।

प्रश्न-43—जीव में अशुद्धता व बद्धता कब से हुई है?

उत्तर— जीव में यह बद्धता अनादि परम्परा से चली आई है। इसका कारण यह है कि कर्मबद्धता तो अशुद्धताका कारण है, याने बद्धकर्मों के उदय को निमित्त पाकर जीव में रागदि विभावरूप अशुद्धता होती है और अशुद्धता बद्धताका कारण है, याने जीव के रागादिक अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणत होकर जीव के साथ बद्ध हो जाते हैं।

प्रश्न-44—क्या जीव की अशुद्धताको कर्म ने किया भी है व कर्म परिणतिको क्या जीवने किया है?

उत्तर—प्रत्येक पदार्थ का परिणमन स्वयं में स्वयं की परिणति से होता है। अतः न तो कर्म ने जीवकी अशुद्धता की और न जीवने कर्मपरिणति की, किन्तु ऐसा ही सहज निमित नैमित्तिक योग है कि जीव के रागदि अशुद्ध भावों का सन्निधान पाकर कार्माणवर्गणायें स्वयं अपने में कर्मत्व अवस्थारूप प्रभाव निस्पन्न कर लेता है। वस्तुतः परिणमने वाले का कर्ता, परिणाम को कर्म व परिणति होने को क्रिया कहते हैं। सो वस्तु अपनी ही क्रियाके द्वारा अपने ही कार्य का कर्ता होता है। हां, विभाव परिणमनरूप कार्य में अन्य द्रव्य निमित्त मात्र होता है।

कारणों के संबंध में लोग विविध विवाद प्रस्तुत करते हैं उन सबका समाधान कारणों के भेद व स्वरूप के देखने से हो सकता है। देखिये—

प्रश्न—कारण कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर—कारण दो प्रकार के होते हैं—उपादान कारण, 2. निमित्त कारण। प्रतिबंध कारणका अभाव होने पर उपादान कारण व निमित्त कारण के योग को समर्थकारण कहते हैं। जीव के विभावपरिणमन के प्रसंग में तीसरा आश्रयभूत कारण भी होता है।

प्रश्न—46—उपादान कारण किसे कहते हैं?

उत्तर—परिणमते हुए विवक्षित पदार्थ को उपादान कारण कहते हैं—जैसे घटका उपादान मिट्टी, मतिज्ञानादिक का उपादान कारण जीव।

प्रश्न—47—निमित्त कारण किसे कहते हैं?

उत्तर—अत्यन्ताभाव वाले व अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध से युक्त अन्य पदार्थ को निमित्त कारण कहते हैं। जैसे घट का निमित्त कारण कुम्भकार, दण्ड, चक्र आदि। रागभाव का निमित्त कारण रागप्रकृतियों का उदय।

प्रश्न—अन्वय संबंध किसे कहते हैं?

उत्तर—जिसके उपस्थित होने पर ही उपादान में तदनुकूल विशिष्ट परिणति हो, उनका वह सम्बन्ध अन्वय सम्बन्ध कहलाता है। जैसे—प्रकृति का उदय होने पर ही जीव में क्रोध होता है, सो क्रोध प्रकृति के उदय का क्रोध भाव के साथ अन्वय सम्बन्ध कहलाया।

प्रश्न-49—व्यतिरेक संबंध किसे कहते हैं?

उत्तर—जिसका अभाव होने पर उपादान में तदनुकूल विशिष्ट परिणति न हो, उनके सम्बन्धको व्यतिरेक सम्बन्ध कहते हैं। जैसे—क्रोध प्रकृति के उदय के अभाव में क्रोध कषाय नहीं होता है। सो क्रोध प्रकृति में व क्रोध भाव में व्यतिरेक सम्बन्ध कहलाया।

प्रश्न-50—आश्रयभूत कारण किसे कहते हैं?

उत्तर—जिसका जीवविभाव से अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध का तो नियम नहीं है, किन्तु जीवविभाव में प्रसंग में जो उपयोग का विषयभूत हो उसे आश्रयभूत कारण कहते हैं। जैसे—जिस पुरुष के प्रति क्रोध जग रहा हो वह पुरुष।

द्वितीय परिच्छेद में वस्तुस्वरूपके परिज्ञानका उपाय बताकर तृतीय परिच्छेद में उपादान, निमित्त व नैमित्तिक भाव के सम्बन्ध में संक्षिप्त पद्धति में स्पष्ट परिचय कराया है। देखिये—

प्रश्न-78—पदार्थों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव है या सबका परिणमन स्वतंत्र है?

उत्तर—पदार्थों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है और सभी का परिणमन स्वतंत्र हैं, दोनों ही तथ्य सदैव हैं। इस तथ्य को अध्यात्मसूत्र के इस सूत्र से समझा जा सकता है कि निमित्त प्राप्योपादं स्वप्रभाववत्, अर्थात् निमित्तको पाकर उपादान अपने प्रभाव वाला होता है।

प्रश्न-79—उपादान अपने प्रभाव वाला होता है, इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—प्रत्येक पदार्थ स्वयं सत् है। जो सत् है वह स्वयं उत्पाद व्यय ध्रुव्य युक्त है। अतः प्रत्येक पदार्थ मात्र ही अवस्था का उत्पाद किया करता है। अपनी अवस्था ही का नाम अपना प्रभाव है।

प्रश्न-80—जब उपादान अपने ही प्रभाव वाला होता है, उस पर निमित्त का प्रभाव नहीं होता तो निमित्त मानने की आवश्यकता ही क्या है?

उत्तर—उपादान की ही यह कला है कि कैसा उपादान किसको निमित्तमात्र करके किस प्रकार परिणम जोय? यों उपादान के किसी परिणमन में कोई अन्य पदार्थ निमित्त है, परन्तु निमित्त का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव, असर कुछ भी उपादान में नहीं पहुँचता। निमित्त है, अतः निमित्तका कथन होता है।

प्रश्न-81— जब उपादान में योग्यता होती है अथवा उपादान में कार्य होता है तब जो सामने पदार्थ उपस्थित हो उस पर निमित्त का आरोप भर किया जाता है, तब निमित्त तो कुछ रहा नहीं?

उत्तर—आरोप करने का अर्थ यदि यह हो कि निमित्त तो नहीं, पर आरोप किया जाता है तब तो यह कथन मिथ्या है और यदि यह अर्थ हो कि कार्य देखकर निमित्त का बोध होता है सो निमित्त बताया जाता है तब यह कथन सही है, परन्तु निमित्त का कुछ भी अंश मिलकर उपादान में कार्य करता हो यह बात बिल्कुल नहीं है। उपादान ही स्वयं इस योग्य है कि वह निमित्त को पाकर अपने प्रभाव वाला होता है।

निमित्त नैमित्तिक भाव के तथा वस्तुस्वातंत्रक के बोध से हमें क्या शिक्षा मिलती है तथा इसमें क्या परस्पर विरोध है, इस विषयका स्पष्टीकरण 3 प्रश्नोत्तरों में देखिये—

प्रश्न-85—निमित्त नैमित्तिक भाव के बोध से हमें क्या हितशिक्षा मिलती है?

उत्तर—आत्मा में जो रागदिविकार होते हैं वे केवल आत्मसत्त्व से नहीं होते याने निमित्त सन्ध्यान बिना नहीं होते, अतः रागादि विकारो आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, अनिवार्य भाव नहीं है किन्तु

नैमित्तिक भाव होने से रागादि विकार परभाव हैं, हटाये जा सकने योग्य हैं। यह मैं स्व तो ज्ञानमात्र हूँ, रागादि विकारो से रहित हूँ। ऐसा ज्ञानस्वभाव का उपयोग होने से बन्धज जन्म-मरण संकट दूर हो जाता है।

प्रश्न-86-वस्तुस्वातंत्र्य के बोध से हमें क्या हितशिक्षा मिलती है?

उत्तर-आत्मा स्वतंत्र सत् है, आत्माका परिणमन स्वतंत्र है इस कारण आत्मा का कर्म देह आदि किसी भी स्ववस्तु से कुछ सग्वन्ध नहीं है। समग्र परभाव में मोह नहीं रहता, तथा ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी अनुभूति से रागद्वेष का प्रक्षय होता है और जन्म मरण के संकटों से मुक्ति हो जाती है।

प्रश्न-निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातंत्र्य में क्या विरोध नहीं है?

उत्तर-निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तु स्वातंत्र्य बराबर बना रहता है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करता नहीं है, उपादान ही निमित्त को पाकर स्वयं अपने प्रभाव वाला होता है। वस्तु स्वातंत्र्यके मिटने की शंका रखकर निमित्तनैमित्तिक भाव का विरोध करना ज्ञानकी निर्बलता है। निमित्त भाव और वस्तुस्वातंत्र्य दोनों तत्त्वों का बोध करके अविकार चित्स्वभाव में उपयोग को मग्न करने का प्रयास करने वाला जीव सम्यग्ज्ञानी है।

90 मोक्षशास्त्रप्रवचनशीर्ष

मोक्षशास्त्र जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादक सूत्रग्रंथ हैं। इस पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने प्रवचन किये हैं इसके दसों अध्यायों के प्रथम सूत्रों पर हुए प्रवचन तो प्रकाशित हो गये हैं। कुछ अन्य सूत्रों के प्रवचन भी प्रकाशित करने की योजना है। उन प्रवचनों के शीर्षक भी लिखे जाते हैं। यह शीर्ष ग्रंथ पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित होने पर प्रकाशित किया जावेगा।

99 स्वरूपसंबोधनप्रवचनशीर्ष

पूज्य श्री मद्भट्टाकलंकदेव द्वारा प्रणीत स्वरूपसंबोधन पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने प्रवचन किये हैं, व उन प्रवचनों के शीर्षक लिखे हैं। इन शीर्षकों से पर्याप्त विषय परिचय हो जाता है। उनमें से कुछ शीर्षक उद्धृत किये जाते हैं प्रथम मंगलाचरण के शीर्षक देखिये—

स्वरूपसम्बोधन में परमात्मतत्त्वको नमस्कार। परमात्मतत्त्वकी अविनाशिता। परमात्मतत्त्वकी कर्ममुक्तता व ज्ञानाद्यमुक्तता। आत्मतत्त्वकी वास्तविक मुक्तामुक्त रूपताका परिचय होने पर कर्तृत्व मोवृत्त्व आदि समस्याओं का सहज समाधान। आत्मस्वरूपकी दृष्टि में आत्मकेवल्यकी परख। आत्मतत्त्वकी ज्ञानानन्द सद्भारूपता। स्वरूपदृष्टि से परमात्मस्वरूपका प्रकट प्रकास।

स्वरूपसम्बोधन में पहिले आत्मस्वरूपका दिग्दर्शन किया है, आत्मा ज्ञान से भिन्न है और अभिन्न है ऐसा स्पष्ट करने वाले चौथ्र छन्द के प्रवचनों के शीर्षक देखिये—

आत्मा की ज्ञानरूपता। प्रशमशील गृहस्थकी चर्या सग्यदृष्टि पुरुष की अन्तदृष्टि। ज्ञानमात्र आत्मा में तृप्त होने की भावना।

आत्मा देह प्रमाण होने पर देहमात्र नहीं है। पांचवें छन्द में इस विवरण के पश्चात् छटवें छन्द में यह कहा गया है कि आत्मा ज्ञानपद्धति में ही एकानेकात्मक है। इसके शीर्षक देखिये—

ज्ञानपद्धति से जीव की एकानेकात्मकता। स्याद्वादमय जिनशासन की कृपा। उद्दण्डता कष्ट। स्वरूप संवेदन के बिना आत्मोद्धारकी असम्भवता।

11 वे और 12 वें श्लोक में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानका स्वरूप कहा गया है उसके शीर्षक देखिये—

स्वात्मलब्धिकी उत्कृष्टता। आत्मोपलब्धिकी शाश्वता और उसका उपायं सम्यग्दर्शनकी मुद्रा। सम्यग्ज्ञान का स्वरूप यथावत वस्तुनिर्णय।

13 वें 14 वें छन्द में सम्यक्चारित्र का स्वरूप कहा गया है उसके शीर्षक देखिये—उत्तरोत्तर भावी दर्शन ज्ञान चारित्र में स्थिर आलम्बन की सम्यक्चारित्ररूपता। सुख दुःख में माध्यास्थकी सम्यक्चारित्ररूपता। सुख दुःख पुण्य पाप शुभोपयोग, अशुभोपयोग से हटकर स्वभाव में पहुचने का अनुरोध। ज्ञातादृष्टारूप मानने की व सुख दुःख में एकाकिता मानने की भावना में भी सम्यक्चारित्र की झांकी। निशंकता मे रत्नत्रयकी साधना का अवसर। धर्मपात्रताके लिए स्थूल संयम की अनिवार्य आवश्यकता।

कषायरंजित चित में तत्वका अवगाहन नहीं हो सकता, अतः कषायदोष की निवृत्ति के लिए और शिवप्राप्ति के लिए क्या कर्तव्य है इसके प्रवचन 18, 19, 20 वें छन्द में हैं। उन प्रवचनों के शीर्षक देखिये—

दोषनिर्मुक्ति के लिए निर्मोहता, उदासीनता व तत्वचिन्तनपरताका उपदेश। पतन के यत्न में हटकर उद्धार के यत्न में आने का अनुरोध। हेय का आलम्बन छोड़कर उपादेयका आलम्बन करने का अनुरोध। स्व और परके वस्तुत्वकी भावना। मुक्ति का प्रोग्रम हमारा। तत्वज्ञानके निमित्त से सम्यक्त घातक कर्मों में उथल पुथल का अवसर।

24 वें छन्द में स्वात्मोत्ति आनन्दाभूत के लाभ के लिए स्वकी अभिन्न अपासनाका वर्णन है। इसके प्रवचन के शीर्षक—परमानन्दलाभ की चर्चा। परपदार्थ से आनन्दलाभ की असंभवता। अमृतपान की आत्मीयता। स्वरूपको स्वके द्वारा स्वके लिए ध्याता बनकर आनन्दलाभ लेने के पौरुष में। आदि

100 पात्रकेशरीस्तोत्रप्रवचनशीर्ष

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्री जैसे दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामी द्वारा प्रणीत पात्रकेशरी स्तोत्रपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने प्रवचन किया है। इस स्तोत्र में जिनेन्द्रगुणस्तवन तो है ही, साथ ही वह अनेक दार्शनिक व कोरे क्रियाकाण्ड के विवादों को समाप्त करा देने

से दृढभक्ति को उद्योतनरूप है। इसके प्रथम छन्द में स्तवनाका व स्तवन का थोड़ा परिचय—प्रवचन प्रथम शीर्षक प्राप्त कीजिये।

पात्रकेशरी स्तोत्र के रचियता का ज्ञानप्रकाश। विद्यानन्दिस्वामी का साधुत्व। जिनेन्द्रदेव की प्रस्तुत स्तुति से कर्मक्षय। प्रभुभक्ति में मन न लगने का कारण बाह्यममत्वं प्रभुभक्ति में मन लगाने के लिए तात्त्विक ज्ञान की उपयोगिता। प्रभुभक्ति में मन लगने के लिए संग की असारता व प्रभुभक्ति की सारता इन दो निर्णय की अनिवार्यता। जिनेन्द्रगुण स्तवन से कर्मक्षयकी बात बनने के निश्चयपर गुणस्तवन में प्रयत्न।

छठे सातवें छन्द में विरोधालंकार जैसी काव्य गुणस्तवन हुक्षा उसके प्रवचन शीर्षक—सकलपर मात्माकी परमेशिता के पदका आख्यान। परीक्षित परमेशिता। प्रभुके मूढ़ताका अभाव। वचनों से वक्ताके गुण व अवगुण की परीक्षा। प्रभुके दोष और भय का अभाव।

प्रभुकी कषायरहित मुद्रा व सर्वज्ञातके सम्बन्ध के प्रवचनों के शीर्षक—निसर्ग सुन्दर प्रभु की कषायरिपुविजयता का वर्णन। निर्दोषतासे व गुणपरिपूर्णतासे प्रभु की महिमा। अन्तदृष्टि बल से प्रभुकी महिमापरिचयकी स्पष्टता। सर्वज्ञता के विषय में शंका और उसका समाधान। प्रभुकी सर्वज्ञता में संदेह का अभाव।

अब प्रभु की पुरुषोत्तमता व अतीतमनुजता के वर्णन के प्रवचनों की शीर्षक—प्रभु की मनुजता से अतीतता। प्रभु के मनुष्यम सदशताकी शंका का निराकरण। प्रभु की जन्ममरणातीतता। अन्यकी अन्यरूपता। समाधिमरण प्रभुभक्ति व आत्मदर्शन भावना में हित।

नृत्य, हास्य, मांसभक्षण, सुरापान करने वाले व परिग्रही जनों में आप्तती की अयुक्ता बताते हुए अन्ययोगव्यवच्छेद पद्धति जो प्रवचन हुए उनके शीर्षक—

अटपट नर्तक मांसाभक्षी जीवों में परमदेवत्व की प्रसिद्धि की जानें पर आश्चर्य। मांसभक्षी मदिरापायी पुरुष में आप्तताभाजनत्वका अभाव। प्रभुकी स्वरूपसंतृप्ता व बिगत दोषता के कारण वाणी प्रमाणता। कमण्डल, मृगछाला, अक्षवलय धारण करने वाले पुरुषों में

अशुचिता सिद्ध होने से देवत्वशून्यताकी सिद्धि। शस्त्र व भूषण धारण करने वाले पुरुषों में भय, कुरता व अरमणीयतवकी सिद्धि होने से उनमें देवत्वशून्यतापी सिद्धि।

41 वें छन्द से मुमुक्षु साधुओं की व्यावहारिकचर्याका कुछ चित्रण है उन प्रवचनों के शीर्षक—प्रभुशासन में त्याग का महत्व। परिग्रहों पुरुषों में भय, प्रकोप, हिंसन, करकवच नदि दोषों के कारण आप्तताकी अयुक्तता। बर्तन रखकर उसमें भोजन लाकर खाने की प्रवृत्ति में हिंसा की संभावना होने से प्रभुशासन में बतायी गई दैगम्बरी वृत्ति की योग्यता का स्मरण। प्रमादरहिताशय साधु की अनवद्यता। प्राणपीड़ा होने पर तप की भी अयुक्तता।

अन्तिम दो छन्दों में गुणस्तवनकी प्रशस्ति के प्रवचन हैं उनके शीर्षक देखिये—परमनिवृत्तिसाधनी गुणस्तुतिका स्तवन। प्रभुशक्ति की उपयोगिता। आदि

10 परमानन्दस्तोत्रप्रवचन भीर्ष

परमानन्दस्तोत्रपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने प्रवचन किये, व पश्चात् उनके शीर्षक लिखे हैं। इस श्लोक में सत्य आनन्द का क्या स्वरूप है वह किस प्रकार प्रकट होता है इसके प्रथम द्वितीय छन्द के प्रवचनके शीर्षक देखिये—

शान्ति के अर्थ सहज ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व के परिचयकी अनिवार्यता। निज देह में व्यवीस्थित परमात्मतत्त्व के दर्शन की युक्ति। आराध्य आत्मतत्त्वकी परमानन्द संयुक्ता। आराध्य आत्मतत्त्व निर्विकारता व निरामयता। आत्माका वास्तविक बड़प्पन। परमात्मतत्त्वकी ज्ञानामृत परिपूर्णता।

पांचवें व छठवें श्लोक में ज्ञानसुधारस पान का समाचार दिया गया है, इसके प्रवचन के शीर्षक—निर्विकल्प समुत्पन्न ज्ञानसुधारस का फन। ज्ञानसुधारसपान से अमरत्वप्राप्ति। समाधिमरण का महत्व। हर परिस्थिति में धर्मपालन की शोघ्रता करने की शिक्षा देने वाला उदाहरण। ज्ञानसुधारसवान क बिना जीनके जीवन मरणकोअसोभनता।

मोह की निरर्थकता। विषम विषयान को तजकर ज्ञानसुधारसपान करने में मनीषिता।

सदानन्दयम जीव के ज्ञाता द्वारा ही परमानन्द कारण भूत अन्तस्तत्त्वकी उपासनाकी शक्यता। सुखस्वभाव निज आत्मपदार्थ से ही सुख की उपलब्धि।

आनन्दमय ब्रह्मस्वरूपके ध्यान व दर्शन के अनधिकारी व अधिकारी पुरुष का वर्णन 9 व 10 वें छन्द के प्रवचन में है, उसके शीर्षक देखिये—

आनन्दस्वरूप अनतस्तत्त्वका ध्यानहीन पुरुषों को अदर्शना मोक्षमार्ग के लिए प्रारम्भिक कदम तत्त्वज्ञान। आत्मस्वरूप परिचयकी स्वाधीनता व सुगमता। अंतः ध्यान व अन्तः स्थित आनन्दमय ब्रह्मस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी उपलब्धि। परमात्मतत्त्वकी सहजआनन्दमयता। आत्माकी परमात्मरूपता। परमात्मतत्त्वकी उपलब्धिकी विधि में अपना कर्तव्य। मनको विलीन करने के उपायका 16 वें श्लोक से 19 वें श्लोक तक में यह वर्णन है कि गतविभ्रम योगोजनों द्वारा निर्विकल्प समाधिमें जिसका अनुभव होता है वह भाव क्या है? इसे कुछ विशेषणों द्वारा समझाया है? उन प्रवचनों के शीर्षक पढ़िये—

निर्विकल्पसमाधि द्वारा सहज जात आत्मदर्शन की परम ब्रह्मरूपता व जिनपुंगवता। विपत्ति व विश्राम में सत्य स्वरूपका ज्ञान व होने पर प्राणी के निरन्तर व्याकुलता का सद्भाव। थकान व विश्रामका सत्य स्वरूपका ज्ञान होने पर विश्राम का अवसर। परमविश्राम में सहज उपलब्ध आत्मज्ञानको परमगुणता। मिथ्याज्ञानी जीनके जीवनमरण में आकुलताकी प्रचुरता। ज्ञानकी परम हितकारिता। निर्मान्त भाव की परमज्योतिरूपता व परमतत्पौरुषता। निर्मान्तभाव की परमध्यानरूपता व परम गुरुरूपता। आत्मदर्शी निर्मान्त भावकी सर्वकल्याणरूपता। आत्मदर्शी निर्मान्त भावकी सुखभाजनता। आत्मदर्शी निर्मान्तभाव की शुचि निर्वाणरूपता। स्वानुभवकी सुखदाया। ज्ञानानुभवकी परमार्थशकुनरूपता। स्वानुभवको परमत्यागरूपता। स्वानुभवकी सुखदायता। ज्ञानानुभवकी परम चैतन्यरूपता। ज्ञानानुभवकी

गुण सागरता परनिवृत्ति से गुणविकास का अवसर। आत्माकी गुणसागरता।

23 व 24 वें श्लोक में बताया है कि पंडित वास्तव में वही है जो अन्तः स्वभावस्थ—सहजानन्दमय चैतन्यस्वरूपको जाने। इसके प्रवचन के शीर्षक पढ़िये—

अहिंसा परिणाम से ही शान्ति की निस्पति। धर्माधार अहिंसा। संकल्पी हिंसा में महान अपराध। भावानुसार हिंसा अहिंसा का निर्णय। सर्वजीवों के प्रति सुखकी भावना का महत्त्व। कषाय में सुख को असंभवता। सुखी होने के उद्यम में पंचभावना व षट् वयं विजय का दिग्दर्शन। शुद्ध भावना व विभावविजय का आधार आत्मबोध। निजशरण निज नाथ का अन्वेषण। पाषाण में हेम की तरह आत्मा में परमात्मत्वकी उपलब्धि। दुग्ध में धृतकी तरह आत्मा में परमात्मत्वकी उपलब्धि। तिल में तेल की तरह आत्मा ज्ञानकी स्वाधीनता। प्रभुपदर्शन में आत्मदर्शन का प्रयोजन। ज्ञानप्रकाश की अनुपमता।

102 द्वात्रिंशत् तकाप्रवचनशीर्ष

पूज्य श्री अमितगनि द्वारा प्रणीत द्वात्रिंशत्तिका पाठ में साम्यभावकी भावना की गई है, इसी कारण इस पाठको सामायिक पाठ में प्रधान पाठ माना गया है। इस पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने प्रवचन किये हैं और उन प्रवचनों पर शीर्षक भी दिये हैं। देखिये प्रथमछन्द के ही प्रवचनशीर्षक किस प्रकार उनमें समयविषयकी झलक हो रही है।

वस्तु की भावप्रधानता। आत्महित के लिए सद्भावना की आवश्यकता। सम्यक्त्व होने पर वास्तविकी सद्भावना का अभ्युदय। मैत्री, प्रमोद, कारण, माध्यस्थ भावना के वर्तने की अभिलाषां आस्तिक्याका भी अपूर्व सहयोग। गुणियों में प्रमोदभाव करने की सद्भावना। दुःखी जीवों में दयापरता की सद्भावना। विपरीतवृत्ति अज्ञानों में माध्यस्थय भावकी सद्भावना।

समाताका मूल शरीर से आत्मा को पृथक समझ लेने की आवश्यकता है, अतः द्वितीय छन्द में भेदविज्ञान की भावना करके

तृतीय छन्द में समताभावका प्रसरण किया गया है। इनके प्रवचन के शीर्षक देखिये—

निजात्मा को शरीर से भिन्न रकने की भावना। अपासतदोष निजात्माकी शरीर से भिन्न करने की भावना। वस्तुतः प्रत्येक आत्माको शरीर से भिन्न करने की भावना। उपयोग द्वारा निजात्माको देहविविक्त करके सर्वतः देहविविक्त होने की भावना। जितेन्द्र देवका प्रसाद व उसकी पात्रताका विषय शुद्धात्मत्वका परिचय। परिग्रहपरिमाणके अभावमें गृहस्थ की विडम्बना। जिनेन्द्रदेव प्रसाद से ज्ञानमूर्ति आत्मदपदार्थ को देहविभिन्न करने की सद्भावना। सर्वत्र समताकी भावना। दुःख और सुख में समता की भावना। सुख दुःख के कारणभूत पुण्य पापकर्म में तथा पुण्य पाप कर्मके कारणभूत शुभ अशुभ भवमें समानता की दृष्टि। बेरी और बन्धुजनों में समता की भावना। इष्ट अनिष्ट के संयोग वियोग में समता की भावना। भवन बन आदिक में समता की भावना।

पंचम व षष्ठ छन्द में पापप्रतिक्रमणकी भावना का वर्णन है उसके प्रवचन शीर्षकों में विषयका अन्दाज कीजिये—

सर्वजीवों में समता व अविरोधकी भावना। अन्याय करने वाले पुरुष के ही हानि का भोक्तृत्व। अन्तर्ज्ञानी की सद्भावना। चारित्र्यलोप के पाप के निवारण की भावना। पापका प्रतिक्रमण। अवसर पाते ही सावधान होने में बुद्धिमान। असार, मानसिक, क्रियामयी स्थितियों से हटकर सारभूतज्ञानतत्व में निष्पन्द लीन होने का संदेश। पापनिवारणकी भावना। मंत्रगुणों द्वारा विष के निवारण की तरह ज्ञानशुद्धि द्वारा पापके निवारणका पौरुष। निर्मल भाव होने पर पापभाव के निवारण का उदाहरण द्वारा संकेत। विनिन्दन, आलोचन, गर्हण द्वारा पापनिवारणकी विधि में तथ्य का दर्शन।

22 वें छन्द से कुछ प्रवचन समाधिभावके सम्बन्ध में हैं उनके शीर्षक समाधि दिशा का परिचय कराते हैं— देखिये—

अध्यात्मसंस्तरका स्मरण। अध्यात्मसमाधान के लिए मिथ्यातवत्यागकी प्रथमावश्यकता। अध्यात्मसाधना के लिए

मिथ्यात्वत्यागकी तरह अन्यायत्याग की प्रथमावश्यकता। अध्यात्मसाधना में मिथ्यात्व व अन्याय के त्यागकी तरह अभक्ष्य त्याग की भी अतयावश्यकता। समाधिसाधनभूत अध्यात्मरसिक पौरुष का अनुरोध। बाह्य पदार्थों में निजकी अत्यन्त विविक्तता। मुक्ति के इच्छुक पुरुषों को स्वस्थ होने का सन्देश। आत्माको आत्मा में देखने वाले विशुद्ध ज्ञातादृष्टा समाधिलाभका उद्घोसन। विशुद्ध ज्ञानदर्शनमय अंतस्तत्व के आश्रय में समाधिलाभ।

30 वें छन्द से कुछ प्रवचन दुःखफल समाता से भोगने के संदेशक हैं। इसमें बताया है। कि स्वयंकृत कर्मका फल स्वयं को ही तो भोगना है, दूसरा कोई फल देने वाला नहीं हैं। इन प्रवचनों के शीर्षक पढ़िये—

स्वयं कृतकर्म के फल में शुभ अशुभ घटनाओं की प्राप्ति। अन्य के द्वारा किसी अन्यका सुख दुःख देने की असक्यता। भावकर्म व द्रव्यकर्म के फल का विधान। दुःखके कारण चतुर्विध विभाव। निजार्जित कर्म के अतिरिक्त अन्य किसी के द्रव्यकर्म के फल का विधान। दुःख के कारण चतुर्विध विभाव। भावकर्म व द्रव्यकर्म किसी के फलदानहेतुत्वका अभाव। संसारियों के सुकृतकर्मफलभोवतृत्वका तथ्य जानकर अपने को निर्भर अनुभव करने का अनुरोध। प्राप्त समागम की अप्रयोजकता निर्णीत करके कल्याणमूल तत्वज्ञानमें पौरुष करने का अनुरोध। भोगविरक्त होकर आत्मध्यानमें लगने की प्रेरणा। ज्ञानवैराग्यविषयक चरित्र के अनुकरणकी प्रेरणा।

103 अप्तपरीक्षाप्रवचन भीर्ष

सूत्रकार पूज्य श्री उमास्वामी के मोक्षशास्त्र के मंगलाचरण का स्पष्टीकरण करने के लिए पूज्य श्रीमद्विद्यानन्दिआचार्य ने आप्तपरीक्षा की रचना की है और स्वयं उसकी टीका की है। इस पर पूज्य श्री पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजने प्रवचन किये हैं। इसमें सच्चा देव कौन हो सकता है इसका निर्णय किया है। उन प्रवचनों के यहां किसी किसी स्थल के शीर्षक उद्धृत किये जाते हैं। द्वितीय पद्यमें शास्त्र के आदि में मंगलाचरण कहने का कारण व मुक्ति व अमुक्तिका संक्षेप बताया गया है, उसके प्रवचनों के शीर्षक देखिये।

भगवत्परमेष्ठी के गुणस्तोत्र से अनुष्ठान की साधारणतया परिभाषण कुछ ठीक भी करते हैं, किन्तु अभिमत तत्वों का स्वरूप यथार्थ नहीं बैठता, तब उस ज्ञान के आधार पर बनाया विकल्प भी मोक्षमार्ग का अनुष्ठान नहीं बन पाता। अतः तत्वस्वरूपको समीक्षा करना आवश्यक है। जैसे कोई द्रव्यको एक पदार्थ माने जबकि वे अनन्त है, इसी सम्बन्ध से हुए प्रवचनों के एक स्थल के शीर्षक देखिये—

विशेषवादसम्मत मोक्षमार्गानुष्ठान का विशेषवादियों द्वारा समर्थन। ज्ञेय विषयों के विपरीत ज्ञान में निःश्रेयसोपायकी असंभवता बताते हुए उक्त आरे का समाधान। द्रव्य पदके अर्थ होने के नाते द्रव्य के एकत्व की असिद्धि। द्रव्यलक्षणके एकत्वसे द्रव्य के एकत्वकी असिद्धि। लक्षण की साधारणासाधारणता बताकर भी उससे द्रव्य के एकत्व की भी असिद्धि। उपचरित एकत्व से पारमार्थिक एकत्वकी व द्रव्यलक्षणके एकत्व से द्रव्य के एकत्व की सिद्धि के प्रयास की विडम्बना। गुणात्मक रूपसे कल्पित द्रव्यलक्षणत्व के भी योग से द्रव्यलक्षण के एकत्वकी व द्रव्यलक्षण के एकत्व से द्रव्य के एकत्वकी सिद्धि के प्रयास की विडम्बना। द्रव्य लक्षण को कर्मपना मानकर शंकाकार की इष्ट सिद्धि की विपरीतता। ज्ञेयप्रतिपादनों की वस्तुस्वरूपानुरूपता न होने से उस ज्ञान से श्रेयः सिद्धि का अभाव। द्रव्य के एकत्व की तरह गुण कर्म आदि के एकत्व की भी निराकृतता। आदि।

किन्हीं दार्शनिकों का अभिमत है कि प्रभु तो अनादि से ही कर्म से मुक्त है फिर भी कर्मभूद्भेतृत्व विशेषण कैस सिद्ध हो सकता है। इस शंका और समाधान पुनः पुनः शंका से संबंधित प्रवचनों के कुछ शीर्षक पढ़िये—

कर्मभूद्भेतृत्व की असिद्धि मानने वालों की समस्या। कर्मभूद्भेतृत्वकी साधिका विश्वतः वज्रता की प्रसिद्धि। विश्वतत्वज्ञता हेतु से कर्मभूद्भेतृत्व साध्यको सिद्धि। शंकाकार द्वारा अनुमान प्रमाण से महेश्वर में शाश्वत कर्मास्मृत्वका प्रतिपादन। अनुपायसिद्ध की अनुपपत्ति होने से शाश्वत्कर्ममलास्पृष्ट विश्वदृश्वकी असिद्धि का

वर्णन । शंकाकार द्वारा अनादित्व हेतु से ईश्वर के अनुपायसिद्धतवका समर्थन। शंकाकार द्वारा अपने आत्मबल से ईश्वर में विश्वकारणता प्रतिपादन। अनुमानप्रयोग से महेश्वर के विश्वकारण को पर्वपक्ष में प्रतिपादन। बाधकप्रमाण में बाधा देकर महेश्वर के जगन्निमित्तत्व का पूर्वपक्ष। आदि

कोई दार्शनिक सृष्टिकर्ता होने से प्रभु को अनुपायसिद्ध कहते हैं और अनुपायसिद्ध करके उसे कर्ममल से अस्पष्ट अनादिमुक्त बताते हैं तथा अनादि मुक्त सिद्ध करके कर्मभूतदभेतृत्व विशेषणको अयुक्त बताते हैं उनके समाधान में प्रभुका परका अभृष्टा सिद्ध करके प्रभु की निर्दोषता प्रसिद्ध करने के प्रवचन के शीर्षक पढ़िये—

कालोत्थयापदिष्ट व व्यापकानुपलम्भ होने से कार्यत्वक हेतुकी बुद्धिमन्निमिमिकता साध्य की सिद्धि में अशक्ता बताते हुए उक्त शंकाओं का समाधान। कार्यत्वहेतु का सिमृक्षानिमित्तकता के साथ भी व्यतिरेकानुपलम्भ होने से अनिष्टप्रसंग। विश्व को सिसृक्षानिमिमिक मानने पर भी अनवस्थादिदोषों का प्रसंग। सिसृक्षा ओर कार्यत्व में देशव्यतिरेक व कालव्यतिरेककी असिद्धि। सामग्री को कार्यजनिका मानने पर प्रकृतक्षसिद्धि हानि। कार्यत्वहेतु का दिशा काला आकाशदि के साथ भी अन्वयतिरेककी अनुपलम्भ । आदि

प्रभु रचन की इच्छा से जगत को रचने का काम करता है इसकी मीमांसा के प्रवचनों से संबंधित कुछ शीर्षक देखिये—

उत्कृष्ट आत्मा के सिसृक्षा की असिद्धि। विश्वज्ञ, वीतराग के ही मोक्षमार्गप्रणोतृत्व की संभवता। आत्मविशेष के सर्वज्ञत्वकी अनादिसिद्धता की असिद्धि। ज्ञानेच्छाप्रयत्नत्व से भी अलौकिक आत्मा के कर्तृत्वकी सिद्धि की अशक्यता। शरीर और कर्म के सम्बन्ध बिना मोक्षमार्ग प्रणयन व तन्वादिकार्य की अनुपपत्ति बताते हुए उक्त शंका का समाधान। कर्म के अभाव में इच्छा शक्ति के अभाव का विवरण। प्राणियों के अदृष्ट को सिसृक्षा में हेतुमूत बताकर भी सिसृक्षा और सृष्टि को सिद्धि का अनवकाश।

सशरीरी व अशरीरी दोनों विकल्पों में प्रभु के सृष्टिकर्तृत्व की मीमांसा में 18 वें पद्य से 26 वें पद्य तक संबंधित प्रवचन के शीर्षक—

स्वदेह को रचकर अन्य देहियों का निर्गह अनुरोध करने वाले ईश्वरी शंकाकार द्वारा मान्यता। ईश्वर के स्वदेहनिर्माण की असमंजसता। ईश्वरदेह का ईश्वर द्वारा निर्माण न मानने पर कमहेतुकी व्यभिचारिता होने से सृष्टिकर्तृत्वकी असिद्धि। अन्य देहियों की तरह पूर्व पूर्व देह से उत्तर उत्तर देहका निर्माण मानने पर महेश्वर के अनीशत्वका प्रसंग। अशरीर महेश्वर के धर्मविशेषके अभाव के कारण कार्य में प्रवर्तन की असिद्धि का निष्कर्ष। अशरीर महेश्वर के नित्यज्ञान से कार्योत्पाद मानने पर कार्यो के त्रम में विरोध का प्रसंग।

विशेषणपाद में ईश्वर और ज्ञानको पृथक माना जाने से यह ज्ञान ईश्वर का है, यों धर्मधर्मी की कैस सिद्ध हो सकती है। इस विषय से संबंधित प्रवचनों शीर्षक पढ़िये—

अवाधित इहदंप्रत्यय के द्वारा भिन्न ईश्वर व ज्ञान में भी सम्बंध मान लेने का शंकाकार का प्रस्ताव। भिन्न पदार्थों में इहेदंप्रत्यय में बाधा बताते हुए उक्त शंकाका समाधान। भिन्न पदार्थों में धर्म धर्मों की व्यवस्था बनाने के लिए प्रत्यासतिविशेष बताने का विफल प्रयास। धर्मधर्मों के कथंचित् तादात्म्य विषयक वशेषिकों का असंगत उलाहना। तादात्म्यका सम्बन्ध संबंधवानों में अभेदप्रसिद्ध व तत्वबोध के लिए भेदप्रसिद्धि। सापेक्ष भेदाभेदस्वीकारता से अनेक मिथ्या आशयों का निराकरण। ईश्वरज्ञान व कार्य के साथ अन्वयव्यतिरेक भावकी तरह द्रव्य व पर्याय के साथ भी अन्वयव्यतिरेकभावके प्रसंगका शंकाकार द्वारा कथन। द्रव्यपर्यायतमक वस्तु में कार्य का अवरोध बताते हुए उक्त शंका का समाधान। आदि।

ईश्वर और ज्ञानको भिन्न भिन्न पदार्थ मानने वाले धर्मधर्मी सम्बन्ध बताने के लिए समवाय मानते हैं, किन्तु कथंचित् तादात्म्य के अतिरिक्त भिन्न भिन्न समवाय सिद्ध नहीं होता इसके विस्तृत निराकरण के बाद भी विशेषणविशेष्यत्व संबंध भी समवाय व धर्मधर्मी को सिद्ध करने के प्रयास से सम्बन्धित प्रवचनों के शीर्षक पढ़िये—

समवायियों में समवाय, इस प्रत्यय की अवाधितताका खंडन करके अनवस्था दोष परिहारक शंकाकार द्वारा विफल प्रयास। सर्वथा भेदवाद में विशेषणविशेष्यत्वभाव की भी असिद्ध होने से ईश्वर ज्ञानकी असिद्धि का प्रसंग। भेदवाद में विशेषण विशेष्यत्व के अवबोध की अशक्यता। विशेषवाद में विशेषण विशेष्यत्व माने जाने में भी दोष टाले जाने की अशक्यता। विशेषणशेष्यभाव बनने पर इससे ही सर्वसिद्धि करलो जाने से समवाय मानने की व्यर्थता। संयोग व समवायसंबंध के बिनाभी विशेषणविशेष्यभाव बन जाने से विशेषणविशेष्यभावकी समवायामूलताकी असिद्धि।

कुछ दार्शनिक सत्ताको एक ही मानते हैं, हां असताको अनेक मान लेते हैं जबकि यथार्थता यह है कि जितने पदार्थ हैं ये सब अपनी अपनी अभिन्न सता से अनुस्यूत है और असता परसत्वरूप है। इस विषय के प्रवचनों से संबंधित प्रवचनों के शीर्षक पढ़िये—

घटपटादि के अनेकत्वकी तरह सत्व के भी अनेकत्वकी सिद्धि। सत्ता को सर्वथा नित्य मानने पर उत्पादादि धर्म की असंभवता। सत्ता को व्यापक मानने पर सामान्य, विशष, अभाव आदि में अव्यापकता का अनवकाश। व्यापकता के सम्बन्ध में सत्ता के मुकाबिले में घट के सम्बन्ध में समान आख्यान। व्यापक होने पर भी घटत्व की अभिव्यक्ति की तरह व्यापक घटका अभिव्यंजक देश में अभिव्यक्ति का प्रतिपादन। विभिन्न देशो में उपब्धि के कारण घट में अनेकत्वकी सिद्धि को तरह सत्ता में भी अनेकत्वकी प्रसिद्धि। सत्व को अनेक सिद्ध करने वाले अनुमान की निर्दोषता का वर्णन।

कोई दार्शनिक चेतन को निर्लेप मानते हैं और अचेतन प्रकृति को ही सर्वज्ञ मानकर मोक्ष मार्गका उपदेशक कहते हैं इस अभिमत की मीमांसा से संबंधित प्रवचनों के कुछ शीर्षक—

प्रधान को सर्वज्ञ, मोक्षमार्गप्रणोता व कर्मभूभृद्मेता मानने पर पुरुष कल्पना की निरर्थकता। प्रधान के ही सवज्ञत्व, कर्मभूभृद्भेतृत्व सिद्ध करके मोक्षमार्ग प्रणोतृत्व सिद्ध करने का शंकाकार का प्रयास।

प्रधान में अचेतनत्व होने के कारण सर्वज्ञत्व आदि का अभाव बताते हुए उक्त शंकाका समाधान। विषयय ज्ञान से प्रधान के संसारित्वको व तत्वज्ञान से प्रधान के सर्वज्ञत्वकी वयवस्था का शंकाकार द्वारा प्रयास। प्रधान के ही संसार मोक्ष आदि सब मान लेने पर पुरुष की कल्पनाकी अनर्थकता बताते हुए उक्त शंकाका समाधान। पुरुषों के अवक्तव्य कहने पर व्यवस्था का पूर्ण अभाव। स्वरूप संवेदन की तरह अर्थ-संवेदनकी उपपत्ति भी स्वतः मान लेने का प्रकरण। स्वरूपसंवेदन से अभिन्न आत्मा को मानने की भांति आत्माको अर्थ-संवेदन से भी अभिन्न मान लेने का कर्तव्य। अर्थसंवेदन की भांति स्वरूप संवेदनकी भी अनित्यता सिद्ध होने से पुरुष के संवेदनात्मकत्व व नित्यानित्यात्मकत्वको सिद्धि। ज्ञान से अभिन्न प्रधान को नित्य मानने वालों का ज्ञान से अभिन्न पुरुष को नित्य मान सकने में अनापत्ति। अदृष्ट प्रधान में ज्ञानाधारत्वकी कल्पना व अनुभूत आत्मा में अज्ञता को कल्पना में स्पष्ट विडम्बना।

अर्हन्त प्रभु के सर्वज्ञत्वसिद्धि का निष्कर्ष बताने वाले 88 वें पद्य से 95 वें पद्य तक के प्रवचनों में से संबंधित कुछ शीर्षक—

अर्हन्त के अन्तरित तत्वों की स्पष्ट प्रत्यक्ष होने की प्रमाणता से सिद्धि। अन्तरित तत्वों की प्रत्यक्षगोचरता के प्रतिकूल शंकाकार की शंका। अन्तरित तत्वों की ज्ञानगोचरता सिद्ध करते हुए उक्त शंकाका समाधान। सभी अन्तरित पदार्थों का भी पक्षीकरण होने से प्रमेयत्व हेतु में अनेकान्तिक दोष की अनुपपत्ति। जिनेश्वर के धर्मादिक सभी अन्तरित तत्वों का प्रत्यक्षगोचरता। अन्तरित पदार्थों की भी सर्वज्ञज्ञानगोचरता होने से प्रमेयत्व हेतु के दृष्टान्त में साध्यविकलता दोष की अनुपपत्ति। प्रत्यक्षसामान्य से अर्हन्त के प्रत्यक्षत्व को सिद्धि के पश्चात् अतीन्द्रिय प्रत्यक्षत्वकी सिद्धि।

प्रभु के सर्वज्ञत्वसिद्धि के पश्चात् कर्मभूभृत्त्व की सिद्धि से संबंधित प्रवचनों में से कुछ शीर्षक देखिये—

सर्वज्ञ परमपुरुष के कर्मभूभृत्त्व की सिद्धि। अनादि प्रवाह होने पर भी कर्मफलक के प्रत्यक्ष की संभवता। आगामी कर्मों का प्रतिपक्षी संबन्ध। एकदेश संबन्ध की स्थितियों का संक्षिप्तविवरण।

उत्तरोत्तर आश्रवों का निरोध होने पर पूर्व पूर्व आश्रवों के निरोध की अवष्यंभाविता। कर्मों के हेतुकर्ता व हेतु के अभाव में कर्मों का संबंर का प्रक्षय। संचित कर्म का प्रतिपक्ष भूत निर्जरातत्व। परमात्मा में संबंर निर्जरा के परमप्रकर्षकी सिद्धि। दुःखाधिक व कषायाधिक्य के प्रकर्ष की सिद्धि होने से हेतु की अव्यभिचारिता। क्षायोपशमिकज्ञान की हानि की परमपुरुष में प्रकर्षता प्राप्त होने से हेतु की ज्ञानहानि के साथ अव्यभिचारिता। द्रव्यकर्म और भावकर्म तथा उनका पृथककरणरूप भेदन।

मोक्षमार्ग रत्नत्रयात्मक है, इस विषय से संबंधित प्रवचनों के शीर्षक पढ़िये—

सम्यग्दर्शनादित्रयात्मक मोक्षमार्ग का प्रतिपादन। सम्यग्दर्शनादित्रयात्मक मोक्षमार्ग की साधक अनुमान में पखकी प्रसिद्धि। सम्यग्दर्शनादित्रयात्मक मोक्षमार्ग की सिद्धि में प्रयुक्त मोक्षमार्गतव हेतु की सिद्धि। मोक्षमार्गविशेष में धर्मित्व व मोक्षमार्गत्वसामान्य में हेतुत्व का विवरण। हेतु में प्रतिज्ञार्थकदेशासिद्ध नामक दोष के अभावका प्रतिपादन। सम्यग्दर्शनादित्रयात्मक मोक्षमार्ग की सिद्धि में प्रयुक्त मोक्षमार्गत्वहेतु को अव्यभिचारिता। साक्षानमोक्षमार्ग का प्रतिपादन होने से अकेले सम्यक्त्व आदि में प्रकृत मोक्षमात्वका अभाव। आदि

ग्रन्थ में किये गये वर्णन के उपसंहारक 121 वें छन्द में मोक्षमार्ग प्रणावन विषय में जो मार्गदर्शक प्रवचन हुए हैं उनके शीर्षक देखिये—

मोहाकान्त गुरु से मोक्षमार्गप्रणीतिकी असंभवता। क्षीणमोह सर्वज्ञ अर्हन्तदेव से मोक्षमार्ग प्रणीति का उद्भव। मोहाकान्ताका विवरण। मोक्षमार्ग प्रणयत के लाभ। मोक्षमार्गप्रणोता प्रभुके शासन की परम्परा से मोक्षमार्गका उपदेश करने वाले आचार्यों के परम्परया मोक्षमार्ग प्रणोतत्वकी सिद्धि। आदि

इस पुस्तक में दशलक्षणधर्म के विषय में पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। उत्तम क्षमा के प्रकरण में देखिये एक प्रवचनांश में कि जीव वस्तुतः अपने आप पर ही क्षमा कर सकता है और क्षमा करने में अपनी भलाई है, पृ0 3. वास्तव में अपने आप पर ही यह क्षमा कर सकता है। लोक में दूसरी आत्माको न कोई क्षमा कर सकता है और न दूसरे के क्षमा करने से उत्तम क्षमा आ सकती है। यह तो रूढ़ि है कि हम से कोई अपराध बन जाय तो हम उससे क्षमा मांग लें, ड्यूटी पूरी करलें, तो क्षमा हो गई, परन्तु भैया, जरा विचारो तो सही कि क्या तुम्हें कोई अन्य क्षमा कर सकता है अथवा क्या तुम किसी को क्षमा कर सकते हो? अरे क्षमा तो आत्माका निजधर्म है। मेरा जिस मनूष्य से कुछ बिगाड़ हो गया उससे मैं क्षमा मांगू अथवा किसी ने मेरा अपराध किया तो मैं उसको क्षमा दे दूँ तो मेरा धर्म का मार्ग आगे चल सकता है, नहीं तो नहीं चल सकता, ऐसा अटकाव धर्म के लिए नहीं होता। हम दूसरे को क्षमाही क्या कर सकते हैं अथवा दूसरा हमें क्या क्षमा कर सकता है? क्षमा तो निज का परिणाम है। कोई द्रव्य किसी परद्रव्यका परिणमन नहीं कर सकता। क्षमा तो सच्ची यह है कि यदि कोई अपराध किया गया तो इस अपराधको ही क्षमा कर दें। निरपराध ज्ञानस्वभाव के अभिमुख होकर अपराधको फिर न होने दें।

मान कषाय करने से कुछ भी लाभ नहीं है, बल्कि मान कषाय से अतुल आत्मनिधिका विनाश हो जाता है, इससे संबंधित प्रवचनांश पढ़िये—पृ0 33 मान कषाय से इस लोक में भी सुख नहीं है और परलोक में भी सुख नहीं है यहाँ तो मानो की हर कोई नीचा दिखाने की धात में रहता ही है और परलोक में भी मानकषाय के द्वारा बंधे कर्म के उदय को निमित्त पाकर उसे कुगति के अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। मानकषायको अपने हृदय से निकाल दो और यह तभी निकाल सकते हो जब आत्मा के स्वभाव को पहचानो। अरे, किस चीजपर मान करते हो? धन, वैभव, सम्पदा, पुत्र, मित्रपर? अरे न मालूम कितनी बार तो सम्राट हो लिए, कितनी बार महाराज हो लिए, कितनी बार देवों में जाकर पुण्य के ठाठ भोगे, यहाँ जरा भी सम्पदापर जो कि पूर्व भोगी हुई सम्पदा के सामने न कुछ ही समझो

—क्यों इतराते हो? काहे का मान करके दुःखी हो रहे हो? और भैया, जरा सोचो तो तुम्हारी आत्मातो अनन्तज्ञान, दर्शन सुख, वीर्य स्वभाव वाली है, फिर इन थोड़े से चांदी सोने के टुकड़ों को पाकर, कुछ पत्र पुत्रियों के पदार्थ तुम्हारे चरणों में आ पड़ेगे। इसके लिए अधिक मुसीबत सहने की आवश्यकता नहीं। मात्र हंसी से सुखी से उत्तम मार्दव धर्म का पालन हो सकता है।

माया एक शल्य है, इसके होने से जीवन दुःखमाय रहता है, इसके दूर करने में ही भलाई इसकी प्रेरणा ले प्रवचनांश पृ० 60 दृष्टे भव्यजनो, माया शल्य को निकालो। शल्य तीन होते हैं

1. मिथ्यातव

2. निदान

3. माया।

कषाय शल्यों से अलग है। कषायों को शल्य में नहीं लिया। मायाचार ऐसा शल्य होता ही है— सामने कुछ कहें और परोक्ष में कुछ कहें। ये सब मायाचार की ही बातें हैं। ऐसी बात जब हृदय में रहती है तब शल्य बन जाता। जैसे कांटा कीली आदि लग जाय तो दुःख देते हैं, इसी प्रकार मायाचार चित में घर कर जाय तो यह महान दुःख देता है। सो मायाचारशल्य को निकालें, यही आर्जवधर्मका पालन है। इस आर्जवधर्म की उपयोगिता पर सदा विचार करो। आर्जव धर्म से नरभव की सफलता है। मायाचारी जीवका ब्रत करना, तप करना, धर्म करना, ये सब निरर्थक है।

शरीर के स्नान से पवित्रता कभी नहीं आ सकती आत्माकी पवित्रता तो सम्यक्त्व से ही है। अध्ययन करें—पृ० 75 —अच्छा भाई इस शरीर को ही देखो कितना अपवित्र है। खून, पीप, राध, रूधिर से भरा पड़ा है। 9 द्वारा से सदा मल भरता है। इसके अतिरिक्त जितने भी रोम हैं सबसे पसीना बहता रहता है। बहुत ज्यादा मल मलकर नहाने पर भी यह पवित्र नहीं होता। और मान भी लिया जाय कि साबुन आदि के प्रयोग से क्षण भरके लिए शरीर भी पवित्र नहीं हो जाय, परन्तु शरीर के साफ होने से आत्मा की पवित्रता नहीं आती।

मल के बड़े घड़ों को उपर से शुद्ध करने से जैसे वह घड़ा शुद्ध नहीं होता, उसके अन्दर को मलिनता तो उसमें रहती ही है इसी प्रकार शरीर पवित्र करने से आत्मा में पवित्रता नहीं आती। जैसे मैले कपड़े पर साबुन लगाने से कपड़े का मैल हट जाता है और कपड़ा साफ हो जाता है इसी प्रकार आत्मा में जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, लोकर्म रूपी मल विद्यमान है उसको सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र से हटाने पर आत्मा पवित्र हो जाता है।

सत्य से आत्मोद्धार है और ऐसा उपाय बना लेने में मनुष्यजीवन की सफलता है, देखिये—प्रवचनांश पृ० 102 —सत्य से ही मनुष्य जन्म ही शोभा होती है। परमार्थ सत्य क्या है? सत्य केवल अपनी सत्तामात्र चैतन्यस्वरूप जो निज भाव है निज भाव है उसमें श्रद्धा रखना यह ही उसका सही ज्ञान रखना। भैया, ज्ञाता दृष्टा रहने का आचरण करो, ऐसी प्रवृत्ति की सिद्धि करानेवाला जो वचन है जो वचन है वही उत्कृष्ट सत्य वचन है। सच्चाई उपयोग में आ जाय तो उस मनुष्यका जन्म सफल है।

आत्मा का उद्धार ज्ञान और संयम से ही हो सकता है, अतः इसकी ओर दृष्टि दें प्रवचनांश पृ० 119 भैया, उद्धार होगा तो अपने ज्ञान और संयम से ही। ये स्त्री पुत्रादिक मददगार न होंगे, पति और बेटे मददगार न होंगे। व्यवहार अपना ठीक रखो, मगर श्रद्धा तो अपनी सही बनाओ। रत्नत्रय से ही पूरा पड़ेगा। यह संयम रस परित्याग करने से होता है। प्राण नहीं निकालना चाहिए। इतना तो ध्यान रखो मगर बढ़िया भोजन हो, खूब मीठा हो, अच्छा हो, इस पगलोई में तो नहीं पड़ना चाहिए। प्राण इसलिए चाहिए कि दुर्लभ मनुष्य जीवन पाया है तो संयम और धर्म का पालन बना रहे। यह संयम मनका प्रसार होने से ही होता है। मन करना है कि जिसको वह अच्छी जगह करे, क्योंकि यह मन आपका मित्र नहीं है। मित्र कहां, रक्षक कहो, गुरु कहो, देव कहो, अपना ज्ञानस्वभाव है। उसकी दृष्टि छोड़कर इन्द्रियविषयों में दृष्टि लगाना सो यह तो श्रेष्ठ बात नहीं है।

वास्तविक तपश्चरण वहां है जहां अन्तरंग व बहिरंग में नग्नता है, इसका मर्म देखिये—प्रवचनांश पृ0143—इस जगत में हम आपका कोई शरण नहीं है। अपने ही स्वरूपको जानो जो परम आनन्दमय है। जो सहज शुद्ध पूर्ण विकासमय है, परमात्मा कहलाता है, ऐसा यह मैं गुप्त चैतन्यस्वरूप ही मेरे लिए शरण है। इसकी दृष्टि बहुत काल तक बनी रहे। कुटुम्ब परिवार, लोग, इज्जत, देश ये सब मायारूप है। ये मेरे लिए कोई शरण नहीं है। अन्तर में यथार्थ ज्ञान की तपस्या में तपो। तप वहां है जहां नग्नत्व दिखता है। जहां किस गुणी के ये विचार हैं? ये उनके विचार हैं जिन्होंने जिन सहज स्वरूपका स्पर्श करके अमृतपान किया है। जहां विकार रंच भी नहीं रहता। ऐसे केवल गुणों पर दृष्टि रहती है, जो नग्नत्वको देखकर कुछ संकोच करते हैं उनकी चाम पर दृष्टि है। गुणों पर उनकी दृष्टि नहीं है। जो रत्नत्रयधारी साधु के सम्यक्तव, ज्ञान,, चारत्रि गुणों के विकासकी दृष्टि करते हैं वे तो उन्हें देखकर हर्ष विभोर हो जाते हैं। नग्न होना महान तपह"। न विकार आये न लज्जा आये, बालक भी तो नग्न फिरते हैं। अब तो छोटे छोटे बालकों को भी नग्न देखना बुरा लगता है। 6 माह के बच्चे को भी एक फटी सी सिली पुर्नतया बनवा देते हैं ताकि वे मूते तो कपड़ा न भीगे। अभी 30-40 वर्ष पहिले 10 वर्ष के बालक भी नग्न फिरा करते थे। जो पुराने लोग हैं वे जानते हैं—यह नग्नत्व अविकारभावका सूचक हैं।

उत्तम त्यागधर्म के वर्णन के उपसंहार में भावना को निरखिये—पृ0 179—इसमें दो बातें खास कही जा रही हैं —दान देने की दो पद्धतियां हैं 1. दुःखो जनों पर दया करके दान देना और 2. दुःखी जनों की मान करके दान देना। बड़े पुरुषों का मान करना भी दान है, त्याग है और देखो यह धनका त्याग करना दान है। अपनी प्रवृत्ति विनयपूर्वके परिणामों से जितना अपने से बन सके दूसरों का उपकार करने की हो तथा आत्मदृष्टि करके अंतः प्रसन्न रहे, विकारों का परिहार हो ऐसा व्यतीत हो यही करने वाले साधु संतो के होता है। हम सबका कर्तव्य है कि अन्तर से विकार का परिहार करने का ज्ञानयोग बनाकर शान्ति के पात्र बनें।

आकिन्चन्यधर्म की उपासना की ओर बृति से सम्बन्धित प्रवचनांश पढ़िये—पृ० 179—180—आज आकिन्चन्यभावना दिवस है। मेरा अन्यत्र कहीं कुछ नहीं है, इस प्रकार का भाव है तो आकिन्चन्य है 'इस जीव से बाहर कोई पदार्थ इस जीव को शरण नहीं है। एक अपने आकिन्चन्य स्वरूपका दर्शन पाया तो सब कुछ पाया। इस आत्मा में ज्ञान आनन्द आदि भावों से अतिरिक्त और कुछ भी पिण्डरूप चीज नहीं पायी जाती। यह सबसे पृथक स्वतंत्र चैतन्यतत्त्व है, उसकी उपासना से सब कुछ मिलता है और बाहर की उपासना में सब कुछ गवां दिया जाता है। वीतराग प्रभुकी उपासना में भी स्वतंत्र चैतन्यतत्त्वकी उपासना बनती है। देखो—जिस प्रभु की मूर्ति बनाकर हम पूजते हैं वह आकिन्चन्य है। उनके पास कुछ नहीं है। है तो किसी के पास कुछ नहीं, पर यहां तो कल्पना में मानते हैं कि यह मेरा घर है, यह मेरा दुकान है, मेरे लाखों का वैभव है। स्त्री है, पुत्र है, पर प्रभुके पास क्या है? और चलो आगे तो प्रभु के पास क्या है? शरीर तक भी तो उस प्रभु के पास नहीं है। अरे—ऐसे आकिन्चन्य प्रभुकी जो उपासना करता है उसकी सर्वसिद्धि होती है। और जो सकिन्चन यहां के मोही जनों की उपासना करता है उसे कुछ नहीं मिलता। केवल क्लेश ही भोगता है। जैसे समुद्र में पानी भरा होता है पर समुद्र से नदी निकलते कभी सुना गया है? नहीं। पर्वतों पर पानी एक बूंद भी नहीं दिखता मगर उन पर्वतों से बड़ी बड़ी नदियां निकलती हैं। इसी प्रकार जो अकिंचन है उसकी उपासना से आशाओं की सिद्धि होती है और जो सकिंचन हैं, परिग्रही हैं उनकी उपासना से कुछ सिद्धि नहीं होती। ये इष्ट समागम मिल गये यह ता सिद्धि नहीं है। यह तो अंधेरा है। इससे आत्माका पूरा नहीं पड़ता। दुःख दूर हो सकते हैं तो अपने प्रभु के स्वरूपके दर्शन से ही दूर हो सकते हैं।

ब्रह्मचर्य से आत्मा को सर्वोत्कृष्ट लाभ होता है, इसके पौरुष के लिए ब्रह्मचर्य का अन्तर्बाह्यस्वरूप देखिये पृ० 204 अब आज उत्तम ब्रह्मचर्य का वर्णन है। ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं? ब्रह्म मायने आत्मा—आत्मस्वभाव है ज्ञानदर्शन। ज्ञानस्वभाव में ठहरना इसे कहते हैं ब्रह्मचर्य। रागद्वेषरहित निर्विकल्प ज्ञानस्वभाव निज आत्मतत्त्वमें स्थिर रहना और केवल ज्ञाता दृष्टा ही बने रहना यही उत्तम ब्रह्मचर्य

कहलाता है। ब्रह्मचर्य के घातक पांचों पाप हैं। हिंसा से भी ब्रह्मचर्य नष्ट होता है। झूठ बोलने से, चोरी से, कुशीलसेवन से और परिग्रह के कारण भी ब्रह्मचर्य नष्ट होती है। ब्रह्मचर्य के पालन करने के लिए उन पांचो प्रकार के पापों का त्याग बताया है। ब्रह्मचर्य मे इन पांचों में से कुशील नामक चौथे पापके त्याग की प्रसिद्धि है। कुशील के त्याग से ब्रह्मचर्य है। कुशील एक ऐसा पाप है कि जिसमें कभी पुरुषों का चित ठिकाने नहीं रहता हैं। उसे कुछ भी नहीं सूझता। वह शरीर को, उसके बीज को नष्ट करके भी अपने आपको सुखी करना चाहता है। कामी जन राग रंग रेलियों में आशक्त होते होते अपने आपको सुखी समझते हैं। काम के बराबर जगत में कोई व्याधि नहीं। काम वासना की व्याधि सबसे बड़ी व्याधि । कुशील आत्मा के मूल हित को जड़ से नष्ट कर देता है। इस पाप के समय आत्मा को निज स्वरूपकी सावधानी नहीं रहती। ब्रह्मचर्य की सम्मुखता नहीं रहती। इसलिए कुशीलके त्याग की ब्रह्मचर्य कहते हैं।

109 — सुख कहां

मुजफ्फरनगर में पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के कुछ प्रवचन हुए थे, उनका संकलन श्री मूलचन्द जी जैन एम० ए० ने किया था। इस पुस्तक की प्रस्तावना में श्री मूलचन्द जी लिखते हैं—वह देखे हाथी कागज बनी हथिनीपर झपटा, गड्ढे में गिरा और जीवन खो रहा। मछली कांटे में लगे आटे को खाने के लिए ज्यों ही बढी कि मृत्यु ने उसका आलिंगन कर लिया। भौरे की दशा तो बड़ी ही विचित्र है। शक्ति तो इतनी कि लकड़ी में छेद करके निकल जाये, परन्तु एक कमलके बड़े बड़े कोमल पत्ते को छेदकर नहीं निकल सकता और वहीं जीवन लीला अपनी समाप्त कर देता है। यह उसकी प्राण इन्द्रिय के विषय की लालसा नहीं तो क्या है? पतंग दीपकपर किस तरह प्राण दे देता है, यह तो हम नित्य प्रति ही आनी आंखो के सामने देखी हैं हिरण कर्ण इन्द्रिय के विषय में अर्थात् राग सुनने में इतना मुग्ध हो जाता है कि सुधबुध भुलाकर खड़ा हो जाता है और शिकारी उसको पकड़ लेता है। यह तो हुई एक एक इन्द्रिय के विषयलोभियों की दशा। अब अपनी ओर तो दृष्टि करें। अपनी दिनचर्याकी ओर भी तो लक्ष्य करें। हमने अमूल्य मनुष्यजन्म पाया है,

इसको हम किस प्रकार व्यर्थ खो रहे हैं, जरा यह भी तो विचार करें। कुछ सोच विचार के बाद पता चलता है कि हमारा सारा समय किसी न किसी इन्द्रिय के विषयपुष्टि में ही बरबाद हो रहा है और इस पर भी खूबी—यह है कि हम चीखते हैं, रोते हैं, चिल्लाते हैं कि हम दुःखी हैं, मुसीबत में हैं। भाई इन्द्रिय के विषयों से यदि आज तक किसी को भी सुख हुआ हो तो हमारा उनमें सुख की आशा। करना न्याययुक्त हो सकता है, परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ, नहोता है और न होगा, न हमें स्त्री सुखी कर सकती है न पुत्र मित्र परिवार के लोग। बड़े बड़े महल सुन्दर व मनोहर बाग बगीचे भी हमें रंच मात्र सुख देने में समर्थ नहीं है। धन तो प्रत्यक्ष ही दुःख का कारण है। कदाचित बढिया पदार्थ खाने से सुख मिलता हो, सुगंधित इत्र आदि सुंघने में सुख छिपा है, संभव है कि सिनेमा के सुन्दर चित्रपट देखने व मनो मुग्धकारी गीत सुनने से कुछ सुख व शान्ति की प्राप्ति होती हो, परन्तु अनुभव ने बतला दिया है कि सुख इन सब में भी नहीं है। मरभूमि मेदोपहर के समय कड़ी धूप में हिरन की मृगतृष्णा के कारण जो दुर्गति होती है ठीक वही दुर्गति हमारी आज हो रही है। हर प्रकार से अनुभव करके देखा किन्तु सुख कहीं भी तो न मिला। तो प्रश्न उठाना स्वाभाविक ही है कि फिर सुख है कहां? हमारे आध्यात्मिक संत शान्तिमूर्ति परम पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज बार बार हमें समझाते हैं कि जहां इतने अनुभव सुखके प्राप्त करने के लिए किए मेरा कहना मानकर एक अन्तिम अनुभव और करके देख लो। अपने प्रवचनों में आपने उसी बात को हर प्रकार से नवीन नवीन ढंग से जैसे कि सम्भव हो हमारे हृदय में उतारने का प्रयत्न किया है। मुझे आपके इन प्रवचनों के सुनने का अनुपम सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वास्तविक सुख कहां छिपा है आपके प्रवचनों से अवश्यही पता चल जाता है। अभी तो जब आपका प्रवचन होता है, पुरुष भी होते हैं, स्त्रियां भी होती हैं, बच्चे भी होते हैं, हजारों की संख्या में, परन्तु बिल्कुल शान्ति। ऐसा भी वातावरण हो जाता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो अमृतवृष्टि हो रही हो। आपके प्रवचन हृदय के तारों को झंकृत कर देते हैं, मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। सब ओर यदि मुंह खुलता है तो अनयास वहा वाह निकल पड़ती है उससे। जिनको आपके प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है

अथवा जो उन्हीं प्रवचनों को चाहते हैं कि फिर भी कभी कभी उन्हें ध्यान में लाकर हम अपन को सुखी कर लिया करें, ऐसे सज्जनों के लिए मैंने आपके मुजफ्फरनगर में दिये गये कुछ प्रवचनों का संकलन किया है । संभव है कि इस पुस्तक में बहुत सी त्रुटियां हों व कहीं कहीं भाव भी ठीक प्रकारसे व्यक्त न हो पायें हों, पाठकजन इसे मेरी ही अल्पज्ञता के कारण समझे, सुधार करलें और मुझे भी सूचित करदें जिससे कि आगामी संस्करण में त्रुटियां न रह सकें ।

बृद्ध बाबाजी का एक चित्रण देखिये—पृ09 बच्चों का खिलाना बाबा के जिम्मे होता है, वह बाबा जी बाबाजी कहता है । बा याने उस बाजी उस बाजी याने पारके । मानो वह बच्चा उपदेश देता है कि बाबा जी अब तो आप उस पारके हो गये हो अर्थात् अब तो घरगृहस्थी का मोह छोड़कर आत्मचिन्तवन करो । परन्तु बाबा जी तो बाबाजी बने बैठे हैं । बच्चों को खिलाकर यह अपने को धन्य समझता है । लोग भी समझते हैं कि अब तो इसके पोते पड़पोते हो गये हैं । अब तो यह स्वर्ग जायगा । पृथा भी ऐसी चल गई है कि पिता पर सोने की नसैनी रख देते हैं जिस पर चढ़कर बताया जाता है कि सीधे स्वर्ग पहुच जायगा, परन्तु भैया नसैनी तो चढ़ने के काम भी आती है और उतरने के भी । उसने तो इतना मोह बसाया लड़के का, पोते का, फिर भी आशा करता है कि सद्गति हो । यह असम्भव है ।

सन्तोष से ही सुख होगा, इस विषयका संदेश देखिये—पृ0 9 जो परिस्थिति इस समय अपनी है उसमें संतुष्ट रहो । जो कुछ हुआ है समझों सब कुछ है । अगर खाने के लिए चने ही हैं तो उनको ही खाकर भूख मिटालो । जितना परिवार है, जितने मित्र हैं, जितनी सम्पत्ति है उसमें संतुष्ट रहो । यह मत सोचो—जो यह होगा । शेखचिल्ली वाली बात मत करो । ऐसा कहने में तो दुःख ही दुःख है । हमारा कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि वर्तमान में अच्छा कार्य हो । परिणाम निर्मल रहें, अपनी शुद्ध आत्मा की रूचि रखे, फिर जो होगा सो ठीक ही होगा ।

मेरे में सर्व आनन्द है, दुःखकी यहां क्या बात है, इस विषयका संबोधन देखिये—पृ013 हे आत्मन् तू दुःखी क्यों है? मेरा तो

इस आत्मा में ही न्याय विधि विधान कचहरी सिपाही फ़ैसला, जेलखाना सब यहीं है। इसके अलावा बाहर में क्या है? कोई पुरुष था। उसने अपनी मुटठी बन्द करली और कहा मेरी मुटठी में सबकुछ है—हाथी घोड़े बगीचे महल आदि । सबको अचरंज हुआ। कहा दिखाओ। मुटठी खोलो, हाथ में थी स्याही की टिकिया, जिसमें जरासा जल मिलाकर जो चाहे सो बनाया जा सकता था, इसी प्रकार हमारी आत्मा में भी सबकुछ है। हमारे पास ज्ञानपेयोग रूपी स्याही की टिकिया, श्रद्धा का जल और चरित्र की कलम हो तो सबकुछ हमारे हाथों में है। मैं ही सुख का पुंज हूँ, ऐसा विचार कर अने मन में अपने लिए अपने द्वारा स्वयं सुखी होंउ। मैं आत्मा ज्ञान का पुंज हं। अन्य से भिन्न हूँ। एकाकी हूँ। अपने उन्मुख हो तो सुख ही सुख है, परान्मुख हो, दूसरों की चिन्ता करे, इन्द्रिय और मन के मार्ग में जावे तो दुःख ही दुःख है।

जन्म लेने व जन्मसंकट से छुटकारा पाने का उपाय व हितसंबोधन देखिये— पृ0 31—बताओ क्या आपकी शरीर इष्ट है? क्या आप चाहते हैं कि बार बार शरीर मिलता रहे? तो इसका भी एक नुस्खा है और अगर इस शरीर को बुरा समझते हो और उससे छूटना चाहते हो तो उसका भी एक बढ़िया नुस्खा है। शरीर में आत्मबुद्धि करते जावो कि यह शरीर मेरा है बस शरीर मिलता जायगा, और अगर शरीर से छूटना चाहते हो तो इस प्रकार विचार करो कि शरीर शरीर है, मैं मैं हूँ अर्थात् मैं आत्मा हूँ, शरीर पुद्गल है, मैं चेतन हूँ, शरीर जीण शीर्ण हो जाता है, मैं जीर्ण शीर्ण नहीं होता। उर्दू मैं अगर शरीर में बड़े श की बजाय स लगा दिया जाय तो सरीर बन जाता है जिसका अर्थ है बदमास। सो भैया, यह शरीर बहुत बदमास है। चाहे इसे कितना ही खिलाओ पिलाओ, सदा इससे मलही मल कि शरीर का सम्बन्ध ही समाप्त हो जायगा। अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी। पिछले भव में जो मेरा परिवार था उसमें मोह का मितना विकल्प बढ़ाया, अन्त समय में वह भी छूट गया। यह जो कुछ सम्बन्ध मिला है कितनी देर का है। यह भी तो छूटेगा ही। मेरा विचार कर तो यही श्रद्धा करना ठीक है कि मैं तो ज्ञानमात्र बुद्धिवाला हूँ। और अपने मैं द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होंउं

नैराश्य ही अमृत है, इससे संबंधित एक प्रवचनांश देखिये—पृ0 31 सुख तो आशाका अभाव है। नैराश्य अर्थात् आशा न होना यही अमृत है। दुःख तो मात्र आशा है। किसी से उसके दुःख का कारण पूछो तो 5 मिनट में ही पता चल जायगा कि उसे यह आशा है इसलिए वह दुःखी है। इससे बढ़कर कोई दुःख नहीं है। स्वयं में दृष्टि होने पर कोई आशा नहीं रहती। इसलिए मैं स्वदृष्टि से अपने में अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ। आशा हो तो इन्द्र भी दुःखी है। यहां तो एक स्त्री के मारे नाक में दम आ जाता है और वहां तो हजारों देवांगनायें रहती हैं। अकलंक स्वामी हुए, समन्तभद्राचार्य आदि यहां उन्होंने तपस्या की, ध्यान किया और अनंत में स्वर्ग में पहुंचकर समागम तो स्त्रियों का ही मिला, परन्तु भैया वहां पहुंचकर भी वे विरक्त ही रह रहे होंगे और सावधान । अतः कल्याण पथ के पथिक बनो। यहां पर भी आशा नष्ट हो गई है जिनकी ऐसे साधु ही सुखी हैं। जब आशा नष्ट हो जाती है, सिद्धि होती है क्योंकि उसके बाद अभिलाषा के योग्य कोई चीज हो नहीं रहती।

अपने नाथके मिलनका प्रसंग पृ0 71 अच्छा अपने नाथके पास चलो, अपने में देखा कहा —कहा —छिपे हुए परमात्मा तुम प्रकट होओ। बहुत जगह विकल्प किया, पर पदार्थों को अपने ज्ञान में बसाया, ज्ञान को मगन किया, ज्ञेय पदार्थों का क्या विगड़ा? अबतो हे स्वभाव, विकास को प्राप्त होओ। फिर नाथकी ओर से उत्तर मिलता है—मैं तो प्रसन्न हूँ, सदैव से प्रसन्न हूँ, अनादि काल से बाट देख रहा हूँ, कि कब तुम मेरी ओर दृष्टि करो मैं रूठा हुआ नहीं हूँ। उससे मैं तो तुझे देख रहा हूँ। पर तू मुझे नहीं देख रहा। इसको दूसरे शब्दों में यह कह लो कि सामान्य विशेष से कहता है, मेरी तो तेरे उपर दया ही है, मैं तो यही चाहता हूँ कि तेरी दशा न बिगड़े। हे विशेष भक्त, देख तेरे प्रतिकूल चलने में मेरा भी तो विसम्वाद हो रहा है। तेरे बिना मेरी कोई बात नहीं पूछता। इस सबका सारांश यह निकला कि यदि यह जीव सामान्यपर दृष्टि लगावे, इसे अन्य कुछ नहीं सुहावे, कुछ नहीं रुचे किसी भी पदार्थ से कुछ प्रयोजन न रखे, एक परमात्मतत्त्वको ही देखे तो सारे रोने बन्द हो जायें, अपने ही की ओर झुको, उसके बिना सारी परेशानी ही परेशानी है।

सबसे अधिक अपवित्र तो मोह राग द्वेष है, उससे अरुचि करना चाहिए, इससे संबंधित एक प्रवचनांश देखिये—पृ0 77—एक नाले को ही देखो—नाला अपवित्र है, उसमें कीड़ों के शरीर सड़ रहे हैं, फिर बताओ नाला अपवित्र है या उन कीड़ों के शरीर जो उसमें सड़ रहे हैं? उत्तर यही होगा कि उन कीड़ों के शरीर ही अपवित्र हैं। अब विचारो—शरीर बनाया किसने? उनका यह शरीर कार्माणशरीर का कारण बना और कार्माण शरीर उनके किए हुए राग द्वेष मोह के कारण बना। अतः सिद्ध हुआ कि हमारा रागद्वेषमोह भाव ही गंदा है। औदारिक वर्गणायें जो सब जगह मौजूद हैं वे तो शुद्ध ही हैं। जहां रागी द्वेषी मोही जीवने उन्हें ग्रहण हिकया वे अशुद्ध बन गई अर्थात् मांस खून आदि बन गई। उनके ग्रहण करने के पूर्व तो वे शुद्ध ही थीं। ऐसा होते हुए भी हमारी दशा ऐसी है कि जिसने उन वर्गणों को अपवित्र बनाया उससे तो अरुचि नहीं करते और अरुचि करते हैं अन्य पदार्थों से।

परमें कर्तृत्वकी बुद्धि करना ही सब संकटों का मूल है और वस्तुस्वातंत्रका ज्ञान रखना शान्तिका मार्ग है, इसे एक उदाहरणसहित देखिये—पृ0 84—अच्छा अब इस बात पर ध्यान दो—लो ये हाथ ने पिछी उठाई उस कार्य में कितनी क्रियायें हुई। 1. आत्मा में श्रद्धा हुई कि इस प्रकार से पिछी उठ रही, 2. आत्मा में इस प्रकार का ज्ञान भी हुआ कि इस प्रकार करने से पिछी उठ रही, 3. आत्मा में इच्छा हुई, यह उसका हुआ चारित्र विभाव, 4. आत्मा में एक योगशक्ति है जिसके कारण से वह निज परिस्पंदरूप क्रिया बनी, 5. और यह क्रिया जो आपको दिख रही है वह पुद्गल में ही हुई। विचारो कि ये प्रथम की चार चीजें तो आत्मा में हुई और 5 वीं चीज याने यह क्रिया हुई आत्मा से भिन्न परद्रव्य में। अज्ञानी तो वहां यह भी देखता—मैंने पोछी उठाई, मैंने इसे सुख किया, मैंने इसे दुःखी किया, ज्ञानी प्रत्येक कार्य को उसके आधारभूत द्रव्य में ही थोपता, अन्य पदार्थ में नहीं। झगड़े तो इसी महत्व बुद्धि के कर्तृत्वबुद्धि के बढ़ रहे हैं, संसार भी तो कर्तृत्वबुद्धि से हैं।

111. अध्यात्मसुत्रप्रवचन पूर्वार्द्ध

स्वरचित अध्यात्मसूत्र नामक सूत्रग्रन्थपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी महाराज ने प्रवचन किये हैं। इस ग्रन्थ में कुल 10 अध्याय हैं, जिनमें से 4 अध्यायों के प्रवचन इस पूर्वार्द्ध में प्रकाशित हैं। ओं नमः शुद्धाय, इस प्रथम सूत्र पर प्रवचन करते करते प्रसंगवश पुण्यसुखकी हैयता पर एक संक्षिप्त चित्रण किया है। इसे पढ़े पृष्ठ 4—

जो लोग पुण्यसे सुख मानते हैं वे सब नाबालिग बच्चे हैं। जैसे किसी लखपती व्यक्ति का मरण हो जाय और बच्चा नाबालिग हो तो उसकी जायदाद सरकार कोर्ट कर लेती है और बच्चे के पालन के लिए 100—200 रू0 माहवार देती रहती है, वह नाबालिग सरकार के गुण गाता है, किन्तु बालिग होने पर सरकार पर मुकदमा कर देता है, वह नाबालिग सरकार के गुण गाता है, किन्तु बालिग होने पर सरकार पर मुकदमा कर देता है और अपनी पचासों लाखों की सम्पत्ति वापिस लेकर रहता है, इसी तरह पुण्यकर्म सरकार ने आत्माकी सम्पत्ति छीन ली है। यह निमित्त दृष्टि से देखते जाइये, उस सम्पत्ति के एवज में कुछ सुखसामग्री मिलती है। तब यह नाबालिग अज्ञानी जीव पुण्य के ही गुण गाया करता है, किन्तु जब ज्ञानी होने पर होश आता है कि इस पुण्य सरकार ने हमारे अटूट आनन्द को लूट लिया है और उसके बदले में कुछ सुखसामग्री दे रहा है तब ज्ञानी पुण्यसरकार से लड़ने लगता है। अपने स्वभाव का पता पड़ने पर, पर का तिरस्कार करता है। वह सोचता है कि संसार की चीज कितने दिन तक साथ देगी? ऐसा केवल वह सोचता ही नहीं, यह बात प्रतीति में उसके बैठ जाती है।

वास्तविक विद्यार्थी का कर्तव्य कितनी संक्षिप्त भाषा में चित्रित किया है—पृ0 7 पर जिन्हें आत्मलाभ करना है, उन्हें आत्मलाभ करना है, उन्हें हमेशा अपने का आत्मविद्यार्थी मानना चाहिए। आत्मविद्या सुन्दरतम और उपमारहित वस्तु है। विद्यार्थी ही विद्या से सुसंस्कृत होकर आत्माका, देश वा संसार का सुधार करते हैं। जिनके विद्या, आत्मा वा हित की चाह नहीं वह विद्यार्थी नहीं। विद्यार्थी कहलाने वाले सच्चे विद्यार्थी बने। विद्यार्थी स्कूल कालेज के हों या कार्यक्षेत्र में कार्य करने वाले हों उन्हें 3 बातें याद रखना चाहिए—

1. विद्याभयास

2. निनय

3. ब्रह्मचर्य ।

कीर्तिकी चाह करना व्यर्थ है इस विषय पर एक प्रवचनांश देखिये— पृ० 12 कीर्ति और सम्मानभी हितरूप वा चाहने योग्य नहीं है। कवि लोगों की कल्पना है कि कीर्ति अभी तक कुमारा फिर रही है और आगे भी ऐसी ही फिरती रहेगी, वह किसी एक की बनकर नहीं रह सकती। सों क्यों? बात यह है कि कीर्ति जिसको चाहता है वह उसे नहीं चाहता। महात्मा पुरुषों को वह चाहती है, किन्तु वे उसे नहीं चाहते और जो उसे चाहते हैं उसे वह नहीं चाहती। माना कि लोग उसे चाहते हैं लेकिन उन्हें वह नहीं चाहती। कीर्ति कभी किसी की बनकर नहीं रहती। और फिर देखो भैया, कीर्ति किसकी रही? अनन्त तीर्थकर हो गये लेकिन उनमें से हम वर्तमान 24 तीर्थकरों का ही नाम लेते हैं। उनमें दो चार को ही ज्यादाह जपते हैं। उनके 2-4 के अलावा और दूसरे तीर्थकर कम कीर्तिमान है, सो बात नहीं। उनकी कीर्ति अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न है। यह तो रागी लोगों की कल्पना रह गई। लोक में भी देखो नाम ज्यादाह पुत्र या पौत्र तक चलता है। सो भी कोई कभी कभी स्वार्थवश कहता है। सो उस नाम के ले लेने से जिसका नाम लिया जाता है उस क्या लाभ होता है?

तस्याः साधिका निरुपाधिदृष्टिः, इसके प्रवचन में एक स्थलपर कितनी सरल भाषा में निरुपाधिदृष्टि की सुध कराई गई है। देखिये पृ० 20-21-

आत्मा में उस एक को देखो, जिसकी पर्यायें हैं मनुष्य तिर्यन्च, स्त्री, पुरुष, बाल, बृद्ध, स्वस्थ अस्वस्थ, पंडित, मूर्ख, सुखी, दुःखी आदि। जब एक को खोजोगे तो विशेष खतम होकर सामान्य पर दृष्टि जावेगी। विशेष अर्थात् पर्याय की मुख्यता हटकर सामान्य की मुख्यता कहो या निश्चयकी द्रव्य की मुख्यता हो जायगी। विशेष गुण हो जायगा। सामान्य या निश्चय की मुख्यता से जो ज्ञान में आवे वही निरुपाधि आत्मस्वभाव है। ऐसी आत्माएं सिद्ध ही नहीं हैं, सम्पूर्ण

आत्मायें द्रव्य से, सामान्य से ऐसी ही है। यह एक रूपता संसारी और सिद्ध सबों में एक सी है जो ज्ञान से समझ में आती है। वह ज्ञानस्वभावरूप या निरूपाधिमय है। वह रूपताको प्राप्त करने का पात्र है। भव्यसाधकको वह दशा उसकी तत्त्वदृष्टि निश्चयदृष्टि से प्राप्त होती है।

परका लक्ष्य मत रखो किसी भी स्थिति में, इसपर विचार देखिये पृ० 29 पर हमारा प्रधान काम स्वभाव ओर परभाव को पहिचान कर स्वभाव में रत होना है। यहां प्रधान कामपर जोर दिया जा रहा है। हम आप व्यवहार के जो काम करते हैं उनके छोड़ने की असमर्थता है तो मत छोड़ो, किन्तु उन्हें प्रधान तो न मानें, उन्हें ही तो सब कुछ न समझें, उन्हीं में अपने समय, शक्ति, जीव, बुद्धि और ज्ञानकी इति श्री न करदें। हमारा आपका प्रधान कर्तव्य हमारे का, निजका, आत्मा का होना चाहिए। देखलो जिस में पति, पत्नी और पिता, पुत्र आदिका विस्वास बठा हुआ है वे राग के ही निमित्त हैं। जिसके संयोग और वियोग दोनों में दुःख है। संयोग के लिए चिन्ताका तथा उस संयोग के निमित्त से समय समय पर जो मोह राग और द्वेष के विकल्प होते हैं, आर्त और रोद्र ध्यान होते हैं उनका दुःख जीव भोगता रहता है। फिर भी संयोग की सुख का कारण अज्ञानता से मानता ही है, इसी तरह वियोग का भी दुःख पीछे लगा हुआ है, जिससे प्रकट अनुभवही करते हैं, अनिष्ट वियोग में दुःख नहीं, सुख मानते हैं, लेकिन वहां भी तज्जन्य रोद्र ध्यान से दुःख ही होता है, पर का लक्ष्य ही जिदता है।

नय प्रमाण के अंश हैं इस विषयका स्पष्टीकरण देखें पृ० 40—पर प्रमाण के अंश को विषय करने वाला नय है। उसके दो भेद हैं—निश्चय की अपेक्षा से प्रमाण और अप्रमाण हो जाते हैं, उसी तरह व्यवहार की अपेक्षा से प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है। देखो समुद्र की बूंद समुद्र में है क्या? यदि समुद्र है तो उसमें जहाज चलना चाहिए। यदि समुद्र नहीं तो 100 बूंदें मिलकर भी समुद्र नहीं बन सकती, तब फिर क्या है? समुद्र का अंश है, इसलिए समुद्रांश है, किन्तु उतना मात्र समुद्र नहीं है, इसीलिये वह समुद्र नहीं है। अब यों कह सकते हैं कि समुद्र के जल की एक बूंद न समुद्र है और न

असमुद्र! उसका अंश है, इसी तरह नय अंशों में भी घटित करना चाहिए, अर्थात् नयको प्रमाण नहीं, अप्रमाण नहीं किन्तु प्रमाणंश समझता चाहिए।

निश्चयनय के स्वरूप का दिशदर्शन –निश्चय’ इस शब्द के आधार पर जो किया गया है उसका मनन कीजिये पृ० 50 –निश्चयशब्द, निः और चय, इनदो टुकड़ों से बना है, च चयने वह धातु से संचय अर्थ में चयने वह धातु से संचय अर्थ में चय शब्द बना है और निः का मतलब है निःशेष, सम्पूर्ण तथा निः का दूसरा अर्थ निकलना भी होता है तब एक जगह निश्चयका अर्थ हुआ कि जहां एक में अधिक का संचय नहीं, परका ग्रहण नहीं सो निश्चय तथा दूसरा अर्थ हुआ कि जहां सबका संचय हुआ है। अनन्तशक्तयात्मक द्रव्य सामान्यका ऐसा प्रतिभास है कि सबसे युगपत ग्रहण में सामान्यप्रतिभाषक ग्रहण रह गया वह निश्चयनय है। यह तो एक द्रव्यकी बात है, और यदि परका संचय करना है तो ऐसा करो कि कोई न छूटे। सब आ जायें, महासत्ता देखो। आत्मद्रव्य में भी अन्य जीवों के संचय का विचार हो तो आत्माओं का अभेदरूपसे विचार करो, ऐसे सर्वव्यापक भावपर जाओ और नहीं तो सबको छोड़ सम्पूर्ण परपदार्थों का आश्रय छोड़ केवल स्वरूपको विचारो। यह विचार रूप ज्ञानभी निश्चयनयका सामीप्य है। निश्चयनयके ये दो अर्थ तो तरीके हुए, एक तो द्रव्यदृष्टि और दूसरी स्वभावदृष्टि। स्वभाव में कुछ नहीं बटोरना, संचित करना, और द्रव्य की दृष्टि में सबका सामान्य ग्रहण करना।

व्यवहारनयके विवरण में देखिये—व्यवहरणं व्यवहारः तोड़कर भेद करना और जोड़ देना सो व्यवहार है। आत्म एक अखण्ड सत् है। उसमें ज्ञान आदि भेद तोड़े और रागादिभाव जोड़ है। यह जोड़ और तोड़ नहीं है। जो हलुवा में आता घी, शक्कर और पानी का अलग अलग विकल्प करते हुए अब तक खा रहा है तब तक उसे आनन्द नहीं है, क्योंकि उस समय उसके एकरूप स्वाद का आनन्द नहीं है। उसका विकल्प जो अलग चीजों में घूम रहा है इसलिए। जब उनका अलग अलग विकल्प छोड़कर एक रूपसे स्वाद का अनुभव

करता है तब आनन्द आता है। यह लौकिक बात है। इसी तरह आत्माको ज्ञान दर्शन सुख शक्ति आदि गुण का जब तक अलग अलग विकल्प है तब तक आत्मा का अनुभव नहीं है। आत्मा का जब अनुभव हो तब विकल्प नहीं रहते। आत्मा अनुभव के समक्ष आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुण पर हैं। उनके आश्रय से होने वाली कल्पनायें पर हैं। पर्याय के आश्रय, गुण के आश्रय, आत्मप्रदेशों के आश्रय जो है वह व्यवहार है व्यवहार की खासियत है वह कहीं टिकता नहीं है। यों तो निश्चयनय भी नीचे की अवस्थाओं में टिकता नहीं है और आगे के अभेद विकल्पों के समक्ष वह व्यवहार होता चला जाता है, किन्तु आखिरी निश्चयनय का विकल्प जिसके उत्तर क्षण में अभेद अनुभूत होने वाली है वह उसमें स्थायित्व ज्ञाता है। अभेद अनुभूति की दृष्टिरूप निश्चयनय निश्चयनय के स्वरूपमें टिकने वाला होता है। बाकी की परिस्थितियों में न निश्चयनय टिकता और न व्यवहारनय। आत्मा को साध्य करने के लिए जो प्रयत्न होता है वह सब व्यवहार है और जहां वह प्रयत्न साध्यरूपमें बदलने लगता है वह निश्चयनय है।

परसे मुझे दुःख हुआ, रागद्वेष हुआ इस मिथ्याकल्पना वाले के दुःख दूर नहीं हो सकते । इस तथ्य को केसी सरल शैली से समझाया गया है। देखिये पृ0 94 दर्पण में बालकों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। दर्पण देखने पर दर्पण को जान रहे हैं। फिर प्रश्न होकि कैसे दर्पण को? तो उत्तर होगा लड़कों वाले दर्पणको, जिसमें लड़का का प्रतिबिम्ब हे ऐसे दर्पण को। दृष्टान्त में वास्तव में ज्ञान दर्पण का है, दर्पण में न लड़के हैं न उनका ग्रहण। लेकिन बाह्य का अवलम्बन लेकर व्यवहार में बताना पड़ता है। रागद्वेष कहां करता? अपने में, लेकिन व्यवहार में यही कहा जाता कि अमुक अमुक पर राग करता है और अमुक पर द्वेष आदि। राग क्रोध आदि का निमित्त कुछ भी मिलो लेकिन इसकी क्रिया बाहर में नहीं, अपने में होती है, यदि इसका ज्ञान न हो तो प्राणी दुःखी होता है, क्योंकि भीतर की चीज को बाहर

माना, निमित्त को उपादान माना, अपने को पर मना, परको अपना माना, तो फिर निमित्त को बनाने, बिगाड़ने।

अज्ञानियों के हठ का एक चित्रण देखिये—पृ० 254 एक बच्चे को हाथी देख उसे खरीदने की हठ पड़ गई। पिताने कुछ देकर महावत से कहा कि दरवाजे के सामने हाथी खड़ाकर दो। हाथी दरवाजे के सामने खड़ाकर दिया, ओर बच्चे से कहा कि हाथी खरीद लिया। तब उसने कहा कि अपने घरमें बांधों, यह भी कर दिया तब बच्चा बोलता है— हमारी जेब में दस हाथी को रख दो। अब बतलाइये यह बालहठ क्या पूरा हो सकता है? कदापि नहीं। इसीतरह अज्ञानी प्राणी भी परपदार्थों का हठ किया करता है, उसे संभव, असंभव का विवके नहीं होता। परमें कुछ भी नहीं कर सकता, लेकिन उसका हठ अनादिकाल से बनाये हुए है। मिथ्यादृष्टि का नाम ही बाल है। मिथ्यादृष्टि के मरण को बालमरण कहा है। मिथ्यात्व में भी तृष्णा का प्रचार होता।

अनेकान्तका, स्वाद्वाद का एक चित्रण देखिये, जिसके बिना तीर्थप्रवृत्ति तो क्या, त्रयवहार भी नहीं चल सकता। पृ० 276 तत् अतत् सत् असत् आदि किसी एक कल्पनामें भी रहना स्वच्छन्दतामात्र है। वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चतुष्टयसे सत् है तो परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चतुष्टय से असत् है। जैसे चौकी अपने रूपमें चौकीपने से या कहिये—अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है तो अचौकीपने से या परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। यदि कहा जाय कि दोनों का मतलब एक ही रहा तो मतलब एक है भी और नहीं भी है, विधि और निषेध का अन्तर है। यदि एकरूपसे है और दूसरे रूपसे भी हो तो संकरदोष आवेगा, अव्यवस्था हो जायगी। चौकी लाने को कहा जाने पर चौकी लाई गई, पुस्तक और कपड़े आदि नहीं, उसका मतलब यह है कि चौकीपनेसे वह चौकी है, सत् है, तत् है, उससे भिन्न की अपेक्षा वह असत् और अतत् है। वस्तु में स्वचतुष्टसे सत्पना, पर चतुष्टयसे असत्पना स्वीकार न करने पर मोक्षमार्ग तो बनता ही नहीं, किन्तु व्यवहार भी नहीं चल सकता।

112. अध्यात्मसूत्रप्रवचन उत्तरपूर्वभाग

अध्यात्मसूत्र आध्यात्मिक तथ्य समझने के लिए उच्चकोटिका सूत्र ग्रन्थ है। पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने इसकी रचना करके जनसमाज का महोपकार किया है। इस ग्रंथपर रचयिता महोदय ने स्वयं प्रवचन किये हैं यह जन समाज के और विशेष सौभाग्य की बात है। इसके पंचम अध्यायके प्रथम सूत्र में कहा है—
विकारानुत्पत्तिः संवरः विकार का उत्पन्न न होना सो संबर है। यह लक्षण भावसंबर व द्रव्यसंबर दोनों में घटित होता है। विकार ही मात्र जीव पर संकट है, वह ज्ञान से मिट सकता है, इस संबंध में पढ़िये पृ0 4—

विकार शत्रु है, उसका काटने वाला ज्ञान है —ज्ञानकी बड़ी महिमा है। अनादि से श्रद्धा में विकार आ रहा है, फिर बताओ मिथ्यात्वसे कैसे सम्यक्त्व प्राप्त है? ज्ञानविकृत में नहीं, ज्ञानका कार्य जानना है। यह खोटा है, यह मिथ्या है, यह स्वरूप ज्ञानका नहीं, तभी तो ज्ञानके बलपर मिथ्यात्वका बुरा हालभी हो जाता है। ज्ञानतो अनादि से निर्विकार है। एकेन्द्रिय, अनिन्द्रियज का भी भेद नहीं। सब प्रकार का ज्ञान आत्मा से पैदा होता है। बन्धन दशा में इन्द्रियों का निमित्त पाकर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, ज्ञप्ति परसे नहीं। जिस आत्मा पर विकार है उसके परमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि होती है। सो भैया, जो तुम्हें इष्ट प्रतीत होता है उसका कारण क्या है कि तुम्हारा जेसा विकार है उसके अनुरूप दूसरे का विकार है, और वह दूसरा जब आपके विकारको बढ़ानेवाली बात कहता है तो तुम्हें बहुत रूचता है। इसका यही भाव है ना कि तुम्हारे विकार के महा क्लेश को बढ़ावे वह तुम्हें रूचता है। निर्मित दृष्टि से देखो तो वह शत्रु हो रहा है। इस विकारी में या विकार में आस्था न करो। विकारी के सहवास का उपचार न लाओ। आप उससमय बड़े संकट में है। संकट से बचना है तो किसी अविकारी के पास, उदासीन महापुरुषके पास जावों

हमें प्रतिक्षण सावधानी रखना है, क्योंकि हम प्रतिक्षण मरते जा रहे हैं— इस सम्बन्ध में पढ़िये पृ0 5 हम क्षण क्षण में मरते जा रहे हैं—मरण हमारा प्रति समय हो रहा है। इसे नहीं जाननेवाले बन्धु या

तो जानते हैं कि मरते तो दूसरे हैं या फिर यह जानते हैं कि हमें तो मरना बहुत दिन बाद है किन्तु मरण कहते किसे हैं, इस बात का विचार करो। मरण आयुके क्षयको कहते हैं आयुकर्म के निशोक प्रतिसमय क्षय को प्राप्त हो रहे हैं तो मरण भी प्रति समय हो रहा है। मरण के समय समाधि हा तो सद्गति समता खोकर किसका बुरा कर कर रहे हो? अपना ही ना, बाह्य की दृष्टि से अनष्टि है। घर का हो, बाहर का हो, कोई भी हो वह होता है तो आकुलता ही निमित्त है। हमको तो वहां जाना विकार दूर हों। आप निश्चय करलें जहां विकार की परदृष्टि हो वहां आप अपना अहित समझते रहना । जो विकार को न होने की बात समझावें सो तो मित्र है और जो विकार को बढ़ाने की बात कहे उसे भैया क्या मानना? शत्रु।

संबर किसके आलम्बन से प्रकट होता है इस संबंध का प्रवचन पढ़िये—निजस्वभावके आलम्बन में संबर होता है— शुद्धस्वरूप चैतन्यभाव जो निरन्तर प्रबृत हो रहा है उसके अवलम्बन से संबर होता है। भगवान प्रभु हम में मौजूद है जिसके सहारे कल्याण होगा। वह हममें है परन्तु मोही उसे देखता नहीं। लोक में विशेष का महत्व है, आदर है, परन्तु कल्याण के लिए सामान्य का महत्व है। सामान्यदृष्टि होने पर आत्माकी निर्मल परिणति होने लगती है। सामान्य को दृष्टिरूप आवस्था में विकल्प हटेंगे। विशेषकी उन्मुखता में विकल्प बढ़ेंगे, अनुभव करलो। अभी देखो—इतने सब मनुष्य बैठे हैं, इनमें विशेष का आश्रय लो, इस विविधता से देखो कि ये त्यागी हैं, ये पंडित हैं, धनी हैं, ये अमुक हैं आदि आदि तो नाना विकल्प उठेंगे। यदि सबको एक सामान्य मनुष्य की दृष्टि से देखा जाय तो इस अविशेष दृष्टि से देखने में उन विकल्पों का अवकाश रहेगा क्या? नहीं। आत्मा को सच्चिदानन्द चाहिए यही कामना रहे।

मजहब, कुल, जातिका रिस्ता अपने साथ न लगाये। इस आधार से आगे बढ़े कि नाना विकल्पों ने सताया। अपने में दिखावा बताने की जरूरत नहीं, आत्म कल्याण के लिए हमारा संबंध इतना है कि वर्तमान परिणामन को भी देखो ये जाने वाला है, जानेवाले में क्या राग करना, यह रहता नहीं। हमारा नहीं। इससे भिन्न स्वरूप चिन्मत्र आत्मास्वभावमें यह — मैं हूं, ऐसी प्रतीतिकर विश्राम लेना।

आत्मा का धर्म आत्मा में मिलेगा इसके लिए विज्ञानका अवलम्बन करें, ज्ञानके बढ़ाने के लिए दूसरे के सहारे को न खोजो। ज्ञानके द्वारा अपने पथका स्वयं निर्णय पथका स्वयं निर्णय करो। मैं आत्मा हूँ, मुझेतो अपना अनन्त आनन्द चाहिए, ऐसा संकल्पकर जुट जावो ज्ञानके सदुपयोग में। पदार्थ अपने आपमें जिसका धारण करता है वह धर्म है।

मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, परभाव मेरे नहीं है, इस शीर्षक से संबन्धित प्रवचन पढ़िये पृ0 15 मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, परभाव मेरे नहीं हैं—हमारा पुत्र, मित्र, स्त्री वगैरह जिनके पाने में लोभ, मोह हो रहा है, जो कुछ है—यही सब मेरे हैं, ऐसी ध्वनि समाई रहती है, वे पुत्र, मित्र, स्त्री आदिभी अत्यन्ताभाव वाले हैं। वे आत्मा से मोह करते या शरीर से मोह करते? अगर शरीर से मोह करते तो मरने पर उसे क्यों जला देते? आत्मा को जाने तो मोहकर ही नहीं सकते, न जाने तो उससे मोह क्या? अब्बल तो लोग पुत्र, स्त्री वगैरह के रहस्य को नहीं समझते क्योंकि शरीर आत्मा से न्यारा है, मरने पर शरीर पड़ा रहता है, आत्मा चला जाता है। लोग शरीर जलाकर खाककर देते हैं, उसे घर में नहीं ठहरने देते। तो जिस शरीर को राख बनाना है, उसका हम क्या करें? वह पुत्र मित्र नहीं। जो आत्मा है वह समान है वह पुत्र मित्र कैसे? बात यह है कि जीव की असमानजातीयद्रव्यपर्याय से लोग नाते की कल्पना करते हैं, वे मेरे नहीं है।

जैसी भावना करो वैसा फल मिल जाता इस शीर्षक से संबंधित प्रवचन पढ़िये—पृ0 17 जैसी भावना करो वैसा फल मिल जायगा —अच्छा लो हमारे ऋषियों ने एक नुक्शा बताया है —आपको क्या चाहिए स्वभाव भाव या विभावभाव? स्वभावभाव चाहिए तो उसका नुक्शा विभाव के उन्मुख होना है। आत्मा को घबड़हट नहीं होना चाहिए कि मेरा उद्धार नहीं हो सकता। यह आत्मा स्वयं कल्पवृक्ष है। जैसे भावना में बना—हो जावों। एक आदमी मार्ग में जा रहा था। ताप,प्यास व भूख से पीड़ित होकर कए वृक्ष के नीचे बैठ गया। वह कल्पवृक्ष था, उससे जो मांगते थे वही मिलता था। गर्मी दूर करने के लिए कहा—हवा होती तो ठीक थी, हवा मिल गई। फिर पानी मांगा और आराम को पलंग मांगा तो सभी चीजें मिल गई। फिर सोचा स्त्री

होती तो बड़ा आनन्द होता, स्त्री या गई तो सोचने लगा, यह स्त्री है या भूत, तो भूत बन गया फिर सोचा मुझको खा तो नहीं लेगी, सो खा लिया। इसी प्रकार आत्मा अपने को जिस रूप मानता बनता चला जाता है यदि जिस अशुद्ध परिणमन में है उस रूप माने तो अशुद्ध बन जाता है। और यदि यह अपने को शुद्ध चैतन्यस्वरूप माने तो शुद्ध बन जाता है।

परमार्थकी और आकर्षित होने में दुःख ही है इस विषय से संबंधित एक प्रवचनांश पढ़िये पृ० 28 परपदार्थ की ओर का आकर्षण दुःख का ही कारण है—यदि कोई बालक दूसरे बालक के खिलौने को देखकर रोने लगे तो दुःखी होगा, क्योंकि दूसरा बालक उसको खिलौना नहीं देगा। सबके अपने बालबच्चों में मोह होता है, वे अपने को दूसरी दृष्टि से देखते हैं, दूसरे के बच्चों को अन्य दृष्टि से देखते हैं। इसी प्रकार क्रोधादि दूसरे के खिलौने हैं, वे परकर्म के नाच माने गये हैं। उन पर, परपदार्थों पर रागबुद्धि करने पर दुःख होता है। रागादि पराये खिलौने हैं, इनपर आकर्षित होओगे तो सिवाय क्लेश के कुछ हाथ नहीं आता। अपना अनन्त आनन्दविलास रूप खिलौना उपयोगरूपी हाथ में लो और निःशंक अपने में खेलत रहो। आत्मीय खिलौने के अभाव में जीव जन्म मरण के दुःखों को सहन कर रहा है।

यथार्थरूपसे निमित्त नैमित्तिक भावकी परख करो तो ज्ञानी वहां भी लाभ की बात ग्रहण करता है। इससे संबंधित एक प्रवचनांश पढ़िये—पृ० 25 लाभ की शैली से निमित्त की पूंछ —प्रायः लोगो की दृष्टि निमित्त पर है। अच्छा निमित्तपर ही दृष्टि करना है तो कलापूर्ण करो। दर्पण में सामने लिए हुए पुष्पका निमित्त पाकर दर्पण उस आकारमय प्रतिबिम्ब से समवेत हो रहा है। उसमें वह परिणति दर्पण की है तथापि उस प्रतिबिम्ब की दर्पण की ओर से स्वच्छंदता नहीं है। प्रत्यक्ष करके देखलो, फूल को हिलाओ, प्रतिबिम्ब भी वैसा ही हिलता है, तब समझो प्रतिबिम्ब का स्वामी पुष्प हुआ। जिस ओर से कहा जा रहा है वैसा ही समझने का व्यायाम करना। इसी तरह आये हुए कर्मका निमित्त पाकर आत्मा क्रोधादि विभावरूप परिणम जाता है। आत्मा में वह विभावपरिणति आत्माकी है तथापि उस विभाव की आत्मा की ओर से स्वच्छंदता नहीं है। जैसा कर्म में आरोप होता। क्यों?

इसका प्रमाण यह है कि जब कर्मबन्ध हुआ उसी समय प्रकृतिविभाग हो जाता है कि यह ज्ञानावरण है यह क्रोध कषाय है यह अमुक प्रकृति है। यदि पूर्व अशंकित ढंग होता तो बंधते समय ही विभाग न होता। विभाव होने के काल में पूर्वबद्ध कर्म का विभाग नहीं होता। खैर यह निमित्तदृष्टि की बात कह रहे हैं, इस दृष्टि में विभाग का स्वामी कर्म है सो विभावको व कर्म को निज से भिन्न जानो। नैमित्तिकावलोकन के साथ स्वभावकी पूंछ ये रागादिक नैमित्तिक हैं, आत्मा के स्वभाव नहीं। फिर रागादिक किसके हैं? पुद्गलके है। इसी कारण जो पूज्यवर जयसेनाचार्यजी नेस समयसार तात्पर्यवृत्ति में लिखा है—शुद्धनिश्चयेन पौद्गलिकं कर्म। यह जिस आशय से देखा गया है उस आशय का नाम है विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय।

आत्माकी वास्तविक इज्जत किसमें हैं? इसका समाधान लीजिये—प्रवचनांश पृ० 31 आत्मा की वास्तविक इज्जत जिस काम में है—आज जो कुछ प्राप्त है, उस बाह्य विभूति में ही फसे रहे तो कलके दिन घास होकर रूंगन में बिकना पड़ेगा, क्योंकि इस जीवकी संसारी पदों में कोई इज्जत नहीं है, आत्मा की इज्जत सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में है। पुण्य के वैभव मिले हैं तो इतरा लो इस भवमें, किन्तु उससे कोई हित होने का नहीं हैं। अगले भव में सुखी होने के लिए ऐसा उपाय करो भैया जिससे आत्मा सफल हो जाय। सबकी आत्मा समान है, वह भी विनाशीक है। अपनी इज्जत के लिए सम्यक्त्व प्राप्त करो। मोह राग की विरागता के बिना नम्रता नहीं आती। नम्रता बिना इज्जत होगी, आत्मा में उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि गुणों की प्राप्ति न हो तो इसका फल बुरा है।

वस्तुस्वरूपका ज्ञान त होने से कल्पनाओं की दण्ड बैठक चलती ही रहती है इसका चित्रण कितने संक्षिप्त शब्दों में किया गया है देखिये प्रवचनांश पृ० 48 वस्तुस्वरूपके ज्ञान बिना कल्पनाओं का व्यायाम जगत किस दिन से बना है, क्या बला है और इसका उपयोग कैसे होता है? इस उलझन में दुनिया फसी है, परन्तु इसका बोध किसी को नहीं कि प्रत्येक वस्तु स्वयंसिद्ध है। उसका परिणमन उसके चतुष्टय से उसी में होता है।

सभी कहते हैं कि सबको देखो, किन्तु किस उपाय से देखें कि सत्यता नजर आ जाये? आवां देखोप्रवचनांश पृ0 49 स्वरूपको देखो, छोटा बड़ा कोई नहीं है—दुनिया में न तो कोई बड़ा है और न कोई छोटा है। आत्मदृष्टि से सभी समान है। सभी में वह सर्वशक्तिमान आत्मप्रभु है, छोटे बड़े की कल्पना पर्यायदृष्टि से है। वह नष्ट हो जाती है। पर्यायदृष्टि से जो आज छोटा है वह कल बड़ा हो जाता है, जो आज बड़ा है वह कल छोटा हो जाता है, परन्तु सामान्य आत्मा सदा सदृश रहता है। आत्माका भानू होने पर छोटा ओर बड़ा दिखता ही नहीं, इस भावके स्तीफा ही दे दिया जाता है। छोटे बड़े धनी निर्धन मालिक नौकर एक विकल्पी बिगाड़ है। एक सामान्य दृष्टि जिसमें सब समान दिखते हैं, वही हित है।

सुदृष्टि है तो अपना कुछ नहीं गिरा इस शीर्षक से संबंधित प्रवचन देखिये— पृ0 59 सुदृष्टि है तो अपना कुछ नहीं गिरा —किसी बड़े आफ्रीसरका तबादला हुआ प्रथम द्वितीय श्रेणी के टिकेट मिले, माल असबाब के लिए एक बेगन भी मिली, यहीं जैसा एक मकान भी वहां मिला। सारा चूला चक्की उखल साथ में रहा तो बताओ वास्तव में तबादला क्या हुआ? रहे तो जैसे तैसे। उसी प्रकार आत्मा भी पर्यायानतर में पूरा का पूरा हो जाता है, कुछ शेष नहीं रहता, फिर मरण कैसा? मरण से क्या खराबी हुई? परन्तु मोही हाय मैं मरा, हाय वह मर गया इत्यादि विकल्प कर दुःखी होता परन्तु यथार्थ में ये स्त्री पुत्रादि हमारे थे कब? और हमसे मिले कब? यह अभ्यास करें तो दुःखी नहीं हो सकता।

जाने वाले से क्या राग करना? इसका मतलब देखिये—प्रवचन पृ0 65 जाने वाले से क्या राग करना—सनतान, धन, रागद्वेष आदि जाने वाले हैं, कब तक साथ रहेंगे, जाने वालों में क्या राग करना? एक समय मात्र की चूक जीवन भर परेशानी में डाल देती है, राग ही जीवका अहितकारक और आनन्दघातक है। विकार गये कोई दुःख नहीं होता। मानव कहा करता है कि मुझे बड़े दुःख लग रहे हैं, परन्तु ऐसा कहना, सोचना अधिक ठीक होगा कि मुझे बड़े विकार लगे हैं, ये विकारभाव ही दुःख देते हैं। यदि विकारभाव न करें तो दुःख हो ही कैसे?

सम्यक्त्व वास्तविक आराम से मिलेगा—इसका तात्पर्य देखिये—प्रवचन पृ० 69 सम्यक्त्व वास्तविक आराम से मिलेगा सम्यक्त्व पाना है तो शान्ति से बैठे रहो, निजस्वरूप समझते रहो, वस्तु के यथार्थ स्वरूप और नयों के मर्म को समझते रहो। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अत्यन्ताभाव है, एक वस्तु दूसरी वस्तु के प्रति कुछ करही नहीं सकती, ऐसी हालत में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति का आदर या अनादर मानना व्यर्थ है। उसकी चेष्टा उसमें होती, अपनी चेष्टा अपने में ऐसी हालत में पर से आदर व निरादर सीव नहीं हो सकता। यदि हमें यह विश्वास हो जाय तो हमारे हृदय में पर की चेष्टा ब किया से आदर व अनादर का भावही जागृत न होगा। वह तो अपना वास्तविक आराम पायेगा और अन्तस्तत्त्वका दर्शन कर लेगा।

धर्म की लगन वाले की एक पहिचान, पढ़िये प्रवचन पृ० 87 धर्म को लगन वाले की एक पहिचान जितना लेह अपनी संतान से होता है उससे अधिक नेह किसी धर्मात्मा या साधु सन्तपर आ जाय तब जानो कि मोह गला, मोह के गलने की प्राथमिक यही परीक्षा है। धर्म या धर्मात्मापर वात्सल्य हुए बिना कैसे समझा जाय कि मोह गला? तराजू के दो पलड़े होते हैं, एक पर अपना धन धरो और एक पर मोह। फिर देखो कि कौन सा पलड़ा वजनदार है। हम तो यह कहेंगे कि धर्मात्मा या धर्मपर स्नेहसे भी कहीं अधिक अपने आपकी निर्विकल्प समता का भाव आ जाय, तभी वास्तविक मोह गला जानो।

शान्ति के लिए अनवरत उदारता चाहिए, इस रहस्य को देखिये—पृ० 102 शान्तिके लिए अनवरत उदारता चाहिए—मोक्षमें चलने के लिए वीतरागता की आवश्यकता है सरागताकी नहीं। यहां क्षणिक प्रसन्नता के लिए राजा को अनेक भेंटें दी जाती हैं, परन्तु जिसका प्रसन्नता में अनन्तकाल तक सुख मिलेगा, उसे क्या भेंट नहीं देना चाहिए? क्षत्रिय राजाओं को गजाशाही भेंट किया जाता था, पर वह उसे छूता नहीं था। भगवान की सारी संपदाभेंट कर दो तो भी वे छूयेंगे नहीं, सब यहीं रखा रहेगा। भगवानकी भेंट यही है कि आप श्रद्धा से अपने को सबसे पृथक अनुभव कर जायें। जो सारी सम्पत्ति को भेंट कर सकता है वह भगवान से भेंट कर सकता है। इस बुन्देलखण्ड में जिन्दगी में एक दिन की इकट्ठी उदारता का भाव न

रखा प्रतिदिन की उदारता बनाना चाहिए, उससे आत्मा में निज परमात्मा की आत्मा प्रसन्न होती है। उच्च भाव निर्जराके पास ले जावेंगे। कर्म से दूर होने के लिए ज्ञानाराधन जरूरी है।

113 अध्यात्मसूत्र प्रवचन अंतिमभाग

अध्यात्मसूत्र ग्रंथ के नवम व दशम अध्यायपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हुए जो कि अभी अप्रकाशित हैं। इन अध्यायों में अध्यात्मदृष्टि से संयम और सर्वविशुद्ध अन्तस्तत्त्वका विवेचन है।

114 प्रवचनसार प्रवचन प्रथम भाग

साधक में पर्याय दृष्टि नहीं होती, इस प्रकृत प्रसंग में घटन देखिये प्रवचन पृ० 43 साधक में पर्यायदृष्टि नहीं होती—भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य एकान्त दुरमिनिवेश से विमुक्ति थे। कोई योगी या मुनि यदि स्वामी अनुभव करता है कि मैं मुनि हूँ, तो वह उसीसमय से मिथ्यात्वो है। वास्तव में जिन वस्तुओं से प्रयोजन छूट जाता है, वे वस्तुयें स्वयंमेव छूट जाती हैं। सच्चे सन्त से वस्तुयें स्वयंमेव सम्बन्ध विच्छेद कर लेती हैं किन्तु झूठे साधु से अपना निकट सम्बन्ध जोड़ती हुई प्रतीत होती है किन्तु ऐसा साधु त्यागी की अभिदृष्टि नहीं रखता, किन्तु उसकी दृष्टि सदा निज चैतन्य प्रभु की शुद्ध बुद्ध, निर्विकर, अहेतुक, ज्ञानदर्शनरूप वास्तविक अवस्था पर ही केन्द्रित रहती है। मैं शुद्ध हूँ, निरंजन हूँ, निरजन हूँ, एवं मैं संसार की मायामोह आदि से रहित हूँ। हूँ स्वयं में लीन, स्वयंसिद्ध और स्वयं में पूर्ण ग्रंथ की इन बातों का समझना ही ग्रन्थ का समझना है। दर्जी को कपड़े का आकार प्रकार बतलाना कपड़े सिलाने का ही कार्य है।

अमृत वास्तव में किसे कहते हैं जिसके पान से आत्मा अमर हो जाती है, इसका दिग्दर्शन कीजिये प्रवचन पृ० 44 अमृत शब्द की तात्त्विक परिभाषा यह कहा जाता है कि चन्द्र से अमृत भरता है और यह भी कहा जाता है कि देवताओं के कण्ठ से अमृत भरता है तथा वे उसका पान करते हैं। अमृत का पान करने वाला अमर हो जाता है किन्तु अमृत सेवी देवताओं की तो मृत्यु होती है फिर अमृत क्या वस्तु

है? मेरे ध्यान से अमृत कोई पौद्गलिक वास्तुव नहीं है, किन्तु ज्ञानमात्र परिणमनको अमृत कहते हैं, क्योंकि वह कभी नष्ट नहीं होता। उस ज्ञानमात्र परिणमनपर जिसकी दृष्टि हो जाती है वह अमर हो जाता है। हमें सदा उसी अमृत का नित्यप्रति सेवन करना चाहिए।

सच्चा भक्त कौन? समाधान लीजिये प्रवचन पृ0 74 सच्चा भक्त कौन? हमें भी श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी के समान सच्ची भक्ति करना चाहिए। पर हमारी भक्ति कैसी होती है औ रहम कैसे भक्त है, यह एक दृष्टान्त से स्पष्ट किया जाता है। आपही बतलाइये कि जिता का सच्चा भक्त कौन है? जो पिता को अच्छा खिला पिला करके भी उसकी एक भी बात न माने वह या वह जो पिताकी शक्ति न छुपाकर रूखी सूखी रोटियां भी खिला करके कहना मानता है? मेरे ध्यान से दूसरे पुत्रको ही आप अच्छा कहेंगे? उसी प्रकार हम लोगों को बोतराग भगवान का सच्चा भक्त होना चाहिए और उनके बतलाये मार्गपर चलना चाहिए। यदि ऐसा न करेंगे तो जैसे अनन्तकाल में आजतक संसार में भटके है और इसी प्रकार आगे भी भटकते रहेंगे।

कैसे जानें कि कर्म आठ है? देखिये प्रवचन पृ0 108 उत्तर आत्मा की जितनी झंझटे है उतने ही उनके निमित्तभूत कर्म होते हैं। वे झंझटे आठ हैं 1. ज्ञानका प्रकट नहीं होना, 2. दर्शन का प्रकट नहीं होना, 3. साता असाता का चक्र चलना, 4. यथार्थ दृष्टि और सुख का न रहना, 6. दुःख के कारणभूत नाना प्रकार के शरीरों का पाना, 7. उंच नीच के वचन प्रहारों का आघात होना और 8 दान, लाभ आदि की शक्ति का प्रकट न होना। अब ये झंझटें आठ है तो उनके निमित्तभूत कर्मभी आठ है। इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातियां कर्म हैं और देवनीय आयु, नाम गोत्र ये चार अघातिया कर्म है। जो आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि अनुजीवी गुणों को घातें वे घातियां कर्म हैं और जो अगुरुलघुतवादि प्रतिजीवी गुणों की घातें वे अघातियां कर्म हैं।

गाथा 6 में सरागचारित्वके फलका संकेत है। उसका एक चित्रण देखिये प्रवचन पृ0 204-205 मुनिको बन्दनादि शुभप्रवृत्तिरूप क्रियाओं का नामही सरागचारित्र है और आत्मरूपमें लीन रहना

वीतरागचारित्र कहलाता है। मुनियों के दोनों चलते हैं, इसका अर्थ यह है कि आंशिक दृष्टि से दोनों साथ रहते हैं, पर बोलने में दोनों कमकार बोले जाते हैं। अथवा जिस गुणस्थान तक राग व्यक्त रहता है, वहां तक सरागचारित्र हैय है। इसका अर्थयही है कि सरागचारित्र होता है। इनमें वीतरागचारित्र उपादेय है और सरागचारित्र हैय है। इसका अर्थ यही है कि सरागचारित्र में चारित्र के साथ जो राग लग रहा है वही हैय हैं, क्योंकि चारित्र के साथ रहने वाले राग का फल देवेन्द्रादि के पदों का पाना है। भगवान कुन्दकुन्द, कारके लिए अनेकों ग्रन्थों की रचना की, यही उनका सरागचारित्र था, इसके फल में वे मरकर कहां गयें। स्वर्ग में। स्वर्ग में भी पदधारी देवही हुए होंगे। वहांपर देवियां चारो ओर से उनहें घेरकर बैठी होगी, संगीत, नृत्य, नाटक आदि चल रहा होगा, रासलीली हो रही होगी ओर वे भी सबके साथ सिर हिला हिलाकर कदाचित् तन्मय हो रहे होंगे। वहां जाकर यदि कोई उनसे पूछे—कि यह क्या हो रहा है? तो वे यही कहेंगे भैया क्या करें, यह सरागचारित्र का फल है, जो इच्छान रहते हुए भी भोगना ही 7 वों गाथा की इत्थानिकामें लिखा है—अथचारित्रस्वरूप विभावयति इसका रहस्यार्थ देखिये प्रवचन पृ0208—209 अब चारित्र के स्वरूपका विभावन करते हैं। यहां पर कथयति, आदि अन्य त्रिर्यापद न देकर जो विभावयति क्रियापद दिया है उसमें एक भारी रहस्य छिपा हुआ है। भवन्त प्रेरयति भावयति विशेषण भावयति विभावयति, जो जोते हुए को विशेषरूपसे प्रेरित करे अथात् हुआवे यह इसका निरुबत्यर्थ है, आचार्यभी श्रोताओ के हृदय में चारित्र के स्वरूपको उत्पन्न कराते हैं। अब चारित्र का वर्णन होगा और श्रोताजन सुनेगे तब उनकी परिणति कैसी होगी? चारित्र के उपयोगरूप हो जायगी, यह रहस्य निहित है।

आज सभायें होती है और उनमें किसी कार्य के लिए प्रस्ताव पास किया जाता है। फिर कुछ दिनों के पश्चात् दूसरा प्रस्ताव किया जाता है कि पहले जो प्रस्ताव पास किया जा चुका है उसे कार्यरूपसे परिणत किया जाय। पुनः आग्र के अधिवेशन में प्रस्ताव पाव किया जाता है कि उसे क्रियात्मक रूपमें अमल में लाया जाय। इस प्रकार पास किये जाते हैं, पर कार्य कुछ भी नहीं होता। भैया प्रस्ताव करो

या मत करो, केवल कार्य प्रारम्भ करो। आज कितना कहना बढ़ गया है, उतना ही करना कम हो गया है। इसलिए आचार्य श्रोताओं के समाने चारित्र का स्वरूप कहते नहीं है, बल्कि उनके हृदय में उसे उत्पन्न कराते हैं।

ज्ञानी का लक्ष्य शुभोपयोग नहीं, किन्तु शुभाशुभरहित विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इस संबंध में एक प्रवचनांश पृ० 238 पर देखें ज्ञानी का लक्ष्य शुभोपयोग नहीं रहता, शुभोपयोग रागात्मक है। जब राग है तब चारित्र है तब राग नहीं है। जो द्रव्य जिस काल में जिस रूपसे परिणत होता है उस समय वह उसी रूप से है। जिस समय में आत्मा सम्यग्दर्शनगुण से परिणत हो रहा है उस समय वह उसी रूपसे है। गुणपर्याय किसी अन्यमें नहीं पहुँचता। वस्तु के सर्वस्वको उसी वस्तु में देखो तो स्वातंत्र्यका जल्दी पता लग जायगा। निमित्त नैमित्तिक के प्रसारों ने वस्तु के पर्याय, स्वभाव आदि के शीघ्र यथार्थ जानने में साधारण लोगों को अड़चनें लगादी है। परन्तु तर्क वितर्क के बाद शीघ्र ही समझ में आ जायगा कि निमित्तनैमित्तिकता तो इतनी है और वस्तुस्थिति यह है।

शुभापयोग, अशुभोपयोग व शुद्धोपयोग का संक्षिप्त विप्लेषण देखिये पृ० 244 वस्तु के यथाश्च स्वरूपको समझने के लिए जो प्रयत्न होता है उसे प्लाघ्य शुभोपयोग कहते हैं। गृहस्थकी उपेक्षा सरागसम्यक्त्वपूर्वक दान देना, पूजा करना, बारह ब्रतों का पालना आदि कार्य शुभोपयोगरूप हैं। साधु की अपेक्षा 28 मूलगुणों और चौरासी लोख उत्तर गुणों का पालन करना, उनके बढ़ाने में उद्यत रहना सो शुभोपयोग है। चौथे गुण स्थान से लेकर छठे गुणस्थान तकके ज्ञानियों के यह शुभोपयोग पुछल्लाके समान लटका ही रहेगा। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमोद, कषायदि रूप अशुभपरिणतिको अशुभोपयोग कहते हैं। आर्त रौद्रध्यानरूपसे जो अशुभ किया होती है उसे ही अशुभोपयोग जानना चाहिए। हिंसादि 5 पापरूप प्रवृत्ति अशुभोपयोग है और अहिंसादि पांच ब्रत रूप प्रवृत्ति शुभोपयोग है। पुण्य और पापरूप दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से रहित शुद्ध आत्माभिमुखी प्रवृत्ति या परद्रव्य के सम्पर्क से रहित निवृत्तिरूप परिणतिको शुद्धोपयोग कहते हैं।।

केवल पर्याय कहीं नहीं होती, पदार्थ रहित पर्याय की बात कहना बढ़ बड़कर फिजूल बात करना है, इस पर संक्षिप्त प्रवचन पृ0 271-272 पर देखिये जो पर्याय का आश्रयभूत है वही पदार्थ है, तत्व है, द्रव्य है। यदि पर्याय का कोई आश्रय नहीं माना जायगा तो वह निराश्रय कहा ठहरेगी। जो निराश्रय परिणाम होता है वह तो शून्य के समान कोई वस्तु नहीं। एक सज्जनने अपने मित्र को पत्र लिखा कि तुम्हें मेरे पुत्र की शादी में अवश्य शामिल होना चाहिए और नियत समय पर मेरे घर आ ही जाना चाहिए। मित्र ने लिखा, आपकी आज्ञा जरूर पालन करूंगा और सिरके बल दौड़ा आउंगा। जब शादी हुई और मित्र शामिल नहीं हुए तो उसने मित्र को पत्र लिखकर उलाहना दिया। उसने उत्तर दिया कि मैंने लिखे मुताबिक आपके यहां सिर के बल चलने की बहुत कोशिश की मगर कामयाब न हो सका। बढ़ के बात करना पोलखाते की हुआ करती है पर्यायशून्य के वस्तु की बात भी बोल की हो हैं जिसका कोई आश्रय नहीं, जड़ मूल का पता नहीं वह अवस्तु समझना चाहिए। प्रति समय वस्तु में एक एक परिणामन होता है।

वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है इसका परिचय कीजिये संक्षिप्त और सरल बोलोंमें। देखिये पृ0 178 रूड़की में गंगा नदी का पुल है उसके उपर से नहर निकाली गई है। उस पुल में उपर से पानी भरता है। इंजीनियरों का कहना है कि जिस दिन उसका झरना बन्द हो जायगा उसी दिन वह टूट जायगा। यह तो एक लौकिक दृष्टान्त है, पर यही बात वस्तु में लागू होती है कि जिस क्षण वस्तुका परिणामन बन्द हो जायगा उसी वक्त उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा।

बनना, बिगड़ना और बनी रहना ही वस्तु का वस्तुतव है। एकके बिना दूसरे का अस्तित्व कैसा? कल्पना करो—यदि कोई बने नहीं, तो बिगड़ क्वा? यदि कोई बिगड़े नहीं तो बने क्या और यदि बने बिगड़ नहीं तो बना रहे क्या? यदि कोई बना नहीं रहे तो बने बिगड़े क्या?

शुद्धोपयोगका लक्ष्य और शुभोपयोग का होना इन दोनों बातों का कितनी संक्षिप्त बोली में चित्रण है—देखिये पृ० 283—284 जो शुद्धोपयोग पर चलेगा उसके बीच में शुभोपयोग होगा ही। परन्तु उसे उपादेय नहीं समझना चाहिए। चलते तक्त हमारी दृष्टि चार हाथ आगे रहती है, पैर तो दृष्टि के चार हाथ पीछे ही चलते हैं। यही कम है अतः उदेश्य हमेशा उंचा रखना चाहिए। खेतो अन्न उन्न करने के उदेश्य से की जाती है, घासफूस के उत्पन्न करने के लिए नहीं। यह तो स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है। यदि कोई खेती घास फूस के पैदा करने के लिए धारण करें, तो यह भी बुद्धिमान नहीं जानना चाहिए। शुद्धोपयोग के मार्गपर चलने वाले के शुभोपयोग तो स्वयं होता ही है। शुद्धोपयोग शुभोपयोग से नहीं होता किन्तु शुभोपयोग के अनन्तर ही होता है। अशुभोपयोग के अनन्तर नहीं। हम पूजन के अन्त में जो इष्ट प्रार्थना करते हैं, उसके शब्दों पर ध्यान दीजिये। शुभोपयोग करते हुए भी शुभोपयोग का निषेध झलक रहा है। तबपादौमम हृदय, मम हृदयं तब पदद्वयं लोनम्। तिष्ठतु तावंध्यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः।

वस्तु निश्चयव्यवहारात्मक है इसका संक्षिप्त संकेत देखिये—पृ० 286 वस्तुनिश्चय—व्यवहारात्मक है। वस्तुयें दोनों में से एक हो रहें, ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि पर्याय बिना द्रव्य नहीं ठहरती और द्रव्यके बिना पर्याय नहीं ठहरती। आपने गणेशमूर्ति देखो होगी, वह अभेद और भेदका दृष्टान्त प्रतीत होती है। अभेद तो ऐसा है कि मनुष्यके शरीर में हाथी का मुख फिट बठा दिया और भेद बताने के लिए चूहे के बाहन की कल्पना की गई है जैसे चूहा किसी वस्त्रादिकी कुतर कुतर कर खडित कर देता है यही बात निश्चयव्यवहार में हैं। इतना भेद अवश्य है कि निश्चयव्यवहार के अभेद और भेद एक ही वृत्तु में दखाये जाते हैं।

शुभोपयोगरजित धर्म की विरुद्धकारिता दिग्दर्शन कीजिये पृ० 297 धर्म का सीधा फल मोक्ष है, परशुभोपयोग की परिणति में वह धर्म मोक्ष प्राप्त कराने में असमर्थ हो जाता है। उसका वह शुभोपयोग व्यवहार धर्मरूप है, इस कारण वह विरुद्ध कार्य का करने वाला बन जाता है। और इसलिए वह संसार साधक हो जाता है। कहीं चारित्र विरुद्ध कार्य नहीं करता, विरोधकर्ता रागभाव है जो कि अशुद्धोपयोग

का साधक है। शुभोपयोगयुक्त चारित्र को अग्नितप्त घृतके समान कहा है। जैसे घी स्वभाव तो शीतल और दाहकी शमन करने का है। इसीप्रकार शुद्ध चारित्र का फल तो जन्म दाह को शान्त करना ही है, पर ज बवह शुभोपयोग रूप अग्नि से संतप्त हो जाता है तो दाह को उत्पन्न करता ही है।

115 प्रवचनसार प्रवचन द्वितीयभाग

प्रवचनसार ग्रन्थराज के प्रवचन इस द्वितीयभाग में गाथा 15 से 52 तक हैं। गाथा 15 के एक प्रवचनांश में विशुवत्मस्वभावलाभ के उपाय में एकसंक्षिप्त दिग्दर्शन कीजिये—सबसे पहले आत्मा को मोह से छुटकारा पाना चाहिए इसके बाद धीरे धीरे अन्य सब खराबिया दूर हो जाती हैं। मोह से मुक्त होने का मूल उपाय विशुद्ध चैतन्यस्वभाव का ऐसा ही मैं हूँ इस विश्वांसगर्भित लक्ष्य का होना है। इसकी से विशुद्धता, पर्यायनिर्मलता स्वयं प्रकट होती है। तब यह पर्याय कर्मगत संबर निर्जरा पर्यायका का निमित्त होता है। इस प्रकार आत्माकी शुद्ध चैतन्य व्यक्ति अथवा भेद रूपसे ज्ञान, दर्शन व शक्ति का घात करने वाले घातित्रयका अभाव हो जाता है। सम्यक्त्व व सुखका घात करने वाले दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीयका पहिले ही अभाव हो जाता है। यहां इस शुद्धात्मा की शक्ति अप्रतिघाती प्रवद्ध हो जाती है, सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है। यही विशुद्धात्मस्वभाव का लाभ है।

प्रभु स्वयंभू हैं इस विषय में एक संक्षिप्त ज्ञांकी देखिये—पृ0 37 एक वजनदार वस्तु 4 आदमी उठाते हैं उन चारों आदमियों में जो शक्ति का परिणमन होता है उन चारों का उनका उनमें ही होता है, हर एक का कार्य हर एक में, हर एक के सम्बन्ध में भी उसी में होता है, हर कार्य किसी वृत्त में नहीं होता और न किसी वस्तु के द्वारा होता है। यह बात अशुद्ध अवस्था में भी मौजूद है, तब जो शुद्ध अवस्था में होने वाले केवली हैं वे अपने सवभावसे ही स्वभाव वाले हैं व जानवाले भी, इसमें क्या संदेह। क्या वे सिद्धलोक में पहुँचें इसलिए शुद्ध हो गये? उनका स्वरूप शुद्ध हो गया। वह चैतन्य भगवान जिसमें परिणमन भी हो रहा, जिसमें अंतरंभाव पर्याय में आ रहा, इस तरंग का आधारभूत जो ध्रुव तत्व है वह चैतन्यस्वरूप आत्मा है, इसका ही

लक्ष्य किये जाय वही हमारा सब कुछ रह जाय तो इस आत्मा को स्वथंभू और स्वतंत्र बनने में फिर विलम्ब नहीं होगा।

निज अन्तस्तत्त्वकी ओर लगने का अनुरोध देखिये—पृ0 65 हे आत्मन्, देख सौभाग्य से सुभवितव्यसे यह उत्तम नरभव पाया, आत्मा तू वही है जो पहिले था अनेक भवों के अनेक संपदा विपदा से तू अघाया गया। सारे भ्रमण का मूल पर्यायबुद्धि को छोड़, द्रव्यदृष्टिकर। तू स्वभावकी महिमा तो देख। परद्रव्य से अत्यन्त भिन्न अपने में अविभक्त शुद्ध निर्मल पारिणामिकभाव सुधाका पान कर। जो तेरे स्वभावके अनुरूप है वह तो तेरी कला है और जो विपरीत है वह सब कलंक है। तेरा स्वभाव है विशुद्ध चैतन्य। और भी ध्यान रख, तू सामान्यविशेषात्मक है फिर भी तू इन तत्त्वों में जो कि एक साथ रह रहे हैं मात्र विशेष की पहिचान में रहा, उसमें फलस्वरूप अनन्तकाल संक्लेश सहा, आकुलित क्षुब्ध रह रहे हैं मात्र विशेषकी पहिचान में रहा, उसमें फलस्वरूप क्षुब्ध रहा। अब तू यह कर, विशेष तो ज्ञेय बना, उसका विरोध न करके सामान्य का दृढ़ आलम्बन ले, ऐसा दृढ़ अवलम्ब लक्ष्य कर कि जिसके बाद अन्य पक्ष न आवे और यह पक्ष भी मिट जावे। तू शुद्ध बुद्ध निरंजन ज्ञानपूर्ण है, उस स्वरूपको क्यों नहीं देखता ? पूर्ण विश्वास और व्यव रखकर कि शुद्ध चैतन्यभाव के अतिरिक्त कोई भी औपधिक भाव मेरे नहीं है।

जिनके इन्द्रियां नहीं, उनके ज्ञान और आनन्द कैसे प्रकट होता है, जानकारी कीजिये पृ0 91 जिनके इन्द्रियां नहीं। उनके ज्ञान आनन्द कैसे होता होगा? जब यह आत्मा शुद्ध तत्त्वके उपयोग के प्रसाद के सामर्थ्य से घातोय कर्मों को क्षीण कर देता और जब घाती कर्म नष्ट हो गये, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय नष्ट हो गये तब क्षायोपशमिकज्ञान भाव व क्षायोपशमिक दर्शन इस आत्मा में नहीं रहता। केवल ज्ञानी होने से वह सब नष्ट हो जाते, द्रव्य में विलीन हो जाते। मितने ही पुरुष यह कह दिया करते हैं कि उस केवल ज्ञान में ये सब ज्ञान गर्भित हो जाते। नहीं गर्भित होते, वहां तो उनकी क्रियाकारिता ही नहीं रही। ज्ञानगुण एक है, उसकी ये 5 पर्याय है मतिज्ञान, श्रुतुज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। गुण में एक समय एक पर्याय रह सकती है इसलिए जब

केवल ज्ञान हुआ तब 4 पर्याय गर्भित नहीं होती, वहां तो इन चारो पर्याय का अभाव हो गया, यह चारोपर्याय क्षयोपशमिक ज्ञान है, इस तरह चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवविधदर्शन ये तीनों क्षायोपशमिक है। केवली भगवान के केवलदर्शन होने पर क्षायोपशमिक दर्शन भी नहीं है इसलिए वह अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शनी अतिन्द्रिय हो वह साथ ही सर्व अंतरायक्षय होने से अनन्त शक्तिमा हो जाता, क्योंकि अनन्त वीर्य उसे पैदा हो गया। सर्वज्ञानावरण दर्शनावरण का विनाश होने से केवलज्ञान, केवलदर्शनरूप तेज प्रकट हो गया। समस्त मोहनीय का अभाव होने से, अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्यस्वभाव आत्मा पा लिया। इसमें ज्ञान और सुख का अनन्त का स्वयं परिणमन जाता है।

कल्याण स्रोत कारणसमयसार है, उसके आश्रय से पूर्णज्ञान होता है, इसका दिग्दर्शन करें— पृ0 126 समस्त आवरण के क्षय होते ही अनादि अनन्त अहेतुक जो स्वभाव है इस ज्ञानको ही कारण बनकर इस स्वभाव के उपर प्रवेश करते हुए केवलज्ञान उपयोगरूप होकर आत्मा स्वयं परिणमता है यह केवली होने का सर्वव्यवसाय है। देखो भैया, ज्ञानस्वभाव को तो केवलज्ञान है यह परमपारिणामिकमात्र है जिसका कारणरूपसे उपादान करके अन्तरात्मा केवल ज्ञानोपयोगी बन गया अर्थात् आत्मा के अन्दर ही अनादि अनन्त अहेतुक जो ज्ञानसामान्यस्वभाव है यह परपरिणामिकभाव—कारणसमयसार ही कल्याण का मूल आधार व स्रोत है।

जैसे एक अंक बिना शून्य व्यर्थ है, इसी प्रकार आत्मस्वभाव के बोधबिना क्रियाकाण्ड व्यर्थ हैं। पढ़िये संकेत में पृ0 130 एक अंक पहिले आने पर ही शून्य की कीमत होगी। चाहे ऐसे शून्य कितने ही करते चले जावें परन्तु एक तत्व को लेकर न चले तो उन शून्यों की कीमत शून्य रहेगी। एक बार अपने आपको उत्साहित करके जिस धर्म के दर्शन के बिन दुःखी होना पड़ रहा है उसे सब अंतरंग प्रयत्न करके देखतो लो। जगत के अस्थिर स्वरूपके ज्ञानके पश्चात् रागद्वेषमोहकी सिथियता होने के कारणभूत उस ज्ञानस्वभाव का अनुभव प्रकट होगा। वस्तु के अंतरंगस्वरूपको देखो बाह्य अस्थिरताका भी ज्ञान सरल होता। केवल बाह्य स्वरूप को देखकर ही उसके विषय में निर्णय करके सत्य आत्मीय बुद्धि स्वप्न न आवेगी।

गाथा 34 के एक प्रवचांश में श्रुतज्ञान द्वारा शुद्ध विषयकी एक चर्चा देखिये— पृ0 264 जैसे प्रकाश ही रहा है, लाइट में हरा कागज लगा दिया तो हरे कागज की उपाधि से वह प्रकाश हरा होता है। उस हरे प्रकाश में हरी उपाधि हटादे तो शेष चीज प्रकाश है। उपाधिके खत पहो जाने के बाद जो खालिस रह जाये उसे शेष की चीज कहते हैं। इसी तरह ज्ञान मे से भी उपाधि खतम कर दी जाय तो शेष की चीज रही ज्ञप्ति, अर्थात् जानना मात्र। केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी दोनों ही आत्मा का सचेतन करते हैं, तो वहां भी ज्ञप्तिमात्र ही रह गई और यहां भी श्रुतज्ञानी के भी ज्ञप्तिमात्र ही रह गई। इसलिए ज्ञान में केवल और श्रुतकी उपाधिका फर्क नहीं है। वह तो केवलज्ञान ही है।

ज्ञानकी निजस्वरूपकी स्वच्छताका प्रकाश देखिये—पृ0 283 किसी ने पूछा यह ज्ञान ज्ञेय में रहता इसलिए तो अशुद्ध होगा। जैसे अग्नि ईंधन में रहती है तो नाना प्रकार की लम्बों, गोल आदि हो जाती है, इसी तरह यह आत्मा ज्ञेयों में रहता है। जैसे ईंधन के सम्बन्ध से अग्नि नाना रूप हो जाता है और अशुद्ध हो जाती है उसी तरह से यह ज्ञान जब ज्ञेय में जाता है तो यह ज्ञान भी अशुद्ध हो जाता होगा। परन्तु कहते कि नहीं। अग्नि भी अशुद्ध नहीं होती और ज्ञान भी अशुद्ध नहीं होता। अग्नि भी अशुद्ध नहीं होता और ज्ञान भी अशुद्ध नहीं होता। अग्नि कितने का नाम है? जो गोल गोल लम्बी है सो अग्नि नहीं है, अग्नि तो उष्णत्वधर्म करके समवेत जो वस्तु, सो अग्नि है। यह लम्बाई चौड़ाई है सो तो पर की है, अग्नि तो स्वयं अग्निरूप है। अग्नि मे भी अशुद्धता नहीं। इसी तरह ज्ञान का स्वरूप केवल प्रतिभास है। उस स्वरूपसे ज्ञान भी शुद्ध है। आत्मा विश्वको ज्ञान की अपेक्षा से नहीं जानता इस की तरंग में या स्वभाव से ही अतरंग में विश्व के सारे ज्ञेय जानने में आ गये।

ज्ञानकी सर्वज्ञता का दिग्दर्शन करे—पृ0 302 ज्ञानकी जानने की शैली इतनी अद्भूत होती है कि ज्ञानका काम तो जानने का है और इस जानने में भूत भविष्य और वर्तमान के सभी पदार्थ एक साथ प्रतिभास में आ जा है। केवल वर्तमान का जानन ऐसा पचड़ा तो नतिज्ञान में लगता है। ज्ञानका वह इतना ही विकास है, वह स्वयं

अनेक निमित्तों की अपेक्षा रखने वाला है, ऐसा समझते इसलिए इन्द्रियों के समक्ष होने वाली बातें ही मति ज्ञान जान पाता है। परन्तु ज्ञानतो केवल जानता है। वह है, था और होगा, इस सबको जानता है। उसमें केवल सत्ता का सम्बन्ध होना चाहिए। सत्ता का सम्बन्ध था, है और होगा, ऐसी बात नहीं है। उनका ज्ञान तो ऐसा संकर हो गया कि सारी की सारी पर्यायें उनके ज्ञान में आ गयीं। द्रव्य में तो वे पग्रय कम से आवेंगो, परन्तु कम से अपने वाली सारी की सारी पर्यायें केवली के ज्ञान मे एक साथ आ गईं।

116 प्रवचनसार प्रवचन तृतीयभाग

इस पुस्तक में प्रवचनसारकी 53 वीं गाथा से 92 गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। 53 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में सुखसाधनका दिग्दर्शन कीजिये पृ0 9—

यह सुख का प्रकरण चल रहा है। सुख वही उत्तम है जो अतोन्द्रिय हो। स्वाभाविक निराकुलता रूप हो और अतीन्द्रिय हो, ऐसासुख रूपादेय है। इस अतीन्द्रिय सुख का कारण अथवा साधन अतीन्द्रियज्ञान है। यद्यपि भेदविवक्षामें ज्ञानगुण का स्वरूप जुदा है ओर आनन्द गुण का स्वरूप जुदा है, ज्ञानका चिन्ह संचेतन है और आनन्द का चिन्ह आल्हाद है तथापि वस्तुतः देखो तो ज्ञान और आनन्द भिन्न भिन्न सत् नहीं हैं। ज्ञानकी सहज अवस्था आनन्दकी सहज अवस्थाको लेकर होती है और आनन्द की सहज अवस्था ज्ञानकी सहज अवस्था को लेकर हाती है। इन्द्रियज्ञान के समय इन्द्रियसुख है और अतीन्द्रियज्ञान के काल में अतीन्द्रियसुख है। मलीन ज्ञान में मलिनसुख व निर्मलज्ञान में निर्मलसुख है। सुख ज्ञान के अनुरूप होता है तब यह प्रतीत होता है कि सुख का साधन ज्ञान है, हमें चाहिए है तो ज्ञानकी सम्हाल करना चाहिए। जो ज्ञानकी सम्हाल न करे और बाह्य पदार्थों की सम्हाल का यत्न विकल्प करे तो वह सुख का पात्र तो क्या उल्टा वेदना ही पाता है, क्योंकि सुख का साधन बाह्य द्रव्य नहीं, किन्तु निजज्ञान ही है।

परोक्षज्ञान को वयग्रता का कारण कहा है इसी सम्बन्ध में एक प्रवचनांश देखिये— प1071 यह परोक्षज्ञान कैसा? यद्यपि इसमें

अनादिकाल से ही शुद्ध चैतन्य सामान्यका सम्बन्ध है। इस इन्द्रियज्ञानों जीवको समझा रहे कि है परन्तु इन्द्रिय जाल में फसे होने के कारण स्वयं अपने आप स्वाधीनतया आत्मा के द्वारा अर्थों को जान लेने के कारण असमर्थ हो गया। जैसे आंख से सब देखते हैं, फिर भी आंख से पट्टी लगा दें तो स्वयं अपने देखने में असमर्थ हो गया, इसी तरह अनादि काल से चैतन्यसामान्य का सम्बन्ध पाया, परन्तु फिर भी अज्ञानरूपी अन्धकार से अन्धा हो गया और अर्थों को जानने में असर्थ हो गया। इसके बाद प्राप्त और अप्राप्त जो परनिमित्तक सामग्रियां हैं उनके खोजने के लिए व्यग्र हो गया। जब स्वयं नहीं जान पाता यह जीव, तो जानने के लिए 10 अन्य चीजों का सहारा लेता और उनको खोजने की व्यग्रता पैदा करता। इस व्यग्रता से वह अपनी शक्तियों को खो देता। यह जीव अल्पज्ञानी है और स्वयं जानने में असमर्थ है और अपने जाननपन से जानने के लिए अन्य सामग्रियों की खोज में व्यग्र हो गया तो उसने अपनी स्वयं की शक्तियां खे दी।

सुख के उपाय की सरलता देखिये— पृ0 38 हमारा जो पिण्ड है उसमें अनेक प्रकार के मेल आ गये। उन मेलों के कारण हम दुःखी हो रहे। इन सबसे न्यारा जो हमारा ज्ञानस्वभाव है हम उसका आश्रय ले तो हमसुखी हो जायेंगे। सुखी होने के लिए हमें किसी न्यारी चीज का आलम्बन नहीं लेता है। उस का तो तरीका स्वयं अपने में ही मौजूद है, इसलिए केवल अपने इस धर्म को पालो। इस धर्म को पाने के लिए बहुत परिश्रम की जरूरत नहीं पडती। दो पैसे कमाने में तो कठिनाई आ सकती है परन्तु धर्म का पालन करना बिल्कुल सरल है। परन्तु मोही जीव को तौ पैसा कमाना बहुत आसान लगता। धर्म के पालन में तो किसी दूसरे पदार्थ के आलम्बन की आवश्यकता ही नहीं। पैसा तो परपदार्थ है, इसलिए उसका प्राप्त करना कठिन है, परन्तु धर्म तो पर के आलम्बन से पैदा नहीं होता, इसलिए वह बिल्कुल सरल है।

मैं क्या हूं इसकी समझ एक कुंजी द्वारा कराई गई है, इसका मनन कीजिये —पृ0 42 एक ही चीज को पकड़कर बैठ जावो तो सब कुछ मिल जायगा। जो ध्रुव नहीं सो मैं नहीं। जो विनाशीक है वह मैं नहीं हूं। वेबाह्य समागम इसी आकार में हमारे समीप सदा रहने वाले

है क्या? नहीं हैं। हमारा खुद का शरीर ध्रुव है क्या? नहीं, यह भी मिट जायगा। फिर कहते कि भाग्य तो हमारा ध्रुव है, तो उत्तर मिलता कि भाग्य और कर्म भी ध्रुव नहीं है इसलिए वह भी तू नहीं। फिर रागद्वेष मोह आदि भाव ध्रुव हैं क्या? वे भी ध्रुव नहीं, इसलिए वह भी तू नहीं, क्यों, क्योंकि तू वह है जो ध्रुव है। यहां वह मनुष्य एकान्त में बैठा शेखचिल्ली की तरह कल्पना और ज्ञान भी ध्रुव नहीं इसलिए वह भी खण्ड ज्ञान है, यह जो सदा नहीं रहता। मझोला क्षयोपशम तो किसी आत्मा के बड़ा बनते ही मिट जाता और किसी आत्मा के छोटा बनने पर भी मिट जाता। इस तरह तो उसको भी क्षति पहुंचती। तो इसलिए यह भी तू नहीं है। तो मैं क्या हूँ? क्या केवलज्ञान में हूँ? कहते कि अक्वल तो इस तरह का प्रश्न ही नहीं उठाना चाहिए, ऐसी चर्चा करना तो अप्रकृत है, वह प्रकरण से बाहर होती, क्योंकि हम तो अपने में जो अभी है उस पर विचार कर रहे हैं और पूछो भी तो देखो प्रति समय में होने वाले ज्ञानस्वभावकी जो शुद्ध तरंग है, स्वाभाविक तरंग है, वह एक समय को तरंग भी दूसरे समय में नहीं रहती, और वह भी ध्रुव नहीं, इसलिए वह भी मैं नहीं हूँ। जहां नाना अवस्थायें होती हैं तो एक चीज ऐसी हाती है जिसकी कि कवे नाना अवस्थायें हुई है। इसी तरह ज्ञान की सारी अवस्थायें जिस स्वभाव की होती हैं वह तो मैं एक ही हूँ। उस चीज को कहते कि वह एक चीज जवह ज्ञानस्वभाव है जिसकी कि ये सब अवस्थायें होती हैं। तो यह ज्ञानस्वभाव जो मरा जो अनादि से है, वह मैं हूँ।

विषयों की वृत्ति में दुःख ही है, अतः उसके साधरण साधनभूत परोक्षज्ञान में व इन्द्रियज सुख में हितका विश्वास न करे। इसके सम्बन्ध में पढ़िये—पृ० 60 देखो विषयाभिलाषा का कितना क्लेश है? रहा नहीं जाता विपत्ति में पड़े बिना। विषयों में जो इतना व्यापार होता है वह बिना क्लेश का प्रयोग नहीं है। जैसे जिसे ज्वर नहीं है वह काहेकी पसीना लेने का प्रयास करेगा? जिसकी आंखों में रोग नहीं है वह क्यों खपड़ियों का चूण आंख में आंजेगा? जिसके कान में दर्द नहीं है वह क्यों बरके का मूत्र कान में डालेगा? इखो न, जब तक घाव रहता है तभी तक मलहमका उपयोग किया जाता है घाव पूरा भर गया या जिसके घाव ही नहीं है वह क्या मलहम लगाने की

बेवकूफी करेगा? वे सब विपत्तियां इन्द्रियों की उद्धतता से हैं। जिनकी इन्द्रियां विषय के अर्थ प्रबल हो रही हैं उनके दुःख होना स्वाभाविकी बात है। अतः बन्धुओं, जिन इन्द्रियों में मित्रता बनारखी है वह गहरा धोखा है। इस शरीर का इन्द्रियों का विश्वास छोड़कर यही श्रद्धा करो कि आत्मा का स्वभाव इन्द्रियरहित है, निज चैतन्यस्वरूप। स्वभाव को उपासना से प्रकट होने वाला स्वभावविकास ही सुख की सच्ची भूमि है। अतः परोक्षज्ञान भी हितरूप नहीं हैं। अपने को सामान्य प्रतिभासमय अनुभव करो। परोक्षज्ञान में व इन्द्रिय सुख में हित की बुद्धि का परिहार करो। जो पराधीन है, विषम है, सान्त है उसमें हित की कल्पना करना पागलपर है।

सुखके लिए विषय अकिञ्चितकर है, अतः परदृष्टि छोड़ो, भ्रम दूर करो, इससे संबंधित एक प्रवचनांश देखिये— पृ0 66 जैसे नक्तंचर जीवों की दृष्टि स्वयं तिमिरहरा है तब उन जीवों को देखने के लिए प्रदीपप्रकाशादिकी आवश्यकता नहीं है, वहां प्रदीप अकिञ्चितकर ही है, उसी प्रकार यह आत्मा विषयरहित अमूर्त समस्त प्रदेशों में आल्हाद उत्पन्न करने वाले सहज आनन्दमय स्वभाव वाला है। उस आनन्द के विकास के लिए विषय अकिञ्चितकार हैं। विषय पदार्थ ता मात्र स्वयं खुदका परिणमन करता है। मुक्ति होन पर भी आत्मा स्वयं सुखरूपसे परिणमता है और यहां संसार अवस्था में रहने वाले जीव भी स्वयं सुखरूपसे परिणमता है। यह तो मात्र अज्ञानी जीव की कल्पनामात्र है कि विषय सुख के साधन है।

प्रभु के सत्यस्वरूपकी पहिचान से मार्गदर्शनकी दिशा देखिये—इस संक्षिप्त प्रवचनांश में पृ0 85 अरहंतदेव के द्रव्य गुण पर्याय की जो पद्धति है वही मेरी है, जैसे अरहंत देव के द्रव्यस्वभाव में से पर्यायें प्रकट हुई हैं, होता है वैसे ही हमारे द्रव्यस्वभाव में से ही पर्यायें प्रकट होती हैं। अरहत दशाभी मेरी मेरे द्रव्यस्वभाव में से ही प्रकट होगी। इस प्रतीति वाले को बाहर कुछ करना नहीं रह जाता। किसी को भी बाहर में कुछ नहीं होता मात्र करने का विकल्पही मुग्ध के होता है? मात्र निज चैतन्यस्वभाव की दृष्टि ही करने की होती है। यह दृष्टि स्वयं की परिणति है, इसका विषय भी स्वयं है। अतः यह कार्य अन्यन्त स्वाधीन है।

आत्मा की स्वयं धर्मरूपता के निरीक्षण का एक उत्साह पढ़िये—पृ0 136—अहो, यह आत्मा स्वयं धर्मरूप हैं। अहा, यह तो मेरा मनोरथ ही अंतरंगभाव है। यह धर्म नया कहीं से नहीं पैदा करना है, क्योंकि मेरा धर्म कहीं बाहर नहीं है। वह यहीं अन्तर में है, किन्तु उसका घात करने वाली यदि कुछ है तो वह बाह्य पदार्थ में मोह करने की दृष्टि मात्र ही है। सो वह कुदृष्टि आत्मज्ञान द्वारा दूर हुई और आगेयह कुदृष्टि कभी भी नहीं हो सकेगी।

117 प्रवचनसार प्रवचन चतुर्थभाग

इस पुस्तक में प्रवचनसार की 93 वीं गाथा से लेकर 114 गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने प्रवचन हैं। 93 वीं गाथा में प्रसंगवश एक प्रवचनांश रागभावको कैसा तुच्छ व न कुछ करार किया—पढ़िये पृ0 17 व 28 अव गुण पर्याय कही जाती है। गुण पर्यायें दो तरह को हैं—1 स्वभावगुणपर्याय, 2—विभावगुण पर्याय। जिसमें कर्म नौकर्म का सम्बन्ध न ही ऐसा जो परिणमन है वह स्वभाव गुण पर्याय हुई। दूसरे का निमित्त पाकर द्रव्य परिणमता है यह विभाव गुण पर्याय हुई, रागादिक न जीवका कार्य है न पृद्गलका कार्य है, न दोनों का कार्य है। वह कार्य हो ही नहीं ऐसा भी नहीं। बच्चों को उधम करता देख मां कहती है, शोर मत करो नहीं तो हौआ आ जायगा। बच्चा हौआ का नाम सुनकर चुप हो जाता है। हौआ बच्चा और मां ने मान लिया है अन्यथा उसकी कोई शक्ल नहीं है। जीव में राग आवे तो पुद्गलके, परमात्मा के राग आना चाहिए और कर्म में राग आवे तो पुद्गल के राग आना चाहिए। राग निमित्त नैमित्तिक के सम्बन्ध पाकर हुआ है। दर्पण के सामने घड़ी रख देने से दर्पण घड़ी आकार के प्रतिबिम्बरूप हो गया। निमित्त की अपेक्षा छोड़कर देखो घड़ी रख देने से दर्पण को छोड़कर आयी है। बाहरी कारण तो निमित्त है। घड़ी के प्रतिबिम्बका रक्षक कौन है? उस रागका रक्षक भी कोई नहीं है। वह रागतो भरने को ही फिर रहा है। हम राग करते। यह वर्तमान झलक दिखाकर चला जाता है फिर भी जो होता वह भले के लिए, वदि तत्वज्ञान हो तो।

शरीर में जात्मबुद्धि होने की बड़ी कठिन विपदा हैं, यह सभी मोहियों की दुःख देती है। इस सम्बन्ध में प्रवचनांश देखिये— पृ० 47—

विश्वव्यवस्था विश्व के लिए समान है—दूसरा पाप करे तो दुर्गति जल्दी होवे, मेरे लिए कुछ सहूलियत है यह बात नहीं है। निमित्त नैमित्तिकी बात होने पर जहां जो होता है वह सर्वत्र होता है। फिर क्या इस शरीर का मोह करें? यही पर्याय के उपगत होने से हम परसमय हो गये। जब मनुष्य शरीरी को माना, मैं यह हूं, जो मनुष्य देह में आसक्त है, वह क्या देह में उत्पन्न होने वाले सुख है उनमें आसक्त न होगा? होगा। उनमें भी जो आशक्ति है वह भी तो बाधक होगी। उनमें रागद्वेष न करें क्या ऐसा बन सकता है? अज्ञान में सबकी जड़ है तो असमानजातीयपर्याय, यह जो मलम्मा लग गया है वह संसार में फसाने का सुगन्धिमय मनमोहक पलस्टर है। आत्मा का तथ्य जानना, मात्र ही उद्धार का कारण है। अपने स्वरूपमें कोई अपराध नहीं घुसा। अपराध बनाते हैं—कितनी परेशानियां आनें पर भी विषयसुख से विरत नहीं होते। धनीपना, गरीबपना, मान करना, अपमान सहना, नेता समझना यह सब पर्यायबुद्धि के कारण है। यह सब बे वैनी बढ़ाने के ही कारण है।

अपने को न समझा और अन्य बहुत कुछ समझां तोक्या समझा? इसके सम्बन्धित एक प्रवचनांश, देखिये— पृ० 96 अपने आपको तो पहिले सतझा। एक स्कूल के हेडमास्टर साहब की इन्सपेक्टर ने लिखा कि आसुक तारीख को विद्यालय का निरोक्षण करने आवेंगे। तो सूचना पाते ही मास्टर ने गणित, भूगोल, इतिहास, हिन्दी, नागरिकशास्त्र आदि विषय खूब रटा दिये। नियत तारीखको इन्सपेक्टर आ गया। छात्रा से सवाल पूछ: कि बताओ तुम्हारे गांव के पास का नाला कहां से निकाला है? तो छात्र कह देते हैं कि यह तो हमें नहीं पढ़ाया गया है इसलिए नहीं मालूम है। इंगलैंड, जापान, जर्मनी आदि अनेक देशों के हाल, अनेक नदियां, समुद्र आदि आदि अनेक चीजें तो याद करली थी किन्तु अपने गांव के पास की ही बात याद न थी, इसी तरह खूब लेवे लेकिन अपने पासकी ही बात न समझ पावे तो उसने क्या पढ़ा? कैसे समझे कि आत्मा में ही सच्चा सुख विद्यमान है? मैं क्यों सूखे बना यहां पराधीन घूमता हूं? अपने

अपने परिणमन से प्रत्येक पदार्थ परिणमते हैं। मैं इनमें क्या कर सकता हूँ? व्यर्थ सम्बन्धबुद्धि लगाकर मोह से ग्रस्त हो रहा हूँ। कोई किसी का कुछ कर देता है यह भ्रम ही मिथ्याबुद्धि है। जहां अनाकुलता आई वहीं समतारस सुख झलकेगा।

आत्मस्वरूप वस्तुतः अवक्तव्य है, केवल विषेषयों से कक्तव्य है, इसका कैसा चित्रण है, देखिये पृ० 114 शब्द सब सही विशेषक होते हैं अतः शब्दों से तत्व शब्दों से तत्व अभिधेय नहीं होता—शब्द जो बोलोगें वह विशेषता बताता है? वस्तुसामान्य की नहीं कह सकता। जैसे कमण्डलु, कमण्डलु का अर्थ है कं मण्डते यत्र अर्थात् जिसमें जल शोभित हो। बोलो यह विशेषताकी ही तो सूचना है। और भी शब्द बोल लो ओर धातु व्युत्पत्ति आदि अर्थ निकाल लो, विशेषता ही प्रकट होगी। एक दृष्टि वह है जो जानते रहो और कुछ नहीं कह सकते। जैसे आत्माको बोला तो उनका कोई शब्द नहीं है, लेकिन जिन्होंने समझ रखा है, उन्हें किसी विशेषण से बोलो जानेंगे विशेष्य की। आचार्यों ने उनमें से जो छोटा है उनके शब्दों में आत्मा का वयचक ज्ञायक शब्द ही मिलेगा। ज्ञायकस्वरूप कहकर भी द्रव्य की जाना। उसमें से द्रव्य के एक जाननरूपको लिया हैं अथवा कोई शब्द ही ऐसा नहीं कि जिससे शुद्ध आत्मा की जो पर से विभक्त है उसे कह सकें।

वस्तु स्वतंत्र सत्तासिद्ध अधिकार है, इससे संबंधित प्रवचनांश पढ़िये पृ० 164 किसी की सत्ता अन्य साधन से नहीं—सत् किसी साधनान्तर किसी की अपेक्षा से हुआ सो नहीं है। द्रव्य में जो उत्पाद है वह भी किसी साधनान्तर की अपेक्षा से नहीं है। तथा जो द्रव्य में व्यय है वह भी किसी साधनान्तरकी अपेक्षा से नहीं है। और द्रव्य की जो ध्रौव्य पर्याय है वह भी किसी अन्य साधनान्तरकी अपेक्षा से नहीं है। यह द्रव्य वस्तु ही इस तरह के स्वभाव वाला है। इसी को स्वतंत्रता कहते हैं जिसमें जो साधारण और असाधारण गुण हैं वे परिणमते चले जाते हैं। यह स्वतंत्रता स्वयंसिद्ध अधंकार है। उसी तरह वस्तु की सत्ता जन्मसिद्ध अधिकार है। उसमें विभावकी कोई विशेषता आवे यह स्वभावसिद्ध नहीं है। वह जरूर उपाधि है।

वस्तुस्वरूपके अवगत से प्रसन्न हुए ज्ञानी वस्तुस्वरूपका जयवाद कर उठते हैं, इसे पढ़िये—पृ0 209 वस्तुस्वरूपका जयवाद यहां आचार्य कहते हैं कि हे उत्पाद व्यय ध्रौव्यों तुम पर्यायों का आलम्बो और हैं पर्यायों, तुम द्रव्यको आलम्बो। तो क्या ऐसा नहीं है और आचार्य उन्हें हुक्म या आशीर्वाद दे रहे हैं क्या? नहीं। बात तो ऐसी ही है अकाट्व। इस वस्तुसिद्धिका सफलता से संतुष्ट होकर आचार्य जयवाद कर रहे हैं। भगवान से कह –जययन्त रहो, तो क्या वह तुम्हारे कहने से जयवंत हो रहे हैं? इसके पहिले वह क्या जयवत नहीं हैं?

दो प्रकार के ज्ञानचक्षू और उनमें संबंधित दर्शन के प्रकार का मनन कीजिये—पृ0 385 दो प्रकार के ज्ञानचक्षु—सामान्य से देखने वाली आंख का नाम द्रव्यार्थिकनय है, इसके लिए दाईं आंख को कल्पना कर सकते हैं तथा विशेष की अपेक्षा से देखने का नाम पर्यायार्थिकनय है। इसमें बायीं आंख की कल्पना कर सकते हैं तब दोनों से देखना सामान्यविशेष है एवं किन्हीं आंखों से देखना तथा जो पूर्व में देख चुके वह भले ही रहे, जब वह आंखों से आत्मानुभवकी कला जीवन में उतारी जाती है। जितनी भी तरह की आंख है वह काम सभी आती है। मतलब यह सारा नय समझलो और फिर सारा नयवाद हटा दी। नय वस्तु को जानना मात्र है। राजा के दरवाजे पर द्वारपाल रहता है, उस समय कोई मिलने जाता है तब द्वारपाल द्वारा राजासे मिलने को आज्ञा मानी जाती है। आज्ञा मिलने पर मिलने वाला व्यक्ति द्वारपाल के साथ जाता है। द्वारपाल उसे महल के दरवाजे पर छोड़ देता है तथा अब मिलन वाला अपनी हिम्मत के साथ जाता है। द्वारपाल उसे महल के दरवाजे पर छोड़ देता है तथा अब मिलन वाला अपनी हिम्मत से जाता है राजा के पास। अगर उस की हिम्मत नहीं हुई वह ऐं ऐं करके शर्मिन्दा होकर, नीचा मुंह करके खड़ा रह जाता है। धुकधुकी हटे तब वह हिम्मत कर सकता है। उसी पचडऋत में पड़ते रहे तब कुछ लाभ नहीं होगा। वस्तु सामान्यविशेषात्मक हैं। यह जानने वाले को दो आंखें होती है। एक सामान्य की तथा दूसरे विशेषकी है। यह सारा नयवाद वस्तुस्वरूप रूप राजा से मिलानवाला द्वारपाल हैं।

इस द्वारपाल का काम वस्तुस्वरूपके आंगण तक पहुंचा देने का है। आगे तो यह प्रतीतिका काम सवयं करता है।

118 प्रवचनसार प्रवचन पंचमभाग

अवचनसारकी 114 वीं गाथा के प्रवचनमें एक स्थलपर जीव को कैसे लट के शब्दों में बेवकूफी पर काट दी है, पढिये—पृ0 2 अनेकों के समूह में एक का भ्रम करके इसी में जीव ममता करता है। बिखरने वाला बिखर गया। आत्मा की और शरीर की दूकान अलग -2 है, इन दोनों के कार्य भी अलग -2 हैं, दोनों में पार्टिशन भी नहीं है। आत्मा का व्यापार आत्मा में और शरीर का व्यापार शरीर में चलता है। शरीर तो बेवकूफ बनना नहीं क्योंकि वह अनजान है, पर आत्मा बेवकूफ बनती है, क्योंकि वह जानती हुई भी मोहजाल में फसती है। शरीर का कार्य अनन्त परमाणुओं के रूप, रस गंध, स्पर्श, परिणमन से चलता है, परन्तु आत्मा का कार्य देह में चलता है। जो ऐसा जानता है वह अच्छा नहीं है। ऐसे बेवकूफ जीवों से तो अजीव अच्छा। अजीव पदार्थ कभी आकुलता नहीं करता इसलिए यह अच्छा है, नाकि आकुलता करने वाला।

आत्मस्वतंत्रता की प्रीति में अर्थसिद्धि होती है, इससे संबंधित प्रवचनांश पढिये— पृ03 इन पदार्थों का स्वरूप देखों, सम्यग्दृष्टि कौन है, जो एक पदार्थ को एक देखे वह सम्यग्दृष्टि है, क्योंकि अनेकों को एक देखने से ममता बढ़ती है। शरीर के एक परमाणु के स्थान पर अनन्त परमाणु भी है, फिर भी प्रत्येक के स्वरूप भिन्न भिन्न हैं। जिस जीव के अन्दर स्वतंत्रता नीति बैठ जाय उसे ही शांति मिलेगी। ज्ञान होना ही एक शांति का मुख्य अंग है। देखने में ज्ञान की पूजा छोटी है पर उसका महत्व बहुत बड़ा है। तुम तप करा, आशन करो, गर्मी पहाड़ के उपर महोना भर तपस्या करो, पर जब तक ज्ञान नहीं हो, एकाग्रचित को शांति नहीं मिल सकती तब तक पज तप क्षप सब व्यर्थ हैं। अगर किसी को ऐसा तप हो तो उसे मोक्ष तक बढ़ाने का कारण है।

119 प्रवचनसार प्रवचन षष्ठभाग

इस पुस्तक में प्रवचनसारकी गाथा 114 से 140 गाथ तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। ये प्रवचन ज्ञैयाधिकार के हैं। इनमें ज्ञैयों का याने पदार्थों का स्वरूप बताया गया है। पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। इस सम्बन्ध में सामान्य का समर्थन कीजिये। सामान्य बिना विशेष कुछ हो ही नहीं सकता। इसका दिग्दर्शन कीजिये प्रवचनांश पृ० 1, 2—

सामान्य बिना विशेष का अभाव—सामान्य का तोड़ दो, अलग कर दो, अर्थात् वह मनुष्य सामान्य ही न रहे तो पण्डित पना, साहूकारपना, कहां विराजेगा? सामान्य तो होना ही चाहिए तब तो पंडित जा बनें या अन्य अन्य कहलायें। अन्य अन्य साहूकार आदि न हों और सामान्य भर मानें तो यह क्या बन जायगा? और कुछ भी न होवे, न पण्डित जी हों, न साहूकार हों, न गरीब हों, न त्यागी हों, न गृहस्थ हों, न कमजोर हों, न बलवान हों, कुछ भी दशा नहीं हो, ऐसा भी कोई मनुष्य है क्या? नहीं नहीं। उनमें तो जब मात्र मनुष्यत्वकी दृष्टि से देखा जाय तो सामान्य नजर आयगा और जब अर्थक्रिया कारिता की दृष्टि से देखा जाय तो विशेष नजर आयगा। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है।

अनेकों दर्शन द्रव्य व पर्याय इन दोनों में किसी का भी एकान्त करने से बन गये, किन्तु वस्तुस्वरूप क्या है इसका चित्रण देखिये प्रवचनांश पृ० 10 जीवस्वरूपकी अपेक्षा एक व अर्थक्रिया की अपेक्षा अनेक—भैया, जितने भी पदार्थ होते हैं वे निरन्तर परिणमन करते हैं। सो यही निश्चय कर लीजिये कि पदार्थ तो हमेशा रहते हैं। उनकी दशा बदलती रहती है। आज कुछ दशा है ऐसी प्रति समय उनको अवस्थां बदलती रहती है, किन्तु है प्रत्येक वस्तु वही की वही। अब उसमें द्रव्य को देखो तो वह एक है ओर जब पर्याय को देखो तब वह भिन्न है। आज कुछ है कल कुछ है। जब जीव का द्रव्यर्थिकनय दृष्टि से देखो तो वह एक द्रव्य ही मालूम देता है और जब पर्यायर्थिक दृष्टि से देखो तब वह भिन्न भिन्न मालूम देता है जैसे एक तुम्हीं जीव हो, आज मनुष्य हो, पहिले और कुछ थे, आज ओर कुछ हो, तो वह भिन्न भिन्न हो गया। पर्यायर्थिकनय दृष्टि से देखो तब वे भिन्न भिन्न चीजें हैं।

निश्चय व व्यवहार का सही परिज्ञान करना साधक के लिए परमावश्यक है। देखिये इस विषय का कितनी संक्षिप्त भाषा में दिग्दर्शन है—पृ0 15 निश्चय और व्यवहार का अर्थ निश्चयनका अर्थ है एक पदार्थ का विषय करना, यह निश्चय की मूल परिभाषा है। यदि एक पदार्थ को पर्यायर्थिकनय की गौणता करके अनादि अनन्त अहेतुक स्वभाव की मुख्यता से जानें तो उस निश्चय का नाम है परमशुद्ध निष्चयनय और निश्चयनयकी सीमा में तो एक द्रव्य को ही जानना, अनेक को न जानना, इनको यदि पयग्रय की मुख्यता करके पदार्थों को जानें तो वह या तो शुद्ध निश्चयनय हो जायगा या अशुद्ध निश्चयनय हो जायगा। शुद्ध पयग्रय से तमन्य पदार्थों को जानें तो वह शुद्ध निश्चयनय होगा और अशुद्ध पर्याय से तन्मय को जाने तो वह अशुद्ध निश्चयनय होगा, परन्तु व्यवहारनय उसे कहते हैं जो दो पदार्थों को या अनेक पदार्थों को या किसी निमित्त भूत पदार्थ के निमित्त से होने वाले विकार परिणमन को देखें।

वस्तुस्वरूपके पूर्ण प्रतिपादन का उपाय है स्याद्वाद। देखिये स्याद्वाद के मर्म की जानकारी कितने संक्षिप्त शब्दों में करा दी गई है—पृ0 19 जनता के सामने यह बात रखें कि जीव नित्य है तो इसके विरुद्ध भी एक बात आयगी कि जीव अनित्य भी है। अब दो बातें सामने आयी कि जीव नित्य है और अनित्य है और जब दोनों बातों को एक साथ रखकर कहा जायगा तो हुआ अवक्तव्य। अच्छा नित्य और अनित्य को एक साथ कहेगें तो क्या कहा जा सकता है? नहीं। लो, सो अवक्तव्य हो गया तीन बातें स्वतंत्र हो गयीं 1. नित्य, 2. अनित्य, 3. अवक्तव्य। इन तीनों बातों का यथायोग्य संयोग रखकर क्रम से बोलेंगे तो चार बातें और हो जायेंगी—1. नित्यानित्य, 2. नित्यअवक्तव्य, 3. अनित्य अवक्तव्य, 4. नित्य अनित्य अवक्तव्य। इसी तरह अन्य शेष धर्मों की भी अपेक्षाएँ हो जाती हैं। किसी भी एक जीव को सामने रखेंगे तो उसके फूटते फूटते 7 अपेक्षाएँ हो जाती हैं। इन सर्व अपेक्षाओं का वर्णन करना यह भी सर्वदेश का वर्णन हो गया। छूटा कुछ नहीं। इसी को कहते हैं सप्तभंगी। इसका ही नाम है स्याद्वाद।

स्याद्वाद संशयवाद नहीं, यर्थाथ निश्चयवाद है। देखिये कितने संक्षेप में इसका दिग्दर्शन हो जाता है—पृ0 22 स्याद्वाद में संशयवादता का अभाव कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि स्याद्वाद तो संशयवाद है। कभी कह लिया कि नित्य है, कभी कह लिया कि अनित्य है। नित्य है या अनित्य ऐसा संशय सा रहता है, यही संशयवाद है। भैया संशय बिल्कुल मिटा देना चाहिए। इस एव शब्द को देखकर इसमें यह संशय है, यही संशयवाद न रखो कि है कि नहीं है। इसमें पूरे जोर के साथ कहा गया है कि एक अपेक्षा से ही द्रव्यार्थिकनय से जीव नित्य ही है और पर्यायार्थिकनय से जीव अनित्य ही है। ही जहां लगा होता है वहां निश्चय कहा जाता है कि अनिश्चय ? जैसे कोई एक आदमी मान लो रमेश। हां तुम्हारा पुत्र कौन है? सुरेश। अच्छा रमेश सुरेश के पिता ही हैं और रमेश के पिता का नाम महेश है, अच्छा, ये रमेश महेश के पुत्र ही है। इसमें संशय तो रहा नहीं कि ये पिता हैं कि नहीं हैं। अपेक्षा लगा ही ही लगा दिया जिससे संशय मिट जाता है इसलिए स्याद्वाद में संशय का स्थान नहीं है। प्रत्युत निश्चय का इसमें पूरा स्थान है। जीव द्रव्यार्थिकनय दृष्टि से नित्य ही है और पर्यायार्थिकनय से अनित्य ही है। इसमें संशय का कोई स्थान नहीं है।

शुद्ध ध्येय के बिना भक्ति में भक्तिपन नहीं है। इसको पढ़कर शिक्षा लेकर जीवन सफल कीजिये—पृ038 शुद्ध ध्येय के बिना विडम्बना हम आप मन्दिर में भगवान के दर्शन करने जाते हैं तो भगवान को कितने ही लोग यह कह जाते हैं कि भगवान से कहने भी लगते हैं कि भगवान हमारे घर के लोग खुश रहें। कहां तो इतना परिश्रम करके इतने कष्ट सहकर मन्दिर गये और गोड़े तोड़े लेकिन बाहरी पदार्थों में ही रूचि नगाये हैं। बाह्य पदार्थों की ही आशा रख रहे हैं सो मन में तो अधर्म है और श्रम भी शरीर से किया जा रहा है फिर मन्दिर में आकर धर्म कहां से लग जाय? धर्म तो मोह क्षोभ के झंझट से रहित परिणति का नाम है भगवान की मुद्र के दर्शन करके हमें यह शिक्षा लेनी चाहिए कि मुझ को भी मोहरहित होना चाहिए।

आशा ही विकास की बाधा है, इसका एक गम्भीर दर्शन कीजिये पृ0 49 आशा विकाश बाधा अब यहीं देख लो किसी चीज के जानने के लिए जब अन्दाजा करना चाहते हैं कि इस मामले में आगे क्या होगा तो जानकारी की उत्सुकता में आप हम परेशान हो जाते हैं कि अब क्या होगा? यह जानने की

उत्सुकता रागद्वेषवश होती है, रागद्वेष मोह के कारण उस उत्सुकता में परेशानी रहती है। इससे जानना भी नहीं हो पाता है और न परेशानी ही मिट पाती है। यदि जानने की उत्सुकता न रहे अर्थात् रागद्वेष न रहें, किसी भी परवस्तु के परिणमन में अपना कोई प्रयोजन न रहे तो परेशानी समाप्त हो जायगी। यदि इस तरह की परेशानी न रहे और यह अपने विश्राम में बना रहे तो इस सहज ज्ञान की परिणमतिका फल यह होगा कि इन जानने की थोड़ी सी बातों की तो बात क्या, समस्त विश्वका ज्ञान हो जायगा यह आशापरिणमन ज्ञानविकास का प्रबल बाधक है।

देखिये द्रव्य दृष्टि का चमत्कार पृ0 60 द्रव्यदृष्टि का चमत्कार यह द्रव्यदृष्टि इतनी तीक्ष्ण होती है कि अनेक आवरणों को भेदकर ठीक अन्तर में एक्सरे समान पहुंच जाती है। जैसे किसी हड्डी का फोटो लेने वाला यंत्र एक्सरा फोटो लिये जाने वाले व्यक्ति को भेदकर याने सूई चुभोकर नहीं किन्तु फोटो में न लाकर मात्र उस हड्डी का ही फोटो लेगा। देखो भैया, एक्सरा एक अजीब यान्त्रिक यंत्र कितने आवरणों का भेदकर उसके कितने अन्दर पहुंच गया, इसी प्रकार द्रव्यदृष्टि एक्सरा लेने वाले यंत्र से भी अधिक पैनी है। यदि द्रव्यदृष्टि होगी तो वह द्रव्यदृष्टि न हो तो निगोदअवस्था को, न अरहतको, न इन्द्रियअवस्था को ग्रहण करेगी, न मनुष्य अवस्था को ग्रहण करेगी, न मुनि अवस्था को, न अरहतको, न सिद्ध प्रभु की अवस्था को ग्रहण करेगी, किन्तु इन सब पर्यायों को भेद करके अर्थात् इन सब पर्यायों को न ग्रहण करके मात्र एक शुद्ध चैतन्य को ग्रहण करेगी और निजदृष्टि का गुण गुप्त ही गुप्त है, काम ही गुप्त है। गुप्त होकर गुप्त को अव्यक्त को भी ग्रहण करलें ऐसी दृष्टि आज तक मोही संसारी जीव को नहीं प्राप्त हुई। इसी कारण जगत के जीव विषयों में रति करते हुए अब तक रूलते चले आ रहे हैं।।

दूसरों को दुःख देने का भाव मत बनाओ, इसमें तुम बहुत दुःखी रहोगे। इसका उपदेश एक संक्षिप्त कथन में ग्रहण करें। पृ0 78 दुःख पूर्वक दुःख देने की भावना संभवतः भैया, सुखी होने का ही अपना काम करो, दुःखी होने का काम करते हो? और भी अनुभव करके देख लो अगर तुम बुरे परिणाम करके दूसरों के विरुद्ध कुछ करना चाहते हो तो करने से पहले दिल कांपने लगेगा। अगर तुम दूसरे को दुःखी करने के लिए भाव बनाते हो तो पहिले तुम्हें दुखी होना पड़ेगा। जब तक खुद को दुखी नहीं कर लो, खुद को तड़फा लो तब तक तुम दूसरों को नहीं तड़फा सकते याने दूसरों के तड़फाने के बुद्धि पूर्वक निमित्त नहीं हो सकते। तो पहिले अपने को दुखीकर पाया तो दूसरों को दुखी करने की बात कर सके। और, जब दूसरों को दुखी होने की बात कर सके तो दूसरे भी दुखी करने लगे। इससे उसका दुख

और बढ़ जायगा। तो दूसरी आपति यह आयी, तीसरी बात यह आती है कि उस जाति के बुरे कम बंधेंगे। तो उन बुरे कर्मों का जब उदय आयगा तो आगे और दुख भुगतना पड़ेगा और दूसरों का दूखी करके भाव में तो दुख ही दुख आयगा। उसमें सुख की आशा न करो।

भक्ति क्या है इसका संक्षेप में ज्ञान कीजिये पृ० 115 मुक्ति क्या है? मुक्ति क्या चीज कहलाती है? ज्ञान का ज्ञानरूप रहना, इसी के मायने मुक्ति है परमार्थ से। कर्मों से छूटना, मुक्त होना, यह व्यवहार से मुक्त होना कहा जाता है। यह बात असत्य नहीं है। देखो भैया, अभी भी कम से बंधें हैं। कितनी बातें मुक्त होना कहा जाता है कितनी बातें आफत की लगी है? इन कर्मों से छूटना है इससे मुक्ति है, किन्तु उपाय इसका करना क्या है—केवल अपने में लीन होना है सो परमार्थ से कैवल्यदृष्टि तो मोक्षमार्ग है और कैवल्य रहना मोक्ष है। कोई किसी का कुछ नहीं करता, सब अपना अपना ही परिणमन कर पाते हैं, इसका चित्रण कीजिये—एक संक्षिप्त प्रवचनांश में पृ० 125—

कषायानुसार विकल्प कल्पना कीजिये कि सनीमा बोलता हुआ न हो जैसे कि बहुत पहिले होता था। तो उनमें जो पुरुष आते थे वे मुंह फैलाते थे तो ऐसा लगाता था कि यह पुरुष अपने आपमें अपनी चेष्टा कर रहा है। याने एकांकी क्रिया हो रही है, किसी से कुछ नहीं कहता सुनता, सब अपने आप में अपनी बात बना रहे हैं ऐसा दिखता था इसी तरह हमारा और आपका जो व्यवहार है उसके बीच कोई किसी का कुछ नहीं कर रहा, कुछ नहीं बोलता, सब अपने अपनी कषाय के अनुसार अपने अपने विकल्प किये जा रहे हैं, पर से कुछ नहीं किया जा रहा है किसी अन्य परके द्वारा।

110 प्रवचनसार प्रवचन सप्तमभाग

इस पुस्तक में प्रवचनसार की 145 वीं गाथा से लेकर 171 गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। इनमें भी ज्ञैयाधिकार के विषयों का वर्णन है 149 वीं गाथा के प्रवचन में प्रसंगवश यह बोध कराया है कि कल्याणी पुरुष के लिए सामान्य और विशेष में महत्व किसका है? आइये समस्या सुलझाइये, पृ०33 सामान्यविशेष में महत्व किसका भैया, देखो एक विचित्र बात कि लौकिकजन विशेषज्ञान में तारीफ समझते हैं, विशेष परिस्थिति में अपना महत्व समझते हैं। सो लोक व्यवहार में तो विशेषका महत्व है, किन्तु इस कल्याण मार्ग में सामान्य का महत्व है, अभेद का महत्व

है। जैसे जैसे यह जीव उपयोग में पर से निवृत्त होकर अपनी ओर आये और अपने में ही द्रव्यकर्म, नौ कर्म व भावकर्म इनको पार करे और छुटपुट ज्ञानपरिणमन को पारकर अंतरंग में शुद्ध अपरिणामी, अहेतुक, शाश्वत परमारिणामिक भावमय चैतन्यस्वभाव तक आये और वही अपना लक्ष्य करे तो इस जीव का कल्याण हो। आत्मकल्याण सबसे महत्व की चीज है।

अबजरा भावात्मक दृष्टि आत्मयात्रा कीजिये—आइये पृ० 49,50 पर भावात्मकदृष्टि से आत्मयात्रा —भैया, अब थोड़ा भावात्मक दृष्टिसे आत्मयात्रा करने चलें, क्या पावेंगे वहां? इस जीव का जो स्वरूप है, जो ज्ञात होता है वह एक अद्वैतस्वरूप है अर्थात् अन्य कुछ नहीं है। वह तो वही है, किन्तु जो ज्ञाता है वह अपने उपयोग में उस सहज चैतन्यस्वरूपको प्रतिभास रहा है। उस ज्ञाता को केवल वह ही अनुभूत होता है। वहां द्वैत कुछ नहीं है। यह आत्मा अखण्ड अपने स्वरूपमें अद्वैत निर्विकल्प चित् वजोमय है, किन्तु सर्वप्रथम इसकी वृत्ति में द्वैत उत्पन्न होता है तो इस ही में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत उत्पन्न होता है। स्वभाव से देखा तो वहां द्वैत कुछ नहीं है। पर वृत्तिरूपसे देखा तो द्वैत उत्पन्न हुआ, ज्ञाता और ज्ञेय। मैं जानता हूं और इसको जानता हूं अपने आपमें ही इसने सैकड़ों कानों बात पहुंच जाती है। सर्व पदार्थों की तरह अपने अद्वैत स्वरूपमें रहने वाले इस जीवने सर्वप्रथम अपने आपमें द्वैत उत्पन्न किया तो यह द्वैत विशेष रूपमें बढ़कर इतने द्वैतों में, इतने द्वन्दों में, दंदफंदों में यह फैला कि जिसका उदाहरण यही सब विभिन्न नाना सर्व लोक ही हुआ, क्योंकि वृत्ति में द्वैत उठा।

संसार जीव को झगड़ा कितना ज्यादा लग गया और जिसकी जड़ कितनी होती है इसकी परख तो कीजिये, पढ़िये—पृ० 52 जड़ तो झूठी, झगड़ा सच्चा—केवल इतना सोच लिया कि अमुक मेरा है, और उद्यम कुछ नहीं किया, गड़बड़ कुछ नहीं किया, परमें हेर फेर कुछ नहीं किया। करे क्या? कर ही नहीं सकता है। इसका वश पर पदार्थों पर है नहीं। नहीं तो यह अज्ञानी इस सारे जगत को तोड़ मरोड़ कर अपने पेट में ही रख लेता, इसकी तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती। तो कर तो यह जीव कुछ नहीं सकता, केवल अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें रहता हुआ परके प्रति केवल इतनामान लेता कि यह मैं

हूं, यह मेरा है। केवल इतना सा भाव परिणमन हो गया, जड़ और कुछ नहीं निकली। लेन देन कुछ नहीं निकला। सुधार विगाड़ परस्पर में कुछ नहीं निकला किन्तु, केवल एक भाव ही बना कि देख लो भैया जड़ तो झूठी और झगड़ा सच्चा।

असत्य अनेक व सत्य एक, इस पर तो विश्वास करोगे ही, अब चलो देखो आत्मा के असत्य रूप व आत्मा का सम्यस्वरूप पढ़िये पृ० -53 असत्य अनेक, सम्य एक, देखो भैया, गलत जितना होता है वह विविध होता है और सही जो बात होती है वह एक होती है। जैसे स्कूल में बच्चों को गणित का सवाल दिया, उन्होंने सवाल तो किया। सवाल का सही उत्तर आयगा वह तो एक ही उत्तर आयगा जो गलत जो उत्तर आयगा वे नाना प्रकार के उत्तर आयेंगे किसी ने गलत जोड़ा, किसी के गलत घटाया, किसी की विधि गलत हुई, गलत के नाना प्रकार हो जावेंगे। गलत उत्तर नाना प्रकार के होंगे और सही उत्तर एक ही होगा। पदार्थों में सत्य का विकास होता है, आविर्भाव होता है वह एक ही प्रकार का होता है जैसे शुद्ध विकास सिद्ध भगवानों के एक समान है और जो उरुपाधि के सम्बन्ध में बिकार चलते हैं, वे नाना प्रकार के चलते हैं इन संसारी जीवों में। ये सभी अनन्त जीव प्रभु है। इनकी प्रभुता संसार में संसारविलासरूप हो रही है और मृत जीवों में अपने शुद्ध तत्वके अनुभवरूप हो रही है। देखो विलास में क्लेश ही क्लेश है, किन्तु विकास में आनन्द है। वह विकास मेरा इस उपाय से ही प्रकट हो सकता है कि मैं परभावों से भिन्न अपने आत्मतत्वको समझूं।

स्वपर निभाजन का उपाय कितने संक्षिप्त शब्दों में कुंजी रूप बताया देवो पृ० 62 परस्वपर विभाजन का उपाय स्व और परके विभागों का निर्णय कैसे होता है? इसका निर्णय कराने वाला स्वरूपास्तित्व है। वस्तु कितनी है? और कितने स्वरूपमें है? इतनी बात देख सकें तो धर्म का प्रसंग है। धर्म का सम्बन्ध ज्ञान से है, देह की क्रिया से नहीं।

सत्य जानकारी में कृतार्थता है, मनन कीजिये—पृ० 77 कृतार्थता यह ज्ञानस्वरूप अतयन्त पवित्र है, पूर्ण हितकर है, स्वयं

आनन्दमय है। इसके आनन्द विकास के लिए अन्य किसी भी प्रताक्षाकी आवश्यकता नहीं है, तथा इसे कुछ अन्य करने का है ही नहीं, सो यह कृतकृत्व स्वभाव वाला है, कृतार्थ है, परिपूर्ण है। इसमें अधूरापर जरा भी नहीं है। तब यह व्यग्रता क्यों है? यह क्षोभ क्यों है? यह सब विषय कषायों की बुद्धि का परिणाम है। ये विषयम कषाय ही विशेषतायें हैं। इन विपतियों का हटाना सम्यग्ज्ञान पर ही अवलम्बित है। शांति के लिए लोग अनेक प्रयत्न करते हैं, पर एक सुगम यथार्थ जाननरूप यत्न नहीं करते।

यहां वियोग का लोग बड़ा दुख मानते हैं, किन्तु वियोग का कितना बड़ा वरदान है—पढ़िये पृ० 82 वियोग का वरदान—अब जरा इन कमभूमिजों को देखो इनके वियोग हो जाता है। कभी धनका वियोग कभी इज्जत का वियोग, कभी स्त्री का वियोग तो ऐसे वियोग वाले का परिणाम देखो कि वे उंचे स्वर्गों में, अहमिन्द्रों में और मोक्ष में भी चले जाते हैं। देवगति के जावों को देखो उनके जीवन में उनका सदा इष्ट समागम बना रहता है, वे इष्टमरण करते रहते हैं। उनका परिणाम देखो कि वे एकेन्द्रिय जीवों में भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए अपने जीवनव्यवहार में यह निर्णय रखना चाहिए कि विपदा से और वियोग से हमारा कल्याण नहीं है। विपदा क्या है? परपदार्थों का एक प्रकार का परिणमन है। यह मैं मुझ में ही हूँ ये विपदायें क्या करेंगी? विपदाओं को तो हम कल्पनायें करके बना लेते हैं। कल्पनायें करते हैं, उपयोग विशेष बनाते हैं, जिस उपयोग विशेष के कारण ये जीव संसारचक्र में फसते हैं, दुखी होते हैं।

शुभोपयोग व अशुभोपयोग ऐसे जो दो उपयोग बताये गये हैं, इन द्विविधताका क्या कारण है, इसके प्रवचनां में कुछ समस्याओं का भी स्वतः साधन हो जाता है पढ़िये पृ० 87 उपराग के सम्बन्ध से उपयोग का द्विविधता—उपयोग में ऐसे दो भेद क्यों पड़ गये? जिन उपराग के सम्बन्ध से उपयोग के भेद किये गये हैं वे उपराग स्वयं दो प्रकार के हैं। उपयोग साक्षात् दो प्रकार के हों ऐसा नहीं है, किन्तु जिस उपराग के संबन्ध से अशुद्धोपयोग दो प्रकार के माने गये हैं वे

उपराग स्वयं दो प्रकार के हैं—एक विशुद्ध रूप उपराग और एक संक्लेशरूप उपराग। विशुद्धरूप उपराग क्या क्या है? जीवों के भला करने का भाव, मनुष्यों के सुखी करने के यत्न का भाव, भगवान के स्वरूपके स्वरूपके अनुराग का भाव और कभी कभी एक तड़पन भी अपने हित के लिए हो जाय, अपनी ही प्राप्ति के लिए तड़फन हो ये सब की सब चीजे शुभोपयोग है। ये उपरागविशुद्धिरूप हैं, संक्लेशरूप नहीं है और विषयों का अनुराग खने पीने का बढ़िया मिले, स्पर्श का अनुराग, अच्छी तकिया हो, कोमल गद्दा हो, और इन्द्रियों के अनुराग, ये सब अनुराग अशुभोपयोग है अशुभोपयोग के बाद शुद्धोपयोग के बाद शुद्धोपयोग कभी नहीं होता। जिन जिन जीवों के शुद्धोपयोग हुआ है। उनका शुद्धोपयोग होने से पहिले शुभोपयोग ही था, अशुभोपयोग नहीं था। अशुभोपयोग के ही अनन्तर शुद्धोपयोग नहीं होता।

आत्मपुष्टि का साधन आध्यात्मिक भोजन है इसकी आजमयश कीजिये—पृ० 124 —निजपुष्टि के लिए आध्यात्मिक भोजन —जैसे कल भी भोजन खाया था, अब वह समय गुजरने के बाद आज फिर खायेंगे, क्योंकि भोजन की तृप्ति में सिथिलता आ गई सो फिर भोजन करेंगे। इसी प्रकार कल भी चर्चा हुई थी, बांचा था, सुना था, बीच में इतना समय गुजर गया तो कुछ सिथिलता आ गई। कुछ यहा वहां चित चलता रहा सो फिर अपने को जरूरी होगा कि हित की बातों को सुन करके, चर्चा करके, बांच करके अपने आपको तगड़ा करने का प्रयास करें। कहने सुनाने की दूसरों से क्या जरूरत है। सब अपने प्रयास में है। अपने अपने प्रयासों को ध्यान में लेकर बैठे हुए अध्यात्मप्रेमियों का व्यवहार तो यह शास्त्रसभा का रूपक है।

जीव देह का कर्ता नहीं ऐसा निर्णय देने वाले जीव से शरीर एक शिकायत कर रहा है उसे तो देखो पृ० 144 —शरीर की शिकायत—मैं पुद्गलमय रंचभी नहीं हं, मुझ में पुद्गलात्मक शरीर पना नहीं है। यह सुनकर मानो शरीर कहता है कि तुम देह नहीं तो न सही, किन्तु देह से तुम कर्ता तो हो। शरीर के कर्ता तो हो ना? नहीं हूं, भाई, शरीर मानो फिर बोला, शरीर के कारणभूत तो तुम्हीं हो, अब तुम कर्तापन की भी मना करने लगे। मेरी आज इतनी दशा विगड़

गई, शरीर बोल रहा है, मैं पहिले बड़ा स्वच्छ आहार-वर्गणाओं के रूपमें था, वहां मांस, हड्डी, खून, पीप आदि कोई चीज न थी। जिन आहार वर्गणाओं से जिनके शरीर बनता है उनमें मांस है क्या? हड्डी है क्या? खून है क्या? हम बड़े नोने थे। तुम्हारा सम्बन्ध बन जाने पर जो आहार वर्गनायें मांस, हड्डी पीप रूप बन गयी हैं इनके कारण तो तुम्हीं हो और मना कर रहे हो कि मैं शरीर का कर्ता नहीं हूं। आज तुम इतने निर्दयी और कठोर दूसरों के बन गये हों। तुम मुझपर इतना गजब ढा रहे हो कि हम शुद्ध स्वच्छ आहार वर्गणाओं को तुम्हारे ही संग से आज मांस, हड्डी रूपमें बनना पड़ा है। और आज फैसला का समय आया तो तुम यहां से मुकर गये कि मैं तुम्हारा कर्ता नहीं हूं। इस प्रकार एक बहुत बड़ा केस इस पुद्गलमय शरीर ने जीव पर रख दिया।।

शरीर की शिकायत के प्रतीकार में ज्ञानी क्या कह रहा है इसका भी जरा समीक्षण कीजिये-देखिये-पृ0 165 शरीर की शिकायत का निर्णय -तो यह ज्ञानी जीव अन्तर से उत्तर देता है कि भाई, तुम भी अच्छे थे, हम भी अच्छे थे, तुम भी मांस, हड्डी, रूधिर से रहित पवित्र दशा में थे तो तुम्हारा संगही है ना, तो तब फलतः यह सिद्ध हो गया कि जी के बिगाड़ने में पुद्गल पर आरोप ओर पुद्गल के बिगड़नें जीव पर प्रत्यारोप। इन आरोप प्रत्यारोपों से यह निर्णय निकलता है कि भाई, न तो पुद्गलने जीव में कुछ किया और न जीवने पुद्गल में कुछ किया लेकिन ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध था। दोनों का खोटा होनहार था कि बात ऐसी बनती चली आ रही है। भैया, न तो मैं शरीर का कर्ता हूं और न शरीर कर्म आदि मेरा कर्ता हैं।

ज्ञानामृत तो निकट हो प्राप्त है, उसका पान करके अपनी परेशानी मिटा लीजिये-आइये पृ0 168-पर -निकट प्राप्त ज्ञानामृत -जैसे पास में गर्मी के दिनों में ढंढे पानी का घड़ा रखते हो, गिलास भी पास में हो, या जरासी प्यास लगी है, पेट भरा है किन्तु एक घूंट ही मूंह में रख लिया। इसी तरह यह ज्ञानरूपी अमृत का घड़ा जिसके उपयोग में रखा हुआ है तो जब चाहे कभी उस ज्ञानपर दृष्टि देना ही अमृत का पान है। सो उस अमृत पान द्वारा यह जीव सर्व संकटों से

दूर हो जाता है कुछ विपत्तियां आवें, झट अपने निराले आत्मदेव को तो देखो, क्यों परेशानी का अनुभव किया जाय?

12 प्रवचनसार प्रवचन अष्टमभाग

इस पुस्तक में प्रययनसार ग्रन्थ की 172 वीं गाथा से लेकर 200 तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। 172 वीं गाथा में आये हुए अलिंगग्रहण शब्द के 20 अर्थ किये गये हैं उनमें से 10 वां अर्थ और उसकी भक्ति देखिये—14 व 15 अलिंगग्रहण का दसवां अथ अब दसवें अर्थ में श्री सरीश्वर जी बताते हैं कि यह आत्मा अलिंगग्रहण है, अर्थात् लिंग का उपयोग में ग्रहण नहीं है। ग्रहण सूर्य में होता है। ग्रहण जो लगता है वह सूर्य में लगता है। उपयोग ग्रहण नहीं लगता है। उपयोग ग्रहण नहीं लगता। तो जैसे सूर्य में ग्रहण लगने पर सूर्य एक अशुद्ध अपवित्र प्रकाशका वित कबनता है तो उस ग्रहण से अनर्थ ही माना जाता है। इस उपयोगरूप जीववृत्ति में ग्रहण नहीं है, उपराग नहीं है, इससे यह सिद्ध होता है कि यह जीव शुद्ध उपयोग स्वभावी है, इसमें उपराग नहीं है।

जीवका स्वाभाविक चमत्कार —भैया, जरा जीव की सहज सत्ताको तो देखो —तब विदित होगा कि जीव स्वभावतः किस चमत्कार को लिए हुए है। उसके ही सवतके कारण उसका जो कुछ एग्जिस्टेन्स है, अस्तित्व है, उस पर दृष्टि दे तो यह शुद्ध ज्ञान स्वभावमात्र है, उपाधियों की विशेषताओं से इसके विकास की हीनाधिकता है, परस्वभाव से देखो तो इसका स्वभाव ज्ञान में बढ़ने का है और वह स्वभाव सिद्ध प्रभु के केवलज्ञान से कम नहीं है, जो केवलज्ञान समस्त तीन काल, तीन लोक के पदार्थों को जानता है, सर्व को जानने वाले जो सिद्ध प्रभु हैं, उनको भी जानता है। सब विश्व को जानने वाले अनन्त केवल ज्ञानों को भी प्रत्येक के लज्ञान जानता है। ऐसा विस्तृत ऐश्वर्य वाला यह ज्ञान स्वभाव है, ऐसा अलौकिक अनुपम स्वभाव सम्पन्न है।

यह हो सकता है कि जीव तो अमूर्त है, उसका कर्म से बन्ध कैसे हो सकता है? इसका उत्तर 174 वीं गाथा में दिया है जिसके प्रवचनों में से एक प्रवचनांश देखिये— पृ0 23, 24—

वर के जानन का सम्बन्ध —भैया, हम तो अमूर्त हैं। हम इस चौकी को कैसे जान सकते हैं। हम जितना उद्योग करते हैं उतने ही आत्मप्रदेशो में करते हैं। हम इस चौकी में क्या उद्योग करेंगे ? फिर यह कैसे बन गया कि मैंने इस चौकी को जान लिया। चौकी को जानने का सम्बन्ध कैसे बन गया है। इनका अर्थात् आत्मा का व चौकी का निमित्त पाकर, आश्रयभूत विषय भाव रूप निमित्त पाकर जो उपयोग उस चौकी के आकार का ग्रहण रूप होता है, दर्शन होता है, जानन होता है, ऐसा जो यह अपने आपका परिणमन है वह परिणमन चौकी के सम्बन्ध के व्यवहार को सिद्ध करता है।

आत्मा व कर्म के बन्ध का सम्बन्ध—इसी प्रकार आत्मा तो अरूपी है, स्पर्श से शून्य है, इसका कर्म पुद्गल के साथ सम्बन्ध नहीं है। इस तरह मानकर चलें तो यों देखें कि इस बन्धन में भी तो आत्मा का पुद्गल के साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु एक क्षेत्रावगाह में अवस्थित कर्म पुद्गल का निमित्त पाकर उपयोग में जो रागद्वेष आदि भाव अधिरूढ़ होते हैं यह सम्बन्ध कर्म पुद्गल के बंध के व्यवहार का साधक है, ही।

जीव के कैसा बन्धन लगा है इसका स्पष्टीकरण देखिये—बंध के प्रकारों में —पृ0 31 बंध के प्रकार —सिद्धांत में तीन प्रकार के बन्ध कहे गये हैं। 1. जीवबन्ध, 2. कर्मबन्ध, 3. उभयबन्ध। जीव बन्धका अर्थ है कि यह उपयोगमय जीव ज्ञायकस्वभावी यह जीव अपनी भाववृत्तियों से उस काल में तन्मय होकर बन्ध गया है व्याप्य है। जीव की ही कोई बात जीव की ही किसी बात से बंध जाये उसे जीव बंध कहते हैं। जो कर्म, कर्म से बंध जाय उसे कर्मबन्ध कहते हैं और जीव और कर्म एक क्षेत्रावगाह में स्थिति हो जायें, एक क्षेत्रावगाहरूप विशिष्टतर बंधन हो जाय उसको उभयबन्ध कहते हैं। मगर यह विशिष्ट जाति का एक क्षेत्रावगाहका जो परिणमन अथवा बंधन होता है वह

उभयबन्धन द्रव्य, नाते से नहीं होता है, किन्तु निमित्त नैमित्तिक भावरूपके नाते से होता है।

जीव के पीछे लगे हुए चार शैतान पहिचानिये—पृ० 81, 82—जीव के पीछे लगे हुए चार शैतान कोई कोई कहते हैं कि इस इन्सान के दोनों कंधों पर दो शैतान बैठे हैं। वं दो शैतान कौन हैं जो इस इन्सान के कंधेपर बैठे हैं? वे है राग और द्वेष। कोई कहता है हकि दो शैतान और भी लगे हैं एक आगे और एक पीछे। वे दो शैतान है आशा बढ़ाते हैं, और भयका शैतान पीठपर लगा है तभी तो चोरी करके भगने वाले व्यक्तियों को पीछे से किसी पतो की भी आहट सुनने में आ जाये तो डर लगता है, यह भयका शैतान पीछे लगा है। ये चार शैतान मेरे जीव को जकड़े हुए हैं। आशा, भय, राग और द्वेष। इस लोक में बिरला ही प्राणी ऐसा हुआ करता है जो इन चार शैतानों के चगुल में न फंसा हो और ऐसे भी लोग होते हैं कि इन चारों के बीच में रहते हैं, फिर भी इन चारों में नहीं फसते हैं।

अब जरा परखिये प्रभु के दर्शन में रूदन व आनन्द का मिश्रण पृ० 85 प्रभुदर्शन में रूदन व आनन्द का मिश्रण—प्रभु की मूर्ति निरखकर गद्गद होकर रूदनसहित, आनन्दसहित जब तक प्रभु से बात नहीं हो जाती है, जैसे हे प्रभो, हम और आप में अन्तर क्या है? अन्तर क्या था? तुम एकदम भग गये हो, तुम सिद्धस्वरूपमें चले गये। हमारा तो यह शुद्ध स्वरूप हमसे दूसरा हो गया ना। तो छोड़कर दूर की जगह में जाने का काम भगना है। प्रभो, तुम हमें छोड़कर चले गये। हे प्रभो, हम तुम यहीं तो थे। तुम तो शुद्ध स्वरूपमें चले गये, अच्छे चले जाओ। यह मैं भी आपके सदृश ही पदार्थ हूं। अन्तर कुछ नहीं है, तो यह मैं भी आपके समीप आने वाला हूं, अब हमारी किन्हीं भी अशुद्ध चीजों में मलिन है? परमार्थ क्या है? अपनी विपत्तियों को देखकर भगवान के सामने रोना आ जाय और भगवान के स्वरूपको देखकर और उसके ही सदृश मैं हूं और ऐसा मैं हो सकता हूं, इस भावना को जानकर आनन्द बरष जाय ऐसे रूदन और आनन्द का मिश्रण अब तक प्रभु के दर्शन करते हुए न हो सके तो वह प्रभु का दर्शन क्या है?

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में कर्तृकर्मत्व नहीं है इसको एक दृष्टान्त से समझिये पृ० 96 कर्तृकर्मत्व के निषेध में छाया का दृष्टान्त—धूप के समय आंगन में खड़े हो जाये तो आंगन में कुछ पृथ्वी का हिस्सा छायारूप परिणामा जाता है। यह बताओ कि वह भूभाग स्वयं स्वतंत्र होकर छायारूप परिणामा या परतंत्र होकर? यद्यपि उस छायारूप परिणामन में हमारा उपस्थित होना निमित्त है, क्योंकि हम या अन्य कुछ भी पदार्थ उपस्थित न हों तो वहां छायारूप परिणति भी नहीं हुआ करती है। इतने पर भी हमारा काम तो इतना हुआ कि हम वहां खड़े हो गये, इतने में ही हमारा काम समाप्त हो गया, इससे आगे हम पृथ्वी में कुछ भी नहीं कर रहे हैं। इस मेरी उपस्थिति को निमित्त मात्र पाकर वह भूभाग स्वयं छायारूप परिणम रहा है। वह क्या मेरी परिणति का आश्रय लेकर मेरी परिणतिका कुछ कुछ खींचकर छायारूप परिणम रहा है या स्वयं अपनी ही परिणति से छायारूप परिणम रहा है?

अब जरा अपना राग मोह का आंकड़ा सम्हाल लीजिये—पृ 111 राग व मोह का आंकड़ा इस भव में इतना तो मोह किया किन किनसे राग किया, उन रागों के फल में आज इस आत्माको लाभ क्या रहा? विचारने पर शून्य उतर आता है। यह आत्मा ज्यों का त्यों ही ना, अशरण भिखारी, अधीर, व्याकुल ही लजर आ रहा है। दो चार साल पहिले आपने क्या विचार किया था यों इस प्रकार का साधन बना लेने के बाद फिर हमें व्यग्रता की कोई बात आगे न रहेगी, हम धार्मिक उत्साह के साथ उन भावी कालों में धार्मिक साधनों का फार्म विलयर करने के लिए काम में जुटेंगे और 4-6 साल बाद परिणाम क्या निकला कि जिस दिन के लिए हम अच्छी कल्पना पहिले कर रहे थे उस आज के दिन क्या परिणाम निकला? अधीरता वैसी ही बल्कि उससे भी बढ़कर व्याकुलता भी वैसी ही बल्कि उससे भी बढ़कर बन गई है।

शुद्ध और अशुद्ध देखने का ढंग पढ़िये—पृ० 119 स्वरूपास्तित्व व संयोग दानों की प्रतीतिशुद्ध रूपसे और अशुद्धरूपसे दोनों के ही ठीक हैं ये दो अंगुली हैं, एक बीच की अंगुली और एक अनामिका अंगुली। प्रत्येक अंगुली अपने अपने स्वरूपमें है। केवल एक को देखो,

यह है, अपने स्वरूपमें अपने में परिणमती है, पर क्या पास की दूसरी अंगुली नहीं है? और यह छोटी है, यह बड़ी है, यह भी तो दिखता है, अथवा एक अंगुली दूसरी अंगुली नहीं है? और यह छोटी है, यह बड़ी है, यह भी तो दिखता है, अथवा एक अंगुली दूसरी अंगुली को भींच ले ता यहां कुछ अड़चन सी आयी ना? यह भी ठीक है। दोनों प्रकार से द्रव्य प्रतीयमान हैं। सब केवल अपने स्वरूपास्तित्वसे प्रतीयमान होते हैं और इनके पास कितना संयोग है और निकट क्या क्या है? कैसा निमित्तनैमित्तिक भाव है, यह भी प्रतीयमान होता है।

191 वीं गाथा में आकिंचन्यभावना का मूल सार कितने संक्षेप में दरशाया गया है, देखिये पृ० 144 आकिंचन्यभाव यहां यह बतला रहे कि ऐसी भावना बनाओ कि मैं दूसरों का कुछ नहीं हूं, दूसरे मेरे कुछ नहीं हैं। यह भावना कब बने? जब अपने विषयमात्र में प्रवृत्त होने वाले अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाले व्यवहारनयका विरोध न करके मध्यस्थ बनें और शुद्ध द्रव्य का निरूपण करने वाले निश्चयनय के द्वारा अपना मोह दूर करें तब यह भावना बनेगी कि मैं दूसरों का नहीं हूं, दूसरे मेरे नहीं हैं।

आत्मा के एकत्वविभक्तस्वरूपकी विधि का दिग्दर्शन करें पृ० 159 दोनों एकत्व में एकत्व का लक्षण यहां शुद्धताका मतलब वीतरागता से नहीं, रागद्वेष से नहीं, किन्तु परसे विविक्त तथा अपने आपमें तन्मय इसे कहते हैं शुद्ध। तो पहिले एकत्वमें कहा कि यह आत्मा समस्त पुद्गलों से धर्म, अधर्म, आकाश, काल, है इस प्रकार की शुद्धता पहिले एकत्वमें दिखाई। शुद्धताका जब जब प्ररूपण द्रव्यानुयोग में हो तब तब उसका अर्थ लगाना चाहिए कि यह अन्य से न्यारा है। इसे कहते हैं शुद्ध। दूसरे एकत्वमें बताया है कि इन्द्रियात्मक परद्रव्य से यह जुदा है और स्पर्शनादिकके ग्रहण करने रूप धर्म में यह तन्मय है ऐसा यह आत्मा एकत्व विविक्त शुद्ध रूप है।।

इन्द्रियों का व्यापार आनन्द में बाधक बन रहा है इस विषय से सम्बन्धित प्रवचनांश पढ़िये पृ० 202 इन्द्रियां सत्य सुख की बाधक भैया, जब तक इस जीव का इन्द्रियों से प्रसंग है तब तक जीवको

निराकुलता नहीं रहती। इन्द्रियों के कारण हम आकुलताओं में पड़ते हैं। उन्हीं इन्द्रियों से प्रीति है जिनमें आकुलतायें मिलती है। सो यदि इन्द्रियों से छुटकारा मिले। संसारी जीनके साथ ये इन्द्रियों को प्रीति पहिले छोड़ना होगा। शरीर की प्रीति छूटे तो इन्द्रियां लगी रहती है पर भगवान के साथ इन्द्रियां नहीं है। हम इन्द्रियवाले और इन्द्रियरहितको पूजते हैं। हम इन्द्रियवाले और इन्द्रियवाले ही भगवान हों तो हममें और भगवान में क्या विशेषता रहती है, जिससे वे परपूज्य कहलाते हैं और हम उनके उपासक बनते हैं। तो सर्व प्रकार से इन्द्रियों से रहित रहनेवाले प्रभु सुख और ज्ञानस्वरूप हूं।

उनके सुख में कोई प्रकार की बाधा नहीं आती है। बाधा तो बाह्य पदार्थ के विषय करने पर आती है। इन्द्रियों द्वारा जब बाह्य पदार्थों को अपनाते हैं और बाह्य पदार्थों से अपना हित और सुख समझते हैं, तब बाह्य पदार्थ यदि न मिलें तो आकुलता हो जाती है।

122 प्रवचनसार प्रवचन नवमभाग

इस पुस्तक में प्रवचनसार की 201 गाथा से 219 गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। इसमें चारित्राधिकारका विषय है इसमें प्रथम यह वर्णन आया है कि कोई विरक्त गृहस्थ जिनदीक्षा का विचार करता है तो वह परिवार जनों को क्या कहकर जाता है। देखिये—माता पिता से पृच्छनाका समाचार कहरहा है—पृष्ठ 11 ज्ञानी संतका माता पिता से छुटकारा आज यह आत्मा भेदविज्ञान से अभ्युदित है। इसमें भेदविज्ञानकी ज्योति प्रकट हुई है सो यह मैं आत्मा, जो मेरा निजी माता पिता है, सो मैं इस आत्मा को ही प्राप्त होता हूं। मोही जन इस प्रसंग को देखकर बड़ा आश्चर्यभी कर सकते हैं और रूदन भी कर सकते हैं। एक सुकुमार अपने अपने घर से अपने कल्याण के अर्थ अपने उच्चस्थान के लिए मोह का त्यागकर घर से जा रहा है। जानेवाले को इसमें जितना अपूर्व आनन्द है उसको वही समझ सकता है। दूसरे दर्शक लोग तो उसकी नाना कल्पनायें कर सकते हैं। पर उस राजकुमार को केवल एक ज्ञानस्वरूप ही रूच रहा है। वह माता पिता से कह रहा है कि तुम दोनों हमको छोड़ो अर्थात् हमसे प्रीति और माहे न करो। क्योंकि

इस शरीर में बसने वाला यह मैं आत्मा तुम दोनों के द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ, तुम दोनों मेरे कुछ नहीं लगते हो। तुम दोनों केवल भ्रम में अपनी कल्पनायें बनाकर दुःखी हो रहे थे। भ्रम कर रहे थे, अंधकार में पड़े हुए थे। यह तुम्हारी दोनों की भूल थी। मैं तुमसे न्यारा था, न्यारा हूँ और न्यारा रहूँगा। आज मैं अपने आत्मा का जनक अपने आपकी आत्माको प्राप्त होता हूँ।

जब यह विरक्त ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचारको धारण करता है तो इन आचारों के प्रति भी कैसा वैराग्यमय अनुराग है—इसका संकेत देखिये— पृ0 18 ज्ञानाचार के ग्रहण का निश्चय भैया, यह ज्ञानी विरक्त श्रावक मार्ग में चला जा रहा है सोच रहा है कि हे अष्ट प्रकार के ज्ञानाचारों में जानता हूँ कि तुम सबभी राग की प्रवृत्ति हो। तुम मेरे कुछ नहीं लगते, किन्तु जब तक तुम्हारे प्रसाद से शुद्ध आत्माको न प्राप्त करलू तब तक मैं तुम को स्वीकार करता हूँ, तुम्हारा पालन करूँगा।

धर्म की विधि, देखिये पृ0 53 धर्म कैसे होता है? धर्म तो भावना से ही होता है जितने समय सब कुछ भूल जावों। उतने समय धर्म होता है क्योंकि किसी भी परका स्मरण रखोगे तो धर्म नहीं निभा सकते। धर्म की दृष्टि नहीं बन सकती है तो सबको भूल जाना चाहिए। अपने लिए केवल अपने आपही दृष्ट होना चाहिए। सबकी झिड़क दो, न तुम्हारा घर है, न स्त्री है, न पुत्र है, सब जुदे जुदे सत्व वाले हैं उनका काम उनमें अपने आपसे होता है। वे तुम्हारे कुछ नहीं हैं ऐसा अत्यन्त निर्मल अपने आपको समझकर बैठो तो वहाँ धर्म का पालन हो सकता है। धर्मरूप तो यह आत्मा स्वयं है।

प्रत्येक दुःख में अपना अपराध—इसका चिन्तन करें पृ0 87 प्रत्येक दुःख में अपना अपराधों के कारण दुःखी है। ऐसा त्रिकालभी नहीं हो सकता है कि किसी दूसरे के अपराध से कोई दुःखी हो जाय। भ्रम की बात दूसरी ही है। भ्रम में तो ऐसा ही लगा रहता है कि देखो ये यदि यों नहीं बोलते तो हमको क्रोध नहीं आता। यदि यह हमारी बात नहीं टालता तो मुझे प्रसन्नता रहती। क्या दूसरों के हुक्म मानने से हमारे में प्रसन्नता आती है? क्या दूसरों के दुर्वचन

बोलने से हमारे में खेंद अपने में उत्पन्न करते हैं और हम ही अपनी कल्पनायें बनाकर मोज माना करते हैं। सबसे बड़ा पाप है मिथ्यात्व व मोह। दूसरे जीवों से बड़प्पनकी चाह करना, दूसरों से अपने को बड़ा मानने का भाव रखना यही सबसे बड़ा भयंकर विष है।

नग्नतवका महत्व, पढ़िये पृष्ठ 127 यों ही जीव जो स्वयं विकार पसन्दी हैं वे नग्न स्वरूपको देखकर संकोच करते, ग्लानि करते हैं बुरा मानते हैं पर नग्नतवके अंतरंग गुणां को ब्रह्मज्ञ पुरुषही जानते हैं कि जो निर्विकार हो गये हैं वे बालकवत् निर्भय नग्न स्वरूप रख सकते हैं कसा अंतरंग निर्विकार है। यह पहिचान जिसके होती हैं वह तन, मन, धन, वचन सर्वस्व उनके चरणों में न्यौछावर कर देता हैं।

साधुकका मूल तो गुण एक है और मूल के गुण 18 हैं। इसकी आभा देखिये—पृ0 मूलगुण व मूलके गुण—ये जो 28 व्रत हैं ये स्वयं मूल गुण नहीं हैं, ये मूल के गुण हैं। मूल है निर्विकल्प, अखण्ड ज्ञानस्वभाव में स्थिर होना सामायिक संयम है। जब सामायिक संयम टिक नहीं पाता है तो उस समय स्थापना संयम धारण करता है। सामायिक संयम तो है सर्व सावद्य योग का त्याग और छेदोषधारण। यह छेदोपस्थापनाका प्रथम अर्थ है। द्वितीय अर्थ है कि उस मूलगुण और उत्तरगुण के पालने में कभी कोई दोष न लग जाय या नियमका भंग हो जाय तो गुरु से निवेदन करके उस संयम को फिरसे छोड़ देना इसको कहते हैं छेदोपस्थापना।

अपने परिणामों को बिगाड़नाही अपनी हिंसा है, उससे दूर रहने का संदेश अपने को सुनाइये पृ0 213 परमार्थ हिंसासे दूर रहने का सन्देश —भैया, हिंसा जो करे उसकी होती है दूसरे की हिंसा की कहीं जा सकती। जो बुरा भाव करता है उसकी हिंसा है। प्राणी में मर रहा है यदि वह बुरा भाव करता हुआ मर रहा तो उसकी हिंसा हो गई। कोई प्राणी दूसरे की हिंसा नहीं करता, खुद खुद की ही हिंसा करता है और खुदकी हिंसा में कर्म का बन्ध होता, जन्म मरण की परिपाटी चलती है। इस कारण अपने परिणामों में उत्कृष्ट सावधानी यह है कि अपने उपयोग में निज आत्मा के सहज स्वभाव,

ज्ञानस्वभावकी दृष्टि व ज्ञान रहना चाहिए। मैं क्या हूँ? इसका यथार्थ अवगम उसकी दृष्टि में बना रहना चाहिए।

महान अपराध क्या है? रागका राख, परखिये पृ० 217 राग का राग महान अपराध—भैया अब सोचलें कि हम और आप इस जन जीवन के रात दिन में कितनी हिंसा करते चले जाते और तिस पर भी खेद की बातती यह है कि अपने को विवेकपूर्ण पथके पथिक मानते जाते हैं। गलती भी करो और उस गलती को सभी मार्ग समझो। यहा तो डबल अपराध है कि राग में पड़ता है और राग को अपनी भूल नहीं मानता है। यह ही बड़ा अपराध है। रागता चारि.मोहकृत विकार है। किन्तु रागसे राग करना दर्शनमोहमृत विकार है। धन्य हैं वे सम्यग्दृष्टि आत्मा जिनसे राग होता भी जाता है फिर भी वे रागसे हटे हुए बने रहते हैं। यह बड़े अंतरंग महान पुरुषार्थका काम है। राग भी हो रहा और राग से हटा हुआ भी रहता है। क्या ऐसा हुआ नहीं है?

123 प्रवचनसार प्रवचन दामभाग

इस पुस्तक में प्रवचनसारकी 220 वीं गाथा से 244 वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। इसमें साधुओं की विशुद्ध चर्या का वर्णन है। साधुका उत्सर्ग मार्ग क्या है व अपवाद मार्ग क्या है तथा इन दोनों विरोध है या मित्रता इसका समाधान देखिये 220 वीं गाथा में। उसके कुछ प्रवचनांश देखिये पृ० 1-2 उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग की मैत्री उत्सर्ग मार्ग और अपवादमार्ग मित्रता होती है। बिना अपवाद मार्ग के उत्सर्ग मार्ग का हठ कभी विचलित कर सकता है और बिना उत्सर्ग मार्ग के अपवाद मार्ग की क्या कीमत है। साधु का कार्य है समता परिणाम रखना और अपने ज्ञान से विचलित न होना, यह तो है उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग क्या है? भूख लगे तब निर्दोष एक बार आहार लेना, विहार करना, हो तो इर्या समिति पूर्वक विहार करना, दूसरों से बोलना ही तो धार्मिक हितकारी परिमित वचन बोलना, शद्धि के लिए कमंडल रख लेना, संयम के लिए पोछी रख लेगा, ज्ञान के लिए पुस्तक रख लेना, तेरह प्रकार के चारित्र का यथाविधि पालन करना आदि ये सब अपवादमार्ग है।

सत्प्रवृत्ति को अपवाद मार्ग बताने का कारण ऐसा लगताहोगा भैया कि इसे अपवाद मार्ग क्यों कहा? अपवाद मार्ग तो बुरा होता है। साधु अपवाद मार्ग में चल रहा है यह तो बुरा बात है। उत्तर – जो बुरा पंथ हो वह तो मार्ग ही नहीं कहलाता। वह तो कोरा अपवाद है। साधु का जो लक्ष्य है वह है समता परिणाम और ज्ञायकस्वभावकी आराधना। इसके आगे खाना बोलना, चलना ये सब अपवाद हैं। समता के मुकाबले में अच्छे काम नहीं हैं। किसी के श्रामण्डय की साधना उत्कृष्ट हो जाय तो वह अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष चला जायगा। जब कोई इतना साधक नहीं है इसलिए यह आगम के अनुकूल अपवाद मार्ग को ग्रहण करता है।

गृहस्थ हो या साधु, मोक्षार्थी होने से सबका लक्ष्य एक ही रहता है स्थितियां भिन्न भिन्न होने पर भी। पढ़िये पृ0 4 मोक्षार्थियों के लक्ष्य को एकता गृहस्थको भी उतना लक्ष्यरखना होगा जितना लक्ष्य साधुका होगा। रही चलने की बात तो साधु की क्या अपने पूरे लक्ष्य में चल सकता है? यदि चलता है तो अन्तर्मुहूर्तमें निर्णय हो जायगा। साधु अपने पूरे लक्ष्य में नहीं चलता है इसलिए उसे महाव्रत गुप्ति समितिका विधान बताया है। साधु अपने पूरे लक्ष्य में नहीं चलता है इसलिए उसे महाव्रत गुप्ति समिति का विधान बताया है। साधु का लक्ष्य 28 मूल गुणों का पालन करना नहीं है, पर 28 मूल गुणों के बिना साधु भी नहीं हैं। इसी तरह गृहस्थ का भी लक्ष्य पूजा दान, सामायिक, जप, तप, ये नहीं हैं पर इनके बिना गृहस्थ भी नहीं है। लक्ष्य तो जो मोक्षार्थी हैं उनका एक है। क्या श्रावक मोक्षार्थी नहीं है? और साधु? वे भी मोक्षार्थी हैं। साधु का लक्ष्य मोक्ष है और गृहस्थका लक्ष्य भी मोक्ष है। इस लक्ष्य की साधना के लिए ही गृहस्थ धर्म है इस पदवी में, और उस लक्ष्यभूत मोक्षकी साधना के लिए ही साधु धर्म है।।

जिन विवेकियों को परिगृह में आसक्ति नहीं रहती है उसका कारण क्या है, इसका एक कारण देखिये पृ0 23 अनासक्ति का हेतु अन्यत्वदृष्टि—कभी आप भोजन में कोई एक सरस चीज खा लें थोड़ी सी और बाद में फिर बिल्कुल न ली जाय औरु दी जाय रोटी भाजी तो आप पेट तो भरेंगे मगर भाजी में आसक्ति नहीं रही, क्योंकि दिल

लगा है मीठी चीज पर। यही सोचेंगे कि मीठी चीज क्यों नहीं परोसते हैं? वहां आसक्ति नहीं रहती है। यह दृष्टान्त है। वैसे तो स्वाद के लिए यहां बहुत आसक्ति है किन्तु जो भोग रहे उसमें तो नहीं है। आप जिस चीज से गुजर रहे हैं वहां मन नहीं है, मन और जगह है इतने के लिए आप का दृष्टान्त है। इसी प्रकार इस गृहस्थ में अवसर पाकर मन्दिर में एकान्त में किसी जगह सर्व बखेड़ों को छोड़कर स्वयं निसर्गत प्रकट होने वाली एक निराकुलताका स्वाद ले लिया और सतझ लिया कि मेरा कल्याणतो इस स्थिति में ही है और बाकी तो सब जेलखाना है। उस गृहस्थ को किसी परिर्गह में फसाव नहीं है।

जिसका ज्ञान स्वच्छ है उसको शान्ति सुख उपलब्ध होता है, पढ़िये पृ० ३ ज्ञानकी स्वच्छता पर शान्ति की निर्भरता—भैया, दिमाग सही है, बुद्धि व्यवस्थित है, ज्ञानपर दृष्टि है तो आनन्द अपने पास हैं। दिमाग बिगड़ गया, बुद्धि बिगड़ गई, ज्ञानदृष्टि न रही तो मेरे में क्लेशों का आना प्राकृतिक बात है। आनन्दका मिलना बाह्य वस्तुओं के आधीन नहीं है, किन्तु ज्ञानकी स्वच्छता के आधीन है। गरीब हुए तो क्या बिगड़ा? यदि ज्ञान स्वच्छ है, व्यवस्थित है तो आनन्द मुझे अवश्य है। इतना ही तो है कि न मिठाइयां खाईं, सूखा भोजन खाया। अन्तर क्या आया? शरीर घट जायगा क्या? बल्कि भारी रसीला भोजन करने से शरीर घट जाता है, मंदाग्नि हो जाती है, बीमारी घेर लेती है। ज्ञानकी स्वच्छता ही वास्वतिक आरोग्य है। बाह्य विषयों के न मिलने से क्या नुकशान है? ज्ञान व्यवस्थित है तो वह सुखी है।

साधु की अपरिग्रहता तो देखो उपदेशश्रवण को भी उपाधि समझता है, यद्यपि वह अप्रतिसिद्ध। तब अन्य वस्तुओं के रखने में तो साधुता ही नहीं रहती। पढ़िये पृ० ३४ अप्रतिसिद्ध उपाधि—भला बताओ कि जिसको लोग बड़ा महत्व देते हैं ऐसा सत्संग हो, गुरुवचनहो, विनय हो, अध्ययन हो, यह भी जहां अपवाद बताया गया है फिर तो जटा रखना, चमीटा रखना, उनकी तो कहानी कौन कहे? यहां उस उपाधि को अपवाद कहा गया है जो उपाधि टाली न जा सके। स्थिति देखलो कल्याणकी इच्छा है और प्रबल उपादान नहीं है कि ज्ञानधारा में भी रह सके तो गुय प्रसन्न हैं और मुझे ये शिक्षा देते हैं। इतने महत्व वाली चीज भी अपवाद धर्म है। सो वही अपवाद साधुजन ग्रहण

करते हैं कि जिसके बिना आत्मा का काम चलही नहीं सकता है। तो जो अप्रतिसिद्ध उपाधि है वह अपवाद है। वह साराका सारा अपवाद श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारण है इसलिए उपकारक है। और वह उपकरण माना जाता है। किन्तु अन्य कुछ उपकरण नहीं माना जा सकता है।

साधुओं के आहार विहार का क्या प्रयोजन हैं, इसका समाधान पाये पृ0 48 साधुओं के आहार विहार के प्रयोजनका प्रदर्शन एक दृष्टान्त –जैसे दीपक जलाते हैं तो दो काम अपने लोग क्या करते हैं? एक तो उसमें तेल डालना और एक बाती का उसकाना। सरसों के तेल का पहिले दिया जलाते थे। वह दीप बड़ा लाभप्रद होता था तो उसके जलाने की विधि में दो बातें मुख्य थीं। तेल डाल दो क्योंकि तेल कम हो गया तो यह दीपक बुझ जायगा, तो उसमें तेल डाल दिया और साथ ही उसकी बाती उंचे उठावो, दीपक बढ़िया जलेगा। तो जैसे दीपक में तेल को डालना और बाती का उकसाना किसलिए है कि अर्थ समूह दिखता रहे, प्रकाश बना रहे। परिच्छेद अर्थकीय प्राप्ति के लिए जैसे विराग में तेलको डालना और बाती का उसकाना होता है इसी प्रकार आत्मशुद्धि के लिए पेट में भोजन डालना और हाथपैर का उसकाना है अर्थात् विहार करना है। भोजन लेना तो तेल डालने की तरह है और वह जो विहार है वह बाती उसकाने की तरह है। दूसरा कोई प्रयोजन नहीं।

उत्सर्ग व अपवादमार्ग की मैत्री की परख लीजिये पृ0 69 उत्सर्ग और अपवादमार्ग को मैत्री साधुजन उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों साधनों में चलते हैं। इन दानों मार्गों की परस्पर मित्रता होती है अर्थात् उत्सर्ग मार्ग तो अपवादकी अपेक्षा रखता है और अपवाद मार्ग उत्सर्ग की अपेक्षा रखता है। याने ढिलाई तो कड़ाई की उपेक्षा रखकर होती है और कड़ाई ढिलाई की उपेक्षा रखकर होती है तो काम आगे के लिए चलता है। केवल कड़ाई का मार्ग बिगड़ जायगा केवल ढिलाई का मार्ग बिगड़ जायगा। जो लोग किसी भी बात की सीमातीत कड़ाई करते हैं उन्हें कुछ समय के बाद बड़ी ढिलाई में आना पड़ता है और फिर पीछे बड़ी विडम्बना और खेद होता है। जो लोग संयम और ब्रत तें ढिलाई से चलते हैं उनकी तो फिर आलोचना

ही क्या करें? वे तो भ्रष्ट हैं ही जो कि निरपेक्ष ढिलाई वाले आचरण में पहुंच गये।

साधु अपवादमार्ग की क्यों ग्रहण करते हैं? देखिये पृ0 71 अपवाद का प्रयोजन उत्सर्ग मार्ग की सिद्धि साधुजन अपने उत्सर्ग की सिद्धि के लिए ही कदाचित् अपवाद मार्ग पर चलते हैं, किन्तु अपवाद के लिए अपवादमार्ग पर नहीं चलते हैं। ये अपवादमार्ग से उल्टा सीधा काम नहीं लेते, किन्तु आगम के अनुकूल उन प्रवृत्तियों से चलते हैं जिस प्रकार कि उत्सर्ग की अपेक्षा रखते हुए अपवादका व अपवादकी उपेक्षा रखते हुए उत्सर्ग का वर्णन आगम में किया है अपवादमार्ग में भी साधु उत्सर्ग की उपेक्षा नहीं छोड़ेगे।

साधुजनों के कर्तव्य में आगमाभ्यासकी प्रधानता है देखिये पृ0 89 आममचेष्टाका महतव—साधु के जीवन में सबसे जेठी चर्या है तो आगमका अभ्यास है। सारे काम करें साधुजन, जीवहिंसा से बचें, महाव्रतका पालन करें, दुर्धर तपस्या भी करलें, जिससे हड्डियां भी निकल आयें, समता का व्यवहार भी रखें, कोई निन्दा करता हो, गाली देता हो उसपर गुस्सा भी न होता हो, कोई प्रशंसा करता है, पूजा करता है तो स्नेह भी न हो, ये सब चीजें करलें, इतने पर भी यदि आत्मा के जाननस्वभावका अनुभव न हो, कि मैं सहज कैसा हूं, ऐसा अनुभव न जगा तो इन सब श्रमों से भी उसको मुक्ति का मार्ग नहीं मिलता है तो इन सब उन्नतियों का मूल उपाय जो आत्मज्ञान है, आगमज्ञान है, उसमें ही अधिकाधिक प्रगति करना चाहिए।

धर्महीन पुरुष की स्थिति क्या है? इसका अवलोकन कीजिये— पृ0 111 धर्महीन पुरुषकी स्थिति —देखो मनुष्य की पशुओं से उपमा दी जाती है तो पशु बड़े हुए कि मनुष्य? पशु बड़े हुए। यह मनुष्य कैसा बलवान है? जैसे शेर। इस मनुष्य की चाल कैसी है? जैसे हंस की। इस मनुष्य की नाक कैसी है? जैसे सुवा की नाक

इस मनुष्यका स्वर कोयल के स्वर के समान हैं इस मनुष्य की कमर सिंह की कमर की तरह है। देखलो प्रत्येक बात में मनुष्यों की पशुओं से उपमा दी जाती है। तो जिसको उपमा दी जाती है वह बड़ा है कि नहीं? जैसे इसका मुख चन्द्रमा की तरह है। तो चन्द्रमा

बड़ा कहलाया। तो यों मनुष्य नहीं हुआ। जैसे कहते हैं ना कि धर्मेण होनः पशुभिः समानः । आप हम सभी मनुष्य मनुष्य है। इसलिए धर्महीन मनुष्यको पशु के समान कह लिया है। ईमानदारी के भाव से तो यह कहा जाना चाहिए कि धर्महीन जो मनुष्य है वह पशुओं से भी गया बीता है।

वास्तविक ज्ञान अपनी किस बात में है, मनन कीजिये—पृ0 112 वास्तविक शान—भैया, हर एक लोग अपनी शान चाहते हैं। अरे शान ऐसी बनाओ कि अगले भवमें भी वह शान बनी रहे। शान तो वही है जोकि परभवमें भी रहे। शान हो तो धर्म की हो। धर्म की शान शान से ही है। दूसरे जीवों को देखकर घमंड आ गया, क्रोध आ गया, लोगों ने प्रशंसा कर दो यह शान नहीं है। इससे तो आत्मा का पूरा नहीं पड़ता। धर्मसेवन ही ऐसी शान है कि परभव में भी शान बनी रहती है। जिसके धर्म की शान बनी रही वह स्वयं मुक्ति में अपने आपको ले जाकर, अपने को कर्मों से छुटाकर अनन्त ज्ञान एवं आनन्द का भोक्ता बना रहता है।

124 प्रवचनसार प्रवचन एकादशभाव

इस पुस्तक में पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन प्रवचनसार की गाथा 245 से अन्तिम गाथा 175 तक हैं। प्रथम प्रवचन में कहा गया है कि शुभोपयोगी मुनिके भी मुनित्व है, प्रवचनांश पृ0 39 शुद्धोपयोगप्रधानी मुनि के समकक्ष न होकर भी शुभोपयोगी मुनि के मुनित्वका श्रद्धान —कोई पुरुष साधु बनकर तुरन्त ही शुद्धोपयोगी बने और फिर ऐसा ही रह जाय यह तो नहीं है। सो वह यदि शुद्धोपयोगी की साधना में लगा है तो इस शुभोपयोग के मुनि को मुनि कहेंगे या नहीं? उत्तर यह देंगे कि कहेंगे, क्योंकि धर्म के साथ एक अर्थ में, एक आत्मा में शुभोपयोग का सद्भाव पाया जाता है। इस कारण शुद्धोपयोगी यह साधु शुद्धधर्म के सद्भाव से श्रमण तो हो जायेगा, किन्तु उसकी समानता शुद्धोपयोगियों के साथ न होगी। शुद्धोपयोगी के समान कक्षा शुभोपयोगी की नहीं हो सकती है, क्योंकि शुद्धोपयोगी श्रमण तो समस्त कषायों को दूर कर देने के

कारण आश्रवरहित ही होता है, किन्तु यह शुभोपयोगी साधु चूंकि कषायकणों को फेंक नहीं सका है, इसलिए आश्रवसहित है।

लगने और हटने की रूचि का महान अन्तर देखिये—पृ0 7 केवल की दृष्टि से ही कल्याण होना है, दृष्टि की निरन्तरता ही चारित्र है। तो यह दृष्टि क्यों नहीं इस प्रकार की जा सकती, इसका कारण है कि मोह का रंग गहरा है, नहीं तो बाधा कहीं कुछ नहीं। वही घर है, वही दुकान है, वही लोकव्यवस्था है, समस्त काम आप कीजिये, कोई काम छूट नहीं रहा है, पर दृष्टि बदल जाने से आपका उनमें आदर नहीं रहेगा। आपकी दृष्टि मोक्षमार्ग के लिए है। एक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के भी यह सब परिवार है और जैसे एक सम्यग्दृष्टि जीव को घर में सब कुछ करना पड़ता है, बच्चों को खिलोना, पुचकारना सो वह सम्यग्दृष्टि करता है, पर मिथ्यादृष्टि इस प्रवृत्ति में सलग्न है और सम्यग्दृष्टि के गृहकार्यों में निवृत्ति की मुख्यता, कब इस जाल से छूटें, ऐसा आशय रखते हुए घर में रह रहा है सद्गृहस्थ। वह खेद मानते हुए रह रहा है और यह पर्यायबुद्धि वाला उसमें मौज मानता हुआ रह रहा है।

सावधान होकर निजनाथ को खोजिये, मिलेगा फिर उससे मनभर बात कीजिये, इसका समाचार पढ़िये पृ0 13 पर निज नाथ के खोजने की सावधानी भैया, निजनाथ के खोजने की गली सकरी है, गुप्त है। इस गली से चलकर ही इस जीव को वह निजनाथ मिलेगा। अब तुम लम्बी चौड़ी सड़कों पर घूमा कर जहां विषय कषायों की पब्लिक बस रही है। उन सड़कों में अपने उस प्रभु को खोजना चाहते हो तो वह कैसे मिलेगा? संकल्प, विकल्पों को त्यागकर केवल समता की गली से जो बड़ी सकरी है, रंच असावधानी कैसे मिलेगा? संकल्प, विकल्पों को त्यागकर केवल समता की गली से जो बड़ी सकरी हैं असावधानी हो गई हो तो या तो रागों की ओर गिरेंगे या द्वेषों की ओर गिरेंगे, उस गली से चलकर और कुछ निहारो तो निज नाथ का दर्शन होगा और उस दर्शन से जो चमत्कार और आनन्द का अनुभव होगा उस से तृप्त होकर फिर यह कहेंगे कि हे निज नाथ, अनन्तकाल तुमने मुझे यों ही सताया। पहले कभी दर्शन दे देते तो हमारा भी उद्धार हो जाता। अब मुमुक्षु कुछ निज नाथ की अकृपापर

झुझलाया फिर जैसे किसी बड़े आदमी से भिखारी को कोई इष्ट चीज मिल जाये तो भिखारी भी उसे आशीर्वाद देता है। देखो छोटे आदमी भी बड़े को आशीर्वाद देते हैं। दूकान फलें, पूतन फलें, खूब सम्पदा बड़े। तो यह उपयोग भिखारी इस निज नाथकी दृष्टि से अनुगृहीत होकर यह उसको क्षमा करता हुआ कहता है खैर जब तुम दर्शन। दोगें तभी भला है। बहुत हम तुम पर झुझला गये थे—तुमने बड़ी कृपा की कि अनन्तकाल में अब दर्शन दिया। हे निजनाथ पहले आप दर्शन दे देते तो आपका क्या बिगड़ता था? जैसे मानलो इसने निज प्रभु का अपराध क्षमा कर दिया हो? खैर जब दर्शन दो तब हो सही।

साधुसेवा की जाने का कारण विशिष्ट धर्मानुराग होता है इ को परखिये गाथा 252 के प्रवचनांश में पृ० 19 साधुसेवाका कारण विशेष धर्मानुराग— साधुजन व्यग्र नहीं हुआ करते, फिर भी कभी अपने श्रामण्यसे च्युत होने का कोई उपसर्ग हो जाय तो उसमें उन्हें कुछ खेद होता है उस समय शुभोपयोगी पुरुषकी उसकी अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्ति करना चाहिए। जो पुरुष अपने को मोक्षमार्ग में ले जाना चाहता है उसे यदि दूसरा मोक्षमागी पुरुष मिल जाय तो उसको देखकर उसको कितना प्रमोद होता है, इसका अंदाज वहीं कर सकता है जो स्वयं मोक्षमागी है। तास खेलने की रूचि वाले को तास खेलने वाला मिल जाय तो कैसे गले लगते हैं। यार बैठो, दो हाथ तो हो ही जाने दो। उसकी सेवा करते हैं, अपना खर्च करते हैं और उसे मिठाई खिलाते हैं, क्योंकि उसका दिल उनके लक्ष्य के अनुसार रम गया ना, इसी तरह जो मोक्षमार्गी पुरुष है जिसे सदा मुक्त सहज ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्त्वकी रूचि जगी है और जो संसार के सर्व भोगों से विरक्त है ऐसा कोई पुरुष मिल जाय तो वह कितना वात्सल्य करता है, इसकी उपमा अन्यत्र नहीं मिल सकती है। ज्वारी ज्वारी के प्रेम से भी घनिष्ट प्रेम इन मुमुक्षुओं में है। पति पत्नी के प्रेम से भी विशिष्टतर वात्सल्य इन मुमुक्षुओं में परस्पर है।

देव शास्त्र गुरु के निर्णय की मुमुक्षु को कितनी परमावश्यकता है इ के सम्बन्ध में देखिये 255 वीं गाथाका कए कांतिमय प्रवचनांश पृ० 29—30 जिनको आत्मसमर्पण किया जाये, उनके निर्णय की अनिवार्य आवश्यकता—भैया, भक्ति तो की जाय,

शुभोपयोग तो किया जाय, किन्तु किसका आश्रय करके शुभोपयोग करना है? इसका निर्णय कर लिया जाय। बाजार में एक आने की हंडी खरीदना है तो उसकी भी परीक्षा करके खरीदते हैं। पहिले ठोकापीटी कर लेते हैं, ज बवह निर्णय हो चुकता है कि यह हंडी का मटका पक्का है तब उसे खरीदते हैं। जरासी ठोकर से फूट जानेवाले और अत्यन्त अल्पमूल्य वाली चीज की तो परीक्षा कर लेते हैं और जो आश्रय हमारे दुखों का और आनन्द का फैसला करने वाला है, सदा के लिए संसार में रूलाता है, या सदाके लिए संसार से छुड़ा दे, ऐसा आश्रयभूत जो देव, शास्त्र, गुरु हैं उनका बिना निर्णय किये, बिना परीक्षा किये उनसे अपना सिर नारियल की तरह फोड़ते रहें तो सोचो तो सही, क्या तुम विवके का काम कर रहे हो? ऐसा निर्णय तो होना ही चाहिए कि मेरी भक्ति का आश्रय होने योग्य कौन हो सकता है और शास्त्र एवं गुरु कौन हो सकता है?

शिक्षा ग्रहण करने के लिए विनय को कितना महत्व दिया है, इसका हृदय 267 वीं गाथा के इस प्रवचनांश से परखिये पृ० 60 आदरपूर्वक ही शिक्षाग्रहण से दृष्टान्त—अभी आपही लोग किसी छोटे आदमी से कोई विद्या सीखें, मुनीमी सीखें या कोई साइन्सकी बात सीखें और छोटे बिरादरी वाले से सीखें, चाहे आप उसे कोई वेतन देते हों या कुछ न देते हो, पर उस सिखानेवाले छोटे आदमी का आदर करके ही सीखते हो या डाट करके सीखते हो? क्या उसे ऐसी ऐंठ बताते हो कि अरे तू बैठा है, सिखाता नहीं है। यह तो एक लौकिक विद्याकी बात हुई । फिर तो जो मोक्षमार्ग की विद्या सीखना चाहते हैं, आत्मविद्या सीखना चाहते हैं वे पुरुष चारि. में और तप में बहुत बृद्ध हों, पुराने हों, बड़े चढ़े हों, किन्तु ज्ञानगुण की वृद्धि के लिए नवदीक्षित बहुश्रुत साधु की बंदनादिक में लगते हों तो वहां शुद्ध प्रयोजन होने से दोष नहीं है। पर ज्ञानगुण की वृद्धि के प्रयोजनके सिवाय अपनी ख्याति प्रसिद्धि भाव से करे तो उसे वहां दोष लगता है, क्योंकि बहुज्ञानियों के पापसमाज में बहुत से लोग आते हैं और उनके बीच में पहुंचने पर हमारी ख्याति पूजा लाभ बगैरह होगा या लोग कहेंगे कि देखो यह साधु कितना निरभिमानी हहै, कितना सरल है कि अपने छोटे साधु के पास भी विनयपूर्वक बैठता है, ऐसी किसी भी

प्रकार की कल्पना से यदि तपस्वी बन्दना करता है तो उसके लिए दोष है।

संसारतत्त्व, मोक्षतत्त्व व मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व वर्णन करके चौथा रत्न बताते हुए पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज सूरि ने कहा है— अब मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वका ही सर्वमनोरथस्थ नपने से अभिनन्दन करते हैं। इस अभिनन्दन शब्द के प्रयोग में क्या मर्मभरा है इसका दिग्दर्शन कीजिये 27 वीं गाथा के उत्थानिका के प्रवचनों में एक प्रवचनांश का पृ0 97 अभिनन्दन का दिग्दर्शन किसे कहते हैं कि बात बताते हुए खुद में भी आनन्दसे भरपूर हो जाना। कहना, बोलना, वर्णन करना, विवरण करना, प्रकाश करना, उद्योतन करना, घद्घाटन करना, दिखना, व्याख्यान करना, श्रद्धान कराना, साधना, अवधारण कराना, आसूत्रण कराना, समर्थन करना, नियमित करना, अनुशासन करना, व्यापार करना, उपदेश करना, आवेदन करना, उपलक्षित करना, उद्भावन करना, घोषणा करना, दृढ़ करना, विचार करना, अवस्थित करना, चिन्तन करना, अभिनन्दन करना, व्यक्त करना, भावित करना इत्यादि शब्द कहने के अर्थ में प्रयुक्त होंगे, उन शब्दों का रहस्य प्रकट किस किस ढंग से होता है, इन सब शब्दों में जुदा जुदा कान्ति और रहस्य छुपा हुआ है। यहां कह रहे हैं कि उस अभिनन्दन करते हैं, मायने बोलते जाते हैं और आनन्द लूटते जाते हैं।

जितनी क्रियाओं के नाम उपर लिखे गये हैं उन सब क्रियाओं के प्रयोग प्रवचनसार की गाथाओं की उत्थानिका में किये गये हैं, वे बड़े मर्म और वक्तव्य के सम्बन्ध को बताती हैं। इन सब क्रियाओं के मर्म पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने अपने प्रवचन में स्पष्ट किये हैं—उनमें से उद्योतयति, इस क्रिया का भाव देखिये 274 वीं गाथा का प्रवचनांश पृ0 131 उद्योपयति ज्ञान तो सर्वगत है, उसा जहां वर्णन आया है। उस गाथा की उत्थानिका में सूरि जी महाराज ने यह कहा था कि ज्ञान सर्वगत है, इस बातको अब कहते हैं यों न कहकर क्या कहा कि अब ज्ञान की सर्वगतता को उद्योतित करते हैं। समझो शब्द में कितना फोर्स है और एफेक्ट है? पता है इस मुमुक्षु को क ज्ञान का स्वभाव बर्द्धनशील है और ऐसा सर्वगत हो जाना यह मेरे

स्वभाव में पड़ा हुआ है। वह है । अब उसको क्या करते हैं? उद्योतित करते हैं।

125 आत्मपरिचयन

आत्मा के सम्बन्ध में सन 1962 वर्षायोग में पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के कुछ फुटकर प्रवचन हुए उनाक इस पुस्तक में संकलन है। 19-9-61 के प्रवचनों में से एक प्रवचनांश देखिये—पदार्थों के जानने के प्रसंग में 3 बातें हुआ करती हैं 1. शब्द पदार्थ, 2. अर्थ पदार्थ, 3. ज्ञान पदार्थ। जैसे यह चौकी है तो यह तीन तरह की होगी, 1. शब्द चौकी, 2. अर्थ चौकी और 3. ज्ञान चौकी। घरमें भी शब्दघर अर्थघर और ज्ञानघर, ये तीन हुआ करते हैं। शब्द चौकी के मायने चौकी ये दो अक्षर, मुख से जो बोला जा रहा है कि यह तो चौकी है या किसी कागज पर लिख दिया जाय कि चौकी, तब अगर आपसे पूछा जाय कि यह क्या है, तो क्या कहोगे। यह चौकी, यह शब्द चौकी है। यह काम करनेवाली चौकी नहीं है। और तीसरा दृष्टान्तले—जैसे रोटी, उसमें भी शब्द रोटी, अर्थरोटी, ज्ञान रोटी ये तीन प्रकार समझना चाहिए। रोटी शब्द किसी कागजपर लिख दिया जावे और आपसे पूछा कि यह क्या है, तो आप कहोगे कि रोटी है। यह रोटी किसी काम की नहीं है। इससे क्या आपका पेट भर जायगा, क्या भूख मिट जायगी। वह अर्थ रोटी नहीं है। वह तो शब्द रोटी है। अर्थ रोटी तो वह है जो बनी हुई होती है, जिसको खाते हैं। और ज्ञान रोटी के मायने यह है कि जिस रोटी के बारे में ज्ञान होता है वह ज्ञान ज्ञान के बारे में ज्ञान होता है उस ज्ञान का नाम है ज्ञान चौकी।

इत्यादि बहुत विस्तार के बाद समझकर यह सिद्ध किया है कि वास्तव में भगवान निश्चय से मेरे लिये न तो शब्द है न मुक्त आत्मा है, किन्तु मेरे को जो ज्ञान होता है भगवान के बारे में स्वरूप जैसा वह ज्ञान भगवान मेरा भगवान है।

126 पच्चसूत्री द्वादशी

इस पुस्तक में पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के द्वारा रचित पच्च पच्च वाक्यों में 12 अध्यात्मभावना हैं देखिये – प्रथम भावना –1. मैं देह से निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हूं। 2. मैं ज्ञान को ही करता हूं व ज्ञान को ही भोगता हूं। 3. ज्ञान का भी करना भोगना क्या? जानन परिणमन होता रहता है। 4. परमार्थतः मैं अविकार ज्ञानस्वभाव हूं। 5. हे अविकार ज्ञानस्वभाव! प्रसन्न होआ और जन्म मरण का संकट दूर करो। ओं शुद्धं चिदस्मि।

देखिये सपतम अध्यात्मभावना, 1. मेरे में कष्ट का क्या काम मेरा तो आनन्द स्वभाव है। 2. जो भी विवशता व आकुलता अनुभव में आती है उसका कारण किसी न किसी बाह्य वस्तु में इच्छा होती है। 3. धन, यश व इन्द्रियविषय इनकी इच्छा न हो तो कष्टका फिर कोई भी स्रोत नहीं रहता। 4. आत्मन्! कोई कष्ट मत उठाओ, सत्य ज्ञान जागृत करो और अपने को ज्ञानमात्र एवं निर्भर अनुभव करो। 5. मैं सहजसिद्ध, ज्ञानधन, आनन्दस्वरूप, निरज्जन, पावन चिज्ज्योति हूं। ओं शुद्धं चिदस्मि।

127 देवपूजा प्रवचन

इस पुस्तक में पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के देवपूजा पर प्रवचन हैं पूजक पुरुष के भावों में विशुद्धि सर्वकाल रहती है। देखिये प्रस्तावना के प्रवचनों में से एक प्रवचनांश जो पूजा करता है, अंतरंग से पूजा का भाव जिसके होता है, उसके शुभ भाव मन्दिर में पहुंच कर ही नहीं होते, उसके संस्कार तो चौबीसों घंटे उसकी विशुद्धि के कारण होते हैं। सवेरे शय्या से उठने के साथ ही देवपूजा का प्रोग्राम उसके मन में बन जाता है और उसके भावों को जो निर्मलता होती रहती है उससे पूण्यबंध और उस अवस्था में भा स्वांशिक अंशों में संबर तथा निर्जरा भी होती है क्योंकि जब वीतराग की पूजा का लक्ष्य पहुंचता है, वीतराग के स्वरूपके ध्यान जब टिकता है तब भाव वीत रागता रूप हुआ बिना नहीं रहते। पूजक जब शारीरिक क्रिया से निवृत्त होकर घर से मन्दिरजा को चलता है तब तो परिणामें में और भी निर्मलता बढ़ती है। उसके भावों में गंभीरता, वचन में समिति और चलने से सावधानी और दया की दृष्टि होती है। घर

से अष्ट द्रव्य को संजोकर मन्दिर को जा सकता है लेकिन शिथिलता आने से रूढ़ि यही है कि सूखी द्रव्य घर से ले जाते हैं और मन्दिर में अष्ट द्रव्य तैयार कर लेते हैं। वहां सरलता और पवित्रता पूर्वक अष्ट द्रव्य तैयार हो जाते हैं। अतः घर से तैयार कर ले जाने की प्रथा नहीं है, लेकिन किसी को घरसे तैयार ले जाने में सुविधा हो और उसमें कोई तरह की शिथिलता न हो तो घर से भी द्रव्य बनाकर ले जा सकता है। मार्ग में चलते समय उसका भाव चैतन्यता को उत्सुकता से भरा हुआ होता है।

प्रभुभक्त का अन्तस्त्याग देखिये स्वस्तिवाचन प्रवचन के इस प्रवचनांश में भक्त का अन्य प्रोग्राम ही नहीं। अतः भक्त कहता है कि मैं इस जाज्वल्मान केवल ज्ञानरूपी अग्नि में एकचित होकर, सम्पूर्ण पुण्य को स्वाहा करता हूं। जैसे अग्नि कूड़े कचरे को साफ कर देती है। उसी तरह ज्ञान रूपी अग्नि राग द्वेष, आदि मलों को साफ कर देती है। यहां अरहत सिद्धकी भक्ति पक्षमें उनके ज्ञान में मन को लीन करके रागद्वेष हटाने का भाव है और आत्मपक्षमें, ज्ञेयरूप से केवलज्ञान में जिसमें आया ऐसा यह अपनाही ज्ञान है जिसमें रागद्वेष के विकल्पों को दूर करना है, रागद्वेष के विकल्पों को हटाना ही उसका स्वाहा करना है। भक्त यह भी कहना है कि मैं समस्त पुण्य उस ज्ञान अग्नि में अर्पित करता हूं। लोकों को दिखने में आने वाला पूजन द्रव्य ही वहां सामने पुण्य वस्तुएं हैं। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि यह तो अल्पमूल्य के वस्तुएं हैं। इनके त्याग में आपकी उदारता ही क्या? उत्तर कहां भक्त का यह भी आशय है कि धन, मकान आदि सर्व पुण्य वैभव आदि को भी मैं त्यागता हूं, क्योंकि सबसे प्रथम अपनी श्रद्धा से ही परमात्मा का भक्त हुआ है। पुनः प्रश्न हुआ कि सर्व वैभव भी तो अत्यन्तभाव वाले भिन्न क्षेत्रवर्ती अचेतन पदार्थ हैं वे तो पहले से छूटे हुए हैं, उनका त्यागने की बात कहना रिपट पड़े हर गंगा की कहावत को याद दिलाना मात्र है। तब भक्त की निर्मलता की दृष्टि ने उत्तर दिया कि जिस पुण्य के उदय से वैभव मिलता है उस मूल का भी मैं स्वाहा करता हूं। इतने पर भी वही प्रश्न हो सकता है क्योंकि एक क्षेत्रावगाह होकर भी ये कर्म हैं तो अत्यान्ताभाव वाले पुद्गलपिण्ड। तब भावव्यक्ति होती है कि प्रभो जिस मदकषायरूप

भावपुण्य के निमित्त से द्रव्य पुण्यबन्ध होता है, मैं उस चेतन पुण्यको त्यागता हूँ। इसमें समस्त शुभ भाव दान उपवास आदि से लेकर अर्हद् भक्ति तक सभी सम्मिलित हैं।

सिद्ध पूजा में पूष के छन्द में पढ़िये परमयोगबलवशीकृत सहज सिद्ध का परिपूजन एकप्रवचनां में जिन सहज सिद्ध का यहां पूजा जा रहा है। वे देव कसें हैं? परमयोगवलेन वशीकृत परमयोग के बल से जो वशीकृत है, वे भगवान किसके वश में होते हैं? किसी के भी नहीं क्योंकि वे तो भगवान ही हैं। किन्तु पुद्गल का एक अणु भी सिकी के वश में होता। सब परमाणु व सब द्रव्य स्वतन्त्र है। जीव को उपचार से संसारी अवस्थाओं में कर्म के वश कहा जाता है लेकिन निश्चय से कर्मवर्गणाओं का और आत्मप्रदेशों का चतुष्टय अपना अपना पूर्ण स्वतंत्र है और फिर कर्मयुक्त सिद्ध भगवान तो उस औपचारिक परतंत्रता से भी रहित है। तो वे भगवान हमारी दृष्टि में बने रहें, यही हमारे वशमें होने का मतलब है और भगवान को अपनी दृष्टि में करने का मतलब है परमयोगरूप अद्वैत दृष्टि व स्थिति, क्योंकि परयोग में द्वैतदृष्टि नहीं रहा करती। तो अद्वैत परम समाधिरूप हमारे उपयोग में जो बैठे, अनुभव में आवे उसकी मैं पूजा करता हूँ। मेरा कुटुम्ब नगर और स्थान मैं ही हूँ। यह नगर कितना सुन्दर है विवके ज्ञान आदि जहां अनेक मन्त्री हैं। संयमादिक रक्षपाल हैं जो कि अपनी शक्तियों को लुटाने नहीं देते। ज्ञान की पर्यायें यही प्रजाजन हैं। ऐसे मुझ राजा की नगरी मुझ से बाहिर नहीं है। मेरी कोई चीज मुझ से बाहिर नहीं है ऐसी शुद्ध परिणति से मैं भगवान की पूजा करता हूँ।

सिद्ध पूजा की जयमाला के एक प्रवचनांश में देखिये—सदोदय सहजसिद्धकी उपासना ओं सदोदय, हे भगवान आप सदा उदितरूप हो कर्मक्षयसिद्धभगवान पर्याय से भी सदा उदितरूप हो, देखो इस चैतन्यतत्त्वके बारे में अनेकों रूप दार्शनिकों ने माने हैं। कोई कहता है कि सारे संसार का मूल एक व्यापी सदाशिव और अमूर्त है। यह कहना चैतन्य की कलाको कितना प्रगट करता है। यदि सृष्टिकर्तृत्वका विशेष न करे दृष्टि अपेक्षा से उसका हम समर्थन करना चाहें तो भी कर सकते हैं। उक्त चारो बाते आत्मा पर घटाओ।

सदाशिव भगवान को जो एक मानते उस एकपक्ष पर ख्यान करें तो अपनी आत्मा एक ही है। जिसकी वे नार की आदि पयग्रयें चलती रहतीं जिसकी गौणकर सामान्य दृष्टि से देखें तो अनुभव में आ सकता है, ऐसा अनुभव भर आनेवाला जब पर्याय से नहीं दिखता स्वभाव से दिखता तो मिल गया सदाशिव। अन्यत्र नहीं खुद में खुद है वह। और उस सामान्य में हमारा और आपका आत्मा ऐसा भिन्न विकल्प तब होता जब इसकी व्यक्ति पर नजर होती। और व्यक्ति की नजर याने पर्याय की नजर कहलाई और पर्याय दृष्टि को करना नहीं चाहते। तो अपना और परका सदाशिव ऐसी कल्पना नहीं होती। आवान्तरसत्ताका नहीं उसमें महासत्ताका अनुभव होगा। अतः उसको सामान्य सत्ता से समझाने के लिये कहेंगे कि वह सदाशिव 1 है। यह एक सामान्य सत्की दृष्टि से एकरूप है। आगे अपनी सृष्टि का कर्ता स्वयं आप है। इसकी रूपी और अरूपी में से देखो तो अरूपी ही है। आत्म शरीर कार है क्या? नहीं, शरीर पुद्गल का आकार है आत्मा का नहीं उपचार से भले ही शरीर कार कहो। भगवान सिद्धको समझने के लिए दृष्टि को गम्भीर बनानी होगी अमूर्त या अरूपी आत्मा को उसी ज्ञान स्वभाव के रूपसे परखना होगा जो ध्रुव एक है। ऐसे गुणवाला आत्मा रहता कहां है? जब सत् सामान्य में जीवसमुदायको एक रूपसे देखो तो यहां भी एक जीव का विचार न कर सब जीवों के ख्याल से देखना चाहिये तब सारे संसार में जीव ठसाठस भरे हुए हैं, अतः चैतन्यभगवान सर्वव्यापक भी है। ऐसा प्रभु सहजसिद्ध है। वह तथा कर्मक्षयसिद्ध हम पर प्रसन्न हों। वस्तुतः प्रसन्न निज सहजसिद्ध भगवान ही हो सकता।

पूजक पूजा करने के पश्चात् लोकमंगल के लिए क्या अभ्यर्थना करता है इसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांश में—पूजक शान्ति के लिये आगे कहता है कि सब सुखों को देने वाला या सम्पूर्ण प्राणीमात्र को सुख देनेवाला जिनेन्द्र वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा प्रणीत अहिंसा धर्म निरन्तर प्रवर्धमान रहे कि जिससे मानसिक विकारों का जो कि शांति में बाधक ही नहीं, स्वयं अशांति रूप हैं, यथा सम्भव उन्मूलन हो जाय। अशांतिकी जड़ कट जाय, मानसिक शांति के लिये अपार्मिकता का हटना नितांत आवश्यक है। बाहर में सब सुख

सुविधायें हों कोई न कोई फितुर खड़ा ही रहेगा और फिर बाहिर कलह उपद्रव हो तो अशांति नहीं है। भीतर आत्मा में जो चंचलता आकुलता व्याकुलता होती है वही तो अशांति है। अशांति को हटाना कल्याण को चाहना इसका मतलब है कि मन के इन संकल्प विकल्पों को दूर किया जाय और इनका होना धर्म आने पर निर्भर है। धर्म आत्मा का स्वभाव है स्वभाव अस्तित्व तो कभी खतम नहीं होता फिर भी जब तक उसे पहिचाने नहीं, माने नहीं, उसमें रहें नहीं, तब तक धर्म नहीं आया कहलाता अतः कल्याण चाहने के लिये मूलतत्त्व है धर्म की प्राप्ति। बह आने पर बाह्य उपद्रव रोग मारी अतिवृत्ति अनावृत्ति दुर्भिक्ष आदि भी न आवेंगे क्योंकि ये सब अनिष्ट प्रसंग पाप के कारण से उपस्थित होते हैं। फिर भी पूजक कहता है कि ये बाह्य पदार्थ उपद्रव क्लेश करने वाले नहीं चाहने का भी मतलब अपना पुण्य जीवन बनाने का है। जगत का क्षेम चाहना स्वयं क्षेम रूप रहने का द्योतक है। हम दूसरों को सुखी देखना चाहते हैं यह निर्मलता उदात्त भावनाओं का रूप है। जिसका हृदय कुटिल है, कठोर पापी और स्वार्थी है उसको क्या गरज पड़ी दूसरे के सुख के चाह की। अतः हे भगवान मैं स्वयं तथा पंक्षी सभी प्राणी कल्याण के मार्ग में लगे रहें कल्याण मय हों, स्वयं तथा दूसरों के लिए कल्याणकर हों। किसी को किसी भी तरह का कष्ट न हों। रोग तथा और उपद्रव आवें ही नहीं। यदि आवें तो उन्हें समतापूर्वक सहन करने की हम में क्षमता हो जिससे कि हमारा कल्याण पद प्रशस्त बनता जाय और हम पूर्ण कल्याण रूप हों।

128 श्रावकशट्कर्म प्रवचन

इस पुस्तक में गृहस्थ के षट्कर्तव्योंपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। देवपूजा विषय के प्रसंग में एक स्थल पर देखिये देवका स्वरूप कितने संक्षेप में व्यावहारिकता के साथ बताया है, पृ० 15 देव का स्वरूप क्या है? वीतराग ता और सर्वात्ता। जो वीतराग नहीं अर्थात् रागी है, उसके कारण स्त्री, पुत्र सवारी शस्त्र आदिक रखने पड़ते हैं और अपने को देवरूपमें प्रकट करता वह हम रागियों से विलक्षण क्या हुआ? तथा जो सर्वज्ञ नहीं, अल्पज्ञ है, अपने ही कर्तव्य व होन हार को भी नहीं जान सकता है ?

जिसके कारण स्वयं जिसे अन्य प्राणियों से विपत्ति हरणकी प्रार्थना करनी पड़ती है वह हम रागियों से विलक्षण क्या हुआ? रागी द्वेषी अज्ञ प्राणियों की भक्ति से कल्याण नहीं होगा। भैया देवके स्वरूप के बारे में अति शुद्ध दृष्टि होना चाहिए। देव वही है जो शुद्ध पूर्ण विकासमय हो, सर्वदोषमुक्त हो। शुद्ध परमात्मदेव के भजन में यह मानवक्षण व्यतीत हो, अन्य परके विचार में स्वभावकी क्षति है। परमात्मा के विचार में निर्दोष स्वरूपका विकास होगा यही महान लाभ है। जन्म तो तभी सफल है जब जन्म मरण के छूटने का पद पा लिया जावे।

गुरुपास्तिके विषय के प्रवचन के प्रसंग में बताया है कि गुरु की उपासना क्यों करना चाहिए और कैसे करना चाहिए? पृ० 20-21 वास्तव में आत्माका गुरु आत्मा ही है। संसार के अन्य पदार्थों में जब उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो फिर उसका गुरु कौन हो सकता है? अतः हमें आत्मा की भी उपासना, उसकी भी श्रद्धा करना चाहिए, इससे इस आत्मा की मलिनता नहीं। हमारे अंतःकरण में बिराजमान उसकी भी श्रद्धा करना चाहिए, इससे इम आत्मा की मलिनता नहीं अंतःकरण में बिराजमान हैं। हमें उसकी पूजा करना चाहिए। और इसी निमित्त जिनकी दृष्टि सहजानन्दमय आत्मतत्त्वपर है, विषयकषायों से जिन्होंने मुख मोड़ लिया है, रत्नत्रय के जो धारक हैं, ऐसे गुरुवों की उपासना करना गुरुपासना है। उस गुरुपासनाका प्रकार क्या है, थोड़ा इस पर भी दृष्टिपात करें। इनको उपासनाका साधन जुटाना, जिससे वे अधिक से अधिक धर्मसाधना कर सकें, उनके ऐसे आहार का संविभाग करना जिस आहार के करने से उनके स्वाध्याय, आत्मचिन्तन आदि कार्यों में बाध न आये, ऐसे साधन जुटाना जिससे उनकी प्रसाद हो। हमें उनके निर्देशित या जिस पर वे स्वयं चल रहे उस पथका अनुसरण करना चाहिए तथा पूर्ण श्रद्धा, भक्ति और विश्वास से उनकी उचित मार्ग से उपासना करना चाहिए। आपकी ऐसी श्रद्धा भक्ति विश्वास दृढ़ता एवं ऐसा सुन्दर चरित्र देखकर उन्हें प्रसन्नताका अनुभव होगा यदि आपकी ओर दृष्टि करेंगे। तो उनके शरीर की सेवा सुश्रुषा परिचर्या वैयावृत्ति करना तथा अधिक समय तक इनके सम्पर्क में आना भी गुरुपासना ही है।

स्वाध्याय कर्तव्य के प्रवचन में एक स्थलपर बताया है कि हमें शास्त्रस्वाध्याय से क्या लक्ष्य सिद्ध कर लेना चाहिए। पृ० 90 हमें शास्त्र रूपी समुद्र से क्या निकालना है? चैतन्य रत्न। जैसे सारे समुद्र में डुबकी लगाते फिरो और लक्ष्यशून्य होने से वहां से कुछ भी हाथ न लेकर बाहर निकल आये तो वह केवल परिश्रम करनेवाला हो रहा। फल कुछ प्राप्त किया। समय व शक्तिका दूरुप्योग किया। इसी प्रकार समस्त शास्त्रों का अवगाहन करने पर भी लक्ष्यशून्य होकर कुछ भी हाथ नहीं आवेगा। क्षायोपशमिक व्यक्ति बुद्धि इस भवमें छूटेगी। शास्त्र से हमें चैतन्यरत्न निकाल लेना चाहिए। यह भी व्यवहार भाषा है। शास्त्र ज्ञान नहीं है। उसमें चैतन्यरत्न नहीं रखा। हम ज्ञानमय हैं, हममें चैतन्यरत्न है। इस चैतन्य को प्राप्त करने का ध्यान रखें। जिनवाणी गुरुवचन बांचकर, सुनकर भी इस चैतन्यमें पुण्य पापकी वृत्ति नहीं है। मात्र अशुद्ध अवस्था में पर की उपाधिका यह विकार प्रतिभास है। इससे कहीं चैतन्यका स्वरूप अभाव है। रागद्वेष वृत्ति व अपूर्ण विकास का भी स्वभाव नहीं है। पूर्ण विकास में भी यह विकास रूप नहीं, किन्तु ध्रुव स्वलक्षणात्मक है।

संयम कर्तव्य के प्रवचन के प्रसंग के गर्भ का उद्घोषण किया है पढ़िये एक प्रवचनांश में, पृ० 74 संयम वह है जिससे आत्मस्वभाव का विकास बने। सच पूछो तो संयम वहां से प्रारम्भ होता है जबकि असत्य और कटुक व नका त्याग कर दिया जावे। आत्मबल प्रकट करने का वही अधिकारी है जिसका व्यवहार सत्य बनें। करे कुछ, सोचे कुछ वेष व्रत का ही, मन में परिग्रह हो तो वहां संयम का उदय नहीं हो सकता। देखो जैसे आदमी कांच के द्वारा सूर्य की किरणों को केन्द्रित कर देने पर वहां शक्ति आती है कि नीचे रखा पदार्थ भष्म होने लगे, इसी प्रकार अपने उपयोग को केन्द्रित करले अर्थात् सत्य संयमा बना ले उसमें वह शक्ति आ जाती है कि ये सब बिकल्प ईन्धन और कर्म ईन्धन भष्म हो जाता है और संयम ही जिन्हें प्यारा है उन पवित्र आत्माओं की कौन प्रशंसा कर सकता है? वह अपने सत्य सुखको पाने में सफल हो रहा है। संयम का आदर कर जीवन सफल करलो। सत्य वचन बोलकर संयम की नींव बना लो। सत्यव्यवहार करके संयम के पथपर अडिग चलने की शक्ति बनालो।

तज इच्छ निरोध को कहते हैं, इसकी मौलिक भूमिका देखिये एक प्रवचनांश में पृ० 80 ध्रुव चैतन्यस्वभाव आत्मा के जाने बिना उसके चिदानन्दरूपको पहिचाने बिना बाह्यपदार्थों में उपेक्षा रहता है। उसमें आकुलता और अशांति रहती है। अहिंसा आत्मा को उस उपयोग की अस्थिरता से बचाता है। अहिंसा अपने उपर दया करती है। अपने उपर दया करना आत्मा के कल्याण की साधना करना सबसे बड़ा ज्ञान है। धर्म मार्ग में अनेक लौकिक बाधाएँ आती हैं। उनकी ओर ध्यान न देकर निजस्वभावमें तपना सो तप है। हमारा देशमें स्थान नहीं, जाति में स्थान नहीं, प्रजा में स्थान नहीं, धनी होने का कोई उपाय नहीं, ऐसे विचार ऐसी कल्पनायें मन में न आने देना चाहिए।

दान के प्रकरण के प्रवचन में विस्तृत प्रवचन करने के पश्चात् ज्ञानदानकी पहत का संकेत कितने संक्षिप्त शब्दों में मिल रहा है, पढिये एक प्रवचनांश में पृ० 114 आत्माका भ्रम मिटे और स्वरूपकी पहिचान हो, ऐसा उपदेश देना सबसे महान दान है। जो वचन सदाका क्लेश मिटा दे उससे बढ़कर अन्य क्या हो सकता है? वीतराग महर्षियों ने अपने वचनों को ग्रन्थों में साकार बना दिया। इससे देखो आज कितना महोपकार हो रहा है। यदि महर्षियों के वचन हमें आज मैं मिलते तो धर्म मार्ग भी हमें न मिलता और ऐसी अवस्थाएँ मनुष्य होने का मतलब ही क्या रहता? फिर ता पशु और नरक में अन्तर ही न रहता।

129—130 समयसार प्रवचन प्रथम व द्वितीय भाग

समयसार ग्रन्थपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के जो प्रवचन हुए थे उनमें से की उमंग मिलती है। कारण समयसार की एक झलक 16 वें अनुच्छेद में देखिये अपने में सार तत्वके अवलोकन का कर्तव्य हमें प्रत्येक आत्मा में सार नहीं देखता है किन्तु स्वयं की आत्मा में सार देखना है और उसी से अनुमान कर लेना है कि जो सार मेरी आत्मा में है वही प्रत्येक आत्मा में है। जब तक हमें स्वात्माका ज्ञान नहीं होगा तब तक हम अन्य की आत्मा का परिज्ञान नहीं कर सकते। इसलिए हमें पहले अपनी आत्मा का सार देख लेना चाहिये और वह सामान्य विशष के द्वारा निर्णय करके उर्ध्वता सामान्य से देखें। जब हम उर्ध्वता विशेष की दृष्टि से देखेंगे

तो यह हमारी गड़बड़ियों को बतायेगा किन्तु सामान्य दृष्टि से जब हम आम्ता को देखते हैं तो हमें एक सामान्य भाव दिखता है वह है ज्ञायक भाव। णबिहोदि अप्पमतो जाणओ दजो भावो। एवं भणंति सुद्धं णओ जो सोउ सो चेव। इस गाथा के अनुसार आप जल्दी समझेगें जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है और न प्रमत्त ही है इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायक भाव से जान लिया वह वही है अन्य कोई नहीं। आज हम जितने भी व्यवहार देख हैं वे सभी व्यवहार पर्याय का पर्याय के साथ हैं। द्रव्य का व्यवहार द्रव्य से चलता है। अपना निजो सृष्टिकर्ता की उपासना करके उसे प्रसन्न करना चाहिये जिसके आगे भवसृष्टि न हो किन्तु शिवसृष्टि हो। यहां प्रसन्न का अर्थ है निर्मल। यह अर्थ व्याकरण के अनुसार है। अतः हमें अपनी आत्मा को निर्मल बनाना चाहिये जिसमें हमें आगे शिवसृष्टि ही मिले।

विभावों की अटक की मूल विघ्न बताया है पढ़िये 161 वें अनुच्छेद में—विभाव को अटक सब अटकों की मूल—बाह्य अर्थ की अटक से भो वज्ञान के द्वारा निकलता तो मोह में उपयोग रमा लेता, संकल्प में कटिबद्ध हो जाता, रागद्वेष भावों में अटक जाता। इनसे भी हटता तो विज्ञान में अटक जाता है। स्वरूप परिचय होने पर इन सब अटकों से छूट परमानन्द निधान निजज्ञायक स्वरूपमें विश्राम करता है। यही सहज आनन्दका अमोघ उपाय है। अभी प्राणी रागद्वेष रूपी विलायत में हैं इसलिये किसी सद्गुरुका उपदेश मिलेगा तभी इस विलायत से छुटकारा पाकर अपने आत्मा रूपी घर में बैठने का उत्साह कर सकेगा, व तभी विश्राम प्राप्त कर सकेगा, तभी कल्याण होगा, अन्यथा कुछ भला होने का नहीं हैं। और आप भी विचार लो धन जुड़ गया तो आपकी आत्माको क्या शांति मिल जावेगी? भैया! शान्तिमय तो आपका स्वभाव ही है, स्वभाव का अज्ञान मिटावों, अशान्ति तो रह नहीं सकता। जो चीज जैसी है उसे वैसी जान जाओ, बस इतना ही सुख के सवलगाव के लिये रोजगार करता है। अन्य विकल्प रूप टोटेका रोजगार क्या करते हो? मैं ज्ञायक स्वरूप एक हूं, ध्रुव हूं इसी स्वरूपकी दृष्टि केवल ज्ञानका कारण बनेगी।

भूतार्थसरणी का एक संकेत 523 वें अनुच्छेद में पढ़िये –अभेद की ओर ढलना ही भूतार्थ सरणी है—जितने भी स्कन्ध हैं वे अभेद वस्तु नहीं हैं, अभेद अनेक वस्तुओं के पिण्ड हैं। उनमें पहिले तो भेद करके भिन्न भिन्न एक वस्तु को देखना, फिर अभेद वस्तु का उपयोग करना। इतने पर भी शुद्ध अभेद न आवे तो उसमें भी जो गुण पर्यायभेद व गुणभेद हैं उन सबको गौण करके एक अभेद स्वभावकी ओर ढलना। इसी प्रकार जो आत्मा भी आज किसी गति इन्द्रियादि दशामें हैं व परिवार मित्र आदि के स्नेह आदिकी अवस्थामें हैं उस आत्माको अन्य अन्य आत्माओं से व देहादि से भिन्न ग्रहण करना। इतने पर भी शुद्ध अभेद न आवे तो एक उस आत्मा में या निज आत्मा में गुणपर्यायभेद हैं व गुणभेद है उन सबको गौण करके एक अभेद स्वभावकी ओर ढलना। मैं सहज चैतन्यस्वरूप हूं, एक चित्स्वभावमात्र हूं इस प्रकार पर्यायभेद व गुणभेद से परे चैतन्यशक्तिमात्र अपने आपकी ओर ढलना सो भूतार्थसरणी है। कल द्रव्य क्षेत्र कालादि की अपेक्षा आत्मा के सहज शुद्ध स्वभावका वर्णन किया था। उस त्रिकालवर्ती सहज शुद्ध स्वभावकी दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। वह स्वानुभव क्या है? यह कहा नहीं जा सकता है। गुण प्रथक् प्रथक् नहीं है, समझने के लिये उनमें भेद कर लिये जाते हैं। जिज्ञासु की जिज्ञासा के अनुरूप जिस तरह वह समझ सकें, समझा दिया जाता है। आत्मा तो एक अखण्ड द्रव्य है। उसके कुछ टुकड़े मत समझना, यह स्वभावकी दृष्टि इतनीसरल और सहज है कि उसे पाने को किसी भी पराश्रय की आवश्यकता नहीं है।

लोकोत्तर आनन्द के लिये लोकोत्तर तत्वकी धारणा अवधारित कीजिये 810 वें अनुच्छेद में खेद न हो आत्मा में, क्लेश न जगें, चिन्ता और व्याकुलता न उठे, इसका और वास्तविक उपाय क्या है? जो इच्छा हुई उसके अनुसार साधनों में जुट गए। लाख करोड़ सम्पदाकी इच्छा है, उसका जोड़ लिया, इतने पर भी शान्ति तो नहीं मिल सकती, क्योंकि शान्ति का कारण बाह्य पदार्थ नहीं है। बाह्य पदार्थों से शान्ति निकलकर मेरे आत्मा में नहीं आती है। शान्ति का उपाय ही कुछ दूसरा है, कर रहे कुछ दूसरा उपाय। शान्ति कैसे मिले? शान्ति का उपाय एकत्वविभक्त अन्वतत्वका दर्शन करना है। मैं

अपने स्वरूपसे हूं, अखण्ड हूं जिस प्रकार ज्ञानानन्दस्वरूपसे रचा हुआ हूं बही हूं, अवक्तव्य हूं, उसका वर्णन न किया जा सकेगा। वर्णन करने के लिये कोई तैयार होगा तो भेद करके, अंश करके उसका वर्णन कर पायगा। मैं सबसे निराला केवल अपने चित्स्वरूपमात्र हूं, निराला हूं, निराला हूं। यह तो विभक्तपना है, स्वरूपमात्र हूं यह एकत्वपना है ऐसे एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्वका दर्शन ही शरण है, मंगल है लोकोत्तम है, अन्य कुछ मेरे लिए हितरूप नहीं है, ऐसी दृढतम श्रद्धा को तो निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं, दूसरी बात कोई कितना ही समझाये, बाहरी घटनाओं के चमत्कार कितने ही देखने को मिलें, फिर भी वह ज्ञानी आत्मा सत्य श्रद्धा से विचलित न होगा। मैं यह हूं। शान्ति का मार्ग यही है। उसका निजी स्थान यहीं है। मेरा मेरे से बाहर कुछ नहीं है। ऐसा जो निर्णय कर लेता है वह पुरुष शान्त होता है। उसमें हिम्मत भी इतनी होती है कि ऐसी भी आपतियां आयें कि सब कुछ वैभव भी नष्ट हो जाय लेकिन वहां भी वह अपना कुछ भी बिगाड़ नहीं मानता। वह तो उस समय भी यही विचारता है कि मैं तो वही का वही शुद्ध ज्ञान मात्र हूं, मेरे में तो कुछ भी बिगाड़ नहीं हुआ।

द्रव्येन्द्रियों पर विजय करके भावेन्द्रियों पर विजय कैसे प्राप्त होती है इसका मनन कीजिये 821 वें अनुच्छेद में आवेन्द्रियों पर विजय—दूसरी करना है हमें बुद्धिपर विजय, भावेन्द्रियोंपर विजय। तो उसके सम्बन्ध में विचारें कि हम जो भीतर में किसी विषयको भोगन की बुद्धि बनाते हैं तो उस समय हमारा ज्ञान खण्डित हो गया। खण्डित के मायने यह है कि ज्ञान तो मेरा ऐसा निर्मल अखण्ड परिपूर्ण ज्ञान है। अथवा स्वभाव को देखो तो मेरा ज्ञान अखण्ड है। लेकिन इस समय यदि मीठे रसमें बुद्धि चल रही है, तो हम किसी और विषय पर पहुंच जायेंगे। फिर टंडा पानी रूचिकर हो रहा यह विषय लग गया। तो जिस समय जिस विषय में हमारा ज्ञान लगता है उस विषय को जान सकता हूं। उस परिपूर्ण विशाल स्वभाव के समक्ष यह ज्ञान कितना सा है? बहुत छोटा ना, खण्डित हो गया। जो जान विशाल था वह एक अंश में रह गया। मेरा खण्डज्ञान करना स्वभाव नहीं, मैं अखण्ड स्वभावी हूं। जब यह समझें कि मैं इन विषय रूप

नहीं हूँ, विषयों में जो बुद्धि लगता है उस रूप में नहीं हूँ, मैं अखण्ड ज्ञानस्वभावरूप हूँ, तब उनमें चित तो न अटकेगा। ये दो पक्ष बताये गये। द्रव्येन्द्रियपर विजय तो इस तरह है कि मैं द्रव्येन्द्रिय नहीं हूँ, इनपर मेरा अधिकार नहीं है, इनमें मैं क्या करूँ, ये मेरे किस काम के? भावेन्द्रिय पर विजय किस तरह कि यह जो बुद्धि लगती है विषयों में खाने—पीने में, अन्य आरामों में, तो यह ज्ञान खण्ड खण्ड हो गया। मेरा ज्ञान प्रभु की तरह व्यापक स्वभाव वाला है लेकिन एक टुकड़े में अटक गया तो यह खण्ड ज्ञान करना मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप अखण्ड है, जब ऐसे स्वरूपको जाना तो इस बुद्धि में फिर अटक नहीं रहती। इससे मेरा प्रयोजन नहीं बल्कि ये बरबादी के कारण हैं।

ज्ञानस्वभावकी निश्चयता मनन करें 865 वें अनुच्छेद में ज्ञानस्वभावको टकोत्कीर्ण निश्चयलता जैसे टांके से उकेरी गई प्रतिमा निश्चल है, जो अंग बन गया उसे टससे मत नहीं कर सकते, वह जरा भी चलायमान नहीं हो सकती, इसी प्रकार यह पामात्मा जिसे क्षीण मोह बनकर प्राप्त किया है, वह भी निश्चल हो गया है। अन्यच्च—वह परमात्मा जिसे प्राप्त किया है वह जीव के अन्दर शुरू से ही है। जैसे कोई बड़ा पहाड़ है, उनमें से यदि कोई मूर्ति निकाली जायें, वह उसमें अब भी मौजूद है। वह स्पष्ट इसलिए नहीं दिखाई दे रही हैं कि वह अगल बगल के पत्थरों से ढकी हुई है। कारीगर मूर्ति नहीं बनाता बल्कि वह मूर्ति के ढकने वाले पत्थरों को निकाल देता है तो मूर्ति स्पष्ट दिखाई देने लगती है। इसी प्रकार पामात्मा पदको कोई नहीं बनाता, परमात्मास्वरूप पहले से ही था आत्मा के बीच में आये हुए राग द्वेष को दूर कर दो, परमात्म पद प्रकट हो ही जायेगा। इसका उपाय भाव्यभावक भावका अभाव है। अतः भाव्य भावक को नष्ट करो। पहले दर्शन मोह का भाव्य भावक नष्ट हुआ फिर ज्ञेयज्ञायकसंकर नष्ट हुआ। तदनन्तर चारित्रमोह का भाव्यभावक नष्ट हुआ। इस विधान से आत्मा सर्वत्र और आनन्दमय हो जाता है देह और इन्द्रियों से ज्ञान और आनन्द नहीं होता है, परन्तु ज्ञान और आनन्द ज्ञान और आनन्द से ही होता। आनन्द ज्ञान तो आत्मा के धर्म

हैं, क्योंकि वे द्रव्योपजीवी है। जो शुरूसे आखिर तक द्रव्य में तन्मय रहे, उसे द्रव्योपजीवी कहते हैं।

130—133 समयसारप्रवचन 3, 4, 5 भाग

इन तीन भागों में समयसारकी 39 वीं गाथा से 144 वीं गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। इन जीवाजीवाधिकार की प्रथम 4 गाथाओं में कई प्रकार के आत्माओं को आत्मा मानने की मूढ़ता दिखाई गई है, वे सब आत्मा क्यों नहीं हैं, इसका समाधान देने वाली 44 वीं गाथा का एक प्रवचनांश देखिये— ये समस्त भाव पुद्मलद्रव्य के परिणाम से निष्पन्न हैं ऐसा केवली जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया है। अतः वे जीव है ऐसा कैसे कहा जा सकता है? कोई कहते हैं कि जो हममें रागद्वेष उठ रहे हैं, वही जीव हैं। यदि रागद्वेषदिकी जीव ने माना तो रागदि से छुटकारा मिल सकता है। जहां रागद्वेष मैं हूं, वहां मैं को कैसे मिटाया जा सकता है, इस प्रकार बन्धन नहीं छूटता है। इन परभावों में कुछ तो चीजें ऐसी हैं, जो पुद्गल के निमित्त से हुई हैं और कुछ ऐसी हैं कि जो पुद्गलल द्रव्यका परिणमन है। अज्ञानी इन दोनों को जीव मानता है। पुद्गल द्रव्य के निमित्तसे रागद्वेष, साता असाता, शुभाशुभ भाव होते हैं, ये पुद्गल द्रव्य के निमित्त से हुए परिणमन हैं। पुद्गल द्रव्य के निमित्त से हुए वे भी जीव नहीं हैं, जो पुद्गल द्रव्य के परिणमन हैं, वे भी जीव नहीं है, सबसे पहिले यह श्रद्धा करनी है कि शरीर मैं नहीं हूं। यह बात जल्दी से सीखी जा सकती है, क्योंकि औरों के शरीर जलाते प्रतिदिन देखे जाते हैं। बहुत से लोगों को यह अनुभव होता है कि जेसी हमारी बुद्धि होती है वैसी किसी की है ही नहीं, जेसा हमारा पुण्य है वैसा किसी का है ही नहीं। मरने वाले तो और कोई होंगें। मैं सदा जिन्दा रहूंगा, परन्तु यह सब अज्ञानी की कल्पना है। भिखारी भी यही मानते हैं कि जैसी हममें चतुराई है वैसी किसी में है ही नहीं, जीवको अपने अपने बारे में ऐसी श्रद्धायें जीम हुई हैं। सम्भव है कि जिनमें आज बुद्धि नहीं है वे इसी पर्याय में या किसी अन्य पर्याय में हम से अधिक ज्ञानी बन सकते हैं। राग में कोई सफल नहीं होता है, परन्तु वह मानता है कि मैं रागमें सफल हो गया।

आत्महित के लिए आलंबन करके म सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं वह चीज जीव में अनादि से ही है। जीव को जब उस अनादि अनन्त ज्ञान होता है तभी सम्यक्त्व होता है। उसका आलम्बन लिया समझो, सम्यक्त्व पैदा हो गया। उस अनादि अनन्त चैतन्य स्वभाव के आलम्बन न लेने से सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न होता है। वह अपने अन्दर अनादिकाल से मौजूद है और सदा तक बना रहेगा। जिसके आलम्बन से सम्यक्त्व जगता है, उसे कारणसमयसार कहते हैं। उसका आलम्बन लो या न लो, फिर भी वह चीज अनादिकालसे अपने अन्दर है, और सदा तक बनी रहेगी। जिस तरह पत्थरों में से जो मूर्ति निकालनी है वह उसमें पहिले से ही विद्यमान है। पत्थर में जो परमाणु स्कंध मूर्ति को ढके हुए हैं, चारों ओर लग हैं उस मूर्ति को ज्यों की त्यों निकालने के लिए उस पत्थरों का हटाना पड़ता है। जो मूर्ति उस पत्थर से प्रकट होगी, वह उसमें पहले से ही विद्यमान है। इसी तरह वह स्वभाव जो कि प्रकट होन पर भगवान कहलाता है, आत्मा में पहले से ही विद्यमान है, किन्तु उसके आबरक रागद्वेष आदि भाव है उन्हें हटा देने पर स्वयं प्रकट हो जाता है। स्वभाव के समान पर्याय का होना सिद्ध अवस्था है। स्वभाव से विषम अवस्थाओं का होना संसार अवस्था है। हम चैतन्यस्वभा का अवलम्बन लें, तभी हम शुद्ध बन सकते हैं। चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से ही सम्यक्त्व जागृत होता है, सत्संग, पूजा, भक्ति, ध्यान ये विकल्प साक्षात् धर्म नहीं है। जिसके आलम्बन से धर्म होता है, सम्यक्त्व जगता है, वह हमारो में पहले से ही स्वभाव में है। चैतन्यस्वभाव ही जीव है, इस बात को लेकर, रागादिक जीव है, इस बात का खण्डन किया गया है।

उपयोग नाट्यभूमिपर ज्ञानपात्र के आते ही दर्शको को आनन्द होता व मोह अन्यायी का विलय होता। इस अलंकार में अपना आन्तरिक चित्रण कीजिये 48 वीं गाथा के भूमिकायम प्रवचनांश में ज्ञानपात्र के आते ही आततायी मोह के हौसले खतम हो जाते हैं—वह ज्ञान नाट्यभूमिपर उपस्थित हुआ तो आते ही उसने उपसर्गों के बन्धन ढोले कर दिये, केवल विश्वास ही नहीं दिल या, अपितु उस मंचपर रहने वाले आततायियों के भी हौसने बिगड़ गये और दर्शकों को भी प्रसन्नता हुई। जिस प्रकार से अन्याय की दूर करने वाला पात्र

स्टेजपर उपस्थित होता है तो आततायियों के हौसले हो जाते हैं। उसी प्रकार जब यह ज्ञान नाट्यभूमिपर उपस्थित होता तो आनादि काल से बंधे हुए इन कर्मों के तो हौसले बिगड़े और दर्शक अपने लोगों को आनन्द आयगा। जीव के विवके की पुष्कल दृष्टि के द्वारा सभासदों को विश्वास दिलाता हुआ ज्ञान प्रकट हुआ तब स्टेंज की शोभा बढ़ी, आततायियों के हौसले बिगड़े और स्टेजपर चमत्कार सा भी छा गया। इसी प्रकार यह मोह आत्मा पर अन्याय करता आ रहा था, और भी बड़े उपद्रव हो रहे थे, इस पर मोह बड़ा भारी अन्याय कर रहा था, ऐसी स्थिति में जब स्टेजपर ज्ञान आया, कुछ विशुद्धता जचजे लगी, दर्शकों को कुछ शान्ति मिली, दर्शकों को आनन्द आया और बन्धन के हौसले बिगड़े।

सम्यग्दृष्टि जीनके निज अन्तस्तत्वकी प्रतीति सतत रहती है, चाहे वह किसी पर पदार्थ में उपयोग दे रहा है, इस तथ्य को देखिये—पृ० ८ जिस प्रकार जिस समय आत्मा अपने विषय में उपयोग करता है उस समय आत्माका आत्मज्ञान कहलाने लगता है। और आत्मा प्रेय हो जाता है वहां पर भी वह स्वको जानता, पर में उपयोग हो तब भी वह स्वकी प्रतीति से च्युत नहीं होता। प्रेय वहां पर वही खुद होता है। जैसे देहातों में बच्चे खेलने चले जाते हैं, रात होने पर घर आना ही पड़ता है, जब वे खेल में थे तब भी उनकी प्रतीति थी कि हमारा घर यहां नहीं है परन्तु उपयोग खेलने में था। यदि उनकी प्रतीति ही नष्ट हो जाती तो उनको घर की याद आनी न चाहिए थी। यही बात सम्यग्दृष्टि के है, प्रतीति बनी रहती है और उनका उपयोग अन्यत्र रह रहा है। सम्यग्दृष्टि के राग होता रहता है, परन्तु प्रतीति ऐसी हैं कि हमारा रा नहीं है।

68 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में पढ़िये एक हितकारी संदेश—धर्मका फल तो निराकुलता, शान्ति व मुक्ति है। पुण्य का फल ऐहिक सुख है। पाप का फल दुःख है। इनमें से ऐहिक सुख व दुख दोनों आकुलता से परिपूर्ण हैं। इनका निमित्तभूत पाप व कर्म भी पौद्गलिक, अज्ञानमय परपदार्थ है। पुण्य, पाप कर्म का निमित्तभूत पुण्यभाव व पापभाव दोनों परश्रयज भाव है। केवल धर्मभाव ही स्वाश्रयज है। स्व के पड़ोस में, समीप में रहने वाले कौन कौन परभाव

हैं, उनका इस अजीवाधिकार में संकेत करके उनका विषेध किया है। उनपर भावों के आश्रय से धर्मभाव नहीं हो सकता। धर्मभाव के बिना आत्मा की सिद्धि समृद्धि नहीं हो सकती है। अतः इन सब परभावों की दृष्टि त्याग करके एक अखण्ड, सनातनं शाश्वत ध्रुव परमपारिणामिकभावमय ध्रुव चैतन्य स्वभावी स्वका अनुभव करो।

कर्तृकर्माधिकार में क्या कहा जायगा इसकी झलक लीजिये—जीव और अजीव इन दोनों का अनादि से सम्बन्ध चला आ रहा है। जीव की विविध दशायें बन रहा हैं अजीव का संसर्ग पाकर। इस पर भी जीव का अजीव कुछ नहीं कर रहा और अजीवका जीव कुछ नहीं कर रहा। जो अपना परम में कर्तृत्वं मानते हैं वे संयोग दृष्टिवाले मिथ्यावाले मिथ्याबुद्धि हैं और जो स्वको परका कर्ता नहीं मानते वे सम्यक्बुद्धि वाले हैं। नाटक चल रहा है। कर्ता कर्म जीव अजीव ऐसा मोह लिए चले आ रहे थे। अनादि काल से दोनों की अवस्थायें चली आ रही हैं। ज्ञानी जीव इन दोनों में भेद करता है जब कि अज्ञानी यह मानता है कि क्रोध आदि मेरे करने के काम हैं। कर्म भी मेरे नहीं, क्रोधदिक भी मेरे कार्य नहीं। मैं तो एक ज्ञानस्वभावमात्र हूं। कार्यकारण से रहित हूं। न मैं किसी के द्वारा किया जाता हूं, न किसी का करता हूं। ज्ञानी तो इस तरह चैतन्यभावकी दृष्टि लाता है। तो यह कर्ता कर्म की संतान चली आ रही थी वह समाप्त हो जाती है।।

आत्मा क्रोधादिक भावों में क्यों लग रहा हैं, उसकी स्पिरिट क्या बन रही है, इसका दिग्दर्शन करें—जैसे कि यह आत्मा अथवा ज्ञानी आत्मा तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध वाले आत्मा और ज्ञानमें अविशेष होने से भेद नहीं देखता हुआ निःशंक होकर आत्मारूपसे ज्ञान में वर्तता है और ज्ञान में वर्तता है और ज्ञान में आत्मरूपसे बर्तता हुआ वह जानता ही है, क्योंकि जानना तो स्वभावभूत किया है, उसका तो प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। देखो—ज्ञान और आत्माका तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है अर्थात् आत्मा व ज्ञान भिन्न भिन्न अर्थ नहीं और जब से यह सत् पदार्थ है तभी से ज्ञान है अथवा ज्ञान व आत्मा भेद वस्तुत्व समझने के लिए गुण गुणों भेद करके बताया गया है। अब एक बात देखो अपने एकत्व को भावना से ज्ञानी तो जाननरूप

वर्तता ही है। यह तो सत्यपद्धति है। परन्तु अज्ञानी की बात तो देखो—वह संयागसिद्ध सम्बन्ध वाले आत्मा व क्रोधादिक आस्रव में स्वयं अज्ञान से विशेष को न जानता हुआ जब व जब तक भेद नहीं देखता है तब व तब तक निःशंक होता हुआ क्रधादिक में आत्मरूपसे वर्तता है और उन क्रोधादिक आस्रवों में आत्मरूपसे वर्तता हुआ यह अज्ञानी जीव, यद्यपि वे क्रोधादिक आस्रव परभावभूत होने से प्रतिषिद्ध हैं तथापि स्वभावभूतपने का अभ्यास होने से, क्रोध करता है, राग करता है, मोह करता है। इस प्रकार अज्ञानी संसारपरम्परा बढ़ाता है।

वैराग्य का मूल तत्त्वज्ञान है, इसकी एक नये तुले अतिसंक्षिप्त शब्दों में परख करें मैं शुद्ध चेतनामत्र वस्तु हूं। रागादिक को निमित्त पाकर मोहादिक रूप परिणमन कर रहा है। मैं ध्रुव हूं, रागादिक अध्रुव हैं, रागादि आकुलता के साधन हैं, मैं अनाकुल स्वभाव हूं। जो ज्ञान का होना है वह रागादिक का होना नहीं है और जो रागादिक का होना है और न राग से होता है। तत्त्वज्ञान ही वैराग्य का मूल है। मोही क्यों दुःखी है? मोहियों का असल में पर्याय से राग है।

आत्मा की लगन ही एक मात्र शकुन है लोक में, बाकी तो इसके सूचक होने से शकुन कहलाने लगे। देखिये—शकुन शास्त्र में बताया है—अगर मुद्रा मिले तो शकुन है। जिसमें वैराग्य बढ़े, तत्त्व की बात मिले वही तो शकुन होता है। भरा घड़ा शकुन माना है। मिट्टी और पानी संयोग, किन्तु शकुन कैसा? जिस तरह बर्तन में पानी समरस छलकता हुआ निर्मल भरा है उसी तरह आत्मा में समता भरी है तो इस विचार का उदाहरण हुआ तो लो घट शकुन हो गया। गांय को चूसता हुआ बछड़ा मिल जावे तो शकुन कहा है, इतना शकुन कि मान लिया रास्ते में व्यापार को जाते मिल जावे तो लक्ष्मी का लाभ होवे। तो धर्म में पग—पग पर बताया है—धर्मो सो गोबच्छ प्रीति सम, गो बछड़े से कुछ मांगती नहीं है, किन्तु वह स्वभाव से प्रेम करती, चाटती चूमती है। उसी तरह लौकिक कार्यों की आशा न करके धर्मात्मा पुरुषों की सेवा सुश्रुषा विनय आदर सत्कार करना चाहिए। यह अन्तरंग धर्म की बातों को लौकिक क्रियाओं पर घटित कर लिया, जिससे बाहरी बातें सगुन बनीं। उसमें अनपे को सर्वांग लगा देवे तो यही उपाय भवजाल से छूटने का सच्चा सार बन जावे। तभी जीवन

में अन्य कार्यों की सफलता है। यदि इन सगुनों का देखकर तत्त्वज्ञान व वैराग्य की दृष्टि हो तब तो सगुन है, अन्यथा कुछ नहीं।

ज्ञानी की स्वशुद्धत्वभावना की पद्धति देखें -पृ० 55-56 मैं एक हूँ, शुद्ध के सम्बन्ध में बताया है कि वह केवल आत्मस्वरूपके सम्बन्ध में भावना करता है मैं ममतारहित हूँ, देह से, रागसे, मोह से,लाभ से रहित हूँ। शरीर भी मेरा नहीं है इत्यादि बातें बहुत आई, किन्तु यहां उन सबको भी दूर कर रहा हूँ, क्योंकि इन भावनाओं का स्वामी भी मैं नहीं हूँ। मेरे में जो तरंग उठ रही है, वह भी मैं नहीं हूँ। मैं चाहूँ कि ये रागद्वेष जा रहे हैं, एक समय तो रागद्वेषको रोक लूँ, ह भी नहीं जिसका स्वामी पुद्गलकर्म है ऐसे काधादिक क्या आत्मा के हो सकत हैं? यह कर्म प्रकृति के होने पर होते हैं और नहीं होने पर नहीं होते हैं तो पुद्गल स्वामी कहलाया तथा जीव के होने पर क्रोधादिक हों और जीव के न होने पर नहीं हों तो जीव को स्वामी समझें। सो जीव तो हमेशा रहता है, किन्तु राग कहां रह पाते, इसी कारण रागादिक का स्वामी आत्मा नहीं रह सकता। क्रोधादिक पौद्गलिक हैं, मैं उन रूप कैसे हो सकता हूँ? राग का स्वामी मैं नहीं हूँ।।

रागद्वेष भाव आश्रय हैं, दुःखरूप हैं, ज्ञानी

इनसे दूर हो जाता है। किस विधि से दूर होता है सो देखिये—यहां ज्ञानों किस विधि से आस्रवा से हटे जाता है यह दिखाया जा रहा है। यह मैं आत्मा प्रत्यक्ष, अखण्ड, अनन्त चिन्मात्र ज्योति हूँ, अनाद्यनन्त नित्य विज्ञानधन स्वभाव होने से एक हूँ, मैं स्वकीय चैतन्यात्मक हूँ। यह मैं आत्मा समस्त कारकसमूह की प्रकिया से उर्तीण हूँ, निर्मल अनुभूति मात्र होने से शुद्ध हूँ। मुझ में कुछ भी द्वन्द्व नहीं है यह मैं आत्मा क्रोधादि विश्वरूपता के स्वामी रूपसे कभी परिणमन हो नहीं सकता हूँ, क्योंकि क्रोधादि विभावों का स्वामी पुद्गल है। जब क्रोध का स्वामी मैं हूँ ही नहीं तब मैं निष्क्रोध हूँ, जब मान का स्वामी मैं हूँ हीन हीं तब मैं निर्माण हूँ जब मैं ममताका ही नहीं तब मैं निर्माय हूँ, जब मैं लोभ का स्वामी हूँ हो नहीं तब मैं निर्लोभ हूँ। जब मैं ममताका हही नहीं तब मैं निष्क्रोध हूँ जब मानका स्वामी मैं हूँ हीन हीं तब मैं

निर्माण हूँ जब मैं माया का स्वामी हूँ ही नहीं तब मैं निर्माय हूँ, जब मैं लोभ का स्वामी हूँ ही नहीं तब मैं निर्लोभा हूँ। जब मैं ममताका स्वामी हूँ नहीं हूँ, अतः निर्ममत्व हूँ। अथवा जब क्रोधदिवेश्वररूपका मैं स्वामी ही नहीं तब ये सब विभाव मेरे नहीं है, अतः निर्ममत्व हूँ याने निममत्व हूँ। फिर हूँ कैसा? मैं चैतन्यमात्र तेज हूँ और चैतन्यमात्र तेज वस्तुस्वभाव से ही सामान्यविशेषणात्मक है, जो उसकी सामान्यात्मकता है वह दर्शन है, जो उसकी विशेषात्मकता है वह ज्ञान है। अतः दर्शन ज्ञानात्मक हूँ अथवा दर्शनज्ञान समग्र हूँ याने दर्शन ज्ञान ही है समग्र सवस्व जिसका ऐसा मैं हूँ। सो कहने की बात नहीं, आकाशदि को तरह एक पारमार्थिक वस्तु विशेष है। तब लो, अब मैं इस समय इस ही आत्मा में समस्त परद्रव्यों की प्रवृत्ति द्वारा निश्चल ठहरता हुआ, समस्त परद्रव्यों के निमित्त से होने वाली विशेष चेतन की चंचल तरंगों के निरोध से इस ही मुझको चेतता हुआ, अपने अज्ञान से अपने में ठहरने वाले इन सारे विभावों को मैं दूर करता हूँ, क्षपित करता हूँ। इस प्रकार आत्मा में निश्चय करके यह ज्ञानी आत्मा तुरन्त ही समस्त विकल्पों का वमन करके अकल्पित, अचलित अपने आपका आलम्बन करता हुआ, विज्ञानधन, रसात्मक होता हुआ आस्रवों से निबृत्त हो जाता है।

परस्पर प्रशंसा करते रहने की बेवकूफी का चित्रण देखें—कथानक है, परस्पर प्रशंसन्ति, अहो रूप अहो ध्वनिः। एक दूसरे की प्रशंसा करते हैं कि तुम्हारा रूप अच्छा है तो तुम्हारी ध्वनि अच्छा है। उंट का विवाह हो रहा था। गधों को गीत गाने को बुलाया गया। गधे कहते उंट से आपका रूप बड़ा ही सुहावना है, तथा गधों की चिल्लियों को सुनकर उंट कहता आपका पंचम स्वर किसे मोहित नहीं कर लेता है, इसी तरह हम मोही जीव उंटकी, गधों की तरह इन मोहक मनुष्यों की पदार्थों की दिल खोलकर प्रशंसा करते हैं तथा एक दूसरे अपने को कृतार्थ मान लेते हैं।

जीव और कर्म दोनों के परिणामन का स्वातंत्र्य देखिये—मनुष्य कहते हैं, हे जिनेन्द्र भगवान, आपने कर्म कलकं को काट डाला है, उनके बन्धनों को हटा दिया है, किन्तु भगवान ने कर्मों को कहां काटा? उनमें तो निर्मल परिणाम मात्र आये। निर्मल भावों से कर्म अपने आप छूट गये तथा संसारी जीवों के बारे में कहते हैं—अज्ञान में संसारी प्राणियों ने अनेक कर्म बांध डाले। उन्होंने अपना विकल्प ही बनाया, और कुछ नहीं किया। निश्चय से भगवान ने कर्मों को काटा नहीं और न किसी ने कर्मों का उत्पाद किया है। निमित्त नैमित्तिक भाव से ऐसा हो रहा है। यहां अज्ञानी शब्द क्यों किया है? वह दो द्रव्यों को कर्ता कर्म भाव से देख रहा है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको कर देता है, यह दोष बुद्धिका है।

जो जीव यों जानता है कि मैं अपना भी परिणमन करता हूं और पुद्गलकर्म, देह आदि का भी परिणमन करता हूं वह मिथ्यादृष्टि है। इसके समर्थन का एक प्रवचनांश देखिये—गाथा 6 में देखो, परखो और निरखो आत्मा केवल अपने ही भावों को करता है। पर पदार्थ केवल अपने भावों को ही करता है। और, वे आत्मभाव आत्मा से जुड़े नहीं, अतः आत्मा ही है तथा वे परभाव पर से जुड़े नहीं सो वे पर ही है। समस्त शासन की शिक्षा यही है कि हे आत्मन्, अपने वीर्यों को परखकर अपने सहजस्वरूपका परिचय प्राप्त करो, अनुभव प्राप्त करो।

कर्तृत्वबुद्धि की विपदा आत्मा पर छाई है, इसका एक चित्रण देखिये गाथा—90 के प्रवचनांश अहो, यह उपयोग तो चिन्मात्र स्वभावका होना बन रहा था। खुद के आश्रयभूत आत्मद्रव्य में उत्पन्न होने वाली तरंगों को ग्रहण कर लेने का इतना कठोर परिणाम हुआ। कि बेचारा उपयोग अज्ञानीभूत होकर कर्तृत्वके भार को ढो रहा है। हे उपयोग, इतनी तो हिम्मत कर, जितना जब बश चले कि पदार्थ यथार्थ स्वरूपको जान और अपने स्वरूपको यथार्थ जान और जितना भी टिक सके उतना इस तत्वज्ञान में टिका देख तेरा कल्याण होगा, मेरा कल्याण होगा, अन्यथा तू भी क्लिष्ट है, मैं भी क्लिष्ट हूं। हे उपयोग तू और मैं कोई दो चीज नहीं, एक अभिन्न सत् है परन्तु जब कुमति छा जाती है तो दो न होकर भी दो से हो जाते हैं। हाय कितनी बड़ी विपदा है आत्मदेवपर।

तात्त्विक भेदविज्ञान होने पर निबृत्त होते ही हैं, यह समाचार पढ़िये—72 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में—यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप है या अज्ञानरूप। अज्ञानरूप नहीं, क्योंकि रागादिक स्वयं अज्ञानरूप है और रागादिक में और आत्मा के स्वरूपमें जो भेदविज्ञान होता है वह अज्ञान है। वह अज्ञान है तो इसके माने विकार है। उसकी तो चर्चा ही नहीं कर रहे हैं। आत्मा में और विकार में जो भेद नजर आता है, रागादिक अशुचि हैं, मैं आत्मा पवित्र हूं, स्वयं के स्वरूप हूं, जब भेदविज्ञान होता है तो देख लो, आस्रव के विकार में लग लगकर ज्ञान बनता है या विकारों से हटता हुआ यह ज्ञान बनता है? विकारों में लगता हुआ नहीं बनता, फिर वह भेद विज्ञान ही क्या? और हटता हुआ रहता है तो इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान से बंध का निरोध होता है। देखिये— कितनी सुगम स्वाधीन कल्याण की बात है कि सारा उपद्रव ज्ञानभाव से टल जाता है। यह बताया गया है। निज में और पर में भेदविज्ञान करके निज के यथार्थ स्वरूपका ज्ञान बनाये रहना यह समस्त विपत्तियों के टालने की कुंजी है। हम शान्ति के लिए बहुत प्रयत्न कर रहे हैं, व्यापार करना, धन सम्पदां जोड़ना आदिक शान्ति का कारण समझातो उसमें डटकर लग जाते हैं। शान्ति का जो कारण समझ उसमें यह जीव लगता है, पर शान्ति का

कारण हो तब तो उसमें लगने से शांति मिले। पर हो तो अशांति का कारण और मान लिया शांति का कारण, तो आना कुछ मान लेने से कहीं वस्तुस्वरूपमें फर्क तो न आ जागया। शान्तिका कारण केवल शुद्ध निज ज्ञानकी दृष्टि है। शान्ति के लिए प्रयत्न तो बहुत करते हैं, पर भीतर में निर्णय ठीक नहीं रख रहे हैं, शान्ति के विचार से हम धर्म भी करते हैं, मन्दिर आना, पूजा करना, स्वाध्याय करना, जाप देना, पर इतना करके भी यदि शान्ति प्राप्त नहीं हो रही है तो समझना चाहिए कि हमने सही ढंग से धर्म नहीं किया है। धर्म यह ज्ञानस्वभाव है। अपने आपके स्वरूपका यथार्थ भाव रखना सो ज्ञानभाव है और ज्ञानभाव से ये कर्म रुकते हैं, शान्ति को प्राप्ति होती है।

विकार दुःख है और स्वभाव आनन्दरूप है, जरा दुःख से हटने और आनन्द में आने की विधि देखिये 74 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में किन्हीं भी दो बातों के प्रसंग में एक से हटना, एक में लगना यह कब होता है कि उन दोनों में अन्तर मालूम पड़े और जिससे हटना है उसकी असारता मालूम हो और जिस में लगना उसका सारपना मालूम हो तो असार से हट कर सार में लगना होता है। जैसे चावल सोधे जाते हैं तो कूड़ा कंकड़को हटाना और चावल को ही ग्रहण करना यह बात उसके ही तो बनती है जिसके चित में भिन्न चीज हैं साथ ही यह भी विदित है कि यह कूड़ा अत्यन्त भिन्न असार चीज है, और चावल सारभूत हैं। तो इसी प्रकार यहां सामने दो बातें आयीं हैं। ज्ञानस्वभाव और रागादिक विकार। इन रागादिक विकारों से हटना है और ज्ञानस्वभावों में लगना है तो इसका उपाय यही है कि पहिले तो इन दोनों का अन्तर जान लिया जाये कि रागादि का तो ऐसा स्वरूप है। ऐसी आदत है और ज्ञानस्वभाव का ऐसा स्वरूप है और सारभूत है। बस इतना ज्ञान होते ही ज्ञानी असार से हट जाता है और सार में लग जाता है, इसलिए उन्हीं दोनों का स्वरूप बतना रहे हैं।

उपदेश का लक्ष्य शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर आकर्षण कराना होता है, इसको घटित कीजिये 83 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में प्रत्येक कथन का तथ्यभूत उपदेश से अपना उदेष्य निकाल लेना है। कथन आया था कि ये रागादिक विकार जीव के नहीं हैं, ये कर्मों के हैं, क्योंकि पुद्गल के परिणाम से निष्पन्न हुए हैं। यहां यद्यपि पुद्गल का रागादिक विकार से साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, उपादान उपादेय सम्बन्ध नहीं, तिस पर भी चूंकि आत्मा के शुद्धस्वरूपको जीव लखा जा रहा है—जीव क्या है? जिसका सर्वस्य सार है चैतन्यशक्ति में व्यापक रहता है वह जीव है। ऐसा विशुद्ध स्वरूप दृष्टि में रखकर जब रागादिक विकारों का निर्णय करने चले कि ये किसके हैं जो उस जीनके कहे जा सकते, क्योंकि यहां स्वभावदृष्टि की धुन रखने का प्रसंग है, और तब इस विशुद्ध चैतन्यस्वभाव से व्यतिरिक्त विविक्त समझने के लिए

रागादिक विकारों को यो निरखा जा रहा है कि देखो तो सब कर्मो कके हैं, पौद्गलिक हैं, ये जीव के नहीं हैं। यहां निश्चयदृष्टि से रागादिक विकारों को जीवकृत कहा जा रहा है, कर्मकृत नहीं। जो बात पहिले शुद्धनय से सिद्ध कर रहे थे। वही बात यहां पर इस निश्चयनय के प्रसंग में प्रतिष्ठा नहीं पा रही। ये रागादिक विकार चूंकि पुद्गल कर्म के अन्तर्व्यापयव्यापक होकर नहीं रहते अतः इसका कर्ता कर्मोदय का अभाव हो और जीव में निःसंसार अवस्था आये, शुद्ध परिणमन चले तो उस समय कर्मविपाक के अभाव के निमित्त से यह शुद्ध निःसंसार अवस्था हुई इतने पर भी इस कर्मका जीव की इस अवस्था में व्याप्त व्यापक सम्बन्ध नहीं है। अतः ये कर्म अभावरूपसे होकर भी जीव की निःसंसार अवस्था के करने वाले नहीं है, क्योंकि स्वयंकी अवस्थाका ही जीव में अनतर्व्याप्य व्यापक भाव है, अतः उस निःसंसार अवस्था का कर्ता भी जीव ही है। जैसे कि हवा के चलने के निमित्त से समुद्र में निस्तरंग अवस्था हुई तिस पर भी उस निस्तरंग अवस्थामें हवा का व्याप्य सम्बन्ध नहीं है। अतः उस अवस्था का कर्ता हवा नहीं है। उसका भी कर्ता यह समुद्र है। उसका समुद्र में हो व्याप्य व्यापक भाव हैं

द्रव्य दो द्रव्यों की क्रियाओं को करता हे, इस मान्यता को द्विक्रियावाद कहते हैं, यह मान्यता मिथ्या है, इसका कारण समझिये 86 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में एक पदार्थ की दो क्रियायें करे, इस तरह समझने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि क्यों कहलाता है, उसका उत्तर इस गाथा में दिया गया है कि चूंकि समझने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि क्यों कहलाता है, उसका उत्तर इस गाथा में दिया गया है कि चूंकि इस अज्ञानी ने अपने आत्मा को ऐसा माना है कि यह मैं आत्मा अपना परिणमन भी करता हूं और पौद्गलिक कर्मो का परिणमन भी करता हूं, इस ही का अर्थ तो है ना द्विक्रियावाद। तो ऐसी जो दो क्रियाओं को मानवे हैं वे मिथ्यादृष्टि जीव हैं। यह सिद्धांत है। मिथ्यात्व ही जीव पर बड़ी भारी विपक्ष है। अन्तरंग में यदि किसी प्रकार की आकुलता अशान्ति बनी है तो समझना चाहिए, कि हमारा मिथ्यात्व अभी गया नहीं है। थोड़ी बहुत अशान्ति आकुलता तो ज्ञानी के भी हो जाती है, लेकिन वह धुल जाती है। उसे उपयोग में बसाये रहे और उससे बैचेन रहा करे ऐसी बात ज्ञानी में नहीं होती है। तो यह मिथ्यात्व ही घोर संकट है। जिसको इस प्रसंग में भी समझ लीजिये कि दो क्रियाओं के करने वाले रूप आशय घोर संकट है। कहीं भी किसी को एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों का परिणमन हुआ, प्रतिभावना नहीं आया। जैसे कोई बहुत संकट में डालने वाली बात होती है ये जगत के प्राणी उसके प्रति यह भावना करते हैं कि यह बात किसी पर मत गुजरे। तो यहां संगट दीख रहा है यह कि एक द्रव्य दो द्रव्यों का परिणमन करता है तो यहां जो संकट देख रहा है ऐसी ज्ञानी पुरुष समस्त प्राणियों के

प्रति यह भावना करता है कि एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों का परिणमन कर दे यह बात असंगत कैसे है? लेकिन वह भी वास्तव में जिस प्रकार अपने से भिन्न परिणति कर रहा है उसी प्रकार मिट्टी के परिणमन को भी अभिन्न है और इस तरह निरखे कोई कि मिट्टी से अभिन्न रूप क्रिया से यह कुम्हार मिट्टी के कलश परिणमन में भी अभिन्न है और इस तरह निरखे कोई कि मिट्टी से अभिन्न रूप क्रिया से यह कुम्हार मिट्टी के परिणमनको भी कर रहा है तो यही कहलाता है दो क्रियाओं के द्वारा होना। ऐसा जो निरखता है वह अज्ञानी है।

पंचम भाग में समयसार की 98 वीं गाथा से 144 वीं गाथा तक प्रवचन हैं। जरा सिंहवृत्ति व श्वनिवृत्ति की विशेषता देखिये ज्ञानी की सिंह वृत्ति बताई है। सिंह को कोई तलवार मारे तो वह सिंह इतना विवेकी सहज होता है कि तलवार पर कुछ भी रोष न कर किन्तु तलवार मारने वाले पर आक्रमण करता है। उसी तरह ज्ञानी अपनी विकार परिणति पर ज्ञान परिणति में आक्रमण करके उसे मिटा देता है। अज्ञानी की श्वानवृत्ति होती है अर्थात् जैसे कुत्ता लाठी मारने वाले पर क्रोध न करके लाठी पर रोष करके उसे चबाता है वैसे ही अज्ञानी अपनी क्रोध परिस्थिति पर हेय दृष्टि न कर दूसरे को ही द्वेषी मानकर उसे दबाने मिटाने का प्रयत्न करके व्यर्थ विफल हो जाता है।

एक द्रव्य न दूसरे द्रव्यका उत्पादक है और न दूसरे के गुण का उत्पादक है, इससे सम्बन्धित प्रवचनांश देखिये—अभी तक वर्णन था कि परद्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता है अब यह भी समझाते हैं कि परद्रव्य परगुणों का उत्पादक नहीं। रोटी में जो स्वाद है वह बनाने वाली या चूल्हा ईंधन चकले बेलाका व बनाने वाली का नहीं है। स्वाद है आटे का आटा है गेहूं का स्पष्ट दिखना चाहिए सो दिखता भी नहीं अन्यथा बनाने वाली की देह और आकार का गुण रोटी में स्पष्ट दिखना चाहिए सो दिखता नहीं। इसी भांति घड़े में भी कुम्हार का स्वभाव बिल्कुल नहीं किन्तु मिट्टी के ही परिणामों स्वभाव से घटाकार परिणमन हुआ। इसी तरह तुम्हारे परिणामों में रागद्वेष पैदा करके निश्चित कारण मित्र शत्रु नहीं है, किन्तु अपने ही गुण का जब विकार रूप परिणमन होता है तो रागद्वेष पैदा हो जाते हैं। अतः एक क्षण भी स्वानुभव समेत चूको। उंगली से कागज फटा तो ऐसा न समझना कि फटने की सामर्थ्य या परिणमन कागज में नहीं होनेपर भी अंगली ने ही सब कुछ कर दिया। सभी द्रव्य अपने स्वभावे परिणम रहे हैं, निमित्तभूत द्रव्यान्तरों की प्रेरणा से नहीं। मां ने बच्चे को मारा सो बच्चा रोया तो किन्तु रोया वह बालक अपने विकार परिणमन से। गुणा का परिणमन ही आकार है। अपने स्वभाव से ही द्रव्य के परिणमन का उत्पाद है, दूसरे द्रव्यानंतर के स्वभाव उसके उत्पादक नहीं।

व्यवहारकी अनेक उपयोगिता होने पर भी सम्यक्त्वका प्रादुर्भाव भूतार्थनय के विषय के आश्रय से ही होता है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये— यद्यपि व्यवहार की प्रवृत्ति के लिए जीवादि तत्त्व व्यवहारनय कर कहे गये हैं तथापि उनमें एकपना प्रकट करने वाले भूतार्थनय से एकपना आत्मा की अनुभूति प्रकट होती है। बाह्य दृष्टि कर देखने से जीव पुद्गल की अनादि बन्ध प्याय को प्राप्त कर ये 9 भेद भी भूतार्थ है, सत्य है, किन्तु एक जीवद्रव्य के स्वभावको लेकर अनुभव करनेसे 9 भेद अभूतार्थ असत्य है। इन 9 तत्वों में भूतार्थनय कर जीव एक रूप ही प्रकाशमान है। इस मुख्य जीवतत्त्व के बिना शेष 8 पदार्थ नहीं बनते हैं। निमित्त नैमित्तिक भावे 9 पदार्थ बन जाते हैं अथवा पर्याबुद्धि से 9 भेद हैं। अर्न्तदृष्टि से देखने पर ज्ञायकभावरूप जीव है और जीव के विकार का कारण अजीव है। जीनके विकार ही आस्रव बंध पुण्य, पाप है। जो नय आत्माको अंधरहित, स्पर्शरहित, अन्यपनेसे रहित, नियत अविशेष और आयुक्त अनुभव करता है सो शुद्धनय है।

शुद्ध उपादान व योग्य उपादान का विश्लेषण समझिये 102 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में —निमित्त नैमित्तिक भावों की विधि में निमित्त भी पर्यायसंयुक्त द्रव्य है और उपादान भी पर्यायसंयुक्त द्रव्य है। द्रव्य का द्रव्य न निमित्त होता है और न उपादान होता है। खाली द्रव्य, त्रिकालवर्ती अनादि अनन्त सामान्यरूप द्रव्यत्व न उपादान होता, न कार्य का, न निमित्त होता, पर्यायपरिणत द्रव्य ही उपादान कहलाता। पर्यायपरिणत द्रव्य निमित्त बन सकेगा। अब शुद्ध उपादान के मायने यह है कि खालिस द्रव्य। सामान्य द्रव्य। एक आत्मा में ही पर्यायपरिणति आने पर योग्यता आती है अन्य द्रव्य से नहीं आती। शुभ अशुभ भावों को योग्यता आत्मा में ही पर्यायपरिणति आने पर योग्यता आती है पुद्गल में नहीं आती। इस नियम के कारण आत्मा उपादा है, आत्मद्रव्य उपादान है, पर कार्य के नाते पूर्व पर्यायपरिणत आत्मा उपादान है। यहां जो शुद्ध उपादान का सामान्यरूप जो आत्मद्रव्य है उसको कह रहे हैं शुद्ध उपादान। यह द्रव्यरूप शुद्ध उपादान है और सिद्ध भगवान पर्यायरूपसे शुद्ध उपादान है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को नहीं कर सकता, फिर कर्म को जीवने किया यह कैसे युक्त हो सकता, लेकिन कहा तो जाता है कि जीवने कर्म को किया, यह कथन उपचार से है, इसका उपचारका कारण देखिये—105 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में —पौद्गलिक कर्म का बन्ध होने में जीवका विभाव परिणाम निमित्तभूत है सो निमित्तभूत जीव के विभाव परिणाम होने पर कर्म बन्ध के परिणाम को देखकर लोग कहते हैं कि जीवने कर्म किया। सो यह कथन उपचार से समझना चाहिए। यद्यपि बात ऐसी बहुत स्पष्ट जच रही है कि जीव में रागादिक भाव हुए तो उनका निमित्त पाकर कर्मबन्ध होता है, ऐसा निमित्त

नैमित्तिक भाव है तो भी वस्तुस्वरूपकी दृष्टि करके निरखने पर जीव का सब कुछ जी के चतुष्टय में निरखा जायगा। कर्म का सब कुछ कर्म के चतुष्टय में निरखा जायगा। विभाव आदिक परिणामों का आश्रय है जीव और कर्मों का आश्रय है कार्माणरूप वर्गणारूप पुद्गलस्कंध। दोनों में जो कुछ है उस ह का निरखना सो निश्चयदृष्टि का काम है। पृथक् पृथक् निरखना जीव का परिणमन, जीवका गुण, जीनके प्रदेश, जीवका सवस्व जीवमें निरखना, चाहे कैसा ही परिणमन हो और पुद्गलका परिणमन उसके प्रदेश, उसके गुण उसका सर्वस्व उसमें निरखना यह कहलाता है वस्तुस्वरूपका दर्शन। तो वस्तुस्वरूपकी दृष्टि से जीवने कर्म में कुछ नहीं किया, कर्म ने कुछ नहीं किया। अहो, कैसा कठिन निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि अनादि काल से यह जीव भटकता चला आया है, नाना जन्म मरण के संकटों में उलझा हुआ चला आया है तिस पर भी वस्तुस्वरूपकी दृष्टि यह तबलाती है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र परिपूर्ण अपने आपमें अस्तित्वको लिए हुए हैं। निमित्त नैमित्तिक भावकी बात देखो तो पौद्गलिक कर्म के बन्धन होने में जीवद्रव्य क्या स्वभावसे निमित्तभूत है फिर भी अज्ञान भाव से बध के निमित्तभूत अज्ञानभावसे परिणम रहा है तो निमित्त होने पर बन्ध हुआ ना, अतएव उपचार से कहा जाता है कि आत्माने पौद्गलिक कर्म किया। यह निर्विकल्प विज्ञानधन समाधिभाव से भृष्ट हुए विकल्पों में लगे हुए अन्य पुरुषों का विकल्प है, सो वह उपचारकी बात है, परमार्थ की बात नहीं है। वह आत्मा धन्य है जिस आत्मा ने यह कुन्जी प्राप्त की यह अपनी आदत बना ली, ऐसी धुन बना ली कि प्रत्येक पदार्थ में उसके ही स्वरूप सर्वस्वको निरखेगा। निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तु के स्वतंत्र स्वरूपको निरख लेना यह बड़े ज्ञानबल का कार्य है।

वस्तु की परिणमनशीलता जैनदर्शन का मूल सिद्धान्त है, इसे मानकर आगे बोध बढ़ाये तो सब सम्स्यायें सुलझ जावेंगी, मल सिद्धान्त का संकेत देखिये 126 वीं गाथा के प्रवचनांश में –प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही परिणमने का स्वभाव रखता है। जैन सिद्धान्त का सब कुछ रहस्य जानने के लिए और अपने आपको कल्याणमय बनाने के लिए मूल श्रद्धान यह होना ही चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमने का स्वभाव रखता है। इस सिद्धान्त के आधार पर वस्तुविवेचन और मोक्षमार्ग का उद्यम है। यहां कोई प्रश्न कर सकता है कि प्रत्येक पदार्थ परिणमन का स्वभाव रखता है यह बात क्या अन्य दर्शनों में नहीं मानी गई? इस पर जरा विचार करें। जो सिद्धान्त पदार्थ को क्षणिक मान रहा, एक क्षण को पदार्थ का आत्मलाभ है, द्वितीय क्षण में वह नहीं है। तब उसमें परिणमन स्वभाव है यह बात कैसे घटित होगा? जो लोग पदार्थ को सर्वथा नित्य मानते हैं वहां पर भी परिणमनों का स्वभाव कैसे घट सकता है?

नहीं तो सर्वथा नित्य व कहलायेगा। जो तमन्व्य इस समस्त जगत को ईश्वरकृत मानता है उस मनतवय में भी पदार्थ में परिणमने का स्वभाव नहीं पड़ा हुआ है। यदि पदार्थ में परिणमने का स्वभाव मान लिया जाता तब फिर ईश्वर कर्तृत्व की कोई महिमा न रहो। जितने भी अन्य मनतवयों को निरखें यर्थाथतया उनमें यह न माना जा सकेगा कि पदार्थों में परिणमन करने का स्वयमेव स्वभाव पड़ा हुआ है, यह तो हुई दर्शन शास्त्र की बात।

आत्मत्वके निकट पहुंचना अपना स्वरूपपरिपोषण है, समझिये 130—131 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में—ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्वकी चर्चा करने का, निज आत्मतत्व के निकट रहने का उद्यम एक ऐसा अपना पोषण है जैसे कि फाग के दिनों में पचासों आदमियों से भिड़कर रंग, कीचड़, मिट्टी आदि से खराब होकर फिर अपने घर में कुवा पर या नलके नीचे जलसे नहाते हैं साबुन से धोते हैं, अपने को साफ करते हैं इसी प्रकार 22—23 घंटा यहां वहां फिरकर, मोहियों से व्यवहार करके, यत्र तत्र विकल्प बनाकर, लुट पिटकर थोड़े समय को आत्मविशुद्ध बनाने के लिए एक पोषण में लगते हैं, अपनी स्वच्छता करने के लिए बैठते हैं, अपनी स्वच्छता अपने सहजस्वरूपके निहारने में है, यह अधिकार है। मेरे स्वभाव में विकार नहीं है। कितना महत्व है मेरे स्वरूपमें इसको स्पष्ट समझना है तो कर्ममुक्त, देहमुक्त कैवल्य अवस्था में विराजमान सिद्ध प्रभुके स्वरूपका निहारकर समझ सकते हैं। वे भी जीव है, मैं भी जीव हूं, स्वरूपमें रंच अन्तर नहीं है। फिर यदि अपने आपको सम्हाल लूं अपनी ओर लगन करूं तो प्रभु जैसा मैं कैसे नहीं हो सकता हूं? अज्ञानभावना ही निमंत्रण देते रहे, विषयकषायों में ही प्रीति बनाये रहे तो यह बात तो स्वप्न जितनी भी नहीं रहती।

दुनियां के मायामय सम्पर्क का एक चित्रण लेखिये—135—136 गाथाओं के एक प्रवचनांश में—दुनिया का यह परस्पर का सम्बन्ध तो ऐसा है कि जैसे कवि लोग कहते हैं कि उंटों के विवाह में बहुत से जानवर आये। तो वहां पर गधे लोग उंटकी प्रशंसा करते हैं और उंट गधों की प्रशंसा करते हैं। गधे कहते—अहो कैसा सुन्दर तुम्हारा रूप है। उंटों में कोई सुन्दरता तो नहीं होती, उनके शरीर के अंग टेढ़े मेढ़े होते हैं, पर गधे लोग उंटों के रूपकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे, और उंट भी कहते—और कैसी तुम्हारी सुराली आवाज है। गधों का स्वर सुहावना तो नहीं होता, और पशु पक्षियों की अपेक्षा गधों का बोल सबसे गया बीता, असुहावना लगता है, मगर उंट लोग गधों के स्वरकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। तो दोनों ही एक दूसरे की प्रशंसा करके खुश हो रहे। तो यह जगत ऐसा ही है। यहां एक मोही दूसरे मोही की प्रशंसा करता है और वे अपनी प्रशंसा करके खुश होते हैं पर इस झूठी प्रशंसा से आत्मा में कुछ भी उत्कर्ष नहीं होता। मैं ही स्वयं अपने को जानकर

अपने सम्यग्ज्ञान और चारित्र में रहूँ तो यहां मेरी रक्षा है और मैं अपने रत्नत्रय का कार्य न कर सका तो यहां मेरी कुछ भी रक्षा नहीं है। बड़ा खेद करना पड़ेगा। मरण के बाद जैसा बन्ध किया उसमें तुरन्त जाना होगा।

142 वीं गाथा में नयापक्षातिकान्त का वर्णन है। 20 नयपक्षों को सप्रतिपक्ष बताकर उनसे अतिकान्त होने के परमदका संकेत किया है। उन 20 नयपक्षों में से एक चैत्यपक्षका उदाहरण देखिये—आत्मा में है चैतन्यस्वभाव और वह स्वभाव, वह चैतन्यतत्त्व है सामान्य —विशेषात्मक, अर्थात् चैतन्यभाव के कारण जो आत्मा में प्रतिभास हुआ वह प्रतिभास सामान्यरूपसे भी है और विशेषरूपसे भी है। तब उसमें ज्ञान और दर्शन दो गुण आ गये तो इसके मायने हैं कि यह जीव प्रतिभास में आ गया। यों चैतन्यभाव से सम्बन्धित यहां के प्रकार के विकल्प बन जाते हैं। चैतने में आनेवाला, ज्ञान में आनेवाला, दर्शनमें आनेवाला और प्रतिभास में आनेवाला किसी के आशय में से यह आत्मा चैतने योग्य है ऐसा आता है। तो दूसरे पक्षमें यह चैतन योग्य नहीं है ऐसा आता है। पहिला है व्यवहारपक्ष, दूसरा है निश्चयपक्ष। कितनी सूक्ष्म चर्चा की जा रही है। आत्मा में चैतने में अन्ततत्त्व आया, आत्मा आया ऐसा जो चैतयपना है यह भी जहां व्यवहार का विषय किया जा रहा है। तो निश्चयके विषय में तो इससे भी और सूक्ष्म बात होगी, वही दिग्दर्शन यहां है। आत्मा चैत्य है, चैतने योग्य है, आत्मा चैत्य नहीं है, ऐसे यहां दो पक्ष हुए हैं, किन्तु जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है वह तो विकल्पमात्र को भी पसन्द नहीं करता। चैत्य है यह भी विकल्प है, आत्मा चैत्य नहीं है यह भी विकल्प है। इन दोनों विकल्पों से च्युत होकर तत्त्वज्ञानी जानता है कि वह तो जो चित् ही है।

कर्तृकर्माधिकार की अन्तिम गाथा 144 वीं में एक प्रवचनांशमें पढ़िये—चिन्मात्र अन्तस्तत्त्व उपासनाका क्या महान् लाभ है—देखो भैया, इस मुक्त चैतन्यमात्र आत्मा को कौन जानता है? जब कोई समझता ही नहीं है तो न समझने वालों को हम कुछ जताने का क्यों प्रयत्न करें? जैसे न समझने वाले बेचारे भींट खम्बा आदिक हैं तो इनके सामने तो हम आप अपनी शान नहीं बगराते कि ये मेरा कुछ बड़प्पन जान जायें। ये मुझे, समझ जायें कि मैं कुछ हूँ, क्यों नहीं जताने का प्रयत्न करते? इसलिए कि हम आप यह जानते हैं कि ये भींट खम्बा आदिक तो कुछ मुझे जानते ही नहीं है, ये मुझे पहिचानते ही नहीं हैं। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष समझता है कि ये समस्त दृश्यमान जो प्राणी हैं ये मुझ चैतन्यात्मक आत्माको समझते ही नहीं हूँ। जैसे न समझने वाले अचेतन पदार्थों को हम समझाने की चेष्टा नहीं करते, इसी प्रकार ज्ञानी जन जानते हैं कि ये सब लोग तो इस मुझ आत्मा को पहिचानते ही नहीं है, जानते ही नहीं है। यदि कोई मुझ आत्मा को जान जाय तो वह तो स्वयं अपने वित्स्वरूप का अनुरागी हो गया। अब वह व्यक्ति न रहा, वह

तो स्वयं चित्स्वरूप रह गया। तो मुझे व्यक्ति को उसने नहीं समझा। मुझे यहां कोई नहीं समझता। ज्ञानी पुरुष चित्स्वरूपको समझता है। अज्ञानी जीव अपने स्वरूपको किसी भी प्रकार समझता ही नहीं। तब अज्ञानी को अपना महत्व बताने की गुंजाइस क्या? ज्ञानियों को हम क्या बतावें? वे तो स्वयं चित्स्वरूपके अनुरागी हैं। इस तरह जानकर ज्ञानी जीव विकल्पों को हटाता है और विवके द्वारा अपने आपके इस स्वरूप तक पहुंचता है जिस तरह जानकर ज्ञानी जीव विकल्पों को हटाता है और विवके द्वारा अपने आपके इस स्वरूप तक पहुंचता है जिस स्वरूपमें मग्न होने पर फिर किसी भी प्रकार के विकल्प नहीं रहते। योंज्ञानी कर्ता कर्म भाव से हटता है और विकल्प भावों से हटकर वह शीघ्र ही साक्षात् समयसार हो जाता है।

134—137 समयसार प्रवचन 6, 7, 8, 9 भाग

इस पुस्तक में समयसार की 99 वीं गाथा से 266 वीं गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। सर्वकर्मों से मुक्त होने में ही आत्माका शील है, कल्याण है। संसार में तो चाहे पुण्यकर्म हो चाहे पापकर्म हो दोनों ही कुशील हैं, देखिये 145 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में पापकर्म कुशील कहलाता है और पुण्यकर्म सुशील कहलाता है, पर वह पुण्यकर्म सुशील कहलाता है, पर वह पुण्यकर्म सुशील कैसा जो संसार में प्रवेश कराता है? पापकर्म को तो सभी बुरा कहते। पाप के उदय में दरिद्रता हो, आपतियां आयें, खोंटी गतियां आयें, सो पापकर्म तो बुरा है, सभी लोग जानते हैं, और लोग कहा करते हैं कि पुण्यकर्म भला है, किन्तु यहां ज्ञानी संत यहकह रहे हैं कि वह पुण्यकर्म भी सुशील कैसा जो आत्मा को संसार में प्रवेश कराता है। पुण्यका उदय हुआ, सम्पदा मिली और सम्पदा मिलती है तब क्या होता है, सो प्रायः करके देखो, क्रोध भी बढ़ जाये, मायाचार भी बढ़ जाये, लोभ भी बढ़ जाता है। अभी लोखकीसम्पदा है तो पेटनहीं भरा क्या, डेढ़ बैथा का पेटचार लाखकी संपदा से यहां भरता क्या समझते हैं कि मैं करोड़पती ही जाऊं करोड़पतियों के यहां जाकरदेखो, उनकाक्या हाल हो रहा है। सम्पदा से होताक्या है? चितायें, संक्लेश बढ़ जाते हैं। संक्लेश करना, विकल्प करना, नाना चितायें करना, इसके फल में क्या होगा कि पापकर्म बंधेगा। फिर दुगंतियां होंगी।

मनुष्यको कर्तृत्वका अहंकार होने में एक कारण यह भी है कि वह दूसरे जीनके भाग्य को नहीं समझता है देखिये 146 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में—भैया, हम सबकी जिम्मेदारी अपने पर लादते हैं, किन्तु घरमें जो आज बालक बैठे हों कहो उनका पुण्य बापसे भी बढ़ा हो और उनके उस बड़े पुण्य के कारण ही तो आपकी उनकी खुशामद करनी पड़ती है। किसका भार

समझते हो? तुम तो निर्भर हो, शरीर से भी न्यारे हो, इस चैतन्यस्वरूपको तो निरखो। यहां किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं हैं, पर ऐसी जो अपनी अलौकिक दुनिया है वहां तो यह रमना नहीं चाहता, सो अध्रव को ध्रुव माना, मिटने वाली चीज को सदा रहने वाली मान लिया तो उसका फल तो क्लेश ही है।

जीवको बन्धन अपने आधार से हैं, पढ़िये 150 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें जो रागी जीव है वह अवश्य ही कर्मों को बांधता है। जो विरक्त जीव है वह ही कर्मों से छूटता है। तो सामान्यरूप से शुभकर्म और अशुभकर्म रागका ही निमित्त है। सो वे सामान्यतया सबको बाधते हैं, बंध के हेतुपने को सिद्ध करते हैं। सो ये दोनों ही कर्म प्रतिषेध के योग्य हैं बाल बच्चे परिवार आपको सुहावन लग रहे हैं। इन सुहावने लगने वालों से तुम्हारा क्या पूरा पड़ जायगा? वे सदाको तो अमर हैं नहीं। मरना तो पड़ेगा ही। क्या परभव में भी ये कुछ मदद कर सकते? नहीं। सिरका दर्द हो जाय तुम्हें और उन बच्चों से कहो कि देखो हम तूम्हें कितना खिलाते पिलाते हैं, तुम हमारे सिर का दर्द 1 आना ले लो, 10 आने हम भोग लेंगे तो क्या ले सकते हैं? अरे इस वक्त भी कोई तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता है फिर काहे को बन्धन लगा लिया?

प्रभु की दूढ़ और मिलन देखिये 153 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में—इसी तरह हमारे भगवान हमारी आंखें मिचे में हमारे ही अन्दर कहीं छुपकर विराजे हैं। हम उनहे दूढ़ने के लिए व्यग्र हो रहे हैं। और, ऐसे व्यग्र हो रहे हैं कि जहां सम्भावना भी नहीं है ऐसी जगह दूढ़ते हैं, पर भगवान तो आनन्दका नाम है। सो उस भगवान को दाल रोटी में, विषयों में, दुकान में सब जगह दूढ़ते फिरते हैं, यदि कहीं भगवान निकट में आ जाये, पता पड़ जाय कि लो यह हैं भगवान पिदे तो देखने वाला भी प्रसन्न होगा और वह भगवान भी प्रसन्न हो जायगा। देखने वाला तो प्रसन्न होगा ही क्योंकि निर्मल बना और भगवान भी जो अनादिकाल से दुःखी बैठे थे छिपे हुए, तो उनका भी तो उद्धार होता है। जब हम अपने उपयोग से भगवान को दृष्टि में लेते हैं तो भगवान ही तो उद्धार होता है। तो भगवान भी प्रसन्न हो जाता है। तो अब इन सब में आंख मिचौनी हो रही है, पर जिसके लिए आंख मिचौनी का खेल बना है उसे दूढ़ा पर अब तक नहीं पाया है। व्यग्र होता हुआ यत्र तत्र दूढ़ रहा है। लो ज्ञानात्मक यह ध्रुव अचल आत्मतत्त्व यह है भगवान। तो यह मोखका कारण है।

देखिये मोखकी एक द्रव्यस्वभावरूपता 156 वीं गाथा में एक प्रवचनांश में मोक्ष मायने छूटना अर्थात् अलग होना अलग हुए द्रव्य के स्वभावरूप है। दूसरे वस्तु के स्वभावरूप नहीं है। जैसे हाथका हाथ से यह बन्धन है। एक हाथ छूट गया तो इसका जो छूटना है वह किसके स्वभावरूप

है सो बताओ? आप कहेंगे कि इस कमरे में बैठा हूँ तो इस कमरे के रूप है हाथ से हाथ का छूटना। क्या यह उत्तर आपको जचा? नहीं। आप कहेंगे कि इतने श्रोता लोग सामने बटे हैं सो यह मोक्ष इन श्रोताओं के स्वभावरूप हैं, तो क्या यह छूटना इन श्रोताओं के स्वभावरूप है? नहीं। तो इस कमरे के स्वभावरूप है? नहीं। दूसरों के स्वभावरूप है? नहीं। और कदाचित दूसरा आदमी इस एक हाथ को पकड़कर मसलकर छोड़ दे तो दूसरे आदमी के स्वभावरूप भी नहीं है इस हाथ छूटने का इस हाथ को मुक्ति इस हाथ के ही स्वभावरूप है, इसी प्रकार आत्मा में कर्मों का बन्धन लगा है और उस प्रसंग से आत्मा छूट जाय तो आत्मा का यह छूट जाना कर्मों के स्वभावरूप है या ब्रत एवं तपस्याओं के स्वभावरूप है? या आत्मा के स्वभावरूप है? यह आत्मा का छूटना आत्माके स्वभावरूप है।

सम्यग्ज्ञान का बाधक भाव देखिये 158 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें – इसमें यह बता रहे हैं कि आत्मा का सम्यग्ज्ञान जो परिणाम है उसका घात करने वाले कौन हैं? जैसे पूछा जाय कि यह अंगुली सीधी है और टेढ़ी किए जाने पर बतलावो कि इस अंगुली के सीधेपन का घात किसने किया? यह तो सामने की बात है और सीधी बात है। इस अंगुली का सीधापन किसने मिटाया? इस अंगुली के सीधेपनको टेढ़ापनने मिटाया। तो आत्मा के सीधेपनको किसने मिटाया? आत्मा के टेढ़ेपनने मिटादिया। आत्मा के वैराग्य परिणाम को किसने मिटाया? विषय के परिणामों ने मिटाया। यह खूबरूह साक्षात् बात चल रही है, फिर निमित्त को बात लेना है। आत्मा का सब सही सही जान लिया करे। इस सीधे और भोले काम में बाधा डालने वाला कौन है? अज्ञान। वस्तु की सही जानकारी न होना यही है वस्तु की सही जानकारी का बाधक। जैसे वस्त्र का श्वेत परिणमन मलके द्वारा ढक जाता है तो सफेदी का घात हो जाता है, इसी प्रकार आत्माका सम्यग्ज्ञान अज्ञानरूपी मैल से ढक जाता है तो सम्यग्ज्ञान प्रकट नहीं होता है। सम्यग्ज्ञान बनाना है तो वस्तुस्वरूपका सही सही ज्ञान करने में लग जावो।

अलौकिक पात्र देखिये जो अलौकिक उदारता का स्वामी है, गाथा 164–165 का एक प्रवचनांशमें –भैया, इन सब भेष बनाने वाले सैकड़ों पात्रों में कौन में कौन सा पात्र उदार है? क्या राग उदार है? नहीं। द्वेषमोह आदि उदार हैं क्या? नहीं। कामादि विकार उदार है क्या? नहीं। ये अत्यन्त अनुदार हैं। ये दूसरों के जानका भी परवाह नहीं करते और खुद के प्रभु के प्राणों की भी परवाह नहीं करते। ये विकार अनुदार हैं। ये उत्तम पात्र नहीं कहला सकते हैं। नाअक में उत्तम पात्र वही कहला सकता है जो उदार हो। यह ज्ञान उदार है और गम्भीर भी है। क्षोभ में नहीं आता। ये रागद्वेष क्रोध, मान, माया, लोभ, काम ये सब क्षोभ से भरे हुए हैं। यह स्थिर नहीं है किन्तु

रागभाव गम्भीर है, स्थिर है, धीर है। यहां चर्चा चल रही है कि इस उपयोग के रंगमंचपर ज्ञानभूमिपर कौन कौन भाव कितना विचित्र नाटक कर रहे हैं, कैसे कैसे परिणाम प्रकट हो रहे हैं। कभी शुभ भाव है, कभी वैराग्य में आकर भगवान के निकट पहुंचते हैं, कभी कषाय से पीड़ित हुआ करते हैं, कितने प्रकार के कर्म बताये हैं। कितनी तरह के भेद इस आत्मा में अपना लेते हैं। उन सब परिणमनों में से कौन सा परिणमन उत्कृष्ट पात्र है उसकी बात यहां चल रही है। यह ज्ञान उत्कृष्ट मात्र है, उदार है।

आत्मकान्ति निरखिये गाथा 164-165 के एक प्रवचनांशमें—सब कुछ कान्ति लाइये और अपने को अकेला, अपने को अपना जिम्मेदार मानकर कुछ प्रगतिशील भावों में चलिये। इस मायामय जगतमें किसी का कुछ नहीं निहारता है। किसी से कोई आशा नहीं रखना है। यह जीव स्वयं जैसे परिणाम करता है वैसे ही सुख दुख पाता है। यह आश्रव की थ्योरी का प्रकरण चल रहा है। इन आश्रवों में अनन्त कार्माणवर्गणायें ठसाठस भरी है। और, संसार में प्रत्येक जीव के प्रदेश में विश्रषोयचयरूप और कर्मरूप अनेक कार्माणवर्गणायें भरी पड़ी है। यह इतना बड़ा मेल, इतना बड़ा जमाव आ कैसे गया? यह आ गया खुद की गली से। कोई बूढ़ा पहिले तो अपने पोतो से बड़ा प्रेम दिखाता है और जब वे पोतापोती उस बूढ़े पर खेलने लगते हैं और उस बूढ़े को तकलीफ होती है। कभी सिर पर चढ़ गये, कभी कांधे पर चढ़ गये, कभी रोते हैं तो उस बूढ़े के उपर आफत सी आ जाती है। तो उस बूढ़ेने यह आफत अपने आप डाल ली। अब दुःखी हो रहा है। यह कर्मो का जो जमाव हम और आप पर बन गया है यह अपनी गलती से बना है, अपने स्वरूपकी कदर न करके अपने को दीन हीन समझ रहे हैं। हम तो न कुछ हैं। हमारे पालने वाले दूसरे हैं, हमारी रक्षा करनेवाले दूसरे हैं। हममें तो कोई शक्ति ही नहीं है। अरे तुझमें तो प्रभुवत् अनन्तज्ञान शक्ति है, अनन्त आनन्द की शक्ति है। तू अपनी शक्ति को नहीं समझता इसलिए भूले हुए सिंह की तरह बन्धन में पड़ा है।

ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक रागाविभाव न होने से निरास्रव कहा गया है, उसके अनन्त संसार का उच्छेद हो गया है, देखिये, 172 वी गाथा के एक प्रवचनांश में जैसे लाखों का कर्जा वाला पुरुष सब कर्जा चुका ले, केवल एक रूप्या कर्जा रह जाय तो उसे लोग कर्जे में शामिल नहीं करते हैं। वस्तुतः तो एक पाई भी कर्जा हो तो कर्जा कहलाता है। जहां 99 हजार 999 और 99 नये पैसे का कर्जा चुका हो केवल कुछ वर्ष संसार में रहना शेष है, मामूली सिथति बनती है, ऐसा बनने के आस्रव का आस्रव नहीं गिना गया। करणानुयोग के अनुसार तो कषाय व योग तक आस्रवबान है और द्रव्यानुयोग के अनुसार ज्ञानी को आस्रववान नहीं कहा गया। जो रागादिक से विरक्त

रहात है और अपने में उत्पन्न हुई अबुद्धिपूर्वक रागादिक विकारों को भी जीतने के लिए शक्ति का स्पर्श कर रहा है वह ज्ञानी समस्त परबृतियों का उच्छेद करता है। वह तो निराश्रय है। तब ज्ञानी बुद्धिपूर्वक रागसे तो विरक्त है और अबुद्धिपूर्वक रागको जीतने के लिए अपनी शक्ति का स्पर्श करता है इससे उसे निराश्रय कहा गया है। कर्मों को जीतना, कषाय को दूर करना, अनादि अयन्त अंतः प्रकाशमान इस चैतन्यस्वभाव के स्पर्श बिना नहीं हो सकता।

लोग अपना अपराध तो देखते नहीं, परपरिणमन से लेखा जोखा लगाते हैं, इस पर दृष्टिपात करें, गाथा 179-180 के एक प्रवचनांश पर नाच न आवे आंगन टेढ़ा-भैया, सब जीव स्वतंत्र हैं, वे अपने में अपना परिणमन करते हैं। वे अपनी शक्ति के लिए अपनी कषाय की चेष्टा करते हैं। हम आप अपनी ही कल्पनायें बनाकर अपने आप में चिन्ता और शल्य बनाते हैं और पर का नाम लगाते हैं कि इसने मुझे दुःखी किया। जैसे एक कहावत में कहते हैं—नाच न आवे आंगन टेढ़ा। यह बहुत बढ़िया मन्दिर बना है, नाप तौल से कोई कसर तो नहीं है और इसमें नृत्य शुरूकर दिया जाय संगीत द्वारा। नाचने वाला कभी सफल होता है और कभी नहीं सफल होता है। यदि उसका नाच न जमे तो अपनी कलाका दोष छिपाने के लिए कहता है कि अजी आज तो नाच जमेगा नहीं। यह आंगन तो ढंगका नहीं है, यही है नाच न आवे आंगन टेढ़ा।

समयसार प्रवचन अष्टम भावके संवर प्रकार में ज्ञानका ही ज्ञान में आधार आधेय भाव हूँ, देखिये 182 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में—एक ही ज्ञान को जिस काल में अपनी बुद्धि में रखकर आधार आधेय भाव लिखा जायगा तो शेष द्रव्यंतरों को अधिरोप रूक जायगा, इसलिए कुछ बुद्धि में भिन्न आधार न मिलेगा। ज्ञान किसी में रहता है? ज्ञान, ज्ञान में रहता है। ज्ञान आत्मा में रहता है, यह भी सिद्ध है, पर और सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो ज्ञान ज्ञान में रहता है और इससे भी अधिक सूक्ष्म दृष्टि में जावों तो यह कहा जायगा कि आपको ऐसा प्रश्न ही न करना चाहिए कि ज्ञान कहां रहता है? ज्ञान में ज्ञान है। उसमें षट्कारक की बात लगाना भी व्यवहार है। यद्यपि वह परमार्थनिर्देशक व्यवहार है, लेकिन व्यवहार ही तो है, इसका कारण यह है कि भिन्न षट्कारकों के परिचय वाले मनूष्यों के समझने के लिए अभिन्न षट्कारकका उपाय बताया है। तो ज्ञान का कोई भिन्न अध्ययन न मिलेगा। जब कोई भिन्न अध्ययन नहीं मिलता तो एक ही ज्ञान में ज्ञानस्वरूपमें प्रतिष्ठित करने वाला ज्ञान है। वहां अन्य आधार और आधेय प्रतिभाव नहीं होता।

संवरका कारण देखिये 186 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में इससे यह सिद्ध है कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से हा संगर होता है और सम्बरतत्व अद्भूत अद्वितीय है। मित्र कहो, पिता कहो, ईश्वर कहो, रक्षक कहो, यक एक सम्बर परिणाम है। स्वामी संमतभद्राचार्य ने कहा है कि यदि पाप रूक गया है तो और सम्पदा से क्या प्रयोजन है, सबसे अतुल महिनीय सम्पदा है तो पापनिरोध है। पर यदि पाप नहीं रूकता है, आता है तो अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन? क्योंकि पाप तो कर रहे हैं। उस के फल में तो आकुलता ही होगी। और, कर्मविपाक के समय में भी आकुलतायें होंगी। सो भैया अपने आपको इस प्रकार देखना चाहिए कि मैं अकेला हूं, घररहित हूं, शरीर रहित हूं। और, की तो बात क्या, अपने आपमें जो ममता, रागद्वेष विभाव परिणाम होते हैं उन परिणामों से भी रहित हूं। मेरे सहज सवतके कारण इस सहजस्वरूपमें केवल चैतन्य चमत्कार का स्वरूप विकसित होता है। मैं शुद्ध हूं, ज्ञानानन्दधन हूं, इसे योगीन्द ही समझ सकते हैं। ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं। ये सब संयोगजन्य भाव वियोग ये बाह्य चीजें हैं। वे वस्तुयें मुझसे सर्वथा भिन्न है। ये तो चेतन अचेतन प्रत्येक द्रव्य प्रदेशों से भी भिन्न है और ये रागादिक भाव यद्यपि आत्मप्रदेशो में होते हैं, किन्तु कुछ समय के लिए होते हैं, निमित्त पाकर होते, इस कारण वे भी बाह्य भाव है। वे मुझ से भिन्न है। इस प्रकार भेद विज्ञान करने से जो अनात्मा है उससे उपेक्षा हो जाती है, और जो आत्मतत्त्व है उसमें प्रवेश होता है। इस प्रकार शुद्ध आत्माका उपयोग द्वारा यदि आलम्बन है तो कर्मों का सम्बर होता है।

ज्ञानी का उपयोग भी निर्जराहेतु बताया है, जरा इसके मर्म का विचार रकें 193 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में —कहते हैं कि चेतन और अचेतन इन्द्रियोंको द्वारा जो उपभोग करते हैं सम्यग्दृष्टि वह सब निर्जराका निमित्त होता है, सभी कहते है कि बंधे हुए कर्म बिल्कुल छोड़ देते हुए नहीं झडतें है। हां उदय से एक समय भी पहिले यदि उसका संकमण कर देते हैं तो उसमें अन्तर आ सकता है। ऐसे कर्मों का निष्फल कर देने में समर्थ एकत्वनिश्चयगत समयसार का आलम्बन है। एकत्वभावना अन्य भावनाओं में प्रधान भावना है। इस एकत्वको कितने पदों में जीव भाया करते हैं। पहले सर्व बाह्य पदार्थों की अपने से पृथक् मानों, फिर शरीर से पृथक् कर्मों से पृथक् कर्मों से पृथक् मानो, रागादिक के विकारों से अलग अपने को मानो। अपने में जो विचार वितक उत्पन्न होते हैं उन परिणतियों में से भिन्न अपने आपके स्वरूपका अनुभव करो। बहुत अन्तर में प्रवेश करनेवाले ज्ञानी के पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से कुछ रागादिक पीड़ा होती है। जब भेदज्ञान होता है तब उसे वह आफत समझता है और अपने एक अविनाशी ज्ञानस्वभावकी ओर लिप्सा बनी रहती है इस ही कारण उन अचेतन और चेतन द्रव्यों में उपभोग

किए जाने पर भी यह सम्यग्दृष्टि जीव कर्मों की निर्जरा करता है। रागकी अपनायत में सम्यक्त्व नहीं रहता, देखिये गाथा 201-202 के एक प्रवचनांश में जिस जीव के परमाणु मात्र भी राग है, रागादिक विकार का अंश मात्र भी है वह समस्त आगमोका धारी होकर भी आत्माको नहीं जानता है। यहां किस रागाक निषेध किया जा रहा है? जिनकी श्रद्धा भी रागसे रंगी है अर्थात् जो राग की कणिका मात्र को भी आत्मा का स्वरूप या हेतु जानते हैं, रागरहित शुद्ध ज्ञानका स्वरूप या हेतु जानते हैं, रागरहित शुद्ध ज्ञानका स्वरूप परिचय नहीं पाते है ऐसे जीव कितने सर्व आगमको द्रवलिङ्गी मुनि भी ज्ञात कर सकते हैं इतने सब आगमको धारण करके भी वे आत्मा को नहीं जानते हैं और जब अपने आपके स्वरूपको नहीं जानते हैं तो अनात्माको भी वे नहीं जानते हैं। जो जीव आत्मा और अनात्माको नहीं जानता है अर्थात् जीव और अजीव को नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

देखिये 203 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में आत्मा के परमविकास का कारण निर्विशेष उपयोग यह ज्ञानी संत विशेष का उदय नष्ट करता है अपने को किसी विशेषरूप नहीं मानता, और सामान्यका ही कलन करके, सामान्यका ही अनुभव करके यह समग्र ज्ञानकी एकताको प्राप्त करता है अर्थात् स्वयं को यह एक ज्ञानरूप अनुभव करता है। यहीं आत्माका निजपद है और इस ही निज पद में कल्याण है। इसी से ही मोक्षमार्ग मिलता है। यही आत्माका भगवान्तां ने किया था जो आज उत्कृष्ट पदमें अवस्थित हैं, जिनकी बड़ी भक्ति से हम उनकी पूजा करते हैं। उन्होंने इस ही एक ब्रह्मस्वरूपके अनुभव का मार्ग अपनाया था। इस ही आत्मस्वभाव की उपासना की परिणति से ये कर्म ध्वस्त होते हैं, संसार मिटता है और शिवपद की प्राप्ति होती है इसलिए सर्व प्रयत्न करके इस क्षणिक भावको छोड़कर ध्रुव जो आत्मीय चैतन्यस्वभाव है, ध्रुव स्वभावका हमें अनुभव करना चाहिए और हम उस अनुभव के पात्र रह सकें इसके लिए न्यायरूप अपनी प्रवृत्ति करना चाहिए।

अध्रुव को छोड़कर ध्रुव की दृष्टि करने में ही आत्महित है, इस तथ्य को देखिये 204 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें-भैया, परिणतिया तो मिटती हैं, पर परिणतियों का जो स्रोत है, जिसकी ये दशायेँ हो रही हैं वह मैं हूं। वह नहां मिटता। तो इन समस्त ज्ञानों में जो मूल ज्ञान स्वभाव है यह ज्ञानस्वभाव नहीं मिटता है। यही परमार्थ है और इस परमार्थ को ही प्राप्त करके जीव मुक्ति को प्राप्त करता है। किस का हम चिन्तन करें तो मोक्ष मिले, इसका वर्णन इस गाथा में है। सारतत्व शरण क्या है, परमार्थ यह ज्ञानपद शरण है। हित के लिए इसके आगे और कुछ देखने की जरूरत नहीं है। आत्मा परमार्थ है और वह ज्ञानमात्र है। आत्मा एक ही पदार्थ है। मैं आत्मा एक ही पदार्थ हूं। जैसे कि पशु पक्षी नारको मनुष्य आदि बने रहने से आत्मा अन्य अन्य नहीं

हो जाता । मैं वही का वही हूँ। सो मैं आत्मा एक ही हूँ। जब मैं आत्मा बने रहने से आत्मा एक ही पदार्थ हूँ तो आत्मा है ज्ञानस्वरूप । वह ज्ञान भी एक ही पद है । इस ही एक परम पदार्थ का शरण कहो ।

यथार्थ ज्ञानसे ही संकट छूट सकते हैं, अवधारण कीजिये 209 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में भैया, संकट जगत में कुछ नहीं है। केवल विकल्प हो संकट है। कोई गुजर जाय, किसी इष्ट पुरुष का वियोग हो जाय और होगा वियोग नियम से । ऐसा कोई अनोखा नहीं है कि जिसके मां बाप स्त्री पुरुष सदा रहेंगे। वियोग अवश्य सदा होगा और वियोग के समय में दुःख होगा। जिसका संयोग हुआ उसका वियोग नियम से होगा। चाहे खुद पहिले गुजर जायें, चाहे मां बाप आदि गुजर जाये, वियोग अवश्य होगा। वियोग होता है तो हो, वे सब पर पदाथ्र हैं, मूढ़ बुद्धि बस रही है। जगत के अन्य जीवों में से दो चार जीवों की छांट लिया कि ये मेरे हैं तो उसके फल में उसे दुःख अवश्य होता है। मुझे दुःखी करने वाला कोई नहीं है। सो छिदो, भिदो, कोई कहीं ने जावो, अथवा नाशको प्राप्त हो, कहीं जावो तो भी मैं पर पदार्थों को ग्रहण नहीं करता। मैं सदा अपने आपके रूपमें रहता हूँ, अपनी शक्तिमें रहा करता हूँ, जिस कारण परद्रव्य मेरे स्व नहीं है। तो मैं परद्रव्यों का स्वामी हूँ।

217 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में ज्ञानौकी रागरस रिक्तता देखिये ज्ञानी जीनके ये समस्त कर्म चूँकि ज्ञानी रागरस से रिक्त है इस कारण परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता है। स्त्री पुत्रादिक के पालन के परिग्रह भावको नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि उसके पालने की प्रबृति में रागरस नहीं है। पालना पड़ता है । जैसे कभी परिवार में या सद्गोष्ठी में, मित्रो में रागरस न रहे तो कायदे कानून के अनुसार बोलना पड़ रहा है, पर परिग्रह नहीं रहता है। परिग्रहभाव रहे तो शल्य रहती है, खिन्नता रहती है, बन्धन रहता है, पर रागरस से रिक्त रहने के कारण उसमें परिग्रह भाव नहीं रहता। जैसे जो वस्त्र अकषायित हो तो उसमें रंग का सम्बन्ध होने पर भी रंग बाहर बाहर लौटता है। वस्त्र रंगने के लिए पहिले मजीठा वर्गरहमें भिगोया जाता है। जैसे आजकल केवल फिटकरी में भिगो दिये जाते हैं और फिर उनपर रंग चढ़ाया जाता है। यदि किसी वस्त्र को हर्षा और फिटकरी के पानी में न भिगोया जाय, खाली पानी में भिगोया जाय तो वस्त्र पर रंग न चढ़ेगा। अगर उसे फींचकर धो दो तो रंग छूट जाता है । इसीलिए यह कहावत है कि हर्षा लगे न फिटकरी, रंग चोखा हो जाय—सो ऐसा नहीं हो सकता है जिस वस्त्रमें कषायित्व नहीं किया गया है उस वस्त्रमें रंग चढ़ता नहीं है इसी प्रकार जिस पुरुष में रंग रस नहीं है उस पुरुष में कर्म और बाह्य उपाधि परिग्रह नहीं बन सकते हैं। यह परिग्रह केवल बाहर लौटता है, दिखता है। सम्बन्ध किया जाता है फिर भी अन्तर में मिली नहीं है, इसका कारण क्या है कि ज्ञानी पुरुष

स्वभाव से ही स्वरसतः ही सर्व रागसे हटे हुए स्वभाव वाला है। इस कारण ज्ञानी पुरुष कर्मों के मध्य में पड़ा हुआ भी तन, मन, वचन की क्रियाओं के बीच में पड़ा हुआ भी उन सर्व कर्मों से लिप्त नहीं होता है।

निष्काम कर्मयोग की झलक देखिये 227 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—जिसने फल की चाह छोड़ दिया उसे जो करना पड़ता है उसको किया गया नहीं कहा जा सकता। वह अकृत की तरह है। जैसे किसी नौकर को आपका काम करने का भाव नहीं है। आप सामने होते हैं तो थोड़ा थोड़ा करता है, आप मुख मोड़ लेते हैं तो वह काम बन्द कर देता है। आपके खड़े होने पर उसे विवश होकर करना पड़ रहा है। जब इच्छा ही नहीं है करने की तो आप कह बैठते हैं कि यह तो काम ही नहीं करता है। अरे कुछ तो कर रहा है। पर कुछ किया गया काम न किए गये में शामिल है, क्योंकि उसकी भावना काम करने की ही नहीं है तो यह न करना कहलाता है। सम्यग्दृष्टि जीव के जब भोग अथवा अन्य कोई चेष्टाये भोगने का भाव ही नहीं है और भोगने में आ रहा है, करना पड़ रहा है तो मैं तो उसके अस्निग्धभावों की ओर से कह रहा हूँ कि वह करता ही नहीं है।

ज्ञानी के अत्राणमय नहीं होता, पढ़िये 228 वीं गाथा का एक प्रवचनांश—ज्ञानी पुरुषको भय, नहीं रहता है। इस प्रकरण में आज अत्राणका भय ज्ञानी पुरुषको नहीं रहता है इसका वर्णन होगा। जो पदार्थ सत् है वह नाशको प्राप्त नहीं होता है। यह वस्तु की स्थिति है। जो सत् है वह सत्के कारण अविनाशी हुआ करता है। यहां उसका सर्वथा अभाव कैसे किया जा सकता है? चाहे पानी का हवा हो जाय, हवाका पानी हो जाय फिर भी सद्भूत तत्त्व तो रहता ही है। सत्का कभी अभाव नहीं होता। ज्ञान स्वयं सत् है। यहां ज्ञान के कहने से ज्ञानमय द्रव्य को ग्रहण करना चाहिए। यह ज्ञानमय आत्मतत्त्व स्वयमेव सत् है, फिर दूसरे पुरुषों से इसकी क्या रक्षा कराना है। अज्ञानी जीव को यह भय रहा करता है कि मेरी रक्षा हुई या न हुई, मेरी रक्षा हुई न हुई, मेरी रक्षा किससे होगी? पराधीन भाव वह बनाये रहता है, परोन्मुख रहता है। ज्ञानी सोचता है कि इसका तो कभी नाश हो नहीं होता है, क्योंकि यह सत् है, फिर दूसरे से क्या दूसरे से क्या रक्षा की याचना करना? अतः ज्ञानी के अत्राणका भय नहीं होता।

230 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में निःकोक्षता पाने की रीति देखिये— मोही जीवों को जो अपने को पर परिणति प्रतिकूल लगता है उसे तो समझते हैं कि यह अनहानी हो रही है और जो परपरिणति अपने को अनुकूल जचती है उसे मानते हैं कि यह बात तो मेरे जैसे नवाब के लिए होना ही चाहिए, पर ये सारे विभाव आत्मापर क्लेश के लिए ही आये हुए हैं। ये सब

किसी पर पदार्थ से नहीं आये, कर्मों से नहीं आये हैं। कर्मों का उदय तो निमित्त मात्र है। ये विभाव मेरे ही अज्ञान परिणति से उठे हुए हैं। मुझपर कोई विपत्ति आती है तो मेरे ही अज्ञान परिणमनसे आती है, किसी अन्य पदार्थ से नहीं आती। हम अपने को सम्हाले रहे, सावधान बनाये रहे और फिर मेरे ही किसी परिणाम से मुझे विपत्ति आ जाय सो ऐसा भी आकस्मिक उपद्रव नहीं है।

निर्जुगुप्ता अंग के वर्णन में देखिये 231 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में परमार्थ जुगुप्सा एक महान् अपराध है अपने आपकी प्रभुता के स्वरूपसे प्रतिकूल रहना यह सबसे बड़ा दोष है। यही परमार्थ से जुगुप्सा है। धर्मस्वरूपमय निज परमात्मतत्व से ग्लानि करना, मुख मोड़े रहना यह महान् अपराध है, और केवल अपने आपके प्रभु पर अन्याय करने मात्र का ही अपराध नहीं है, किन्तु जगत के समस्त जीवों पर, सर्व प्रभुवों पर यह अन्याय है। अपने आपके स्वरूपका पता न हो सकें यही निज प्रभु पर अन्याय है अनन्त प्रभुवों पर अन्याय है। सम्यग्दृष्टि पुरुषअपने आपके स्वभाव से विमुख नहीं होता, अपने स्वरूपसे जुगुप्सा नहीं रखना, किन्तु रुचि रखता है। इस धर्ममय आत्मप्रभुकी सेवा में रहकर कोई कष्ट भी भोगना पड़े, उपद्रव उपसर्ग भी सहना पड़े तो भी उनमें विषाद नहीं मानता। अपने परिणामों की ग्लान नहीं करता, ग्लान नहीं होता। यही है परमार्थ से निर्विचिकित्सक अंग का दर्शन।

ज्ञानी की वास्तविक प्रभावना देखिये 236 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक भावस्वरूप है। उसने अपने ज्ञान से समस्त शक्तियां को लगाकर, जगाकर अपनी पर्याय के अनुरूप अपने को विकसित किया, इसलिए वह प्रभावनाकारी जीव है। जैन धर्म की अथवा वस्तुविज्ञान को मोक्षमार्ग की प्रभावना यह जीव रत्नत्रय तेज से ही कर सकता है। कहते हैं धर्म की प्रभावना करो—किसकी प्रभावना करना है? धर्म की। तो धर्मका जो स्वरूप है वह जीवों की समझमें आये यही प्रभावना कहलायेगी। समारोह होना, उत्सव मनाना ये सब इस प्रभावना के सहकारी कारण हैं। ये स्वयं प्रभावना नहीं हैं, जिसकी प्रभावना करना है वह लोगों के चित्त में बैठे तो प्रभावना कहलाती है। प्रभावना करना है धर्म की। धर्म कहते हैं वस्तु के स्वभावको। उपदेश के द्वारा अथवा साधु पुरुषों की मुद्रा के द्वारा जो जीवों पर यह छाप पड़ी प्रभावना पड़ी कि अहो, सर्व विकल्पों से पृथक हो सके बस उन ही उपायों के करने का नाम प्रभावना है।

138 समयसार प्रवचन द्वािभाग

समयसार ग्रन्थ की 237 वीं गाथा से लेकर 264 वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन इस भाग में है।

अन्धाधिकार में यह सिद्धान्त रखा कि कर्मबन्ध अन्य अन्य कारणों से नहीं, किन्तु रागादिकी उपयोग भूमि में ले जाना बन्धका कारण है, इस बात की सिद्धि करते हुए प्रसंगवश यहां यह कहा जा रहा है एक आत्मा में ज्ञातत्व व कर्तृत्व दोनों के रहने का परस्पर विरोध है, पढ़िये पृ० 14 –भैया, कर्मयोग जितना साथ लगा है यह तो दोष है, दण्ड है। इस ज्ञानी जीव के चूंकि ऐसी स्थिति है कि मिथ्यात्व तो रहा नहीं, विपरीत आशय तो है नहीं, अपने ही स्वरूपका परिचय बना हुआ है, फिर भी कुछ समय तक ही पूर्वकाल में जो अज्ञान से बन्धन किया था उन बन्धनों में जो बन्धन शेष है उसके विपाक में इसके अभी प्रवृत्ति वच रही है, कर्मयोग हो रहे हैं, पर वे कर्मयोग बन्ध के कारण नहीं हैं, क्योंकि निष्कामता का वहां साथ है। सो इस प्रकार ज्ञानी जीव के ये दोनों बातें विरोध को प्राप्त नहीं होती कि वह कुछ करना भी है और जानता भी है।

वस्तु स्वातंत्र और निमित्तनैमित्तिक भाव इन दोनों से लोक की व्यवस्था बनी हुई है। यदि इनमें से कोई एक न हो तो लोकव्यवस्था नहीं रह सकती, इसको समझने के लिए निम्नलिखित प्रवचनांश पढ़कर फिर उस पुस्तक के कुछ आगे भी पढ़िये—प्रवचनांश गाथा 249 पृ. 31 लोकव्यवस्था यह वस्तु के स्वरूपास्तित्वको निरखकर ध्यान में लगता है। प्रत्येक द्रव्य मात्र अपने गुणों में अपना परिणमन कर पाते हैं और इसी कारण यह लोक व्यवस्था बनी हुई है। निमित्त नैमित्तिक भावका होना और प्रत्येक पदार्थ का मात्र अपने गुणों में ही परिणमन कर सकना, इन दो बातों की वजह से यह लोक टिका हुआ है, व्यवस्था बनी हुई है। इनमें से यदि कोई एक अंश निकाल दिया जाय, प्रत्येक द्रव्य अपने में अपने गुणों से परिणमता है, यह एक अंश और परस्पर एक दूसरे को निमित्त को पाकर यह सब दृश्यमान रचना चल रही है, यह एक अंश इन दोनों अंशों में से यदि कोई अंश निकाल दिया जाय तो लोकव्यवस्था नहीं बन सकती।

अज्ञान के मूल प्रवाह में रागद्वेष की दो धारायें कैसे बनती। इसे देखिये गाथा 249 के इस प्रवचनांश में पृ० 38 पर को अटक में उपयोग की दो धारा—भैया, यह उपयोग एक प्रकार का है, किन्तु जब यह अपस्रोत को छोड़कर बाहर से अपनी धारा का प्रवाह लेता है तो बाह्य विषयों से अटककर इसकी दो धारायें बन जाती है। जैसे स्रोतस्थान से चली आई हुई एक मोटी धारा किसी चीज से टकराकर दो धाराओं के रूप में बन जाती है इसी प्रकार से वह परिणाम आत्मा को बाह्य वृत्ति, बाह्य विषयों से टकराकर दो धाराओं में हव निकलता है कुछ रागरूप और कुछ द्वेषरूप। न हो किसी बाह्य विषयों का ख्याल, न किया जाय किसी परवस्तु का ध्यान, तो इस उपयोग में दो धारें कैसे बन जायेंगी—रागरूप बन जाना और द्वेषरूप बन जाना। जब राग और

द्वेषरूप दो धारायें हो जाती है तो इनकी छटनी होने लगती है, कौन उसे भला है कौन उसे बुरा है।

हितार्थी को उपादान निमित्त के सम्बन्ध में कैसा निर्णय है और किसका लक्ष्य है इसकी एक झांकी की गाथा 256 के इस संक्षिप्त प्रवचनांश में देखिये पृ० 66 हितार्थी का लक्षितत्व सुख दुखका मूल है तो मोह भाव और आप करें क्या? वर्तमान स्थिति विकार की है, विकार निमित्त पाये बिना नहीं होते, लेकिन अब हम और आप क्या करें, निमित्त की सिद्धिमें, निमित्तकी चर्चा में, निमित्तकी दृष्टि में हम अपने क्षण गुजारें, तो हितकी बात तो नहीं मालूम देती है। यह सब तो निर्णय किये जाने का काम है। हो गया निर्णय परदृष्टि किस ओर लगाना है? इसकेलिए प्रकट यह उपदेश दिया गया कि हे कल्याणार्थी तू अपनी ओर ही दृष्टि दे, तू केवल अपने आत्माकी ओर ही दृष्टि रख। क्या यह आत्मा किसी पर के स्वरूपको लपेटे हुए है? इसके स्वभावको निरखो। प्रत्येक पदार्थ मात्र अपना स्वरूप ही रखता है।

मेरे को दुखी करने वाला कोई अन्य नहीं है, मेरे को दुख मेरे ही अपराध से होता है, यह निष्कर्ष निकाल लीजिये गाथा 256 के निम्नांकित प्रवचनांशसे पृ० 71 भैया, जो भी दुखी होता है वह अपने अपरा से दुखी होता है। यदि यह जीव निरपराध हो तो दुखी नहीं हो सकता है। जगत की ओर दृष्टि की यह ही प्रथम अपराध है। किसी ने कोई उपमानजनक वचन कहा उसको सुनकर हम दुखी होते हैं तो यह लगाव रखकर ही तो दुखी होते हैं कि इन चार आदमियों में इसने मेरी तोहीन की है। अरे इन चार आदमियों पर अपने सुख के लगाव की दृष्टि से निगाह रखना प्रथम तो यह अपराध किया और इस अपराध के कारण विकल्प हुआ, उन विकल्पों से यह दुखी हुआ, उस अपमानजनक शब्द बोलने वालेने दुखी नहीं किया वह तो अपने कषाय के अनुकूल अपना परिणामन करके अपने में ही समाप्त हुआ, उससे मुझे दुख नहीं आया, किन्तु मैं ही कल्पनायें बनाकर दुखी हुआ। ऐसी कल्पनायें बनाना यही मेरा अपराध है और उस समय उस प्रकार के कर्मोदय का निमित्त है।

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के वर्णन में भी भयका अनवकाश, दस वृत्तान्तको पढ़िये—गाथा 259 के प्रवचनांश में —पृ० 92 भैया, इस बात से घबड़ाकर कि कहां आत्मा के स्वभाव की स्वतंत्रता नष्ट हो जाय, निमित्त को न मानें अथवा निमित्त को एक अलंकार रूपमें ही शास्त्रों में कहा जाँ, इस प्रकार की दृष्टि करके निमित्त को न समझना, न समझना या उड़ा लेना यह कोई बुद्धिमानी नहीं है, किन्तु यह जानना चाहिए कि निमित्त का वर्णन भी आचार्यों ने हमारी मंसा की पूर्ति के लिए क्या है। हमारी मंसा है अपने शुद्ध स्वतंत्र स्वभाव को निरखना। यही तो चाह है ना सभी कल्याणार्थियों की जो अपने

केवल स्वभाव को नहीं देखना चाहता है वह तो कल्याणार्थी नहीं है। जहां यह वर्णन आता है कि ये सब सुख दुख, ये सब व्यवस्थाये ये सब रागद्वेष मोह सब विकार कर्मों के उदय के विपाक से प्रभव हैं। इतनी बात सुनकर तुरन्त यह ज्ञान होता है और उत्साह होता है कि यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो टंकोत्कीर्ण वत् निश्चल एक शुद्ध ज्ञायकस्वभावमात्र हूं।

अध्यवसायों से स्वयं का अनर्थ होता है इसका एक चित्रण देखिये 261 वीं गाथा के इस प्रवचनांश में पृ० 101-102 अध्यवसायों से स्वयं का अनर्थ जैसे कोई बुढ़ी, पुरानी देहाती बुढ़िया जोपुराने दिमाग की है, असभ्य है वह अपने ही घर में बैठे हुए दांत किटकिटाती हुई दूसरे को कौसती रहती है जिससे उसे क्लेश होता ही, उसे जो दुश्मन दिखता हो। देखनेवाले लोग उसे अज्ञानी देखते हैं। केसा अपने शरीर को कष्ट पहुंचा रही है। इसकी इस क्रिया को करने से वहां कुछ होता नहीं है, बल्कि ईश्वरसे प्रार्थना करती है हाथ पीट पीटकर कि हे भगवान् इसका विनाश करदो। तो ये सब चेष्टायें क्या उस दूसरे जीव के अहित के कारणभूत बनती है? उसका ही उदय अशुभ होगा तो क्लेश आयगा, पर इसके सोचने से दूसरे को क्लेश नहीं होता। दूसरे जीवका सब कुछ जीवन मरण, सुख और दुख उसके उपार्जित किये हुए कर्मोदय के आधीन है, दूसरे जीव के विचार के आधीन नहीं है।

पुण्य व पाप दोनों के बन्धमें कारण अध्यवसाय है, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा 264 के इस प्रवचनांश में— पृ० 111-112 सर्वत्र अध्यवसायकी बन्धहेतुता—अध्यवसायको बन्धकी दृष्टि से देखा जाये तो पाप में भी वही पद्धति हुई और पुण्य में भी वही पद्धति हुई, अर्थात् कहीं ऐसा नहीं है कि पाप का बन्ध अध्यवसाय से होता ही और पुण्य का बन्ध रत्नत्रय के पालन से होता हो, रत्नत्रय के पालन से निर्जरा है, बन्ध, दया सत्य बोलना, ब्रह्मचर्य का पालना, परिग्रहका त्यागना इनका अध्यवसाय हो तो पुण्यबन्ध होता है। जैसे पराश्रयक परिणामों में लगाव, किसी परविषयक उपयोग परिणामन उस पापबन्धमें हुआ है, इसी प्रकार पराश्रयक परिणामों का लगाव किसी परके विषय में उपयोग का योजन इस पुण्यबन्ध में भी हुआ है।

139 समयसर प्रवचन एकादश भाग

इस पुस्तक में समयसार ग्रन्थकी 265 वीं गाथा से 286 गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। परवस्तु के कारण बन्ध नहीं होता, किन्तु जीव के रागद्वेष आदि अध्यवसानके कारण बन्ध होता है, इससे सम्बन्धित 265 वीं गाथा का एक प्रवचनांश पढ़िये पृ० 1 पराश्रयतापूर्वक अध्यवसानका निर्माण उस बन्ध के कारणभूत आत्मा के जो अध्यवसान हुए हैं उन अध्यवसारनों में ऐसा निर्माण है कि किसी न किसी

परवस्तुका आश्रय किये बिना राग हो जाय तो उस राग का स्वरूप क्या, क्या हुआ वहां? राग में तो किसी वस्तु विषयक स्नेह होता है और कोई वस्तु इसने उपयोग में ली नहीं तो राग क्या हुआ? यावन्मात्र अध्यवसान होता है, वह पर पदार्थों का आश्रय करके होता है, इस कारण यह भ्रम न करना किं परवस्तु ने मुझे बांधा है। परवस्तु तो मेरे बन्धन में आश्रयभूत है, बन्धन तो मेरा मेरे परिणाम से है। अध्यवसान ही बन्धका कारण है। बाह्य वस्तु तो बन्ध के कारण का कारण है।

अध्यवसानभाव मिथ्या हैं, क्योंकि वे अर्थक्रियाकारी नहीं हैं, इसका दिग्दर्शन करें 266 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में पृ० 11 परविषयक सर्वविकल्पों का मिथ्यापन इस कारण मैं दूसरे को दुखी करता हूं, सुखी करता हूं, बांधता हूं, ऐसा सोचना मिथ्या है। जैसे कोई कहे कि मैं आज आकाश के फूल तोड़ूंगा तो जैसे उसका यह कहना बावलापन लगता है इसी प्रकार यह भी बावलापन है कि मैं दूसरे को दुखी करता हूं, सुखी करता हूं, क्योंकि परके लिए, ये परमें काम नहीं होस कते हैं। जैसे कि आकाशसे फूल तोड़ने के परिणाम में कोई अर्थक्रिया नहीं है इसी तरह दूसरे के दुखी सुखी करने की, बिगाड़की कोई अर्थक्रिया नहीं है। इस कारण यह विकल्प करना मिथ्या है।

268 वीं गाथा में बताया है कि जीव अध्यवसान से अपने को देव, नारक, तिर्यच, मनुष्य, पुण्य, पाप आदि नाना रूप कर लेता है। इसके एक प्रवचनांश में बताया है कि जीव को अनुभव अपनी प्रतीतिकी पद्धति के अनुसार होता है—पढ़िये पृ० 24 अध्यवसानके अनुभव साधारणतया तो सभी जीव निरन्तर अपने आपके किसी न किसी विषय में किसी अवस्थारूप मानते चले जा रहे हैं। तिर्यन्च हो, बैल हैं, घोडा ये अपने को उस ही रूपसे बराबर मानते हैं जैसे कि यह मनुष्य प्रायः रात दिन यह बात अपने उपयोग में बैठाये है कि मैं इन्सान हूं। अरे यह जीव इन्सान है कहां ? यह जीव तो चैतन्यस्वरूप मात्र है, भीतरी उपयोग की दृष्टि में बात की जा रही है। यह तो ज्ञानमात्र एक चैतन्यपदार्थ है। यदि ये जीव पशु होते तो निरन्तर पशु ही बने रहते। यह जीव के असाधारण ज्ञानस्वभावकी ओर से बात कहीं जा रही है।

अध्यवसानों में तो अन्धेरा ही अन्धेरा है इसमें हितका मार्ग नहीं मिलता, इसका दिग्दर्शन करें 270 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में पृ० 41 अध्यवसानों का अन्धकार उन अध्यवसानों को तीन भागों में विभक्त किया है। एक तो औपाधिक क्रियाओं से अपने को भिन्न न मान सकता और दूसरे अपनी जो पर्यायें हुईं उन पर्यायों से अपने को पृथक न समझ सकता, कुछ समाधानसहित ध्यान में लाइये और तीसरी बात जो जानने में आ रहा है, ऐसे पदार्थों से जिसके समय जो विकल्प हैं उस समय उन विकल्पों से अपने को

जुदा न समझ सकना, ये तीन तरह के अंधेरे होते हैं, जिन अंधेरों में रहकर अपने आपके स्वरूपमें स्थित जो कारण समयसार है, परमात्मतत्व हूँ? शुद्धस्वरूप है वह विदित नहीं हो सकता। यह गाथा बहुत गम्भीर है और अत्यन्त मर्म में पहुँचाने वाली थी। मोक्षमार्ग जैसा शिवमय पाने के लिए हमें कितनी पैनी दृष्टि करके अपने सहज स्वरूपको निरखना है, यह इसमें बताया गया है।

271 वीं गाथा में बन्ध और मोक्षकी मूल कुन्जी एक प्रवचनांश में पढ़िये पृ0 63 भैया, गत गाथाओं में यह प्रकरण चल रहा था कि मैं जिलाता हूँ, मैं मारता हूँ, दुखी संखी करता हूँ, ऐसा जो लगाव है राग है, अध्यवसान है वे सबके सब बन्धके कारण हैं। और, मोक्षका कारण तो अपने ज्ञायकस्वरूपको, अपने स्वभावको जैसा कि वह अपने आपकी सत्ता के कारण है उस रूपमें निरखना और मैं यह हूँ ऐसा दर्शन करने के कारण जो पर का आश्रय टूटता है और आत्माका आश्रय होता है यह है मोक्ष का कारण। ऐसा जानकर हे मुनिजनों, निश्चयनय में लीन होकर निर्वाण को प्राप्त करो। शुद्ध आत्मद्रव्यका दर्शन करना सो निश्चयका आलम्बन है और अपने आपके सत् से भिन्न अर्थात् किन्हीं पर सत्का आश्रय करके भाव बनाना सो व्यवहारनय है।

देखिये व्यवहारनयकी करुणा 277 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें पृ0 84 व्यवहार की करुणा देखो भैया, निश्चयन का स्थान देकर यह व्यवहार फिट हट जाता है। व्यवहार है प्रतिषेध्य, पर व्यवहार कितना उपकारी है कि व्यवहार का फलभूत जो निश्चय है उस निश्चको उत्पन्न करके यह व्यवहार खुद मिट जाता है कि अपना विनाश करके निश्चय को जमा जाता है, ऐसा निश्चय, दर्शन, ज्ञान, चरित्र जब उत्पन्न होता है कि अपना विनाश हट जाता है और ऐसी अनुभवकी स्थिति तब होती है कि वहां मात्र अपना आत्मा ही दृष्ट होता है। जाननमें, श्रद्धान में, स्पर्शन में, रमण में जो रहा करता है ऐसा निश्चयभूत जो रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती तब तक दृढ़ता नहीं होती।

वस्तु के वास्तविक ज्ञाता के बन्ध नहीं होता, इसका सन्देश देखिये 279 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें पृ0 94 वस्तुविज्ञानी के बन्ध का अभाव इस जीव में जो रागभाव आते हैं उनका निमित्त यह जीव स्वयं नहीं है। उसके पर पदार्थों का संग निमित्त है। यह आत्मवस्तु स्वभाव है कि प्रत्येक जीव अपनी ओर से ज्ञानरूप बनता है, परपदार्थों का संग होने से यह अज्ञानरूप बन जाया करता है। इस प्रकार वस्तु के स्वभाव को अपने आप के स्वरूपको ज्ञानीजन जानते हैं, इस कारण ज्ञानी जनों ` पूर्वभवों के बांधे हुए कर्मों के उदय से रागादिक भाव भी आये तो भी आने को रागादिक रूप नहीं बनाते। सो वे रागादिक के कर्ता नहीं होते। देखो अपने आप रागद्वेष आये तो हम मानलें

कि ये रागद्वेष मेरे स्वरूप हैं, मेरे सम्बन्धी हैं, किन्तु ऐसा तो है ही नहीं। जो सबसे भिन्न केवल ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको जानते हैं जीव रागादिक करने वाले नहीं हैं, वे कर्ता नहीं हैं। उनके कर्मों का बन्ध नहीं होता।

ज्ञानके बिना हित संभव ही नहीं, उस ज्ञान का प्रमुख उपाय एक स्वाध्याय है। सो जरा स्वाध्याय की विधि 280 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें पढ़िये—पृ० 103 स्वाध्यायविधि इस जीव को संसार की आकुलताओं से बनाने में समर्थ सम्यग्ज्ञान है। अनेक यत्न करके इस सम्यग्ज्ञान की उपासना करो। जो ग्रन्थ उठा लिया, यह ज्ञानवृद्धि का तरीका नहीं है जिस ग्रन्थ का स्वाध्याय शुरू करो उसी का स्वाध्याय अन्त तक करलो। उस के बाद कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि वही ग्रन्थ दुबारा फिर पढ़ लो। एक बार पढ़ लेने के बाद दुबारा पढ़ने से सभी बातें स्पष्ट समझमें आती रहती हैं। स्वाध्याय करने के साथ ही दो नोटबुक रखनी चाहिए। एक नाटबुक में जहां जो समझ में न आया उसे नोट कर लिया और एक नोटबुक में जो बहुत बहुत ही आत्मा को छूती है, जिससे शान्ति और संतोष मिलता है उस बात को नोट कर लिया। इस तरह से शुरू से अन्त तक उसी ग्रन्थ का स्वाध्याय कर लेने से ज्ञानमें वृद्धि होती है।

इस पुस्तक में समयसार की 288 वीं गाथा से 377 गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। 290 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में उसका साधकतम है आत्मस्पर्श, पढ़िये पृ० 6 मुक्ति कका साधकतम आत्मस्पर्श मोक्ष कैसे मिलता है इसका वर्णन चल रहा है। कोई लोग कहते हैं कि बन्धका स्वरूप, जानलो, उसका ज्ञान होने से मोक्ष मिल जायगा। आचार्य देव कहते हैं कि बन्ध का स्वरूप जानने मात्र से मोक्ष नहीं मिल सकता है। किन्तु बन्ध के दो टुकड़े कर देने पर अर्थात् आत्मा और कर्म ये दो किए जाने पर मोक्ष मिलता है, तो आत्मा और बन्ध के दो टुकड़े कैसे हों उसका उपाय है ज्ञान और ज्ञानकी स्थिरता। कितने ही लोग शास्त्रज्ञान बढ़ा लेते हैं बढ़ाना चाहिए, पर उन्हें उनके 148 भेद हैं, उन में इस तरह वर्ग हैं, वर्गण हैं, निषेक हैं, स्पर्धक हैं, उसकी निर्जराका भी ज्ञान कर लिया, कि इन गुणस्थानों में इस तरह निर्जरा होती है। ऐसा वर्ण, करने के कारण उन्हें मोक्षका मार्ग मिल जाय सो नहीं होता है। ज्ञान करना ठीक है, पर सके साथ भेदविज्ञान के बल से आत्मा का स्पर्श हो सके तो उन्हें मोक्षका मार्ग व मोक्ष मिलता है।

बन्धविच्छेद का उपाय नहीं बना पाते हैं उनका एक प्रतिबोधन 291 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें पढ़िये पृ० 12 धर्मध्यानांबुद्धिता बन्ध कैसे छूटे, रागादिक कैसे मिटें, ऐसे बन्ध के चिन्तन से मोक्ष नहीं होता है। कर्मबद्ध जीव

बन्धका चिन्तर करें अथवा उपायविचयनामक धर्मध्यान करें, अथवा ये रागादिक कैसे दूर हों, जन्म मरण कैसे मितें, नाना धर्मध्यानरूप चिन्तन भी चले तो भी इस धर्मध्यान में हो जिनकी बुद्धि अन्ध हो गई है, धर्मध्यान अच्छी चीज है, मगर इससे आगे हमारी कुछ कृतार्थता है यह बोध जिनके नहीं है, विशुद्ध, मात्र, केवल, सिर्फ धर्मध्यान, उस ही में जो अटक गये हैं, ऐसे जीवों को समझाया गया है कि कर्म बन्ध के विषय में चिन्ता करने रूप परिणाम से भी मोक्ष नहीं होता है। जैसे कोई बेड़ी से बंधा हुआ पुरुष है और वह बेड़ी के विषय में चिन्ता करें कि बेड़ी छूट जाय तो ऐसी चिन्ता करने मात्र से बेड़ी नहीं छूट जाती। इसी तरह अपने आपके बन्धनके सम्बन्धमें चिन्ता करें, कब छूटें, कैसे छूटे तो इतना मात्र चिन्तन करने से बन्धन नहीं छूट पाता है। वह तो बन्धन के छेदने भेदने काटने से ही छूट सकता है और बन्धच्छेद का उपाय है आत्मस्पर्श।

परतंत्रदशामें भी स्वरूपस्वातंत्र्यदृष्टि के स्वादका वृत्तान्त 293 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में देखिये पृ० 17 पारतंत्र स्थिति में स्वातंत्र्य दुष्टि के स्वाद को शक्यता होली के दिनों में आदमियों को विचित्र रंगों से रंग देते हैं, आधा मुंह काला कर दिया, आधा निला कर दिया, उपर से लाल कर दिया, पहिचालमें नहीं आता, ऐसी सूरत बना देते हैं, पर यदि मिठाई खावे तो उसे स्वाद आयगा कि नहीं आयगा? मिठाई का स्वाद उसे आया ही । बाहर से देखने में तो यह जीव गन्दे वातावरणमें है, परतन्त्र है, पर भीतर से यह अपने लक्ष्यको अपने स्वरूपमें ले जाय तो उसे ज्ञानका स्वाद मिल सकता है कि नहीं? मिल सकता है। तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको लक्ष्य में लेने से परतंत्र अवस्था दूर होती है। संसार से छूटकारा पाने का यही उपाय है।

बन्धविच्छेद से मुक्ति होती है, यह इस अधिकार में मुख्य विषय है, तो बन्धच्छेद किस साधन से होता है, उसका समाधान 294 वीं गाथा में है। उससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये—जिसमें बताया है कि प्रज्ञासे ही बन्ध का छेद है फिर प्रज्ञासे ही उपादेय का ग्रहण है, पढिये— 40 प्रज्ञा द्वारा भेदन और उपादेयका उपादान — प्रज्ञाके दोनों काम हैं जुदा जुदा कर देना और उनमें से जी अपना उपादेय तत्व है उसको ग्रहण कर लेना। जैसे चावल सोधते हैं तो सोधने वाले को यह ज्ञान रहता है कि यह तो चावल है और इसके अलावा जो कुछ भी है वह सब गैर चावल है। क्रीड़ा हो, धान की छिलको हो या और भी अनाज हो, घासका दाना हो वह सब गैर चावल है, तो उसे यह ज्ञान है कि यह चावल है और ये सब गैर चावल हैं त बवह गैर चावलों को अलग करता है और चावल को ग्रहण करता है। इसीतरह अपने आपके आत्मा में जैसा यह ज्ञात है कि चैतन्यचमत्कारमाव तो मैं आत्मा हूं और

बाकी रागादिक विकार अनात्मा हैं, पर चीज है तब उनपर तत्वों को छोड़कर अपने चैतन्य स्वभावमात्र आत्मा को ग्रहण करता है।

अपना दिल किसको आलम्बन करने में हित है इसका समाधान पाइये इस प्रवचनांश में पृ० 37 निजसहजस्वरूपका आलम्बन इस अध्यात्मयोग के प्रकरण में यह बात चल रही है कि हम कैसे शुद्ध स्वरूपका आलम्बन करें कि हमें मुक्ति का मार्ग मिले। जो अत्यन्त शुद्ध है ऐसा प्रभु, उनका हम आश्रय कभी कर ही नहीं सकते। हमारे आश्रय किये जानेवाले गुण परिणमन का विषय तो प्रभु बन गया है, पर आश्रय नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का सत्व जुदा है। एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का आलम्बन नहीं कर सकता, स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता, तब निज सहजस्वरूपका आलम्बन ही हित है।

भगवान और भगवतीका परिचय कीजिये 288 वीं गाथा के इस प्रवचनांश में पृ० 71 भगवान आत्मा और भगवती प्रज्ञा सो कल्पना से यह जीव देवी देवताओं को कुछ न कुछ रूपमें मान लेता है, किन्तु वे सब इस भगवती प्रज्ञा के रूप हैं भगवती मायने इस भगवान आत्मा की शुद्धपरिणति। कहीं मास्टर मास्टरनी की तरह, बाबू बबूआनी की तरह भगवान और भगवती नहीं होते। भगवान तो एक शुद्ध ज्ञानका नाम है और शुद्ध ज्ञानकी तो वृत्ति जगती है उसका नाम है भगवती। लोग कहते हैं कि भगवान की स्त्री आधे अंग में है। शिव का आधा अंग तो पुरुष है और भगवती स्त्री आधे अंग में है, और चित्र भी ऐसा बना लेते हैं कि दाहिना अंग तो पुरुष का जैसा आधा पेट, वक्षस्थल आदि स्त्री जैसी। अर्द्धांगकी कल्पना है। अरे भगवती की परिणति भगवती अर्द्धांगमें नहीं रहती है किन्तु सर्वांगमें रहती है। जितने में भगवान है उन सब प्रदेशों में यह प्रज्ञा भगवती है।

सर्वदोष अपराध संकट जिस दृष्टि द्वारा दूर हो जाते हैं उस दोषनिवारणी दृष्टि का अध्ययन करें 305 वीं गाथा के इस प्रवचनांश में, पृ० 105 दोषनिवारणी दृष्टि इस प्रकरणमें बात चल रही है कि जो जीव अपने सहज शुद्ध चैतन्य स्वभावकी दृष्टि रखता है, चैतन्यमात्र में हूँ और ऐसा ही जानने में उपयोगी रहता है वह तो है निरपराध आत्मा और जो अपने स्वरूपमें अपने को न लखकर बाह्य परिणमनों रूप अपने को तक रहा है कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं अमुक जाति का हूँ, अमुक कुलका हूँ, अमुक पोजीशनका हूँ आदिक रूपसे जो अपने को देखता है वह अपराधी है। जो अपराधी होता है वह कर्मों को बांधता है, जो निरपराध होता है वह कर्मों से नहीं बंधता। इस प्रकरण से शिक्षा यह मिलती है कि धर्मके लिए, संतोष के लिए, संकटों से छूटने के लिए अपना जो वास्तविक अपने अस्तित्वके कारण जैसा हूँ उसी रूप

अपने को लखते रहें, इससे सर्व दोष दूर हो जायेंगे 306 वीं गाथा में बताया है कि प्रतिक्रमण आदि विषकुम्भ है और 307 वीं गाथा में बताया है कि अप्रतिक्रमण आदि अमृतकुम्भ है, इनके प्रवचनों में यह प्रकाश डाला गया है कि अज्ञानी जनों का अप्रतिक्रमण तो विषकुम्भ है ही, किन्तु द्रव्यप्रतिक्रमण भी शुद्धोपयोग के मुकाबले में देखो तो विषकुम्भ है, इन दोनों स्थितियों से उत्कृष्ट जो अप्रतिक्रमण है वह अमृतकुम्भ है। इस प्रकरण को सुगमतया समझने के लिए एक प्रवचनांश में इन तीनों के नाम जैसे बताये हैं सो पढ़िये पृ0 167—

सुबोध के लिए नामान्तर तीन दशायें होती हैं—अप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। अच्छायों न बोलो—यों कहो पहिला अप्रतिक्रमण, दूसरा व्यवहारप्रतिक्रमण और तीसरा निश्चयप्रतिक्रमण। यह भाषा मर्म समझने में शुद्ध रहेगी। ज्ञानी जनों के वर्णन में तो ज्ञानात्मक ढंग का वहीं वर्णन था अप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। पर सुबोध के लिए इस प्रकार रखिये अप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रतिक्रमण और निश्चयप्रतिक्रमण। अर्थ खुलासा बतायेंगे इसलिए इस अनुत्साह में न बैठे कि क्या कहा जा रहा है, यह तो उंची चर्चा है। चित्त देने से सब समझ में आता है और चित न देने से दाल रोटी बनाने की तरकीब भी समझमें नहीं आती।

141 समयसार प्रवचन त्रयो भा भाग

इस पुस्तक में समयसार ग्रन्थकी 308 वीं गाथा से 327 वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारी आदि गाथाओं में सर्वविशुद्धता व स्वतंत्रता का दर्शन कराया है। उन प्रवचनों में से एक यह प्रवचनांश पढ़िये पृ0—30 स्वतंत्रता सत्तासिद्ध अधिकार यहां सर्वविशुद्ध भाको दिखाया जा रहा है और सबसे न्यारा केवल सत्वमात्र स्वरूपको दृष्टि की जा रही है। इस दृष्टि में इस जीव में केवल जीव ही जीव नजर आते हैं। ऐसा है वस्तु का स्वातंत्र्य सिद्धान्त। भारत की आजादी के लिए सबसे पहिला नार था तिलक का, और भी हों तो हम नहीं जानते। तो प्रथम नारा यह हुआ कि आजादी हमारा जन्मसिद्ध अधिकार हैं जब हम भी मनुष्य हैं और अंग्रेजो, तुम भी मनुष्य हो ओर मनुष्यों का आजाद रहना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है तो परिस्थितियां भले ही बन जया करती हैं, पर मनुष्य क्या गुलाम रहने के लिए पैदा होता है? उसे तो आजाद रहने का जन्मसिद्ध अधिकार है। जैनसिद्धान्त इससे बढ़कर बतलाता है कि वस्तु की आजादी होना सत्तासिद्ध रहना तो सत्तासिद्ध अधिकार है कि हम आप स्वतंत्र हों।

स्वतंत्र परिणमन का एक चित्रण, गाथा 313 का एक प्रवचनांश पढ़िये—पृ0 54 स्वतंत्र परिणमन भैया, जीव जो करेगा सो अपना कार्य करेगा। कर्मों में जो परिणमन होगा सो उसका अपना होगा, पर इन दोनों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव है। जैसे मोटे रूपमें अभी का दृष्टान्तलो—आपने पूजा वालो को रोका तो वे और जोर से बोलने लगे। और, पूजा वाले जोर से बोलने लगे तो आपमें और रोष आने लगा। इस सम्बन्ध में आपका पूजकोंन कुछ नहीं किया, आप अपने में कल्पनायें बनाकर हाथ पैर पीटकर बैठगये और पूजकों का आपने कुछ नहीं किया, वे भी अपनी शान समझकर अपनी कल्पनासे अपने आप जोर से चिल्लाने लगे। हम आप अपने परिणमन से अपनी चेष्टा करने लगे, वे अपने परिणमनसे अपनी चेष्टा करने लगे। ऐसा भी सब जगह हो रहा है। घर में भी ऐसा ही होता है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को कुछ भी परिणमन कर सकने में समय नहीं है पर निमित्त नैमित्तिक भाव का खण्डन भी नहीं किया जा सकता। न ही निमित्तनैमित्तिक भाव तो बतलावो यह सारा संसार कहां से आ गया? कैसे हो गया?

अज्ञान में किसका आदर होता है और ज्ञान में किसका आदर होता है देखिये— 315 वीं गाथा का एक प्रवचनांश पृ0 63 अज्ञान और ज्ञान में आदर का विषय भैया, अज्ञान दशा में विकल्पों का आदर था चेतन अचेतन संग का आदर था, परन्तु ज्यों ही उसके निर्विकल्प अवस्था में हित की बुद्धि प्रकट हुई और निःशंक अत्यन्त एकाकी स्वरूपमें रहने का भाव हुआ, अब वह अपने स्वरूपमें समाने की धुन में लग गया है तो जब तक यह जीव अज्ञानी रहता है तब तक तो यह कर्ता कर्मभाव समाप्त हो जाता है और जैसे कर्तापन जीवका स्वभाव नहीं था, पर अज्ञान से कर्मका कर्ता बन गया, इसी तरह भोक्तापन भी जीव का स्वभाव नहीं था किन्तु अज्ञान से यह कर्मफल का भोक्ता बन रहा है। अज्ञान न रहे तो यह स्वरस भोक्ता होकर अपने अनन्त आनन्दमें मग्न हो जायगा। बस, दो ही तों निर्णय हैं—एक ज्ञान का विलास और एक अज्ञान का विलास।

व्यवहारनयसे हम क्या शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, देखिये एक प्रवचनांश—पृ0 73 व्यवहारनयसे शिक्षा व्यवहारनयने से यह बताया कि ये राद्वेष भाव पुद्गल का निमित्त पाकर उठे हैं। इनसे हमें क्या शिक्षा लेनी है कि ये मेरे स्वभाव से नहीं उठे हैं। मेरा स्वभाव तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपका आलम्बन कराने के लिए व्यवहारनयका उद्गमन हुआ है कुनयके परिज्ञान तकसे हम किसी प्रकार कल्याणमार्ग पर जा सकते हैं और कुनय को यदि हम सुनय समझलें तो मेरी फिर दृष्टि में कुनय है ही नहीं, फिर उस दृष्टि से हित मार्ग में नहीं जा सकते हैं।

आनन्दविधातका कारण तो कषायका भार है, इस विषयका एक चित्रण 316 वीं गाथा के प्रवचनांशमें देखिये— पृ0 79 आनन्दविधातका हेतु कषायका भार जैसे तीन मेंढक हों और एक के उपर एक चढ़े हुए हों, चढ़ जाते हैं ना मेंढक एक के उपर एक? तो उन तीनों मेंढकों में सुखी कौन है? उपर का मेंढक, और वह कहता है कि हेच न गम, मुझे कोई परवाह नहीं, अच्छे कोमल गद्देपर बैठे हैं, तो बीच का बोलता है कुछ कुछ कम। पूरा आनन्द तो नहीं है मगर एक उपर चढ़ा हुआ है मेरी इसलिए कुछ कुछ कम चैन है। है थोड़ी जरूर, पर नाचे का कहता है कि मरे तो हम। नीचे कंकड़ों पर पड़ा है, जमीन पर पड़ा है और उपरसे बोझ लदा है, सो ऐसी तीन तरह की परिस्थितियां होती है जो अशुद्ध को जाने ही नहीं क्या मतलब ? दृष्टि ही नहीं देता है उसको हेच न गम, ओर एक अशुद्ध में पड़ गया, परन्तु उससे हटा हुआ करता है, वह कहता है कि कुछ कुछ कम। और जो अज्ञानी बोण से लदा हुआ है परको अहं रूपसे अनुभवता है उसकी दशा है मरे तो हम जैसा ।।

ज्ञानकलाक प्रताप देखिये प्रवचनांश में पृ0 85 मैं ज्ञानमात्र हूं, और कुछ हूं ही नहीं, बाहरी परिग्रह छिदजायें, भिदजायें कहीं जीवविलयको प्राप्तहो, वह तो मेरा कुछ ही नहीं, उसका परिग्रहनहीं है, ऐसा निर्णय रखनेवाला जो ज्ञानी पुरुष अपने को अपने में ले जाय तो सारे दुःख संकट ये उसके एक साथ समाप्त हो जाते हैं। उनमें यह कम भी नहीं होता कि पहिले अमुक दुःख मिटेगा। एक इस कलाका अभ्यासी अपने को बनाना यही एक काम करना है। बाहरी बातों को उदय पर छोड़िये क्योंकि जब चाहते हुए भी चाहने के अनुसार बाहर में कुछ काम होता नहीं है तो उस काम के पीछे क्यों पड़ा जाय, उसे छोड़ा उदयानुसार जो काम स्वाधीन है, आत्महित के कार्मों की ओर दृष्टि दीजिये।

नरनारकादि पर्यायों का व रागादिक भावों का कर्ता आत्मा नहीं है, ऐसा न मानकर जो आत्मा को ही मानते हैं, इस विषय का दिग्दर्शन कीजिये 323 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें पृ0 121 कर्तृतवव्यामोहकी समानता—भैया, लौकिक पुरुषो ने तो परमात्माको कर्ता मानान है हम सबकी अवस्थाओं का । सो वह कर्ता है तो नित्य कर्ता कहलाया, और यहां श्रमणजनों ने भी अपने आत्मा को नित्य कर्ता माना है। तो लौकिक पुरुषों के व इन लोकोत्तर श्रमणों के भी मोक्ष नहीं होता है। परद्रव्य में और आत्मतत्व में रंच मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, पर मोह का नशा ऐसा जड़ा हुआ है जगत के जीवोंपर कि चितसे हटता ही नहीं है। मेरे भाई हैं, मेरा परिवार है, मेरा धन है, मेरा शरीर है और तो बातें जाने दो, मेरी बात है, मेरी बात नहीं मानी गयी, अब हो गये बीमार। दुखी हो गये, कष्ट में आ गये, कष्ट में आ गये, अरे तेरी तो कुछ

बात भी नहीं है। तेरी तो निसतरंग चैतन्यस्वरूप है। अहो कैसा नशा है बात का, मोह का। बात के पीछे लोग अपना घर भी बरबाद कर देते हैं।

देखिये व्यवहार भाषा का क्या प्रयोजन है और उसका व्यवहार किस प्रकार होता है पढ़िये गाथा 325 का एक प्रवचनांश—व्यवहारभाषा के व्यवहार और उसके प्रयोजन—जैसे धर्मशाला में आप दो दिन को ठहर जायें और जिस कमरे में ठहरें तो आप लोगों से कहते हैं कि चलो हमारे कमरे में, चलो हमारी धर्मशाला में। लो, अब वह आपका कमरा हो गया। तो क्या ज्ञान में यह बात है कि मेरा कमरा है? नहीं है। और, व्यवहारभाषा में यह बात बोल रहे हैं कि यह मेरा कमरा है। घी का डिब्बा। क्यों आपके शब्दों में भी यह बात बसो है कि घी से रचा हुआ यह डिब्बा है? नहीं। आप जानते हैं कि यह टीन का डिब्बा है और इसमें घी रखा है। जिस लौटे से आप टट्टी जाया करते हैं—आप बोलते हैं कि यह टट्टी का लोटा है, यह पीने का लोटा है, यह चौके का लोटा है। आपके ज्ञान में क्या यह रहता है कि यह टट्टी का लोटा है? नहीं आप तो जानते हैं कि यह पीतलका लोटा है, इसको संडास में ले जाया जाता है, इसलिए इसका नाम टट्टी का लोटा है। अब जल्दी जल्दी में क्या बोलें? क्या यह बोलें कि देखो जिस लोटे के आधार में पानी को लेकर संडास में जाया जाता है वह लोटा दो? क्या कोई इतना बड़ा वाक्य बोलता है? नहीं। तो व्यवहारभाषा किसी मर्म को संक्षेप करने के लिए होती है ओर निश्चयका ज्ञान उससे भी अति संक्षेप को लिए हुए होता है।

निश्चयतः रोग अपनी परिणति में होता है बाहर नहीं, इस तथ्य का चित्रण देखिये—326 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें पृ० 133 बेटाकी वितयता—बेटे भी तीन हैं जिसके तीन बेटे हों उनकी नहीं कह रहे हैं शब्द बेटा और ज्ञानबेटा। एक कागज पर लिख दें—बे और टा और आपसे कहें कि यह क्या है? आप कहेंगे बेटा। जैसे एक कागज पर लिख दिया कि हम मूरख हैं, पढ़े नहीं हैं और 7—8 क्लास वाले लड़कों से पढ़ावें कि पढ़ी इसे पढ़ना है—तो वह पढ़ता है कि हम मूरख हैं, पढ़े नहीं है। अरे तो पढ़े तो। हम मूरख हैं पढ़े नहीं हैं। अरे भाई पढ़ा तो वही जो लिखा है। तो शब्दबेटी तो आपके काम में नहीं आ सकता। बूढ़े जाये तो लाठी पकड़कर ले जाय, यह काम तो शब्दबेआ न कर सकेगा। प्यास लगी हों तो गिलास ले आये, पानी पीला दें, यह काम शब्दबेटा नहीं कर सकता और अर्थ बेटा, मायने जिसके दो टांग हैं, जो घर में रहता है या यहां बेंठा है वह है अर्थ बेटा मायने पदार्थभूल। सो यह अर्थ बेटा भी आपसे अत्यन्त जुदा है। उसके परिणमनसे आपमें कुछ नहीं होता है। ज्ञानबेटा क्या? उस बेटा के सम्बन्ध में जो आपका विकल्प बन रहा है वह विकल्प है ज्ञानबेटा। आप राग कर रहे हों तो ज्ञानबेटा में कर रहे हो, न अर्थ बेटा में राग करते हों, न शब्दबेटा में राग करते हो।

142 समयसार प्रवचन चतुर्दशतम भाग

इस पुस्तक में समयसार ग्रन्थ की 328 वीं गाथा से 371 वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। सर्वविशुद्ध अधिकार में यह बताया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ भी गुणत्पाद नहीं करता, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होता अन्य बात है। इसका संकेत करनेवाला 328 वीं गाथा का एक प्रवचनांश देखिये—पृ० 4 प्रभाव, प्रभावक व निमित्तका विश्लेषण—भैया, इस प्रकार प्रत्यके उपादान विभावरूप बनाता है किसी पर द्रव्यका निमित्त पाकर ही बना पाता है। वह प्रभाव निमित्त भूत वस्तु का नहीं है किन्तु वह उपादान का ही है। इस कारण यह जीव अपने सम्यक्त्व परिणमनसे च्युत होकर जो मिथ्यात्वरूप परिणमत करता है उस मिथ्यात्व परिणमन में प्रभाव उस ही परिणमने वाले का है। मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदय का निमित्त पाकर वह प्रभाव बना है। अतः स्वरूपदृष्टि से देखो तो आत्मा और कर्म में सम्बन्ध नहीं है, फिर भी निमित्त नैमित्तिक भावका सम्बन्ध है, निमित्त नैमित्तिक अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ में होता है। और, जहां एक द्रव्य में भी एक गुण के परिणमनका निमित्त पाकर अन्य गुण में परिणमन होता है, भेददृष्टि सेकथन होता है, जैसे कि आत्मा में इच्छा परिणमन का निमित्त पाकर आत्मा में योगपरिणमन होता है। वहां यद्यपि न दोनों गुणों का आधारभूत पदार्थ एक है तो भी उन गुणों के स्वरूपका परस्पर में अभाव है।

वस्तुस्वरूपका परिचय स्याद्वाद द्वारा होता है। स्याद्वाद कितना ठोस विज्ञान है इसकी झांकी इस प्रवचनांश में देखिये—पृ० 15—अपेक्षा और निश्चयसे धर्म की प्रधानता—भैया, यह पहाड़ की कठिन चढ़ाई है। चढ़ाई करने में रेल में 2 इंजन लगते हैं, एक आगे और एक पीछे। यह दुर्गम है वस्तुस्वरूपका प्रवेश। दुर्गम है यह स्याद्वाद का सिद्धान्त। गाड़ी यही चढ़ाई जा रही है। इसमें दो इंजन लगा दिया आगे स्यात् और पीछे एव । तब वह धर्म की गाड़ी सम्हल रही है। अगर एक ही इंजन लगा दें तो गाड़ी लुढ़क जायगी। एवं न लगाने से संशय आ गया और स्यात् न लगाने से एकान्त आ गया और स्यात् न लगाने से एकान्त आ गया। यहीं घटाकर देख लो। एक बालक में जिसका नाम कुछ रखलो, माना रमेश रख लिया है और रमेश के बापका नाम है अशोक । तो यह रमेश अशोक का लड़का ही है। हो लगावेंगे ना कि भी लगावेंगे, कि यह अशोक का लड़का भी है? यह कितना अशोभनीय होगा। और, अपेक्षा लगाते जावो तो चाहे बहुत सी बातें कहते जाओ, यह बालक अमुक का भांजा ही है, अमुक का भतीजा ही है। अपेक्षा लगाकर ही लगाना चाहिए, तब स्याद्वाद का रूपक बनता है।

आत्मा कर्ता कब है व अकर्ता कब है इसका विश्लेषण देखिये 344 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में पृ0 58 कर्तृत्व और अकर्तृत्वका स्पष्ट विश्लेषण यहां तक स्पष्ट शब्दों में यह बता चुके हैं कि भेदविज्ञान होने से पहिले इस जीवको तुम कर्ता समझो। यहां परके कर्तापन के विकल्प की बात कही जा रही है। पर का कर्ता तो कोई हो ही नहीं सकता। चाहे कैसा ही अज्ञानी हो। यदि अज्ञानी जीव परका कर्ता बन जाय तो उसमें भगवान से भी अधिक सामर्थ्य आ गयी। भगवान किसी परको नहीं कर सकता, ताकत ही नहीं। जौर, इसके मंतव्य में इस अज्ञानी में इतनी ताकत आ गयी कि वह परको करने लगा। अपने आपमें जो रागादिक भाव परिणमन होता है उसका और अपने स्वरूपका जिसे भेदविज्ञान नहीं है ऐसा अज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वरूपके आलम्बन को छोड़कर यह मानता है कि मैं रागादिक का कर्ता हूं और वह रागादिक का कर्ता है? किन्तु ज्यों ही इस जीवको भेदविज्ञान होता है मेरा तो मात्र ज्ञायकस्वरूप है, ये रागादिकपरिणम हो तो रहे हैं पर ओपाधिक हैं, यों हो, इस ज्ञानके होते ही जीव उनका अकर्ता हो ताजा है, फिर भी कुछ काल तक ये होते हैं।

अपरिणाविवाद क्षणिकवाद आदि सिद्धान्तों के विवेचन के प्रसंग में 348 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में बताया है कि जितने भी दर्शन सरितायेंह“ वे स्याद्वादसिन्धु से निमृत हुई है, भले ही एकान्तवाद में रूक जाने से उनका जल अनुपयोगी हो गया है इसका दिग्दर्शन कीजिये पृ0 62 स्याद्वादसिन्धु से सिद्धान्त से रताओं का सरण –स्याद्वाद, की कुंजी बिना सिद्धान्तों का जाल इतना गहन है कि सीधी सामने की बात तो न मानी जाय और टेढ़ी मेढ़ी जिसकी सिद्ध करने में जोर भी पड़ता है बातें भी ढूढनी पड़ती है ऐसी बात मानने में अपनी बुद्धिमानी समझी जाती है। ठीक है। कीमत तो तब बढ़ती कि जैसा सीधा जानते हैं वैसा न कहकर कोई विचित्र बात बतायी जाय तभी तो बुद्धिमान बन पावागे। तो ऐसा बाग्जाल एकान्त सिद्धान्तका हुआ है। अथवा बाम्जाल नहीं है। ये सब सिद्धान्त स्याद्वाद सिन्धु से निकले हैं। कौन सा सिद्धान्त ऐसा है जो वस्तु में सिद्ध न होता हों? किन्तु दृष्टि और अपेक्षा लगाने की अपेक्षा होनी चाहिए।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं करता, इस विषयका एक सुभग दृष्टान्त द्वारा 349 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में स्पष्टीकरण देखिये पृ0 73 परके सम्बन्ध पर एक दृष्टान्त इस प्रकरण में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं करता, यह सिद्ध करने के लिए एक दृष्टान्त दिया जा रहा है। जैसे सोने का आभूषण बनानेवाला सुनार जबकि कुछ गहना बना रहा हो, उस समय बतलावों वह सुनार क्या करता है? क्या सोने को हल्का बड़ा करता है? नहीं। वह तो केवल अपनी चेष्टा कर रहा है। हाथ हटाया नीचे किया, अग

किया, तग लकिया देखते जावो, वह अपने शरीर की मात्र चेष्टा करता है, वह स्वर्ण में तन्मय नहीं हो जाता। तो जैसे स्वर्णकार केवल अपना काम करता है, दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं करता। तो स्वर्णकार जैसे सोने में तन्मय नहीं हो जाता, इसी प्रकार यह जीव कर्ममें तन्मय नहीं हो जाता।

तन्मयता तो परिणाम परिणामी में होती है, निमित्त उपादान में नहीं। अतएव निश्चयतः आत्मा अपने ही परिणामको करता व भोगता है, इस विषयका सरल संक्षिप्त शब्दों में स्पष्टीकरण गाथा 354 के एक प्रवचनांश देखिये पृ० 81 परिणाम परिणामों में तन्मयता भैया, परिणामपरिणामोभावकी अपेक्षा से देखा जाय तो जीव परिणामो अपने परिणामों में तन्मयता होता है। सो वहां उस स्वर्णकारने अपने को ही किया अपने को ही भागा। वह सुनार हो कर्ता है, सुनार हो कर्म है, सुनार ही भोक्ता है, सुनार ही भोग्य है। इस प्रकार यह आत्मा जो कुछ करने की इच्छा करता है इसने अपनी चेष्टा के अनुकूल अपने परिणामों का कर्म को किया औ रउस काल में दुख रूप जो अपने आत्माका परिणाम है उस फल को भोगा। चूंकि वह आत्मा और आत्माका वह परिणमन एक द्रव्य है, उसमें ही वह अभिन्न है, उसमें ही उस काल में तन्मय हैं सो परिणाम परिणामी भाव चूंकि एक में होते हैं तो इस आत्मा में ही आत्मा का कर्म हुआ और आत्मामें ही आत्मा का भोग हुआ। बाहर आत्मा ने कुछ कर्म नहीं किया और न भोगा। ऐसा निश्चयनय से प्रमाण करते हैं। ज्ञाता ज्ञाता है ज्ञेय ज्ञेय है ज्ञाता ज्ञेय का कोई स्वामित्वसम्बन्ध नहीं, इस विषय का दिग्दर्शन कीजिये 355 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में पृ० 90 ज्ञायकका स्वामित्व तो फिर भैया, यह ज्ञायक किसका ज्ञायक है? देखो अभी यहां ज्ञायक सुनकर जानने वाला यह अर्थ नहीं करना, किन्तु ज्ञायक मायने चैतन्य स्वभावी आत्मद्रव्य। क्या यह ज्ञेय का ज्ञायक है? नहीं। तब फिर ज्ञायक किसका है? यह ज्ञायक ज्ञायक का ज्ञायक है। वह दूसरा कौन? जो ज्ञायक है वह दूसरा ज्ञायक कौन है? जिसका यह ज्ञायक है। वह कोई भिन्न चीज नहीं है, एक ही है। तो फिर ऐसा कहने का प्रयोजन क्या है? भाई प्रयोजन तो कुछ नहीं है, किन्तु जिसकी बुद्धि स्वस्वामी सम्बन्ध में लगी हुई है उनको समझाने के लिए इस तरह कहा जा रहा है। तो जो जिसका होता है वह उसमें तन्मय होता है। तो घर रह गया, तुम्हारा विनाश हो गया, पर है तो नहीं विनाश, इस कारण तुम्हारा घर नहीं है। तो तुम्हारा कौन है? तुम्हारे तुम तो नहीं हो, फिर ऐसा बताने का प्रयोजन क्या? प्रयोजन कुछ नहीं। प्रयोजन मोना है कि जिसकी यह भ्रमबुद्धि लगा है कि यह मेरा घर मेरा है। इनको समझाने के लिए इतना बोलना पड़ा है कि तुम तो तुम ही हो और घर घर ही है। बाह्य वस्तु सुधार बिगाड़ करना कुछ नहीं पड़ा, वहां कुछ भी उद्यम करना व्यर्थ है। अपने हितके लिए अपने आपमें अपनी प्राका प्रयोग करो, इससे

सम्बन्धित 367 वीं गाथा को एक प्रवचनांश देखिये—पृ० 161 परमें व्यर्थ का उद्यम विकल्प ज्ञान, दर्शन और चारित्र अचेतन विषयों में नहीं है। यह बताने का प्रयोजन यह है कि हे मुमुक्षु जीव, तू द्रव्यों में कुछ विनाष करने की मत सोचे। पर द्रव्यों में दर्शन, ज्ञान, चारित्र के विकार नहीं हुआ करते हैं। जीवों को भ्रंति इन तीनों जगह है अपने सुधार और बिगाड़ में—विषयमें, कर्ममें और देह में। सो इनमें संहार अपनी प्रज्ञाका अपने पर प्रयोग करो।

143 समयसार प्रवचन पन्द्रहवां भाग

इस पुस्तक में समयसार की 372 वीं गाथा में अन्तिम गाथा 466 वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है 372 वीं गाथा में यह प्रकट किया गया है कि अन्य द्रव्यों के द्वारा अन्य द्रव्य में गुणोत्पाद नहीं किया जा सकता। सिद्धान्त तो यह है, किन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करता है ऐसा भ्रम ही क्यों गया? इसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांश में पृ० 1 सिद्धान्त ओर भ्रम का कारण अन्य द्रव्य के द्वारा अपने अपने भावे से ही उत्पन्न होते हैं लोगों को भ्रम इस कारण हो जाता है कि एक द्रव्य विभाव परिणमन में परद्रव्य निमित्तभूत है, सो हुआ तो वह बहिरंग निमित्तभूत, क्योंकि अन्य द्रव्यके द्वारा उपादान रूप अन्य द्रव्यका गुण नहीं उत्पन्न किया जाता है। और न मेटा जाता, किन्तु इतने मात्र सम्बन्ध से आगे बढ़कर कर्तृत्वका भ्रम कर लिया जाता है। जैसे घड़के बनाने में कुम्हार बहिरंग कारण है तो बहिरंग कारण कुम्हार के द्वारा व इन चकादिक के द्वारा नहीं ढाला जाता है। ये बहिरंग निमित्तभूत है अर्थात् कुम्हार अपने गुण मिट्टी में डालकर मिट्टी रूप बन जाय, ऐसा तो नहीं है, फिर मात्र निमित्त सम्बन्ध से आगे बढ़कर लोग कर्तृत्वका भ्रम कर डालते हैं।

मोही की परवस्तुओ से वेमेल सगाई का चित्रण देखिये— गाथ नं० 375 का एक प्रवचनांश पृ० 16 बेमेल सगाई ये शब्द हमें प्रेरणा नहीं करते कि तुम क्यों खाली बैठे हो, और यह आत्माभी उन शब्दों का सुनने के लिए नहीं जाता, किन्तु आत्मा के साथ ज्ञान ज्ञेयका सम्बन्ध है, फिर क्यों यह जीव अज्ञानी बनकर उन शब्दों के खातिर रोष व तोष करता है। देखो यह अध्यात्माका चरणानुयोग ही भरा हुआ हैं क्यों उन विषयों में अपना घात करते हो? इस विषयको बहुत लम्बे समयसे बताया जा रहा है कि तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही जब इन विषयों से नहीं है तो क्यों उनसे सगाई करते हो। सगाई मायने स्वकीयता, स्व मान लेना। सगाई स्वशब्द से बनी है, अपना मान लिया। अभी शादी नहीं हुई। सगाईका अर्थ है परवस्तुको अपनी मान लेना और शादी का अर्थ है खुश होना। शादी शब्द विषाद से निकाल लो तो शादी मायने दुख, विषाद मायने दुख। शादी का नाम विषाद है। तो यह मोही जीव

सभी वस्तुओं के साथ सगाई भी किये है और शादी भी किये है अर्थात् इन्हें अपना भी मानता है और दुखी भी होता है।

विषयका और आत्माका कोई नाता नहीं, फिर भी अज्ञान से विषयों में यह जीव प्रवृत्ति करता है वह सब अज्ञान है इसको 378 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में गंधविषय का उदाहरण है इसी प्रकार रूप, रस, स्पर्श, शब्दों में लगान। उद्धरण—पृ0 22 अज्ञानज विकार यह गंधविषय न तो आत्मा को प्रेरित करता है कि मुझे सूघों, बेकार क्यों बैठे हो? और न यह आत्मा अपने स्वरूपसे चिगकर उन गंधों को ग्रहण करने के लिए डोलता फिरता है, किन्तु विषयविषयों का सम्बन्ध है, इसका ज्ञानमें गंधविषय आता है, पर इतने मात्र से विकार रूप परिणति नहीं हो जाती। यह तो अपने आपके परिणमनकी कला है। फिर भी यह जीव उन सब अशुभ गंधों को सूघंकर अपने में इष्ट अनिष्ट भाव लगाता है, रागद्वेष करता है, यह सब अज्ञान का प्रसाद है। ज्ञानी जीव तो अपने आपके सहज स्वरूपकी प्रतीति के बल से अपने स्वरूपके दर्शन में उत्सुक रहता है।

घटादि पदार्थों की तरह ज्ञेय गुण भी जबरदस्ती नहीं करता कि तुम मुझे जानी ही, न ज्ञान अपने प्रदेश से हटकर उन्हें जानने जाता, किन्तु स्वभाव है, ज्ञान अपने स्वरूपसे प्रकाशित होता है, फिर ज्ञान का चर्चा की घटना में जो कलह हो पड़तेहैं वह व्यामोह की महिमा है, इसका चित्रण देखिये 381 वीं गाथा के इस प्रवचनांश में—पृ0 30 धर्मचर्चा में भी झगड़ा हो जाने का कारण कोई द्रव्यानुयोग जैसे ज्ञान और वैराग्य के विषय वाला गुणों की चर्चा करते करते कषाय जग जाती है, कलह हो जाती है, वह अज्ञान का परिणाम है। गुणों के सम्बन्ध में जो जानकारी बतायी जा रही है उन विकल्प में इस मोही को आत्मीयबुद्धि हो गयी है, अब मेरा यदि यह मत स्थिर नहीं रह सकता है तो हमारा ही नाश हो जायेगा ऐसा अपने विकल्पों में आत्मसर्वस्वका जोड़ किया है, यही तो राग और द्वेष का उत्पादक हुआ। रागद्वेष वृक्ष की शाखा की तरह हैं ओर मोह जड़ की तरह है। विभाववृक्ष की शाखायें कषाय है और विभाववृक्ष की जड़ मोह है। जैसे जड़ पानी मिट्टी आदि का आहार लेकर साखाओं को बल्लवित बनाये रहती है, उन्हें मुरझाने नहीं देता इसी प्रकार ये विभाव मोह भाव के द्वारा परवस्तुओं को अपनाकर इन रागद्वेष की पल्लवित बनाये रहते हैं, रागद्वेष को सूखने नहीं देते हैं। तो सब ऐबों की जड़ तो भूल में मोहभाव है।

पापों के दूर करने का उपाय प्रतिक्रमण व प्रायश्चित्त है। वास्तविक प्रतिक्रमण क्या है जिससे पाप अवश्य ही दूर हो जाते हैं, इसकी झांकी पाइये 383 वीं गाथा के इस प्रवचनांश में पृ0 41 साक्षात् प्रतिक्रमणमयता अपराध

बहुत किया है । अपने आपके स्वभावदृष्टि से अलग रहने का नाम अपराध है । यह अपराध अनादि से किया जा रहा है । इस अपराध से दूर होने की स्थिति यह है कि संकल्प विकल्प रहित शुद्धज्ञान दर्शन स्वाभावात्मक तत्व के सम्यक्श्रद्धान सो जब ऐसा ज्ञान रस करि भरपूर समतारस करि परिपूर्ण कारणसमयसार में स्थित होकर जो पुरुष पूर्वकृत कर्मों से अपने आत्मा को निवृत्त कर लेता है वह पुरुष साक्षात् प्रतिकमणरूप है ।

कर्मफल चेतना की विपदा से दूर होने के भगवती से अभ्यर्थना की पद्धति अपनाइये, इस भावका दिग्दर्शन करें गाथा 389 के इस प्रवचनांशमें पृ0 74 कर्मफलचेतना के सन्यास के लिए भगवती ज्ञानचेतना से अभ्यर्थनाथ में ग्रन्थ पदार्थों को भोगता हूं, इस प्रकार की चेतना संसार का वीज है, दुख का कारण है, ऐसा जानकर जो संकटों से छूटने का अभिलाषी हो उस पुरुष को इस अज्ञानचेतनाका प्रलय करने के लिए जैसे कर्मचेतना के सन्यास भाव किया था इसी प्रकार सकलकर्म फल के भी सन्यास की भावना करे और स्वभाव भूत भगवती ज्ञानचेतनाका आराधन करें । भगवान अर्जी न सुनें तो इस भगवती से अर्जी करो । लोक में कुछ ऐसी चलन है कि जो बात गुरु जी से कहकर सिद्धि में न आती हो तो गुरुवानी से कह देता है बालक । तो भगवान ने तुम्हारी न सुनी हो तो इस भगवती से अपनी अर्जी करो । कौन सी भगवती? वह ज्ञानचेतनारूप भगवती । जैसे गुरुवानी ने जोर से गुरु भी मान जायेगा ऐसे ही इस ज्ञानचेतना के ओर से यह भगवान भी मान जायेगा, मैं ज्ञानकस्वरूप हूं, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूं, इस प्रकार का अनुभव करना, सो ही भगवती ज्ञानचेतना की आराधना है ।

391 वीं गाथा से 402 गाथा तक शब्द, रूप, कर्म, आकाश, अध्यवसान आदि से भिन्न ज्ञान को बताया है । उन सबके प्रवचनों के अनन्तर 404 न० की गाथा के प्रवचनां में एक स्थलपर अनादिकी भूल और अचानक भक्काटा का दिग्दर्शन कीजिये—पृ0 123 अनादिकी भूल और अचानक भक्काटा—भैया, इस जीवपर मिथ्यात्वका विकट भार अनादिकाल से चला आ रहा है । अपने आपकी कुछ सुध भी नहीं रही । किस किस बाह्य पदार्थ को यह अपनाता रहा, आज भी बता नहीं सकता । अनन्त शरीर पाये और अनन्त भवों में परिजन, बच्चे मित्र, अचेतन आदि समागम सर्वकुछ मिला, इस 343 घनराजू प्रमाणलोक में प्रत्येक प्रदेशपर यह जन्मता रहा, मरता रहा, अनेक कर्मों के बीच पड़ा पर यह परकी ओर दृष्टि बना कर अपने को भूला रहा । कितना मिथ्यात्वका इस पर बोझ था? जहां ही ज्ञानानन्दस मात्र अमूर्त भावस्वरूप एक निज तत्वका श्रद्धान हुआ कि अब झक्काटा हुआ, वह सब अन्धेरा विलीन हो गया, एकदम स्पष्ट दीखने लगा कि सर्व परपदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं । किसी भी परपदार्थ मुझसे रंचमात्र सम्बन्ध नहीं है, सब जुदे हैं । जहां यह

प्रकाश हुआ कि मोह समाप्त हुआ। मोह जहां नहीं रहा जो ज्ञानका परिणमन है उसका ही नाम है सम्यग्दर्शन।

आत्मानुभव ही एक मात्र श्रेष्ठ कार्य है, वह प्राप्त होगा आत्मसेवा से, इससे सम्बन्धित 412 वीं गाथा का यह प्रवचनांश पढ़िये पृ० 153 आत्मसेवा में ही आत्मानुभव विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मतत्त्वका श्रद्धान, ज्ञान और आचरण होना ही मोक्ष का मार्ग है, यह बात पूर्णतया नियत है। मुक्ति का उपाय अन्य कुछ नहीं है। जो पुरुष उस ही मोक्षमार्ग में स्थिति करता है उसका ही सदैव ध्यान करता है उसको ही चेतना है और इस ही आत्मविलास में विहार करता है, ऐसे परम अनुराग के साथ किसी भी द्रव्यान्तर को, किसी भी भावान्तर को न छूता हुआ अपने में रमाता है, वह नियम से अपने आत्माका जो निज सहजस्वरूप है उसका अनुभव कर लेता है।

मुक्तिसाधक परमार्थभूत लिंग क्या है? इसका मनन कीजिये 414 वीं गाथा के इस प्रवचनांशमें पृ० 160 मुक्तिसाधक परमार्थभूत लिंग—भैया, तब फिर परमार्थरूप लिंग क्या है, मोक्षमार्ग क्या है? श्रमण औ श्रमणोपासक इन दोनों प्रकार के विकल्पों से दर्शन, ज्ञान, आचरणमात्र शुद्ध ज्ञानस्वरूप यह एक है ऐसा बेलाग सचेतन करना सो ही मोक्ष का मार्ग है बेलाग तो यों कि इसमें शरीर के लगाव का कुछ भी ध्यान न हो और बेदागीयों कि रागद्वेषादिक जो अन्तर्मल हैं उन दागों का अभाव हो ऐसे ज्ञानमात्र तत्त्वका निष्पुष संचेतन करना सो ही परमार्थ है। जैसे कोई चतुर व्यापारी धान के भीतर ही यद्यपि चावल अवस्थित है किन्तु अपने ज्ञानबल से उस चावल को वह निष्पुष संचेतन करता है। छिलके से ढका हुआ होकर भी छिलका से रंच सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार से चावल को अन्तर में निरख लेता है। ऐसे ही द्रव्यलिंग में अवस्थित होकर भी साधुजन अपने आपका द्रव्यलिंग से अत्यन्त दूर केवल शुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र निरखते हैं। यही मोक्षमार्ग है। व्यवहारनय दोनों लिंगों को मोक्षपद मानता है, परन्तु निश्चयनय सभी लिंगों की मोक्षमार्ग में रंच भी इष्ट नहीं करता है।

144 परमात्मप्रकाश प्रवचन प्रथम भाग

परमपूज्य श्रीमद्योगीन्दुदेव द्वारा प्रकृत दोहों में विरचित परमात्मप्रकाश पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने प्रवचना किये हैं। इसमें कारण परमात्मतत्त्वकी दृष्टि कराने के लिए बहुत ही अच्छा आत्मसम्बोधन किया है। प्रथम प्राकृत दोहों में कार्थ परमात्माको नमस्कार किया है। इस प्रकरण में कार्य परमात्मा व कारण परमात्मा का स्वरूप कहकर निज में कारणपरमात्मत्वकी सुगम झांकी एक प्रवचनांश में दी है। पृ० 3—4 लोक में भी ऐसी प्रसिद्धि है एक परमात्मा घट घट में रहता है अर्थात् देहों में

बसता है। सो इन देही आत्माओं से भिन्न कोई एक परमात्मा इन देहों में नहीं सब रहा है, क्योंकि यदि ऐसा कोई इन देहों में सब राह होवे तो पृथक् पृथक् देहों में नहीं सब रहा है, होवे तो पृथक् पृथक् देहों के बीच में अन्तराल होने से परमात्मा हमस ब में शक्ति यपसे है, ये आत्मा ही परमात्मस्वभावको रख रहे हैं यह परमात्मस्वभाव हम सबमें शक्ति रूपसे है व्यक्तिरूप से तो हमस ब अभी संसारी है। फिर भी जो महात्मा अपने में अनादिसिद्ध बसे हुए शक्तिरूप परमात्मतत्वका दर्शन अन्तर्ज्ञान से कर लेते हैं वे आनन्द मग्न हो जाते हैं। ऐसा कारण परमात्मा हम सबमें, घट घट में रहता है। उसके दर्शनका उपाय अन्तर्ज्ञान है।

आत्मस्वभावके परिचय में ही सम्पन्नता का संकेत प्रवचनांश दोहा 5 पृ0 33 निश्चयसे भगवान अपने में स्थित है और व्यवहार से लोक अलोक के पदार्थों को जानते हैं, किन्तु फिर भी उनमें तन्मय नहीं होते। हम भी परमें तन्मय नहीं हैं, केवल कल्पना से ही यह सब होता है। यह जो सहजस्वभाव है यदि इसका पता लग जावे तो इससे बड़ा वैभव दुनियां में क्या है? मेरा मेरा बाह्य पदार्थों में कुछ भी तो नाता नहीं है। उनके घटने से न मेरा कुछ घटता है न उनके बढ़नेसे मेरा कुछ बढ़ता ही है। यदि मेरी समझ में मेरा सहजस्वभाव आ गया तो सम्पन्न हूं अन्यथा तो नर कीट ही हूं।

कारण परमात्मतत्वके परिचय से सत्य समता का जागरण होता है इसका मनन कीजिये, दोहा 8 के एक प्रवचनांश में पृ0 52 जो मैं हूं वह हैं भगवान, मैं वह हूं जो है भगवान, अर्थात् मैं वही हूं जो भगवान हैं जो मैं हूं वही भगवान हैं। प्रत्येक जीव सिद्ध जैसे स्वभाव वाला है। अतः यदि कोई किसी जीव का अपमान करता है तो वह भगवान का अपमान करता है। उसको बेदना हुई यह बात तो अलग है, उसको तो अलग ही दोष लगा, किन्तु वह जो अपमान हुआ वह अलग। अतः सब प्राणियों पर समताभाव रखो। यदि कोई अपने को प्रतिकूल बात भी कह देता है तो भी उसमें क्लेश न कर उस पर करुणा ही रखो और यह सोचो कि यह भी तो चैतन्यस्वरूप है, किन्तु कर्मों के कारण, अज्ञान के कारण इसकी ऐसी दशा हो रही है। फिर यह तो मुफ्त में ही काम हो गया जो वह कुछ कहकर प्रसन्न हो गया।

समाधिके अभावमें ही सारे संकट सहने पड़ते हैं देखिये—दोहा -1-10 के प्रवचनांशमें पृ0-61 जो परसमाधि है, समता परिणाम है वही पार लगाने वाला है, अन्य कुछ नहीं। परभवमें सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्रको साथ ले जाना सो समाधि है। अतः समाधिके दो अर्थ हुए—एक तो समता परिणाम का नाम समाधि है, दूसरा अपने रत्नत्रयको परभवमें भी साथ ले जाना सो समाधि है। और, उसी अवस्था में प्राण त्याग

करने से समाधिमरण है। यदि समाधि नहीं हैं, आधि व्याधि उपाधिका लगाव है तो उसका कटुफल होगा। एक व्यक्ति एक को मार देता है तो उसे फांसी की सजा होती है और यदि वह कई आदमियों को मारे तो भी यहां तो फांसी ही होगी, लेकिन इतने बड़े पाप की सजा कौन देगा? वह कम के अनुसार स्वयं ही विकट दुख पावेंगे। कोई किसी को दुख सुख देने वाला नहीं है। अपने परिणामों के कारण ही सब दुखी होते हैं। समाधिके न होने से नरम तिर्यन्च मनुष्य और देव इन चारो गतियों के दुखों को यह जीव सहता रहता है।

परमात्मतवप्राप्ति का उपाय शुद्धात्मत्वकी उपासना है, इसका संदेश देखें दोहा-1- 14 के एक प्रवचनांशमें पृ0 75 परमात्मा कौन होता है? जो समस्त परद्रव्यों को छोड़कर केवल ज्ञानमय, कर्मरहित, शुद्धात्मा को उपयोग द्वारा प्राप्त करता है वही परमात्मा होता है। यहां शुद्धात्माका अर्थ है निराला, अविकारी। शुद्ध पर्यायों वाला नहीं, किन्तु आत्माके अस्तित्व वाला, भिन्न तत्वों वाला, परद्रव्यों से रहित अपने स्वरूपास्तित्वमात्र निजतत्वको शुद्धात्म कहते हैं। केवल अपने को सबसे निराला भर देखना है तो स्वरूप भी अवगत हो जायगा। सबसे निराले का नाम शुद्ध है। जिसे इंगलिश में कहते हैं प्योर। प्योर का अर्थ है खालिस, केवल। इसे ही शुद्ध कहते हैं और शुद्ध होने के लिए उपाय भी यही किया जाता है। जैसे चौकी पर चिड़िया वगैरह की बीट लग गयी है तो वहां कहते हैं कि चौकी को शुद्ध करो। वह मनुष्य क्या करता है? चौकी के अतिरिक्त जितने पर पदार्थ हैं, जिने परद्रव्य इस चौकी से चिपके हैं उन सबको अलग करता है। यही चौकी को शुद्ध करने का उपाय है। केवल खालिस रह जाने को ही शुद्ध कहते हैं। जो परद्रव्यों को छोड़कर अर्थात् समस्त परद्रव्यों को अपने में न मानकर केवल ज्ञानमय शुद्धात्मतत्व देखता है, वह परमात्मा होता है।

आत्मतत्वकी पूर्णता के प्रतिपादन में एक मार्मिक दर्शन करें दोहा 1-16 के प्रवचनांशमें - पृ0 82 -भैया, इस श्लोक में कहते हैं पूर्णमदः पूर्णादि पूर्णात् पूणमुदच्यते। पूर्णात् पूणमादाय पूर्णमैवावशिष्यते वह पूर्ण है, यह पूर्ण से पूण निकलता है। पूर्ण से पूर्ण ग्रहण करके, हटा करके भी पूर्ण शेष रहता है। यह श्लोक बैदान्त सममत है, इसमें आध्यात्मिकता तो देखो। यह आत्मा पूर्ण है। यह स्वभाव पूर्ण है, पूर्ण का अर्थ पूरा है। यहां पूरे का अर्थ उद्यमों नहीं समझना। जैसे किसी बच्चे को समझते हैं जो आधा बन पाया हो और कुछ न बन पाया हो। जितने भी सत् हैं वे सब पूर्ण सत् हैं। यह मैं पूर्ण हूं। यह मेरा स्वभाव पूर्ण है। इस पूर्ण आत्मपदार्थ में से जो भी परिणमन प्रकट होता है वह परिणमन भी पूर्ण है। पर्याय कोई अधूरी नहीं होती। पर्याय का समय एक है। एक क्ष में वह पर्याय पूर्ण होती है। पर्याय के बनने में दूसरा समय नहीं लगता। इस पूर्ण में से पूर्ण ग्रहण कर लिया जाय तो भी

यह पूर्ण ही बचा रहता है। अर्थात् पूर्ण द्रव्य से पूर्ण पर्याय होकर विलीन हो जाती है, फिर भी वह पूर्ण ही रहता है। यह समस्त पदार्थों का स्वरूप है।

अपने घरका पूरा पता करो, देखो दोहा -1-18 के एक प्रवचनांशमें, पृ0 - 89-भैया, अपने निजी घर को बात समझमें नहीं आती। तुम्हारा घर कहां है? सोचो तो सही। अपना घर कहां है? कहां जावोंगे? कौन सा घर है? वह घर बतलावो जो घर अपने से कभी नहीं छूटता? कहीं जावो अपना घर ही पास में रहता है। वह घर है अपना स्वरूप, अपना प्रदेश, उसकी ओर दृष्टि न दो और बाहर में बाहरी पदार्थों से नाना आशायें रखे तो बताओं किसके लिए नच रहे हो? किसके लिए बकते जा रहे हो? सब भिन्न हैं। उनका कर्म प्रबल है। उदय अच्छा है सो आपको उनका दास बनना पड़ रहा है। किसके लिए धन बढ़ाते हो? किसके लिए श्रम कर रहे हो? यह मोह और यह इतना विकल्प क्यों मचा रहे हो? आपसे भी अधिक भाग्यवान वे बच्चे हैं जिनके लिए रात दिन श्रम कर रहे हो, जिनके लिए दास बनकर अधिक श्रम करना पड़ रहा है। शिवस्वरूप, कल्याणस्वरूप तो अपना आत्मस्वरूप है। सर्वकल्पनाजालों को छोड़कर अपने आपमें अपने आपके स्वरूपको निहारो, तो ऐसे ज्ञानस्वभावी प्रभुका दर्शन होगा कि फिर उससे शान्ति और आनन्द निरन्तर भरता ही चला जायगा।

कारणपरमात्मत्वका ज्ञान व अनुभव कही करने योग्य काम इस जीवनमें है—इसकी प्रेरणा पायें दोहा-1-22 के इस प्रवचनांशमें पृ0 110-भैया, एक ही काम है इस जिन्दगी में। जो करता हो सो पार होगा। किसी बाह्य वस्तु में मूर्छा ममत्व न रखे। सबको विनाशीक जानें अपने से भिन्न समझे और अपने आप को सबसे निराला जानकर इसमें बसा हुआ जो ध्रुव चैतन्यस्वरूप है। वही मैं हं—यों इस कारण परमात्माके स्वरूपकी प्रतीति करे बस यही एक जीवनमें करने का काम है। यह परमात्मा का प्रकाश है। परमात्मा दो प्रकार से देखा जाता है। एक तो कार्य परमात्मा और एक कारणपरमात्मा। कार्यपरमात्मा तो वह कहलाता है कि जिसके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तचतुष्टय प्रकट हों और कारणपरमात्मा वह कहलाता है जो सभी जीवों में परमात्मा बनने की शक्ति है अथवा जो सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजआनन्द, सहजशक्ति है वह है कारण परमात्मा। कारणपरमात्मा का ध्यान करने से कायपरमात्मा बनता है याने अपने आपके आत्मा के जो शुद्ध जानने की शक्ति है उस शक्ति का ध्यान करने से भगवान् होता है, अपने आप में जो कषाय के विकार लगे हैं वे दूर होते हैं अपने कारण परमात्मा का ध्यान करनेसे।

इस पुस्तक में परमात्मप्रकाश ग्रन्थ के प्रथम महाधिकारके 39 वे दोहा से 66 वे दोहा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। परमात्मतत्त्वकी पहुंच में अमृत का भरन और योगी द्वारा गुप्त ही गुप्त रहकर उसके आनन्दका अनुभव, इनका मनन कीजिये प्रवचनांश दोहा 1-39 पृ0 1 जैसे विशाल मीठे के ढेर से उसे कितना ही निकालते जाय और भीतर देखते जायें मिठास समाप्त नहीं होता है, नया नया मिठास मिलता है, इसी तरह इस निज आत्मा में निर्विकल्प ढंग से व्यर्थ के रागद्वेष की उलझनों का हटाते हुए ज्ञानको निरखते जायें, उस परमात्मतत्त्वमें, तो ज्यों ज्यों गहरे पहुंचते जायगे त्यों त्यों वहां अमृत आनन्द भरता जायगा। योगीजन निर्जनस्थान में बिल्कुल अकेले शड़ी शान्त मुद्रा में विराजे हुए अपने आपमें ऐसा ततव निरखते हैं कि उनको उब नहीं आती कि हाय हम इस जंगल में अकेले हैं, कोई साथी तो चाहिए। उन्हें साथी का मिलना अनिष्ट है। एक से कोई दूसरा हुआ तो उससे वह अपने काम में बाधा समझता है। तो योगी बाहर में भी एकाकी और अन्दर में भी एकाकी रहना चाहता है।

ज्ञानी और अज्ञानी के भाव का अन्तर देखिये—प्रवचनांश दोहा-1-39 पृ0 4 जानन रागद्वेष संकल्प विकल्प को छोड़कर मात्र प्रतिभासरूप है और विचार जानन को अपने पेट में चबाकर उसको बिगाड़ देने वाले राग का काम है। कुछ भी विचार राग बिना नहीं होता है तो जितना मैं विचार करता हूं, जितनी मैं शरीर की चेष्टा करता हूं, और जितने मैं वचन बोला करता हूं, ये सब अज्ञान की चेष्टायें हैं। ज्ञान को छोड़कर अन्य तत्वों की चेष्टायें हैं, ज्ञानकी चेष्टा नहीं है। ज्ञानकी चेष्टा निर्विकल्प, निष्कलंक, क्षोभरहित शब्द प्रतिभासमात्र है। यों ये अन्य तत्वों की चेष्टायें हैं। सारे आवश्यक कायो। के करता हुआ भी साधु पुरुष यह जान रहा है कि यह सब अज्ञान की चेष्टा है। ज्ञान की चेष्टा तो शु0 जाननमात्र है। कहां तो उंचे ज्ञानी पुरुष अपने इन आवश्यक कार्यो की चेष्टा में भी ज्ञानातिरिक्तता देखते हैं और कहां लोग घर में फसे हुए यह मानते हैं कि हम बुद्धिमानी का कार्य कर रहे हैं, हम ज्ञानका काम कर रहे हैं। तब सोचो तो सही कि ज्ञानी और अज्ञानी के भावमें कितना अन्तर।

परमात्मा के ज्ञान में सर्वजगत आ गया अथवा कहिये सर्व जगत में ज्ञान चला गया, तिस पर भी जगत जगत ही है, ज्ञान ज्ञान ही है। परमात्मा जगतरूप बन सकता। इसी प्रकार की कला ज्ञानमें स्वरसतः होती है, इस का विवरण 1-41 दोहा के प्रवचनांशमें पढ़िये। पृ0 18 जैसे हमारी आंखें रूपके विषय में रहा करती हैं पर आंखें कभी रूपमय नहीं बन जाती है। आंख आंख ही रहती है और रूप रूप ही रहता है। वह किसी अन्य पदार्थ के आकार रंग रूपमें नहीं बन जाती इस प्रकार यह ज्ञान सार जगत को जानता

है मगर ज्ञान, ज्ञानरूप ही रहता है और यह सारा जगज अपने रूप ही रहता है। तन्मय नहीं होता, ऐसा यह निराला आत्मतत्व है। जैसे पानी में मिट्टी का तेल डाल दे तो वह तेल पानी पर तैरात रहता है। पानी पानी है और तेल तेल है। पानी तेल नहीं हो सकता और तेल पानी नहीं हो सकता, यह ज्ञान जगतपर तैर रहा है, कि ज्ञान ज्ञान ही है जगत जगत ही है। हां हम ही ज्ञानी अपने ज्ञानस्वरूपको छोड़कर रागद्वेषमें जाये तो हम अपने ही अपराध से अपने को मलिन कर डालते हैं।

जिसके देह में बसने पर इन्द्रियग्रम आबाद होता है और जिसके निकल जानेपर इन्द्रियग्राम उजड़ हो जाता है उसे परमात्मा जानो, इस रहस्य का प्रतिपादन करनेवाले 1-44 वें दोहा के प्रवचनों में से एक प्रवचनांश पढ़िये। कारणपरमात्मा को ही कहा जा रहा है, यह विदितकर हो जाता है। अर्थात् फिर ये इन्द्रियां अपने अपने विषय के दुख में प्रवृत्त नहीं होती हैं। यह चिदानन्द आत्मा भगवान एकस्वभाव वाला है, किन्तु यह निमित्त नैमित्तिक की साइन्स भी बहुत बड़ा विषयवाला है। इस ज्ञायकस्वभाव परमात्मा ने अपनी बेहोशी की और कषाय का परिणामन किया फिर देख लो ये सारे जाल, ये समस्त संकट कैसे अपने आप इस पर सवार हो जाते हैं। उनमें आपका क्या श्रम लगता है? इसके आगे फिर आप क्या करते हैं, सारे काम एटोमेटिक होते रहते हैं। इस तरह यह स्वयं परमात्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के उपयोग को छोड़कर कुछ विषय कषाय में लग गया। जब अपने आप गडबडी की सारी बातें होती हैं। इन्द्रियग्रम बन गया, शरीर बन गया, इन्द्रियां हो गईं, जिसमें कि भ्रमसे फंसे हैं, और आकुलित होते हैं। सम्यग्ज्ञान के बिना संयम, ब्रताआदि फिट नहीं बैठ पाते, इसका थोड़े शब्दों में चित्रण देखिये—दोहा-1-46 का प्रवचनांश पृ0 56 एक बाबू जी ने कुम्हार का एक पायजामा इनाम में दे दिया। पायजामाका मतलब पा और जामा, अर्थात् जिसमें पांव जम जाय। अब कुम्हार उसे कमर में लपेटे तो फिट न बैठे, कभी हाथों में लपेटे तो फिट न बैठे, एक बार उसने पैर डाल दिया तो पैर डालते ही कुछ फिट होने लगा, फिर दूसरा पैर डाल दिया, लो पूरा फिट बैठ गया। अब कुम्हार ने समझा कि यह यहीं फिट होनेवाली चीज है। से हम ज्ञानके लिए श्रम करते हैं किन्तु अभी ये संयम, ब्रत, तप, पूजा, स्वाध्याय आदि फिट नहीं बैठ रहे, फिट बैठने की निशानी शान्ति है, सो नहीं मिली, किन्तु घबड़ाने की बात नहीं धैर्य पूर्वक धर्मपालन में लगे रहो कभी तो यह उद्यम फिट बैठ ही जायगा। जग फिट होगा तब बेड़ा पार है। ज्ञान का उद्यम करे तो फल उसका अच्छा होगा, संयम आदि सब फिट बैठ जायेंगे।

सत्श्रद्धाविहीन हृदय में धर्म की वृत्ति नहीं जग सकती, इसका संक्षिप्त विवेचन पढ़िये—दोहा 1-58 के प्रवचनांश में—पृ0 138 जैसे भैया,

चित्रकारी उस भीतपर आती है सो भींत बहुत पक्की दृढ़ और चिकनी हो और जो भींत मैली है, गन्दी है उसमें चित्रकारी कभी नहीं आती, इसी प्रकार जिसके हृदय में श्रद्धा नहीं भरी है उसमें धर्म कैसे आयेगा? सो प्रथम तो अपने आपमें श्रद्धा करो कि यह मैं आत्मा सबसे न्यारा निराला चैतन्यस्वरूप हूँ व परिपूर्ण हूँ। हम में किसी बाहर के पदार्थ से कुछ नहीं आता, हमसे निकलकर किन्हीं बाहरी पदार्थों में कुछ नहीं जाता। यह परिपूर्ण है और परिणमता रहता। ऐसे ज्ञानचमत्कारमय अपने ज्ञानस्वरूपको न जाना तो हमने किया क्या? जिसने अपना परिचय पा लिया वह सर्वत्र स्वतंत्र है। कदाचित् उस ज्ञानी को कोई राजा या राजसंघ जबरदस्ती गिरफ्तार करले और जेलखाने में भी बन्द कर दे तो भी यह ज्ञानी वहां भी स्वतंत्र है। शरीर ही है एक सोमाके भीतर, पर ज्ञानका उपयोगी यह किसी के द्वारा गिरफ्तार ही नहीं किया जा सकता। वह तो अपने आपमें ही अपने आप है, उपयोगमें है। यहां भी यह सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र अपने आत्माको देख रहा है, प्रसन्न है, संतुष्ट है। उसे वहां कोई तकलीफ नहीं है। जबकि अज्ञानीजन घरकी गद्दीपर बैठे हैं और वहां ही यह विकल्प, वह विकल्प यह क्यों हुआ इस तरह की दृष्टियां लगाकर बन्धनमें पड़े रहे हैं दुखका अनुभव करते हैं।

अभिलाषा में चैन नहीं मिल सकता, निरभिलाष ज्ञानी पुरुष ही शान्त रह सकते हैं, इसका अध्ययन करें दोहा-1-66 के प्रवचनांशमें पृ0 178 भैया, न पंडित को चैन और न मूरखा को चैन। पंडित को यों चैन नहीं कि उनको अपने पौजीशन की पड़ी है, लोगों ने प्रश्न किया उनका समाधान करें। सो कहीं हम हार न जायें, निरुत्तर न रह जायें सो रात दिन ग्रन्थ देखते हैं, पड़ते ही रहते हैं। कहां चैन है? और मूरख उसकी महिमा को देखकर जलते भुनते हैं। सो उनमें कौन सुखी और कौन दुखी है तो बताओ ? सुख तो केवल उसे है जो संसार में कुछ नहीं चाहता है। केवल मेरा यह ज्ञानस्वरूप आत्मा उपयोग में रहे इतना ही जिसकी अभिलाषा है वह पुरुष तो सुखी है और बाकी कोई सुखी नहीं प्रभुदर्शन करने जाते हैं, हमें इससे यही शिक्षा मिलती है कि घबड़ाओं मत, मूढ़बुद्धि को छोड़ों तेरा ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है। परवस्तुओं के, बाह्य पदार्थों के छूट जाने से अपने में कष्ट का अनुभव मत करो। तू मूझ सरीखा ही अनन्त वेभवशाली है। भीख मांगकर उदर भरे, न करे चक्री का ध्यान, जगत में देखे सुखिया सम्यक्ज्ञान चाहे किसी प्रकार अपना पेट भर लो मगर इन्द्र के भी वैभव का ध्यान न करो। इन्द्र के जैसे भोगों को भी विष्टाके समान समझना है।

इस पुस्तक में परमात्मप्रकाश के प्रथम महाधिकारके 67 वें दोहा से तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। इसके शुद्ध आत्मतत्त्वका विवेचन किया गया है। जिसका आश्रय लेने से आत्मा प्रकट शुद्ध परमात्मा हो जाता है। इस शुद्ध आत्मतत्त्वको परखिये—दोहा 1—68 के इस प्रवचनांशमें पृ० 60 हे योगी पुरुष, परमार्थसे तो यह जीव न तो उत्पन्न होता है और न मरता है फिर बन्ध और मोक्ष को तो करेगा क्या? अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से यह जीव बन्ध से व मोक्ष से रहित है, ऐसा जितेन्द्र देवका कहना है। जब यह मुझमें शुद्ध आत्मतत्त्व अनुभूत नहीं होता है तब शुभ ओर अशुभ उपयोग की परिणति रहती है और जीवन मरण शुभ अशुभ पुण्य पाप बन्धों को करता है, पर शुद्ध आत्मा का अनुभव हो जाने पर यह जीव शुद्धोपयोग को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है तो भा शुद्ध परमपारिणामिक भावकी दृष्टि से, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से यह आत्मा कुछ नहीं करता। शुद्ध परिणामिक भाव उसे कहते हैं जिस शक्ति के परिणमन विभिन्न भी हो रहे हों पर सब शक्ति की आधारभूत जो एक शक्ति है वह शक्ति परमपारिणामिक भाव कहलाती हैं उस भावको ग्रहण करने वाले शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे न आत्मा जन्म करता है, न मरण करता है, न बन्ध करता है और न मोक्ष करता है। वह तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप शाश्वत विराजमान रहता है, ऐसे ही इस परमात्मतत्त्व के बारे में यहां विचार किया जा रहा है।

यथार्थ आत्मस्वरूपको जाने पर वास्तव में अहिंसकता व दयानुपना बनाता है, इनका दिग्दर्शक कीजिये दोहा 1— 69 के इस प्रवचनांश में पृ० 1—भैया, अपने आपको नहीं जानते यह बहुत बड़ा आक्रमण है अपने प्रभु पर और फिर कषायों की धुन में रहना हमारा तीसरा आक्रमण है अपने नाथपर। जहां इतना आक्रमण किया जा रहा है वहां हम अपने को अहिंसक कह दे तो कैसे कहा जा सकता है? उपरी दिखावटी दया से कहीं अहिंसा का लाभ ना होगा। कुछ लौकिक परम्परा ऐसी है कि जिसमें छोटे—2 कीड़ो मकोड़ो की हिंसा का बचाव चला आ रहा है। ठीक है, पर इतने मात्र से अहिंसा का पालन नहीं होगा। आप अपने स्वरूप का जानो फिर अपने स्वरूपके समान हो जगत के सब जीवों को जानो। जगत के जीवों को देखकर हमें वह ज्ञान — शुद्धस्वरूप समझ में आये, बाद में फिर पर्यायों के सकलेश से बचाने की बात आये तो वह पेने ज्ञानकी कला है। और देखते ही हो ये सब पर्यायें दशायें, पाप पुण्य बहुत फ़ैले नजर आये और समझाये भी दिल लगाये लगाये परमात्मस्वरूपकी बात समय में न आये वह तो अपने आपकी हिंसा है।

समस्त संकटों का कारण शरीर सम्पर्क जानकर शरीर से उपेक्षा करके जात्मस्वभाव की आराधना करने का अपने से अनुरोध कीजिये, दोहा 1—72 के प्रवचनांश में पढ़िये पृ० 24 भैया, शरीर तो मिलता रहता है और

शरीर को क्यों चाहते हो? शरीर का मिलना बड़ा कठिन उपद्रव है। यह शरीर मिला, तब अहमबुद्धि हुई, यह मैं हूं, और जब माना कि यह मैं हूं, तो मोही पर शरीर की मानता कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है इत्यादि। ओर फिर उन सबको राजी रखने के लिए धन का संचय किया और फिर उस धनमें जो बांध के होने लगा, उनमें लड़ने लगा, और तरह रागद्वेषमय क्षोभ की वृत्ति बनाई किस बातपर? एक शरीर मिला है इस बात पर। क्या यह शरीर चाहिए आपको? नहीं चाहिए ना? तो वर्तमान में भी इस शरीर के अनुरागी न बनो। इस मनको पापों से बचाने के लिए इस शरीर से अधिकाधिक उपकार करो। जैसा होना हो, शरीर छिदता हो छिदे, भिदता हो भिदे, किसी भी हालत को प्राप्त होता हो, पर अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी भावना न छोड़ो।

ज्ञान की पूजा में परमात्मत्वकी पूजा देखिये—दोहा— 1-77 का एक प्रवचनांश, पृ0 40 हम यदि ज्ञान की पूजा करें तो परमात्मा की पूजा लिया समझ लीजिये। नामसे क्या है? जिसका नाम है वह भगवान नहीं और जो भगवान है उसका नाम नहीं। वीर प्रभु को जब तक महावीर की निगाह से देखते हो तो ऐसा लगता है कि यह किसी का लड़का है, ऐसा सुहावना है, इतना बड़ा है, घर छोड़कर चल दिया, यह ही देखोगें। पर यह तो भगवान नहीं। भगवान तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अनन्त गुणमय है। जो शुद्ध केवल ज्ञानमय है, उस प्रभु का तो कोई न म ही नहीं है। ये वीर हैं ये ऋषिभदेव है, ये चन्द्रप्रभु हैं। क्या उस ज्ञानमय प्रभुका कोई नाम हैं? जब तक नामकी दृष्टि है तब तक भगवान का मर्म पहिचाना नहीं जा सकता। और, जहां भगवान के मर्म में पहुंच गये फिर से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया।

मोहव भ्रम कष्ट सहने वालों को सम्बोधन—दोहा 1-78 के प्रवचनांश में पृ0 49 मोह करना हमें आसान लगता है क्योंकि घर मिला है ना खुद को, घरमें रहने वाले जो दो चार जीव है वे अधिकार में हैं ना? सो खूब मोह करो, खूब भ्रम करो, पर इसका फल क्या होगा सो अन्दाज करलो। इसका फल मिलता है इन चौरासी लाख यानियों में जन्म मरण करना। यह सब होता है अपनी गलती से। बन्दर होता है ना। बन्दर याने जो बनको दर देव, बनमें ये डाली तोड़ देते हैं ना? जो बन की उजाड़ दे उसे कहते हैं बन्दर। भैया, देखा है तुमने बन्दर? हां, जरूर देखा होगा। एक घड़े में अच्छे छोटे छोटे लड़वा भरकर रखलो और फिर उसे छत पर रख दो तो बन्दर आयेगा और उस घड़े में दोनों हाथ डालेगा। दोनों हाथों से लड़ू पकड़ लेगा। वह दोनों मुट्ठी न खोलेगा, यों ही बाहर को खींचेगा और उछल उछल कर बाहर का भागेगा। उसे यह ध्यान है कि मुझे घड़ेने पकड़ लिया है, वह अपने हाथ नहीं निकाल पाता है किन्तु भ्र। उसके यही लग गया कि मुझे घड़े ने पकड़ लिया

है सो वह बाहर को भागता है। इसी प्रकार हम आपके कोरा भ्रम लगा है, सो व्यर्थ ही कष्ट पा रहे हैं।

आत्मा की पुष्टि किस वृत्ति में हैं, देखिये दोहा 1-80 के प्रवचनांश में, पृ0 57-58 देखो तो भैया, इसका इतराना, यह सब मानता है कि मैं मोटा हो गया हूँ तो बड़े गवसे अपनी भुजा को तकता है, हाथ उटाता है, मैं बड़ा पुष्ट हो गया हूँ, आइने को देखता है। छोटा दर्पण कोई देखने को ला दे तो वह फेंक देता है। अजी बड़ा दर्पण क्यों नहीं लाये? बहुत बढ़िया दर्पण मिले जिसमें अपने शरीर की शकल पूरी तौर से देखकर मूँछ ऐंठकर सिरपर हाथ फेरकर अपने आप गवेसे मौज मान ले कि मैं पुष्ट हो गया हूँ। अरे आत्माको ओर तो विचारकर। तू तो तब पुष्ट कहलायगा जब शुद्ध ज्ञानप्रकारश का अनुभव हो और आत्मामें ही तेरा निवास हों, शुद्ध आत्मतत्वकी ओर तेरा झुकाव हो, वहां मू पुष्ट अपने का समझ और किसी शरीरादिक के बाह्यपदार्थों से पअनी पुष्टि न मानो।

पापी जगत में बड़प्पनकी चहा करना मूढता है, बड़प्पन चाहो तो ऐसा चाहो कि जिसे अनन्तज्ञानी पर आत्मा जान जायें, मनन कीजिये दोहा-1-85 के प्रवचनांश में पृ0 73 जो स्वयं पापी हैं, मलिन हैं, जन्ममरण के चक्र में फसे हैं अज्ञानी हैं ऐसे पुरुषों में अपना बड़प्पन रखने से क्या लाभ है? इनकी अपेक्षा तो एक ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में बड़ बन जावो तो वह ज्यादा लाभदायक है। हजारों लाखों अज्ञानियों का दृष्टि में हम बड़े बन जायें इसकी अपेक्षा एक ज्ञानियों की दृष्टि में हम अच्छे कहला सकें यह ज्यादा लाभप्रद बात है। और फिर देखिये एक दो ज्ञानियों की बात क्या, यदि रत्नत्रयरूप परिणति रहेगी, ज्ञान व्यवस्थित रहेगा, निर्मल परिणमन होगा तो मैं अनन्तज्ञानियों की दृष्टि में भला होउंगा। हजारों मोही अज्ञानी, दुखी, पापी पुरुषों में भला दिख जाने से फायदा क्या है? भला दिखें तो उन अनन्त ज्ञानियों की दृष्टि में भला दिखें तब तो बड़प्पन है। वे स्वयं माही हैं, मलिन है उनको निगाह में भला कहलाने से कुछ बड़प्पन नहीं है।

बाहरी देश से चित हटाकर अन्तः प्रकाशमान प्रभुस्वरूपकी आराधना करने की प्रेरणा लीजिये, दोहा 1-88 के प्रवचनांशमें पृ0 83 आत्मा बन्दकनहीं है, मायने बोद्ध नहीं है। क्षपण नहीं है याने दिग्स्वर नहीं है, गुरव नहीं है याने स्वेताम्बर नहीं हैं। यह साधुओं का जो भेद है कि जैन साधु बोद्धसाधु अमुक साधु यह भेद आत्मा में नहीं पड़ा। आत्मा तो एक अमूर्त चैतन्यमात्र तत्व है, परिणति का भेद तो अवश्य है, किन्तु यह आत्मा स्वयं भेदवाला नहीं है। आत्मा न बोद्ध है, न क्षपणक है अर्थात् दिग्म्बर है और न और और जितने चाहे ले लो। स्वेताम्बर हैं, दण्ड लेने वाले हंस है, परमहंस

है, सन्यासी हैं, जटा रखने वाले योगी हैं, हड्डी की माला पहिनने वाले हैं, कोई तिलक लगाये हैं, कोई कमर में मोटा रस्सा लपेटे हैं, कोई भूभत लगाये हैं, अनेक प्रकार के साधुजन होते हैं पर आत्माका यह विभिन्न स्वरूप नहीं है। जिसने आत्मा के स्वरूपका ज्ञान किया है वह आत्माकी उपलब्धि के लिए बाहरी पदार्थों को हटाने का तो काम करेगा मगर लगाने का काम न करेगा। आत्मा को क्या चाहिए? समताभाव, निर्विकल्प आनन्द। वह परको हटानेसे मिलेगा। पर, परको लगाने से न मिलेगा। आत्महितके लिए कुछ भी चीजें शरीर पर रखने की आवश्यकता है क्या? जिसे आत्मसाधना करनी है, भष्म हो, माला हो, जआ हो, कुछ भी हो, ये सब परपदार्थ हैं। इनके संचय और संग्रह से आत्मामें क्या कोई भलाई है? नहीं। वे सब विकल्प हैं।

147 परमात्मप्रकाश प्रवचन चतुर्थ भाग

इस पुस्तक में परमात्मप्रकाश के प्रथममहाधिकारके 93 वें दोहा से 125 वें दोहा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। दोहा 1— 94 के एक प्रवचनांश में देखिये जितने आत्मा के लिए उत्तम काल है वे सब आत्मस्वरूप हैं पृ0— 13 जितने भी करने योग्य काम हैं वे सब इस आत्मस्वरूप ही हैं। यही आत्मा संयम है, यही आत्मा शील है, यही आत्मा दर्शन है, यही आत्मा अपने आपमें शुद्ध आत्मस्वरूप उपादेय है —इस प्रकार की बुद्धि से अपनी ओर झुकता है। इसी कारण यह आत्मा सम्यक्त्व है, रागद्वेष रहित निज आत्मतत्त्व के ज्ञानका अनुभव इस आत्माको ही है। इसलिए यह निश्चय ज्ञान है। मिथ्यात्वरगादिक समस्त विकल्पजालों का त्याग के द्वारा परमात्मतत्त्वमय परमसमतारूप भावों से यही परिणमता है इसलिए यही मोक्षमार्ग है। सारांश यह है कि यह शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, क्योंकि स्वाधीन परमउपादेय आनन्द का साधक आत्मा ही है। यह साधक कैसे बन जाता है? अपना जो शुद्ध स्वरूप है उस का अनुभवरूप भाव संयम बनता है। इस कारण यह ही आत्मा अपने स्वाधीन सुखका साधक है, सो ही आत्मा उपादेय है।

आत्मा के जाननेपर सबको जाना हुआ ही समझो, देखो दोहा 1—99 के प्रवचनांश में पृ0 25 भैया, सर्व कुछ बलिहारी है इस आत्मज्ञानकी। इस कारण बन, मन, धन, वचन, न्यौछावर करके भी यदि आत्माका बोध प्राप्त होता है तो वह सब कुछ वैभव प्राप्त कर लेता है। केवल मात्र जानने का काम है। सो जानने वाला है उसकी जानो। जो जानन का स्वरूप है उसको जानो। केवल जाननका ही सदा पुरुषार्थ करना चाहिए। ज्ञान से बढ़कर तप क्या होता है? आत्माको जान लेनपर सर्व कुछ ज्ञान हो अमेरिका ले चलें, दिखायेंगे आपको कि वहां कितना अच्छा है?? कहेगा कि हमने देख लिया। वहां जड़

पुद्गल होंगे, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के पिण्ड होंगे। हम सब जानते हैं। इस प्रकार जिसका केवल आत्मा से प्रयोजन होगा वह कहेगा। सब अनात्माय इसके लिए पर हैं। इतने रूपसे सबको जान जाता है। इस तरह यह समस्त लोकालोक को जानता है। तब यह बात हुई ना कि आत्मा ज्ञान हो जाय तो सब कुछ ज्ञात हो जाता है।

बाहर कहीं विपदा नहीं, मोह त्यागकर अपने में प्रभुताके दर्शन कर लो, सब संकट मिट जायेगा, इसकी प्रेरणा लीजिये दोहा 1-101 के प्रवचनांश में पृ० 36 कितनी चिन्तायें हैं अपने को, जरा एककापी में तो लिख लो। अमुक बीमार है, न जाने यह मर जायेगा तो फिर क्या होगा? अमुक मुकदमा है कहो इसमें 10 हजार चले जायें, अमुक घर में बिगड़ रहा है, न जन यह रूठ ही जाये। एक बार में ही सब कबूल लो। वैभव गया भाड़ में। यह गुजरता है तो गुजर जाये। जितनी भी अनिष्ट शंकायें है उन सब को कबूल करलो और एक औषधि पी लो कि आखिर ये सब परद्रव्य ही तो हैं। इनमें यदि कुछ हो गया तो क्या हुआ? कौन सी बात मेरे स्वरूपमें घट गई? किसी भी प्रकार की बात सामने आये तो अपने को निर्भार अनुभव करलो। केवल एकतववरूपमय, ज्ञानप्रकाश, आकाशकी तरह अमूर्त निर्लेप अनुभव करलो। इससे ही प्रभुता के दर्शन होते हैं। उस प्रभुता की भेंट होने पर फिर यह निश्चित हो जाता है कि अब संसार के जन्ममरण न रहेंगे।

परमानन्दमय शुद्ध आत्मतत्त्व को जानने की प्रेरणा दोहा 1-19त्र०8 के प्रवचनांश में, पृ० 47 निज शुद्ध आत्मा ज्ञान द्वारा ही गभ्य है। शुद्ध आत्माका अर्थ है कि मेरे आत्माका अपने आपके सत्वके ही कारण जो स्वरूप होता है वह है शुद्ध आत्मा, खालिस आत्मा। बिना परपदार्थों के संयोग के आत्मा स्वयं जैसा हो सकता है वह कहलाता है शुद्ध आत्मा। वह ज्ञान से ही जाना जा सकता है। जब तक इस शुद्ध आत्मा का ज्ञान न हो तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता और जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है उसको अरबों की भी सम्पदा मिल जाय फिरभी गरीब है। सम्पदा से क्या होता है। वह आनन्दकी जनक नहीं है। निज शुद्धआत्मस्वरूपपर दृष्टि जाये तो वहां का आनन्द विचित्र आनन्द है। हम अरंहत सिद्ध भगवंत की क्यों पूजते हैं? क्योंकि वह आनन्दमय है। सब जीवों के ध्येय एक आनन्द होता है। ज्ञानको भी लोग उपेक्षा कर सकते हैं। हमें ज्यादाह ज्ञान न हो, न सही क्या लेना देना, पर आनन्द तो ज्ञान और आनन्द इन दो में सेछटनी जीव किसकी करेगा? आनन्दकी । किसी से कहो कि तुम्हें बहुत ज्ञान चाहिए या आनन्द? तो वह क्या मांगेगा? वह आनन्द मांगेगा? हालाकि आनन्द ज्ञान बिना नहीं हो सकता है, इस कारण ज्ञान तो आ ही जायगा, पर पाने की इच्छा आनन्द की होती है। तो तुम्हारा

आदर्श आराधनीय वहां आत्मा हो सकता है, जो शुद्ध अविनाशी परम आनन्दमय हो।

परलोक याने उत्कृष्ट लोक में पहुंचने का प्रोग्रस करिये मनन कीजिये दोहा 1-111 के प्रवचनांशमें, पृ0 85 वह परलोक है। ऐसा पर लोग कहते हैं, अर्थात् उत्कृष्ट पुरुष इस उत्कृष्ट लोक को बताते है। जिस भव्य जीव के जैसी मति बस गई है अथवा जैसी गति होती है वैसी ही ज्ञानकी स्थिति होती है। जिसका चित निज परमात्मस्वरूपमें बस रहा है, विषय कषायके विकल्पों का त्याग करने के उपायसे जिसका चित निज ज्ञानस्वरूपमें स्थिर हो रहा है और उसको तुम परलोक जानो। कोई बड़ी बढ़िया बात सुनाई जाय तो कहते हैं, वाह, तुमने तो अलौकिक दुनिया में मुझे पहुंचा दिया। तो सर्वोत्कृष्ट बात है, अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूपकी, जिसके जाल लेनेपर संसार के समस्त संकट सदा के लिए विदा हो जाते हैं। उस स्वरूपमें पहुंच जाये तो वही तो कहलायेगा कि लो यह उस अलौकिक दुनिया में पहुंच गया। यह मन अलौकिक दुनिया में कैसे पहुंचता है? इसका उपाय है स्वसम्बेदन, ज्ञानका ज्ञान। शुद्ध स्वरूप के पहुंचन के उपाय में आपको पहिले बहुत सी बातें जाननी होगी।

सर्वविविक्त ज्ञानमात्र आत्माके अनुभवकी प्रेरणा प्राप्त करें दो 1-113 का प्रवचनांशमें पढ़िये पृ0 68 देखो भैया, ये सब पदार्थ जीव से चिपटे नहीं हैं। घर भी आपसे चिपटा हुआ नहीं है, कि आप चलें तो आपके साथ घर भी चल दे। अगर ऐसा होता है तो आपको कोई डर नहीं था। देश विदेश हो क्या कहलाता? जहां जाते तहां ही घर चिपड़ा रहता। तो घर चिपटा है क्या? नहीं। परिवारका कोई चिपका है क्या? नहीं। शरीर भी आत्मा से चिपका है क्या? नहीं। अगर शरीर आत्मासे चिपका होता तो कभी मृत्यु न होती। शरीर के साथ ही आत्मा बना रहता है और आत्मा के साथ रागद्वेष विकार चिपके हैं क्या? यदि आत्मा से ये रागादिक चिपके होते तो आत्माके साथ सदा रहते। तो मैं इन सब परभावों से अत्यन्त भिन्न हूं—ऐसे भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकमसे, रहित केवल ज्ञानप्रकाश मात्र जो अपने आपकी श्रद्धा करता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है, निकटभव्य है, संसार से फूरर होजाने वाला है।

आत्मा के विरोधी रागादि भावों से आप स्नेह रखेंगे तो आप पर परमात्मा कैसे प्रसन्न होंगे, विचार कीजिये—दोहा 1-120 के प्रवचनांशमें, पृ0 83 अभी यहां पर ही किसी के विरोधी से आप स्नेह लगाये तो उसका प्रेम कम हो जायेगा तो यह तो भगवान् है, परमात्मत्व है, उसके विरोधी हैं काम क्रोधादि कषाय, तो यदि यह विरोधियों से अपनी मित्रता बढ़ाये तो उस

उपयोग में परमात्मा नहीं दिख सकता है और जिस उपयोग में परमात्मा के दर्शन नहीं है, पुत्र मित्र परिवार आदिका ही जहां लगाव है, आत्मा के उद्धार का वहां कोई अवसर नहीं है। ये लोग खुद असहाय है पाप का उदय आ जाये तो ये विहल ही हो जायेंगे। तो जो विहल हो जाये, जिसके पापका उदय आ सकता है। ऐसे जीवों से हम क्या आशा रखें कि ये मेरे शरण हो जायेंगे।।

स्वच्छ हृदय मे ही प्रभु का वास हो सकता है, पढ़िये पृ० 87 –भगवान से कौन मिल सकता है? वही पुरुष भगवान से मिल सकता है, जिसने अपने हृदय को निर्मल बनाया हो। हृदय में तो विषय भरे हों और परमात्मस्वरूपसे मिलन करलें, यह कभी नहीं हो सकता है। मेले घर में तो पड़ौसी को भी आप नहीं बैठालना चाहते। कोई छोटा अफसर आ जाय और एक आध घंटे पहिले मालूम पड़ जाये, तो आप बड़ी सफाई करते हैं और अपने मकान का बड़े सुन्दर ढंग से सजाते हैं। अगर घरके एक कोने में हड़ियां रखी है तो उनके आगे सफेद पर्दा लगा देते हैं। तो आप एक आफ्रीसर से मिलने के लिए तो घर को साफ और स्वच्छ बनाते हैं ओर जो भगवान तीनों लोकों का अधिपति है, शुद्ध है, सब लोकों का ज्ञातादृष्टा है, दोषों से अत्यन्त परे है—ऐसे प्रभु को आप अपने घर में बैठाना चाहें और घरको गन्दा रखें तो क्या प्रभु आपके घर में आयगा? नहीं आ सकता है। जिसका हृदय अत्यन्त स्वच्छ हो, रागद्वेषरहित, क्रोध, स्वार्थ, वासना कुछ भी न हो, केवल शुद्धस्वरूपकी जिज्ञासा के लिए अपना लक्ष्य बनाया हो तो प्रभु मिल सकता है।

व्यग्रता का फल उत्तम नहीं, किसी भी उद्देश्य मत होओ, समतापूर्वक मुक्तिमार्ग में बढ़ो, यही उत्तम कार्य है, इससे सम्बन्धित प्रवचनांश पढ़िये दोहा—1—121, 94 वर्तमान में इतनी व्यग्रता न होनी चाहिए। कोई सोचे कि महीने दो महीने खूब व्यग्र होलें और फिर शान्ति से समय निकलेगा तो जो अभी से व्यग्र हो रहा है उसको शान्ति का समय मिलने का विश्वास क्या है? थोड़ा सा कष्ट भोगलें, फिर आराम से रहेंगे। यदि ऐसा सोचना है तो मोक्ष के लिए सोचो कि थोड़े समय का दुख भोगलें, ज्ञान का, तपका, ब्रतका, ब्रह्मचर्यका, अकेले रहने का, थोड़े समयको कष्ट भोग लो, फिर सदा के लिए सर्व प्रकार का आराम रहेगा। सीधा अपना जो स्वरूप है उस स्वरूपरूप अपने को मान लो। दुख तो यहां है नहीं। दूख तो बनाये जाते हैं, दुख बनाना छोड़ दो, सुखी अपने आप हो जावोगे, दूख बनता है तो परपदार्थों की आसक्ति से। परका आसक्ति छोड़ दो, बस सब आराम हो गया। लोग पाप के फलसे डरते हैं मगर पाप नहीं छोड़ना चाहते और पुण्य से फल को चाहते हैं मगर पुण्य नहीं करना चाहते हैं। मोह में दोनों ही तरफ के अकल्याण का वातारण बन

जाता है। इस तरह का उत्तम समागम पाकर ज्ञानार्जन का अधिक लाभ उठा लें, और वे इससे बढ़कर उत्तम कार्य अपने लिए और कुछ नहीं हो सकता है ॥

148 परमात्मप्रकाश प्रवचन पंचम भाग

इस पुस्तक के परमात्मप्रकाश ग्रन्थ के द्वितीय महाधिकारके प्रथम 35 दोहों पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। प्रथम महाधिकार में परमतत्त्वका उपदेश प्राप्त करने के बाद इस द्वितीय महाधिकार के प्रथम दोहा में मोक्ष, मोक्षका कारण व मोक्षका फल पूछा जा रहा है। इसी प्रश्न का संक्षिप्त विवेचन पढ़िये—दोहा-2-1 के प्रवचनांशमें, पृ0 1—यहां प्रभाकर भट्ट योगीन्दु देव से उपदेश चाह रहे हैं। हे श्री गुरु, योगीन्दुदेव मेरे को मोक्ष, मोक्ष का कारण और मोक्षका सम्बन्धी सर्वफल कहियेगा, जिससे मैं परमात्मा हितको जानूं। इस दोहे में शिष्य भट्ट श्री योगेन्दु देव से प्रार्थना कर रहे हैं अर्थात् मोक्ष, मोक्ष का फल, और मोक्ष का कारण इन तीनों बातों को पूछ रहे हैं। यह दोहा द्वितीय महाधिकार की भूमिका रूप है। कोई सा भी संकट आयाहो किसी जीव पर तो उसे तीन बातों की जिज्ञासा रहा करती है। इन संकटों से छूटने की स्थिति क्या है और संकटों से छूटने का उपाय क्या है और संकटों से छूटने पर वातावरण या फल क्या मिलेगा—ये तीन बातें उसकी जानकारी के लिए रहती हैं। यह संसार का महासंकट जीव पर छाया है। जो भव्य जीव है, जो संकटों से छूटने की लालसा रखता है वह तीन बातों का अवश्य जानना चाहता है। जो अभिलाषी है, संकटों से छूटने का, उसकी ये तीन बातें जाननी चाहिए। उन्हीं तीन बातों का प्रश्न योगीन्दुदेव प्रभाकर भट्ट न किया है।

उक्त प्रश्न में पूछी गई तीन बातों का उल्टा काम भी है जो अभी चल रहा है, उसके सम्बन्ध में भी देखिये— पृ0 1-2 इन तीनों के मुकाबने में उल्टी तीन बातों में तो यह जीव गुजर ही रहा है। मोक्षका उल्टा क्या है? संसार। संसार का स्वरूप, संसार का कारण और संसारका फल। यह भी इन्हें विदित है कि यह संसार का स्वरूप है। विकल्पों में लगे रहना, संकट बनाकर दूखी रहना, जन्म मरण के दुख भोगना यह सब संसार का स्वरूप है। विकल्पों में लगे रहना, संकट बनाकर दुखी रहना, जन्म मरण के दुख भोगना यह सब संसार का कारण है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। यही है संसार का फल, यही है दुखों का भोगना। रोगी पुरुष की 6 बातें ज्ञातव्य हैं। यह राग कैसा है? यह किस कारण से हुआ है और रोग के फल में क्या पा रहे हैं। तीन तो ये बातें हैं और तीन बातें ये हैं रोग से छूटने का स्वरूप क्या है, रोग से छूटने का कारण क्या है और रोग से छूटने पर परिणामन क्या

होगा? फल क्या मिलेगा? यों 6 बातें ज्ञातव्य हैं। और, तीन बातें तो भीग ही रहे हैं, उनको तो पूछता ही था। सो शेष तीन बातें मोक्ष का कारण और मोक्ष का फल यहां पूछा जा रहा है।

उक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर इस ग्रन्थ में क्रमशः दिया जायगा, फिर भी संक्षेप में उनका दिग्दर्शन अभी 2-2 दोहा के कुछ प्रवचनांशों में कर लीजिये पृ० 2 तू शुद्ध आत्माको उपलब्धिरूप मोक्षका जान । मोक्षके मायने क्या है? छूट जाना। छूट जाने में होता क्या है? जो जैसा हे वैसा अकेला रह जाता हे। अकेला रह जाने का नाम है मोक्ष। दो रस्सी आपस में बन्धी हैं, उन दोनों रस्सियों के मोक्षका नाम क्या? अकेले अकेले रह जाना, इसका नाम है मोक्ष रस्सी का। इसी प्रकार जीव और कर्मका अकेले अकेले रह जाना इसका नाम है मोक्ष। अकेले का रह जाना अच्छा है या दुकेले, चौकेले, अटकेले रहना अच्छा रह जाना इसका नाम है मोक्ष। अकेले का रह जाना अच्छा है या दुकेले, या चौकेले, दिल से बाताओ, झूट नहीं कहना। अकेले कोई नहीं रहना चाहता। याहता है कि स्त्री हो, पुत्र हों मकान हो, मित्र हो,। अकेले रहने में बड़े घबडाहट पैदा करते हैं, अपने को अशरण समझते हैं, किन्तु लाभ अकेले में रहने में। जो बिल्कुल अकेला रह गया है उसका ही तो हम और आप सुबह हो आकर पूजन बन्दन करते हैं। अकेले रह जाना बुरा होता तो यहां सुबह ही आकर मन्दिर में माथा क्यों रगड़ते? जिसके आगे आप माथा रगड़ते हो वह अकेला रह गया है। कितना अकेला? घर छोड़ दिया, कुटुम्ब छोड़ दिया, और अब तो सिद्ध है ना। शरीर से भी छूट गये, कर्म भी छूट गये। खालिस आत्मा, आत्मा रह गया। तो उसका ऐसा अकेला रह जाने का नाम मोक्ष है।

मोक्ष का फल और मोक्ष का क्या है— पढ़िये पृ० 3 मोक्षका फल है समस्त विश्वको जानना और समस्त विश्वको जानते हुए उस आत्माका स्पर्श होना और अनन्त शक्ति होना। वह मोक्ष का फल है। ज्ञान और आनन्दकी सभी चाह करते हैं। वह अनन्त ज्ञान कहां मिलेगा? केवल आनन्द में मिलेगा। आनन्द को आज्ञा से हम बाह्य पदार्थों में अपना आकर्षण रखते हैं तो जैसे यही बाह्य पदार्थों में आसक्ति रखी, समझो कि हमारा आनन्द वहां समाप्त हो जाता है। मोक्षका मार्ग क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है।

भगवान को नमस्कार करने की दो विधियों में कार्य परमात्मा य कारणपरमात्म के धामका संकेत देखिये—दोहा -2-5 के प्रवचनांश में—पृ० 8 एक कवि ने कहा है कि प्रभु को तस्वीर इस हृदय के आइने में है। जरा गर्दन झुकावो और अपने इस हृदय के दर्पण में उस प्रभुको देखलो। भगवान को जो

कोई निरखना चाहता है, यह या तो बहुत उंचा मुंह करके देखता है या बिल्कुल अंतरंग में मुंह करके देखता है। अन्य दिशाओं में या नीचे मुंह लगाकर कोई भगवानको नहीं देखना है। कोई विपत्ति पड़ जाये तो उंचा मुंह उठाकर कहते हैं या फिर अपने आप में गड़ करके भगवान को देखते हैं ऐसी जो दो पद्धतियां हैं उसका भाव यह है कि या तो उपर सिद्ध लोकमें विराजमान जो मुक्त आत्मा है या तो उनको कहा जा रहा है या फिर अपने आपके आत्मा में बसा हुआ जो ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभाव को कहा जा रहा है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप और उसके पीने की युक्ति कितने संक्षिप्त शब्दों में प्रकट कर दी गई है, पढ़िये दोहा 2-13 के एक प्रवचनांशमें, पृ0 44-45 सम्यग्दर्शन पाने की कई भावनायें और छोटी छोटी युक्तियां हैं। बार बार भावना करके रुचि बनाना से सम्यग्दर्शन का उपाय है। यह मैं शुद्धात्मा अर्थात् शरीर रहित, वैभवरहित, विकल्परहित, सर्वमलिनताओं परे केवल प्रतिभासमात्र आकाश की तरह निर्लेप यह मैं आत्मा हो उपादेय हूं, ऐसी रुचि करना सो सम्यग्दर्शन है।

निश्चयमोक्षमार्ग व व्यवहारमोक्षमार्ग की परख करिये, दोहा 2-15 के एक प्रवचनांशमें पृ0 50 हे जीव जो निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है उसकोतू व्यवहार मोक्षमार्ग जान। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय ही मोक्षका कारण है। परद्रव्यों से जुदा ज्ञानमात्र आत्मा के स्वरूपमें रुचि होना सो सम्यग्दर्शन है और अपने आपके स्वरूपके प्रति ज्ञान होना, विशेषरूप से यथार्थ गुण पयग्रय का परिज्ञान होना सो ज्ञान है और इस ही आत्मस्वरूपमें लीन होना सम्यक्चारित्र है। ऐसा जानने से तू क्या बन जायगा? परम्परा से पवित्र परमात्मा हो जायेगा। व्यवहार मोक्षमार्ग ही इस जीव का प्रथम पुरुषार्थ है। उसके प्रताप जीव, अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालका सम्यक्श्रद्धान होना, ज्ञान होना और आत्मसंयम के लिए व्रत आदिका अनुष्ठान होना यह सब व्यवहार मोक्षमार्ग है और निज जो सहजशुद्ध आत्मस्वरूप है ज्ञानमात्र धुंव उस स्वरूपका वास्तवमें स्वरूपरूप आत्मतत्वका सम्यग्दर्शन होना, ज्ञान होना और अनुष्ठान होना यह है निश्चयमोक्षमार्ग।

हम अर्थभगवान, शब्दभगवान व ज्ञानभगवान इन तीन में से किसकी भक्ति किया करते हैं, इसका सभिक्षण कीजिये दोहा -2-21 के एक प्रवचनांशमें, पृ0 99 भगवानको तीन रूपों में निरखो अर्थभगवान, शब्दभगवान और ज्ञानभगवान। अर्थभगवान और शब्दभगवान से आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह अपनी जगह पर है, हम अपने प्रदेशोंमें हैं। आप हम यहां चिल्लाते रहें तो उससे उस भगवान पर कुछ नहीं गुजरता है। हव प्रभु रागमें आकर, अपने

उत्तम पदसे आकर हम आप जैसे लटौरे खचोरों को हाथ पकड़कर तारने नहीं आता है। वह संकल ज्ञेय ज्ञायक और निजानन्द रसलीन है और शब्दभगवान—भगवान, यों चार वर्ण लिख दिया गया ही अथवा बोला गया हो वह है शब्द भगवान। सो शब्द भगवान से हमारा वास्ता क्या? शब्द भगवान की हम भक्ति नहीं करते। अर्थभगवान के सम्बन्ध में जो हमने ज्ञान बनाया, जो कुछ समझा, वह है मेरा ज्ञान भगवान। किन्तु ज्ञान भगवानकी भक्ति करते हैं। भगवान की मूर्ति के सामने खड़े होकर भी यदि अपने हृदयमें, ज्ञानमें, घर वैभव बसा हुआ हो तो हम वहां किसको भक्ति कर रहे हैं? ज्ञानकी ज्ञानपुत्रकी, जड़ज्ञानकी भक्ति कर रहे हैं तो भगवद्भक्ति नहीं कर रहे हैं। आयें अर्थात् उस ज्ञानमें भगवानके गुण बस रहे हों, उनके गुणों का स्मरण कर रहे हों, ऐसी शुद्ध स्थिति में यदि हम रहते हैं तो हमने भगवान की भक्ति की अन्यथा जो भी बस रहा हो उकसी पूजा हो रहा है। जो हृदय में बसा हुआ हो, उसकी ही चहा कर रहे हैं। जिनमें मोह बस रहा है वे खुश रहें, ऐसा बुद्धि हित पूजा है तो भगवान को कुछ नहीं चढ़ रहा है वह उनको ही चढ़ रहा है।

कालद्रव्यका स्वरूप प्रतिपादन करने वाले -2-21 वें दोहा के प्रवचनोंमें एक प्रवचनांशमें गृहस्थों को निर्मत होकर घर में रहने की दिशा दी है उस प्रवचनांश पर ध्यान दीजिये—पृ0 124 जैसे हम और आप कुछ दिनों से एक साथ हैं साथ रहते हुए मैं जितना चाहिए मैं तना हम आप से अनुराग व्यवहार करते हैं और जितना आपको चाहिए हमसे उतना व्यवहार अनुराग करते हैं, पर भीतर में आपकी हमसे ममता है और न हमें आपकी ममता है और व्यवहार भी ठीक चल रहा है जैसा कि करना चाहिए, पर अन्तर में ममता है, चाह क्या किसी के नहीं है दो चार दिन और बीतेगे, खुशी खुशी से आप अपने घर जायेंगे, हम भी कहीं भ्रमण कर जायेंगे। देखो सम्बन्ध बन गया है लेकिन ममता नहीं है। तो क्या यह बात घरमें नहीं हो सकती है? कि सम्बन्ध बना रहे और ममता न रहे? सम्बन्ध होते हुए भी ममता नहीं है ऐसा घर में किया जा सकता है। दृष्टि का प्रताप तो सब जगह है। तो हमारे परिणामनमें जो खोंटे और विकार के प्रयत्न होते हैं उनमें तो बाहरी पदार्थ भी निमित्त होते हैं ओर काल द्रव्य तो हैं ही, और खोंटे परिणाम न हो, विकार के परिणाम न हो, शुद्ध परिणाम हों ता उसमें सिर्फ कालद्रव्य निमित्त है। दूसरे और द्रव्य निमित्त नहीं है।

149 परमात्मप्रकाश प्रवचन षष्ठ भाग

इस पुस्तक में परमात्मप्रकाशके द्वितीय महाधिकार के 36 वें दोहों से 94 वें दोहा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन

हैं। वह आत्मा संबर निर्जरा रूप हैं, सकलमंगलरूप है जो समतासे परिपूर्ण है, आत्मस्वरूपमें लीन है, सकलविकल्पों से विहीन हैं, पढ़िये दोहा 2- 438 का एक प्रवचनांश, पृ0 2 -मुनिराज जितने समय तक आत्मस्वरूपमें लीन हुए रहते हैं अर्थात् वीतराग नित्यानन्द परम समरसी भावसेपरिण्मते हुए अपने स्वभावमें लोनरहते हैं उतने समय हे प्रभाकरभट्ट तू उनका समस्त विकल्पों से रहित संबर और निर्जर रूप जानो। महिमा है आत्मष्वरूपमें लोन है के को आत्मस्वरूपमें लीन वही पुरुष होता है जो अपने को ज्ञानस्वरूप मानकर रहता है। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूं, मात्र ज्ञानरूप हूं। ऐसी बराबर भावना के परिणाम में जीव की स्थिति हो जाती है कि वहां सकल्प विकल्प नहीं रहते हैं। ऐसे सकल्प विकल्पसे विहीन उस मुनिराज को तुम साक्षात् संबर और निर्जरा जानो। विकल्प जालों में कौन विकल्पजाल तो खोटा और बाधक होता है और कौन विकल्पजाल कर्मों के विपाक से उत्पन्न होता है, पर जीनके मोक्षमार्ग में बाधक नहीं होता। सूक्ष्म दृष्टि से तो सभी बाधक हैं, पर मुख्य रूपसे सब अनुराग विशेष बाधक नहीं होते हैं। अपनी जगत में ख्याति का चाह हो तो यह बहुत बड़ा बाधक विकल्प है।

ज्ञानी संत पुरुष जीवन मरण लाभ अलाभ में समताभाव रखते हैं, इनमें आत्माका लाभ नहीं है, विकल्प त्याग में लाभ है। सत्यलाभ की प्रेरणा कीजिये दोहा 2-39 का एक प्रवचनांश, पृ0 9 ज्ञानी पुरुष जीवन और मरण को एक समान गिनते है, इसी प्रकार किसी का लाभ हो तो दोनों ही स्थितियों में एक समान मानते हैं। धन वैभव इज्जत प्रशंसा आदि किसी बात का लाभ हो गया तो उसमें आत्माका क्या बढ़ गया बल्कि घट गया, और लाभ न हुआ कुछ तो इससे आत्मा का घट गया। परवस्तु के परिणमनसे इस आत्माको न लाभ है ओर न अलाभ है। यह विकल्प करें तो अलाभ है और विकल्प त्याग दे तो लाभ है। लाभ और अलाभ में ज्ञानी संत पुरुषों के समान बुद्धि है। अच्छा गृहस्थावस्थामें यदि धन बढ़ गया तो कौन सा बड़प्पन पाया और धन घट गया तो कौन सो आत्माकी बात बिगड़ गई? यह जो लौकिक व्यवहार हैं वह मायामय है, असार है। किसी ने भला कह दिया तो उससे कुछ मिलता नहीं और किसी ने दुरा कह दिया तो उससे कुछ गिर नहीं जाता। लाभ अलाभ उस ज्ञानी संत पुरुष के एक समान होता है। कोई सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का धारण और पोषण करे तो यह आत्मा के लाभ को बात है।

आन्तरिक भेदविज्ञान में सम्यग्ज्ञान का लाभ है, इसका मनन कीजिये दोहा-2-40 के एक प्रवचनांश में, पृ0 14-15 मैं ज्ञानमात्र हूं, अन्य किसी रूप नहीं हूं। यदि उपयोग में कोई अन्य रूप भी आये तो उनका निषेध करते जाइये, इस रूप में नही हूं। मैं तो शुद्ध सहज ज्ञानमात्र हूं। ऐसे अपने

इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वके सम्बन्धन से उत्पन्न हुआ वीतराग आनन्द मधुर रस से स्वादमय यह मैं आत्मा कहां तो ऐसा अलोकिक निधिवान और कहां ये कटुकरस वाले हंसगे कि खुश होंगे? एक बड़ी गाड़ी में उंट और गधा और एक तरफ उंट का जोतना यह तो बेजोड़ मिलान है इसी प्रकार एक और तो यह आत्मा सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप भगवान है, यदि उसके साथ लगा दिये गये कामक्रोधादिक विकार हैं तो यह बेजोड़ मिलान है। ज्ञानी जन तो इसे देखकर हंस ही देंगे। अज्ञानी को क्या खबर है? वह तो स्वरूप और ज्ञेय दोनों को एकमेक मिला कर के अनुभव करता है। ऐसे आत्मस्वरूप और निरन्तर आकुलताओं के उत्पादक कटुक जिनका फल है ऐसे काम क्रोधदिक में भेद विज्ञान बनाना सो ही सम्यग्ज्ञान है।

परिणामिक भाव का व्युत्पत्तिके अनुसार मर्म परखिये वस्तुस्वातंत्रयकी झलक मिलेगीं, पढ़िये 2-43 दोहा का एक प्रवचनांश पृ० 21-पारिणामिक भावका अर्थ क्या है? जिसका परिणाम प्रयोजन हो, स्वयं तो निश्चल है, स्वयं तो बदल नहीं जाता चेतन से अचेतन नहीं, अचेतन से चेतन नहीं होता, स्वयं तो अपरिणामी है, पर निरन्तर परिणमते हुए रहना प्रयोजन है। कोई किसी वस्तु से पूछे कि तुम क्यों हों जी? तुम्हारे होने का क्या मतलब है? तुम किसलिए अस्तित्व रखते हो? तुम्हें तो कुछ आवश्यकता नहीं, तुम्हारे अस्तित्व रखने का क्या प्रयोजन है? तो उनका उत्तर है हम मोडीफाई करें, हम इसलिए हैं। सर्वत्र हम परिणमते रहने के लिए हैं। हमारे होने का कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। सभी वस्तुओं की ओर से यह उत्तर मिलेगा। तो सब वस्तुएँ हैं और अपने में ही परिणमती हैं, दूसरे पदार्थों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी ग्रहण नहीं कोई दूसरा करता है। तो सभी द्रव्य सदा मुक्त हैं।

साधु के समता परिणाम का अलंकार भाषा में स्तवन पढ़िये दोहा 2-44 का एक प्रवचनांश पृ० 26 जो साधु समता परिणाम को करता है उस साधु में दो दोष उत्पन्न हो जाते हैं। क्या? एक तो अपने बन्धुको नष्ट कर देता है और दूसरे जगत के प्राणियों को पागल बना देता है। अब की तो जा रही है स्तुति पर सुनने में लग रहा होगा कि निन्दा को जा रही है। जो समता परिणाम को करते हैं वे बन्धु को नष्ट करते हैं। बन्धु शब्द प्राकृत में दो अर्थ रखता है-बन्धु मायने घरके लोग और दूसरे कर्म का बन्धन। जो समता परिणाम को करते हैं वे बन्धु का खत्म करते हैं, वे कुटुम्ब के लोगों को नहीं खत्म करते, कर्मों को खत्म करते हैं। शब्द सुनने में ऐसा लगता है कि यह बन्धु को खतम करता है। दूसरा दोष बतलाया है कि जगत को दहल कर देता है, जगत को पागल बना देता है। जो कोई इनके उपदेश सुनते हैं,

वस्त्राभूषण त्यागकर घरद्वार छोड़कर साधु बन जाते हैं, ऐसा लोगों को दिखता है कि इनके उपदेश ने तो इसे पागल बना दिया है। जैसे किसी साधु के उपदेश को सुनकर अपना लड़का भी साधु के पास रहने लगे या घर की परवाह न करें तो कहते हैं कि साधु महाराज ने तो इस लड़के को पागल बना दिया, उसका न घरमें मन लगता न किसी काम में चित लगता, उसे तो सत्संग में ही रहना सुहाता है, दिमाग त्रेक हो गया है, तो दूसरा दोष यह बताया है साधु पुरुष का। पर यह क्या दोष है? यह तो स्तवन।

साधुको समतापरिणाम का कितना महान लाभ मिलता है इसका चित्रण एक अलंकार भाषा में देखिये—दोहा 2-46 का एक प्रवचनांश पृ0 28-29 यह बहुत बड़ा दोष कहा जा रहा है। उस साधु पुरुषके जो समता परिणाम करता हो उसे एक और दोष होता है। वह क्या होता है? कि वह बड़ा विकल होकर इस जगत के उपर चढ़ता है। इसमें कितनी निन्दा है कि वह तपस्वी साधु विकल होकर जगत के उपर चढ़ता है। इसका अर्थ देखो विकल होकर अर्थात् शरीर रहित होकर विमायने रहित और कलम याने शरीर जो समता परिणाम करता है वह शरीर रहित होकर अकेला जगत के उपर लोष के शिखर पर चढ़ता है मायने लोकके अन्त में चढ़ता है। जैसे कोई अधनी पुरुष अपने पर हमला करे तो उसे कहते हैं कि यह इतना उदण्ड है कि हमारे उपर चढ़ता है, इसी प्रकार यह समता परिणाम वाला साधु कैसा है कि लोक के उपर चढ़ जाता है। प्रशंसा का अर्थ यह है कि लोकशिखर के उपर चढ़कर सिद्ध बन जाता है। यहां यह अभिनन्द है कि तपस्वी रागादिक विकल्पा से रहित परम उपशम रूप निज शुद्ध आत्मा की भावना की करता है वह कल अर्थात् शरीर को छोड़कर लोक के उपर विराजमान हो जाता है। इस शब्द से स्तुति प्रकट होती है। कल मायने शरीर जो भारी वाद विवाद करे, वचना लोक करे उसे कहते हैं कल कल कर रहा है, मायने वे शरीर शरीर आपस में भिड़ रहे हैं। वचनों से लड़ाई हो रही हो उसे कहते हैं कल कल। जहां आत्मा को बा तनहो, विवके को बात न हो वहां तो कलकल है। लड़ाई भिड़ाई के जहां वचन बोले जाय उसे कलकल कहते हैं। तो ऐसे कल कल को छोड़कर लोक के उपर समात परिणाम वाले मुनि ठहरत हैं, इस कारण से तो हो गई स्तुति।

ज्ञानी पापोदय व पुण्योदय दोनों में एक समान है, इसकी एक झांकी कीजिये—2-56 दोहा के एक प्रवचनांश में—पृ0 58—हे जीव जो पापके उदय में दुख आये और वह दुख शीघ्र ही मोक्षमार्ग के उपायकी बुद्धि कर दे तो वह पाप भी बहुत अच्छा है ऐसा अज्ञान ज्ञानीजन कहते हैं। यह उनका प्रत्युत्तर है जो लाभ इस दृष्टि में बैठे हों कि पुण्यबिना तो धर्म क्रिया हो नहीं जा सकता, दान करना, पूजा करना, शुद्ध भोजन करने की भी जब बात छिड़ती है तो सब

अधिक देखा जाता है, शुद्ध भोजन करना, पूजन करना, या दान करना या किसी को आहार कराना ये बातें पैसे बिना कैसे होगी? पैसा मिलता है पुण्य से तो पुण्यका धर्म के कार्यों के लगने में बड़ा हाथ है ऐसी जिनकी दृष्टि है उनको उत्तर दिया जा रहा है कि देखो पापका भी कितना बड़ा हाथ है—जीव को धर्म में लगाने में कि जिस पापके कारण जीव को दुख उत्पन्न होता है, इसलिए उसकी शीघ्र ही मोक्ष में जाने योग्य बुद्धि हो जाती हैं। पुण्य से भी कई गुनें भले की बात इस पाप ने कर दी। भैया ऐसा कहकर कहीं पापको एकान्तः भला नहीं बता दें, किन्तु पुण्य जिनकी दृष्टि में भला चजता हो उनकी दृष्टि में समाधान दिया जा रहा है। लो यों देख लो अब तो जान जावोगे कि पुण्य और पाप दोनों ही समान होते हैं। जिस दुःख में उस दुख के विनाश के लिए जहां भेद और अभेद रत्नत्रयात्मक श्री धर्म की प्राप्ति जीव करता है वह वास्तव में पाप के द्वारा उत्पन्न हुआ दुःख भी श्रेष्ठ है।

पापकर्म व पुण्य कर्म की समानता की एक और झलक ले लीजिए दोहा 2-60 के एक प्रवचनांशमें, पृ0 71 जैसे लोग कहते हैं कि यदि पुण्य हो, आजीतिका के साधन हों तो धर्म करते बनता है। फिर चित भी धर्म में लगता है, तो देखो खाने पीने वगैरहा की सुविधा युक्त पुण्य हो तब तो धर्म का भी समय निकले, खाने पीने के ही लाले पड़े रहते हैं, रात दिन विकल्प मचाकर खाने पीने की ही सुविधा नहीं बनायगें तो क्या आगे बढ़ेगे? तो देखो पुण्य अच्छा है कि नहीं? कुछ समझमें आया, हां पुण्य अच्छा तो हुआ। अच्छा तो इस ओर देखो कि पापका उदय है, दुख से दुख पैदा होते हैं, दुखाओं के विनाश का उपाय धर्म है, दुःखाओं के विनाश के लिए धर्म की ओर चित जा रहा है, तो देखो पाप का उदय भला हुआ कि नहीं? हां समझ में आया कि यह भी भला है। अच्छा पाप बुरा है ना? हां बुरा है, क्योंकि पाप के कारण दुर्गति में जाना पड़ता है, बड़े बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं। अच्छा जरा इस ओर देखें—पुण्य से मिला वैभव, वैभव से हुआ अहंकार अहंकार से बुद्धि भृष्ट भी हुई और बुद्धि भृष्ट होने से पाप हुए और उससे मिला नरक । तो पुण्य ने कहां पहुचाया? खोंटी गति में । सो पुण्य भी बुरा है। कितने ही दृष्टान्तों से निरखते जाओ—पुण्य और पाप दोनों समान मिलते चले जायेंगे। यह ज्ञानी पुरुष का चिन्तन है और यह कथन उन्हीं को शोभा देता है जो पाप को छोड़कर शुभ परिणतियों में आ गये हैं। और जो पुण्य को छोड़ बैठे हैं, पाप में रत हैं उन्हें वह शोभा नहीं दूता है कि पुण्य और पाप दोनों समान हैं।

जिस कारण समयसार की प्रतीति से रहित पुरुष के जप तप आदि वेक्ष प्राप्ति में कुछ भी सहयोग नहीं दे सकते, इसका परिचय कीजिये—2-65 के एक प्रवचनांशमें । पृ0 86 यद्यपि आगभोक्त शुद्ध विधान से बन्दन निन्दन, प्रतिक्रमण, आलोचना आदि किये जाये तो वे भी फलदायक हैं तथापि ये सब

किसलिए करना चाहिए उस भावका लक्ष्य नहीं है तो ये बन्दन प्रतिक्रमण आदिक एक कल्पित धुनिकी पूर्ति करके समाप्त हो जाते हैं। जैसे किसी असमर्थ फटा के में आग देने से फुस होकर वह खत्म हो जाता है, अपना कार्य पूर्ण नहीं कर पाता है, इसी तरह एक ज्ञानमय भावको झलक बिना और कया रहना चाहिए—ऐसा निर्णय बिना ये बन्दन, प्रतिक्रमण, ध्यान, पूजन, तप, संयम आदि फुस होकर समाप्त हो जाते हो जाते हैं अर्थात् जितना कल्पना में समझ रखा है उतनी ही इति श्री करके रह जाते हैं। इस उत्कृष्ट तत्व का ज्ञान होना, लक्ष्य होना सबके लिए आवश्यक है। साधु हो अथवा गृहस्थ हो लक्ष्य विशुद्ध हुए बिना मुक्ति के मार्ग में कदम उठाया ही नहीं जा सकता है।

150 परमात्मप्रकाश प्रवचन सप्तम भाग

इस पुस्तकमें द्वितीय महाधिकारके 95 वें दोहा से 152 दोहा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराके प्रवचन हैं। 2—95 वें दोहा में कहा है कि रत्नत्रयभक्त मुनि का यह लक्षण है कि वह देह के भेद के भेद सेजीव में भेद नहीं डालता है याने सर्व जीवों को एक समान मानता है, देखिये एक प्रवचनांशमें, पृ0 1—जो मुनि रत्नत्रयका भक्त है उसका यह लक्षण जानना कि वह किसी भी कुटी में शरीर में कोई जीव रहो, उस जीव में यह ज्ञानी पुरुष भेद नहीं करता है। अर्थात् शरीर के भेद से जीवों में भेद नहीं डालता है। यह सब दृष्टि का प्रताप है। जहां जीव के सहजस्वरूप पर दृष्टि है वहां एक ही स्वरूप सर्वत्र दृष्ट होता है। शरीर के भेद से जीव का भेद नहीं ज्ञात होता। अश्वेतवादम और जैनसिद्धान्तके एकत्ववाद में अन्तर इतना ही है कि जैन सिद्धान्त तो स्वभाव में दृष्टि को लेकर अद्वैतका वर्णन करता है और अद्वैतवाद सर्वप्रकार से सर्वत्र सर्वदा एक हो अद्वैतका कथा करता है। जैसा सर्वथ अद्वैतवाद का सिद्धान्त है—सर्वत्र जीव एक है, उसमें भेद नहीं है, शरीर के भेद से भेद करना उपचार है। तो इस स्वभाव दृष्टि के अद्वैतवाद में इस स्वभाव के अनुभवी पुरुष की स्वभावमात्र दृष्ट हो रहा है। उसके तो फिर इस एकपने का भी विकल्प नहीं है, किन्तु निज अद्वैत का अनुभव है।

समभावस्थित सर्वजीवों को समान परखने वाला मुनि अपने जीवन मरण में साम्यभाव रखते हैं, इसका दिग्दर्शन कीजिये —2—100 दोहा के एक प्रवचनांशमें, पृ0 15 मुनिजन वीतराग निजानन्द एकस्वरूप निजं शुद्ध आत्मद्रव्य की भावना किया करते हैं और इस भावना के विपरीत रागादिक का परित्याग करते हैं। वे समस्त जीवों को ज्ञान दर्शन स्वरूपको ओर से एक समान जानते हैं, वे ही पुरुष सम्भावनास्थित हैं। उनके जीवन और मरण एक समान हैं। ये मनुष्य क्यों जीना चाहते हैं। केवल पर्याय बुद्धि करके ऐसा मान लिया कि मैं इस लोक में कुछ हूं, इस लोक में मेरा सम्मान है, इज्जत है, ऐसा जानकर

अपनी इज्जत व अपने सम्मान मोह होता है। उसके कारण यह जीना चाहता है। उन सब समागमों से प्रीति होती है, जो समागम मिले हैं उन्हें छोड़ नहीं सकते हैं। इच्छा से जीना चाहते हैं, किन्तु जिस आत्मा ने जान लिया कि मेरा स्वरूप केवल ज्ञानमात्र है और उस ज्ञानको ही कर पाता हूँ, ज्ञानका की भोग पाता हूँ तो उसको इस लोक में जीने की इच्छा न होगी। यहां रहें तो क्या, कहीं गये तो क्या? हम तो अपने आप में ही हैं। ऐसे ज्ञानवाले मुनिजनों को जीवन और मरण दोनों एक समान हो जाते हैं।

धन्धा का अन्धाधुंध काम है, जरा 2-123 में दोहा के एक प्रवचनांश को पढ़िये -पृ0 69-यह जीव लोक धन्ध में पड़ गया। धन्ध किसे कहते हैं-जो आत्मा के स्वरूपकी चीज न हो और किसी निमित्त अथवा धुन से उत्पन्न हुआ हो उसे धन्धा कहते हैं। अथवा खांटे ध्यानों के कारणभूत पदार्थों का व्यासंग करे, सचय कर, तत्सम्बन्धी अनेक चिन्तायें रखें, इन सबको धन्ध कहते हैं। जैसे कोई लोग पूछते हैं कि भाई साहब आप क्या धन्धा करते हैं? तो उसके पूछने का शब्दों से यह अर्थ निकलता है कि भाई साहब आप कौन कौन से ख्याल बनाकर अपने को दुखी किया करते हैं? धन्धा कहते हैं खोटे ध्यानको, व्यासंगको। जो मलिन आशय बनाता है उसका नाम धन्धा है।

मरने का क्या डर पानना, मरने वाले को टोटा नहीं रहता, टोटा तो जिन्दा बचे रहने वाले को हैं, यह रहस्य देखिये दोहा 2-126 के प्रवचनांश में पृ0 78 -भैया, मरने वाले से ज्यादा दुख बचने वाले को है। मरने वाला तो मर गया, नया जन्म पा गया। जहां गया होगा उसे नई दुनियां दिख रही होगी। हम लोगों का ध्यान न होगा, और जो घर में जिन्दा बच गया है उसके ज्ञान में तो सारी बातें ही हैं हमारा यह गुजर गया, कितना अच्छा बोलता था, कितना अच्छा गुण, कैसा हुआ था। सारी बातें विदित है ना, तो उसका वियोग होने पर जो बच गया है उसकी दुख है। तो टोटे में यह बचने वाला ही रहा। उसने मरने वाला टोटे में नहीं रहा। मरने के कारण, वियोग के कारण मरने वाला टोटे में नहीं रहा। उसने यदि अपने जीवन में अन्याय किया, पाप किया, छल किया तो इस कारण से वह टोटे में रहा, पर मने के कारण वह टोटे में नहीं है। जो यह जिन्दा रह गया है वह वियोग की घटना गुजरने के कारण टोटे में है।

अधुव देह में विराजमान ध्रुव कारणपरमात्मतत्व की भावना में अनित्यभावना के उद्देश्य की पूर्ति पढ़िये, दोहा 2-133 के प्रवचनांशमें, पृ0 101 भैया, अनित्य भावना पाने में, केवल अनित्य ही अनित्य समझने से लाभ नहीं मिलता, किन्तु नित्य क्या है, यह दृष्टि में रखकर फिर इन पदार्थों को अनित्य समझने से लाभ मिलता है। जैसे जानते जायें कि यह मकान मिटेगा,

धन मिटेगा, शरीर मिट जायगा, देह मिट जायगा— ऐसा सुनकर तो इस अनित्यकी भावना से और घबड़ा जायेंगे। मकान मिट जायगा, देह मिट जायगा, तो इससे तो आकुलता ही बढ़ने लगेगी, पर अनित्य भावना के बीच में ज्ञान यह भरा हुआ है कि तुम यह जानो कि जितना जा कुछ दिखता है, जिस पदार्थ रूपमें वे सब विनाशीक है, किन्तु इन सबके अन्तर परमार्थभूत जो जीवतत्व है, आत्मतत्व है वह अविनाशी है ओर बाहर के अनात्मतत्वों को दृष्ट करने से मिलेगा क्या? अपने आपका जो शुद्ध जीवस्वरूप है वह ध्रुव है। उस ध्रुव को इस दृष्टि में लेकर, उस ध्रुव की भावना करके इन सब अध्रुव पदार्थों की प्रीति छोड़नी चाहिए।

योगी पुरुष का परिचय पाइये दोहा 2—140 के एक प्रवचनांशमें पृ0 114 योगी पुरुष वही है जो पंचेन्द्रिय से अलग होकर अपने निश्चय रत्नत्रयरूप आत्माका ध्यान करता है। ये इन्द्रियां पंचमगति के सुखका विनाश करने वाली हैं। यद्यपि 5 वीं कोई गति नहीं होती मगर चार गतियां जब नहीं रहती इन इन्द्रियों से दूर होकर जो अपने आपको चेतें उसे योगी कहते हैं। योग का अर्थ जोड़ है। जैसे कई संख्या लिखकर जोड़ते हैं तो नीचे लिखते हैं योग। तो योग कहते हैं। योग का अर्थ जोड़ना है। तो जो पुरुष अपने उपयोग को अपने शुद्ध आत्मा में जोड़ता है उसको कहते हैं योगी। अर्थात् वीतराग निर्विकल्प समाधिस्थ जीव अथवा अनन्तज्ञानादि जो स्वरूप है उस शुद्ध स्वरूपमें परिणम जाना, इसका नाम योग है। और योग जिन जीवों के होता है उन्हें योगी पुरुष कहते हैं। अर्थात् ध्यानी और तपस्वी कहते हैं।

पंचमकाल में भी कारणपरमात्मतत्वकी उपासना करने वालों की प्रशंसा की एक झांकी दोहा—2—142 में देखिये—पृ0 118 —भैया, चतुर्थकाल में तो अरहत भी देखने को मिलते थे, ऋद्धिधारी मुनि भी दर्शन के लिए मिलते थे, देवों का भी आगम न था। उनको देखकर धर्म की रूचि होती थी। अवधिज्ञानी पुरुष थे, धर्म का साक्षात् प्रभाव भी देखने को मिलता था। दूसरों को अवधिज्ञान हो, मनः पर्यय ज्ञान हो, केवलज्ञान हो, इस बातको देखकर अपने को भी सम्यक्त्वको भावना जगती थी। और जब निरखते थे ऐसे परम देवों को तो उनके चरणों में बड़े बड़े राजा, चक्रवर्ती मुकुटधारी सेवा करने आये थे और बड़े बड़े राजा महाराजा धर्म में रत दिखते थे। बलभद्र चक्रवर्ती जैसे महापुरुष भी थे जो धर्म में प्रमुख थे, ऐसी ऐसी बातें जहां दिखती थीं वहां धर्म में कोई लग जाय, विरक्त हो जाय तो कोई आश्चर्यकी बात न थी, किन्तु आज जैसे रीतिकाल में जहां न कोई अरहत मिले और न कोई ढंग से साधु मिले, न कोई धर्म में बहुत लवलीन रहने वाले ऐसे राजा महाराजा बड़े पुरुष मिलें और फिर भी किसी को अपने आप में ज्ञान जगे, विरक्ति जगे,

विषयों की प्रति हटे, विषयों का परित्याग करे तो यह बहुत ही बड़ी प्रशंसा की बात है।

आत्महित के लिए ज्ञानमय कारणपरमात्मतत्त्वकी दृष्टि करने का आदेश दोहा-2-152 के एक प्रवचनांशमें पृ० 172 भैया, अपनी सृष्टि 'मैं' के निर्णय पर निर्भर है। मैं अपने को किस रूप मानता हूँ, बस सारी सृष्टि इसके आधार पर चलती है। यह देहादि पर द्रव्यों में मैं की बुद्धि जगे तो जन्म मरण की परम्परा ही इसकी सृष्टि बनती है। आर, केवल ज्ञानमात्र स्वरूप इस आत्मज्योति में ऐसी सृष्टि बने कि मैं तो यह ज्ञानज्योति मात्र हूँ ऐसी दृष्टि बने जतो जिसकी दृष्टि ऐसी बन गई, जिसकी इस और लगन हो गई, उसकी जन्म मरण को परिपाटी दूर होकर ज्ञानविकास, आनन्दविक सस्वरूप मोक्षमार्ग की ओर मोक्षकी सृष्टि होगी -ऐसा तू अपने आपका निर्णय कर। इस देह से अत्यन्त निराले स्वरूपवाला है, देह तो लोग मरने पर जला डालते हैं, तो क्या तू जलाये जाने वाली चीज है? इस देह से न्यारा जो ज्ञानमय स्वरूप है उस आत्मा को तू देख।

151 परमात्मप्रकाश प्रवचन अष्टम भाग

इस पुस्तक में परमात्मप्रकाश ग्रन्थ के द्वितीय महाधिकार के 154 वे दोहा से लेकर अन्तिम छन्द 214 वें तक के पूज्य मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। 154 वें दोहा में आत्माधीन सुख में सन्तोष करने का आदेश दिया है, पढ़िये एक प्रवचनांश पृ० 1-हे वत्स, जो आत्माधीन सुख है उससे ही तू सन्तोष कर। इन्द्रियाधीन सुख को चितने वाले के हृदय में दाह नहीं मिटती है। पराधीन सुख की इच्छा में चित में दाह बना रहता है। इच्छा ही स्वयं दाह है और इच्छा के अनुकूल बात न हो तो उस दाह की ओर वृद्धि होती है। कदाचित इच्छा के अनुकूल सद्धि भी हो गई तो उसे भोगने की आमकुलता रहती है। इन्द्रियाधीन सुख नहीं है। वह तो विडम्बना है। एक आत्माधीन सुख ही वास्तविक सुख है। इसमें कई गुण हैं। प्रथम तो यह आत्माधीन सुख आत्मा से आत्मा से ही उत्पन्न होता है। उसे किसी पर की आधीनता न हुआ उत्पन्न होता है। ज्ञान से सम्बन्ध रखते हुए वह आनन्द है। भूल भुलावे का वह मौज नहीं है। जैसे संसारी मौज है तो वह भूल भुलावे को बढ़ाता हुआ होता है। यह शुद्ध आत्मा के समवेदन से उत्पन्न होता है। ऐसा जो आत्माधीन सुख है, हे वत्स तू उस सुख में ही संतापकर।

अपने उपयोग को जपने कारणपरमात्मातत्व में मिला देने में धर्मपालन है, कल्याण हैं इसी से मानव जीवन सफल है। इसकी प्रेरणा लीजिये दोहा 157 के एक प्रवचनांश में, पृ० 9 यह सविकल्प आत्मा यदि परमात्मा में नहीं मिलाया जाता -यहां किसी दूसरे परमात्मा को मिलाये जाने

की बात नहीं कहो है, किन्तु यह कहा जा रहा है कि यह सविकल्परूपसे उपस्थित हुआ निजात्मा और स्वभावदृष्टि से अनादि अनन्त अहेतुक विराजमान शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान में अपने को नहीं जोड़ते हैं तो उसका और धार्मिक क्रियाओं के योग का क्या नफा मिलेगा? जब तक यह अपनी धुन का पक्का न हो सकता तब तक यह अपने कार्यमें सफल नहीं होता। जीकर करना क्या है? धन जुड़ गया लाखों का, करोड़ों, मगर उससे मिलेगा क्या? मृत्यु होगी, अकेला ही जायगा और अकेला ही संसार के सुख दुख भोगेगा। क्या मिलता है? यहां किसी के व्यवहार करनेसे, किसी के अनुराग में, प्रेमालाप में अपना समय खो देने से इस जीनके हाथ कुछ नहीं आता है – बल्कि कुछ ही समय बाद जो राग वश समय खोया है उसका इसे पश्चाताप होता है।

मनको मार जाना ही मनकी उत्कृष्ट स्थिरता है और स्थिर मन में ही धर्म का वा सम्भव है, देखिये 2- 161 दोहा का एक प्रवचनांश-पृ0 21 जैसे इच्छा की पूर्ति परीक्षा का नाश –ये चीजें अलग नहीं है। इच्छा के नाश का ही नाम इच्छा की पूर्ति है। बस हमारी तो इच्छा पूर्ण हो गई। इसका अर्थ यह है कि हमारी वह इच्छा की पूर्ति जैसे किसी कपड़े के बोरे में अनाज भर दिया जाय इस तरह से इच्छा की पूर्ति नहीं होती। इच्छा बनाओ, मजबूत करो, भूख इच्छा भर लो, उससे इच्छा की पूर्ति नहीं होती। इच्छा न रहो, यही इच्छा की पूर्ति है। कोई भी आराम या विषयसाधन किया, जिसमें यह जीव इच्छा की पूर्ति मानता है। तो जब उसकी इच्छा पूर्ण होती है उस समय की उसकी क्या स्थिति होती है कि उस तरह का ख्याल नहीं रहा। इच्छा नहीं रही। तो जैसे इच्छा के विनाश का ही नाम इच्छा की पूर्ति है इसी तरह मन के मर जाने का ही नाम इच्छा की पूर्ति है इसी तरह मन के मर जाने का ही नाम मन की स्थिरता है। भैया, एक ओर अपना उपयोग लग गया तो मन का जो काम था वह नहीं चल रहा है। मन का काम है चंचलता विकल्प जालसे उठा उठा फिरता रहे।

जिसका अम्बर में निवास है उसका मन मर जाता है, प्रवासनिः श्वास टूट जाता है, केवलज्ञान रूप भी वह परिणम जाता है, इस विवरण का उपसंहार देखिये 2-163 दोहा के प्रवचनांश में पृ0 30 अब यह बतला रहे हैं कि मुनि का उपयोग जब अम्बर में रहता है, अम्बर का अर्थ है रागद्वेषरहित निजस्वरूप, निजस्वरूपमें रमता रहता है उस समय मोह टूट जाता है, मन भर जाता है और श्वास रुक जाती है। तो अम्बर का अर्थ यहां आकाश नहीं लगाना, क्योंकि आकाश के जानने से मोह नहीं मिटता है और भाव यह लेना है कि जैसे आकाश में पोल है सूनापन है, इसी प्रकार आत्मामें सूनापन है। रागादिक भाव नहीं है। उसका ही मात्र उसमें स्वरूप है। और श्वास रोकने का अर्थ लेना कि बिना चाही वृत्ति से सूक्ष्मरूपसे यह श्वास तालू से भी

निकलती है और नाक से भी निकलती है, ऐसी स्थिति निर्विकल्प समाधि में होती है और उस निर्विकल्प समाधिसे केवल ज्ञान प्राप्त होता है।

कोई मेरे अवगुण ग्रहण करके संतुष्ट होता है मैं इसमें लाभ मानता हूँ, देखिये इसकी युक्ति दोहा 2-186 के प्रवचनांशमें पृ० 68 मेरे अवगुण ग्रहण करने से यदि किसी जीवको संतोष होता है तो मैं यही तो लाभ मानता हूँ कि मैं दूसरे जीवों के सुखका कारण तो बना, ऐसा ही मन में विचार करो। मैं दूसरे के सुख का कारण है, कोई जीव अपनी ओर से सेवा करके शरीर की खुशामद करके दूसरे को सुखी करता है तो कोई जीव मेरे को लक्ष्य में लेकर गाली देकर खुश होता है तो मैं आज उसके सुख का कारण तो बना। ऐसा जानकर रोष न करो। किसी के निष्ठुर वचन सुनकर गाली भरी बात सुनकर अपने को क्या क्या करना चाहिए इसका आज प्रकरण है।

उपयोग की उत्कृष्टताकी ओर का कम देखिये दोहा 2-208 के प्रवचनांशमें, पृ० 101 -भैया, अशुभोपयोग के बाद शुद्धोपयोग किसी के नहीं होता, शुभोपयोग के बाद शुद्धोपयोग होता है, पर शुभोपयोग के बाद शुद्धोपयोग उनके हो सकता है जो शुभोपयोग में रहकर भी शुद्धोपयोग का लक्ष्य रखते हैं। दृष्टि बनाते हैं। तो इस तरह जब पहिली पदवीमें रहने वाले जन हैं उनमें व्यवहार का आलम्बन अधिक होता है और निश्चयका आलम्बन कदाचित होता है। वे ज्ञानी व्यवहार में रहकर भी दृष्टि रखते हैं आत्मस्वभावकी ओर जैसे उनका विकास होता है वैसे हो उनके व्यवहार का आलम्बन कम होता है और पश्चात् ऐसी स्थिति आती है कि व्यवहार का आलम्बन कतई नहीं करता है। एक निश्चय ही आलम्बन रहता है वैंसा परिणमन होता है। वही परिणमन अरहंतप्रभुका है।

प्रभुस्वरूप प्रकट करने के दो तरीके देखिये-2-209 दोहा के एक प्रवचनांशमें, पृ० 132 -भैया, अग्नि जलाने के दो तरीके हैं-एक तो आग से ईन्धन को छुवा देना, जैसे दीपक जलाने का बाती को जले हुए दिया से छुवा दे तो वह पाती जलती ही रहती है। कोयला में भाग जला दिया तो कोयला जलन लगता है। तो आग जलाने का पहला तरीका यह है कि उस ईन्धन में आग डाल दें। आग से ईन्धन का सम्बन्ध कर दिया तो आग जलती रहती है और आग जलाने का दूसरा तरीका क्या है कि जंगल में खड़े हुए बांस बड़ी तेज चलन से एक दूसरे में रगड़ते हैं तो वांसो का आपस में रगड़ने से आग पैदा हो जाती है, पत्थर में पत्थर मारते हैं तो आग जलती है। चमक होती है ना, उसे पत्थर में मारते हैं तो आग जलने लगती है। वहां आग का सम्बन्ध नहीं है, मगर परस्परमें रगड़ने से आग जल उठती है, इसी तरह प्रभुस्वरूप प्रकट करने के दो तरीके हैं-तरीका तो आखिरी उनमें एक ही है, मगर एक

कुछ पूर्वका तरीका और कुछ पूर्वका भी और अन्तका भी तरीका। तो प्रभुता प्रकट करने के दो तरीके हैं—पहिला तो यह है कि जो परमात्ममा का स्वरूप है, अरहंत सिद्धका स्वरूप है उनके स्वरूपमें अपने उपयोग को ले जायं यह तो हुआ इस तरह कि जैसे ईन्धन को आग से छुवाया और आग जल उठे, इसी तरह अपने उपयोग को परमात्मा के स्वरूपमें लगाये तो परमात्मस्वरूप प्रकट हो जायगा और दूसरा तरीका यह है कि अपने आपके आत्मा का जो सहजस्वरूप है उस स्वरूपको ही अपने उपयोग में लगाये तो परमात्मतत्व प्रकट हो जाता है। यह परमात्मा पद अपने आप की उपासना से प्रकट हो जाता है।

दोहा-2-214 के एक प्रवचनांश में बताया है कि शब्दों की सीख से आत्मज्ञान नहीं होता, किन्तु स्वसंवेदन ज्ञान के यत्न से ही आत्मज्ञान हो सकता है, इसे एक दृष्टान्त में पढ़िये—जैसे किसी बच्चे को तैरने की सारी बातें सिखा दें—पानी में यों गिरना, हाथों का यों चलाना, पानी को यों फटकसना, सिखा दिया बच्चे को। अब पानी में छोड़ दा, सिवा तो दिया हो है। अब वह बच्चा ठीक ठीक तैर लेगा क्या? तो बच्चों से सीखा हुआ बच्चा पानी में तैर नहीं सकता। पानी में गिरकर पड़कर कौशिश करता है सीखा हुआ मनुष्य ही पानी में तैर सकता है, इसी प्रकार शब्दों द्वारा ऐसी बात सीख ली जाने पर भी आत्माको पकड़ नहीं होती। शब्दों से सीखा हुआ हो अथवा न सीखा हुआ हो, जो स्वसंवेदन ज्ञानका यत्न करेगा वही इस आत्मा को जान सकेगा।

152 सुख यहाँ प्रथम भाग

पुज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने सहजानन्द गीता की रचना की, जिसमें आध्यात्मिक अनेक ऐसी युक्तियां अति संक्षेप में प्रत्येक संस्कृत श्लोक में रचकर समझाई, जिनमें यह प्रेरणा मिलती है कि अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होना ही तथ्य है, इसमें 365 श्लोक हैं प्रत्येक श्लोक चौथा चर —स्यास्वस्में एवं सुखी स्वयं है। इस विरचित सहजानन्द गीता पर आपके प्रवचन भी हुए हैं। इस प्रथम भाग में प्रथम अध्यायके 61 सब श्लोकों का प्रवचन है। श्लोक न. 1-2 बताया है कि जैसा सिद्धात्माका स्वरूप है वैसा जिजात्मा का भी है, भ्रम से ही मैं दुखी हुआ, अब भ्रम दूर करके अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊं। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये— पृ0 11—उत्पाद व्यय ध्रौव्यरहित कोई द्रव्य नहीं है। मेरे अज्ञानपर्याय का व्यय होकर ज्ञानपर्याय का उत्पाद होकर निज स्वभाव में आनन्द बर्तेगा, अतः अपने आपमें विश्वास बना लेना चाहिए कि जो मैं हूँ वह भगवान है तथा मैं वही हूँ जो भगवान हैं मैं वह हूँ जो है भगवान जो मैं हूँ वह है भगवान । इससे

आत्मबल बढ़ता है इससे ज्ञाता दृष्टा रहने की शक्ति प्राप्त होती है, चिन्तायें दूर होती हैं। सिद्ध प्रभुकी तरह केवल ज्ञानमय बनने का क्या उपाय है? अपने आपको केवल निरखना, ज्ञानमय निरखना, केवल ज्ञानी बनने का उपाय है। हम अपने को जिस रूपमें निरखेंगे उस रूपकी प्राप्ति होगी। अतः हमअपने की यथार्थ सहज निज स्वरूप जेसा है वैसा ही चित्स्वभावरूप अपने को अनुभवें। मैं स्वतः सिद्ध सत् हूं। स्वतः परिणामी हूं, स्वतंत्र हूं। विज्ञानानन्दवन स्वच्छ अविनाशी हूं, इस प्रकार अपना अनुभव करो। सत्य सुखी होने का यही एक उपाय है।

लोग कर्तृत्वबुद्धि रखकर आकुलित होते रहते हैं, श्लोक 1-5 कर्तृत्वबुद्धि को मिथ्या बताया है, इससे सम्बन्धित प्रवचनांश देखिये – पृ0 19 मैं— मैं अंतरंग की वेदना से बीघा गया होकर अपनी शान्ति के लिए चेष्टा कर रहा हूं। इससे मैं किसी का उपकार नहीं कर रहा हूं। ग्रन्थकार भी ग्रन्थ लिखने का यही कारण बताते हैं कि संसारी जीवों का दुख देखकर मुझे दुख हुआ। अतः अपनी वेदना को शांत करने के लिए ही मैंने ग्रन्थ लिखा है। इसमें परोपकार कैसा? मैंने जो कुछ किया है वह अपनी शान्ति के लिए ही तो किया। किसी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्यमें परिणमन हो ही नहीं सकता। फिर किसी भी पदार्थ में इष्ट अनिष्ट कर्तृत्वबुद्धि क्यों हो। वीतरागविज्ञान अर्थात् रागद्वेषरहित ज्ञान न होने के कारण क्लेश ही है।

आत्मा की अन्य सर्वविविक्तता का चिन्तन देखिये श्लोक 1-9 के प्रवचनांश में, पृ0 37—मैं स्वयं तो सब कल्याणमय हूं, सत् हूं, अतः अमर हूं, किन्तु प्राकृतिक मायारूप प्रभावों को अपनाकर अपने को मरने वाला समझ लिया, इसी कारण मैं मरण के दुख से तृप्त होता हूं। मैं अनादि सिद्ध सत् हूं, परिपूर्ण हूं, मेरे जन्म की आवश्यकता भी नहीं, आरण मेरा जन्म होता है, किन्तु प्रवृत्ति जन्म स्कंधों का संयोग व उस बीच अपने आपको समझकर मैं जन्म का भ्रम कर लेता हूं और इससे दूखी रहता हूं। मेरा तो मेरा चैतन्यस्वमात्र है, मेरे शरीर कहां है? जब शरीर ही मेरा नहीं तो रोग मेरे कहां से होंगे? अर्थात् जब शरीर ही मेरा नहीं है तो अन्य चीजों की तो कथा ही क्या? इस कारण न मेरा यह जगत है और न जगत का मैं हूं। ऐसे सबसे निराले अर्द्धत ज्ञायकस्वरूपमात्र अपने आपमें रहूं और आनन्दमय बनूं।

रागभाव हटाकर अपनी स्वतंत्रता पाने के लिए मार्गदर्शक एक प्रवचनांश पढ़िये, श्लोक-1-17 पृ0 61 देखो यह रागभाव जो कि दुस्त्याज्य

बन रहा है? केवल कल्पना का बुलावा है। वस्तु का विचार करो तो राग न तो आत्मा की चीज है, न कर्मों की चीज है और न विषयों का चीज है, फिर भी इस माया में कैसा बाधक बन रहा है कि विषयों का तो आश्रय है, कर्मोददयका निमित्त है और आत्मा उस क्षण का वह एक परिणमन है। परमार्थ देखो तो कुछ भी तथ्या नहीं है। ये विषय भी छूटेंगे, टलेंगे। जो परपदार्थ हैं, इनका संघों। अललटप है, कोई कायद से या सिलासलेसे या खातिरी से नहीं है। वे कर्मोदय भी उसी क्षण मिट जाते हैं निजका कि निमित्त पाकर ये रागादिक भाव होते हैं, अगले क्षण अन्य कर्मोदय हो जाते हैं। इतनी विडम्बना रहती है जिसका परिणाम यह है कि बन्धन चलता रहता है। ये रागादिक भाव भी एक क्षण होकर मिट जाते हैं। यह बात और है कि और और रागादिक भाव निरन्तर होते चले जाते हैं। इन भावों में तथ्य कुछ नहीं है। रागादिक भाव असार हैं, दुखरूप हैं, मिटते तो ये हैं हो, ज्ञानबल से खुद मिटा दिया जाय तो आनन्दम प्रभुके दर्शन भी होंगे। इन रागादिक भावों के कारण ही स्वतंत्रता का विनाश है। वास्तविक स्वतंत्रता का विनाश होने पर भगवान का दर्शन असम्भव है। आत्मदर्शन असम्भव है। सो अब रागादिक भावों से भिन्न अपने ज्ञायकस्वरूपको लक्ष्यमें लेकर स्वतंत्र होउं और स्वयं स्वयं में आनन्दामग्न होउं।

अपने को मात्र ज्ञाता दृष्टा देखने में शान्ति का लाभ है इसकी झांकी श्लोक-1-19 के एक प्रवचनांश में देखिये -पृ0 66 यदि अपने आपको केवल दृष्टा देखें ओर सब प्रकार की विधि से अपने को प्राप्त करता रहें, याने सामान्यस्वरूप रहे तो अपने आप कुछ सुखी हो सकते हैं। सुखस्वरूप तो हम है ही, सो यदि सुखस्वरूप अपने को जानें तो यह पूर्ण सुखी हो जायगा मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, इस आत्मा का किसी भी पदार्थ से किसी भी प्रकार का सम्भव नहीं है। मैं स्वतंत्र हूं, अविनाशी हूं ऐसा आने की भावने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

जहां समस्त पदार्थ प्रतिभासित होते हैं वह मैं हूं, फिर भी प्रतिभात पदार्थों से निराला स्वतंत्र हूं, पृ0 88 मैं क्या हूं, जहां यह सारा विश्व प्रतिभासित होता है वह मैं हूं। ज्ञानका जानना है, थोड़ा जानना नहीं, बस जानना है, सब जानना है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव जानना है। उस जानने में कोई सीमा नहीं है। कितना जानना? उसका तो जानने का स्वभाव है और जानना कोई सापेक्ष नहीं है कि सामने ही ही जाने, जान जावो सामने की ठीक है किन्तु उसके हिसाबसे जानना नहीं है, किन्तु यदि कोई वस्तु है उसका जानना है सत् के हिसाब से जानना है। सामने के हिसाब से जानना नहीं है। इस बीस कोस के हिसाब से जानना नहीं है। किन्तु है तो वह सब

जानने में आता। चाहे वह क्षेत्र काल की दूरी के रूप से है, चाहे किसी तरह से है, है तो जान लेना। फिर आत्मा के ज्ञान का कितना जानने का स्वभाव है। कितना है? कितना जानने का काम है? सर्व । जो कुछभी सुख होता है वह सब जानने में है, किन्तु यहां मुझमें जगत नहीं है और आत्मामें जो यहां आकार बन गया, प्रतिभास बन गया, वह भी मैं नहीं। ऐसा मैं शाश्वत हूं, किन्तु दुख की बात यह है कि उस पर दृष्टि नहीं जहां पर सारा विश्व प्रतिभासमान होता है। जहां सारा विश्व प्रतिभासित होता है, वह तो मैं हूं, पर मैं प्रतिभास नहीं, क्योंकि मैं आनन्द निधि ज्ञानचेतनामात्र हूं, शक्ति मात्र हूं।

भ्रम से होने वाला क्लेश भ्रमविनाश से ही नष्ट हो सकता है इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश श्लोक-1-34 में देखिये पृ० 133 जितना भी क्लेश होता है वह सब भ्रम से होता है। तो अपने आप ऐसा अनुभव करो, ऐसा उपयोग बनाओ कि मैं अपने सत्व ज्ञान हूं, ज्ञान और आनन्दानुभव मात्र हूं, शरीर से न्यारा हूं, सब पदार्थों से निराला हूं, केवल मैं आनन्द को करता हूं, और ज्ञानानन्द को ही भोगता हूं। ज्ञानानन्द में रहने के अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं हूं। इसी तरह से तू अपने स्वरूपका अनुभव कर तो वहां कुछ क्लेश नहीं है, कोई विपत्ति नहीं है। विपत्तितो भ्रम से बनती है। भ्रम समाप्त हो जाते ही विपत्ति समाप्त हो जाती है, पदार्थ उसे दुखित नहीं करते । पदार्थ तो पड़े हैं जहां है तहां हैं। वे अपना स्वरूप व परिणमन लिए हुए हैं निरन्तर परिणमन करते रहते हैं, कोई भी पदार्थ हमें दुखी नहीं करता । न वे दुखी करते थे और न वे सुखी करेंगे। यह जीव अपने आप स्वयं भ्रम बना बना करके नाना कल्पनाय करके अपने आप दुखी होता है।

आनन्द का धाम एकान्तस्थान को परखने श्लोक 1-38 के एक प्रवचनांश में पृ० 158 -ऐसा कौन सा स्थान है जहां रहने में क्षोभ नहीं। तो वह स्थान बाहर कहीं भी नहीं मिला, क्योंकि बाह्य से अपने आपसे कोई सम्बन्ध नहीं। बाह्य पदार्थ न तो क्षोभ का कारण होता है और न शान्ति का कारण होता है। वह स्थान तो स्वयं यह ध्रुव आत्मा है। जो अपने सब परिणमनों का स्रोत है, आधार है वह मैं ही हूं, यह मैं सबसे निराला शुद्ध चैतन्यमात्र भगवान आत्मा हूं, ज्ञानमय हूं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि रूप मेरा परिणमन होता है, किन्तु ये सब पर्यायें हैं, दूसरे क्षण नहीं रहती है। इन सब रूप पर्यायें जिस शक्ति की होती हैं वह शक्ति मैं हूं। वह है ज्ञानशक्ति । वह ज्ञानशक्तिमात्र मैं हूं। ऐसा यह मात्र ज्ञानस्वरूप मैं स्वयं एकान्त हूं, इस एकान्त में मैं बसु तो वहां कोई क्षोभ नहीं हैं। ऐसे इस निज ज्ञायकस्वभाव में अपने आपमें रहूं और स्वयं मैं सुखी रहूं।

153 सुख यहां द्वितीय भाग

इस पुस्तक में सहजानन्द गीता के द्वितीय व तृतीय अध्यायके श्लोकों पर प्रवचन है। श्लोक 2-6 के एक प्रवचनांश में भावना का निग्रय करिये कि अपने को देह से मिला हुआ ही रहना है या देह से अलग होना है। पृ० 23-अब तो निर्णय करलो कि संसार से न्यारा रहना है या जगत से मिलकर रहना है। यदि मुझे जगत से भिन्न रहना है तो अपने की जगत से भिन्न देख। और यदि अपने को जगत से मिला हुआ रखना है तो अपने को जगत से मिला हुआ देख। यदि जगत से मिला हुआ रहता तो उसे संकर कहते हैं। तो तू अपने को जगत से भिन्न देख। जो अपने को प्रयत्न कर। जगत से भिन्न रखने का एक सही उपाय यह है कि तू अपने को जगत से भिन्न भिन्न देख। जो अपने का जगतसे भिन्न देखता है वह भिन्न हो जाता है ओर जो अपने को संकर याने जगत से मिला हुआ मानता है वह संकर अर्थात् जगत से मिला हुआ रहता है। भाई कल्याण का बड़ा सरल उपाय है। केवल अन्तर में अपने आपको मानना है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, निर्मल हूं, जगत से न्यारा हूं। भाई अपने आप में ऐसी दृष्टि बनाना कुछ कठिन क्या? अरे तो अत्यन्त सरल है, मगर अंतरंग संयम चाहिए। अपनी अंतरंग आत्मा को संयत कर सको, ऐसा ज्ञान चाहिए।

मोह की बेवकूफी दूर होने पर वास्तविक आनन्दामृत का पान होता है, देखिये इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश श्लोक-2-15 पृ० 74 भैया, अपने मोह की बेवकूफी देखना कठिन है तो दूसरे लोगों की मोह की बेवकूफी का स्वरूप जान लो। व्यर्थ ही लोग विकल्प करके परेशान होते हैं और व्यर्थ ही तुम विकल्प करके परेशान होते हो। जिसे तुम अपना लड़का बताओ उससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है? वे तो जुदा जुदा हैं। उनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है यदि तुम्हारे घर में दूसरा कोई पैदा होता है तो उससे तुम मोह करने लगते। अरे जो पैदा हुआ उसका तु। कुछ कर लेते हां क्या? यह मेरा है, यह आशय आना ही दुख का कारण है, दूसरा कुछ दुख का कारण नहीं हैं। अपने बारे में यह विश्वास करो कि मैं अपने आप में हूं, स्वतंत्र हूं, मैं ही अपना कारण हूं, मैं ही अपना कार्य हूं। मैं जो कुछ कर सकता हूं अपने को ही कर सकता हूं, मैं अपने को ही भोग सकता हूं। अपने स्वरूपसे बाहर दूसरे को कुछ न कर सकता हूं और न भोग सकता हूं, और दूसरे लोग भी मेरा कुछ नहीं कर सकते हैं। सब वस्तु में अपने अपने स्वरूपमें मैं हूँ ऐसा यदि अपने आपका विश्वास हो तो अमृतभावका पान कर सकता है। जिसने इस अमृतभाव का अमृतपान किया उसको आनन्द है। हे नाथ धन्य है वह क्षण जब सबका छोड़कर अपने आप पर शुद्ध नजर करोगे। यदि बाह्य में ही फसे रहे

तो बरबादी होगी। इन जीवों में जिसके पीछे पड़ रहे हो वे अशुद्ध जीवपदार्थ हैं। वे अपने आपके स्वार्थ के लिए अपनी चेष्टा कर रहे हैं। इस मायामय जगत के पीछे मोह में पड़कर मोही व्यर्थ बरबाद हो रहे हैं। अर्थात् अनान ख्याल बनाकर अपनी कल्पनायें बनाकर ही दुखी हो रहे हैं। तो जगत का स्वरूप जब जान लिया तो फिर कष्ट ही क्या है? जो जैसा है वैसा जानते जाये तो स्वरूपमरण होना सुगम ही है। सो अब मेरी ही भावना हो कि अब मैं तो अपने ही स्वरूप की रूचि करके अपने लिए अपने आपको पाकर विश्राम पाऊं और सुखी होऊं।

इच्छाओं को लताड़ लगायें, पढ़ें श्लोक 2-20 का एक प्रवचनांश -पृ0 118 भैया, दन इच्छाओं को हटा दो, इनसे कोई मतलब नहीं निकलता। कुछ भी इच्छा करो उससे लाभ नहीं मिलने का हे इच्छाओं का पता भी नहीं कि अब क्या इच्छा उत्पन्न हो जाय। जैसे उंट का पता ही नहीं रहता कि वह किस करवट बैठते भी हैं पता नहीं रहता कि यह किस तरफ को बैठ रहा है। पहले तो वह जरा सा झुकेगा फिर पैर लगाकर बैठ जाता है। जब वह बैठ जाता है किसी तरह से तो फिर पता लगता है कि उंट किस करवट से बैठा। पुद्गलोंका ऐसा अन्जान मामला नहीं है। पुद्गलों के चाहे लटठ चलो, चाहे तलवार, अटबट वहां कुछ नहीं होगा और इस मनुष्य की तरफ जरा देखो। इस मनुष्य का पता ही नहीं कि इसका एक मिनट में ही क्या दिमाग बदल जाय, या कुछ समय बाद क्या बदले। उसका कुछ पता नहीं रहता है। वह अपनी भूल के कारण ही गलतियां कर डालता है। इन गलतियों के कारण ही इच्छायें हो जाती हैं। इन इच्छाओं की गलतियों को अगर अपने से निकाल दे तो दुख के बन्धन टूट जायेंगे। दुख तो इच्छाओं से ही होते हैं। इच्छायें न हों, केवल ज्ञाता दृष्टा मात्र मैं होऊं तो उस ज्ञानसे ही मेरा पूरा पड़ेगा। इच्छाओं से मेरा पूरा नहीं पड़ेगा। देख लो सब ठीक है, परन्तु कोई इच्छा हो गई तो बैठे ही बैठे विपदाओं से दब गये।

अपने सत्य स्वरूपके आग्रह में ही कल्याण होगा इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़िये-श्लोक -2-31- पृ0 127 भाई अपना शुद्ध आग्रह करो तो भला न होगा। परपदार्थों का आग्रह करने पर अशान्ति प्राप्त होगी, अपने आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं हो पायगा। अपने उपयोग में लगने से भलाई है। मैं अपने आपके स्वयंपमें ही अपने उपयोग को लगाने की कौशिश करूं तो मेरा कल्याण होगा अन्यथा नहीं होगा। जैसे कहते हैं ना कि वहां न जावो वहां पर क्लेश ही क्लेश है। ऐसे ही पर पदार्थों में न जावो, वहां विपदायें ही विपदायें हैं। तो मैं अपने आत्मा के सत्यके आग्रहो ठहराने की कौशिश करूं और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

असार खतरे वाले सुखों से हटने की प्रेरणा लीजिये श्लोक 3-1 के एक प्रवचनांश में -पृ0 183 इस संसार के सुखों में सर रंच भी नहीं हैं। हे आत्मन् देख तू ज्ञानमय है, ज्ञानमय है, ज्ञान ही तो तेरा काम है। ज्ञानके अतिरिक्त और तेरा कोई कान नहीं है। यदि संसार के सुखों से ही प्रीति रही तो संसार मे रूलना ही रूलना बना रहेगा। हे आत्मा तू ज्ञानमय होकर भी यदि संसार के सुखों से प्रीति करे तो बेकार है यह जीवन। भैया इन संसार के सुखों की प्रीति छोड़ दो। तू तो स्वयं ही आनन्दस्वरूप है। पर की ओर दृष्टि जाय तो विघ्न ही हैं। संसार के सब सुखो से अपने उपयोग को बाहर हटाओ, केवल अपने स्वरूपको ही देखो तो वहां क्लेशाका नाम ही नहीं है।

सबार शरीर से उपेक्षा करके जिन आनन्दधाम में अपने की प्रेरणा लीजिये पृ0- 191 - आप लोग कहेंगे कि शरीर में साबुन और तेल लगाने से शरीर अच्छा तो लगता है, अरे अगर नहाने के बाद भी नाक की बत्ती बह गई तो फिर शरीर वैसा का वैसा ही हो जायगा। तो इस शरीर में सारी चीज कुछ भी तो नहीं है। इसलिए इस देह से विरक्त होओ। इससे प्रीति न करो। दूसरे जीवों से सम्बन्ध न करो। कोई ऐसा काम करो कतससे आगे भी तरक्की हो। इसलिए भैया, इस शरीर से विरक्त होकर अपने घरमें आवो, अपने स्वरूपको देखो। यह जीव यह आत्मा तुम्हारा घर ही है। सो अब अपने घर की पहिचान रखो। बाह्य पदार्थों में आशक्ति न होने दो, अपने घर के जो दो चार प्राणी हैं उनकी भी व्यवस्था करो, उन पर ही सारा खर्च करो और उन पर ही दिमाग लगाओ तो यह मोह है।

समस्त दुखों का आश्रय तो यह शरीर है, शरीर का मोह करने से ही सारे झंझट खड़े होते हैं। अतः शरीर से विरक्त होने में ही हित है। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये -श्लोक-3-26 पृ0 224 लोग देह की व्यवस्था में जुटे हैं। साम्यवाद करना चाहिए है तो इस देह की व्यवस्था के लिए ही करना चाहते हैं। अन्य जितने भी काम हैं वे सब भी इस देह की व्यवस्था के लिए ही किये जाते हैं। जितने भी दुख है उन दुखों का कारण ही यह शरीर है। मेरा अपमान हो गया, मुझे भोजन नहीं मिला, मुझे यह करना है आदि आदि से ही अपने शरीर का ख्याल बनाकर दुखी हो जाते हैं। अगर किसी ने गालियां दे दी तो दुखी हो जाते हैं। जो अपमान के दुख हैं उनका भी कारण यह शरीर है, जो मानसिक दुख हुए उनका भी कारण यह शरीर है। यह शरीर ही सारे दुखों का आश्रय है। इस शरीर से ही सारी विपदायें हैं। एक दूसरे का कोई दुश्मन नहीं होता। इस शरीर को देखकर ही दुश्मन बन गये। इस आत्मा में दुख नहीं है। तुमको तो केवल शरीर ही नजर आता है। यह अमुक व्यक्ति है, इसका यह नाम है इत्यादि। इन झंझटों का कारण

शरीर है। ये जो व्यसन आते हैं वे भी इस शरीर के ही कारण आते हैं। इसलिए इस देह से विरक्त होना ही ठीक है। देह से विरक्त होने का यह मतलब समझो कि मैं यह देह नहीं हूँ। यह तो पौद्गलिक है। यह देह तो जड़ है। मैं मैं हूँ, चेतन स्वरूप हूँ। मैं सबसे जुदा हूँ ऐसा यथार्थ अपने को जान लो। इस देह के संसर्ग से तो दुख ही है। इस देह से संसर्ग रखने से तो पूरा नहीं पड़ेगा।

154 सुख यहां तृतीय भाग

इस पुस्तक में सहजानन्द गीता के चौथे व पांचवे अध्याय पर प्रवचन हैं। श्लोक 4-3 में बताया है कि कीर्ति की इच्छा का त्याग कर मैं स्वयं सुधी होऊँ। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये—पृ0 6 भैया, सारा जगत इज्जत के पीछे मर रहा है। किसको इज्जत दिखाना चाहते हैं? किसको अपनी महत्ता दिखाना चाहते हो? तुम तो अवष्य हो, तुम को तो कोई जानता ही नहीं है? तुम मो ज्ञानस्वरूप हो। अपने आपको विचारो कि मैं तो अदृष्य हूँ, ज्ञानमात्र हूँ। इस लोक में मैं क्या कीर्ति चाहूँ। यदि कीर्ति की है। क्योंकि कीर्ति चाहोगे तो उसे परके अनुकूल यत्न करना ही पड़ेगा। इसलिए इस कीर्तिकी चाह की त्याग में ही स्वतंत्रता है। और स्वतंत्रता से बढ़कर कोई सुख नहीं है। स्वतंत्रता ही एक महान सुख है। सो स्वतंत्र ज्ञानधन आनन्दमय अपने स्वरूपको निरखकर अपने आप सुखी होऊँ।

विषयों की आशा ही बन्धन है। विषयाशाके त्याग में स्वतंत्रता है और इस स्वतंत्रता में वास्तविक आनन्द है। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये, श्लोक 4-4 में, पृ0 7—विषयों की आशा ही एक बन्धन है। जो फंसता है वह विषयों की आशा से ही फंसता है। गृहस्थी का बन्धन कहां है? आशा ही केवल बन्धन का आधार है। इसलिए वास्तविक बन्धन आशा है। बाहरी चीज बन्धन नहीं है। सो विषयों की आशा ही इस जीवनका बन्धन है। आशा का बन्धन है। आशा का बन्धन छूटे तो स्वतंत्रता मिले। नहीं तो स्वतंत्रता न मिलेगी। आशा के पीछे ही सबकुछ को कष्ट भोगना पड़ता है। कितना भी अधिक परिश्रम करो, ये जितने भी क्लेश हैं, नटखट हैं, नृतय है वे सब इस आशा पर ही अवलम्बित हैं। आशा मिटे तो सारे क्लेश खत्म। विषयों की आशा का त्याग हो तो आजादी है अन्यथा आजादी नहीं है। जब यह जीव परकी आशा न रखे तो यह जीव स्वतंत्र कहलाता है। आशा रखी तो उस बन्धन में बन्ध गया। तो बन्धन आशा ही है। अन्य कोई बन्धन नहीं। सो इस आशा का परित्याग होने में ही वास्तविक स्वतंत्रता मिलती है।

विषयबृति की लताड़ देखिये श्लोक-4-19 के एक प्रवचनांशमें पृ0 47- हे आत्मन् जरा अपने हितकी बात तो सोचो कि इन विषयों से किसी का

पूरा पड़ा है? इन जीवनमें विषयों में ही जुते, बड़ी उमर के हुए, वृद्ध हो गये, बाल पक गये, शरीर में झुर्रियां पड़ गईं, बताओ कौन सा लाभ इस मनुष्यभवको पाकर पाया। वे अपने जीवन की क्षण व्यर्थ में ही गुजर देते हैं। वह विषयों का ही तो असर है। ये विषय ही इस जीनके वास्तविक दुश्मन है। इन विषयों को जिसने जीता है वह ज्ञानी है, वही विजयी है। जगत के सभी जीव अपने समान हैं। तुम्हारे और सब जीवों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। सभी जीवों का स्वरूप अत्यन्त जुदा है। सभी जीव मेरे स्वरूपसे अत्यन्त समान है, फिर इन जीवों में यह छटनी कर लेना कि यह मेरा है, यह पराया है, यह गैर है—ऐसी छटनी कर लेना क्या यही पारमार्थिक चतुराई है? यह सब मोह की लीला है। जो विषयों के साधक प्रतीत होते हैं, उनको ही इस जीवनमें अपना मान लिया और जो विषयों में बाधक हैं उनको ही इस जीवने दुश्मन मान लिया, पराया मान लिया, ऐसी वृत्ति लेना ही अज्ञान है।

दुःख का कारण आशा ही है, उससे दूर होने में ही बुद्धिमानी है, पढ़िये श्लोक— 4-28 के एक प्रवचनांश में, पृ0 90 ज्ञानी विवेकी कहते किसे हैं? जो परकी आशा न करे उसे ज्ञानी विवेकी कहते हैं। धन बढ़ा बढ़ाकर कोई महापुरुष बन सकता है क्या? इतिहास में देख लो, पुराणों में देख लो, युक्ति से सोचलो, जो भी महान पुरुष हुए हैं उनकी आत्मा खुद महान हुई है तो महान हुए हैं। तुम्हारी महत्ता को तो इस आशा ने बरबाद कर दिया है। दुखों का कारण केवल आशा ही है। यह मैं कैसी भी आशायें करूं तो कुछ मेरा है क्या? खूब सोच लो। जिसपर आपको भरोसा है कि ये मरे हैं, कितना भी भरोसा रख लो कि ये मरे भाई हैं, पर उनसे तुम्हारा जरा भी सम्बन्ध नहीं है। वस्तुस्वरूपकी इजाजत ही नहीं है कि कोई किसी का बन जाय। आपकी कल्पनायें बड़ी हैं कि वस्तु का स्वरूप बड़ा है? यदि कल्पनाओं से ही काम होने लगेगा तो एक साधारण आदमी ही सारी दुनियां को वशमें करना चाहेगा। फिर तो सारा मामला ही खत्म हो जायगा।

अमृतपान करलो, दुखी मत होओ, यह प्रेरणा पाइये श्लोक — 4-30 के प्रवचनांशमें पृ0 75 —भैया साहस बना लो यहां के बाह्य पदार्थों से मुख मोड़ना होगा। धन वैभव में अपना मन लगाना और सत्य अमृत का पन करना ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती है। या तो मोह बना लो, दुखी होओ, घबड़ा लो या मोह छोड़कर अपने आपके स्वरूपको देखो—जो पंथ चाहो चल लो। लोग मर जाने का इतना दुख नहीं मानता जितना पर चीजों के छूट जाने से कल्पानायें बना लेने से दुखी हो जाते हैं। सो दुखी ही क्यों होवें? अमृत पीलें और अमर हो जावें, पर अमृत कोई चीज नहीं है। अमृत तो वह ज्ञानस्वरूप है जो मेरे नहीं, जिसका विनाश न हो, जिसका वियोग न हो, उसका नाम अमृत है। वह अमृत है ज्ञानस्वरूप। सो जब हम यह निर्णय करलें

किमें तो अविनाशी हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानमात्र हूं, सदा इसी में तन्मय हूं, ऐसा विश्वास करलो तो कुछ भी भय नहीं रहता।

सुख के लिए दूसरे की प्रतीक्षा करना यही सुखकी हत्या है पढ़िये श्लोक— 40 का एक प्रवचनांश पृ0 - 92— सुख के लिए दूसरे पदार्थों की प्रतीक्षा करना बस यही तो सुख की हत्या करना है। यह आत्मा तो स्वयं सुख से भरा है। इसका स्वरूप ही आनन्द है। इसको आनन्द कहीं बाहर से नहीं लाना है। सो पर पदार्थों से मुझे सुख मिलेगा ऐसी आशा करना यही तो संकट है। बाहरी पदार्थों के चाहनेसे सुख नष्ट होता है और बाह्य पदार्थों से सुख न चाहे तो सुख तो स्वयं में ही भरा हुआ है। मैं स्वयं सुख से परिपूर्ण हूं, परन्तु जीवों में ऐसा मोह लगा है कि अपने आपको रीता समझते हैं। अपने आपको न कुछ समझते हैं अपने आपकी कोई कीमत नहीं मानते हैं।

आशा न रहने में ही सुख है, आशा कषायरहित आत्मास्वभावको देखो, वही तृप्त होओ, इसी में कल्याण है, देखिये श्लोक—4—40 का एक प्रवचनांश पृ0 101 भैया, मजदूर तो सुखी रहते हैं, क्योंकि उन्हें तो दो रूपये से ज्यादा की आशा ही नहीं है। सेठको किसी दिन लाख बच जायें, किसी दिन हजार बच जायें, टोटा पड़े तो किसी दिन 50 हजार का टोटा पड़ जाय तो किसी दिन 70 हजार का टोटा पड़े इस तरह का उतार चढ़ाव रहता है। सदा बेचनी बनी रहती है। यदि आशा न रहे तो सुख है। और यदि आशा है तो दुख है। तब दुख मिटाने में क्या चाहिए? आशा न रहे यही तो चाहिए। आशा न रहे इसका कोई उपाय है? इसका उपाय है कि आशा जिसका स्वरूप नहीं है, आशा जिस आत्मा का स्वभाव नहीं है उसमें ऐसी दृष्टि हो कि यही तो मैं चैतन्यमात्र हूं, इसमें आशा की कोई तरंग ही नहीं है। इसका काम तो कवल देखने जानने का है, ज्ञाता दृष्टा रहने का है, ऐसी आशारहित अपने स्वभावकी दृष्टि करें तो उसके आशा नहीं रहती है। जो अपने को आशा रहित बनाले वह सुखी हो जाता है।

आकिंचन्यभावना से बनता है, अस्वास्थ्य रहने में विपदा है, पढ़िये श्लोक 5—3 के एक प्रवचनांश में पृ0 115 जगत में कहीं भी अपना कुछ माना तो वहां विपदायें हैं। बतलाओ जरा अपने में इतने संकट कहां से पैदा हो गये? अपनी ही गलती से तो ये सारे संकट खड़े हो गये। भीतर में यह बुद्धि आये कि यह मेरा है, यह उसका है तो केवल भाव हो तो किया, पदार्थ का नहीं बिगाड़ा और कुछ ऐब नहीं किया, बाहर में किसी का नाश नहीं किया भीतर में यह सोच लिया कि मेरा कुछ, इतने में इतना बड़ा संकट हो गया कि ये सारे बन्धन हो गये, फसाव हो गये। मिलेगा क्या? केवल पाप। यह मेरा है, यह उसका है, खूब मानो, पर मेरा तो वह बननेका नहीं, क्योंकि वे भिन्न

पदार्थ हैं। उन भावों से मिलेगा क्या? केवल पाप, केवल कर्मबन्ध, केवल दिल में दुखी होना। मिलना कुछ नहीं। इसलिए जो कुछ चाहते हो उसमें मिलेगा क्या? केवल खाक। और कुछ नहीं हाथ आता।

बाहर कुछ छानना मूढ़ता है संकट है, इसका चित्रण देखिये श्लोक 5-24 के एक प्रवचनांशमें, पृ0 191 जैसे कि मानो, उंट का विवाह हो रहा था। उसकी शादी में गाने बजाने के लिए गधों का बुलावा गया। गधे बहुत गीत गाते हैं, उनकी दोहरी आवाज होती है। वे सांस भीतर करे तो बोलते, बाहर करें तो बोलते। सो गाना गाने का गधा व गधी को बुलाया। सोवे गधा गधी उंटको गीत में क्या कहते है कि उंट तेरा रूप धन्य है, तू बहुत सुन्दर है? उंटकी गर्दन टेढ़ी, टांगे टेढ़ी, मुख टेढ़ा, कुछ भी सीधा नहीं, पर गाना गाने वाले कहते कि तेरा कितना अच्छा रूप है। तो उंट कहते हैं कि धन्य है तेरा स्वर। धन्य है तेरा राग। गधा और गधी उंट की प्रशंसा करते और उंट गधा और गधी की प्रशंसा करता है। इसी तरह से ये जगत के जीव एक दूसरे की प्रशंसा किया करते हैं। उसमें पावे, सो वह सार की बात है। सो जहां तक हम आप अपने स्वास्थ्य को न देख सकेंगे तब तक द्वेषों को न मिटा सकेंगे। दुख न मितेंगें शंका, शल्य आदि भी न मिलेंगे, इसलिए अपने आपमें बाहर में यह देखो कि मेरा कुछ नहीं है। ऐसा निश्चय करा तो अपने आपमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी हो सकते हो।

155 सुख यहां चतुर्थ भाग

इस पुस्तक में सहजानन्द गीता के छठें सातवें अध्याय पर प्रवचन है। श्लोक 6-9 में एक प्रवचनांश में बताया कि चाहे सम्पदा आवे या विपदा आवे उससे मेरा क्या, मेरा तो सर्वस्व मुझमें है। पढ़िये पृ0 1-चाहे सम्पदा हो जाय चाहे आपदा आये ये सब बातें बाहर की हैं। मैं तो ज्ञानमय हूं। इस निज आत्माको तो देखो कि यह कितना है और यह ऐब करे, उधम करे तो यह कितना क्या कर सकता है? केवल अपने सत्वको देख करके यह अपने में जो चाहे परिणमन करे। इतनी ही तो बात है। अ बवह परिणमन है तो सुख होता है। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। किसमें सन्तोष करूं और किसमें रोप करूं? सबसे बड़ी विपत्ति जीवपर अज्ञान की है, मोह की है, भ्रम की है। वास्तवमें विपत्ति एक ही है। इस एक ही विपत्ति के विषयभूत से अनेक रूप बन जाते हैं।

मायामय पुरुष सभी हैं, क्योंकि पर्याय ही यह मायारूप है। ये मायारूप पुरुष चाहे खुश हों तो क्या, रूष्ट हों तो क्या, इसका श्लोक 6-12 के एक प्रवचनांश में चित्रण देखिये— पृ0 7 जैसे पिता अपने बेटों पर कितना खुश रहता है, इस खुश रहने के परिणाम में वह क्या करता है कि बच्चों को चौथी कक्षा में यदि मास्टर ने पीट दिया तो वह बोलता है कि हमें अपने बच्चे

को नहीं पढ़ाना है, यह उन पर खुश हो गया है और आगे चलो तो जल्दी व्याह कर देते हैं, और और विषयों के साधन जुटा देते हैं, दुकान कराते हैं, और और भी अनेक काम कराते, ये सब साधन उसके मोह बढ़ाने के साधन हुए या ज्ञान बढ़ाने के साधन हुए? कौन सा पिता ऐसा होता है जो यह सोचे कि मेरा बच्चा आनन्द की दृष्टि पा ले तो अच्छा है? ऐसा यदि कोई बाप हो तो हमें पता नहीं, पर प्रायः हमें यों दिखते हैं कि वे पुत्र के आत्मा के हितकी बात तो नहीं देखते, किन्तु अपने कषायों की बात देखते हैं। तो यह मायास्थ पुरुष खुश हों तो क्या, रूष्ट हों तो क्या?

स्तुति और निन्दा में सन्तान रहने के लिए प्रेरणा पाइये श्लोक 6—14 के एक प्रवचनांश में पृ० 9 जो स्तवन करते हैं, प्रशंसा करते हैं और निन्दा करते हैं वे इस दिखने वाले पुतले का ही लक्ष्य बनाकर प्रशंसा करते हैं और निन्दा करते हैं, पर जो परमार्थ सत् मैं हूँ उसकी न तो प्रशंसा वे करते और न निन्दा करते। मुझे तो वे जानते ही नहीं हैं। तो उस ज्ञायकस्वभाव मुझ आत्मतत्त्वको वे जानते ही नहीं। तो उनके इस ज्ञानमें यह व्यक्ति ही नहीं ठहरता किन्तु एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप बर्तता है। ऐसी स्थिति में वे क्या प्रशंसा कर सकेंगे, क्या निन्दा कर सकेंगे? और जिसने मुझे देखा ही नहीं, इस दृष्य पुतले को ही निहारते हैं, तो जिसको देखकर उसने गाली दी वह गाली उसी की हुई, मेरे को नहीं हुई।

156 द्वाप्रथमप्रथमसूत्र प्रवचन

इस पुस्तकमें मोक्षशास्त्र के दसों अध्याय के प्रथम सूत्र पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराजके प्रवचन हैं। इस ग्रन्थ के मंगलाचरण के अर्थ मिलकर मोक्षमार्ग का नेतृत्व किस प्रकार है सो बताया है। पृ० 3—इसमें पहिला विशेषण मोक्षमार्ग के नेता का दिया। नेता वह कहलाता जो अपने लक्ष्य की ओर ले बाला नहीं होता। क्योंकि पहुंचा देने वाले में वह नेतृत्व शक्ति नहीं होती। नेता तो वही है जो स्वयं उस को प्राप्त करे या उस पर चले और दूसरों को भी उसमें ले जाय। मोक्षमार्ग पर जो स्वयं न चला हों, स्वयं उस भाव को जिसने प्राप्त न किया हो तो दूसरों को मोक्षमार्ग में ले जाने का निमित्तत्व उसमें नहीं हो सकता। अरहंत आप्त में यह नेतृत्व पूर्णरूपसे पाया जाता है। इसके साथ ही जो पूर्णरूपसे रागद्वेषरहित वीतरागी हो और पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ हो वही वास्तविक मोक्षमार्ग का नेता हो सकता है।

प्रथम सूत्रके प्रवचन में राष्ट्रीय झन्ड़े का संकेत देखिये— पृ० 20 — राष्ट्रीय तिरंगाझंडा में रत्नत्रय की कल्पना घटित होती है। साहित्यकार

रूचिका वर्णन पीले रंग से करते हैं और जैन धर्म में रूचि को सम्यग्दर्शन कहते हैं। हरा रंग हरे भरे पन का द्योतक है। यह सम्यक्चारित्र को बतलाता है, क्योंकि उससे शुद्ध आत्मपर्याय की उत्पत्ति होती है। और ज्ञानका वर्णन सफेद रंग से किया जाता है, तब सफेद रंग सम्यग्ज्ञान का प्रतीक हुआ। इस तरह रत्नत्रयका प्रतीक पीला, हरा और सफेद रंगवाला तिरंगा झंडा है। उसमें जो चक्र का चिन्ह है उसमें 24 आरे रहते हैं, जिनका अर्थ होता है कि उस मोक्षमार्गरूप रत्नत्रयको 24 तीर्थकरों ने प्रकट किया है। तिरंगा झंडा 24 तीर्थकरों द्वारा प्ररूपित, प्रदर्शित आत्मा के रत्नत्रय-धम्र को या कहिये मोक्षमार्ग को स्मरण कराता है। हमको उस मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिए। इस भवसे नहीं तो अकले भवों से हम मोक्ष पाने के अधिकारी हो जावें। मनुष्यजीवन में यह सबसे बड़ा काम है।

तृतीय अध्यायके प्रथम सूत्र के प्रवचनमें पांच भावों के क्रम का प्रयोजन देखिये— पृ० 27 ये पांच भाव क्रम से कहे गये हैं उन क्रम के करने के कई कारण हैं। एक कारण तो यह कि जीव के मोक्षमार्ग में आने के समय सबसे पहिले औपशमिक भाव होते हैं पश्चात् मिश्र समयवत्त्व होकर ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है और मोक्ष प्राप्त करने के लिए ज्ञयपकश्रेणी मोड़ने के समुच्चारित्र सम्बन्धी क्षायिकभावका आरम्भ होता है व 12 वें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है और 13 वें गुणस्थान में क्षायिकज्ञान आदि होते हैं तथा औपशमिक भाव से लेकर आगे आगे जो भावबताये हैं उनकाकाल अधिक अधिक है अर्थात् औपशमिक से क्षायिका, क्षायिक से क्षायोपशमिक का, उससे औदयिकका और औदयिक से पारिणामिक का समय अधिक है तथा एक कारण यह भी है कि औपशमिकभाव-वाले सबसे कम हैं, उससे भी ज्यादा औदयिक आदि वाले व सबसे ज्यादा पारिणामिकभाव वाले हैं, उससे ज्यादा क्षायिकभाव वाले। इसलिए भी इस क्रमसे रखने की सार्थकता है।

तृतीय अध्याय के प्रथम सूत्र के प्रवचन में वैज्ञानिक ढंग से पृथ्वी की स्थिरता सिद्ध करके यह बताया है कि लोगों को आज की पृथ्वी गोल क्यों मालूम होती है। पृ० 60—इस भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड पर कुछ कम एक योजनका अर्थात् दो हजार कोशका मुलम्मा उठ गया है जो कि प्रलयकाल में साफ होगा। यह मुलम्मा उत्तर की ओर झुका हुआ उठा है जिससे कि इतना हिस्सा जमीन पर कुछ गोल सा हो गया है। नीचे वह विस्तृत पृथ्वी है। इस भाग के उंचे उठे हुए होने से इसके पूर्व भाग पर जल्दी प्रकाश आता है सूर्य के निषधाचल पर पहुंचते ही तथा भरत क्षेत्र से सूर्य के मुड़ते ही पूर्व भाग पर अन्धेरा हो जाता है व पश्चिम भाग पर शीघ्र प्रकाश आ जाता है, इससे प्रलयसमय तक यह व्यवस्था है।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम सूत्र के प्रवचन में स्वर्गादिक की रचना बताकर देवगति में जन्म लेने के कारणों पर कुछ प्रकाश डाला है, पढ़िये पृ०-74-75 नरकों में जीव जैसे पापकी बहुलता से पैदा होते हैं, वैसे देवपर्याय पुण्य की बहुलता से मिलती है। इसमें भी भवनत्रिय पर्याय से वैमानिकदेव पर्याय पाने के लिए विशेष पुण्य आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि-तिर्यच अधिक से अधिक 12 वें स्वर्ग तक पैदा हो सकते हैं। इससे उपर के स्वर्गों में वा कल्पनातीत विमानों में मनुष्यों को ही पहुंच है। जो प्राणी अपने परिणाम सरल और शुभ रखता है, पापों का भक्ति सेवा दीन दुखियों को दया से दान देता है, देवशास्त्रगुरुकी पूजा भक्ति में तत्पर रहता है, पंच इन्द्रियों के विषयों को रोककर मनको वशमें करता है, जीवों को दया पालता है, दुखो को समता से सहता है, बारह प्रकार के तपों को तपता है, परोपकार और परदुखहरण में रुचि रखता है, बाह्य पदाथो से मूर्छा और समता त्यागकर आत्मवैभवमें जो उपयोग लगाता, जो उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि दस धर्मों का पालन करता है, दर्शनविशुद्धि आदि षोडश कारण भावनाओं को भाता है संसार से रुचि हटाकर जो मोक्षमार्ग में अपना उपयोग लगाता है वह ऐसी ही उदार वृत्तियों से देवपद पाता है।

पंचम अध्याय के एक प्रवचनांशमें द्रव्यों का संक्षेप में परिचय दिया है, देखिये पृ० 95 पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता, उसकी अवस्थायें बदला करती हैं और वे अवस्थायें सूक्ष्मरूपसे प्रति समय, प्रतिक्षण बदला ही करती हैं, चाहे इन्हें हम समझ पावें या नहीं, अतः न कोई द्रव्य कूटस्थ नित्य है और न सर्वथा क्षणध्वसी। प्रत्येक द्रव्यकी द्रव्यता उसी द्रव्य के अनुरूप कार्य से रहकर ही उसमें परिणमन प्रतिसमय होता रहता है। जीव और पुद्गल द्रव्य ऐसे हैं कि इनमें आपस के संयोगी परिणमन भी होते हैं, या कहिये वैभाविक विकारी परिणमन भी होते हैं और स्वाभाविक भी होते हैं। शेष 4 द्रव्यों में स्वाभाविक ही परिणमन होता है।

छठ वें अध्यायमें आस्रवों का परिचय कराया है, उसमें हमें यह शिक्षा लेनी है कि अशुभ आस्रव से तो हमें बचना ही चाहिए, वे क्या हैं पढ़िये पृ० 111- हतकारी, दुखदायी, कठोर, असत्य वचन बोलना, दूसरे की निन्दा तिरसकार करना, धर्म वा धर्मात्माके प्रति अयोग्य मद भरे वचन कहना, अविनयपूर्वक वचन बोलना, काम, क्रोध, लाभ और हंसी आदि मजाक के वचन कहना, कृमार्गों में लगा देने वाले वचन कहना, अपने विषयपुष्टि में वचन कहना आदि अशुभ वचनापयोग हैं। लात, मुक्का आदि से किसी को पीड़ा देना, जीव का घात कर देना, बड़ों के प्रति उदण्डता का, अंहकार का व्यवहार करना, शरीर द्वारा देव शास्त्र गुरुका अविनय करना, शरीर से असावधान रूप प्रवृत्ति करना आदि अशुभ काययोग है।

157 भक्तामर स्तोत्रप्रवचन

इस पुस्तक में पूज्य श्री मूनि श्री मानतुंगस्वामी जी द्वारा रचित भक्तभरस्तोत्र पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। तृतीय छन्द के प्रवचन में स्तवन की आशक्ति दिखाई गई है, इसके कारण का कैसा चित्रण किया है एक प्रवचनांश में पढ़िये पृ0 6 भक्त के चित प्रभुगण की महता समाई हुई है। उससे भक्त महान आनन्दित है। आनन्द से आनन्दित पुरुष एक तो वैसे ही स्पष्ट बोल नहीं सकता। दूसरे जितना ज्ञान होता है उसमें वाचक शब्द ही नहीं होते हैं, तीसरे प्रभु के गुण असीम हैं उनका वर्णन तो यथानुरूप नहीं कर सकता हूँ, किन्तु आपके गुणों का अनुराग प्रबल है, इस कारण संकोच संकोच को मैं छोड़कर आपकी स्तुति करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ।

पंचम छन्द में देखिये संक्षेप में प्रवचनांश में बताया है कि मैं स्तुति करने में असमर्थ हूँ फिर भी क्यों कर रहा हूँ: पृ0 7 आपने ही ज्ञानआनन्द का विकास और अनुभव जा विदित होता है उसका भी शब्दों द्वारा वर्णन नहीं हो सकता फिर भी ज्ञान और आनन्द का विकास जो कि अनन्त है उसको कहा ही कैसे जा सकता फिर भी जैसे शुभस्ततत्व की रुचि के कारण चारिण मोह के उदय में आत्मवृत्ति का शुद्धानुराग के कारण वर्णन करने का अयोग्य होने पर भी हे नाथ मैं आपकी स्तुति करने का प्रवृत्त हुआ हूँ।

7 वें छन्द में बताया है कि प्रभुस्तवन से भव भव के पाप क्षण में विलीन हो जाते हैं, इसका संक्षिप्त स्पष्टीकरण देखिये—पृ0 9 — हे नाथ तुम्हारा स्तवन करने से भव भवके बंधे हुए पाप क्षण भरमें ही नष्ट हो जाते हैं। प्रभु तेरा स्वरूपम त्र आनन्द और ज्ञान ही तो है। ज्ञानका जो पूर्ण विकास है। वह तो तेरा स्वरूप है। और आनन्दका जो अन्तिम विकास है, चरम सीमा है वह भी तेरा स्वरूप है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूपमें जिसकी दृष्टि होती है वह भी ज्ञानानन्दमें गोता लगाता है। परिणाम निर्मल करता है, ऐसी भक्ति से जिसका उपयोग ज्ञानानन्दस्वरूपमें डूबा रहता है उसके एक भवके जन्म में भव भव के पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जैसे रात्रिको महान अन्धकार हो, जो इतना विकट अंधेरा हो कि इस लोक को व्याप ले भ्रमर के समान नीली, काली रात्रि हो मगर सुबह होते ही, पौ फट ही सूर्य की किरणों के आगमन से ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार जब इसी प्रकार जब भक्तिसे चित में ज्ञान का उदय होता है, और ज्ञानस्वरूप भगवान की पूजा भक्तजन करते हैं। भगवानके गुणोंपर न्यौछावर हो जाते हैं तो भव भव के पाप कट जाते हैं।

13 वें छन्द में भगवान के वक्त्रकी मुख की उत्तमता बताई गई हैं, सो वक्त्र शब्द कहने का क्या रहस्य है, इसे पढ़िये इस प्रवचनांशमें पृ0 16 कहते हैं कि नाथ कैसे हैं? जिनका मुख चन्द्र से भी उज्ज्वल है। यहां मुख न कहकर मुख के बजाय कक्त्रका है। कोष में मुख के अनेक नाम बताये हैं। आपका ऐसा वक्त्र, आपका ऐसा आस्य, आपका ऐसा लपन आदि ये सब मुख के नाम हैं, मगर शब्दार्थ जुदा जुदा है। वक्त्र उसे कहते हैं जिससे बात बोली जाय। मुख किसका नाम है जिसके द्वारा वस्तु खाद्यवस्तु दी जावे उसे मुख कहते हैं। जिससे लार बह जाया करती है वह आस्य है। लपन सिं कहते हैं—जिसमें जीभ अथवा जिससे लोग खाने में लप लप किया करते हैं या बहुत लप लप बोला करते हैं। एक शब्द के प्रायः एकार्थ के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु यह तारीफ है कवियों और आचार्यों को कि कैसे, कहां कौन शब्द रक्खे जावें। एक शब्द के पर्यायवाची दसों शब्द हैं, पर कौन सा शब्द फिट बैठता है? हिन्दी वाले इस औचित्य को कम लगाते हैं, पर संस्कृत वाले विशेष लगाते हैं। इंगलिश मानना वाले इसका और भी ध्यान रखते हैं। तो यहां वक्त्र कहा है। वक्त्र मायने वह, जिससे वचन, दिव्यध्वनि निकले। ऐसा अद्भुत वक्त्र आपका है। उसकी चन्द्र से क्या उपमा हो सकती हैं। कहां यह कलं की, दिनमें निस्तंत्र होने वाला चन्द्र है और चन्द्र है कहां प्रभु का लोकोत्तर वक्त्र।

46 वें छन्द में कहा है कि प्रभु के ध्यान के प्रताप से कठिन भी बन्धन टूट जाते हैं, इसके प्रवचन के उपसंहार का एक प्रवचनांश देखिये— पृ0 59 प्रभु की भक्ति करते हो उस पूजा से अनेकों देवी देवता अनेक सज्जन मनुष्य प्रसन्न होकर भक्त को बर देना चाहते हो वह सब भगवान के स्वरूप भक्ति के कारण इस भक्तपर आत्मरुचिका असर है। उसे अन्य कुछ चाहिए ही नहीं। उसे तो केवल भगवानका स्वरूप सुहा गया। कृष्ट हो गया। भक्त का दिल अन्यत्र कहीं नहीं जाता। भगवान के पवित्र स्वरूपकी भक्ति के बाद तो अन्यत्र दिल ही नहीं लगता है। ऐसी शुद्ध भक्ति का चमत्कार हो जाय बह सब साधारण बात है। प्रभो भव भव में अनेकों से परिचय हुआ, अनेकों से स्नेह हुआ, परन्तु हे भगवन् तेरे स्वरूपका परिचय पाये बिना यह प्राणी जगत में विचरता ही रहा। प्रभु की शरण ही सच्ची शरण है। कैसे भी बन्धन में कोई भी फसां हो, पर हे नाथ आपके नामके स्मरण से ही वह व्यक्ति बन्धनरहित हो जाता है।

48 वें छन्द के प्रवचना के पश्चात् कष्टसहष्णुता व लोकसुखकी उपेक्षा करने पर ध्यान दिलाया है, अब धारण कीजिये—पृ0 63 कोई बड़ी तेज नींद से सो रहा हो और किसी मनुष्य ने कह दिया उठो, नींद तेज थी, अरे उठिये उठिये, देर हो गई, फिर सो गये, तो उन्हें बार बार जगाने वाला

जगाता रहता है, पीछा नहीं छोड़ता, बार बार जगाता है, इसी तरह इस रागी नींद में सोये हुए ये मनुष्य हैं, सो गये, विपदा ने जगाया, फिर सो गये, फिर विपदा ने जगाया, इसलिए हे विपदे, हम तुम से बड़ी आशा करते हैं, अतः हे विपदाओ मेरे पा आबो, और रागनींद में सोये हुए इसको बारबारजगाओ। दुख आते हैं तो इनका स्वागत करो और सुख आता है तो उसकी उपेक्षा करो। ऐसा हो करके आनन्द प्राप्त होगा। लाभ तो बड़ी पूंजी लगाकर ही मिलती है। पहले दो चार साल नुकसान किया, फिर बाद में जब यत्न पूरा बन जाता है तभी लाभ मिलता है, तो भाई यह लाभ तो आत्मीय आनन्द है, शुद्ध आनन्द है। मोक्षमार्ग का लाने वाला है। इसकी प्राप्ति के लिए बहुत विपदायें भी सहना पड़े तो सहना चाहिए।

158 मेरा धर्म

इस पुस्तिका में श्री दि० जैन सभा शिमला द्वारा आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन में अध्यक्ष पद से पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज का प्रवचन हुआ था। इसमें बड़ी शैली से जनसमुदायको धर्ममार्ग बताया गया है। धर्म के स्वरूपका सरल पद्धति में परिचय करिये इस प्रवचनांशमें पृ० 6 जैसे एक मोटा दृष्टान्त लीजिये— अग्नि का स्वभाव उष्णता है, वह उष्णता अग्निका धर्म है, और गहराई पर जावें तो देखे पुद्गलका स्वरूप रूप रस गंध स्पर्श है। तो यह चतुष्टय पुद्गलका धर्म है। अब अपने विषय पर आवें । मेरा धर्म, मेरा अर्थात् इस शरीर, विचार और वाणी, चेष्टा से भी अलग, मुझ आत्माका स्वभाव है ज्ञान। ऐसा ज्ञान जो केवल शुद्ध ज्ञान हो, ज्ञानके साथ मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ न हो क्योंकि यह सभी दोष कोई भी आत्मा के स्वभाव नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ का विकार न होना, अथवा शुद्ध जानना बना रहना धर्म है।

एक स्थल पर तीन बातों पर विचार किया गया है। 1. दिखने वाला सर्वजगत, 2. जानने वाले अन्य पदार्थ, 3. मैं स्वयं और मेरा स्वभाव। इनमें तीसरी बातका परिचय किये इस प्रवचनांशमें— पृ० 9—10 अब अपने विषय में विचार करें कि मैं क्या हूं, मैं दूसरों के अनुभवों से पृथक अनुभव वाला हूं, स्वतंत्र हूं, मेरा स्वभाव ज्ञान है, उससे मैं कभी अलग नहीं होता । मेरा स्वभाव इच्छा, रागद्वेष करने के कारण या पशु मनुष्यादि जन्मों में भटकने का नहीं है, किन्तु कर्मोदय और बाह्य पदार्थों के निमित्त से मेरे अज्ञान के कारण ये दशायें होती हैं। मेरा स्वभाव तो जानने का है। मैं अपने को यथार्थ देखूं तो जो मेरा स्वरूप है वह परमात्माका है। केवल अन्तर यह हो गया है कि उसमें राग नहीं है, इसी कारण अनन्तज्ञानी और अनन्त सुखी है। यहां रागा का विस्तार है इसीलिए अल्पज्ञानी व अल्पसुखी हूं । यदि मेरे भी राग न हो तब परमात्माका

और मेरा स्वरूप खुले रूपमें एक है। यह राग तभी नष्ट हो जावेगा जब यथार्थ ज्ञानके बल से आशा दूर हो जावेगी।

स्याद्वाद के सबके धर्म विचारों का समन्वय होता है, इसका संकेत देखिये— पृ० 12 बन्धुवर, मेरा धर्म, समझने के लिए बाह्य विज्ञानकी कसौटी से भी अपनी तकणाओं को कसिये, वह कसौटी है स्याद्वाद, अभी अभी आपके समक्ष विविध प्रवक्ताओं ने अपने अपने मनतवय व्यक्त किये। यहां कोई थियेटर तो है नहीं जो अपना अपना पार्ट अदा कर गये हों यहां तो एक महत्वपूर्ण सवधर्म सम्मेलन हो रहा है। वे सभी प्रवक्ता अपने अपने ज्ञानकी हार्दिक बात बता गये हैं। यदि प्रत्येक प्रवक्ता के विचार की दृष्टियों द्वारा देखें तो आप सभी यह कह उठेंगे इसमें सभी ने सत्य कहा परन्तु इन्होंने इस दृष्टि से ओर इन्होंने इस दृष्टिसे।

प्रवचनके अन्तमें शिक्षाप्रद बातका अवधारण करिये पृ० 14—15 अन्त में मेरा आप सब बन्धुओं से यही कहना है कि आप हमने शान्ति के अर्थ बहुत प्रयत्न कर डाले, अब एक यह भी प्रयत्न करके अनुभव कर लीजिये कि जो वस्तु को विविध दृष्टियों से यथार्थ जानकर, अपने आत्मा के स्वरूप को यथार्थ जानकर मोह, रागद्वेष दूर करे। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापो से दूर रहे, मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्य का त्याग करें, आत्मतः प्रतिकुलानि परेषाम् न समाचरेत् अर्थात् जो अपने को बुरा लगे वह दूसरों के लिए न करें, शराब, मांस, शहद, बड़, कटूपर आदि उदम्बर फलका भक्षण न करें। जुआ खेलना, मांस खाना, शिकार खेलना,, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना, वैश्यागमन करना इन व्यसनों को छोड़े, सदा अपने ज्ञानस्वभाव का ध्यान रखें यही मेरा धर्मपालन है, यही आत्मधर्म है, यही विश्वधर्म है, यही वस्तुधर्म है, इसका तो जैन धर्म इसलिए नाम पड़ गया है कि जिन्होंने रागद्वेष, मोह को जीता वह जिन है परमात्मा है, उस जिनदेव के उपदेश में यही वस्तु धर्म कहा गया है इसलिए जैन धर्म कहा जाने लगा।

159 ब्रह्मविद्या

थिसाफिस सोसाइटी के सदस्यों के बीच पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज का जबलपुर में एक प्रवचन हुआ था, ब्रह्मविद्या के नाम से प्रकाशित हुआ है। दार्शनिक पद्धति से यथाकम हुए इस प्रवचन में उन सदस्यों ने लाभ ले सकते हैं। पदार्थ के विषय में ही सब वर्णन किया जाता है सो पहिले पदार्थ का स्वरूपही प्रवचनमें बताया है। उसके एकअंश में पदार्थ की विशेषता देखिये—पृ० 12— पदार्थ की विशेषतायें—पदार्थ अविभक्त होता है और उसकी यह विशेषता है कि वह निरन्तर बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है, क्योंकि पदार्थ किसी न किसी अवस्था को नहीं रही, यह हुआ

बिगड़ना तथा जो बना व बिगड़ा वह एक वही है। यह हुआ बना रहना। जैसे स्वर्ण की एक चेन है, उस का मेडिल बना लिया तो मेडिलका तो बनना हुआ ओर चेन का बिगड़ना हुआ और स्वर्ण का बना रहना हुआ। इसे दृष्टान्त में देखना। वस्तुतः स्वर्ण भी पदार्थ नहीं, पदार्थों का समूह है। इस बनन, बिगड़ने और बने रहने को कहते हैं उत्पाद व्यय और ध्रुव्य याने मेनीफिकेशन, डिसएपियरेन्स और परमानन्स।

विचारों का महत्व देखिये एक प्रचवनांशमें—पृ0 15 विचारों को भी बड़ी शक्ति होती है। विचार जैसे करेंगे वैसे आप हो जावेंगे, जैसे गांव के किसी वासिन्दे को मालूम हो जाय कि उसे भूत लगे है, उसने ऐसी कल्पना करली किमैं भूत हूं। इस विचार से वह यह भूल जाता है कि वह आदमी है। अपने आपको भूत समझ लेने का वह परिणाम होता है—वह उचकने लगता है, भूत जैसी क्रियाओं को करने लगता है। इसी प्रकार कोई भोग के अनुकूल विचार बनाता है तो वह सुख का अनुभव करता है। यदि कोई आत्मधर्म के अनुरूप भाव करता है तो वह सहज परम आनन्द का अनुभव करता है। इस कारण मित्र, बाह्य का तो कोई कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यरूप परिणमता ही नहीं है, सो अब अपना ही सुधार करना रह गया है।

आत्महितके मार्ग में सामान्य तत्व का कितना महत्व है, पढ़िये एक प्रवचनांश में पृ017 लोग विशेष में ही अटके हैं, विशेष को ही महत्व देते हैं परन्तु शान्ति मार्ग में तो सामान्यका महत्व है। सामान्य दृष्टि का महत्व है। लोक में भी देखलो, जैसे अभी ये सब भाई बैठे हैं, इन्हें यदि कोई विशेष दृष्टि से देखें कि ये धनी हैं, ये गरीब हैं, ये पंडित हैं, ये मूर्ख हैं, ये ब्राह्मण हैं, ये वेश्य हैं, आदि तो उसे आकुलता ही प्राप्त होती है। यदि कोई सबको एक समान मनुष्य दृष्टि से ही देखे तो उसे आकुलता नहीं होती अब एक ही मनुष्य पर घटावों। मनुष्य को बालक, जवान, बूढ़ा, आदि अवस्थाओं में देखो तो नाना विकल्पों का शिकार बनना पड़ता है। यदि सब अवस्थाओं में रहने वाले एक मनुष्य सामान्य की दृष्टि से देखो तो विकल्पों का उद्यम ही नहीं होता।

इच्छासे सुख नहीं, किन्तु इच्छा के अभाव से सुख है ज्ञानगुण से ज्ञानकी निष्पत्तिकी भांति सुखकी भी निष्पत्त आनन्द गुण से है, इसका दिग्दर्शन कीजिये, पृ0 21 ज्ञान और आनन्द आत्मा से ही और आत्मा में हो प्रकट होते हैं। जिस द्रव्य का जो गुण प्राप्त है वह उसी द्रव्य में होता है। ज्ञानगुरु या शास्त्र से नहीं आता, वे निमित्त मात्र अवश्य हैं। परन्तु उनसे आनन्द नहीं मिलता। ज्ञान आत्मा का गुण है। आत्मा से ही प्रकट होता है।

यदि गुरु से ज्ञान आता है तो सौ दो सौ शिष्यों को ज्ञान देन पर गुरु ज्ञान से खाली हो जायगा। यदि शास्त्र से ज्ञान आता है तो किसी वाक्य का अर्थ समझमें न आने पर समझने के लिए अपने आप पर जोर क्यों लगाते हैं? पत्र क्यों नहीं मोड़ने लगते? आनन्द आत्मा का गुण है, आत्मा से ही प्रकट होता है। यदि आनन्द लड्डुओं से आता है तो लड्डुओं को पीछे छोड़ते क्यों हैं? मुख तक लड्डु भर लिए जावें। आनन्द तो इच्छा के अभाव में है। कोई लड्डु खाने ककी इच्छा नहीं करता। वह सहज आनन्द कौन है? खाने आदि की इच्छा और प्रयत्न में तो आकुलता ही है।

60 कष्टों से कैसे छूटें

दिनांक 5-9-1995 सुगन्धदशमी को मुजफ्फरनगर में दिया हुआ यह पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज का प्रवचन हैं। देखिये एक प्रवचनांश-भगवान का शासन हमें यह शिक्षा देता है कि कष्ट सहिष्णु बनो, परिणामों के निर्मल रखो, धन यश नाम में बाधा होने को विपदा मत समझो। वास्तवमें विपदा तो परिणाम में मलिनता होना है और कुछ नहीं। यदि परिणाम निर्मल न हुए तो भव भवमें कष्ट मिलेंगे, उनकी परम्पराको कौन मिटायगा, कुयोनियों में भटकना पड़ेगा। यहां दो तीन दिन के आराम के लिए मनचाहें विषय साधनों मा उपयोग बना रहे हो, परन्तु यह खबर नहीं, हम अनन्तकाल से वेदना सहते चले आये हैं और भविष्य में भी कष्ट ही मिलेंगे, यदि निज अन्तस्तत्वकी ओर दृष्टि नहीं दी तो। एक ही प्रोग्राम अपने जीवनका बनाओ, कष्ट सहने की सामर्थ्य पैदा हो और किसी भी मूल्य पर परिणामों में मलिनता न आने पावे। यदि हम इसमें सफल हो गये तो समझ लो, हमने कष्टों को जीत लिया, उनसे छूटटी मिल गई।

अन्तिम दो प्रवचनांश पढ़िये- भैया! इन थोड़े दिनों के मौज में आसक्त होने के समान विपदा, मूढ़ता ओर क्या हो सकती है। यदि विपदाओं से बचना है तो एक यही मात्र उपाय है-अपने उपयोग को अपने स्वभावमें स्थिर कर दो, बस संकट दूर हो जावेंगे। देखो-नदी में कछुआ सिर उठाकर तैरता जा रहा हो तो उसके उपर बीसों पक्षी उसे चूटने खान झपटते हैं, किन्तु वह कछुआ अपनी नैसर्गिक एक कला के बल से सब पक्षियों के उपसग को नष्ट कर देता है। वह कला क्या है? 4-5 अंगुल भीतर पानी में मग्न हो जाना। ऐसे ही जब जीव निज ज्ञानस्वभावमें मग्न होने की नैसर्गिक कलाका प्रयोग कर देता है तो समस्त संकट विनष्ट हो जाते हैं।

कष्टों को सहन करने की क्षमता पदा करो, परिणामों में कभी भी मलिनता न आने दो। और अधिक क्या कहें, बस जीवन का यही प्रोग्राम

बनाओ, कष्ट विदा हो जायेंगे, कष्टों से छुट्टी मिल जायगी। कष्टो! लो तुम्हें बस अब अलविदा।

161 नियमसार प्रवचन प्रथम भाग

इस पुस्तक में नियमसार की प्रथम गाथा से 19 गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। प्रथम गाथा में उपयोगी विवेचन के बाद एक प्रवचनांश देखिये, उपदेशका ध्येय क्या होता है इसका प्रायोगिक विवेचन, पृ0 11-12 उपदेश का ध्येय शिवमार्ग व शिवमार्गफल –जिन शासन में इन दो बातों का वर्णन है – मार्ग और मार्गफल। मार्ग तो मोक्ष का उपाय है। किसे मोक्ष दिलाना है? अपने आत्माको। जिसे मोक्ष दिलाना है उसका स्वरूप तो जानो। उसकी श्रद्धा हो और जिसे छूटना है उस रूपमें इसका अंतर्ग्रं हो तो मोक्ष का मार्ग बनता है, और उसका फल है—निर्वाण की प्राप्ति। मोक्ष की तो लोग बड़ी प्रार्थना करते हैं, पूजा में, पाठ में, विपती में बोल जाते हैं कि हमें छुटकारा मिले। काहे से छुटकारा मिले? कर्मों से छुटकारा मिले। देहके बन्धन से छुटकारा मिले। काहे से छुटकारे के लिए बड़ी प्रार्थना करते हैं। और, क्यों जो यदि थोड़े पैसों से छुटकारा हो जाय तो उसमें खेद क्यों मानते हो? विनती में तो कहते हो कि छुटकारा मिले, पर जरा सा पैसो से छुटकारा ही जाय तो उनमें खेद काहे को मानते हो? मानते हो ना, फिर तो यह सब ढोंग ढपारे की बात रहा। जब व्यवहार के कार्यों से छुटकारा पाने में धैर्य नहीं रख पाते हो तो उस बड़े मोक्ष की बात तो एक स्वप्न देखने की जैसी बात है।

गाथा नं. 2 के एक प्रवचनांश में मार्ग का अर्थ देखिये जिस पर अपने को चलना है। पृ0 25 मार्ग का अर्थ –मार्ग किसे कहते हैं? जो खोजा जाय वह मार्ग है, या जिन पर गमन करके इस स्थान पर पहुंचा जाय उसे मार्ग कहते हैं। इस मार्ग का नाम आज कल क्या रखा? सड़क। सड़क शब्द अशुद्ध है। सड़क नहीं बल्कि सरक। अब देखो कि सरकता तो आदमी है और उस रास्ते का नाम सरक रखा। जहां आदमी सरकते हों उसका नाम सरक है। जिसके आधार से यह संसारी जीव इस बन से सरककर उपर पहुंचे उसका नाम है सरक। तो यह है मार्ग पथ, अपने आपके विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूपी आत्मतत्त्वकी यथार्थ श्रद्धान होना और ऐसा ही उपयोग बनाये रहना, उसमें ही रत रहना यही अभेद रत्नत्रय है और इसका फल है मोक्ष। एक शब्द में मोक्ष का उपाय कहें तो कह लीजिये परम निरपेक्ष होकर एक निज सहज स्वभाव का उपयोग में तन्मय होना यही है मोक्षमार्ग।

ज्ञानकी गति कैसी अवाध होती है, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा 3 के एक प्रवचनांश में, पृ0 39 ज्ञान की अवाध गति—यह कारण समयसार चाहे

परिणमन में अशुद्ध है पर ज्ञानकी ऐसी पनी दृष्टि होती है कि यह ज्ञान अशुद्ध अवस्था में भी अशुद्ध में न अटककर, अशुद्ध को छोड़कर भीतर गमन करता है और शुद्ध को ग्रहण कर लेता है। जैसे हड्डी का फोटो लेने वाला यत्र कपड़ा को, चमड़े की खून को, मांस को न ग्रहण करके कवल हड्डी का फोटो ले लेता है, जैसे आपको कोई कीमती चीज तिजोरी में बक्स के अन्दर पाटली में बन्धी है, मोती, हीरा आदि कुछ भी हो, आप यहां बैठे एकदम उपयोग से हीरा को ज्ञान से पकड़ जाते हैं। घर के किवाड़ लगे हो तो आपका ज्ञान दरवाजे पर न अटक जायगा कि किवाड़ खुलें तो हम भीतर जायें। तिजोरी के फाटक में न अटक जायगा। सीधा वहीं पहुंच जाता है। इसी प्रकार इस अशुद्ध अवस्था में ही भेदविज्ञान के बल से अपने लक्षण का आलम्बन करके यह उपयोग उन सब परिणमनों को छोड़कर अन्तः शुद्ध चैतन्यस्वरूपको ग्रहण कर सकता है। इस शुद्ध चित्स्वभावके आश्रय से शुद्ध परिणति होती है।

शुभराग में भी क्षोभ होता है, इसका दिग्दर्शन कीजिये तथा शुभ रागी को जो अच्छा कहने का व्यवहार है उसका कारण देखिये निम्नांकित प्रवचनांश से पृ0 9—50 शुभराग में भी क्षोभ का स्थान—भैया, फिर भी उपयोग चूंकि अपने स्वामी को छोड़े हुए हो और बाहर में भी किसी शुद्ध तत्वका भी ध्यान कर रहा हो तो विकारों का बहिर्गमन बराबर है। बहिर्गमन में ही यह कला है कि आकुलता रहती है। किसी को शिखर जी जाने की मनमें इच्छा हुई तो उस इच्छा से अन्तः आकुलता हुई ना कि मुझे शिखर जी जाना है। यद्यपि और भी बहुत से काम हैं जिनसे आकुलता होती। यहां कुछ अच्छे ढंग की आवश्यकता है सो बता रहे हैं। मन, वचन, कायका यत्न किसी न किसी आवश्यकता बिना नहीं होते हैं। कोई बुद्धि पूर्वक मनका यत्न करे तो वह क्षोभपूर्वक होता है, लेकिन मलिन क्षोभको मिटाने के लिए कोई शुभ क्षोभ हो तो उस क्षोभ को भला समझिये। अल्प आकुलता में स्वस्थता का व्यवहार—जैसे किसी के 105 डिग्री बुखार चढ़ा हो और उतरकर 99 डिग्री जाय तो कहता है कि अब मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। अरे, अच्छा कहां है? वह तो 105 डिग्री बुखार के सामने कम है। सो अपने स्वास्थ्य को अच्छा मानता है। यदि विषय कषायों में गया हुआ उपयोग है तो बहुत अस्वस्थता की बात है और प्रभु या गुरु या चर्चा में लगा हुआ जो उपयोग है वह क्या स्वस्थताकी बात नहीं है? है, किन्तु परमार्थ से स्वस्थता परमार्थप्रभू या गुरुमें उपयोग जाय वह है।

नामकी चाह करना कितना महान अपराध है इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा 6 के प्रवचनांश में पृ0 63 नाम की चाह का महा अपराध—भैया तुम जितना आज चाहते हो उतना भी मिल जाय तो भी सुख नहीं हो सकता, क्योंकि यहां तुमने एक जगरदस्त अपराध किया है उस अपराध का दण्ड तो जीवन भर मिलेगा। क्या अपराध किया है। यह अपराध किया है कि असार

मायामय इस जगत में भ्रम करके अपना नाम रखने का भाव बना रहे हो, यह महान अपराध करते हुए तुम शान्ति की आशा रखते हो। तो शान्ति मिल जाय यह कभी नहीं हो सकता। भगवान का हुकुम मानते जावो तो अशान्तिकी आशा रखते हो। तो शान्ति मिल जाय यह कभी नहीं हो सकता। भगवान का हुकुम माने हो कि तुम सब पदार्थों का प्रयोजन-भूत परिचय प्राप्त करो। दूसरा हुकुम यह है कि तुम गृहस्थावस्थामें हो तो अपना कर्तव्य निभावो। दुकान करते हो तो सर्विसका काम ईमानदारी से करलो, जो जो भी आजीविका के कार्य हों उन्हें ईमानदारी से डटकर करलो, अब उसमें ही जो कुछ आय हो उसके विभाग बनालो और अपना गुजारा करो। पैसे की ओर दृष्टि नहीं लगाना है। क्योंकि वह तो आने जाने वाली चीज है। रहने वाली चीज नहीं है। आखिर मरते समय तो छोड़ना ही पड़ेगा।

भक्ति की कस पर भक्ति की परीक्षा करलो, गाथा 7 के एक प्रवचनांश में— पृ0 77—भक्ति की कस —यहां कोई घर पर भी आक्रमण हो और धर्मायतन पर भी आक्रमण हो तो धर्मायतन की उपेक्षा करके घर बचाने की कौशिश करते हैं। तो यह धर्मायतन में भक्ति हुई या घर से भक्ति हुई? मुकाबलेतन दो चीजें रखलो, दोनों का विनाश हो रहा है। उनमें से जिस एक को बचाने की कौशिश हो समझो कि भक्ति उस की है। बस इस कसपर कसते जाइये कि तुममें प्रभुभक्ति विशेष है या घर परिवार में या धन में भक्ति विशेष है।

असहाय केवलज्ञानकी भक्ति में सहायता की निन्दागर्भदा देखिये गाथा न0 11-12 के एक प्रवचनांश में, पृ0 117—सहायता की निन्दा गर्भता—भैया, किसी के बहुत सहायक हों तो यह उसकी प्रशंसा है या निन्दा? परमार्थ से वह निन्दा है अर्थात् वह स्वयं समर्थ नहीं है, स्वयं में इतनी प्रभुता नहीं है इसलिए इसके दसो सहायक हैं और तभी काम चल पाता है। यह तो लोक की व्यवस्था है। यों तो असहाय सहायों से भी लोक में बुरे माने जाते हैं और उन्हें कहते हैं बेचारे । जिनका चारा नहीं है, गुजारा नहीं है, सहारा नहीं है उन्हें कहते हैं बेचारे। और कभी कभी तो दया करके साधु सन्तों के प्रति भी लोग कह बैठते हैं कि बेचारे बड़े सीधे हैं। तो बेचारे माने असहाय, जिनका कोई चारा नहीं। तो लौकिक दृष्टि में असहाय बुरा माना जाता है ससहाय उंचा माना जाता है, पर वस्तुस्वरूपकी ओर से देखा जाय तो ससहाय हल्का है और असहाय सर्वोच्च है। यह केवलज्ञान असहाय ज्ञान है। इस तरह कार्यस्वभावज्ञान केवल है इन्द्रियरहित है और असहाय है।

भोग की कच्ची भूखमें अपथ्यसेवन मत कीजिये, प्रेरणालें गाथा न0 11-12 के एक प्रवचनांशमें, पृ0 138 भोग की कच्ची भूख एक महान

धौका-भैया, जैसे बीमारी में कच्ची भूख लगती है तो पक्की खूख तो यह मनुष्य सह लेता है और उस कच्ची भूख में जब न खाये, थोड़ा धैर्य रखे तो वह स्वस्थ हो जाता है। ऐसे ही इस संसार की जन्म मरण की लम्बी बीमारी में भोगों की आकांक्षा की कच्ची भूख लगती है। यह यदि एक ही भव में गम खा जाय तो इसे मोक्षमार्ग मिल जाता है। अनेक भवों में तो भोग भोगा है, केवल एक भव ही ऐसा मान लो कि हम मनुष्य न होते तो हमारे लिए तो कुछ भी न था। सौभाग्य से मनुष्य हो गये तो अन्य कर्मों के लिए हम नहीं हैं, हम आत्महित के लिए हैं—ऐसा जानकर, साहस बनाकर इन भोगों से मोड़कर आत्मभावना में अपना समय और उपयोग लगाये तो यही मेरे जीवन की सफलता का उपाय है।

कारणसमयसारकी रूचि न होने से मनुष्य कैसा बाहर भटक जाता है उसका चित्रण देखिये गाथा 14 के एक प्रवचनांश में—पृ० 163 लक्ष्मीपती और लक्ष्मीपुत्र-भैया, कोई कहलाता है लक्ष्मीपति और कोई कहलाता है लक्ष्मीपुत्र । इन्हीं दो शब्दों से बोलते हैं—लक्ष्मीपति और लक्ष्मीपुत्र । लक्ष्मीपति वह कहलाता है जो लक्ष्मीको खर्च करे, दान करे, भोग करे, उसका नाम है लक्ष्मीपति, और लक्ष्मीपुत्र उसका नाम है कि जैसे पुत्र माता के चरण छूवे, हाथ जोड़े पूजा करे, मां को भोग न सके, स्पर्श न कर सके। इसी तरह लक्ष्मीपुत्र, जिसका यह पुत्र है, उस लक्ष्मी मां को धन पैसे को पूजे, उसके चरण छूवे, उसकी सेवा करे, उसकी आराधना करे, उसको हृदय में स्थान दे, पर एक भी पैसा न खर्च कर सके, उसका नाम है लक्ष्मीपुत्र। वह तो लक्ष्मीका पुत्र है, उस लक्ष्मी का कैसे भोग करे? पुत्र होकर मां के साथ अन्याय करे, यह कैसे हो सकता है? ये हो सब व्यवहार—लक्ष्मीपुत्र कहे जाते हैं।

162 नियमसार प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तक में नियमसार की 20 वीं गाथा से 37 वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। पुद्गलद्रव्य के वर्णन में कार्यपरमाणु व कारण परमाणु का परिचय देखिये, इससे योगसम्मत भिन्न भिन्न कार्यपरमाणु व कारण परमाणु के सिद्धान्त का तथा निरपेक्ष नित्यानित्यके सिद्धान्त का स्वतः निराकरण हो जाता है देखिये 20 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में, पृ० 1-2 स्वभावपुद्गलके प्रकार—स्वभावपुद्गल भी दो प्रकार के हैं—एक कायपरमाणु और दूसरा कारणपरमाणु । बात वही एक है, कोई भिन्न भिन्न जगह में ये दोनों बायें नहीं जाते कि कारणपरमाणु कोई और होता होगा और कार्यपरमाणु कोई ओर होता होगा। उसी प्रकार परमाणुमें कारणताकी मुख्यता से कारणपरमाणुका व्यपदेश है तथा जो कुछ होगा उसमें परिणमन भी है। एक ही परमाणु रहकर उस परमाणु के स्वरूपका आश्रय

करके जो होगा, वह कार्यपरमाणु है। जो परमाणुका सहजस्वरूप है उसका नाम है कारणपरमाणु और उस परमाणुका जो व्यक्तरूप है, जिसमें पांचों रसों में से एक रस है, पांचों वर्णों में से एक वर्ण है, दो गंधों में से एक गंध है और चार स्पर्शों में से दो स्पर्श हैं—ऐसे कार्यरूप परिणत परमाणु कार्य परमाणु कहलाते हैं। परमाणु से अपना कोई वास्ता नहीं चल रहा है, इसलिए पुद्गलका स्वरूप भी जीव की तरह सूक्ष्म है और जैसे जीव अनेक चमत्कारों वाला है इसी तरह यह पुद्गल परमाणु भी अनेक चमत्कार वाला है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारों धातुओं में रूप रस गंध स्पर्श की सिद्धि करके उन सबको पुद्गल बताने का कथन गाथा 25 वीं का एक प्रवचनांशमें, पृ० 9 प्रत्येक धातु में गुणवतुक्कता—भैया, वास्तविक बात यह है कि पृथ्वी में भी रूप, रस, गंध, स्पर्श चारों गुण हैं, जल में भी चारों गुण हैं, अग्नि में चारों हैं और वायु में भी चारों हैं। चाहे आपको कोई चीज मालूम पड़े अथवा न मालूम पड़े, यह नियम है कि इन चारों विषयों में से एक भी चीज हो तो वहां ये चारों ही होंगे। अग्नि किसी ने चखी है क्या कि वह खट्टी होती है या मीठी? शान में आकर कहीं चखने नहीं बैठ जाता। कोई रस तो अग्नि में नहीं चखा गया, फिर भी उसमें रस है, अव्यक्त है। चारों में चारों गुण पाये जाते हैं। पृथ्वी की बात ता जल्दी समझ में आ जायेगी। जल में गंध जल्दी नहीं मालूम होती, रूप दिखता जाता है, रस दिख जाता है, स्पर्श दिख जाता है पर गंध नहीं मालूम पड़ता। पर गंध भी है उसमें। हवा में केवल स्पर्श मालूम होता है, पर हैं उसमें भी सब। एक ही कहो ऐसी बात नहीं है। ऐसे ही अनुमान करलो कि जो चीज जिस चीज को बनाती, जिसने बनाया, जो गुण होंगे वे कार्य में भी गुण आगये। मिट्टी का घड़ा बनता है तो मिट्टी में जो गुण पाया जाय वह घड़ा बनने पर भी उसमें रहता है।

सब द्रव्यों में साधारणतया पाये जाने वाले तत्वकी दृष्टि से उदारता तो है, किन्तु व्यवस्था नहीं, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा 29 के एक प्रवचनांशमें, पृ० 29 निस्पन्न योगी को दृष्टि का प्रकृष्ट व प्रकृष्टतर विकास—जैसे सब जीवों को एक चैतन्यस्वभाव के नाते से जब निरखा जा रहा है तो क्या उस दृष्टि से यह संसार है, यह मुक्त है, यह भेद आता है? नहीं आता। इसी प्रकार सब द्रव्यों से पाया जाने वाला जो सत्वगुण है केवल उस सत्वगुण की दृष्टि से निरखा जाय तो क्या वहां जीव चेतन है, पुद्गल अचेतन है, यह भेद निरखा जा सकता है? वह तो जैसे सब जीवों में चैतन्यगुण की निगाह से देखना एक व्यापक और उदार दृष्टि व्यापक है और उदार है। इस ही दृष्टि से मूल में एकान्त नियम बनाकर जिसने पूर्ण वस्तुस्वरूप कायम किया है उसके मत में यह सारा विश्व ब्रह्मरूप है। इस ब्रह्मका अर्थ सब पदार्थों में साधारणतया पाये जाने वाला सत्वगुण रूप है। तो उस दृष्टि को

कायम न रखकर सब कुछ एक सदब्रह्म है, यह बात रंच गलत नहीं है, पर व्यवस्था और व्यवहार, पुरुषार्थ, आगे का काम यह सब केवल इस दृष्टि पर नहीं बन सकता है।

ज्ञानीका ऐसा मौलिक परिज्ञान होता है कि उसके बल से अन्तः अनाकुल रहता है, इसका अध्ययन कीजिये गाथा न. 37 के एक प्रवचनांश में—पृ0 73 ज्ञानी का परिज्ञान व अन्तः प्रसाद—जिसने अपना स्वरूप कारण है। ममता न रही तो अब क्लेश किस बात का? सारा क्लेश तो ममता का है। घर में भी रहे तो भी कर्तव्य तो यह गृहस्थ ज्ञानी निभायेगा सेवा सुश्रुष्य उपचार करेगा, पर आकुलित न होगा। काय, अब क्या किया जाय? हमें कुछ सूझता नहीं, ऐसा आकुलता न मचायेगा। वह तो जानता है कि हमें सब सूझता है कि कितनी विकट बीमारी है। या तो अच्छा हो जायेगा या मर जायगा। अच्छा हो जायेगा तो ठीक है और मर जायेगा तो संसार का यह नियम ही है। हम तो परिपूर्ण ज्यों के त्यों ही है। यहां कुछ घटता नहीं है। उसे यथार्थ परिज्ञान है क्योंकि मोह नहीं रहा। सबसे बड़ी कमाई यही है कि मोह न रहे, क्योंकि कमाई के फल में चाहते हैं आप आनन्द किन्तु बाह्य वस्तुओं के संचय में आनन्द कहीं न मिल पायेगा और मोह नहीं रहा तो लो आनन्द हो गया।

163 नियमसार प्रवचन तृतीय भाग

इस पुस्तक में नियमसार की गाथा न0 38 से 55 गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। द्वितीय भागमें अजीव पदार्थ का वर्णन करो अब 38 वीं गाथा में हैय तत्व व उपादेय तत्व का संकेत है, जरा बहिस्तत्व व अन्तस्तत्व की परख की कसौटी देखिये एक प्रवचनांशमें—पृ0 1-2 अन्तस्तत्व व बहिस्तत्व के परख की कसौटी जीवादि बाह्य तत्व अर्थात् आश्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा मोक्ष ये 7 बाह्य तत्व हैं और हये हैं। उपादेय तत्व आत्मा का आत्मा है। इस कथन में कु श्रद्धा को भगं करने जेसा बात लगती होगी कि भाई अजीव, आश्रव बन्ध ये हैय तत्व हैं, सो तो ठीक है, पर सम्बर निर्जरा अथवा जीव और मोक्ष ये तत्व भी बहिस्तत्व बताये गये। यह तो चित को न जचती होगी, पर इस कसौटी से बाह्य तत्व और अंतस्तत्वका स्वरूप निर्धारित करें जिस पर हम निगाह लगायें और आत्मोपलब्धि का कार्य सिद्ध हो उसे तो कहेंगे अंतस्तत्व और जिसपर दृष्टि करने से कुछ भेद ही बने, स्वरूपमग्नता न हो उसे कहेंगे बाह्य तत्व ।

जीवतत्व की बहिस्तत्वरूपता—अब इस कसौटी से सब परख लीजिये कि जीव के सम्बन्ध में और अंतरंग में प्रवेश करके जो कारण परमात्मतत्व दृष्ट हुआ करता है वह कारण समयसार तो अंतस्तत्व है, क्योंकि इस कारणसमयसार के आलम्बन से कार्यसमयसार बनता है। एक इस अतस्तत्वके

अतिरिक्त अन्य सब जो विपरिणमन और व्यवहार की बातों से अपना सम्बन्ध रखता है अथवा जो गुण पर्याय के रूप से जीव समासों के रूप से अनेक प्रकार के भेदभावों को लेकर जीवतत्वका परिज्ञान होता है वह सब बाह्य तत्व है।।

नियमसार ग्रन्थ में किस का लक्ष्य करके वर्णन किया जा रहा है इसका दिग्दर्शन कीजिये 38 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ0 13 कारणसमयसार का लक्ष्य—भेया इस नियमसार में आद्योपात एक ही लक्ष्य रक्खा गया है और वह लक्ष्य है उस नियम की दृष्टि करना जिस नियम की दृष्टि से नियमसार प्रकट होता है अथवा उस नियमसार की दृष्टि करना जिसको दृष्टि से नियम चलता है अर्थात् कारणसमयसारकी दृष्टि करना जिसमें काय समयसार प्रकट होता है, अपने आपके आत्मा में जो बात गुजर रही हो चाहे बुरी गुजर रही हो उस समस्त गुजरने वाले तत्व को ओझल करके जिस ज्ञानस्वभावपर ये तरंगें चलती हैं उस ज्ञानस्वभावको लक्ष्यमें लेना, जो कुछ यहां प्रशंसा गाई जा रही है वह तो अनादि अनन्त अहेतुक चित्त्वभावकी प्रशंसा गाई जा रही है, ऐसे भव्य जीवों को यह अपना अंतस्तत्व उपादेय होता है।

अन्तस्तत्वका परिचय हुए बिना कितने भी जप तप किये जावें, मोक्ष मार्ग के लिए सब शून्य है और अन्तस्तत्वका परिचय होने पर सभी क्रियाकार्य के सहयोगी हो जाते हैं, इसका दिग्दर्शन कीजिये गाथा न. 41 के एक प्रवचनांश में, पृ10 31 —अंतस्तत्वके परिचय बिना मोक्षमार्ग का अभाव जैसे मूल में एक अंक हो तो उस पर जितने भी शून्य रखे जायेंगे वे दस दस गुना मूल्य बढ़ा देंगे, एक पर एक बिन्दी रखें तो दस गुना हो गया याने दस। दसपर एक बिन्दा रखें तो उसका दस गुना हो गया। याने 100। 100 पर एक बिन्दी रखें तो उसका दस गुना हो गया याने 1000। 1 के होते सन्ते बिन्दी को रखते ही दस गुना मूल्य बढ़ता है और 1 का अंक न रहे तो इन बिन्दियों का रखना एक अपना समय खोना है और व्यर्थ का श्रम करना है। बिना 1 के अंक के उन बिन्दियों का मूल्य कुछ नहीं निकलता है। इस ही प्रकार निज आत्मतत्वके सम्बन्ध में श्रद्धान हो, ज्ञान हो और अन्तर में ऐसा ही स्वरूपाचरण चलता हो उस ज्ञानी जीव के जो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होती है वह सब भी व्यवहार में मूल्य रखती है और उसके सहारे एक धर्मतीथ्र चलता है और धर्म का मूर्त रूप संसार में चला करता है। एक यह ज्ञानभाव ही न हों गांठ में तो ये सब क्रियायें भी शून्य की तरह कीमत नहीं रखती हैं।

ज्ञानानुभूति में आत्मदर्शन होते हैं इससे सम्बन्धित 42 वीं गाथा का एक प्रवचनांश का मनन कीजिये पृ0 87 ज्ञानानुभूति में आत्मदर्शन आत्मा का

दर्शन वहां ही है भैया, जहां ज्ञानानुभूति चल रही हो। किसी ने कहा—देखिये यह दशहरी आम कैसा है, तो वह क्या करेगा? हाथ में लेगा और खा लेगा। अरे यह क्या कर रहे हो? अरे तुम्हीं तो कहते हो कि देखो। तो देखने को ही तो कहा, खाने को तो नहीं कहा। अरे तो आम का देखना मुख से ही हुआ करता है आंखा से नहीं होता है। किसी चीज के परिचयका क्या तरीका है? वे सब तरीके न्यारे न्यारे हैं जो चीज केवल देखने के लिए है उसका भोग नेत्र से है, कोई कहे कि देखो जी यह कितना बढ़िया सेन्ट है, तो क्या वह बाहर खड़े खड़े तकता रहेगा कि वह है सेन्ट? अरे सेन्ट का देखना नाक से हुआ करता है, अन्यथा परिचय ही नहीं हो सकता। किसी से कहा देखो जी यह रिकार्ड कितना सुन्दर है, तो बस देखता ही रहे अगल बगल, तो क्या उस रिकार्ड का पता उसे पड़ेगा कि कैसा है? नहीं पड़ सकता। उसके शब्द जब कान में पड़ेंगे तब पता पड़ेगा। देखो जी यह आत्मस्वरूप कैसा है? अरे अभी नहीं देख पाया। एक है यह ऐसी विकल्प तरंग ही जब तक उठ रही है तब तक नहीं देखा जा रहा है। यह आत्मस्वरूप मनके विकल्प से नहीं निरखा जाता है। यह तो मन का विकल्प है कि वह एक है, व्यापक है, अपरिणामी है, ध्रुव है। इन सब विकल्पों से परे है आत्मस्वरूप।

प्रभुमिलनपद्धति में तो देखियें 43 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में, पृ0 103 —प्रभुमिलनपद्धति—अब इस आत्मतत्त्वका अनुभव मनके विकल्पसे परे है, इसके दृष्टान्त में यां समझिये कि जैसे राजा से मिलने का इच्छुक कोई पुरुष चलता है तो दरबार के दरवान से वह कहता है कि मुझे राजा से मिला दो। तो दरवान का काम इतना ही है कि जहां राजा विराजे है वहां निकट स्थानपर पहुंचा देना। बाद में राजा से मिलना, स्नेह बनाना, काम निकालना, ये सब राजा और दर्शक की परस्पर की बात है। उसमें दरवान क्या करेगा? इसी तरह कारणपरमात्मतत्त्व के दर्शन का अभिलाषी भक्त पुरुष इसके दरवान मनसे कहता है कि मुझे उस कारण परमात्मप्रभु के दर्शन करा दो, तो यह दरवान मन इस दर्शनार्थी उपयोग को ले जाता है। कहां तक जहां तक, इस समयसार प्रभुके दर्शन हो सकते हों उस सीमा तक वहां यह मन छोड़ आता है। लो इस जगह बैठा है परमात्मप्रभु। उस मनका काम यहां तक तो चला, अब इस के बाद प्रभु से मिलना है और प्रभु में एकरस होना, स्पर्श होना अनुभव होना, विशुद्धि बढ़ाना, मोक्षमार्ग का काम निकालना यह तो भक्त और प्रभुके परस्परकी बात है। इसमें दरवान विशुद्धि बढ़ाना मोक्षमार्ग का काम निकालना यह तो भक्त ओर प्रभु के परस्पर की बात है। इसमें दरवान मन क्या करेगा? फिर भी शुभ मनकी चेष्टा और प्रभुमिलनके अर्थ शुभ मन की चेष्टा बहुत काम निकाल देता है।

आत्महित में पर्यायबुद्धिता के रोगी को निश्चयकी परपौषधिरूपता, इसका मनन कीजिये गाथा न. 49 के एक प्रवचनांश में। पृ 176 – निश्चय परमौषधिकी प्रभुखता—इस जीवने आदि काल से व्यवहार व्यवहार को ही जकड़ा, निश्चयका तो कभी दर्शन ही नहीं किया और व्यवहार को ही सर्वस्व मानकर चला। यह इतना व्यवहार का पुराना रोगी है। जैसे पुराने तपेदिकका मिटाना बड़ा कठिन हो जाता है ऐसे ही अनादिकालीन पर्यायबुद्धि का यह रोगी है। जैसे पुराने तपेदिक का मिटाना बड़ा कठिन हो जाता है ऐसे ही अनादिकालीन पर्यायबुद्धिका यह रोगी है। इसका रोग मिटने के लिए शुद्धनय की औषधिको अधिक कहना ही चाहिए, देना ही चाहिए, औह इसी शुद्ध नीति के अनुसार आचार्य देवने इस शुद्ध भावाधिकार में अब तक परमार्थदृष्टि से परमब्रह्म का वर्णन किया। अब इस प्रकरण के अंत में जबकि थोड़ा उस संहारात्मक कहना विशेष रह गया जो कि अब 5 गाथाओं में और आगे चेलगा। उसमें अव्यवहारिक भी कथन करके उसे निजके निकट करे। परजो वास्तविक बात है, स्वभावकी बात है वह बात टाली नहीं जा सकती। व्यवहारका वर्णन करके ही फिर निश्चयकी बात तुरन्त कहना ही पड़ता है। एक तो यह बात है कि आचार्य देव इस शुद्ध आत्मस्वभाव के रूचिया थे, किन्तु अनादि व्यवहार किमूढ़ राग के रोगी को सम्बोधन के प्रसंग में कभी व्यवहार कथन भी इन्हें करना पड़ता है।

विकल्पों की थकान मिटाने के लिए सहज विश्राम लीजिये, इसका मनन कीजिये 55 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ 218—सहजविश्राम अहो, ऐसा सहजज्ञान जिसका निश्चय, जिसका परिज्ञान, जिसमें स्थिति, जिसका प्रताप मोक्ष का हेतु है वह सहज ज्ञान ही हम आपका परम शरण है, चिन्ता कुछ मत करो, दुख रंच भी नहीं है। अपने आपको आराम में रखना यह सबसे उंचा काम है। अपना आराम मूढ़ता में आकर खो मत दो। इन 24 घटों में किसी समय तो सच्चा आराम पावो। जैसे लोग थककर दस बीस मिनट का हाथ पैर पसार कर चित लेटकर आराम ले लिया करते हैं, यों ही विकल्पजालों में जो दुखों को थकान होती है उस थकान को दूर करने के लिए सर्व परकी चिन्ता को छोड़कर निज सहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको दर्शन करिये और उस ही में मरण कीजिये, तृप्त होइये। ऐसा सच्चा आराम एक सेकेण्ड को भी हो जाय तो यह भव भव के सचित कमकलंक को दूर करने में समर्थ है। सो इस निज स्मृति के लिए साधनभूत अमोघ अभिन्न उपाय का चार प्रकार से भेद कथन किया गया है।

इस पुस्तक में नियमसार ग्रन्थ की 56 गाथा से 66 वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के पवचन हैं। हिंसा होने में पाप क्या है, इसका अध्यात्मदृष्टि से समाधान लीजिये पृ0 7 अध्यात्मदृष्टि से हिंसा के हेतु का प्रकाशन—देखिये यह जीव अनादि काल से निगोद जैसी निकृष्ट अवस्था में निवास करता आया है। वहां से निकला तो कुछ मोक्ष मार्ग के लिए कुछ प्रगति को बात आयी। यद्यपि मोक्षमार्ग का प्रारम्भ संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव से होता है और कहीं मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता, किन्तु संसार महागर्त से निगोद दशा से निकलकर यदि वह दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव बना तो कुछ तो उसकी प्रगति हुई। अब देखिये किसी कीड़े को मारा व मसला तो ऐसी स्थिति से मरने वाले कीड़े को संक्लेश प्राप्त होगा, यह बात तो सत्य है ना। जिस कीड़े को पीटा जाय व मसला जाय तो उसके संक्लेश तो अधिक होगा। मानो वह तीन इन्द्रिय कीड़ा है ओर वह अधिक संक्लेश से मरा तो मरकर वह एकेन्द्रिय का शरीर को पायगा। निम्नगति में जायगी। तो देखो ना कि इतनी प्रगति का जीव जरा से तुम्हारे निमित्त से इतनी प्रगति से लौटकर फिर अवनति में चला गया। तो बताओ ऐसी अवनति के भव में पहुंचना यह जीव का बिगाड़ है ना, इस अध्यात्मिक दृष्टि से किसी जीव की हिंसा करना जीव पर अन्याय करना है।

साधुओं के आहर विहार का क्या प्रयोजन है, देखिये 63 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ0 88—आहार विहार का प्रयोजन —जैसे सरसो के तेल वाले दिये में दो काम किये जाते हैं, तेल भरा जाता है और बाकी उसकेरी जाती है। सभी जानते हैं, सरसों के तेल का दिया जलावें तो उसमें बीच बीच में बाती में तेल चढ़ता है। जब सूख जाता है, कम हो जाता है तो उसमें तेल डालना इसलिए किया जाता है कि उसमें यथावत प्रकाश बना रहे। ऐसे ही प्रकाशपुंज साधु पुरुष में बाती उस बरने की तरह पैरों के उसके रने की जरूरत पड़ती है, अर्थात् विहार करने को आवश्यकता होती है, और तेल डालने की अर्थात् पेट में भोजन डालने की आवश्यकता होती है। यह आहार और विहार साधुजन इसलिए किया करते हैं कि यथावत शुद्ध ज्ञानप्रकाश मात्र बने रहें।

साधुओं के उत्सर्ग मार्ग व अपवादमय मार्ग का अभिप्राय पढ़िये 64 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में, पृ0 128—उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग—उपेक्षा संयमी जीव परम उत्सर्ग मार्ग का अनुसरण करता है। मार्ग दो प्रकार के हैं—उत्सर्ग मार्ग और अपवादमार्ग। साधुओं का उत्सर्ग मार्ग तो यह है कि मन, वचन, काय की चेष्टाओं की पवृति बन्द करे। परम उपेक्षा संयम में बर्तना हो, आहार विहार, विलास, समस्त क्रियायें जहां न रहें, केवल आत्मस्वभावकी उपासना चलें यह तो है उत्सर्ग मार्ग। साधुजन इसी मार्ग का पालन करने

के लिए ही निग्रन्थ होते हैं? किन्तु यह बात बड़ी कठिन है ना, किन्तु आरब्ध योग की यह बात कठिन है। सो उत्सर्ग मार्ग में नहीं रह पाते हैं और उसे आवश्यकता है कि वह आहार करें, विहार करे तो आहार विहार करता है, यह है उपवादमार्ग। यहां अपवादमार्ग का अर्थ खोटा मार्ग न लेना, जुड़ा हुआ ऐसा अर्थ न करना, किन्तु सिद्धान्त के अनुकूल शुद्ध विधि से जो चर्या की जाय, विहार किया जाय, यह है साधुओं का अपवादमार्ग।

नग्नमुद्रा में निर्विकारता के दर्शन होते हैं, पढ़िये 64 वीं गाथा का एक प्रवचनांश—पृ० 137 नग्नमुद्रामें निर्विकारताका दर्शन—कुछ लोग उनकी नग्नमुद्राको देखकर अटपट कल्पनायें करके उनसे लाभ प्राप्त करने से दूर रहा करते हैं। कोई कहते हैं कि यह नग्न है, ऐसे न रहना चाहिए। अरे जरा उनके अन्तर के परिणामों को तो देखो—साधु का अंतरंग परिणाम बालकवत है। जैसे बच्चे को कुछ पता नहीं है काम का, अन्य की तरह विडम्बनाओं का, जैसे वह बच्चा निर्विकार है, ऐसे ही वह साधु पुरुष निष्काम, निर्विकार, अत्यन्त स्वच्छ है। नग्नताका रूप रख लेना साधारण बात नहीं है। उदण्ड होकर कोई नंगा हो जाय उसकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु नग्न होकर भी रंचमात्र भी विकार न आये और कल्पना तक भी न जगे ऐसा मुद्रा का प्राप्त होना इस लोक में अति दुर्लभ है, और साथ ही अपने ज्ञानभाव द्वारा अपने सहज ज्ञानस्वरूपम नियत रह सके ऐसी स्थिति पाना बहुत ही सुन्दर भवितव्यकी बात है।

आत्मचारित्र के अर्थ अपना क्या कर्तव्य है इसे देखिये 66 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ० 168 आत्मचारित्र के अर्थ अपना कर्तव्य—भैया, अपने मनको अशुभ कार्यों से हटकर शुभ कार्यों में लगाना यह अपना कर्तव्य है। किन्तु साथ ही सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान करके समय वस्तुओं के यथार्थ सहज स्वरूपके ज्ञाता दृष्टा रह सकना यह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। मुनिजन सब प्रकार के रोग और द्वेष से दूर रहते हैं। ऐसे समग्र अशुभ परिणाम रूपी आस्रवों का परिहार करना ही मनोगुप्ति है। मन चूंकि बाह्य वस्तु है। आत्मा के स्वभावकी बात नहीं है, ऐसे उस मनको वशमें करने की बात यह सब व्यवहारचारित्र है। निश्चयचारित्र तो वह है कि यह मन गुप्त होकर जिस स्वच्छता को प्रकट करने में स्वच्छता बर्ते और अंतरंग में स्वच्छता जब जागृत हो जाय तो वहां यह मन भी विलीन हो जाय। निश्चय चारित्र तो यह है।

165 नियमसार प्रवचन पंचम भाग

इस पुस्तकमें नियमसार ग्रन्थ की 66 वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। मनोगुप्ति के प्रकरणमें

प्रथम मन को शुभ में उपयुक्त कर देने की सम्मति दी है, पढ़िये 66 वीं गाथा का एक प्रवचनांश—पृ०—19 मन मरकटको शुभ में उपयुक्त करने की आवश्यकता—अहो, यह मन बन्दर से भी अधिक चंचल है। बन्दरों को देखा होगा कि वे खाली नहीं बैठ सकते जब नींद न आ जाय तो चाहे थोड़ी देर पड़े रहें पर जागते हैं तो स्थिर नहीं रह सकते। कहीं पर हिलाया, कहीं हाथ हिलाया, और उनकी आंखें तो बड़ी ही विचित्र है। कैसी मटकती है कि जरा सी देर में आंखों में टोपी लग जाती है, जरा सी देर में टोपी हट जाती है। कैसी विचित्र चंचलता है। उससे भी अधिक चंचल यह मन है। इस मन को किसी न किसी शुभ कार्य में जुटाये रहना चाहिए, यदि अपना कल्याण चाहते हो। इसे शुभ कार्य न मिलें तो अशुभ कार्य में लग बैठगा। इस तरह ज्ञान ध्यान पूजा, सत्संग, परोपकार, सेवा, इन कार्यों में भी लगना चाहिए। इन शुभ कार्यों में मन लगा होगा तो यहां इतनी पात्रता है कि उन शुभ कार्यों का भी परिहार करके क्षणमात्र तो अपने आपके शुद्ध ज्ञायक स्वरूप का अनुभव कर सकेगा।

वचनगुप्ति के प्रकरणमें निश्चय व व्यवहार वचनगुप्तिका दिग्दर्शन कीजिये 38 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ० 26— निश्चय व्यवहार वचन गुप्ति किसी भी प्रकार के वचनालापसे अन्तर में कुछ राग उठा करता है, ऐसी स्थिति में कुछ जान बूझकर सहज प्रयोजन के लिए जो वचन परिहार किया जाता है व्यवहार गुप्ति। और अज्ञान पुर्वक जबरदस्ती वचनों का बन्द करना, ओंठ में ओंठ चिपकाये मौन रह जाना यह तो सब उसकी उपचार चेष्टायेंहं, किन्तु सहज स्वभाव से ही जो वचनालापनका परिहार हो जाता है यह निश्चयवचनगुप्ति है, इस आत्मा का स्वभाव वचन बोलने का नहीं है। यह तो आकाशवत् निर्लेप ज्ञानमात्र अमृत तत्व है। यहां कहा भाषा पड़ी है? यहां कहा वचनालाप पड़े हैं? यह वचनों से अत्यन्त दूर है। ऐसे निरपेक्ष आत्मतत्त्व की दृष्टि रखने में जो सहज वचनालाप बन्द हो जाता है उसका नाम है निश्चयवचनगुप्ति। ज्ञानी पुरुष बाह्य वचनों का सर्वथा अंतरंग से परित्याग करता है।

गुप्ति की साधना सहयोगी अन्तस्तत्त्वके स्वरूपकी भावना है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़िये गाथा 70 के प्रसंग में, पृ० 40 गुप्तिसाधना में मूल भावना—जितने भी अवगुण हैं उनके विजयका उपाय उस अवगुणों के विपरीत गुणों पर दृष्टि करना है। जैसे—इन्द्रिय विजय से जड़ जड़ द्रव्येन्द्रिय का विजय चैतन्य स्वरूपकी दृष्टि से होता है। मैं चैतन्यस्वरूप हूं। ये द्रव्येन्द्रिय अचेतन हैं। खण्डज्ञानरूप भावेन्द्रियका विजय अखण्ड ज्ञानस्वरूप निजकी प्रवृत्ति से होता है और संगरूप विषयों का विजय अंसग आकिन्चन्य निज अन्तस्तत्त्वके अवलोकन से होता है। यों कायगुप्तिका विजय यह ज्ञानी

सन्त इस भावना में कर रहा है कि मेरा तो अपरिस्पंद स्वरूप है योगरहित स्वरूप है, निष्क्रिय धर्म द्रव्यकी तरह जहां के तहां स्पंद रहित होकर अवस्थित रहना ही मेरा स्वरूप है। जैसे मेरे स्वरूपमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक गुण हैं तैसे में परिस्पंद रहित निष्क्रिय ज्ञानमात्र हूं। ऐसे दस योगरहित अन्तस्वतत्वके योग कहां से होता। यों भावना रखने वाले साधु के कायगुप्ति होती है। और कायगुप्ति ही क्या, तीनों गुप्तियां होती हैं।

सिद्धभगवन्तों का आत्मक्षेत्र कितना है इसका प्रकाश पाइये 83 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ० 83 भगवन्तोंका आत्मक्षेत्र—भगवन्त सिद्ध जिस समय अपने उतने आकार में विराजमान है जितने आकार वाले शरीर को छोड़कर वे मुक्त हुए हैं। यद्यपि आत्मा में आकार नहीं होता फिर भी जो कुछ भी द्रव्य है उत द्रव्यके निजी प्रदेश अवश्य होते हैं। आत्मा के उन प्रदेशों का विस्तार कितना है जिन प्रदेशों में कितना है, यह सब जानने के लिए जब इच्छा हो तब उसे यों ही कहना होगा कि जिस शरीर से वे छूटे हैं उस शरीर के परिणाम उनका आकार होता है। प्रश्न वे शरीर से कम या अधिक क्यों नहीं हो जाने हैं? उत्तर—प्रदेश के विस्तार का और संकोच का कारण आत्मा का सत्व नहीं हैं? आत्मा का स्वभाव नहीं हैं, किन्तु विशिष्ट जाति की कर्मप्रकृतियों का उदय है। अब चूंकि नामकर्म प्रकृतियां रही नहीं, अन्य प्रकृतियां रही नहीं, जिस देह को छोड़कर वे मुक्त हो रहे हैं उस देह आकार में यह आत्मा है। अब वे आत्मा बढ़ें या घटें। न कोई बढ़ने का कारण है और न कोई घटने का कारण है क्योंकि बढ़ने और घटने का कारण प्रकृतियों का उदय था। तो बुद्धि और हानि का हेतु न होने से वे सिद्ध भगवन्त जिस देह से मुक्त हुए हैं उसके आकार प्रमाण वहां रहते हैं।

आचार्य परमेष्ठी 8 गुणों में सातवां अपरिश्रावित्व गुण पढ़िये, 73 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ० 89 आचार्य का अपरिश्रावित्व गुण—सातवां महागुण है आचार्य में अपरिश्रावित्व। आचार्य महाराजमें इतनी उदारता होती है कि कोई शिष्य कैसी ही आलोचना करे, उसके उस कथन को दोष को यों पी जाता है, अर्थात् किसी को प्रकट नहीं करता जैसे बहुत तपे पर बूद गिरती है तो फिर उस बूद का पता कहां रहता है? जैसे वह बूद सूख जाती है इसी तरह को गम्भीरता आचार्य परमेष्ठी में होती है कि कोई भी दोष बताये, आचार्य महाराज कहीं भी बताते नहीं हैं, क्योंकि यदि बता देंतो उससे कितनी ही हानियां हैं। प्रथम तो यह किसी बड़े के अनुरूप बात नहीं है कि किसी के दोष प्रकट करें, कहे और करदे प्रकट तो पहले तो संगमें रहने वाले मुनियों की अस्था आचार्य हट जायगी, फिर अन्य कोई उन से आलोचना न करेंगें, यों फिर वे आचार्य न रह सकेंगे।

निश्चयचारित्र व व्यवहारचारित्र की कल्याण प्रगति में उपयोगिता देखिये 76 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में, पृ0 115 –कल्याणप्रगति के लिए निश्चयचारित्र व व्यवहारचारित्र का परस्पर सहयोग—यह निश्चय चारित्र ही वास्तव में शील है। अग्रंजी में सील कहते हैं वस्तुको यथास्थान अवस्थित कर देना दृढ़ता से। अपने आपका उपयोग अपने आप में जमा रहें, फिर गड़बड़ी न हो ऐसा सील कर देना यही तो निश्चयचारित्र है और यही आत्मस्वभाव है। निश्चयचारित्र परम निर्वाण का साक्षात् कारण है और व्यवहार चारित्र परमनिर्वाणका परम्परा कारण है। व्यवहारचारित्र का साक्षात् कमनिजरण करके मुक्त अवस्थाको प्राप्त कराना है। जैसे कोई दो बालक लड़ रहे हों वहां कोई तीसरा बालक आकर एक बालक का हाथ पकड़ ले, रोक ले तो मारने वाले बालक को अवकास मिला कि पीट सकता है। कहने को तो यह है कि उस तृतीय बालक ने उस बालक को तो नहीं पीटा परन्तु पिटाने में परम्पर्या दृढ़ कारण हुआ है। यों ही व्यवहारचारित्र ने कर्मों की निर्जरा तो नहीं की लेकिन ऐसी स्थित उत्पन्न को कि इस निश्चयचारित्र को मौका मिल गया। अब यह निश्चयचारित्र अपने मूल व्यवहार के साथ कर्मों की निर्जरा कर रहा है। ऐसे परम कल्याण के कारणभूत निश्चयचारित्र को हमारा अभिनन्द हो।

166 नियमसार प्रवचन षष्ठ भाग

इस पुस्तक में नियमसार प्रवचनकी 77 वीं गाथा तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। निश्चयचारित्र के अधिकारमें पहिले परमार्थ प्रतिक्रमण का वर्णन है। परमार्थ अन्तस्तत्त्वको जानने वाले ही निश्चयप्रतिक्रमण के अधिकारी होते हैं याने सर्व दोषो को मिथ्या करार देने के व हटा देने के अधिकारी है, अतः प्रथम परमार्थ दृष्टि कराई गई है, देखिये 77 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ0 3 चित्स्वरूपका विविक्तता –मैं नारकभावरूप नहीं हूं इनका कराने वाला भी मैं नहीं हूं। इन रूप भी मैं नहीं हूं और इनका करने वाला मैं नहीं हूं इनका कराने वाला भी मैं नहीं हूं और इनको जो कर रहें हों उन का अनुमोदने वाला भी नहीं हूं। ये बातें डर कर नहीं कही जा रही हैं किन्तु परमार्थस्वरूपकी रूचिके कारण कही जा रही हैं। यों न समझना कि जैसे स्कूल में किसी लड़के से कोई अपराध बन गया है तो वह मास्टर साहब से कहता है मास्टर साहब मुझे कुछ पता नहीं है, मैंने कसूर नहीं किया है, न मुझे किसी ने बहकाया है, न मैं उस घटना में शामिल ही था, ऐसा डर कर नहीं कहा जा रहा है किन्तु परमार्थ को निरखकर जो बात यथार्थ अनुभव में उतरी है उस बातको ये ज्ञानी सन्त निःशंक होकर प्रकट कर रहे हैं। मेरा स्वरूप तो वह है जो मेरे सवतके कारण स्वतः सिद्ध हो। मैं नारक तिर्यन्च, मनुष्य देव कहां हूं? मैं तो ज्ञायकस्वरूप चैतन्यस्वरूप चैतन्यमात्र अनुपम पदार्थ हूं।

संकट के आय व्ययका लेखा जोखा देखिये 89 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें पृ० 45-46 -उपयोग से संकट का आय और व्यय-भैया, क्या है संकट? कितने हैं संकट? जोड़ लो, अमुक आदमी मुझसे इतना वैभव छीनना चाहते हैं, धन मकान का हिस्सा बांट करना चाहते हैं, अधिक लेना चाहते हैं अथवा मुझे मुनाफा नहीं मिल रहा है, टोटा हो गया है, इतना नुकसान हो गया है, लोग रूठते जा रहे हैं। बनाते जावो-कितने संकट हैं। पहिले तो सारे संकटों को जोड़ जोड़कर एक जगह धर लो और और फिर धीरे से अपने एकतवसरूपका दृष्टिरूप आग लगा दो, सारे संकट, वह सारा ईन्धन एक साथ सब स्वाहा हो जायगा। कहां है संकट? जब शरीर ही मैं नहीं हूं, ये रागद्वेष वकारभाव भी मैं नहीं हूं, ये पोजीशन, पुरुष में ही ऐसा साहस होता है कि कदाचित कोई दुष्टवैरभाववश नाना प्रकार से उसके प्राण हरे तो यह स्पष्ट झलकता है कि मेरा तो कुछ भी बिगाड़ नहीं है। मैं तो ज्ञानानन्द मात्र हूं। लो यह मैं पूरा का पूरा यहां से चला, उसे कोई प्रकार का संकट नहीं है। संकट तो मोह ममता से बसे हुए हैं। हम संकटों से दूर होने के लिए विरुद्ध प्रयत्न करते हैं। वह क्या उस मोह ममता की रचना करते हैं? दुख साधन बनाने से कहीं दुख टाले भी जा सकते हैं क्या? सोच लो।

दोषों का प्रतिक्रमण परमार्थप्रतिक्रमण में होता है, देखिये 80 वीं गाथा का एक प्रवचनांश, पृ० 52 -दोषों का प्रतिक्रमण-मैं राग नहीं हूं, द्वेष नहीं हूं, मोह नहीं हूं और रागद्वेष मोह का कारण भी नहीं हूं, उन का कर्ता भी नहीं हूं, कराने वाला भी नहीं हूं और उनको करते हुए जो कोई भी हो उनाक अनुमोदन भी नहीं हूं। परमार्थप्रतिक्रमण हो ही जाता है। जो विभाव लग चुका था, जो द्वेष किया गया था उस द्वेष का प्रतिक्रमण किया जा रहा है याने उस द्वेष को दूर किया जा रहा है।

परमार्थप्रतिक्रमण का प्रयोजन क्या है? यह संक्षेप में समझ लीजिये 82 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ०-234 प्रतिक्रमण की आवश्यकता निर्दोष चारित्र की सिद्धि के लिए है। निर्दोष चारित्र की सिद्धि समस्त आकुलताओं के मिटाने के लिए है। समस्त आकुलताओं का मिट जाना इस जीव का ध्येय है, मनतवय है, लक्ष्य है। चाहते यह है समस्त जीव लोक कि रंच भी पीड़ा न रहे, अनाकुलता की स्थिति कैसे आये? उसके उपाय में यह चारित्र शोधक परमार्थप्रतिक्रमण का वर्णन चल रहा है।

परमार्थ निरपराध होने पर ही अनाकुलता हो ही सकती है, 84 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ० 84 निरपराधता में अनाकुलता का स्वाद-जहां आत्मा में आराधना नहीं है वे सब अपराध है। जहां शुद्ध ममता का, अनाकुलता स्वाद नहीं आ रहा है वे सब अनुभवन अपराध है। किसी भी बाह्य

प्रसंग में चाहे वे बड़ी सच्चाई के साथ भी जुट रहें हों, किन्तु उनसे पूछो कि क्या तुम इस समय निराकुलता में हो? तो उत्तर मिलेगा कि निराकुलता तो नहीं है। निराकुलता तो नहीं। निराकुलता तो रागद्वेषरहित केवल ज्ञाता दृष्टा रहने में ही है। जहां निराकुलता है, वास्तविक सहज परम अल्हाद है वहां ही आत्माकी आराधना है और वही जीव निरपराध कहलाता है।

पुनश्च देखिये निरपराध दर्शन में ही परमार्थ प्रतिक्रमण होता है। पृ0 87 निरपराध दर्शन में परमार्थ प्रतिक्रमण—ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र अपने आत्मातत्त्वको दृष्टि में जो जगता है वह निरपराध है, उसका बंधन नहीं होता, किन्तु जो अपने को आपको असत्यरूप मान रहा है वह अपराधी है। वह निरनतर अनन्त काय अनन्त कर्मों को बांधता रहता है। एक शुद्ध सहज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि प्रतीति उपासना करने वाले पुरुष निरपराध है और वे सर्व प्रकार के बन्धनों से मुक्त होते हैं। जो ऐसे कारण परामात्मतत्त्वका ध्यान करता है वही निरपराध अपने आपको निहारन में परमाश्र प्रतिक्रमण होता है।

प्रतिक्रमण अधिकार की अन्तिम गाथा में व्यवहारप्रतिक्रमण की सफलता क्या है। इसे एक लोक दृष्टान्त द्वारा समझाया है एक संक्षिप्त प्रवचनांशमें, पृ0 157 दृष्टान्तपूर्वक कर्तव्यकी सफलता का समर्थन—जैसे सीढ़ियों पर चढ़ने की सफलता क्या है? उपर आ जाना। कोई मनुष्य सीढ़ियों पर ही चढ़े उतरे तो ऐसे मनुष्यको तो लोग विवेकी न कहेंगे। इसके क्या धुन समायी है, कहीं दिमाग खराब तो नहीं हो गया है, यों लोग सोचेंगे। तो सीढ़ियोंपर चढ़ने की सफलता है उपर आ जाना। ऐसे ही व्यवहार प्रतिक्रमण को सफलता है अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण भाव से परे जो शुद्ध अंतः प्रतिक्रमण? उत्तमार्थप्रतिक्रमण है उनमें लीन हो जाना, इसका संकेत इस अन्तिम गाथा में किया गया है।

167—171 नियमसार प्रवचन 7 से 11 भाग

इस पांच भागों में नियमसारकी 95 वीं गाथा से लेकर अन्तिम 187 वीं तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज की एक प्रवचनांशमें देखिये प्रत्याख्यानका अधिकारी कौन है? प्रत्याख्यान का अधिकारी इस गाथा में यह बतला रहे हैं कि जो मुनि समस्त वचनालापों को छोड़कर भविष्यमें शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकार के भावों का परित्याग करके निवारण करके जो आत्मा का ध्यान करता है उस मुनिके यह निश्चय प्रत्याख्यान होता है। यह प्रत्याख्यान समस्त कर्मों की निर्जरा का कारण है। प्रत्याख्यान बिना मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह तो मोक्षमन्दिर में पहुंचने के लिए सीढ़ी है। मुक्ति में होने वाली परम निराकुलता के बर्तन के विधिपूर्वक व्यवहार

प्रत्याख्यान में भी दक्षता पायी है। प्रत्याख्याता महामुनि के व्यवहार प्रत्याख्यानकी वृत्ति भी चलती है और उस सहज प्रत्याख्यान वृत्तिका करते हुए निश्चयप्रत्याख्यानकी ओर उनका चित रहता है।

प्रत्याख्यानका विधि व निषेध दोनों पद्धतियों में वर्णन होता है। इसका संकेत देखिये 95 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ0 5 प्रत्याख्यान का विधि व निषेध मुखने वर्णन—अहंकार ममकार विभावों का परिच्योग होना और ज्ञाता दृष्टारूप परिणमन होता—ये दोनों एक साथ होते हैं। इसका कारण यह है कि विधि और निषेध ये केवल अपेक्षा से कहीं जाने वाली चीजें हैं। जैसे अंगुली टेढ़ी हो और सीधी कर दी जाय तो उसको चाहे इन शब्दों में कह लो कि अंगुली की टेढ़ मिट गई और चाहे इन शब्दों में कह लो कि अंगुली में सीधा परिणमन हो गया। बात वहां एक है। उस एक ही विश्वासको हम विधि और निषेध से कहते हैं। इसनिश्चय प्रत्याख्यान में जो आत्मविलास है उसको चाहे यों कह लीजिये कि समस्त विभावों का परिहार हो गया और चाहे यों कह लीजिये कि यह मात्र ज्ञाता दृष्टा रूप परिणमन कर रहा है।

कारणप्रभु के सहज तेजाक मनन कीजिये 97 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ0 16 अघसमूह के विलयन में कारण प्रभुकी समर्थता—यह कारणप्रभु चैतन्यस्वरूप समस्त पापों की वृत्ति को जीतने में समर्थ है। आत्मक्षेत्र को छोड़कर अन्य पदार्थों में अपना बड़प्पन देखने की वासना करना यही है पापसमूह।

विषयों में प्रवृत्ति करके अपने को सुखी मान लेने की वासना होना यही है पापसमूह। इन पापबेरियों ने अपनी विजय पता का इस जगत में स्वच्छद होकर उदण्ड होकर फहरा दी है और इस समस्त बराक जीव उनकी पताकाओं के नीचे रहकर अपने को सशरण माने हुए हैं। ऐसे उदण्ड पाप बेरियों की इस पताका को लूट लेने में समर्थ निर्मूल नष्ट करने में समर्थ यह कारण परमात्मपदार्थ है। निर्दोष, निर्लेप स्वतंत्र आत्मतत्त्वकी भावना जगे वहां एक भी क्लेश एक भी पाप ठहर नहीं सकता है।

समत्व परिहार व निर्मत्व ग्रहण ये दोनों विधान प्रत्याख्यान के सहयोगी हैं इससे सम्बन्धित 97 वीं गाथा का एक प्रवचनांश देखिये—29—ममत्वपरिवर्जन और निर्मत्वानुष्ठान ममत्वको छोड़ता हूं और निर्मत्वको उपस्थित होता हूं अर्थात् मैं निर्मत्व स्वभाव में ठहरता हूं। आत्मा ही मेरा आलम्बन है, अन्य समस्त पदार्थों को परभावों में छोड़ता हूं। ज्ञानी का ऐसा अतः सकल्प है। इस अनुभूति में अनादि अनन्त अहेतुक चित्सवभावमात्र आत्मतत्त्व का सरण किया है और उस ध्रंवस्वभावके अतिरिक्त अन्य जितने भाव हैं, स्वभाव है उन समस्त विभावों के परित्याग को विधि प्रकट हुई है।

यह मैं आत्मा ज्ञानदर्शन मात्र हूँ, अकेला हूँ, विविक्त हूँ, मोह रागद्वेषादिक जो विभाव उत्पन्न होते हैं उनसे भी मैं रहित हूँ। ऐसे निर्ममत्व आत्मतत्त्वको प्राप्त होना, ममताके परिहारकी विधि है। पर ममता का परिहार होना आत्मतत्त्वके पाने की विधि है।

कायरता आये बिना भोगों का सेवन नहीं होता है, 100 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ0 39 कायरता में भोगसेवन विषयाभिलाषी पुरुष इस सुखके पीछे दूसरे जीवों के आगे कायर बन जाते हैं। इन्द्रिय के विषय वीरता पूर्वक कैसे मिल सकते हैं। कायर होकर ही ये विषयसुख मिला करते हैं। खैर किसी तरह से भोगें, पर इतना तो समझना ही चाहिए कि बिना कायरता में ये विषयसुख नहीं भोगे जाते हैं। स्पर्शनन्द्रियका विषय कायर बनकर ही भोगा जाता है। सभी इन्द्रिय और मनके विषयों का सब कुछ भोग कायर बनकर ही किया जाता है। यह अज्ञानी परवस्तुओं से अपना हित मानकर कायर होता हुआ अपना जीवन व्यर्थ गर्मा रहा है। उसे यह पता नहीं है कि मेरा तो मात्र मैं ही हूँ और यह मैं विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावसे परिपूर्ण हूँ, इसमें क्लेश का नाम भी नहीं है। इसका ऐसा उत्कृष्ट स्वभाव है कि सारे विश्व तक यह जाननहार बन जाय।

प्रत्याख्यान नाम विकल्पों के त्याग का ळै, यह प्रत्याख्यान ज्ञानरूप ही तो कहलाता है। मनन कीजिये 101 वीं गाथा के एक प्रवचनांश में—पृ0 52 ज्ञानकी प्रत्याख्यानरूपता—भैया परित्याग तो परमार्थ से भीतर ज्ञानमें बसा हुआ है। किसी चीज को यहां से वहां उठाकर रख दो ऐसे हटा देने से त्याग नहीं बन गया। त्याग तो वास्तव में भीतर में ऐसा प्रकाश जगे कि यह मैं ज्ञान इतना ही हूँ, ज्ञानातिरिक्त मेरा कुछ नहीं है, ऐसा भीतर में प्रतिबोध हो उसका नाम त्याग है। और उस त्याग में ही इस जीव के विशुद्धि जगती है। ऐसा परमार्थ प्रत्याख्यानमय एकस्वरूप निहारने पर निश्चय प्रत्याख्यान होता है। यह जीव सर्वत्र अकेला है। जन्मते अकेला, बड़ा होने पर अकेला, विकल्पकार्यें किया तो वहां पर भी अकेला है, इसका काम तो सर्वत्र अपना गुण परिणमन करते रहना है।

प्रत्याख्यान के प्रसंग में ज्ञानी साकार रत्नत्रयको निराकर रत्नत्रय बनाने का एक शिव संकल्प तो निरखिये, गाथा 103 के एक प्रवचनांशमें, पृ0 66 साकार रत्नत्रयका निराकारी कारण साकार पूजा साकार भक्ति, साकार रत्नत्रय ये सब अनुत्कृष्ट अवस्थायें हैं। जहां आकार का विलय हो जाता है वह उत्कृष्ट हितकी अवस्था है। नौ पदार्थों का श्रद्धान करना, सात तत्त्वों की प्रतीति रखना यह मैं आत्मा हूँ, ये सब परद्रव्य हैं—इस प्रकार का भेदविज्ञान करना, महाब्रत पालते हुए मुझे समिति पूर्वक चलना चाहिए, ऐसी वृत्ति करना

इत्यादि रूप भेद रूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का होना यह सब साकार रत्नत्रय है, जब निज सहजस्वरूपका ही झुकाव हो, उसका ही परिज्ञान हो और ज्ञाता दृष्टा रहकर उसका ही निर्विकल्पानुभव हो, वह है निराकार रत्नत्रयका विधि। मैं इस साकार रत्नत्रयकी निराकर रत्नत्रय करता हूँ। ऐसे इस प्रत्याख्यानके प्रसंग में ज्ञानी पुरुष अन्तर में शिवसंकल्प कर रहा है।

इस मनुष्यका हल्दी की गांठ पर पंसारीपना देखिये—गाथा 103 वीं क एक प्रवचनांशमें—पृ० 71 हल्दी की गांठ पर पंसारीपना—भैया, बड़े बड़े तीर्थकर चक्रवर्ती तो इन ठाठों को छोड़कर अपने अपने उपादेय स्थानमें पहुंचे और यहां हम आप न कुछ साधारण सी विभूति पाकर निरन्तर इस विभूति के ही स्वप्न देखा करते हैं, यह कितने खेद की बात है। अहाने में तो कहा करते हैं कि चूहा हल्दी की गांठ पाकर पंसारी बन गया। पर अपने में कुछ नहीं घटाता हैं कि थोड़ा सा यह हजारों लाखों का धन पाकर यह अपने को श्रेष्ठ मानने लगा है। तेरे से बढ़कर अनेकों की स्थितियां इसी देश में हैं उनसे भी बढ़कर अनेकों की स्थितियां विदेशमें भी सम्भव हैं, उनसे भी कई गुने बढ़कर मंडलेश्वर राजा होते हैं, उनसे अधिक महा मंडलेश्वर राजा होते हैं, उनसे कई गुने नारायण और प्रति नारायण होते हैं, वे तीन खण्ड के अधिपति होत हैं, उनसे बड़े चक्रवर्ती पुरुष होते हैं और ऐसे अनेक चक्रवर्ती जिनके चरणों में नमस्कार करें उन तीर्थकरों के बड़प्पन को तो बताया ही क्या जाय? अब उनके सामने देख तूने हल्दी गांठ ही पायी है या और भी पाया है?

आलोचनाधिकार में परमालोचना व जसके अधिकारी का संक्षिप्त संकेत पाइये 107 वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें—पृ० 89 परमालोचना और उसका अधिकारी—जो प्राणी नौकर्म कमसे रहित, विभावगुणपर्याय से पृथक आत्मा को ध्याता है उस श्रमण के आलोचना होती है। इस अधिकारमें आलोचनाका वर्णन है, व्यवहार में लोग अपने पापकी आलोचना करते हैं, जैसे कि आलोचना पाठ में बहुत विस्तार से वर्णन है निश्चय आलोचना क्या कहलाती है इसका वर्णन इस परम आलोचना अधिकार में किया जा रहा है, आत्मा का मात्र ज्ञाता दृष्टा रहना सो तो है वास्तविक परमार्थ ब्रत और ज्ञाता दृष्टा न रहकर किसी अन्य विभावमें उपयोग को उलझाना यह है इसका अपराध। निश्चय अपराधकी आलोचना करना सो परम आलोचना है और व्यवहारिक अपराधकी आलोचना करनाकरना व्यहारालोचना है। अपने आत्मा का जैसा यथार्थ बोध है उस स्वरूपकी दृष्टि करें तसे सच्ची आलोचना होती है।

अविकृततकरण व भावशुद्धि—जब आलुछन हो गया तो फिर जैसा साफ है तैसा अविकारी भाव रह गया, अब विकार नहीं रहा है, यह हुआ

अविकृतिकरण। फिर जैसा शुद्ध भाव है, स्वभाव है, सहज भाव है, स्वरूपस्तित्वमात्र तदरूप तन लगे, यह हुई भावशुद्धि। इस तरह इस ज्ञानी साधु ने आलोचनाके प्रसंग में अपने को निर्दोष बनाया।

अपना अपराध परखिये और उसे दूर कीजिये, इसमें भलाई है, समझिये यह रहस्य 113 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ0 134—स्व अपराध व उसके निवारण का उपाय हे आत्मन् तुम अब किसी भी पर जीव को अपना अपराध ीमत समझो। किसी को अपना अपराधी समझना ही अपने आप पर अन्याय करना है। कौन किसका अपराधी है? सभी जीव अपनी अपनी कषाय के अनुसार अपना अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगे हुए हैं। तुम्हारा कोई बिगाड़ करने पर नहीं तुला है। यह सबकी आदत है कि अपना ही काम बनायें। सब अपना ही काम बना रहे हैं। मित्र हों, रिश्तेदार हो, परिजन हो कोई भी हो, सरकार हो, सभी अपना काम बना रहे हैं। तू उन्हें बाधक समझता है। अरे तेरा बाधक तेरा परिणाम है। तुझे सम्पदामें जो राग लगा हुआ है वह राग ही तेरा दुश्मन है। दूसरा दुश्मन नहीं है। तो जो भी विकार भाव उत्पन्न होते हैं महान अपराध होत हैं उनकी माफी कैसे हो सकेगी? उनकी क्षमा मांगने का कोई तरीका भी क्या? वह तरीका यही है कि अब मैं विकार न करूंगा, मैं अपने निज अविकार स्वभावमें ही प्रसन्न रहूंगा। इस प्रकार के संकल्प से विकारों को न होने देना यही विकारों के अपराधों का प्रायश्चित्त है। मुझमें रागादिक अपराध न हो, इसका उपाय भी हे क्या कुछ? हां है उपाय। निश्चय से ता विकाररहित चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्वका दर्शन करना, यह उपाय है, और व्यवहार से ब्रत, समिति, शील ओर सयंम का परिणाम बने—जिससे विषय कषायों के आने का अवसर न हो। ऐसी प्रवृत्ति को व्यवहार उपाय कहते हैं।

सहज अन्तस्तत्वके अवलम्बन में परमलाभ समझिये अथवा पुराना ढंकरा बदले बिना कल्याण न होगा, प्रेरणा लीजिये 119 वीं गाथा में एक प्रवचनांशमें, पृ0 161 —परमलाभ—भैया, इस ज्ञानवैराग्यसे इस आत्मप्रेरणा लीजिये 119 वीं गाथा क एक प्रवचनांश में, पृ0 161 —परमभवमें भी आनन्द का समागम होता है। इस कारण प्रत्येक प्रयत्न करके अपने तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके एक इस सहज शुद्ध ज्ञानानन्द में आत्मस्वरूप का आलम्बन करना चाहिए और इस परम शरण की प्राप्ति के लिए ज्ञानार्जन में अपना चित्त लगाना चाहिए। जो कुछ भी प्राप्त है वे सब भी न्यौछावर हो जायें और एक यथार्थ तत्वज्ञानका अनुभव हो जाय तो उसने सब पाया। हम अरहंत सिद्ध के स्वरूप को क्यों पूजते हैं? क्या उनके पास कुछ धन है? अरे उनके बाह्य वैभव धन नहीं हैं, किन्तु आत्मीय ज्ञानन्द की निधि उनके पूर्ण प्रकट हुई है इसलिए वे पूज्य है, धन्य है, कल्याणर्थियों के उपासना हैं।

परमसमाधिकारकी प्रथम याने 122 वीं गाथाके एक प्रवचनांशमें समझ बना लीजिये कि परम समाधि सुधा का पान सहजस्वरूपके ध्यान में हो सकेगा। पृ० 169—सहजस्वरूपके ध्यान में परम समाधिका अभ्युदयजो आत्मा इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अन्तस्तत्वका ध्यान करता है, बाहरी कुछ नहीं विचार करता, स्वयं का अपने आपने स्वभाव से जिसरूप है उस स्वरूपमें जो आत्माको ध्याता है उस पुरुष के परमसमाधि होती है। इस परमपारिणामिक भाव अथवा शुद्धअन्तस्तत्वके ध्यान करने का साधन क्या है? स्वयं अभेद वीतराग भाव। जो स्वभाव समस्त कर्मकलकों से रहित है, जिसमें न तो ज्ञानावरण आदिक कर्म हैं और न रागद्वेषादिक भावकर्म हैं और न जिनमें प्रदेश परिस्पंदरूप क्षेत्रकर्म हैं, और न जिनमें जानन के परिवर्तनरूप भी कम हैं ऐसे उस कर्मकलंकमुक्त शुद्ध आत्मतन्त्रको जो ऐसे ही विशुद्ध ज्ञान ध्यान से ध्याता है उसके परम समाधि होती है।

समता अर्थात् सामायिक किस के स्थायी रहती है, इसका संक्षिप्त प्रकाश पाइये 130 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ० 200 पुण्यपाप भाव के त्याग में समता—जो योगी पुण्य और पापरूप भावों को नित्य ही त्यागता है उसके सामायिक स्थायी है, ऐस केवली के शासन में कम है। इसमें साक्षात् तो पुण्यभाव और पापभावके सन्यास की भावना है और उपचार से पुण्यकर्म और पापकर्म जो पौद्गलिक हैं उनके सन्यास की भावना हैं यह जीव जब शान्ति और उन्नति के मार्ग में चलता है तब अपने ही शुद्ध परिणामो का कर्ता होता है। जो पुरुष पुण्य पाप रहित केवल ज्ञायकस्वरूप अपने आत्मा का अनुभव करता है उसके कर्म स्वयं खिसजाते हैं। जो पुण्य पाप भावों को नित्य त्यागता है उसके सामायिक स्थायी है।

जरा लुटे पिटे इस प्राणी की तृष्णा तो देखिये 134 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ० 21—लुटे पिटे की तृष्णा—जब किसी बड़ी विधि वाले का बड़ी निधि हर जाता है तब उसका छोटा चीज में बड़ी विक्रम तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। कोई बड़ा पुरुष पापदिय से अपनी निधिको गवा दे तो वह निधि की बड़े बेढग से गवा देता है। सोना चांदी हीरा जवाहरत को वह दूसरे के यहां भी गिरवी नहीं रखता है। दूसरों के हाथ से दूसरों के यहां गिरवी रखाता है। जब निधन हो जाता है और खपरा विकने लगते हैं तो वह उन खपरों को भी गिन गिन कर देता है। अरे पहिले जब निधि लुट रही थी तब रंच भी परवाह न करता था, आज जब बड़ी निधि लुट गई तो छोटी चीजों की तृष्णा हो जाती है। अपने स्वभाव की भक्ति से सब विषय कषाय शान्ति हो जाते हैं गुथी हुई अनन्त निधि प्राप्त हो जाती है।

आस्रव, बन्ध, संबर, निर्जरा, मोक्षकी ज्ञानविलास में ही मुद्रा देखने की दृष्टि करके पढ़िये जरा 139 वीं गाथा का एक प्रवचनांश—पृ0 237—ज्ञानविलासमें पंच तत्त्व—अब इस निश्चययन में भी केवल निज स्वरूप । और निजस्वरूपके विलास में इन पाँच तत्त्वों को देखो तो वहां एक समृद्धि बर्द्धक एक रचना मालूम पड़ेगी। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने आपमें परवस्तुओं के जानने का परिणमन करता है, इसमें अन्य पदार्थ ज्ञयरूप प्रतिभास होते हैं। सहज निज ज्ञानाकार रूप है, सहज ज्ञानस्वभावमय है, यह ज्ञायकभास होते हैं। इस ज्ञानमें परज्ञेय आता है। जो शाश्वत है वह तो होता है आधार जो आये जाये उस को कहते हैं आना जाना, अध्रुव चीज। जो शाश्वत है वह तो होता है। आधार जो आये जाये उसे आना सो आस्रव है। यह अन्तः निश्चयकी बात कहीं जा रही है इस ज्ञान में इन ज्ञयों का रह जाना अर्थात् उनका बने रहना सो है बन्ध। ज्ञान में ज्ञेय का न आना, किन्तु ज्ञान केवल ज्ञानस्वरूपको ही ग्रहण करके ज्ञान ज्ञानमें एक रस रहा करें, इसका नाम है सम्बन्ध और उन ज्ञयकारों का छोड़ना निर्जरा और चिरकाल तक ज्ञान ज्ञानाकार रूप ही बना करे, उनकी ओर न झुके, इसका नाम है मोक्ष। भैया, कई प्रकारों से इनजीवादिक सात तत्त्वों का परिज्ञान करना और उनके स्वरूपमें विपरीत आशय को त्याग देना इसका नाम है योग और आत्मकल्याणकी साधना। क्या क्या करना आवश्यक है, जरा आवश्यक शब्द के अर्थ से ही समझ लीजिये, पढ़िये 142 वीं गाथा का एक प्रवचनांश, पृ0 253—आवश्यक शब्द का वास्तविक मम और विकृत अर्थ रूढ़ होने का कारण—ये योगीजन जिन्होंने आत्मा से योग बनाया है उन्हें कहते हैं योगी। जो भले प्रकार योगी बन है उन्हें कहते हैं योगीश्वर। जो योगी अपने आत्मग्रहण के अतिरिक्त अन्य किसी भी भावका, किसी भी पदार्थ का विषयाधिनत्व स्वीकार नहीं करता है उ एक स पुरुष को अवश कहते हैं और उस अवश परमयोगीश्वरों के जो काम हो रहा हो उस काम को आवश्यक कहते हैं। यु उस योगी का क्या काम चल रहा है एक आत्मा का दर्शन आत्मा का ज्ञान और आत्मा का ही आचरण रूप शुद्ध चिद्विलासरूप पुरुषार्थ चल रहा है यही है परमआवश्यक । आवश्यक नाम परिणतिका है अर्थात् मुझे आवश्यक काम पड़ा है, ऐसा कोई कहे यो उसका अर्थ यह लगाना कि मुझे मोक्ष के उपाय का काम पड़ा हुआ है, यह है सही सही अर्थ, जब कोई आवश्यक शब्द को विषय साधनों की ओर ही लगा दे तो इसके लिए क्या किया जाय, जैसे कुबेर शब्द बड़ा उत्तम है। जो पुरुष उदार है, दान करता रहता है, ऐसे पुरुषको लोग कुबेर की उपमा देते हैं, और कोई कजूंस धनी हो, जिसकी कजूंसी कजूंसी नगर भर को विदित है और उससे कोई कहे कि आइये कुबेर साहब तो वह सरम के मारे गड़ जायगा। और अपने को गाली मानेगा, मुझसे ये लोग मजाक करते हैं अरे शब्द तो उत्तम बोला, पर अयोग्य पुरुष के लिए बोला इसलिए वह शब्द

गाली और मजाक बन गया है, इसी प्रकार आवश्यक शब्द बड़ा उच्च है, आवश्यक कहो या मोक्षमार्ग कहो, दोनों का एक अर्थ है, लेकिन इस मोही प्राणी ने अपने खाने पीने, विषय भोगों की बातों में आवश्यक शब्द बोल दिया है और इससे यह आवश्यक शब्द मोही जगत में अपनी अन्तिम सांस ले रहा है । अब इस शब्द में जान नहीं रही ।

172 सरल दार्शनिक प्रवचन

इस पुस्तक में पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के कुछ दार्शनिक प्रवचनों का संग्रह है । जिस पुरुष ने सुदर्शन के बल से अपने आपमें आत्ममर्म का दर्शन किया है उसकी कैसी धुन अपनी ओर रहती है इसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांश, पृ० 25—जैसे किसी दुकानदारको अपने उसी काम से फुरसत नहीं है उसी दुकान पर की दृष्टि है तो दुकानदार आने वाले अन्य पुरुष यदि कोई और चर्चा करने लगें तो वह दुकानदार उनसे कह देता है कि जावो मुझे फुरसत नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानस्वभावमात्र आत्माके स्वरूपको जान लेने वाला पुरुष पूर्व में बांधे हुए कर्मों के उदय आने पर कहता है कि मुझे तुम्हारी चिन्ता नहीं, तुम जावो, मुझे समय नहीं तुम्हारी तरफ उपयोग देने को। मैं तो अपने ही ज्ञानस्वभावकी पूजामें लगा हूं। ज्ञानी जीव कर्मफल के प्रति उदसीन है। रागद्वेष सुख दुख आते हैं, परन्तु ज्ञानी जीव उनका ज्ञाता दृष्टा रहता है। वह सब जान रहा है यह भी एक परिणमन है। उपाधि उदय के निमित्त को पाकर आया है, वही उदय तो पूरे क्षण नहीं रहता सो यह अभी निकल जायगा। इससे मुझे चिन्मात्र सहज परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञान की महिमा का अन्दाज कीजिये, एक प्रवचनांशमें, पृ० 31 अहो, विश्व में यह सब कुछ उजेला ज्ञान का ही तो है। कल्पना करो कि यह चर्चकता वन चमकता सब कुछ भौतिक पदार्थ होता और एक ज्ञानवाल तत्व अथवा ज्ञान न होता तो इस सब उजेले का कुछ व्यवहार भी होता । इनका क्यों? यदि ज्ञान, अर्थात् ज्ञानी तत्व न होता तो यह चमकता वर्गणाओं को अंगीकार करता तब इन सब चमत्कार ज्ञानका ही तो है और देखो ये भीतर जो कल्पनायें चल रही हैं, रागद्वेष परिचय आदि चल रहे हैं वे सब कुछ भी इस ज्ञानके सहारे ही तो हैं। दुनिया में जो कुछ भी व्यवहार चल रहा है वह सब कुछ ज्ञान का ही तो कोई प्रसाद है।

ज्ञानदेवता का जयवाद ध्यान में लाइये एक प्रवचनांशमें, पृ० 35—अहो ज्ञानदेवने, तुम्हारा ही आलम्बन सत्यशरण है। तुम्हारा ही दर्शन सत्य आनन्दका स्रोत है। तुम्हारी ही उन्मुखता होना सम्यक्त्व का उपाय व सम्यक्त्व का फल है। शिवपद तुम्हारे ही प्रसाद के अनन्तर निकट होता जाता है,

निवाण प्राप्त कर लिया जाता है। हे ज्ञानदेवते, तुम सदा मेरे उपयोग आसन में विराजे रहो। आनन्द का अविनाभाव ज्ञानके साथ है। शुद्ध ज्ञान के क्षण में शुद्ध आनन्द वर्तता ही है। अतः आनन्द लाभ की दृष्टि से भी ज्ञानकी सर्वोपरि महिमा है। ज्ञानमय इस आत्मा का ज्ञानस्वरूप ही सवस्व है। इस मेरे का ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। भेदविवक्षावश कहे जाने वाले अस्तित्त्वादि सामान्यगुण व चारित्रादि विशेष गुण हैं वे ज्ञानकी ही विशेषतायें हैं अथवा ज्ञानस्वभावका वर्णन विवृत करने के लिए विशेषण स्वरूप है। ऐसे इस ज्ञानस्वभाव की महिमा जानने वाले ज्ञानपरिणमन की भी अनुपम महिमा है। हे ज्ञानानन्दमय आत्मन् तुम सदा ज्ञानपथगामी होओ। मेरा ही ध्यान बना र नाही सत्य बरणकी स्थिति है। शुद्ध ज्ञानस्वरूपका ज्ञान होना ही शुद्ध वीतरागता का स्वरूप ही है। यही वीतराग विज्ञान आनन्द का हेतु नहीं। शुद्ध ज्ञान के ज्ञान में वीतरागता का स्वरूप ही है। यही वीतराग विज्ञान आनन्द का स्थान है। हे ज्ञानदेवते, सदा इस उपयोग में विराजमान होकर इस अपने आधारभूत आत्मा की रक्षा करो।

वस्तुनिर्णय में स्याद्वा, का सच्चा सहारा है, परखिये एक प्रवचनांशमें, पृ० 37—अनेक धर्मात्मक वस्तु को जानने की पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं। स्याद्वाद का दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है। वस्तु में अमुक धर्मकिस अपेक्षा से हैं इस प्रकार अपेक्षा को बताना सोस्याद्वाद है। जैसे आत्मा ज्ञानशक्ति की अपेक्षा से ज्ञानस्वरूप श्रद्धाशक्ति की अपेक्षा से श्रद्धास्वरूप है, चारित्रशक्ति की अपेक्षा से चारित्रस्वरूप है, आनन्दशक्ति की अपेक्षा से आनन्द स्वरूप है। अपने स्वरूपकी अपेक्षा से सत् हैं, परके स्वरूपकी अपेक्षा से असत् है आदि। स्याद्वाद संशय उत्पन्न नहीं करता, किन्तु निश्चय करता है कि अमुक की अपेक्षा से ऐसा ही है। स्याद्वाद बिना न तो कुछ निर्णय हो सकता है, न कोइ व्यवहार ही चल सकता है। अमुक का पुत्र है, अमुक का पिता है इत्यादि व्यवहार चलते हैं जिस स्याद्वाद द्वारा उस स्याद्वाद द्वारा ही वस्तुओं का निर्णय होता है। स्याद्वाद के आश्रय से ही हम वस्तु का सम्यक् निर्णय करते हैं और सम्यक् निर्णय से ज्ञानी भेदभाव नष्ट करके शाश्वत आनन्द उपाय कर लेते हैं।

173 आत्मानुशासन प्रवचन प्रथम भाग

परम पूज्य श्री गुणभद्राचार्य द्वारा प्रणीत आत्मानुशासन ग्रन्थ पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने प्रवचन किये हैं। इसमें आत्मा पर अनुशासन किया है जिस प्रकार के ज्ञान और आचरण से संसार संकटों से सर्वथा छुटकारा होता है उस प्रकार से आत्माको सम्बोधित व अनुशासित किया है। विषयरुचि के पुरुषो का आत्मानुशासन मधुर नहीं जचता, सो

उनका भय किस प्रकार मिटाकर उन्हें हित प्राप्त कराया जायगा, इसे देखिये छन्द 3 के प्रवचनांशमें—पृ0 7 अभीष्टता के प्रति भयनिवारण—यद्यपिइ स उपदेशमें कदापित ऐसा भी मालूम पड़ा कि यह वर्तमान में ऐसा कटुलग रहा है, लेकिन इसका भय न करना, क्योंकि इसका फल भी पा लेता है, क्योंकि उस औषधिका परिणाम मधुर निकलेगा। इसी प्रकार इस उपदेशमें कफछ कटुता भी मालूम पड़े लेकिन इसका विपाक बड़ा मधुर है। उससे तू रंच भी भय मत करो। जो मतुर रोगी होता है वह कड़वी औषधिको—आगे आराम होगा, ऐसे भावके वश ग्रहण कर लेता है, डरता नहीं है। ऐसे ही तू स्याना बना और इस शास्त्र में कोई उपदेश असुहावना भी लगे तो भी उससे सुख होगा, आनन्द दशा होगी, ऐसा जानकर रंच भी मत डर।

उपदेशका लाभ ले सकने वाले श्रोता की एक विशेषता का परिचय कीजिये श्लोक 7 के एक प्रवचनांशमें—पृ0 33—34 हितचिन्तना—श्रोताकी विशेषता बतायी जा रही है, श्रोता का यह चिन्तन हो, ध्यान हो कि मेरा हितरूप कर्तव्य क्या है, मेरी कुशलता किसमें है—ऐसे जो अपने विचार रखते हों वे सब श्रोता उपदेश से लाभ ले सकते हैं। कोई इस दृष्टि से शास्त्र सुने कि देखें तो सही कि यह वक्ता क्या बोलता है, किस ढंग का इसमें ज्ञान है जैसे कोई चक्षुरन्द्रियकी तफरी करना हो, कर्णेन्द्रिय की तफरी करता हो, इतना ही मात्र लक्ष्य हो तो भला उस उपदेश से लाभ तो नहीं मिल सकता है, अथवा जिसका यही परिणाम हो कि देखो कोई गल्ती यह बोल जायें, बस हम इनकी गलत पकड़ करके रोक देंगे और इन के मुकाबले में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ायेंगे, ऐसा परिणाम रखकर जो प्रवचनशास्त्रको सुनने वाला है वह उपदेश का लाभ तो नहीं ले सकता है।

पुनश्च पृ0 35—हिताहित विचारता—भैया, इतना कष्ट करके तो श्रोता घर छोड़कर आया है, आध पौन घन्टे का समय इसने लगाया है, आखिर कुछ श्रम तो किय है, कुछ त्याग तो किया है, यह त्याग और श्रम उसका सफल होगा जो अपने हितका वान्छा रखकर श्रम करता हो। एक हित भावना से दूरह होकर कुछ भी विचार चित में लेकर यह उद्यम करे तो दोनों ओर से गया। घर भी छोड़ा, श्रम भी किया, विकल्प भी बनाया, पापों का बन्ध भी किया, ऐसे श्रोतान कुछ भी तो कित की बात नहीं पायी। जो श्रोता अपने हित और अहित का विचार रखता हो वह हिताभिलाषी श्रोता है।

धर्म की पहिचान की संक्षिप्त ज्ञांकी देखिये— श्लोक 8 के एक प्रवचनांशमें —पृ0 63 ज्ञातृत्व सम्पदा जो जैसा है उसे उस ही रूपसे जानते जाइये, चाहें कुछ नहीं अपने लिए। अरे यथार्थ जानन से बढ़कर और वैभव ही क्या है? क्यों हम कुछ चाहें। जो जैसा है वैसा ज्ञान में आना रहे इससे

बढ़कर और क्या सम्पदा है? जब किसी प्रकार की चाह नहीं रही तो वहां आकुलताका फिर कार ही क्या है? सब धर्मों में एक मात्र धर्म यह ही है कि निज ज्ञानानन्द स्वरूपमें अपनी प्रतीति और अपना आचरण ही अर्थात् मात्र समस्त वस्तुओं के ज्ञाता दृष्टा रहने के लिए हमारा जो भी यत्न होता। वह सब धर्म कहा जाता है।

उपदेशका मूल स्रोत प्रभु हैं, वे वीतराग है फिर उपदेश कैसे बन जाता है उसका संक्षेप में समाधान पाइये, श्लोक 9 के श्लोक 9 के एक प्रवचनांशमें, पृ0 65—उपदेश का मूल स्रोत इन सकल परमात्मा ने चूकिं श्रमण अवस्थामें अथवा इससे पहिले लोगों के उपकार की भावना की थी, इस कारण इनके इस प्रकार की प्रवृत्ति का बन्ध हुआ कि सकल परमात्मा प्रभु हो जाने पर भी वचन के योगवश उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। देखलो भैया, कर्मों का फल भी किस किस रूप में प्रकट होता है। भव्य जीवों के तो पुण्य का उदय है। और प्रभु में पुण्य प्रकृति के उदयवश जो वचनयोग चल रहा है ध्वनि हो रही है इसे कहते हैं श्रुत।

भोग संकटविपाकी दवा है, संकटनाशक औषधि नहीं है, पढ़िये श्लोक 10 वें के एक प्रवचनांशमें पृ0 65—संकटविपाकी दवा—यह इच्छा मिटती है तो मनुष्यको चैन मिलता है। जब तक इच्छा रहती है तब तक चैन नहीं है। जैसे औषधि ओर दवाई ये दो चीजें होती हैं। दवा तो नाम है जो रोग को दवा है जड़ से रोग न मिटे उसका नाम दवा है। कहीं ऐसा न हो कि योग्य चिकित्सक को पता पड़ जाय, सो रोगी को ऐसी दवा पिला दो जिससे रोग अच्छी तरह से इसके अन्दर बना रहे। रोग बना रहे, नष्ट न हो यह है दवा का काम। जब कि औषधि का काम है कि उस रोग को मूल से नष्ट कर दे। रहे नहीं। ऐसे ही इच्छा का विषयभोग कर इस इच्छा को दवा दिया जाय तो थोड़ी देर चूकिं इच्छा का व्यक्तरूप सामने नहीं है इसलिए कुछ सुख मालूम होता है लेकिन भोग भोगना उस इच्छा रोग को नष्ट करने की औषधि नहीं है, किन्तु इच्छा रोग को दवा देने की एक दवा है।

जरा कर लो अपनी परख, श्लोक 16 वें का एक प्रवचनांश, पृ0 अपनी परख देख लीजिये —यदि कषायों में, विषयों में फर्क आया हो तब तो समझो कि हमने पद्धति से धर्मपालन किया है, नहीं आता है फर्क तो खोज करना चाहिए कि कौन सी त्रुटी इसमें रह गई है—जिस एक त्रुटि के बिना सारा यंत्र चला देने पर भी गाड़ी नहीं चलती है। वह कौन सी त्रुटि है? वह त्रुटि है मोह नहीं मिटा है। अपने आप को सबसे न्यारा ज्ञानमात्र नहीं जान पाया। यह मूर्ति शरीर, ये मूर्त कल्पनायें ये रागादिक विभाव, इन्हीं रूप को अपने को माना और इसी मिथ्यात्वकी प्रेरणा से हमने धर्म की साधन की।

धर्मप्रीति की प्रेरणा से नहीं की, किन्तु मान पोषण के लिए आना विकल्प कल्पना में जो कुछ भी अपनी ख्याति के साधनभूत समझा उसके लिए उसने धर्मसाधन किया है और यही कारण है कि अनेक वर्ष गुजर जाने पर भी कषायों में अन्तर आ पाता है।

मोह में माया की चाह, जरा इसका नाटक देखिये श्लोक-17 के एक प्रवचनांशमें, पृ0 102 मोह में माया की मायामय चाह –अनन्त सामर्थ्यवान यह आत्मा है, जिसका ज्ञान विकसित हो तो त्रिलोक त्रिकाल को एक साथ जाने, जिसका आनन्द विकसित हो तो उसमें वेदना की रच भी तरंग नहीं उठती। पूर्ण निराकुल स्थिति उसके रह सकती है किन्तु एक अपने आपकी खबर रखकर बाह्य पदार्थों को बड़ा महत्व देकर वह अपनी सुध बुध सब खो चुका है। यह मायामय-अपवित्र धिनावने शरीर की निरख निरखकर अपना ज्ञान बढ़ाना चाहता है। मेरी इन सब में एक विशेष ज्ञान रहे। अरे तेरी शान नहीं रह सकती। तू यहां ज्ञान चाहता है तो वह सौलह आने निश्चित है कि तेरी शान रह नहीं सकती। तू बनायेगा शान तो काटकी दीवार पर खड़ी हुई यह शान की छत कितने दिन टिकेगी। प्रकृति में अन्याय नहीं है। जहां जैसी जो कुछ विधि बनती है उस विधि के अनुसार वे सब बातें होती हैं। तू अपनी कल्पनाओं में भले ही कुछ मान ले, पर न्याय तो न्याय ही है।

लोकजनो को सुखबीजके रक्षण का संदेश, पढ़िये 21 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, पृ0 123 दृष्टान्तपूर्वक सुखबीजरक्षणका समर्थन-चतुर किसान तो विचार करता है कि जो अन्न खेत से उत्पन्न होता है वह बीज से उत्पन्न होता है। कुछ भी इस उत्पन्न अनाज में से बीज रख लेंगे तो आगे भी अन्न की प्राप्ति होगी। यों विचार क रवह चतुर किसान बीज को रखकर अन्न को भोगता है। थोड़ा कभी कम खाकर भी गुजारा करना पड़े तो भी उसे इष्ट है, मगर बीज रखना कभी नहीं भूलता। ऐसे ही ये जितने भी सुख हैं ये सब धर्म के प्रसाद से मिले हैं। धर्म न होता तो इन्द्रियविषयों का अच्छा साधन न मिलता। उसकी प्राप्ति न होती। हे कल्याणार्थी भव्य पुरुष तू सयाना बन। ये समागम जो विनश्वर हैं। तू इन में प्रीति मोह करके मूढ़ तम बन। जो कुछ भी मिला है वैभव तुझे, धर्म के प्रसाद से पुण्य के अनुकूल मिला है, उस धर्म को नहीं निहारता है। सुख मूल धर्म की रक्षा कर। वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल और उदयवश जो कुछ भोगना है सो भोग लौ, किन्तु धर्मकी न बिसारो। अब भी धर्म रखगें, साधगे तो आगामी काल में भी सुख की प्राप्ति होगी। इस कारण धर्म की रक्षा करते हुए सुख भोगना चाहिए।

इस पुस्तक में आत्मानुशासनके 31 वें छन्द से 55 वें छन्द तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। इसमें आत्मा पर अनुशासन किया है आत्महित के लिए। देखिये—34 वें श्लोक के एक प्रबंध महाराज के प्रवचन हैं। इसमें आत्मा पर अनुशासन किया है आत्महित के लिए प्रवचनांशमें, कितने संक्षिप्त शब्दां में धार्मिक जीवन बिताने की शिक्षा दी गई है। पृ0 17 धार्मिक जीवन की सिद्धिसाधकता—धर्म की प्रीति ही हम लोगों को शान्ति में पहुंचाने में समर्थ है। अन्य पदार्थों की प्रीति तो धोखा, छल, विकार सभी अवगुणा से भरी हुई है। अन्यत्र आस्था न करें, अपने आपको धर्मपालन में लगावें। परित्रभाव बने, पुण्य कार्य हो, धर्म की दृष्टि जगे—ऐसे पवित्र भावों सहित यदि यह जीवन बीत जाय तो यह बड़े सुभवितव्यताकी बात होगी। इस जीवन को धर्मपालन के लिए ही मानें, धनसंचय भोग भोगना आदिक सांसारिक सहूलियतों के लिए अपना जीवन न समझें। विषयों में जो अन्धा है वही वास्तव में अन्धा है, उसे प्रभुदर्शन कैसे हो सकते हैं, देखिये श्लोक 35 वें के एक प्रवचनांशमें, पृ0 23 विषयान्धमें प्रभुदर्शन की अपात्रता—विषयों में सुख क्या है? कुछ नहीं। केवल कल्पनामात्र है, और कष्ट कितना भोगता है यह काम पुरुष? रात दिन चिन्ता, वेदना, शका बनी रहती है। और की बात तो जाने दो, शस्त्रों से हथियारों से मृत्यु भी हो जाती है, यह विषयान्ध पुरुष कुछ भी हित अहित को नहीं देखता है। यदि किसी मानव में विषयों का अधपन न रहे, आत्मबल प्रखर रहे और हित अहित के विवके में सावधान रहे तो उसे प्रभु के दर्शन सुगमता से हो सकते हैं, पर जो विषयरत पुरुष है वह प्रभुदर्शन का पात्र नहीं है। उसे शान्ति और सन्तोष भी हो नहीं सकता है। यह विषयों का अन्धा ही वास्तविक अन्धा है।

मोह के नशे में प्राणी बाधा को साता मानते हैं, उनका सम्बोधन पढ़िये श्लोक 38 वें के एक प्रवचनांशमें, पृ0 44 बाधाको साता मानने का मोह—बाह्य पदार्थों में दृष्टि रखने से आनन्द में कमी हुई है, पर ये मोही जीव आनन्द को कमी होने वाली परिस्थिति को ही सुख समझकर और जिन बाह्य पदार्थों के आश्रयसे उनके आनन्द में कमी हुई है उनका उपयोग बनाकर कल्पनामें सुखी होते हैं, उन्हीं के गुण गाते रहते हैं, अपने गुणों की सुध नहीं रखते। मायामयी स्कंधों के ही गुण गाते हैं। कैसा सुन्दर मकान है मेरा, कितनी अच्छी डिजाइन का बनवाया है। अरे ये बाहरी चीजें हैं इनको तू अपना बतलाना चाह रहा है। अरे तू अपने आपका श्रेष्ठ उत्तम बना। जैसे तेरा आशय निराला बने वैसा आशय कर। धम्र के प्रसाद से आत्मा का उद्धार भी होता है ओर संसार के सुख भी सामने आते हैं, इनमें दुतर्फा लाभ है, हानि की तो कोई बात ही नहीं। उस धर्म से इतने बाहर क्यों भागे जा रहे हैं? धर्म का आश्रव कर।

शान्ति अशान्ति सब अपने विचारों पर निर्भर है, मनन कीजिये श्लोक 39 वें का एक प्रवचनांशमें, पृ0 52 परिणमन विधि में भाव की प्रधानता देखों भैया, केवल भावों भर की बात है। चीजें सब जहां की तहां हैं। कहीं पर वस्तु को अपना सोच लेने से अपना हो नहीं जाती। स्वरूप सब का जुदा जुदा है। हां जैसा है तैसा समझ लेवे तो उसमें शान्ति है। हम अपना ही ज्ञान और आनन्द भोगते हैं। पर भ्रम कर लिया जाय कि दूसरे का आनन्द भोगता हूं तो उसे जीवन भर पिसना ही पड़ेगा। क्योंकि परिणम रहे हैं। हमारा किसी पर स्वामित्व नहीं है। हम किसी के स्वामी बनें तो उसमें आकुलता ही भोगनी पड़ती है। जब भावों से ही सब कुछ है तो अपने भाव निर्मल क्यों न बना लिये जायें।

प्रभु मिलन की धुन हो तो प्रभु मिलन हो जायगा, युक्ति बनाइये, पढ़िये 42 वें छन्द का एक प्रवचनांशमें—ज्ञानबल और प्रभुमिलन—भैया, मिल लीजिये जिससे मिलना हो। प्रभु से मिलना हो तो प्रभु से ही मिलने की धुन बनाओ और बाह्य पदार्थों से ही मिलना है, स्त्री पुत्रादिक से ही मिलना है तो उनसे ही मिलने की धुन बनाओ, दोनों बातें एक साथ न निभ सकेंगी, कारण यह है कि प्रभु तो वीतराग निष्कलंक है और परिजन, मित्रजन संराग और सकलंक है। एक ही उपयोग में निष्कलंक और संकलंक दोनों का विराजना हो जाय, यह हो नहीं सकता है। विवके बनाये तो ज्ञानी गृहस्थ पुरुष भी समस्त कार्यो को करते हुए भी उपयोग में प्रभुस्वरूपको बसाये रह सकते हैं। ऐसी सामर्थ्य तत्त्वज्ञान में बनी हुई हैं। एक तत्त्वज्ञान ही शरण है। तत्त्वज्ञानको छोड़कर बाह्य पदार्थों से आनन्द की आशा रखनी विष खाकर जीने की आशा रखने की तरह है। कदाचित विष खाकर भी कोई जीवित रह जाय यह सम्भव है, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि पर पदार्थ में मोह करके शान्ति पा सकें।

स्वात्मप्रवेश का यत्न देखिये छन्द 48 वें के एक प्रवचनांशमें, —पृ0 98—स्वात्मप्रवेशका यत्न—मैं वह सत् हूं जैसा कि सब मे बना हुआ है। मैं सबसे विलक्षण नहीं हूं। जो सब हैं सो मैं हूं। जो मैं हूं सो सब है, ऐसे निविशेष चतन्य चमत्कारमात्र जीव के स्वरूपमें अपने उपयोग का प्रवेश कराये और परवस्तु के मोह से दूर रहें, विश्राम लें, आत्मा के अनुभव का सन्तोष पायें, इसी में वास्तविक बड़प्पन है। यह काम केवल विचार करने से हो जाता है। इसमें किसी दूसरे को रूकावट भी नहीं है। दूसरे पुरुष तो जान भी नहीं सकते कि मैं क्या कर रहा हूं। अन्दर में तो ज्ञानबलसे अपने आपके प्रकाशमें रह रहा हूं, इसे कोई रोक नहीं सकता। इसमें कोई विघ्न डाल नहीं सकता। हम ही भ्रम करें, कल्पना बनाये तो हम ही अपने विघ्न करने वाले होते हैं। सारभूत बात इतनी है कि हम आप सब को अन्त में इस निर्णय में आना

चाहिए कि मैं तो ज्ञान और आनन्द भाव से रचा हुआ सत् हूँ। ज्ञानमय हूँ, आनन्दमय हूँ।

इस जीवनका कितना महान अपमान हो रहा है, कहां कहां जन्म ले रहा, वह सब भगवान आत्माका अपमान ही तो है। इस अपमान पर मोही जीव खेद भी नहीं मानता। देखिये विडम्बना छन्द 54 वें प्रवचनांशमें—पृ0 132—मोह में यथार्थ अपमानपर खेद का अभाव—भैया, दूसरे के द्वारा कभी कोई अपमान भरी बात सुनने में आये तो वह आग बबूला हो जाता है, तो खुद नाना क्योनियों में जन्म मरण करता फिर रहा है। इतना बड़ा अपमान हो रहा है। इस अपमान को मिटाने की दृष्टि नहीं जगती, इन समस्त ससरणों का मूल कारण है। कुबुद्धि। हम अपने आपमें सन्तोष करना नहीं जानते। यह स्वयं सन्तोष करने लायक है, क्योंकि आनन्दधन है। स्वयं अपने आपमें अपने महत्वका सन्तोष नहीं जग रहा है। तब बाहरी पदार्थों में हितबुद्धि करके यह तृष्णा में बढ रहा है, पर तृष्णा से कभी भी पूरा पड़ा है क्या?

175 आत्मानुशासन प्रवचन तृतीय भाग

इस पुस्तक में आत्मानुशासन ग्रन्थ के 56 वें छन्द तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। मोहरूपी अग्नि केसी प्रबल और विलक्षण है इसका चित्रण देखिये 56 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 1—आत्महितैषी आत्माओं पर अनुशासन—इस आत्मानुशासन ग्रन्थ में शान्ति की ओर झुके आत्माओं पर अनुशासन किया गया है। जगत के जीव अशान्ति से भरपूर हो रहे हैं। यह मोह रूप अग्नि ऐसी उत्कृष्ट जाज्वल्या है कि इस मोह अग्नि को विषयों का ईन्धन मिले तो बढ़ती है और विषयों का ईन्धन न मिले तो यह बढ़ती है। इस मोह अग्नि से सब दूखी हैं। दूनियां की अग्नि को यदि ईन्धन न मिले तो जले, इस ही प्रकार यह जीव दुखी है। किन्हीं विषयों की इच्छा हो, धन वैभव के संचय की अभिलाषा हो तो इस तृष्णा में यदि वैभव मिल गया तो तृष्णा बढ़ेगी। 100 से हजार हों, लाख हों, और न मिले वैभव तो वैभव के न रहने के कारण दूखी है। अब और क्या करें। मिले तो दुख न मिले तो दुख ।

शरीर का सम्बन्ध न रहे, केवल अकेला रह जाय तो क्लेश का अभाव है, पढ़िये 58 वें छन्द का एक प्रवचनांश, पृ0 11 केवल रहने में क्लेश का अभाव हे—हितार्थी आत्मन् इस देह को चितमें न विचारो। अपनी इन्द्रियों कोसंयत करके और विशेष करके आंखों को बन्द करके अपने आपमें कुछ भीतर निरखो जहां केवल एक कुछ उजाला सा और बाद में कुछ ज्ञान ज्योति सी अनुभव में आयगी। इतने में यह मैं हूँ, ऐसा स्वीकार करके फिर चिन्तन करिये कि यदि मैं केवल ज्ञानप्रकाशमात्र ही रहा होता और शरीर का सम्बन्ध

न होता तो मुझे कोई आकुलता ही न थी। लोग भूख के दुख के तड़फते हैं। यह भूख क्यों लगी है? शरीर का सम्बन्ध है, इसलिए लगी है। प्यास, ठन्ड गर्मी के राग आदिक सब वेदनायें क्यों होती हैं? शरीर का सम्बन्ध है इसलिए हुआ करती हैं। यहां तक कि किसी घटना के कारण अपमान सम्मान समझते हैं। अपमान समझकर दुखी होना या नामवरी की चाह का क्लेश होना आदिक सब दुख क्यों होते हैं? शरीर का सम्बन्ध है और इस शरीर को निरखकर ऐसा मान रखा है कि यह मैं हूं, इस बुद्धि से फिर दुख होने लगता है।

शरीर का जेलखाना और उसका बन्दी, देखिये 59 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 19—बन्दीगृह का बन्दी—यह शरीर रूपी जेलखाना दुष्ट कार्यरूपी बेरियों से रचा है और इसमें बन्धा हुआ जो यह जीव है इस जीवको जकड़ रखा है आयुकर्म की बेड़ी ने। यह जीव शरीर में बद्ध है, पर यह कब तक यहां बन्धा रहेगा? उसका विशेष बन्धन आयुकर्म ने किया है। जितनी आयु होगी उतने समय तक शरीर में रूका रहेगा। लोक में जेलखाना दुखका कारण है। जेलखाने की और देह की उपमा देखो। करीब करीब बराबर की मिलती है। यह जेलखाना मिट्टी पत्थर से बनाया गया है। तो यह शरीर हड्डियों से घड़ा गया है। वह जेलखाना बन्धन से भेड़ा गया है तो यहां शरीर नसों से भेड़ा गया है। जेलखाना सीमेन्ट पलस्तर आदिक जो कुछ भी हों उनसे आच्छादित है और यह शरीर चम से आच्छादित है। यह रूधिर मांस करके लीपा गया है। शरीर दुष्ट बेरियों से रचा है। वायु रूपी बेड़ी से सहित है, बन्दीगृहसे कौन बुद्धिमान प्रीति करेगा? तू मोह में पगा है। ऐसे शरीर रूप बन्दीगृह से तू प्रीति करता है, इस से प्रीति करना उचित नहीं है।

प्रभुपूजा करते हुए मैं अपनेलिए क्या शिक्षा लेना है, पढ़िये—पृ0 31—प्रभुपूजन में आत्मशिक्षण—हम भगवान की पूजा और वेदना करने रोज जाते हैं, वहां यही सबक तो सीखते हैं कि यह प्रभु तब सुखी हुए हैं जब सबसे न्यारे केवल अकेले रह गये हैं। जब तक ये भी घर में थे, रागद्वेषों में थे, तब तक इन्हें सत्यथ नहीं मिला था। संसारी जनों की भांति ये भी कष्ठ में थे। प्रभु का कष्ठ कैसे कष्ट कैसे मिटा कि उनके अनन्तज्ञान प्रकट हुआ, इसका मूल उपाय उन्होंने यह किया कि सर्वविभाव कर्मो व सर्व परपदार्थों में भिन्न केवल शुद्ध ज्योतिमात्र अपने को देखा। जिस उपाय से चलकर ये प्रभु हुए हैं वही उपाय हम आप को भी करना चाहिए।

देखिये मोही प्राणी आत्मदेवपर क्या अन्याय कर रहे हैं, 62 वें छन्दका एक प्रवचनांश पृ0—25 आत्मदेवपर अन्याय—अहो, कितना अनर्थ किया जा रहा है मोह में अपने आपपर? यह मैं हूं प्रभु के स्वरूपके समान ज्ञानानन्दस्वरूप बाला और जिस प्रकार प्रभु ज्ञान से समस्त लोकालोकको और

जानते हैं आनन्द शुद्ध विकास से शाश्वत आनन्दमग्न रहते हैं, ऐसे ही सबको जानने का और परिपूर्ण आनन्द पाने का हमारा स्वरूप है, लेकिन इस ओर दृष्टि कहां है? इसका तो यह बाहर स्थित मलिन मनुष्य का समूह ही देवता बन रहा है। लोग कहते हैं कि भगवानको प्रसन्न करना यही धर्म है, बजाय इसके यह मोही मानव समाज को प्रसन्न करने में जुटा हुआ है। इसकी दृष्टि में महान कहलाऊं, इस प्रकार अपनी महत्ता स्थापित करने के लिए यह धन जोड़ा जा रहा है। अरे यह जीवन धन संचय के लिए नहीं, किन्तु धर्म पालन के लिए है। जो चीज अनादिकाल से अभी तक नहीं प्राप्त हुई ऐसे अपूर्व तत्वको पाने के लिए अपना जीवन लगाओ। इसके अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए अपनी जिन्दगी न समझें।

अमीर और गरीब को पहचान लीजिये, 63 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 41—अमीर और गरीब—यहां तो अमीर वह है जो अपने को अकिंचन मान रहा है अन्तरंगमें, मेरे जगत में कहीं कुछ नहीं है। मेरा तो मात्र मैं ही स्वयं हूं। ऐसा जो मानता है वह है अमीर। और जो किसी परवस्तु के कारण अपने आपको विशिष्ट मानता है—मेरे इतना वैभव है, मेरे इतना परिवार है, जो परवस्तु के सम्पर्क से अपने को बड़ा मानता है वह है गरीब, क्योंकि परवस्तु में अहंकार बुद्धि होने से नियम से उसे कष्ट होना और जो परवस्तु से विविक्त अपने आपके स्वरूपको निरखते हैं, उन्हें किसी भी स्थिति में कष्ट नहीं हो सकता है।

आत्म ज्ञान के बिना व्यवहारधर्म भी कितने ही करने जायें, वहां भी पराधीनता का अनुभव है, अतः आत्मज्ञानके लिए यत्न करिये, पढ़िये 66 वें छन्द का एक प्रवचनांश पृ0 61 आत्मज्ञान बिना व्यवहारधर्म में भी पराधीनता—जो पुरुष धर्म की भी धुन रखते हैं, वहां भी परखिये अनेक प्रकार की पराधीनतायें हैं। उन आधीनताओं में कभी कभी मन व्यग्र हो जाता है। जैसे कोई पर्व के दिन आते हैं दशलक्षणी आदि के तो पूजा करने को बड़ा तांता और विस्तार लग जाता है। अभी तुमने यह नहीं किया, यह यहां खड़े होंगे, तुम यहां क्यों खड़े हो, अभी तक पुजारी नहीं आया, अभी द्रव्य नहीं धोये, अभी प्रच्छाल नहीं हुआ। कितनी ही प्रकार की आधीनतायें आती हैं। यह जीव इन आधीनताओं से कषाय करता रहता है। अरे उन सब प्रसंगों में करने का काम तो इतना ही था कि कषायरहित ज्ञानस्वरूप अपने आत्माका अनुभव करना। उन सब धर्मों में, उन सब परिश्रमों में मूलभूत प्रयोजन इतना मात्र है कि मैं अपने को निष्कषाय ज्ञानम अनुभव करलूं। जो इतने तप व्रत आदिक किये जाते हैं वहां भी ऐसा घटा लेना कि कल्पना से माना हुआ धर्मप्रसंग का भी व्यवहार सुख पराधीन है। और, एक निज शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टि कर के

पाया जाने वाला यह आनन्द स्वाधीन है। ऐसे रहते हुए यदि कोई कष्ट आये तो वह कष्ट भी भला है।

स्वाद अनुभवदृष्टिका अनुसार है, इसका चित्रण 66 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, देखिये—पृ0 64 दृष्टि के अनुसार स्वाद—बादशाहने बीरबल से कहा भरी सभा में कि बीरबल, मुझे आज ऐसा स्वप्न आया कि हम तुम दोनों घूमन जा रहे थे, तो रास्ते में दो गड्ढे मिले—एवं था शक्कर का गड्ढा और एक था गोबर का। तो हम तो गिर गये शक्कर के गड्ढे में और तुम गिर गये शक्कर के गड्ढे में और हम गिर गये गोबर विष्टाके गड्ढे में, पर इससे आगे थोड़ा और देखा कि हम आपको चाट रहे थे और आप हमको चाट रहे थे। अब बताओ बीरबल ने क्या चाटा? शक्कर, और बादशाह ने क्या चाटा? गोबर चिष्टा। ऐसे ही गृहस्थ आज फंसा हुआ है, लेकिन यदि उसकी दृष्टि साधुता की ओर है, मोक्षमार्ग के लिए है, अपने आपको आकिन्वयस्वरूपकी समृद्धि की ओर है तो स्वाद तो उसे अनाकुलताका ही आ रहा है।

अज्ञान का हठ बेइलाज है, पढ़िये 81 वें छन्द का एक प्रवचनांश—पृ0 141 बेइलाज अज्ञानहट —अज्ञानी जन कल्पना में ऐसी हठ को निभादेना बहुत कठिन लगता है। बतलाओ कोई बच्चा कहे कि हमें हाथी ला दो। सामने हाथी खड़ा कर दिया गया, फिर कहा कि मुझे हाथी खरीद दो। लो उसके बाड़े में हाथी खड़ा कर दिया गया, फिर कहा कि इस हाथी को मेरी जेब में धर दो। अब बतलाओ इस हठ का क्या इलाज किया जाय? ऐसे ही हम आप अज्ञानी जन हठ किया करते हैं कि हमारा ऐसा हो जाय, विवाह हो जाय, बच्चे हो जायें, ठीक है। कोई मेरे नहीं, सदा संग में रहें। अरे इन सब हठीं हो जाय, विवाह हो जाय, बच्चे हो जायें, ठीक है। कोई केरे हठो का कौन पूरा करे? मरण तो अवश्य होगा। ये सर्व समागम तो मेरे रूलाने के ही कारण है। इस बात को अपने हृदय में लिखकर रखलो केवल एक स्वतंत्र अपने शुद्ध स्वरूपका उपयोग में समागम हो जाय वह तो सारभूत बात है, बाकी तो सारा समागम रूलाने के लिए है। इष्ट समागम अधिक रूलयेगा, खोटा समागम कम रूलयेगा। अच्छा समागम मिला तो पागल बनना पड़ेगा, बुरा समागम मिला तो कुछ भगवान की याद भी रखता रहेगा। दुखी होगा तो वह भगवानकी याद भी रक्खेगा। अच्छे समागम में भगवान को याद रखना भी कठिन है। बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाता है, पागलपन छा जाता है।

176 आत्मानुशासन प्रवचन चतुर्थ भाग

इस पुस्तक में आत्मानुशासन ग्रन्थ के 82 वें छन्द से 119 वें छन्द तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। 82 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें देखिये यह जीव कैसा गोल भटक रहा है पृ0 2

गोल-गोल भटकना-अहो, इस मोही जीव की रात दिन का कैसी चर्या है। घूमघामकर वहीं जैसे कोल्हू का बैल उसी स्थान पर आ जाता है। जहां से गया वहीं आया। ऐसे ही अज्ञान की पट्टी आंखों में बन्धी है, इसे शुद्ध मार्ग नजर में नहीं आ रहा है, गोलगोल अपने को घुमाया है, इस गति से गया उपसंगति में आया, उससे गया, उसमें आया। यह गोल गोल चक्कर चल रहा है, पुरि उसके बाद तिर्यन्व का गोल है, और ऐसे इस असमानजातीय द्रव्यपर्याय मिला तो मनुष्यका जीवन जितने समय का है उसमें भी यह गाल गोल घूम रहा है। और, तो जाने दो, चौबीस घन्टे का भी बड़ा गोल है। इसी समय आप कल शास्त्र मुनने आये थे, इसी समय पर आप कल शास्त्र सुनने आयेंगे। आज जो दाल, रोटी, चावल खाया था वही कल भी खाया था, वही कल भी खायेंगे, उसी समय पर दुकान जायेंगे, उन ही कार्मा को उस ही समय पर आज भी करेंगे, जो कल किए थे। तो जब तक जिन्दा है तब तक वही वही चक्कर लगाता रहता है। कोल्हू के बैल की नाई यह गोल गोल चक्कर लगा रहा है। पर जैसे पट्टी बांधे हुए बैल की कुछ भी भान नहीं हो पाता कि मैं गोल गोल चक्कर लगा रहा हूं, वह तो यही भ्रम किये हुए हैं कि मैं सीधा ही सीधा चल रहा हूं, ऐसे ही इस अज्ञानी जीव को यह भान नहीं हो पाता है कि मैं गोल गोल चक्कर काट रहा है। वह तो जानता है कि मैं रोज रोज नया नया, उन्नति को बढ़वारीका, सुख का काम कर रहा हूं।

देखिये एक विचित्र पागलपन का 85 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें चित्रण— पृ0 18 खुद को जलाने की उन्मत्ता—जैसे कोई बावला थोड़ी अग्नि से जल रहा है और उसमें ईन्धन उजलकर अग्नि को बढ़ाये और बहुत जलने लगे तिस पर भी अपने को शीतल मान तो उसे आप कितना बावला कहेंगे? सो होती है बच्चों को ऐसी आदत कि वे आगको छूते हैं, मुट्ठी में आग को पकड़ लेते हैं और जल जाते हैं। नादान बच्चा जलती हुई अग्नि को पकड़ लेता है, उससे भी बढ़कर है पागल पुरुष। कोई अग्नि से जल रहा है। और उसी में ही ईन्धन डाल दे, आग ज्यादा जलने लगे तिस पर भी वह अपने को शीतल हुआ मानता है, ऐसे ही यह भ्रान्त आत्मा थोड़ी आशा की अग्नि से जल रहा है। उस में धन वैभव का ईन्धन डाल कर आशा की अग्नि को बढ़ाकर और ज्यादा जलने लगा। आश्चर्य की बात तो यह है कि उस ज्यादा जलती हुई स्थिति में अपने को वह सुखी मान रहा है। परमार्थ से वह सुखी नहीं है।

विषयलाज का समाचार पढ़िये 90 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—पृ0 36 विषयखाज—जैसे जिसको खाज हुई है, दाद हुई है, खुजाते समय तो उसे आगे पीछे का भी ध्यान नहीं रहता, वह उसमें बड़ा चैन मानता है। जिनके दाद खाज होती है उनके गले में खूब बात उतर रही होगी। जैसे योगी लोग

आत्मध्यान करके खूब प्रसन्न होते हैं ऐसे ही ददेला भी खुजलाते समय सब दुनियां को भूल जाता है। उस रोग को मिटाने की फिकर पड़ती है, ऐसे ही पचेन्द्रिय के विषय और मनका विषय यह खाज है। इस खाजको खुजाते समय आगे पीछे का कोई ध्यान नहीं रहता। उस समय तो यहां सब कुछ सार नजर आता है। जब समय मरने का आता है तब मालूम होता है क हमारा अतीत बिगाड़ का समय कितना खींटा गुजरा। यों ही बनी बात का मूल्य बिगड़े समय से पूछो। पछतावा होता है कि जीवन यों न व्यतीत होता तो अच्छा था।

स्वनिधिका परिचय जिसे नहीं वह तो दरिद्र ही है, पढ़िये 97 वें छन्द का एक प्रवचनांश पृ० 71 स्वनिधिके अपरिचयकी दरिद्रता—अपने ही घर में गड़ा हुआ धन यदि विदित नहीं है तो वह गरीबी ही अनुभव करेगा और कदाचित यह विदित हो जाय कि मेरे घरमें इस जगह बहुत बड़ी निधि गड़ी है तो अभी मिलने में देर है, लेकिन उस निधिका परिचय होत ही अन्तरंग में एक ठसक सी आ जाती है, एक बड़प्पन सा अनुभव होने लगता है। जब तक इस जीवको अपने आपमें बसी हुई ज्ञान और आनन्द की निधिका परिचय नहीं होता है तब तक यह गरीब है। यह बाह्य पदार्थों में आशा करके दुखी होता रहात है। आश्चर्य इस बात का है कि दुखी भी होते जातें और उस ही दुख को पसन्द भी करते जाते है। यह सब मोह की लीला है जैसे घर में कभी बड़ी कलह हो जाय और अनेक प्रतिकूलतायें हो जाये तो यह पुरुष चाहता है, उब करके कहता है कि इस घर से तो जंगल में रहना भला है। अब इस घरमें मैं न रहूंगा, और फिर रहता वह घर में ही है। चाहे कितना ही विपदा आ जाय यह सब क्या है? एक व्यामोह है। अच्छा तो घर छोड़कर कहां जाय? कुछ शान्ति ज्ञान पर आधारित है। वह ज्ञान तो बसाया नहीं, उस वस्तु की स्वतन्त्रता का तो दृढ़ निर्णय किया नहीं ऐसे ही धर्मव्यवहार क्रियाओं का करके यह मन कहां तक स्थिर रह सकेगा, कहा जायगा? इस जीव को बड़ी विचित्र दशायेंह”।

तीन लीक का राजा बनना है तो एक यत्न देखिये 110 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—पृ० 123—त्रिलोकाधिपतित्वका यत्न—हे आत्महितार्थी पुरुष तू अपनी ऐसी ही भावना कर, मैं अकिंचन हूं, मैं अकेला हूं, मेरा कहीं कुछ नहीं है। देख यह तेरे घर का एक मन्त्र है। अपने आत्मा भगवान से मिलने का उपाय है। तू बार बार ऐसी सत्य भावना तो कर कि मैं अकिंचन हूं, अकेला हूं मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं सबसे निराला हूं। इसकी बड़े योग उपयोग से अपने आपमें खोज तो कर। स्वतः ही एक ऐसा अपूर्व आनन्द उत्पन्न होगा, आल्हाद होगा जिसके प्रताप से तू सहज आनन्द में तृप्त हो जायगा। तू धीरेसे, सुन, गम्भीरता से सुन, तुझे, तेरे खास कानमें बात कहीं जा रही है। तू

अपने आपको आकिंचन मानकर सबसे निराले रूपसे ठहर सतो जा, तू तीन लोक का अधिपति हो जायगा। इस प्रकार ज्ञान भावना के लिए आचार्य देखने हम लोगों को उपदेश दिया है। चाहे परिस्थिति कुछ हो, कर्तव्य कुछ हो, पर सच्ची श्रद्धासे दूर न भोगो, मैं निबल ही हूं, अकिंचन ही हूं, ज्ञानमात्र ही हूं, ऐसी अपनी श्रद्धा बना तो तू संकटों से यथाशीघ्र पार हो जायगा।

आनन्द का स्रोत देखिये 115 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 141—आनन्द का स्रोत—भैया, सुख कहां से आता है? ज्ञान जैसे बने तैसे सुख दुख अथवा आनन्द प्रकट होता है। यह सब अपने ज्ञान के आधीन है। कोई, इष्टवियोग रूप अपनी जानकारी बनाये, अनि संयोग में अपना उपयोग लगाये तो उसका दुखी होता प्राकृतिक है। कोईपुरुष इष्टवियोग अनिष्टसंयोग पर ध्यान न देकर पाये हुए समागमों में मौज पाने तो वह सुखी होगा। सुखी दुखी होना अपने ज्ञान के आधीन है। धन वैभव के आधीन नहीं है। कोई पुरुष धन वैभव से समाप्त होकर भी एक अपना ज्ञान कषाययुक्त बनाये, भ्रम पूर्ण बनाये, तृष्णावान बनाये तो धनी होकर भी वह दुखी है। धन को तो बड़े बड़े तीर्थकर चक्रवर्ती राजा महाराजा त्याग देते हैं। धन के त्याग करने के बाद निधन अवस्था स्वीकार करने के बाद क्या उन्हें कोई कष्ट होता है? वे तो अपने ज्ञानकी उपासना से आनन्द में सदा मग्न रहा करते हैं और इस ज्ञान को आराधना के प्रताप से उनको मोक्ष प्राप्त होता है।

कष्ट सहष्णु बने और अन्तस्तत्वकी उपासना करे, इसमें कल्याण हैं, पढ़िये 119 वें छन्द का एक प्रवचनांशमें पृ0 155—संसारण के अभाव में आत्महित समस्त संसार अवस्थाओं का अभाव करना, इसमें ही हित है। कर्मों से ही सारा संसार है। कर्मों से ही इतना बड़ा क्लेश है। इस क्लेश को दूर करने में ही अपना हित है। संसार अवस्था का अभाव तभी सम्भव है जबकि निर्विकार ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूपकी श्रद्धा बने। यहां ही रमण करने का भाव बने। इस प्रकरण से हमें यह शिक्षा लेनी है कि बाहरी बातों में जो कुछ बीतती है बीतने दो। हम कष्टसहाणु बनकर यथार्थ ज्ञानी बनकर उन सब उपद्रवों को दूर कर सकते हैं। ऐसा जानकर उन कष्टों के बचाव में, उन कष्टों के दूर करने के साधन की कल्पनामें अपना समय न व्यतीत करें, किन्तु कष्टसहष्णु बनकर उन सब उपद्रवोंपर विजय प्राप्त करें, और अन्तरंगमें ज्ञानानन्दस्वरूपम त्र आत्मतत्व की दृष्टि रखकर अपने आपमें प्रसन्नता पावें। इसी विधि से हम संसार के संकटों से छूट सकते हैं।

17 आत्मानुशासन प्रवचन पंचम भाग

इस पुस्तक में आत्मानुशासन ग्रन्थ के 120 वें छन्द से 186 वें छन्द तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। संयमी

पुरुषकी प्रकाश प्रधान होना चाहिए तभी वह प्रतापी हो सकता है, इसका संकेत पढ़िये 120 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 1—संयमी को प्रकाशप्रधान होने की अनिवार्य—संयमी पुरुष पहिले प्रदीप की तरह प्रकाशप्रधान हुआ करता है, पीछे ताप और प्रकाशमें सूर्य की तरह देदीप्यमान होता है। शान्ति के लिए जिसने अपना भावात्मक कदम रक्खा है, संयम तप, व्रत, आचरणों में जिसने अपनी परिणति की है वह पुरुष ज्ञानप्रधान होता है। पहिले उसे वस्तुस्वरूपका ठीक ठीक ज्ञान करके स्वयं में शुद्ध प्रकाशवाला बन जाना चाहिए, तब संयम ठीक कहलाता है। जब तक अपने लक्ष्य की पकड़ नहीं हो पाती है तब तक कुछ भी किया करे, उन क्रियाओं से उस लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।

ज्ञानदीप से कमकज्जलन वमन हो जाता है, पढ़िये 121 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 9 — कर्मकज्जल का प्रोद्धमन—यह ज्ञानी पुरुष इन रागद्वेषादिक कर्मों का वमन करता हुआ दीपक की तरह स्वपर प्रकाशक बन रहा है। जैसे वचन की हुई चीज फिर ग्रहण नहीं की जाती, किसी को कब हो कय को कौन खा लेता है? उस ओर तो कोई दृष्टि भी नहीं देता। उस कय को तो राख से ढक दिया जाजा है। जैसे वमन की हुई चीज फिर से ग्रहण नहीं की जाती ऐसे ही ज्ञान द्वारा रागद्वेष सुख आदि विभावों का वमन कर दिया, यह मेरे नहीं हैं, मेरे से भिन्न हैं, औपाधिक भाव हैं। मेरे स्वरूप नहीं हैं, ऐसा ज्ञान करके अपने स्वरूपमें से निकाल दिया, वमन कर दिया तो अब यह ज्ञानी फिर से उन रागद्वेषादिक विभावों को यह मेरा स्वरूप है, इस रूप ग्रहण नहीं करता है।

अज्ञानी राग, अहितकारी ही है अतः अज्ञानभावको छोड़ा, इसकी प्रेरणा पाइये 124 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 16—अज्ञानी के रागका पतन में सहयो—ज्ञानी का राग तो सुबह की ललाई की तरह है। जैसे सुबह सूर्योदय से आधा घटा पहिले पूर्व दिशा में जो लालिसा होती है वह उत्थान के लिए होती है, किन्तु अज्ञानी का राग है संध्या काल की ललाई की तरह। संध्याकालकी जो ललाई है उसमें कितने ऐब देती है। सूर्य के अस्त होने का नाम पाताल में भेजना बताया है। किसी पुरुष के किसी प्रकार की हानि हुई है और वह उसी बात पर अड़ जाय तो लोग कहते हैं कि भाई हम बहुत समझाते हैं नहीं समझते हो तो जावो गिरी कुवें में। उसका अर्थ यह नहीं है कि कहां पानी वाले कुवें में गिर पड़े। इसका मतलब यह है कि हानि भोगी बरबाद होओ। तो यों ही सूर्य पाताल तल का प्राप्त होता है, इसका अर्थ यह है कि सूर्य अस्त को प्राप्त होता है। उस संध्या की ललाई में इतने ऐव है कि प्रकाश को मिटाकर अन्धकार आगे ली दे ओर सूर्य को भी रसातल भेज दे। ऐसे ही अज्ञानी का राग ज्ञानको मेटता है। अज्ञानका ढाता है। वह जीवकी बरबाद कर देता है।

कल्याणार्थी जनो, आत्महित चाहो तो स्त्री स्नेहसे दूर रहो, आत्मस्नेह करो, इसकी प्रेरणा पाइये 129 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 29 साधुओं को स्त्रियों से दूर रहने की चेतावनी—साधुजनों को स्त्रियों से अति दूर रहने तक चेतावनी देते हुए आचार्य महोदय कह रहे हैं कि जैसे सुन्दर सरोवर में कोई प्यासा अपनी प्यास बुझाने जाय और तटपट पहुंचते ही उसे मगर आदिक कोई कूर जलचर जीव उसे गुप्त ले तो जैसे उसने चाहा तो था तृषा, शान्त करके विश्राम का पाना, किन्तु हो गया प्राणघात। इसी प्रकार कोई निबुद्धि पुरुष बाह्य में रमणीय स्त्री के निकट जाता है तो वेदना मिटाने, सुख पान, किन्तु वहां विषयवेदना में बिहाल होकर अपना होश खो देता है व पापग्राह से गुप्त हो जाता है। इसके परिणाम में एकेन्द्रिक आदिक पर्यायों में उत्पन्न होकर चिरकाल तक दुख सहता है।

साधुवों की सवारी, भोजन व कुटुम्ब वास्तविक परखिये 151 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—पृ0 71 साधुवों की भोजन व सवारी सवारी साधुवाकी आकाश है। किसी भी समय यह समस्या नहीं आती कि हमारे पास सवारी हो नहीं है, कैसे चल, अरे सब जगह सवारी तैयार है। कौन सी? आकाश । इसे कौन हटा लेगा? इष्ट भोजन है साधु का आन्तरिक तपश्चरण । अन्तस्तत्व करके आत्स्रुचि करके जो साधु को तपस्याका भोजन मिल रहा है उससे तो वह बड़ा तृप्त रहता है। भोजन का काम क्या है। तृप्ति कर दे। भोजन से वह तृप्ति नहीं होती जो स्थाई रह सके या स्वाधीन हो, पर अपने चैतन्यस्वभावमें अपने आपके उपयोगमें तपाने के तपश्चरणमें जो सन्तोष ओर तृप्ति होती है वह उससे कई गुणा भी क्या? अदभूत विलक्षण ही होती है। तो हे साधु तेरा भोजन है तपश्चरण। और, देव स्त्री, पुत्र आदिक कुटुम्बीजन ये सब तेरे है गुणन जो तेर में गुण है, क्षमा, सरलता, मदिकाआदिक जो मुफ्त में गुण है, ज्ञान दर्शन की शुद्ध वृत्ति ये सब तेरे स्त्री आदिक परिजन है।

सुखी होना है तब दृष्टि बदल लीजिये, कैसी? पढ़िये 162 वें छन्द का एक प्रवचनांश—पृ0 94 दृष्टि—परिवर्तन यों इस श्लोक में यह शिक्षा दी है कि दुखो से छूटना चाहते हो तो अपनी दृष्टि बदल दो। अब तक घन को ही सर्वस्व मानने का परिणाम रहा था, तो अब आकिन्चन्य पर विविक्त शुद्धस्वरूपमें तू अपना हित मान ले। अब तक प्राणों में प्रेम करके, प्राणों के धारण से अपने को सुखी मानता था तो अब इन इन्द्रिय आदिक प्राणों को अपना विघातक जानकर इन प्राणों से सदा के लिए छूट जायें ऐसी स्थिति में अपने को सुखी मान।

हम क्या किया करते हैं? ज्ञान उसका फल हम क्या चाहें, इसका निर्णय कीजिये तो सही। पढ़िये 175 वें छन्द का एक प्रवचनांश—पृ0 121 ज्ञान

का वास्तविक फल किसी भी काम करने का कुछ न कुछ फल माना जाता है। बिना फल के कोई कुछ करना ही नहीं चाहता। आखिर इसमें लाभ क्या मिलेगा, यह दृष्टि में न हो तो कौन क्या काम करता है? यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। इस का जानने का लगातार काम लगा हुआ है। किसी भी क्षण यह जानने से विराम नहीं लेता। तो यों जानते रहने में आखिर फल क्या मिलता है? आचार्य देव बोलते हैं कि ज्ञानमें तो यही प्राशंसनीय फल है, अविनश्वरफल है कि ज्ञान बने। जानने के फल में जानना रहे यही उत्तम अनिश्वर फल है। जानन फल में कुछ ज्ञान में न लावें। अन्य कुछ ज्ञानका फल चाहें तो यह सब मोह का माहात्म्य है। सीधे सादे शब्दों में यह कह लो कि जानने के फल में जानना रहे, यही उत्कृष्ट फल है।

मोह का फोड़ा मेटने का यत्न देखिये 183 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 135 मोहावरणके समाप्त करने का उपाय—अब जैसे गूमड़ा घाव बड़ा फोड़ा हो गया है तो उसे शुद्ध करने का निर्दोष अंग बना लेने का क्या उपाय है? वह फोड़ा कैसे मिटे? घाव कैसे ठीक हो? तो उस उपायमें आप दो काम ही तो करेंगे—फाड़े में जो पीप खून आदि भरे हुए हैं उन्हें निकाल दें और उस पर तेल घी आदिक का लेप कर दें, घाव की पीड़ा मिटाने के लिए दो काम किए जाते हैं—त्याग और ग्रहण कहो, जाति कहो, इसी प्रकार इस मोह का विनाश करने के लिए दो काम किए जाते हैं—त्याग और ग्रहण कहो, जाति कहो, त्याग ओर अपने स्वभावका उपयोग। निज जातिका ग्रहण। यों त्याग और ग्रहण द्वारा इस मोहका भी अभाव होता है। तो जब फोड़ा ठीक हो जाता है तो उस पर चमड़ा और रोम प्रकट होने लगते हैं। नया स्थायी चमड़ा आ जाय और उसमें से रोम प्रकट होने लगे तो समझिये अब फोड़ा बिल्कुल ठीक हो गया है और जैसी स्थिति थी शरीर की स्वभावतः वह स्थिति आ गई। इसी तरह जब मोह विनष्ट होता है तब इसमें सम्यक्त्वरूपी रोये उत्पन्न होते हैं तब समझ लीजिये कि मोह का फोड़ा ठीक हो गया समाप्त हो गया।

178 आत्मानुशासन प्रवचन षष्ठ भाग

इस पुस्तकमें आत्मानुशासन ग्रन्थ के 187 वें छन्द से 270 वें छन्द तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। शान्ति से शान्ति की संतति व अशान्ति से अशांतिकी संतति चलती है, अतः दोनों लोकों में शान्ति चाहने वाले अभी से शान्ति का यत्न करें, इसका संकेत पढ़िये—187 वें छन्द के एक प्रवचनांशू, पृ0 3 शान्ति व अशान्तिकी संतति—जिसके यहां अशान्ति है उसके अशान्ति की धारा बह जायगी, अगले लोक में भी अशान्त रहेगा, जिसके यहां शान्ति है उसकी संतति भी चलेगी, वह आग्र भी शान्त

रहेगा, विषयसुख सुख नहीं कहलाते । जहां तृष्णा है वहां क्लेश ही है। वह तो दुख ही है। दुख का फल दुख है। किन्हीं के विषयसुखों की सामग्री अधिक है, तृष्णा थोड़ी है, नहीं के बराबर है तो वह वहां सुखी रह सकता है। रंक पुरुषों के विषयसाधन कुछ भी नहीं है।, किन्तु उनके तृष्णा बनी है, उनमें चित बना तो वे दुखी रहा करते हैं। इसलिए विषयसुख नहीं है, उसकी बात यहां नहीं कहीं जा रही है। जो वास्तविक सुखी है वह भावी काल में भी सुख पायेगा और जो दुखी है वह भावी काल में भी दुख पायेगा।

दुनिया को रिझाने की मूढ़ता पढ़िये 190 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ० 10 –दुनिया को रिझाने का आशय देखो शरीर बल वाले दूसरों को अपनी बलवता जाहिर कराने के लिए पूरा बल लगाकर बल से भी अधिक काम करके दिखाना चाहते हैं। लोग जान जायें कि यह बहुत बलशाली है, ऐसा ही जिन्हें दुनियां को अपना ज्ञानीपन जाहिर करना हैं, लोगों से ज्ञानीपनकी प्रशंसा चाहते हैं तो पूरा बल लगाकर संस्कृत की प्राकृत की और और भाषाओं की झड़ी लगा देते हैं। चाहे श्रोताओं की समझमें कुछ आयें चाहे न आये यह इसलिए करते हैं कि जिससे लोग जान जायें कि यह विद्वान है, यह सब क्या है? चंदन की लकड़ी को जलाकर उसकी राख बनाकर काम में लेने की तरह है।

देह की भयानकता को वृत्त पढ़िये—19 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ० 17— देह की भयानकता –देखो भैया, उपर की थोड़ी सी चिकनाई और चाम भी कुछ सजे हुए मालूम देते हैं। तू इस चाम को नजर से ओझल करके इसके अन्दर जो कुछ है उसकी तो कल्पना कर। जैसे मरघट में मुद की खोपड़ी पड़ा रहती है शायद कभी देखा हो, यह बिजली के खम्भा में जहां पर डेन्जर अथवा सावधान लिखा रहता है वहां पर खापड़ी की फोटो टंगी रहती है, उसे देखा होगा त वह कितनी भयानक सी लगती है। हड्डी निकली, आंखों की जगह दो गड्ढे से, नाक की जगह तो बिल्कुल बेढंगा सा दीखता है। वही चीज तो इस जिन्दा हालत में है। कोई नई बात नहीं है। जो रूप, जो आकार, जो ढंग उस मुर्दे की खोपड़ी में है वही की वही चीज जिन्दा मनुष्यकी खोपड़ी में है। जिस शरीर ने तुझे कष्ट का कारण बनाया उसी शरीर से तु प्रीति करता है। अरे जिन्दा रहने के लिए कुछ खा लिया जाता है, वह उधम नहीं है पर यह अपने भीतर की ईमानदारी है, कहां से क्या होता है।।

यदि क्षोभ नहीं चाहते हो तो केवल स्वरूपदृष्टि का यमन करो, इसकी प्रेरणा लीजिये न० 204 छन्द के एक प्रवचनांशमें पृ० 31 स्वरूपकी सम्हाल में क्षोभ का अभाव—अपने लिए इतनी बात का तो यहां ही अंदाज

करलो आपकी कोई निन्दा करे गाली दे और आप कुछ अपनी ज्ञान दृष्टि के निकट बैठ रहे हों, कुछ ज्ञान की बात समायी हुई हो तो आपको खेद नहीं होता, या अधिक नहीं होता और जब अपने आपके ज्ञान से चिगकर इस मूर्त शरीर पर दृष्टि जायगी तो वहां आपको खेद होगा। बड़ी विहलता हो जायगी। साधुजन ज्ञानदृष्टिमें निरत रहा करते हैं, उन्हें उपसर्ग और रोग आदिक से किसी कारण खेद नहीं होता। जैसे नदी में कितना ही जल चढ़ जाय, पर जो मजबूत नाव पर बैठा होगा उसे रंच भी क्षोभ न होगा, अधीर न होगा, ऐसे ही जो अपने मजबूत स्वरूप दुगमें बैठा होगा उसके भी कोई क्षोभ नहीं आ सकता।

अज्ञानी तो दुखमें ही सुख मान रहा है, वास्तविक सुख का तो नाम भी नहीं मालूम है, इसका चित्रण देखिये न. 206 छन्द के एक प्रवचनांशमें पृ0 32—दुख में भी अज्ञानी की सुखमान्यता—जैसे कोई लकड़हारा सिर पर लकड़ियों का बोझ लादे चले जा रहा है। बोझ के मारे उसका सिर दर्द करने लगे तो सिर से भार उठा कर कंधे पर रख लेता है। और कंधे पर वह गटठा रख कर अपने आपको सुखी अनुभव करता है, इस ही प्रकार यह अज्ञानी जीव शरीर में रोग नष्ट होने से अपने को सुखी मानते है। पर यह नहीं देखते कि शरीर का सम्बन्ध होना, मिलना यह स्वयं एक महा रोग है। किसी भी प्रकार की कोई इन्द्रिय सम्बंधी बाधा दूर हुई तो उसमें यह जीव अपने को सुखी मानता है। पर यह वह नहीं जानता कि इस पर एक आती रहती है। वहां देखा जाय तो जैसे लकड़ी का बोझ सिर से उतार कर कंधे पर रख लेने से उसका भार दूर नहीं हुआ ऐसे ही जगत के जीवों का कोई रोग मिटे या कोई वेदना शान्त ही तो उससे वेदनाओं का भार तो नहीं हटा। वेदनाये तो अभी ज्यों का त्यों हैं, पर यह मोही जीव कभी कभी अपनी कल्पना के अनुसार कुछ वैभव पाकर अपने को सुखी मानते हैं। वस्तुतः यह सुखी नहीं हैं। सुख तो तब है जब शरीर का विभावों का, कर्मों का अभाव हो और कैवल्य अवस्था प्रकट हो तो उसमें ही शान्ति है, अन्यत्र शान्ति मानना मूढ़ता है।

भेदविज्ञानका परीक्षण कैसे होगा देखिये न0 243 छन्द के एक प्रवचनांशमें पृ0 91 कठिन परीक्षण भैया, कितनी तीव्र श्रद्धा चाहिए इस बात पर टिकने के लिए कि यह देह जुदा है और मैं जुदा हूं। कह लेना तो आसान है, और चूंकि ऐसा कहने से भला जचता है सो दिल का बहलाना भी है, किन्तु इसी प्रकार का प्रयोग बने कि देह जुदा और मैं जुदा हूं यह बात सम्यग्दृष्टि पुरुषके ही सम्भव है। सम्यग्दृष्टि कुछ जुदे लोग नहीं हैं। जैसा मेरा स्वरूप है वैसा ही उनका स्वरूप है। यह सत्य प्रकाश चाहिए। सत्व विज्ञान चाहिए, सम्यक्त्व हो जाता है।

परदोष के कहने में दोषों का पोषण होता रहता है उसमें आत्महित नहीं है, देखिये न. 249 छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 99 परदोषवाद से दोषों का पोषण—देखो तो मूढ़ता कि अपने दोषों की अवगुणों को मूल से नष्ट करने के लिए तो उद्यमी बनें। बड़ी दुर्लभ तपस्यायें धारण करते हुए अज्ञानी बनकर एक व्यर्थ का दोष ऐसा बना लिया है कि जिससे उन्हीं दोषों का पोषण हो रहा है। वे दोष क्या है? दूसरों के दोषों के बोलने में मजा लेना। आचार्य देव कौसा छांट छांटकर सफाया करने का यान कर रहे हैं। होता है ना किन्हीं बड़े बड़े तपस्वी जनों में यह महत्व से सम्बन्धित ऐब। ऐसी दुर्धर तपस्या करलें, बड़ा संयम पाल ले, निरारम्भ, निस्परिग्रह सब कुछ वृत्तियां धारण करले, लेकिन एक ठलुवा बैठे कभी भी किसी का दोष कहने में दिलचस्पी ले लें तो इतने मात्र से करी करायी वह सारी तपस्या मिटटी में मिला दी। जैसे कहते हैं ना गुड़ गोबर एक कर दिया। भैया, दुधर संयम पालन करके एक परदोषवाद की बात को किये बिना कुछ अटक थी क्या? कुछ नुकसान था क्या? जो दूसरों के दोषों की कथा न करते, एक व्यर्थ सी बात का बड़े से बड़ा झमेला खड़ा कर दिया, जिसे कहते हैं—गुणों पर पानी फेर दिया, गुणों का विकास करने के लिए कर्ममलों को नष्ट करने के लिए तपस्या किया, परदोषपवाद के ऐब से उन कर्ममलों को बहुत दृढ़ दिया ।

प्रभु का गुणार्चन व नामार्चन की विधान देखिये—264 छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ 128 गुणार्चन और नामार्चन—जैन दर्शन में किसी नाम की पूजा नहीं है, गुणों की पूजा है। भगवान का भी नाम नहीं है, पर जिस नाम द्वारा व्यवहृत देह में विराजमान आत्मा ज्ञानमय होकर केवली हो गया, व्यवहारमें वहां भगवानका नाम लेते हैं, अथवा जैसे एक ही चीज का खेल चाहे तासका ही खेल समझलो तो उसमें कठिन भी खेल होते हैं और सरल भी खेल होते हैं। कठिन पद्धति के खेल जिनसे नहीं बनते वे सरल पद्धति के खेल खेलते हैं। उल्टा डाल दिया, उलट दिया, खोल दिया, रंग मिल गया, लो जीत गये, न मिला लो हार गये। बताओ ऐसे खेल में कुछ विशेष बुद्धि भी लगती है क्या? जो कठिन खेल जानते हैं वे उस पद्धति का खेल खेलते हैं ऐसे ही ज्ञान की उपासना में जो एक अपने आत्मा में आत्मज्ञान विहार का कौतहल है उस ज्ञानविहार के कार्यक्रम में जो तत्वज्ञानी मर्मज्ञ पुरुष हैं वे स्वभावदृष्टि करके निश्चयदृष्टि करके ज्ञानके शुद्धस्वरूपको निहारकर उस ज्ञानमें रमा करते हैं पर यही ज्ञानी पुरुष इतना अधिक काम करके थक जाय तो भगवान का नाम लेकर चारित्र के गुणों को ज्ञान करके अपने ज्ञान में ज्ञानविहार को करते हैं। अथवा जो अपनी अद्भुत महिमा में प्रवेश नहीं कर पाये हैं वे पुरुष प्रभु का नाम लेकर चारित्र गाकर गुणानुवाद करके इस ज्ञान में विहार करते हैं ॥

179 समाधितन्त्र प्रवचन प्रथम भाग

इस पुस्तक में पूज्य पाद स्वामी द्वारा प्रणीत समाधितन्त्र ग्रन्थ के 27 वें श्लोक पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। इसके मंगलाचरण के एक प्रवचनांशमें मंगलाचरण के शब्दों में ज्ञान, मार्ग व भक्ति तीनों का प्रकाश बताकर बताया है कि ज्ञानदृष्टि ही सकल संकटमोचनी बूटी है। पृ0 5 सकलसंकटमोचनी बूटी ज्ञानदृष्टि सच जानो भैया, अपने ज्ञानका स्वरूप अपने ज्ञान में जिस समय आये उस समय इसके संकट नहीं हो रहा था, कोई घटना ऐसी हो गयी कि सोच लिया कि जाने दो। जो कुछ हो सो हो, क्या मतलब? उपेक्षा की कि संकट उसके हल्के हो जाते हैं। यदि ज्ञानस्वरूप ज्ञानमें आये, वहां परम लिए अन्य समस्त भी यत्न कर डालें, धर्म के नाम पर ही सही, बड़ा तप, बड़ा ब्रत, बड़ा भेद, बड़ा चीजें, भी कर डालें पर शान्ति आनन्द और कर्मक्षय का साधन तो शरीर की चेष्टा नहीं है किन्तु ज्ञानस्वरूप की दृष्टि बने यही। उन सब हितों का साधन। वह ही एक छोड़ दिया जाये, उसका ही ताख में घर दिया जाय और अनेक श्रम किये जाये तो उन श्रमों से सिद्धि नहीं होता है।

समाधि से वहिभूर्त बहिरात्माकी सक्ता का एक चित्रण देखिये श्लोक न. 9 के एक प्रवचनांशमें, पृ. 40 बाहरी ममता—देखो शरीर में ही आपा समझकर उसमें प्रीति बुद्धि की जाय, यह बात जुदा है, जैसे कोयलाको कितना ही धिसा, निकलेगा काला ही। साबुन लगा दो तो कोयला सफेद नहीं हो जायगा, ऐसे ही शरीर है। कितना ही इसे सजाया, कितना ही साफ करलो, इसमें असार ही असार बात निकलेगी। अपवित्र गदी गंदी ही धातु उपधातुवें निकलेगी, किन्तु वाह रे मोह की लीला कि इस निज सहजस्वरूप को तो यह आत्मा भूल जाता है और देह की सार सवस्य है ऐसा मानने लगता है।

12 वें श्लोक के एक प्रवचनांश में बताया है कि मनुष्य देह तो वैराग्य के लिए मिला, किन्तु मोही इसका कैसा दुरुप्योग करता है। पृ0 58—असार दे हके लाभ का प्रयोजन वैराग्य—देख लो मनुष्य देह में कहीं कुछ भी सर बात नहीं नजर आता। उपर पसीना है, रोम है, चमड़ा है, और जरा नीचे चलों, खून है, मांस है, मज्ज है, हड्डी है और भीतर की धातु उपधातुवें है, जो जैसे कहते हैं कि ये केले के पेड़ में सारभूत बात कुछ नहीं है। पत्तों को छोलते जावो, पुरी तरह से, तो वहां पेड़ पत्ता कुछ न मिलेगा। वे ही पत्त जो उपर निकले हैं वे नीचे तक सम्बन्ध रखे रहते हैं। केला में कोई सार नहीं मिलता है। फिर भी इस मनुष्य देह से स्थावर की देह अच्छी है। वनस्पतियों के देह अच्छे हैं। ये कांस्य, सोना, चांदी आदि तो कुछ काम आते

हैं, पवित्र हैं, ठोस हैं, पर मनुष्या के देह में क्या तत्व रखा है? गंदगी से भरा है। सो मानो यह गंदा देह विरक्त होने के लिए मिला है। पर यह मनुष्य मोह में आकर विरक्त होने की बात तो दूर जाने दो, कलाओं सहित साहित्यिक ढंग से वचनों की लीला से बड़े एक अनोखे ढंग से प्रेम और मोह बढ़ाता है।

देह में आत्मबुद्धि करके नशे का विस्तार तो देखिये— 14 वें श्लोक का एक प्रवचनांश—पृ0 69—दोहात्मबुद्धि के नेस का विस्तार —भैया मोह में कितनी कल्पना होती है, कैसा कषायभाव होता है, स्त्री से कितना बड़प्पन माना है, कभी यात्रा में जाते हैं ना आप लोग स्त्री समेत, तो रेलगाड़ी से जब उतरते ही तो कुली की तरह तुम लदत हो कि तुम्हारी स्त्री? बिस्तर पेटी तुम्हीं तो लादते हो और स्त्री बड़ी शान शौकत से चलेगी। हाथ में बटुवा लेकर उंची एड़ी की चप्पल पहिनकर, इसमें ही पुरुष अपने में बड़प्पन महसूस करते हैं। कोई यार दोस्त मिल जाय बात करने को और वह जान जाय कि इनकी बेगम बहुत शान से और बहुत ढंग से रहती है, इसमें ही खुश हो रहे हैं। इन परिजनके कारण यह बहिरात्मा अपने आपको बड़ा मानता है और न भी कुछ कहे, न बड़ाई करे, न रंग ढंग दिखावे तो मन में तो उस सब कुटुम्बका चित्रण बना ही रहता है। और शायद भगवान के दर्शन करते हुए भी भगवान को भी स्त्री पुत्र से बड़ा न मान पाता हो। इतना आदर प्रभुका भी मन में नहीं होता, जितना आदर परिजनका करते हैं। ऐसा विचित्र यह महामोह मद इस जीवने पिया है। उसका कारण केवल यह ही एक है कि शरीर में उसने यह मैं आत्मा हूं ऐसी बुद्धि की।

दुख के कारणभूत रागादिभावों का विनाश आत्मदर्शन से होता है, इसका संकेत लीजिये 25 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, पृ0 121—आत्मदर्शन से रागादिक का क्षय—परमार्थतः अपने आपको देखने वाले इस मुझ आत्मा में रागादिक दोष नष्ट सुगम ही हो जाते हैं, क्योंकि आत्मतत्त्वको देखा जानें पर यह अनुभव किया गया है कि यह मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञान जैसे कि अभूर्त भाव है तो ज्ञानस्वरूप ही तो आत्मा है। वह भी अमूर्त ज्ञानभावमात्र अपने आपके स्वरूपकी जिसने निरखा है ऐसे ज्ञानी संत के ये रागद्वेषादिक विकारभाव यों ही विलीन हो जाते हैं। राग का राग मिटाने का वास्तविक उपाय बाह्य पदार्थों का संग्रह विग्रह अथवा कुछ परिणमन कर देना हो जाना, यह नहीं है। राग का अर्थ है परवस्तु सुहा गई और राग मिटने का अर्थ है कि परवस्तु में सुहा गई ऐसी स्थिति ही न हो। यह स्थिति अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करने से प्राप्त होती है। मैं ज्ञानमात्र हूं। जहां जाना कि यह मैं केवल जाननहार हूं, अन्य इसमें वृत्ति होना मेरास्वरूप नहीं है तबयह रागद्वेषको क्यों अपनायेगा? परमार्थ निजस्वरूपको देखने पर रागद्वेष नहीं ठहरते हैं।

180 समाधितन्त्र प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तक में समाधितन्त्र के 28 वें श्लोक से 50 वें श्लोक तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। आत्मस्थिति अर्थात् समाधिलाभ के लिए सोहं की भावना का साधन बताने वाले कार्यब्रह्म व कारणब्रह्म का परिचय कीजिये 28 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें—पृ0 1 कार्यब्रह्म और कारणब्रह्म—परमात्मतत्त्व दो प्रकार से हैं—एक कारणपरमात्मा और एक कार्य परमात्मा । ऐसा यह दो प्रकार पना केवल परमात्मत्व में ही नहीं है, किन्तु प्रत्येक प्रसंग में कारणत्व और कार्यत्व का प्रयोग है। जैसे कारणपरमाणु और कार्यपरमाणु। इसी प्रकार कारणसमयसार और कार्यसमयसार। जो सहज चैतन्यस्वभाव है वह तो है कारणब्रह्म और जो चित्स्वभावको उत्कृष्ट शुद्ध विकास है वह है कार्यब्रह्म । परमार्थ दृष्टि से यह आत्मा निजस्वरूप होने के कारण कारणब्रह्म की उपासना कर सकता है। कार्यब्रह्म की उपासना तो उसे विषयभूत बनाकर अथवा आदर्श मानकर किया करते हैं। सो वहां भी इस आत्माने गुणस्मरण रूप निज परिणमन का विकास किया है। तो जहां परमात्मतत्त्वकी भावना करने का संदेश आया तो वहां पर अध्यात्मशास्त्रों में यह अर्थ लेना चाहिए कि कारणब्रह्म की उपासना करें।

अज्ञानी जीनको जिसमें विश्वास बना है, धोखा की चीज वही है, पढ़िये 29 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, पृ0 6 वास्तविक भय का स्थान—पूर्व श्लोक में कारण परमात्मतत्त्वकी भावना का वर्णन था। उस वर्णन को सुनकर किन्हीं भाइयों को ऐसा लग सकता है कि वह तो बड़ी कठिन और भय वाली बात है। हमें तो सीधा सुखदाई यह घर का रहना ही लग रहा है। कहां का दंद फदं, अकेले रहो, सबसे विविक्त सोचो, कुटुम्बका परिहार करो। ये क्या आफते हैं? कैसे गुजारे की बात हो अन्यथा बड़े भयकी बात है। ऐसे भय की आंशका होने पर आचार्य देव यह शिक्षा दे रहे हैं कि अरे मूढ़ आत्मनृ, तुझे जिस जगह विश्वास लगा है कि यह मेरा सुखदायी है उससे बढ़कर भय की चीज कोई दूसरी नहीं है। कोई नरक में पहुंचे और वहां रहे सदबुद्धि तो ठिकाने वाली अक्ल वहां समझमें आती है। जिस कुटुम्ब के कारण विषय सुख के कारण, मित्रों के कारण नाना पाप किये हैं उन पापों का यह फल मैं अकेले ही भोग रहा हूं। जब वे कोई मदद देने वाले नहीं हैं। जो दस बीस की संख्या में मेरा मन बहलाते भी थे। यह मूढ़ आत्मा जिस जगह विश्वास बनाये हुए हैं उससे बढ़कर दुख की चीज, भय की चीज और कुछ नहीं हैं।

आत्महित के अर्थी को अनाकांक्षता व उदारता की आवश्यकता है, इसका मनन कीजिये 38 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, पृ0 65 —अनाकांक्षता और उदारता की आवश्यकता—यद्यपि धर्मपालन में एक पैसे की भी अपेक्षा नहीं

है, धर्म पैसे से नहीं होता, पर पैसे के लगाव से अधर्म तो होता है ना। तो उस अधर्म को दूर करने का हमारा बहुत बड़ा काम है। वह है उदार वृत्ति। जिससे हम धर्म पालने के पात्र हो सके, चित के विच्छेद का दूर करने का काम पड़ा है। फिर तो ज्ञानसंस्कार हुआ कि स्वतः ही आत्मतत्त्वमें आत्मा का अवस्थान हो जायगा। सारे क्लेश एक ममता के हैं। मायामयी दुनियां में मायामयी पोजीशन के रखने का क्लेश है। दूसरा कुछ क्लेश है ही नहीं। न होता आज इतना वैभव, साधारण होते तो क्या ऐसा ही नहीं सकता था? यहां जितना लोक में बड़प्पन बढ़ जाता है उतना ही पोजीशन रखने की तृष्णा बढ़ जाती है। हुआ कहां धर्म? जैसे किसी महान कार्य में धन का दान करके तपस्या करके अथवा तन से पर की सेवा करके और कुछ यशका भाव रखा तो वहां सन्यास कहां हुआ? प्रभुका प्यारा नहीं हो सकता है। जो कि अपने सम्बन्धमें इस मायामय जगत में कुछ न चाहे और निश्चल शुद्ध भावों से परकी प्रभुता पर मोहित हो जाय अर्थात् अनुरक्त हो जाय और अपने को कुछ न माने और अपने का स्वतंत्र और स्वस्व माने। इस जगत में कुछ चाहने वाले के हाथ कुछ भी तो नहीं लगता है।

विवेक पूर्वक निर्णय कर लो इस लोक रोष तोष का क्या अवकाश, पढ़िये 46 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, पृ0 117—रोष तोष का अनवकाश—अब भला बतलावो, जो दिखता है वह अचेतन है, जो चेतन है वह दिखता नहीं है। तो मैं किस चीज में रोष करूं और किस चीज में तोष करूं? अचेतन पदार्थों में रोष अथवा तोष करने से क्या फायदा है? वे तो अचेतन हैं। इन पत्थरों में रोष तोष करने से क्या लाभ है? अचेतन में तो बच्चे ही रोष करेंगे। किन्तु ज्ञानवान पुरुष इन अचेतन पदार्थों में रोष तोष नहीं करता। बच्चे के सिर में किवा लग जाय तो बच्चा रोता है, और मां उस बच्चों को दिखाकर समझाकर किवाड़ में दो चार थप्पड़ लगा देती है, तुन मेरे ललन को मारा। अब वह ललन शान्त हो जाता, सन्तुष्ट हो जाता, इस अचेतन पदार्थों के किसी भी परिणमन से बालक अगर रूष्ट हो जाय, तुष्ट हो जाय तो हो जाय पर ज्ञानी पुरुष इन अचेतन पदार्थों के कारण न तो इष्ट होता है और न तुष्ट होता है।

संसार के दुख रोग अनेक हैं, किन्तु उन समस्त संकट रोगों को मिटाने वाली औषधि एक है, देखिये 48 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, पृ0 130—संकटहारिणी मूल औषधि—भैया, किसी भी प्रकार की घबड़ाहट ही, किसी भी प्रकार की चिन्ता हो, सब को मूल औषधि एक है। अपने आपका जैसा सबसे न्यारा ज्ञानमात्र स्वरूप है वैसा समझने में लगे जावे, मैं सबसे न्यारा हूं इस मुझ अमृत तत्व को तो कोई जानता ही नहीं है। यह किसी के द्वारा अलग से जानने योग्य ही नहीं है। यह तो सब स्वरूपमें एक रस एक स्वरूप

है। इसमें भेद नहीं है। मुझे कौन पहिचानता है? ज्ञानयोग ही एक अमृततत्व है। ज्ञानका ही सर्वत्र एक प्रताप है, और कोई प्रताप प्रताप ही नहीं है। ज्ञान से ही यह प्राणी सुखी होता है और ज्ञान से ही यह लोक में पूजित होता है, ज्ञान से ही यह इस लोक और परलोक में सुखी होता है। ज्ञान ज्ञान के स्वरूप तक जाने और ज्ञानमात्र ही मैं हूं ऐसा अपने आपके बारे में अनुभव करे, वह है वास्तविक ज्ञान ।

देखो किसको प्रसन्न करना चाहते हो, निर्णय तो करलो, व्यर्थ परिश्रम क्यों किये जा रहे हैं? मनन कीजिये 50 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, —पृ० 156 किसको प्रसन्न करना—इस जगत में किस जीव को प्रसन्न रखने के लिए इतनी चेष्टा की जा रही है? अरे खुद को प्रसन्न कर लीजिये—निर्मल बना लीजिये, तो सब सिद्धि आपके हस्तगत है। बाहर बाहर के उपयोग के भ्रमान में तो सार कुछ न आयगा अपनी बुद्धि मैं बहुत देर तक किसी पदार्थ को मत रखिये क्योंकि यहां कुछ भी पर पदार्थ विश्वासके योग्य नहीं हैं। कोई नाम ले लो कि कौन सा पदार्थ पर का ऐसा है कि हमारा हित करदे? शान्ति दे दे? है कोई शान्ति देने वाला पदार्थ ? खूब सोच लो कि पुद्गल तो कई प्रसंगों में जले भुने चेतनों में कुछ बने। वह तो अचेतन थूलमथूल पड़ा हुआ है। कई घटनायें ऐसी होती है जहां घोखा खाये, दूसरों के आगे बेवकूफ बनना पड़े, हित कुछ नहीं मिले किन्तु अपना अहित ही परके वातावरणमें, परके सम्बन्ध में पाया है। यहां जीवको कौन सा पदार्थ हितकारी है? किसको प्रसन्न करना चाहते हो? कोई रक्षक हो तो प्रसन्न करो।

181 समाधितन्त्र प्रवचन तृतीय भाग

इस पुस्तकमें समाधि तन्त्र के 51 वें श्लोक से 75 वें श्लोक तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। अविकृत उपयोग बनाने के लिए एक भगवान का संकल्प कीजिये जैसा 51 वें श्लोक के एक प्रवचनांश का संकेत किया है। पृ० 1—अविकृत उपयोग बनाने के उपायभूत भावनाका संकल्प—इन्द्रियों के द्वारा जिनको मैं देखता हूं वे मेरे कुछ नहीं हैं, और जब इन्द्रियों को संयत करके अपने आपके अंतरंग में जो आत्मानन्दमय ज्ञानप्रकाशको देखता हूं वह मैं हूं। यह जीव परपदार्थों में अनाशक्त होता हुआ आत्मज्ञानको ही बुद्धि में धारण कर सके—ऐसी कौन सी भावना है? यह बताना आवश्यक है, क्योंकि आत्मज्ञान से भिन्न अन्य कुछ बात बुद्धि में धारण न करनी चाहिए। जीवन चलाना है, गुजारा करना है, इस कारण कुछ अन्य कामों में फसना पड़ता है। उसे फिर करें, किन्तु अन्य कोर्यों को बुद्धि में बहुत समय तक धारण न करें, ऐसी स्थिति जीवन में कैसे आ सकती है? इसके

उपाय में यह भावना बतायो गई है कि इन्द्रियो के द्वारा जो कुछ मुझे दिखता है वह कुछ नहीं है।

सत्य आराम पाने के लिए बोलो तो निरापद वचन बोलो, देखिये रहस्य 51 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, पृ0-19-20 निरापद वचन-इस लोक में चिन्ता ही क्या है। चिन्ता बनाई जाती है। चिन्ता योग्य बातें कुछ नहीं हैं। न रहा धन ज्यादाह तो इससे कौन सी हानि है? मिला हुआ धन चला गया तो इसमें कौन सी हानि है? आत्मतत्त्वकी अन्य भी विपतियां सोच लो, इष्टवियोग हो गया, अनिष्ट संयोग हो गया तो इसमें कौन सी हानि है? इस आत्मतत्त्वकी हो गई? लेकिन ज्ञानानन्दनिध न आत्मस्वरूपको भूलकर जो बाह्य पदार्थों में मोह बुद्धि लगाये हुए हैं बस इसी से दुख होगा। यह परिणाम दुखस्वरूप है। उस दुखको मेट सकने वाले जो वचन है उन वचनों का सुनना और ऐसे वचनों का बोलना, यही है अध्यात्मिकता में रमने का एक उपाय। जिस वचन से अज्ञान संस्कार मिटे और ज्ञानसंस्कार बने, ऐसी ही बात बोलनी चाहिए।

अज्ञानी किस घटना में अपना पोषण समझता है और ज्ञानी किसमें अपना पोषण परखता है देखिये अन्तर व निर्णय कीजिये अपने कदमका, 63 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें पढ़िये-पृ0 74 अज्ञानी और ज्ञानी की पुष्टि तर्कण-ज्ञानी इस देह की किसी अवस्था से अपने में कोई क्षमा नहीं लाता है। वस्त्र मोटा होनेपर कोई दुबला से खी मारे तो उस सेखो से कहीं ताकत तो न आ जायेगी। भले ही मारे सेखी। यों ही दे हके पुष्ट होने से पअने को पुष्ट मानने वाले अज्ञानी पुरुषके कहीं शान्ति तो न आ जायेगी, आत्मबल तो नहीं आ सकता है? देहसे अपने आत्मा का भेदविज्ञान करना, यह करण ज्ञानी के सुदृढ़ है। जैसे लोग बाहरी बातों में तैयारी देखकर भरा घर अब चारों ओर से मजबूत है, मैंने देखमें, समाज में, सब तरह से अपनी मजबूती बना ली है। अब मुझे डर नहीं है। यों बहिरात्मापुरुष सोचता है तो अन्तरात्मा पुरुष अपने ही आपके भीतर तैयारी करे सन्तोष करता है। अब मैंने अपने आत्मस्वरूपको परख लिया है। अब मुझे अरक्षाका कोई भय नहीं है। मुझे परवस्तुकृत इस लोक में अथवा परलोक में कहीं भी विपदा की शंका नहीं है। मेरा सब कुछ मेरे में ही बसा है। मैंने अपने आपका खुब तैयार कर लिया है। अब भय नहीं है, यह ज्ञानी पुरुष अपनी आन्तरिक पुष्टि से पअने को पुष्ट समझता है।

एक सीधे सब सधे, इसके प्रयोगक यत्न की प्रेरणा लीजिये 71 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें पढ़िये-पृ0 113-112 एक साधे सब सधे -एक आत्मतत्त्वको साध लीजिये तो समृद्ध हो जावोगे। एक इस अन्तस्तत्त्वकी रुचि होने पर भी यदि अवशिष्ट रागवश बन्ध होता है तो पुण्यबन्ध होता है जिसके उदय काल में सब वैभव आता है। जिसका इस अन्तस्तत्त्वकी रुचि है उसके

ऐसी विशुद्धता बढ़ता है कि भव भव में बांधे हुए कर्म भी क्षण मात्र में एक साथ खिर जाया करते हैं। लौकिक और पारलौकिक आनन्द इस सहज आत्मतत्त्वकी दृष्टि में भरा हुआ ही है। एक हिम्मत की आवश्यकता है और हिम्मत भी कुछ किया है, जो खाटा कदम बढ़ाया है। बस उतना लौटने की जरूरत है। इससे आगे और कुछ भी काम करना इसे आवश्यक नहीं है। या समझो कि स्वतन्त्र निश्चल निष्काम आत्मतत्त्व के श्रद्धानमें, आचरण में सर्वप्रकार की सिद्धि स्वयंमेव पड़ी हुई है—ऐसा समझकर एक आत्मस्वरूपके जानने की रूचि करें, अभ्यास करें तो उस पुरुषार्थ के प्रताप से सर्वसमूत्रि हो सकती है।

ज्ञानी के निवास स्थान का परिचय कीजिये 73 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें—पृ० 127—128—आत्मदर्शी का निवास दर्शन—भैया, कहां हैं कहीं पर संकट? अपनी कल्पनाओं में संकटों का विस्तार बना लिया जाता है और अपने ही विचारों से संकटों का संहार कर दिया जाता है। तो ज्ञाता दृष्टा ज्ञानी सन्त पुरुष है, उनके बाह्य विषयेक ये कल्पनायें श्रद्धाका रूप नहीं रख सकती हैं। उन्हें न तो ग्रामवास से प्रेम है और न उन्हें जंगल के निवास से प्रेम है, क्योंकि वे दोनों ही स्थान अपने आत्मस्वरूपसे बाहर के स्थान हैं। ज्ञानी पुरुषकी बाहरी क्षेत्र में, बाहरी पदार्थों में आसक्ति नहीं है, प्रीति नहीं होती है। वे किसी भी बाह्यक्षेत्र को अपना निवास स्थान नहीं मानते हैं। जिनको भेद वज्ञान जग गया है और इसी कारण अपने आत्म में अनाकुलता का प्रसार होने लगा है, उन्हें तो वहां गांव का निवास व कहां जंगल का निवास। उनकी कहीं भी आसक्ति नहीं रहती है।

182 समाधितन्त्र प्रवचन चतुर्थ भाग

इस पुस्तकमें समाधितन्त्र के 76 वें श्लोक के 105 वें श्लोक के अन्तिम तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। मोही जगत में फुट्टू देवी उंट पुजारी का नक्शा देखिये 76 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, पृ० 2—3 फुट्टू देवी उंट पुजारी —भैया, सब कष्टों का कारण शरीर में आत्मबुद्धि करना है, लोग मुझे समझें कि ये बहुत बड़े पुरुष है। किन लोगों में यह चाहा जा रहा है? जो मोही है, मलिन हैं, अज्ञानी हैं, जिनको अपनी भी सुध बुध नहीं है, ऐसे लोगों में मेरा नाम फैले यह सोचा जा रहा है ऐसे पुरुषों में नाम फैलने की बात वहीं सोच सकता है जो खुद मलिन है, मोही है, शरीर को ही आत्मा मानता है। सो वहां जैसे एक कहावत है कि फुट्टू देवी उंट पुजारी ऐसी हालत हो रही है। किसी जगह पर एक पूपटा पत्थर पड़ा हुआ था, वह बन गया देवता, और उसके पूजने वाले उंट बन गये। ऐसी हालत इन मोही मोहियों की है। किन में नाम चाहते हैं? ये मोही

मोहियों में ही नाम चाहते हैं। मेरा नाम हो, इसमें मेरा शब्द कहने से किसको लक्ष्य में लिया है? इस शरीर को, यदि इस चैतन्यस्वरूप आत्मा को लक्ष्य में लिया होता कि इस मेरे का नाम हो तो वह नाम की बात न सोचकर यों सोचता कि मेरा शुद्ध विकास प्रभु के ज्ञान में दीखा हुआ हो।

मोही की उन्मत चेष्टा का दर्शन कीजिये 80 वें श्लोक के प्रवचनांशमें, पृ0 21 –मोही की उन्मत चेष्टा का दर्शन—जैसे कोई पागल पुरुष थोड़ी देर में किसी को अपना बता दे, थोड़ी देर में किसी को अपनी बता दे, ऐसे ही यह मोही पुरुष मनुष्यभवमें आया तो किन्हीं को अपना बता दिया और मरकर देवगति में आ गया तो किन्हीं को अपना बात दिया। तिर्यन्च गति में आया तो किन्हीं को अपना बता दिया, यह भी मोही पागलों की तरह किन्हीं किन्हीं को अपना बताता फिरता है और भव परिवर्तन की ही बात नहीं है किन्तु इस एक ही मनुष्यभव में जब तक कषाय से कषाय मिलती रही तबतक अपना अपना गाता रहा, और जब कषाय न मिलती देखो तो उसे अपना न माना गैर मानने लगा। यों यह मोही कषाय के आवेश से अटट सटट अपनी कल्पनायें और मान्यतायें बनाता है, ऐसे—ऐसा ही तो दीख रहा है। अब बाहर में यह जगत उन्मत की तरह चेष्टावान नजर आ रहा है इस योगाभ्यासी को।

अपना भविष्य दृष्टिकलापर निर्भर है, सही दृष्टि का निर्णय करके सही दृष्टि बना लीजिये, 85 वें श्लोक के एस प्रवचनांशमें –पृ0 42 –दृष्टि कलाकी जिम्मेदारी –भैया, दो तरह के सुख हैं—एक चित्चमत्कारमात्र आत्मतत्त्वके अवलम्बन से उत्पन्न स्वकीय आत्मीयसुख और एक मोहियों में होने वाला कल्पित विषयों का सुख। अब देखिये दृष्टि द्वारा दोनों ही सुख मिट सकते हैं। चाहे आत्मीय सुख पालो और चाहे विषयी सुख पा लो, दोनों में ही प्रताप अपनी दृष्टि का है। करना और कुछ नहीं है, केवल भीतरका भाव ही बनाना है। शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि का भाव बने तो आत्मीय आनन्द मिलेगा और बहिर्मुख दृष्टि करके विषयों से बड़ा बड़प्पन है सुख है ऐसे भाव बनाये तो वहां कल्पित मौज है उस कल्पित विषयी सुख के भी विहलता है। उससे पहले भी विहलता है, भोगने के बाद भी विहलता रहती है। परन्तु आत्मीय आनन्द पाने से पहिले भी समता और शान्ति रहती, आत्मीय आनन्द भोगने के समय भी समता और शान्ति रहती, और आत्मीय आनन्द अनुभव करने के बाद भी शान्ति और सन्तोष रहता है। ये दोनों ही बातें केवल दृष्टि से मिल जाया करती है। अब किस और दृष्टि देना चाहिए यह हम आपका निर्णय जैसा हो वैसा है, पर सुविधा सब है।

शान्ति का उपाय सबके लिए एक है, अतः इस एक उपाय में जुट जाइये, निश्चय करिये 89 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, पृ0 61—सबके लिए

शान्तिके, एक उपाय—जो लोग धर्मका, लिंगका, भेषका, मजहबाक, इनका आग्रह करके अपने को तुष्ट, तृप्त कृतकृत्य मान लेते हैं वे आग्रही पुरुष है। इन विकल्पों से मुक्ति नहीं होती है, ऐसे विकल्प करने वाले लोग आत्मा के परमपद की प्राप्त नहीं कर सकते। कोई भी हों, गृहस्थ हो या साधु हो, शान्ति मिलने का ढंग सबको एक सा बताया है। विकल्प छोड़कर निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वके निकट पहुंचिये, शान्ति मिलेगी। सर्व उपाय करके यही शुद्ध भाव प्राप्त करने योग्य है।

बेहोशी में भी होष, आश्चर्य न करिये, पढ़िये 95 वें श्लोक का एक प्रवचनांश—पृ0 81 बेहोशी में होशज्ञानी सन्त बेहोशकी अवस्थामें भी होष वाला है। सावधान है। कैसा अंदूणी कार्य है, संस्कार का कि ज्ञानी पुरुष रोगवश बेहोश पड़ा हो, अथवा मरने के समय उसकी सारी इन्द्रियां बेहोश हो गई हों सिथिल हो गई हों, उल्टी सांस ली जा रही हो, मरने का समय निकट था रहा ही तो लोगों को यों दिख रहा है कि यह बड़ा बेहोश है, कई दिन से इसे होश नहीं है, लेकिन ज्ञानी का संस्कार ऐसा बना है कि कई दिनकी बेहोशी में भी उसके निरन्तर अंतरंग में ज्ञानप्रकाश बना रहता है। जिस ओर बुद्धि लगी हो उस ओर ही प्रीति और रूचि होती है। जहां रूचि होता हो वैसा ही चित बना रहता है। ज्ञानी पुरुषका चित ज्ञानकी और रूचि होती है। जहां रूचि होता हो वैसा ही चित बना रहता है। ज्ञानी पुरुष का चित ज्ञानकी ओर रहा आये तो उसकी यह लीनता सोई हुई और बेहोशी जैसी अवस्थामें विषयों की ओर नहीं आने देगी और आत्मस्वरूपकी और प्रबृत रहती है। कदाचित वह स्वप्न देखेगा तो ज्ञानके, धर्मके, भक्ति के देखेगा, और कभी बकवास करने जैसी बेहोशी आ जाय तो ज्ञान का ही बातों का बकवाद निकालेगा।

समाधिभाव ही कल्याण का उपाय है, उसके लिए जो सन्तजन तपश्चरण करते हैं, क्यों करते हैं, इसका समाधान 102 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें पढ़िये—पृ0 108 तपश्चरण के लिए, सकारण अनुरोध गत प्रसंग में यह बात चल रही थी कि आत्मा अनादि निधन है, यह केवल भावनाही कर सकता है और भावना के प्रसाद से यह परमात्मत्वको प्राप्त कर लेता है इस पर यह शंका करना, तपस्या करना ये कठिन कठिन काम करने की क्या आवश्यकता है? इसके ही समाधान में इस श्लोक में कहा गया कि जो ज्ञान बिना क्लेश सहे, आराम में प्राप्त किया जाता है, वह ज्ञान दुख के कारण छूटने पर नष्ट हो सकता है। इस कारण योगी पुरुष को अपनी शक्ति के माफिक अपने को तपस्या में लगाना चाहिए।

तीर्थकर प्रीतिके बन्धके कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि 16 भावनायें हैं। उनमें से दर्शनविशुद्धि नामक पहिली भावनापर पूज्य श्री 105 मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने पूज्य श्री 105 मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने 15 दिन प्रवचन किये थे, वे सब प्रवचन अस प्रथम भाग में हैं दर्शनविशुद्धि भावना में देखिये ज्ञानी का निर्णय पृष्ठ-ज्ञानी का वर्तमान निर्णय-यह सम्यग्दृष्टि पुरुष प्रयोग्य तत्वके सम्बन्ध में यो यथार्थ निर्णय बनाये है-मेरे दुखों को उत्पन्न करनेवाला मेरा आश्रय भाव है। अन्य कोई भी पदार्थ मेरे को कष्टदायी नहीं है। राग मोह रोष ये ही दुखों की खान है। अज्ञानी जनों की श्वानदृष्टि होती है। जैसे कुत्ते को कोई लाठी मारे तो वह लाठी को चबाता है। आकान्ता जो पुरुष है उस पर दृष्टि नहीं जाती है, इसी कारण कुत्तको लोग दुत्कार देते हैं। ऐसे ही अज्ञानी जीव जो सामने आश्रयभूत पदार्थ आता है अपने कष्ट के समय में उन आश्रयीभूत पदार्थों का सवयं विग्रह करता है, इसने ही मुझे सुख दिया, इसने ही मुझे दुख दिया। इस अज्ञानी को यह विदित नहीं है कि सुख और दुख का परिणाम मेरी ज्ञानकला से प्रकट होती है। मैं जैसा सोचू तैसी स्थिति सामने आती है। दोटी भी बात ही छोटी भी विपदा हो, पर ज्ञानकला कुछ महसूस कराकर बन रही हो तो वह पहाड़ जैसी विपदा लगती है। और कोई महान कष्ट भी हो और यह ज्ञानकला धैर्य को बनाने को पद्धति में प्रकृत होती हो तो वह न कुछ जैसी बात होती है।

अब पढ़िये दर्शनविशुद्धकी पारमार्थिक करुणा पृष्ठ 1 पारमार्थिक करुणा ज्ञानी के यह संकल्प नहीं होता है कि मैं तीर्थकर बनू और जगत के प्राणियों का उद्धार करूँ। यह तो अज्ञानभाव है। कोई भी ज्ञानी पुरुष कर्तृत्वका भाव नहीं ला सकता मैं इस जगत के जीवों को संसार के दुखों से छुटाकर मोक्षमें पहुंचा दूँ ऐसी बात ज्ञानी पुरुष के आशय में नहीं है। यह प्राणी जब भी मुक्त होगा तो स्वयं की दृष्टि पाकर स्वयं के रत्नत्रय भाव के द्वारा मुक्त होगा। उसे तो अपार करुणा आ रही है। कोई त्यागी पुरुष, साधु पुरुष कही जा रहा हो और रास्ते में कोई भूखा आदमी मिल जाय तो उसको भी करुणा तो जागृत होती है पर वह कर क्या सकता है? पैसा पास नहीं रखता पर करुणा तो जैसे गृहस्थ को होती है वैसे ही उन सन्यासियों को भी होती रहती है, किन्तु इसको मैं रोटी बनाकर खिला दूँ ऐसा परिणाम तो नहीं आता, पर वास्तविक हितपूर्ण करुणा बराबर हो रही है। ऐसे ही समझिएगा कि विश्व के समस्त प्राणियों पर जो कि अपने अज्ञान भाव से बाह्यतत्वों में लगे हुए हैं व्यर्थ संसार भ्रमण कर रहे हैं उनको जानकर इन ज्ञानियों के करुणा उत्पन्न हो रही है, पर मैं इनका उद्धार कर दूँ, ऐसा वह कर्तृत्वका संकल्प यों

नहीं करता कि करे भी कोई संकल्प तो क्या उद्धार कर देगा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कोई परिणमन कर सकेगा क्या? कभी नहीं।

अब समझिये कि तीर्थकर प्रकृति का बन्ध कैसे होता है—पृष्ठ 39—तीर्थकर प्रकृतिके बन्ध के पात्र तीर्थकर प्रकृति का बन्ध सुनकर उसकी चाह करने वाले पुरुषों को इस प्रकरण से यह शिक्षा लेना चाहिए कि कहीं मांगने से बन्ध नहीं होता किन्तु आपको निःकाक्ष होकर ऐसा आत्मचरण में ढाल दीजिए तो अन्तर कारणों के अनुकूल तीर्थकर प्रकृति का बन्ध हो लेगा। सम्यग्दर्शन निर्मल हो तब भी तीर्थकर प्रकृति बन्ध जाय ऐसा नहीं है। किन्तु सम्यग्दर्शन निर्मल होने के बावजूद भी विश्वहितकारी भावना उस प्रकार की हो तो तीर्थकर प्रकृति का बन्ध होता है।

अब अवलोकिये ज्ञानधन की उत्कृष्टता—पृष्ठ 71—ज्ञानधनकी उत्कृष्टता—आत्माका हित आनन्द में है और आनन्द वही आनन्द है जहां आकुलता रंच नहीं है। आकुलता का सर्वथा अभाव समस्त पर और परजीवों के संसर्ग से कुक्त होने में है। पर और परभावों से छूटाकरा नहीं पा सकता है। जिसने अपने और पराये पदार्थ का स्वरूप भली भांति समझा हो, स्व परका स्वरूप यथार्थ निश्चित किया हो, वही समझ सकता है जिसके स्व पर के लक्षणों का यथार्थ निर्णय रखा हो। यह बात बनती है ज्ञान द्वारा। इसलिए सब हितों का मूल उपाय ज्ञानार्जन है। जरा मुकाबला तो करो धनके अर्जनका और ज्ञान के इसलिए सब हितों का मूल उपाय ज्ञानार्जन है। जरा मुकाबला तो करो धनके अर्जनका और ज्ञानके अर्जनका। धन मरने पर साथ नहीं जाता किन्तु ज्ञानका संस्कार मरने पर भी साथ जाता है। हम यहां कितने ही विद्यार्थियों को ऐसा देखते हैं कि एक या दो बार ही कोई चीज पढ़ लेते हैं तो उन्हें याद हो जाता है, कितने ही बालक बहुत रटते हैं, पिटते हैं श्रवण करते हैं तिस पर भी याद नहीं होता है। यह फक कहां से आ गया? गुरु तो सब शिष्यों को एक साथ समानता से समझा रहा है लेकिन किसी को एक बार में ही याद हो जाता है किसी को अनेक बार में भी नहीं याद होता है। यह फक है ज्ञानावरण के क्षयोपसमका अर्थात् ज्ञान के संस्कारों का। जीव का स्वरूप ज्ञान है इसलिए जितना ज्ञान विकाश अभी कर लिया जायगा वह संस्कार के रूपमें भव में भ जायगा, किन्तु धन की एक दमड़ी भी साथ न जायगी।

184 गोडभावना प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तकमें विनयसम्पन्नता से प्रवचनत्सलत्व तक 15 तीर्थकृद्भावनाओं पर पूज्य श्री 105 मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। इस भावना में दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय व उपचारविनय

इन चतुर्विध विनयोंपर प्रकाश डालने के प्रसंग में दर्शनविनयसे सम्बन्धित एक प्रवचनांशमें सम्यक्त्वकी भक्ति कीजिये—पृ० 1—दर्शनविनय—सम्यक् श्रद्धान में विनय होना सो दर्शनविनय है। संसार से रूलनेवाले जीवों को एक सम्यक्त्व का ही सहारा है। सक्यक्त्वके बिना संकटों से मुक्ति का पान अन्य कोई उपाय नहीं है। भला बतलावा कि सर्व पदार्थ जब अपने ही स्वरूपमय है और अपना स्वरूप है ज्ञान और आनन्द, यह क्या आश्चर्यकी बा नहीं है। यह सब भ्रम का ही प्रसाद है। कुछ नहीं बनाना है अपने को। बनी हुई है, सता से बनी हुई है। सता से बनी हुई है। स्वभानिर्वृति है, किन्तु किन्तु भ्रम करके जो विपदा विडम्बना बना हो है, उनको तो दूर किये बिना काम न सरेगा। जहां सम्यक्त्व हो जाता है, शुद्ध आशय बन जाता है, यथार्थ दर्शन हो जाता है, यह मैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र हूं, मैं अपनी सता से अपने में स्वयं बसा हूं, इस बातका जिन्हें दर्शन हो जाता है ऐसे पुरुषों को यह बात ध्यान में आती है—अहो सम्यग्दर्शन ही हमारा शरण है। इस सम्यक्त्व के बिना अनादि काल से अब तक क्योनियों में भ्रमण करते हुए चले आये हैं। यों सम्यक्त्व के प्रति विनय जगना यह है दर्शनविनय।

शीलब्रतानतिचार भावना का वर्णन करने के पश्चात् महत्व संक्षेप में कहा गया है, उसका अध्ययन कीजिये—पृ० 11—12 —शील का महत्व—शीलवान पुरुषों का सब आदर देते हैं। कोई शीलकरि सहित हो और रूपसे रहित हो, रागग्रस्त हो तो भी वह अपने वातारणसे अपने संसर्ग से समस्त पुरुषों को मोहित करता है, अर्थात् शीलवान पुरुषवान पुरुषपर सभी लोगों का आकर्षण रहता है। शीलवान पुरुष सभी को सुखी बनाता है। शीलरहित अर्थात् व्यभिचारी कोई पुरुष कामदेव के तुल्य भी रूपवान हो तो भी लोक में सब उसे दुदकारा करते हैं। जो कामी पुरुष है, धर्म से चलित हो जाता है, आत्मा के स्वभाव से विचलित हो जाता है, व्यवहार की शुद्धता से भी विचलित हो जाता है, उसका ही नाम व्यभिचारी है। व्यभिचारके समान अन्य कोई कुकर्म नहीं है। ऐसे इस शील में व शीलसाधक व्रत में निर्दोष रहने की भावना ज्ञानी पुरुष के रहती है। ऐसे ज्ञानी पुरुष जब विश्व के प्राणियों पर परम करुणाका भाव करते हैं तो उनके तीर्थकर प्रकृति का बन्ध होता है।

अभीक्षणज्ञानीपयोग से मानवजन्म की सफलता है, इसका विचार कीजिये इस प्रवचनांशमें, पृ० 12—13—अभीक्षण ज्ञानीपयोग से मानवजन्म की सफलता —भैया, कितना दुर्लभ यह जन्म है, फिर भी ऐसे कठिन मनुष्यभवको पाकर गप्पों में लगाना, मोहियों में ही अधिक समय बिताना और असार भिन्न जड़ पौद्गलिक घन वैभव के संचय में, उनकी कल्पनामें समय गुजारना और जो अपना परमार्थ शरण है, सारभूत है, ऐसे ज्ञान के लिए समय न देना, इनसे बढ़कर खेद की और क्या हो सकती है, आत्मन् ऐसा सुअवसर पाकर, जहां

श्रेष्ठ मन मिला है, जहां इन्द्रियां व्यवस्थित हैं, बुद्धि भी काम करती है, ज्ञानकी सुयोग भी मिला है, ऐसे अवसर का पाकर हे आत्मन् तुम ज्ञानाभ्यास ही करो। ज्ञानके अभ्यास बिना एक क्षण भी व्यतीत मत करो। ऐसी भावना अभीक्षण ज्ञानोपयोग में होती है।

संवेग भावना के एक प्रवचनांशमें संवेग और र्सवेग का फल पढ़े यह प्रवचनांश पृ० 31—संवेग और संवेग का फल—इस सम्बेगभावना के फल में अपने आपके शुद्ध आनन्द का बारबार अनुभव होता है और जब जब सधर्माजन होते हैं तो उनको देखकर प्रमोदभाव होता है। धन्य हैं सधर्माजन मिलने की घड़ी। वे उस क्षण को धन्य मानते हैं जिस क्षण रत्नत्रय के धारी मोक्षमार्ग के रूचिया जन मिलते हैं। साथ ही वे भोगों से सहज ही विरक्त रहा करते हैं, ऐसे पवित्र ज्ञान के उपवासी सन्त पुरुष जब अन्य जीवों पर दृष्टि देते हैं तो कुछ विषाद भरा अनुराग होता है। और, जरा ही तो अपने उन्मुख होना है कि सारे संकट इसके टल जाते हैं। केवल एक मुख के मोड़ में ही संसार और मुक्ति का अन्तर है। जहां इस समय पीठ है वहां मुख करना है और जिन बाह्य पदार्थों की ओर मुख किए हैं वहां पीठ करना है। इतना ही करने के पश्चात् कल्याण के लिए जो सम्बेगभावना हो जाती है उस भावना का आदर करें। अपने चित से यह श्रद्धा हटावों कि धन वैभव ही मेरे सब कुछ हैं। अरे वे तो धूल की तरह हैं। क्या तत्व उनमें रक्खा है। वे सब बाह्य हैं, भिन्न हैं, पुद्गल हैं, अहितरूप हैं, जिनका विषय करने से तृष्णा का रोग उत्पन्न होता है। यों भोगों से विरक्त होकर, निज स्वरूप में अनुरक्त होकर संवेगभावना को धारण करें जिससे निकट काल में ही इस संसार के सारे संकटों से मुक्ति मिल सकेगी।

शक्तिस्तय भावना में समता की प्रमुखता होती है, इसका प्रयोग करें, पढ़ें यह प्रवचनांश पृ० 43 —शक्ति: तप में समता की प्रमुखता —तपस्याको मूर्ति, आभ्यंतर और बाह्य परिग्रहों से रहित साधु पुरुष होते हैं। इस तप भावना में अपनी ऐसी भावना होनी चाहिए कि कब वह दिन आये, कब वह क्षण आये कि सर्व परिग्रहों से विकल्प त्यागकर शुद्ध निर्विकल्प निज ज्ञायकस्वरूपमें रत रहा करें और ऐसे दर्शन करते हुए में कैसा भी उपद्रव आये, बड़े उपसर्ग आये, फिर भी उनसे विचलित न होना, अपना आत्मबल बनाये रहना, ऐसी भावना करना सो शक्ति: तप भावना है। अनुकूल प्रतिकूल कुछ घटनायें आयें उन घटनाओं में अपना समता परिणाम रख सकना, धैर्यभाव बना सकना यह भी तप है। इस समतारूप तपश्चरण में कितना ज्ञानबल लगाना होता है, कितनी उपेक्षा वृत्ति रखनी पड़ती है वह अज्ञानीजनों के द्वारा किया जाना असम्भव है। इस ज्ञानबल को जो सभाले वह ज्ञानी ही है।

साधुसमाधिभावना के वर्णन के पश्चात् संक्षेप में समाधि की अन्तः मुद्रा का संक्षेप में दिग्दर्शन कीजिये, पृ० 52-53 अन्तः समाधि व बाह्यसमाधि-समाधिभाव के प्रेमी ज्ञानी संत जब कभी दूसरे धर्मात्माजनों पर संकट आया देखते हैं तो उन सब संकटों को दूर करने का उनका यत्न चला करता है। अपने आपको समाधिरूप बनाने का यत्न करें, समाधि का परिणाम रखें यह साधुसमाधि भावना है। भावना के प्रताप से यह ज्ञानी पुरुष ऐसी विशिष्ट पुण्य प्रकृति का बन्ध कर लेता है जिसके उदय में यह त्रिलोकाधिपति तीर्थकर महापुरुष होता है। यही तीर्थकर प्रकृति का बन्ध करने वाले जीवकी समाधिभावना है।

अन्तिम भावना प्रवचनवत्सलत्वका संक्षिप्त परिचय देखिये-पृ० 93-प्रवचनवत्सलत्व -तीर्थकर प्रकृति की बन्ध करने वाली भावनाओं में आज यह अन्तिम भावना आ रही है। इसका नाम है प्रवचनवत्सलत्व। प्रवचनका अर्थ है देव, गुरु और धर्म। इनमें प्रीति भावका होना सो प्रवचनवत्सलत्व है। जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अभेद एकता हो चुकी है। ऐसे ज्ञानपुंज देव में प्रीति उत्पन्न होना और जो इस स्थिति के उत्सुक हैं तथा जिनकी दृष्टि इस शुद्ध परिणमन के साधनभूत शुद्ध सहज स्वरूपकी ओर रहा करती है ऐसे साधनों की भावना करना यह है प्रवचनवत्सलत्व।

185-188 परीक्षामुखसूत्र प्रवचन

प्रमेयकमलमार्तगड़प्रवचन 1, 2, 3, 4 भाग

इस पुस्तक में प्रसिद्ध दार्शनिक सूत्र ग्रन्थ परीक्षामुखसूत्र की प्रमेयकमलमार्तण्ड टीका के अनुसार विस्तृत स्पष्ट व सरल प्रवचन हैं। पूज्य श्री 105 मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज का यह बहुत उच्च प्रयास है जिसमें दार्शनिक कठिन विषयों को भी सुबोध बना दिया है। मंगलाचरण के प्रवचनमें परीक्षापद्धति के महत्वका चित्रण एक प्रवचनांशमें देखिये-पृष्ठ-10-परीक्षापद्धतिका महत्व-भैया, परीक्षा की पद्धति का कितना बड़ा महत्व होता है। जैसे सोना कसने वाली परीक्षाशिला होती है तो उसका महत्व उस कसौटी से है उसके रूप और आकार से नहीं है। कोई कहे कि वाह, इससे भी सुन्दर कोई शिला रख लें, यह तो छोटी शिला है, कोई बड़ी सी शिला रखले तो बड़ी अच्छी सोने की परीक्षा हो जायेगी, तो उसका यह सोचना मिथ्या है। थर्मामीटर बुखार नापने के काम आता है। कोई कहे कि यह तो बहुत छोटा है एक बिजली का डंडा लगादे तो ठी रहेगा, छोटी मोटी चीज से क्या फायदा, तो उस का यह सोचना मिथ्या है क्योंकि उस बिजली के बड़े भारी डंडे से बुखार की परीक्षा तो न हो जायेगी। तो उसका महत्व

परीक्षा से है। यह परीक्षामुखसूत्र ज्ञानकी परीक्षा बतावेगा। कि यह ज्ञान सही है, इसमें अमुम दोष नहीं है, अमुक गुण है। तो ज्ञानकी परीक्षा करा देने वाले इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा महत्व है। यों समझिये कि न्यायशास्त्र में और प्रतिमा के विकास में ऐसे ग्रन्थ के समझे बिना प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। तो इस ग्रन्थ में सम्बन्ध और अभिधेय बराबर ठीक है।

परीक्षा का सर्वसम्मत उपाय क्या है, उसका ही वर्णन इस ग्रन्थ में है, इस सम्बन्ध की पुष्टि, पढ़िये एक प्रवचनांशू, पृष्ठ 15—परीक्षा के सर्वसम्मत उपायकी वक्तव्यता—इस परीक्षा मुखसूत्र जैसे वक्तव्यको समझे बिना कभी वस्तु के निर्णय में सफल नहीं हो सकते। यों छोटी छोटी जानकारी रखकर अथवा ग्रथों में जो कुछ सीधा सादा लिखा है उसे जानकर कोई सन्तोष मान ले—मैंने खूब अध्ययन किया है, मैंने तो सब कुछ अध्ययन कर लिया, वहां अधुरापन ही है। देखो, एक तो होती है कहने की जानकारी और एक होती है प्रतिभा। न्यायशास्त्र का प्रतिभा से सम्बन्ध है। किसी दूसरे पुरुष को हम अपने आगमशास्त्रकी कुछ बात कहकर उसे चुप करना चाहें तो वह चुप होगा क्या? अजी साहब हमारे अमुक ग्रन्थ में तो यों लिखा है। लिख होगा, तुम्हारे ग्रन्थ कपोलकल्पित हैं, जो चाहे लिख दिया है, हर वादी और प्रतिवादी दोनों के लिए मान्य हुआ करती हैं। शास्त्र, आगम दोनों के लिए मान्य नहीं हुआ करते। तो उन्हीं युक्तियों से प्रमाणों से इस ग्रन्थ में बताया जायेगा कि किस शैली से युक्तियां निर्दोष होती है और किस शैली से युक्तियां संदोष होती है। सदोष ज्ञानअप्रमाण है और निर्दोष ज्ञान प्रमाण है। प्रमाण से अर्थ की सिद्धि होती है और प्रमाणभास से अर्थ की सिद्धि नहीं होती, अर्थात् सच्चे ज्ञान से पदार्थ की सिद्धि होती है, सच्चे ज्ञान से हित के प्राप्ति की सिद्धि होती है और सच्चे ज्ञान से ही अहित को छोड़ने की दृष्टि होती है, और सच्चे ज्ञान से ही उपेक्षा करके विश्राम से स्थित होने की दृष्टि होती है। तो समस्त कल्याण तो सच्चे ज्ञानपर निर्भर है और मिथ्याज्ञान से सब अनर्थ ही अनर्थ होता है।

प्रथम सूत्रमें प्रमाण का लक्षण किया है, उसके सम्बन्धमें संक्षिप्त स्पष्टीकरण इस एक प्रवचनांशमें पढ़िये—पृ०—प्रमाण में स्वव्यवसायात्मकता—इस प्रसंग में जो स्व शब्द दिया है इसका अर्थ न लेना कि ऐसा अर्थ करने लगे कि जो आत्मका और परपदार्थों का निश्चय करने वाला ज्ञान हो वह प्रमाण है। दार्शनिक शैली में और प्रमाण के इन लक्षणों में अभी यह बात नहीं कही गयी। यहां पर पर शब्द ही नहीं दिया गया। स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। चाहे आत्माका निश्चय करने वाला हो चाहे परपदार्थों का निश्चय करने वाला हो सब अपूर्व अर्थ में सम्मिलित हैं, उनका ज्ञान प्रमाण है। तब स्वशब्द से ज्ञानका स्व लेना। जो जानने वाला

ज्ञान है वह ज्ञान अपने आपका भी निश्चय रखता है। मैं सत्य हूँ और पदार्थ की जानकारी का भी निश्चय करता हूँ कि यह पदार्थ इस प्रकार है। अथवा ज्ञान व आत्मा में अभेद है इस कारण स्व शब्द से आत्मा का ग्रहण हो ही जाता है।

कुछ दार्शनिक कारकसाकल्यको प्रमाण मानते हैं, इस मनतवयके निराकरण में विस्तृत प्रवचन हैं, संक्षेप में उसका दिग्दर्शन करना हो तो एक ही प्रवचनांश को देख लीजिये—पृ० 31—प्रमाण में ज्ञानकी ही साधकता यहां उक्त चर्चा यह उपस्थित हुई है कि साधकतम को तुम प्रमाण मानते हो तो कोई पुरुष कुल्हाड़ी से लकड़ी काट रहा है तो लकड़ी काटने का साधन है कुल्हाड़ी। जिसके द्वारा लकड़ी काटी जाय वही तो साधकतम है काटने का। साधकतम तो एक प्रकाश भी है तो फिर प्रकाश आदि प्रमाण हो ही जायगा क्या? कहते हैं—नहीं। प्रकाश जानने में साधकतम नहीं है। जानने में साधकतम तो ज्ञान ही है, पर कारकसमूह निमित्त है इसलिए उपचार से कारकसाकल्यको साधकतम कहते हैं।

कुछ दार्शनिक सन्निकर्षको अर्थात् इन्द्रिय व पदार्थ के सम्बन्धको प्रमाण मानते हैं, किन्तु जैसे कारकसाकल्य ज्ञप्ति में साधकतम नहीं, इसी प्रकार सन्निकर्ष भी साधकतम नहीं, ज्ञानस्वरूप योग्यता ही साधकतम है, अतः ज्ञान ही प्रमाण है। पृ० 68—स्वार्थपरिच्छित्तियोग्यता की साधकतमता—देखो जिसके न होने पर और अन्य पदार्थों के होने पर भी जो बात उत्पन्न नहीं होती है वह उसके कारण से उत्पन्न हुई मानना चाहिए। जैसे कुल्हाड़ी के न होने पर और और पदार्थ कितने ही हों, मिट्टी है, पत्थर है, लोग खड़े हैं, कुछ भी अनेक पदार्थ हों पर एक कुल्हाड़ी के न होने पर काठ नहीं छेदा जा सकता, तो काठके टुकड़ेकरने में साधकतम तो कुल्हाड़ी ही रही। इसी प्रकार भावेन्द्रियरूप योग्यता के न होने पर चाहे सन्निकर्ष भी हो, चाहे कारकसाकल्य भी हो, लेकिन पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, इससे यह सिद्ध है कि पदार्थ का ज्ञान, पदार्थ एक प्रमाण यहां भावेन्द्रिय के द्वारा चलता है। तो भावेन्द्रिय कहा अथवा योग्यता कहा या ज्ञान कही सब उसके निकट की बातें हैं। अपना और परपदार्थों का आभास होने वाले ज्ञानरूप प्रमाण की सामग्री तो वह योग्यता है, इस कारण प्रमाण की उत्पत्ति में योग्यता साधकतम है। वह योग्यता ज्ञानस्वरूप है क्योंकि यह अन्तः स्वरूप योग्यता किसी अन्य पदार्थ के परिणामन को लेकर प्रमाणरूप नहीं बनती अतएव वह स्वतन्त्र होकर ज्ञानरूप बनती है। तो ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है।

प्रथम सूत्र के प्रवचनमें चर्चायें हुई, कारकसाकल्य सन्निकर्ष इन्द्रिय का व्यापार, ज्ञातृव्यापार व ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञान प्रमाण नहीं है, इस सम्बन्ध में

उपसंहारात्मक एक प्रवचनांश देखिये—पृ० 102—इन्द्रियवृत्ति और ज्ञातृव्यापारका सिद्धान्त सन्निकर्ष के बाद रखा इन्द्रियवृत्ति । इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध तो नहीं, किन्तु इन्द्रिय का खुलना बढ़ना आदि यह प्रमाण है। ये कुछ भीतर की ओर आते जा रहे हैं। कारक साकल्य में तो एकदम बाहर बाहर उनका बोलना था इन्द्रियसन्निकर्ष में कुछ उसके भीतर आये और इन्द्रियवृत्ति में पदार्थ को भी छोड़ दिया, इन्द्रिय के व्यापार तक आ गये और अब इन चार प्रमाणों में इन्द्रियको भी छोड़कर आत्मा के व्यापार तक आये। यहां और भीतर आये। लेकिन सबके आशय में अज्ञानरूपता बन रही है। ज्ञानको प्रमाण नहीं माना और अब पांचवें प्रमाण में ज्ञानको भी प्रमाण माना, जो परोक्षरूप ज्ञान है वह है प्रमाण, ऐसे ज्ञानको प्रमाण कहा है। वह ज्ञान खुद का ज्ञान नहीं कर सकता। ज्ञानका ज्ञान करने के लिए और ज्ञानकी जरूरत होती है उसे ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानस्वभावी आत्मा के व्यापार को प्रमाण कहा है। वह भी युक्त नहीं कहा।

द्वितीय सूत्र में बताया गया है कि ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, क्योंकि ज्ञान ही हित की प्राप्ति में अहित के परिहार में समर्थ है। इसमें हितप्राप्ति समर्थता से सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये—पृ०105—ज्ञानकी हितप्राप्ति समर्थताका समर्थन—प्रमाण का स्वरूप पहिले सूत्रमें कहा गया था । इस सूत्र में ज्ञानका विवेचन किया जा रहा है कि ज्ञान ही प्रमाण है। अज्ञान क्यों नहीं प्रमाण बनता? अज्ञान में हितकी प्राप्ति करा देना और अहित का परित्याग करा देना यह सामर्थ्य नहीं है। जानकर ही तो हम हितकार्य को करते हैं और हितकार्य का छोड़ते हैं। और, एक दृष्टि से देखो तो जानने में ही हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार हो जाता है। लौकिक बातों में तो समयभेद मालूम होता है। जाना हमने अभी और हितको प्राप्ति करेंगे थोड़ी देरमें, लेकिन परमार्थसे, अध्यात्मदृष्टि से ज्ञानके ही कालमें हित की प्राप्ति होती है और अहित का परिहार होता है। जैसे अन्तर्ज्ञान होता है, यह आत्मा मात्र ज्ञानज्योतिस्वरूप है, ऐसा उपयोग गया, ऐसी ही मान्यता बनी, ऐसा ही अनुभव जगा तो उस कालमें हितरूप जो आत्मतत्त्व है उसकी प्राप्ति हो गयी। कहीं आत्मतत्त्वका पाने के लिए दौड़ लगानी पड़ती, कोई किया नहीं करनी पड़ती, किया रंच नहीं होती, हलन चलन रंच नहीं होती। उस ही क्षेत्र में निश्चल होकर ज्ञान किया जाता है अंतस्तत्त्वका । तो जिस क्षण में जान लिया कि यह मैं आत्मा ज्ञानस्वभावमात्र हूं तो ज्ञान ही इसका सर्वस्व है, सो उस ज्ञानने जब जब कषायों को त्याग दिया। अर्थात् कषायों का ग्रहण न किया, कषायों को पररूप जानकर ज्ञान ने त्याग किया। यद्यपि आत्मक्षेत्रसे कषायें हटी भी नहीं हैं, लेकिन ज्ञान ने तो कषाय को छोड़ दिया और अन्तः

आत्मस्वरूपका ज्ञानने ग्रहण किया तो उस ज्ञानमें तो तत्काल हित की प्राप्ति और अहित का परिहार बन गया।

प्रमाण के समौचीन लक्षण के विरुद्ध क्षणिकवादी अविश्रयात्मक निर्विकल्प ज्ञानको प्रमाण मानते हैं, इसके निराकरण के प्रवचनों के प्रसंग में देखिये निर्विकल्प व सविकल्प ज्ञान में क्षणिकवादाभिमत परस्पर कध्यारोप की असिद्धि का एक प्रवचनांश—पृ० 128—दोनों ज्ञानों में परस्पर अध्यारोप की असिद्धि—यहां इस प्रकरण की चर्चा या आ गया कि आचार्य देवने इस सिद्धान्त में यह बात रखी है कि प्रमाण वही ज्ञान होता होता है कि स्व एक अपूर्व अर्थ का व्यवसायात्मक हो अर्थात् जो निजका और पदार्थ का निश्चय करे वह ज्ञान प्रमाण है। इस पर क्षणिकवादी ने यह बात कही कि निश्चय करनेवाले ज्ञान तो सभी अप्रमाण होते हैं, क्योंकि जिसका निश्चय कर रहे हों वे सब मिथ्या है और जो वास्तविक है उसका प्रत्यक्ष तो होता है पर निश्चय नहीं होता। यह क्षणिकवाद एक सिद्धान्त है। इस पर निर्विकल्प ज्ञान में प्रमाणता नहीं है, यह बात अनेक विकल्प उठाकर कहीं जा रही है। तो पूर्व पक्षमें यह बताया है कि निर्विकल्पज्ञान और सविकल्प ज्ञान में एकत्व भ्रम हो गया है, इस कारण निर्विकल्प ज्ञानकी लोगों को प्रतीति नहीं है, एक का दूसरे में अध्यारोप हो गया। तो यह बतलाओ विकल्पज्ञान में निर्विकल्पका आरोप किया जा रहा है या निर्विकल्प ज्ञानमें विकल्पज्ञान का आरोप किया जा रहा है? अर्थात् विकल्प ज्ञान को निर्विकल्परूपसे बनाना यही है विकल्पमें निर्विकल्पका आरोप। और निर्विकल्प ज्ञानको विकल्पात्मक बना डालना यही है निर्विकल्प में विकल्प का आरोप। यदि विकल्प ज्ञान में निर्विकल्पका आरोप करते हो तो विकल्प तो सब खतम हो गये, फिर व्यवहार कुछ रहना ही न चाहिए। सारे के सारे ज्ञान निर्विकल्प हो जाना चाहिए। सो निर्विकल्प ज्ञान से कुछ लोगों में भी व्याख्या चलती है क्या? और, यदि निर्विकल्प में विकल्प डाल दिया तो निर्विकल्प की बात ही मत करो। सब ज्ञान सविकल्प हो जायेंगे।

समारोप के विरोधी ज्ञानकी प्रमाण कहते हैं, इस पर कुछ दार्शनिक समारोप का स्वरूप ही सिद्ध होने नहीं दे रहे थे, उसे असत्ख्याति, स्मृतिप्रमोप, प्रसिद्धार्थख्याति आदि नाम घर घर के टाल रहे थे। सो सधारोपन का स्वरूप सिद्ध करने के प्रसंग में निष्कषत्मिक एक प्रवचनांश देखिये तृतीय भागमें, पृष्ठ, 254—सम्यग्ज्ञानमें समारोप का अभाव—सच्चा ज्ञान वह कहलाता है जो अपना और पदार्थों का यथार्थ निर्णय करें। सच्चे ज्ञानमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नहीं होता। अर्थात् न तो सम्यग्ज्ञान में संशय रहता है कि अमुक पदार्थ यों है संशयज्ञान है, जहां संशयज्ञान न हो वह यथार्थ ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान में विपर्यय ज्ञान भी नहीं होता। जैसे पड़ी तो रस्सी है और

जान रहे हैं सांप, तो यह उल्टा ज्ञान हुआ। विपर्ययज्ञान भी सम्यग्ज्ञानमें नहीं है, और अनध्यवसाय ज्ञान कहते हैं अनिश्चयको। जहां कुछ भी निश्चय की भावना तक भी नहीं है और कुछ झलक जरूर हुई है जैसे चले जा रहे हैं, पैर में तिनका लग गया तो उसमें और कुछ ध्यान न होता। अरे, लगा होता कुछ। उस के निर्णय की भावना तक भी नहीं हो, यथार्थ ज्ञानमें यह अनध्यवसाय भी नहीं होता। यह है सिद्धान्त की बात।

चतुर्थभाग में ज्ञेयतत्वय अपलाप करने वाले अद्वैतवाद की मीमांसा करके अन्त में निष्कर्षात्मक निर्णय दिया है, उस प्रवचनांशको पढ़िये—पृ०—388—ज्ञान की प्रमाणता और ज्ञेयो का सद्भाव—भैया, सीधे मानो की ज्ञान मात्र आत्मा है, वह पदार्थ का ज्ञान करने में समर्थ है और ज्ञानको कुछ न कुछ विषयभूत पदार्थ चाहिए ही। तो जो पदार्थ जानने का विषय आया वह पदार्थ अपनी सत्ता अलग रखता है। जाननहार ये चेतन पदार्थ अपनी सत्ता अलग रखते हैं, सब अपना अपना काम रक रहे हैं। इन जड़ पदार्थों का काम उत्पादव्यय करते रहना है, सो अपने स्वरूपसे अपने ही अनुरूप वे उत्पाद व्यय करते हैं। इस चैतन्य आत्माका भी काम उत्पाद व्यय करता रहता है, सो चूकिं यह चैतन्य है इसलिए जानने के ढंग से यह अपना उत्पाद व्यय करता रहता है, ज्ञान का मात्र नवीन नवीन परिणाम होता रहता है। ज्ञान भी तत्व है औप ये समस्त ज्ञेयतत्व हैं,। इसमें से किसी का भी अपलाप नहीं किया जा सकता है। इन सबका जाननहार जो एक ज्ञान है वह ही सब व्यवस्था बनता है और वह ज्ञान प्रमाण है। इस प्रकार यहां तक यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान का स्वरूप ऐसा ही मानना चाहिए जो अपने आपके स्वरूपका प्रतिमाह भास करे और समस्त पदार्थों का प्रतिभास कराये। और प्रकार से ज्ञानका स्वरूप मानोगें तो न स्वरूप बन सकेगा और न प्रमाणता आ सकती है।

188—191 परीक्षामुखसूत्र प्रवचन प्रमेयकमलमार्तगड प्रवचन 5, 6, 7 भाग।

इस पुस्तक के षष्ठ व सप्तम भाग में परीक्षामूलसूत्र के प्रथम अध्याय के छठे सूत्र से अन्तिम 12 वें सूत्र तकके पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। ज्ञानकी अर्थव्यवसायात्मकता की भांति स्वव्यवसायात्मकता सिद्ध करते हुए एक प्रवचनांशमें निर्णय दिया है, पढ़िये पृ० 14—अब जरा अनुभव से भी विचार लो कि हम जितना जो कुछ भी जानते हैं उस सबके जानने के साथ साथ स्वयं में भी सन्तोष होना, प्रतिभास होना, उजेला रहना, निर्णय रहना ये सब बातें चलती है ना। चाहे कोई इसका विश्लेषण न करता हो, उसे उस प्रयोगरूपमें बचनों में न लेता हो, लेकिन प्रत्येक ज्ञानकी यह तारीफ है कि वह अपने आप को चेतता रहता है, तभी वह

बाह्य पदार्थों का जाननहार होता है। ज्ञान स्वव्ययसायात्मक ही है क्योंकि वह अन्य इन्द्रिय आदिक की अपेक्षा न रखकर पदार्थ की व्यवस्था करता है।

कोई दार्शनिक प्रीति से ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये, प्रकृति क्या चीज है, तब विदित होगा कि ज्ञान प्रकृति से निराला है, पृ0 21 –जैन शासन में प्रकृति का स्थान—प्रकृति के सम्बन्धमें इसका समन्वय करने के लिए थोड़ा जैनशासन के अनुसार सोचिये—जैसे कभी बहुत सुरम्य स्थान पर अपने पहुंचें। शिमला, मंसूरी, काशमीर किसी भी जगह जायें और रमणीक फल वृक्ष पत्ते वगैरह हो, नदी भी वह रही हो, नाला भी बहता हो, कलकलाहट के शब्द भी आ रहे हों, कुछ चिड़ियां भी चहक रहीं हों तो ऐसे दृश्यको देखकर कोई लोग कहने लगते हैं—वाह कैसा रमणोक दृश्य है, देखो प्रकृति कितनी सुहावनी है। भला बतलावो तो सही कि वह प्रकृति क्या चीज है? किसका नाम प्रकृति है? और किसकी खूबी है जो इतना सुहावना दृश्य लगता है? क्या है वह प्रकृति? इसका जैनदर्शन से निर्णय करें। वह प्रकृति है कर्म की। कर्ममें नाना प्रकृतियां पायी जाती हैं और जिस जीव के साथ जिस प्रकार की विचित्रता। कोई एक फूल ऐसा होता है जिसमें आप 7 रंग पायेंगे और विचित्र ढंग से और उसी के पेड़ में किसी जगह और ढंग से फूलों के रंग पायेंगे। इतनी प्रकार की फूलों में जो विचित्रता है वह क्या स्वाभाविक विचित्रता है? वह तो प्राकृतिक विचित्रता है, स्वाभाविक विचित्रता नहीं है। स्वभाव में और प्रकृति में अन्तर है। प्रकृति तो एक कृत्रिम चीज है, आदिम है और स्वभाव आदिम नहीं है। तो इतनी प्रकार की विचित्रतामें उस रमणीक स्थानमें मालूम पड़ रही है वह है क्या? उनउ न जीवों के साथ जिन जीवों ने फूल का शरीर लिया है, पत्ती का शरीर लिया है उनउ न जीवों के उस उस प्रकार की विचित्र कर्मप्रकृतियां लगी हुई हैं और उनके उदय में उनका ऐसाविचित्र परिणमन चल रहा है। यह है प्रकृति की चीज। जब कहा कि कितने प्राकृतिक दृश्य है? तो उसका अर्थ यह है कि कर्म प्रकृति के उदय से उत्पन्न हुई शरीर की शोभा। उस प्रकृति से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, ज्ञानस्वरूप तो यह स्वयं आत्मा है।

भौतिकवादी आत्मा की सत्ता नहीं मानते है, आत्मा का सत्व है, यह समझ लेना कितना सुगम है, पढ़िये एक प्रवचनांशमें, पृ0 61 –आत्मा की अहंप्रत्ययवद्यता—चारुवाक जनों की अविचारितरम्य शिक्षा सुनने से तुरन्त तो अच्छी लगती है पर इस पर विचार करें तो यह ठीक संगत नहीं बैठ सकता, क्योंकि आत्मा की प्रतीति तो अहं प्रत्यय से हो ही रही है। प्रत्येक जीव अपने आपमें अनुभव कर रहे हैं, मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं, मैं ऐसी पोजीशन का हूं, यों जिसमें अहं प्रत्यय बन रहा है वही तो आत्मा है और ऐसा अहं अहं का अनुभव प्रत्येक प्राणीमें हो रहा है। मैं यों होंउ, मैं ऐसा न होउं, मैं दुखी

होंउंगा, मैं सुखी होउंगा, यह किसमें मैं मैं की आवाज अन्दर में उठ रही है? हाथ में कि पैर में कि शिर में? जिसमें अहं प्रत्यय हो रहा है वही तो आत्मा है और यह बात मिथ्या है नहीं, क्योंकि कोई बाधा नहीं आ रही। अपने अपने में सब लोग अहं अहंका अनुभव किए जा रहे हैं। यह अहं प्रत्यय किस आधार से उठा इसका उपादान क्या है? बस वही आत्मा है। यह अहं बोध शरीर के आश्रय से नहीं होता, क्योंकि अहंका अनुभव इन्द्रिय के व्यापार बिना हो रहा है। शरीर तो इन्द्रिय के व्यापार से जान लिया जाता है। इन्द्रिय के व्यापार बिना शरीर का बोध तो नहीं होता।

ज्ञान स्वका भी संदेश करता ही है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़िये—पृ० 132—स्वका ज्ञान स्व से हो प्रकरण यह है कि सिद्ध यों किया जा रहा कि ज्ञान स्वसवेदक है, ज्ञान परका भी और अपने आपका भी ज्ञान करता रहता है। परोक्ष ज्ञानवादियों ने यह तो मान लिया कि ज्ञान पर पदार्थ का प्रकाश करता है, पर यह नहीं माना कि ज्ञान स्वका भी प्रकाश करता है। जैसे दृष्टान्त में कहा जाय कि दीपक, बिजली खुदका भी प्रकाश करता है और परपदार्थ का भी प्रकाश करता है। अब इसमें से कोई इतनी बात तो मान ले कि दीपक पर पदार्थ का भी तो प्रकाश करता है मगर खुद का प्रकाश नहीं करता, तो यह बात कोई मान लेगा क्या? जो दीपक खुदका प्रकाश नहीं कर सकता, तो वह पदार्थ का भी प्रकाश नहीं कर सकता। क्या किसी जलते हुए लटटू को देखने के लिए कोई और रोशनी तलाश करता है? नहीं करता ना? कोई यह तो नहीं कहता कि हमें बैटी या लालटेन लावो उस कमरे से प्रकाशक लालटेन उठा लावें। अरे जो लालटेन जल रही है वह तो अपने आप मालूम पड़ जावेगी कि यह जल रही है। ऐस ही ज्ञान खुद में प्रकाश करता है या नहीं करता? हम जिस ज्ञान से पदार्थ को जानते हैं वह ज्ञान भी हमको एक निर्णय बताता हुआ जग रहा है या नहीं जग रहा है? इस बात को पूछने के लिए हम किसी दूसरे के पास जायें क्या? हम चौकी को जान रहे हैं ऐसा ज्ञान मेरे में या यह बात मैं किसी दूसरे से पूछने जाऊं क्या? अरे, जिस ज्ञान से जान रहे हैं वह ज्ञान उसी में अपने आप स्पष्ट है।

ज्ञान की स्वपर प्रकाशकताका चरम विशुद्ध रूप देखिये एक प्रवचनांशमें, पृ० 174—प्रभुपरिचय—प्रभुका कुछ और परिचय सुनो। ये परमात्मा ज्ञान उपयोग द्वारा भी अपने आत्मा में रहा करते हैं। ठीक है, पर कुछ बाहरी बात समझमें नहीं आयी कि कहां रहते हैं? उनका बाहर में स्थान कुछ नहीं है। वे अपने परमौदारिक शरीर में रहते हैं। और, ये क्या किया करते हैं? यह तो नाम ओर स्थान का परिचय हैं। ये परमात्मा अपने ज्ञान और आनन्दस्वभाव का निरन्तर शुद्ध विलास किया करते हैं। यही उनका रोजगार है। न उनके भूख प्यास है, न कोई रोग है, न कोई अन्य द्वंद पद है, संयोग मोह ममता

आदिक कोई विडम्बनायें भी वहां नहीं हैं, केवल आत्म आत्मा का स्वरूप है। यह ज्ञान द्वारा समस्त विश्वको जानते रहते हैं। यों स्व और पर प्रकाशक भानु की तरह उनका ज्ञानभी स्वपरप्रकाशक है। तो इस काम के करने से उन्हें नफा क्या होता है? वे निरन्तर ज्ञान के द्वारा अपने स्वरूपको और समस्त विश्व को जानते रहते हैं। ऐसे पुरुषार्थ का, रोजिगार का, परिणमनका फल क्या मिलता है उन्हें? फल उन्हें मिलता है अनन्त आनन्द। जहां केवल ज्ञाता दृष्टा रूप परिणमन है। सब विष्वक्के ज्ञाता है पर किसी भी बाह्य पदार्थ में उनके मोह नहीं, रागद्वेष नहीं। अतएव वे प्रभु अनन्त आनन्द को भोगते रहते हैं।

प्रमाण स्वरूपकी विविध मीमांसा के बाद कितने संक्षेप और सरलतामें ज्ञान के प्रमाणत्व का वर्णन है देखिये पृ० 207-208-ज्ञान में ही प्रमाणत्वकी सिद्धि—इस परिच्छेद अब तक यह सिद्ध किया गया है के प्रमाण क्या होता है, कैसा होता है? उसका लक्षण बताया है कि जो स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण होता है। वाक्य कितना छोटा है। स्व अपूर्व अर्थ का प्रकाश करें—वह ज्ञान प्रमाण है ये 5 शब्द हैं प्रमाण के स्वरूपमें। उन 5 विशेषणों को सिद्ध करने के लिए अब तक इसका कथन हुआ है। प्रतिलोम पद्धति से विचार करो, ये शब्द मान लीजिये, जिसका स्वरूप कहा जा रहा है उसको भी मान लीजिये प्रमाण ज्ञान ही होता है अज्ञान नहीं। आप सोचते होंगे कि क्या कोई लोग अज्ञानको भी प्रमाण कहते हैं जिससे यह जोर दिया जा रहा है। कि प्रमाण ज्ञान ही होता है, अज्ञान नहीं होता, हां मानते हैं बहुत से लोग। व्यवहारी जन भी इतना तो मानते हैं। कोई जज पूछता है कियह मकान तुम्हारा है, इसका प्रमाण क्या है? तो झट रजिष्ट्री किया हुआ कागज आगे रख देते हैं और कहते हैं कि यह गवाह प्रमाण है अथवा द्वार से जाकर कोई गवाह बुला लाते हैं और कहते हैं कि यह गवाह प्रमाण है। अउ ये कागज और ये गवाह दोनों प्रमाण हैं? हां कागज और गवाह को देखकर जजमें जो ज्ञान बना वह प्रमाण है। गवाह के द्वारा कहे हुए वे वचन भी प्रमाण नहीं हैं, ये वचन भी अज्ञान है। अरे वह प्रमाण नहीं है।

सप्तम भाग में प्रमाण सिद्ध प्रमाणताका साधन निर्णीत किया हैं कि प्रमाण का स्वतः भी होता है और परतः भी होता है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये—पृ० 210—प्रामाण्यको उत्पत्ति और ज्ञप्तिका विश्लेषण—प्रामाण्यके सम्बन्ध में यह सिद्धान्त बना कि ज्ञान से कुछ जाना उसको प्रमाणता पक्कायत, हां यही ठीक है, मेरा ज्ञान सही है, इस प्रकार की प्रमाणता होना अभ्यास दशामें तो खुद-बखुद है और अनभ्यास दशामें, अपरिचय की जगह में पर से हुआ करती है। लेकिन, भीतर जो किसी ज्ञानको, यह प्रमाण है, क्या ऐसी उनकी प्रमाणता ठीक करने के लिए जो वृत्ति

जगती है वह एक भिन्न ज्ञान है याने अन्य ज्ञानसे प्रमाणता बनी अथवा चक्षु आदिक इन्द्रिय निर्दोष हैं उन परसे उत्पन्न हुई है। इस प्रसंग में यह बताया जा रहा कि ज्ञान जानता है, पर ज्ञान ठीक जान रहा है उसकी प्रमाणता जिस निमित्त से ज्ञान होता है उस परसे उत्पन्न होती है, मगर ज्ञप्ति की क्रिया में जानन कार्य में और जाननका फल है अनिष्ट से हट जाना, इष्ट पदार्थ में लग जाना, इस प्रकार की प्रवृत्ति और इन्द्रिय के अर्थ होने वाला ज्ञान ये परिचय की स्थिति में स्वतः होते हैं और अपरिचयकी स्थिति परतः होते हैं।

प्रामाण्यकी ज्ञप्ति जो स्वतः होती है, किन्तु उत्पत्ति निमित्त दृष्टि से परतः भी होती है। लेकिन जब उपादाव दृष्टि से देखा जाय तब प्रामाण्यकी उत्पत्ति भी स्वतः होती है—देखिये प्रवचनांश—पृ० 232—उपादानदृष्टि से ज्ञान और प्रामाण्यकी उत्पत्तिका स्वतः ही विधानउक्त उदाहरण की भांति ज्ञान की भी बात है। ज्ञान यद्यपि आत्मा के ज्ञानस्वभाव से ही उत्पन्न होता है परपदार्थों के स्वभाव के नहीं। ज्ञानमय आत्मा की परिणति ही ज्ञान है, लेकिन आज जो संसार अवस्था में जीवों की अवस्थाएँ हैं उन अवस्थाओं में ज्ञान आवृत है, ज्ञान अविकसित है, उसका विकास इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर बनपाया है तो निमित्त दृष्टि से उत्पत्ति परसे हुई, उपादान दृष्टि से उत्पत्ति स्वयं से हुई। एक बालक स्कूल में पढ़ता है, उसके अध्ययन के लिए उसके ज्ञानविकास के लिए गुरुका शिक्षण लेना चाहिए, पुस्तक चाहिए, कापी, पेन्सिल, कलम आदि चाहिए, सब साधनों को वह जुटाता है, पर बालक में जो ज्ञान का विकास हुआ वह क्या कागज, पेन्सिल, कलम, दवात आदिक चीजों से निकलकर हुआ। ये बस तो अजीव हैं, जड़ है, जड़ से समाप्त होता है। गुरुका ज्ञान यदि गुरु से निकलकर लड़कों में जाने लगे तो कुछ ही दिनों में वह गुरु तो ज्ञानशून्य हो जायगा, क्योंकि 40—50 लड़कों को ज्ञान दिया वहां ज्ञान खतम। प्रत्येक पदार्थ की अवस्था उस ही पदार्थ में उत्पन्न होती है, पर तो निमित्त मात्र हैं

192—194 परीक्षामुखसूत्र प्रवचन प्रमेयकमलमार्तण्डप्रवचन

8, 9, 10, भाग

इस पुस्तक में द्वितीय परिच्छेद के प्रथम 11 सूत्रों पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। दार्शनिक पद्धति से प्रत्यक्ष के जो भेद किये गये हैं उनका सिद्धान्त से समन्वय देखिये एक प्रवचनांशमें पृ० 14, 15—ज्ञानका भेदविस्तार—जैन शासन में ज्ञान का भेद विस्तार इस प्रकार किया गया है कि मूल में ज्ञान एक है। जो जाने सो ज्ञान। जाननमात्र स्वरूप को लक्ष्य में लेकर सभी जितने भी भाव किये जायेंगे वे सब ज्ञानरूप हैं, फिर उस ज्ञान के दो भेद हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष ओर परोक्ष की

वास्तविक व्याख्या तो यह है कि जो इन्द्रिय मनकी सहायता के बिना केवल आत्मीय शक्ति से जाने वह तो है प्रत्यक्ष ज्ञान और जो इन्द्रिय मन आदिक का निमित्त पाकर जाने उसका नाम है परोक्षज्ञान। फिर भी प्रत्यक्ष ज्ञान में चूंकि स्पष्टता आती है अवधिज्ञान से जो जाना जायगा वह स्पष्ट ज्ञात होगा, और मनः पर्यय और केवल ज्ञान से जो जाना जाता है वह स्पष्ट जाना जाता है, तो उस स्पष्टता की नकल कुछ कुछ इन इन्द्रिय प्रत्यक्षों में पायी जाती है। जैसे कि हम आप लोग कहा करते हैं कि हमने आंख से प्रत्यक्ष देखा, आंख से किसी बात को देख लेने पर फिर सन्देह नहीं रहता। स्पष्टता रहती है तो यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष की स्पष्टता कुछ स्पष्टता जैसी है अतएव प्रत्यक्ष के दार्शनिक शास्त्रों में दो भेद किए गये—साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मन से सीधा जो जाना जाता है वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान, मनः पर्यय, केवलज्ञान ये पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

परोक्षज्ञान के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये प्रकार हैं। जो दार्शनिक इनमें से किसी को कम करके या इनसे अतिरिक्त उपमान आदि जोड़कर प्रमाण प्रकारों की संख्या कबूल करते हैं उनके मनतवय की विस्तृत मीमांसा की गई है। जरा अभाव प्रमाणविषयक चर्चा देखिये एक प्रवचनांशमें, पृ0 95, 96—अभाव की वसवन्तसद्भावरूपता—जैन शासन में अभाव को किसी अन्य वस्तु के सद्भाव रूप माना है। जैसे रोटी बनाते हैं तो जिस समय लोई बनाये हुए हैं उस समय लोई में रोटी का अभाव है कि नहीं? अभी लोई है, रोटी कहां है? तो रोटी का जो अभाव है वह लोई के सद्भावरूप है, अभावबिना भाव नहीं होता। अभाव किसी सद्भावरूप होता है, तो जो लोग अभाव का कुछ नहीं मानते अवस्तु मानते अवस्तुका ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, अवस्तु ज्ञानजनक नहीं हो सकता। वस्तु ही कार्य को उत्पन्न कर सकती, अवस्तु नहीं, क्योंकि जो अवस्तु है उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका भी अभाव है और जो भी वस्तु है उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सद्भाव है। जैसे यह घड़ी है तो घड़ी का जो पिण्ड है वह इसका द्रव्य है यह घड़ी जितने में फैली है वह उसका क्षेत्र है, जो रूप रंग नई पुरानी आदि अवस्थायेंह” यह उस घड़ी का काल है और घड़ी का जो स्वभाव है, गुण है वह घड़ी का भाव है। तो जो वस्तु है उससे द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव होते हैं, उसमें शक्तियां होती हैं, उसमें सामर्थ्य होता है।

अभावप्रमाण को स्वतंत्र सिद्ध करने का यत्न करने वाले दार्शनिक प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव का कारण अन्य है, अध्वंसाभावका कारण अन्य हैं, तब उनका जो समाधान दिया गया उसका प्रवचनांशमें दिग्दर्शन कीजिये, पृ0 142—प्रध्वंस और उत्पाद के कारणभेद की मीमांसा—भिन्न कारणप्रभवताका हेतु देकर अभाव को भिन्न पदार्थ मानने की शैल्य का निराकरण प्रतीति के बलपर

हो ही जाता है। घटके विनाश का प्रकार और कारण जुदा हो और कपालों के उत्पाद का प्रकार और कारण जुदा हो ऐसी किसी की भी प्रतीति नहीं होती। जो प्रक्रिया कपाल के उत्पाद और घट के विनाश की बताई गई है उसमें एक ही बात हुए। बलवान पुरुष के द्वारा प्रेरित मुदगरादिक व्यापार से घटाकाररहित कपालाकार मृत द्रव्यकी उत्पत्ति हुई है। लोकों को जो सही सुगम प्रतीति होती है उसका अपलाप करके शब्दशास्त्र के पाण्डित्य का प्रयोग करने में कोई हित नहीं है। घट का अभाव और कपाल का सद्भाव एक ही समय में हुआ है और उस ही समय का जो परिणमन है वही घटका अभाव कहलाता है और वही कपाल का उत्पाद है।

लोग कहते हैं कि यह ज्ञान स्पष्ट है और यह स्पष्ट नहीं, स्पष्टताका सही अर्थ क्या है इसे पढ़िये पृ0 170 पर एक प्रवचनांशमें—ज्ञानान्तर की आड़ बिना होने वाले प्रतिभास में वैशद्यरूपता—इस सूत्र में स्पष्टता का लक्षण कहा गया है। इस सूत्र का भाव जो भी आगे कहेंगे वह कठिन नहीं है। साथ ही उसमें बहुत से तत्व अपने आत्मा का प्रासाद बढ़ाने वाले मिलेंगे। वैशद्य के लक्षण में कहते हैं कि अन्य ज्ञान के व्यवधान बिना जो प्रतिभास होता है उसे वैशद्य कहते हैं। वैशद्य कहो या स्पष्टता का लक्षण बताया है कि जिस ज्ञान से जाना जा रहा है उस ज्ञान का अन्य ज्ञान के व्यवधान से न हो तो स्पष्टता है। और इसी समय थोड़ा दृष्टान्त देकर बता दें, आंखों से देखा, झट जान गये, इसमें किसी दूसरे ज्ञान की प्रतीक्षा नहीं प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी, किसी ज्ञान के हाथ नहीं जोड़ने पड़े कि कोई अन्य ज्ञान बने तब हम सामने की चीज को जान पायें। ज्यों ही आंखे खोली कि पदार्थ जान गये। इसके बीच में किसी अन्य ज्ञान का उदय नहीं है और जब अनुमान ज्ञान करते हैं, घूम देखकर अग्निका ज्ञान किया तो अग्नि का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है, मगर उस अग्नि का ज्ञान करने में घूम का ज्ञान करना पड़ा। तो घूम के ज्ञान का उस में व्यवधान आ गया। सीधा ही अग्नि का ज्ञान नहीं बना वहां पहिले घूम का ज्ञान किया, और फिर तर्क याने व्याप्ति का ज्ञान किया। जहां जहां धुवां होता है वहां वहां अग्नि होती है, इस प्रकार का ज्ञान हुआ तब जाकर अग्नि का बोध हुआ। तो आप जान गये होंगे कि अग्नि का ज्ञान कराने वाले अनुमान ज्ञान के बनने के लिए अन्य ज्ञानों की जरूरत पड़ी, उनकी बाट जोही, उनका व्यवधान बना। तो अनुमान ज्ञान परोक्षज्ञान हुआ, स्पष्ट ज्ञान हुआ। तो इसी दृष्टि को लेकर इस लक्षण का भेद समझियेगा।

कुछ दार्शनिकों ने सन्निकर्ष मानने की क्यों कल्पना की, इसका दिग्दर्शन कीजिये—पृ0 188—प्रत्यक्षके लक्षण का मूल विवाद यहां मूल प्रकरण तो प्रत्यक्षके लक्षण का था, उसमें प्रसंगवश यह बात चल रही है और यह बहुत लम्बे समय तक चलेगी कि आंखे पदार्थ से भिड़कर नहीं जानती और

नैयायिक यह सिद्ध करेंगे कि आंखे पदार्थ को छूकर ही जानती हैं। इन दो बातों पर अभी बहुत विवाद चलेगा। किस बात पर विवाद छिड़ गया? मूल बात यह है कि प्रत्यक्ष का लक्षण यह किया गया था कि जो विशद ज्ञान हो सो प्रत्यक्ष है, विशद अर्थ बताय था कि जो अन्य ज्ञानों की अपेक्षा किये बिना प्रकृत ज्ञान से ही सीधा जान लिया जाय उसे विशद कहते हैं। इस लक्षण को मेटने के लिए नैयायिकों ने यह लक्षण उपस्थित किया था कि इन्द्रिय और पदार्थ के भिड़ने से ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। मन पदार्थों से भिड़कर नहीं जानता इसलिए स्मरण आदिक जो कुछ होत हैं उनमें प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं जाना। इस प्रकार मुकाबले में प्रत्यक्ष के लक्षण में सन्निकर्ष को देने के कारण सन्निकर्ष का खण्डन किया जा रहा है कि इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना युक्त नहीं है। ज्ञान तो अपनी स्पष्टता के कारण प्रत्यक्ष है।

कुछ दार्शनिक मानते हैं ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है, और ऐसा सिद्धान्त बनाकर ही व्यवस्था बना पाते हैं कि जो ज्ञान घट से पैदा हुआ वह ज्ञान घटज्ञान कहलाता है। इस मनतवयका विस्तृत निराकरण करने के बाद एक निराकरण इस संक्षिप्त प्रवचनांशमें देखिये—पृ० 219—ज्ञानकी अर्थकार्यता का संशयज्ञान के साथ व्यभिचार अब दूसरी बात यह देखिये कि संशय ज्ञानमें भी संशय का कल्पित पदार्थ नहीं है और ज्ञान हो रहा है, सम्यग्ज्ञान में अनेक कोटि वाले ज्ञान होते हैं, यह सीप है या चांदी है, इस प्रकार का जो ज्ञान हो रहा है ऐसा ज्ञान होने के लिए वहां दोनों पदार्थ मौजूद होने चाहिए। यदि पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता है यह माना जाय। हों दोनों पदार्थ तो फिर उसे संशय क्यों कहते? भ्रान्त क्यों कहते? सही ज्ञान चाहिए और, संशयज्ञान तो तभी होता है जब वहां पदार्थ तो अनेक नहीं हैं, पदार्थ तो कोई एक है और कोटियां अनेक बन रही हैं। यह सीप है, या चांदी है, या कांच है अनेक कोटियां बन सकती हैं। एक जगह स्थाणु और पुरुष ये दोनों के सिद्ध हो सकते हैं, पदार्थ तो कोई एक पड़ा है और ज्ञान यहां संशय चल रहा है तो जब दो पदार्थ वहां नहीं हैं तो संशय ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई? इससे सिद्ध है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता। वह तो अपनी योग्यता से अपनी ही विधि से उत्पन्न हुआ करता है

सकलप्रत्यक्षज्ञान होता है आवरण कर्मक्षय से, यह बात समझने के लिए पौद्गलिक कर्म की सिद्धि करना आवश्यक है सो कर्म का अनुमापक हीनस्थानता सिद्ध की है एक प्रवचनांशमें, देखिये पृ० 260—शरीर की हीनस्थानताकी सिद्धि—यह शरीर हीनस्थान है क्योंकि शरीर आत्मा के दुख का कारण है। जैसे कारागार, जेलखाना याह हीनस्थान है या उच्चस्थान है? हीनस्थान है, ऐसे ही यह शरीर हीनस्थान है, सारे दुख इस शरीर के कारण

लगते हैं। क्षुधा, तृषा आदिक रोग ये तो शरीर के कारण स्पष्ट हैं, नामवरी के रोग भी शरीर के कारण लगते हैं। क्षुधा, तृषा आदिक रोग ये तो शरीर के कारण स्पष्ट हैं, नामवरी के रोग भी शरीर के कारण हैं, इस जीवने अपने प्राप्त शरीर के ढांचे को माना कि यह मैं हूँ, तो अब इसकी अभिलाषा हुई कि मेरा नाम होना चाहिए। मेरे के मायने यहां उस सहज चैतन्यस्वरूपका नहीं, यहां मेरे के मायने है यह शरीर। उस चैतन्यस्वरूपकी किसे खबर है? अगर उसकी खबर हो तो नामवरी की चाह भी नहीं हो सकती, क्योंकि यह तो निर्विकल्प एक ज्ञानप्रकाश मात्र तत्व है। नामवरी होना चाहिए। अब नामवरी की आशा में कितने क्लेश सहने पड़ रहे हैं। कैसे कैसे गन्दे कलेकित मलिन पुरुषों को भी प्रसन्न करने का मन में विकल्प करना पड़ रहा है, कितना कठिन परिश्रम करना पड़ता है। आत्मा के शुद्ध दर्शन से भी हाथ धो देना पड़ता है। तो नामवरी फैलाने का रोग भी इस शरीर के कारण है। बड़े छोटे कष्टों का नाम तो लो, कुछ भी नाम लो—परिवार में नहीं बनती अथवा पुत्रादिक का क्लेश है, सुपुत की वेदन है तो यह क्यों हुआ? अमुक रिश्तेदारने धोखा दिया है, अमुक का व्यवहार ठीक नहीं है, जितने भी दुख हो रहे हों मानसिक दुख भी हो रहे हों तो उन सबका कारण यह शरीर है। तो शरीर समस्त दुखों का कारण है इस कारण शरीर हीनस्थान है।

95—198 परीक्षामुखसूत्र प्रवचन **प्रमेयकमलमार्तगडप्रवचन** 11, 12, 13, 14 भाग

इस पुस्तक में सृष्टिकर्तृत्व, प्रकृति पुरुषवाद, प्रभुके कबलाहार, मुक्तिस्वरूप, अद्वैतवाद आदि अनेक दार्शनिक विषयों पर समीक्षणात्मक प्रवचन हैं। सृष्टिकर्तृत्वके सम्बन्ध के प्रवचनों के बीच एक प्रवचनांश पढ़िये—पृ0 59—सशरीरता के बिना प्रयोक्तृत्वका अभाव—खैर किसी तरह मान भी लिया जाय कि जो कर्ता है, प्रयोक्तापन बन ही नहीं सकता। अमूर्त है शरीर नहीं है तो प्रयोक्ता कैसे बन सकेगा? यहां हम आप जितने मनुष्य हैं ये प्रयोक्ता बन रहे हैं। तो शरीररहित है तब ना। शरीर रहित कोई एक ईश्वर कैसे उसके कार्यो का प्रयोग कर सकता है? कार्य व हेतु देकर शंकाकारने ईश्वर को कर्ता कहां और उसमें दृष्टान्त दिया कुम्हार का, जैसे घट कार्य का करने वाला कुम्हार, वह तो असर्वज्ञ है, कृत्रिम ज्ञान वाला है तो जब दृष्टान्त का कार्यपना एक अनीश्वर, असर्वज्ञ कृत्रिम ज्ञान वाले के साथ व्याप्त है तो सारे काम ऐसे के ही साथ व्याप्त होंगे जो अनीश्वर हो, असर्वज्ञ हो, कृत्रिम ज्ञानवाला हो। तब तुम्हारा जो अनुमान है उसमें हेतु विशिष्ट हो गया। कार्यत्व हेतु देकर यहां सर्वज्ञ ईश्वर को कर्ता सिद्ध करना चाह रहे थे, मगर उसके द्वारा असर्वज्ञत्व ही सिद्ध होता है।

सृष्टिकर्तृत्वकी समीक्षा के बाद देखिये इस प्रवचनांशमें यह सिद्ध किया गया है कि चेतन की परिणति में अन्य चेतन निर्मित तक भी नहीं हों सकता, पृ० 93—चेतन की परिणति में अचेतन की निमितता—एक बात और जान लेने की है कि चेतन को तो कोई अन्य चेतना निमित भी नहीं बनती किसी काम में। चेतन विभाव में सुधार बिगाड़ अचेतन निमित हुआ करते हैं, चेतन के किसी भी सुधार बिगाड़ आदिक में चेतन निमित नहीं है, इस बात को कुछ विशेषता से सोचते जाइये। कदाचित् यह शंका कर सकें कि एक जीव को दूसरा ज्ञानी पुरुष उपदेश देता है और उसके सुधार में कारण बनता है तो देखो ना कि उस चेतन को जो सन्मार्ग प्राप्त हुआ है उसमें अंतरंग निमित कारण तो कर्मों का उपशम क्षयोपशम है और बाह्य कारण निरखा जाय तो वे वचन वर्गणायें, वे सब अचेतन चीजें बाह्य कारण है। किसी चेतन का चैतन्यस्वरूप इस चेतन को चिन्तन में विषयभूत तो हो सकता है, आश्रयभूत तो हो सकता है, इसका ख्याल करके लक्ष्य करके स्वन्तत्रतया वह अपने आपमें परिणमन करे यह बात तो हो सकती है, पर कोई चेतन इसका निमित बने अथवा चैतन्यस्वरूप अन्य इसके सुधार निमित बने यह बात कहां आयी?

सृष्टिकर्तृत्वकी समीक्षा के बाद देखिये इस प्रवचनांशमें यह सिद्ध किया गया है कि चेतन की परिणति में अन्य चेतन निमित तक भी नहीं हों सकता, पृ० 93—चेतन की परिणति में अचेतन की निमितता—एक बात और जान लेने की है कि चेतन को तो कोई अन्य चेतना निमित भी नहीं बनती किसी काम में। चेतन विभाव में सुधार बिगाड़ अचेतन निमित हुआ करते हैं, चेतन के किसी भी सुधार बिगाड़ आदिक में चेतन निमित नहीं है, इस बात को कुछ विशेषता से सोचते जाइये। कदाचित् यह शंका कर सकें कि एक जीव को दूसरा ज्ञानी पुरुष उपदेश देता है और उसके सुधार में कारण बनता है, तो देखो ना कि उस चेतन को जो सन्मार्ग प्राप्त हुआ है उसमें अंतरंग निमित कारण तो कर्मों का उपशम क्षयोपशम है और बाह्य कारण निरखा जाय तो वे वचन वर्गणायें, वे सब अचेतन चीजें बाह्य कारण है। किसी चेतन का चैतन्यस्वरूप इस चेतन को चिन्तन में विषयभूत तो हो सकता है, आश्रयभूत हो तो सकता है, आश्रयभूत तो हो सकती है, पर कोई चेतन इसका निमित बने अथवा चैतन्यस्वरूप अन्य इसके सुधार का निमित बने यह बात कहां आयी?

सत्कार्यवाद में बन्ध और मोक्ष के अभाव का प्रसंग—अब जरा और कुछ अन्य बात देखा इस मान्यता में कि कारण आदिक पदार्थों में कार्य सदा सत् रहता है, बन्ध और मोक्ष बन ही सकता है, क्योंकि बन्ध होता है मिथ्याज्ञान से और मिथ्याज्ञान सदा है सो बन्ध भी सदा है तब उनको मोक्ष कैसे होगा? यदि यह कहो कि प्रकृति और पुरुष में उनकी अपने अपने स्वरूप

की उपलब्धि का तत्त्वज्ञान बनता है, उससे मोक्ष होता है। बात तोसही बतायी जा रही है कि यथार्थ ज्ञान से होता है। आत्माका क्या स्वरूप है? केवल का और प्रकृति क्या स्वरूप है? उनके उस कैवल्यस्वरूपका ज्ञान होने से मोक्ष होता है। जिसे कुछ उदाहरण के रूप में यों समझिये कि जैसे प्रकृति और आत्मा। आत्मा का निश्चयरूप क्या है, इन दोनों का बोध होने पर उन उनके कवल्यकी, उन उनके अपने आपके लक्षणकी उपब्धि करे, वहां ही उपयोग रखे, इससे मोक्ष होता है। समाधान में कहते हैं कि भाई कही तो है भेदविज्ञान की बात लेकिन सत्य यों नहीं हो पाता कि वह तत्त्वज्ञान भी सदा अवस्थित है। सत्कार्यवाद में सब चीजें सत् रहती है तो फिर सब चीजें सदा हैं, तब फिर बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है? फिर न सिद्ध हो सका और न मोक्ष।

कुछ लोग परमात्मा के आहार की भी कल्पना करते हैं, इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करने के पश्चात् एक प्रवचनांश प्रभु के अतिशयों का दिग्दर्शन कराया है, पढ़िये पृ० 177-178 -प्रभुता के कारण प्रभु में अनेक अतिशय-धर्मके प्रताप से जो धातिया कर्मों का नाश कर प्रभु हुए हैं उनमें ऐसा अलौकिक अतिशय है कि वे ग्रासाहार नहीं करते हैं और विशुद्ध शरीरवबणायें जो उनके शरीर में चारों तरफ से आती हैं, उनके बल पर ही वे बड़े सुन्दर जीवन से जीते हैं। जब तक उनकी आयु है और आयु समाप्त होने पर भी शरीर-रहित सिद्ध भगवान हो जाते हैं। उनके आहार की अभिलाषा आदिक की बातें करना यह तो उनका अपमान करता है, उनके स्वरूपको बिगड़ना है। यदि यह कहो कि भगवान के अभिलाषा तो नहीं है तिस पर भी आहार ग्रहण करते हैं, क्योंकि प्रभु में इस ही प्रकार का महान अतिषय है कि उनके इच्छा नहीं है फिर भी खाते हैं, यह तो कोई भली बात नहीं है। यहां भी यदि किसी के खाने की इच्छा न हो और जबरदस्ती खिला दिया जाय तो उस पर क्या बीतती है? तो यही अतिशय मान लो कि प्रभु ग्रासाहार के बिना ही शुद्ध पवित्र वर्गणाओं के बल से शरीर में स्थित रहा करते हैं। ऐसे अतिशयशाली प्रभु में अनन्त अद्भुत हो जाती है वे हम आप लोगों की तरह जमीन पर चलते फिरते बोलते चालते नजर न आयेंगे। प्रभु सभी को दर्शन में ला सकते हैं पर उसने बातचीत करने आदिक सम्पर्क कोई बना नहीं सकता है। वे प्रभु तो अपने अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द से सम्पन्न रहा करते हैं। उनके दर्शन और भव्यजीवों के भाग्य से और उनके वचनयोग से जो दिव्यध्वनि प्रकट होती है उसका श्रवण सभी लोग करते हैं। तो प्रभुका दर्शन एवं उनको दिव्यध्वनि का श्रवण ये दो लाभ जीवों को प्राप्त हो सकते हैं, पर उनसे कोई अपनी प्राइवेसी नहीं बना सकता है।।

विशेषवादी गुणों के विनाश हो जाने का नाम मोक्ष कहते हैं, इससे सम्बन्धित प्रवचनों में से एक प्रवचनांश देखिये—पृ० 243—गुणोच्छेद और संतानत्व दोनों की असिद्धि—इस प्रसंग में मूल बात इतनी कही जा रही है। जो आत्मा में गुण हैं उनका पूरा विकास हो जाने का नाम मोक्ष है, किन्तु एक वैशेषिक सिद्धान्त में आत्मा और गुण को भिन्न माना है। और, सिद्धान्त है उनका कि कवे सब गुण जब आत्मा में नष्ट हो जायेंगे तब आत्मा का मोक्ष कहलाता है। तो आत्मा के ज्ञानादिक गुणों का उच्छेद हो जाने का नाम मोक्ष है, न कि ज्ञानकी प्राप्ति का नाम मोक्ष है, उसके निराकरण में कह रहे हैं कि न तो ज्ञान की सन्तान सिद्ध होती है न स्वरूप, फिर उच्छेद की बात कहां लगाई जाय? आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानके अतिरिक्त आत्मा अन्य कुछ चीज नहीं है। ज्ञान पर अभी आवरण है, रागद्वेष, विषय कषाय कर्म आदिक का आवरण पड़ा है, जिसके कारण ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता। जब अंतरंग और बहिरंग समस्त प्रकार के आवरण दूर हो जाते हैं तो ज्ञान का परिपूर्ण विकास होना है, वे गुण असीम है, उनके विकास से त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। देखो कहां तो मोक्ष का ऐसा समृद्धिशाली स्वरूप क अनन्त ज्ञान है, अनन्त आनन्द है, बहुत ही पावन स्वरूप है और कहां मोक्ष का यह स्वरूप शंकाकारके द्वारा कहा जा रहा है कि अरे, मोक्ष तो उसका नाम है जहां न ज्ञान रहता न आनन्द रहता, न सुख दुख रहते, न धर्म अधर्म रहते। कुछ भी जहां गुण नहीं रहते। आत्मा कोरा रह जाय, इसका नाम मोक्ष है।

मोक्ष स्वरूपके सम्बन्ध में दो दार्शनिकों की चर्चायें चलीं जिनकी चर्चा के पश्चात् कुछ उपसंहारस्वरूप एक प्रवचनांश देखिये, पृ० 362—भेदभाद और क्षणक्षयवाद में मुक्तिस्वरूपकी प्रकल्पता—इस प्रकरण में मूल बात तो मोक्षकी चल रही है। मोक्ष का स्वरूप क्या है, इस पर चर्चायें चल रही हैं। जैन लोग तो मानते हैं कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्दके प्रकट होने का नाम मोक्ष है। इसके विरोध में अभी तक दो मन्तव्य आये—एक तो वैशेषिक का, जिनका यह कथन है कि ज्ञान के विकास का नाम मोक्ष है। जब तक आत्मा में ज्ञान रहता है तब तक यह संसार में घूमता है, जब इसके ज्ञान सुख दुख आदिक गुण अवगुण सब खतम हो जायें, केवल एक वित्स्वरूपमात्र रह जाय उसका नाम मोक्ष है। ये मोक्ष में ज्ञान को भी नहीं मानते। दूसरा मन्तव्य आया था क्षणिकवादियों का। उनका कथन है कि विशुद्ध ज्ञान के उत्पन्न होने का नाम मोक्ष है। बात तो यद्यपि सही है, लेकिन इस कथित विशुद्ध ज्ञानकी परिभाषा क्या है, जब यह जानते हैं तब विदित होता है कि यह भी तो मोक्ष का स्वरूप नहीं बन सकता। क्षणिकवादियों का विशुद्धज्ञान यह है कि एक समय में एक ज्ञान पदार्थ रहता है, उसका आधारभूत

कोई आत्मा नहीं है। जो एक समय में ज्ञान हो उस ही का नाम आत्मा कहलो, उस ही का नाम ज्ञान कहलो। दूसरे समय में ज्ञान हो उस ही नाम आत्मा कहलो, उस ही का नाम ज्ञान कहलो। दूसरे समय में वह ज्ञान नहीं रहा। प्रत्येक समय में नये नये ज्ञान पदार्थ प्रकट होते रहने के सिलसिले में यह जो भ्रम बन गया है कि मैं वह हूँ जो पहिले न था, बस इस भ्रम से संसार में भ्रमण करना पड़ता है। जब यह ज्ञान हो जायगा कि मैं तो क्षणिक हूँ, एक समय से हूँ और मिट गया, आगे पीछे रहता ही नहीं हं, तो ऐसा जब एक क्षणिक आत्माका बोध होता है तो इस अभ्यास से एक ज्ञान ऐसा नया आयगा कि जिसके बाद फिर और ज्ञान पैदा न होगा, इस ही का नाम मोक्ष है। इन मनतवयों के सम्बन्ध में अब तक ये चर्चायें चलीं और यह सिद्ध हुआ कि आत्मा के ज्ञान और आनन्द के विशुद्ध अनन्त विकास होने का मोक्ष है। विशुद्ध मोक्ष है।

चतुर्दश भाग के अनंत में द्वितीय परिच्छेदकथित प्रमाणभेद में से प्रत्यक्ष ज्ञानस्वरूपकी चर्चा की गई है, उसके एक प्रवचनांशको देखिये, पृ0 410—411—प्रत्यक्षज्ञान के स्वरूपकी चर्चा—प्रत्यक्षके भेद की कुछ आलोचना करके अब प्रत्यक्ष के स्वरूपके निर्णय पर उतरें। प्रत्यक्ष उसे कहते हैं कि जो निर्मलज्ञान हो, विशद ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय और पदार्थ के आंख पदार्थ के सम्बन्ध से प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। यह ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है। कहीं पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता, कहीं प्रकाश आदिक कारणों से उत्पन्न नहीं होता। और, यह ज्ञान जब एक देश स्पष्ट रहता है तब तो कहते हैं सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष। और, उसके ज्ञानका आवरण करने वाले कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है, उस समय जो सर्वका ज्ञान होता है वह कहलाता है पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान। उस ज्ञानको कर्मों न ढका है, अर्थात् कर्मों के आवरण का निमित्त पाकर ज्ञानस्वरूप निर्मल व पूर्ण अवस्थामें नहीं रहता आया है। संयम से, सम्यक्त्व से, तत्त्वज्ञानसे, उपायों से उन कर्मों का सम्बर होता और निर्जरा होती। तब आवरण का उपाय होता और यह ज्ञान सबको जानने वाला होता है।।

199—201 'परीक्षामुखसूत्र प्रवचन प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रवचन 15, 16, 17 भाग

इस पुस्तक में परीक्षामुख के तृतीय परिच्छेद के सूत्रों पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। इनमें परोक्षज्ञानों के स्वरूप पर विस्तृत विवेचन हैं। कुछ दार्शनिक स्मृतिज्ञानकी प्रमाण नहीं मानते, उनके प्रतिबोध के प्रमाणरूपता युक्तियों से सिद्ध की है, उनमें से एक प्रवचनांश को पढ़िये पृ0 10—अविसंवादकत्व होने से समृत्तिकी

प्रमाणरूपता—यह अनुमान बिल्कुल युक्त है कि स्मरणज्ञान प्रमाण है अविस्मवाद होने से। स्मरण ज्ञान करते हुए पुरुष उसमें विवाद नहीं किया करते। जिस पदार्थ का स्मरण हो गया वह तो पदार्थ में कुछ भी स्मरण नहीं रखता। जैसे स्वयं कोई चीज घर में किसी जगह रखदो, अब कुछ दिन बाद उसका ख्याल कर रहा है किसी ने उस वस्तु को मांगा तो वह उसका ख्याल करने लगा। तो रहा स्मरण में। अविस्मवादी ज्ञान रहा। जैसा जैसा ख्याल किया वैसा ही पदार्थ पा लिया गया तो उसमें अब विवाद क्या रहा? इस कारण स्मृति ज्ञान बराबर प्रमाणभूत है। हां किसी किसी स्मरण में यदि विवाद प्रत्यक्ष आ जाय तो वह स्मृत्याभास है, स्मृति नहीं है। यों तो कोई कोई प्रत्यक्ष भी विवाद वाला होता है तो वह प्रत्यक्षाभास कहलाता है, पर कोई स्मरण अथर्व विस्मवाद वाला हो गया तो इसका अर्थ यह नहीं सब स्मरण विस्मवादी कहलाते हैं। अन्यथा यदि एक भी प्रत्यक्ष विस्मवादी हो गया, प्रत्यक्षाभास हो गया तो सब प्रत्यक्षी को भी प्रत्यक्षाभास मान लेना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञान प्रमाण को स्मृति और प्रत्यक्ष से विलक्षण सिद्ध किया है, इस सम्बन्ध में एक प्रवचनांश पढ़िये, पृ० -18—प्रत्यक्ष और स्मरण से भिन्न ही प्रत्यभिज्ञान मानने की अनिवार्यता यह भी कहना अयुक्त है कि अनेक देश अनेक काल की अवस्था से युक्त सामान्य द्रव्य आदिक वस्तु इस प्रत्यभिज्ञानका प्रमेय है, क्यों अयुक्त है यह बात कि देश आदिक के भेद से भी कोई अध्यक्ष होता है तो वह भी आंखों से सम्बद्ध अर्थ का ही प्रकाश करता हुआ प्रतीत होता है। इनेक भेद पड़ जाने से प्रत्यक्ष की विधि में अनंतर न आ जायगा। यह यों अयुक्त है कि प्रत्यभिज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ से सम्बद्ध बात को नहीं जानता। इसका विषय ही प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय से विलक्षण है। इसका विषय क्या है कि पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय, इन दोनों में जो एकता है वह प्रत्यभिज्ञान का विषय है। जैसे यह वही देवदत्त है तो यह कहकर देवदत्त की जो अवस्था जानी और "बह" कहकर जो वर्ष भर पहिले के देवदत्त की जो अवस्था जानी इस बीच के लम्बे समय में वह एक ही रहा आया, ऐसा जो पूर्व उत्तर पर्याय में रहने वाला जो एकत्व है वह प्रत्यभिज्ञानका विषय है अथवा सादृश्य आदिक में देखिये—यह रोझ मौ के सदृश है। तो वर्तमान है रोझ और पूर्व विज्ञात है गौ, इन दोनों के प्रसंग में सम्बन्ध में जो सदृशता है वह सदृशता प्रत्यभिज्ञानका विषय है। प्रत्यभिज्ञान का विषय इन्द्रिय और पदार्थ से सम्बद्ध पदार्थ नहीं है। प्रत्यक्ष तो वर्तमान को ही ग्रहण करता है। और, जो यह कहे कि स्मरण करने वाले पुरुष के भी पहिले देखे हुए पदार्थ के प्रतिभास से उत्पन्न हुई जो मति है वह चक्षु से सम्बद्ध होने पर प्रत्यक्ष बन जाती है। यह भी कहना गलत है। प्रत्यक्ष से तो जब चाहे हो, तब भी अभिमुख और नियमित पदार्थ का बोध हुआ है तब वह

प्रत्यक्ष है। प्रत्यभिज्ञान में न तो प्रत्यक्ष का विषयभूत पदार्थ आया किन्तु दोनों ज्ञाघों से जाने हुए में जो एक नई बात जानी जा रही है वह सम्बन्धित सादृष्य आदि विषय होता है प्रत्यभिज्ञानमें।

स्मृतिज्ञान और प्रत्यभिज्ञान प्रमाण की तरह तर्कज्ञान में भी प्रमाणताका निर्देश किया है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़िये पृ0 65—तक ज्ञानमें विसंवादित्वका अभाव होने से प्रमाणता—अब दूसरा विकल्प यदि कहते हो क तर्क ज्ञान का अप्रमाण हैं, विसम्वादी होने से। प्रश्न क्या तक ज्ञान इस कारण अप्रमाण है कि वह विसम्वादा है अथवा क्या इस कारण अप्रमाण है कि वह प्रमाण के विषय का परिशोधक है। अर्थात् प्रमाणन किसी को जो जाना, उसका ही समर्थक है। इन विकल्पों में से पहिले विकल्पका तो खण्डन कर दिया गया—अब दूसरे विकल्पकी चर्चा की जा रही है कि विसम्वादी होने से तर्क ज्ञान अप्रमाण नहीं होता, क्योंकि तर्क ज्ञान अपने विषय में तो विवाद रहित है। साध्य ओर साधन का अविनाभाव सम्बन्ध करना यह है तर्कज्ञानका विषय। और, उस विषय में तर्क ज्ञान विसम्वादरहित प्रसिद्ध ही है, क्योंकि यदि तर्कज्ञान अविसवादी न हो सही न हो तो अनुमान कभी सही नहीं हो सकता। ऐसा कभी न हो सकेगा कि तर्क ज्ञान तो सम्वाद न रखता हो अर्थात् मिथ्या हो और अनुमान ज्ञान सही बन जाय। क्यों न ऐसा हो सकेगा कि परिज्ञान हो तब तो अनुमान प्रमाण बन सकेगा। इस कारण विसम्वादी होने से तर्कज्ञान अप्रमाण है,

तृतीय परिच्छेद के 99 वें सूत्र में आग में प्रमाणक का लक्षण कहा गया है, इसके स्वरूपमें जो विशेषण दिये हैं उनसे कई भूलों का निराकरण हो जाता है। उनमें से एक अर्थज्ञान विशेषण की एक सार्थकता एक प्रवचनांशमें देखिये, पृ0 175—176—अर्थज्ञान से अन्यापोह व शब्दसंदर्भ की प्रमाणताका परिहार—इस सूत्र में अर्थ ज्ञान शब्द देने से एक यह भी परिज्ञान होता है कि अर्थ ज्ञान प्रमाण होता है, अन्यापोह ज्ञान प्रमाण नहीं होता। क्षणिकवादी लोग अन्यापोह मानते हैं कि अर्थ ज्ञान प्रमाण होता है, अन्यापोह ज्ञान प्रमाण नहीं होता। क्षणिकवादी लोग अन्यापोह मानते हैं, अर्थात् जैसे गाय कहा तो गाय शब्द के सुनने से सीधा गाय का ज्ञान नहीं होता, उनके सिद्धान्त से किन्तु गाय सुनकर यह ज्ञान होता है कि घोड़ा बकरी आदि दुनिया भरके बाकी अन्य कोई पदार्थ न होना इसको कहते हैं अन्यापोह।

आगम में प्रमाणता आगममूल आप्त की गुणवत्तापर निर्भर है, अपौरुषेय बताने का और अपौरुषेय का सिद्ध करने के लिए शब्दनित्यको सिद्ध करने का प्रयास करना अवस्तु को सिद्ध करने के प्रयास की तरह है, इसमें संबंधित प्रवचनांशमें से एक प्रवचनांश देखिये—पृ0 256—शब्द के

कार्यतत्त्वका विवरण –शब्द एक है, नित्य है, व्यापक है और फिर उसको व्यंजक प्रकट कर दे यह बात नहीं बनती। सीधी बात और सबके अनुभव में आने वाली स्पष्ट बात है कि तालू आदिक के व्यापार के अनन्तर भाषा वर्गणा जाति के पुद्गल संकथ से शब्द का उत्पत्ति होती है और तभी जिस प्रकार के तालू, कठ, ओंठ, मूर्धा, आदिक चलें और उन स्थानोंमें उपर के भाग से, नीचे के भाग से शब्द चलें तो उन शब्दों में अल्प, महान उदात्त अनुदात्त आदिक भेद बन जाते हैं। तो यों शब्द कोई नित्य व्यापक नहीं है जिससे नित्य व्यापक शब्द से भरे होने के कारण आगम को नित्य माना जाय। अपौरुषेय मान्यता करके आगम में प्रमाण करार किया जाय, आगम तो वचनरूप है। वचन जितने होते हैं वे किसी न किसी के द्वारा किए गए होते हैं। तो उन वचनों का कर्ता दोषवान है तो फिर उससे उनकी प्रमाणता नहीं आ सकती है। तो आगम में प्रमाणता का आना न आना, गुणवान और दोषवान वक्त के आधार पर है वचनों को नित्य सिद्ध करके फिर उसमें प्रमाणताकी सिद्धि करने का व्यर्थ कष्ट न करना चाहिए।

एक सांकेतिक प्रवचनांश देखिये जिसमें कुछ पूर्वापर चर्चाओं की स्थिति का अन्दाज कराया है, पृ0 281—चर्चा के आधारभूत मूल प्रकरण का स्मरण—यह प्रकरण मूल में चल रहा है आगमप्रमाण पर। आगम का लक्षण किया था कि सर्वज्ञदेव के वचन आदि के कारण उत्पन्न हुआ जो अर्थज्ञान है सो आगम है। इस आगम के लक्षण पर पहिले तो यह शंका की गई थी कि आप्त कोई होता ही नहीं है। उसका निराकरण किया गया, फिर यह शंका उत्पन्न की कि आप्त की वजह से आगम की प्रमाणता नहीं होती, किन्तु आगम अपौरुषेय होता है इसकारण प्रमाणता होती है, इसका निराकरण किया। आगम को अपौरुषेयता सिद्ध करने के लिए शब्दों की नित्यता मानना आवश्यक है।

इस पुस्तकमें परीक्षामुखसूत्र के चतुर्थ परिच्छेद के 10 सूत्रों पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। प्रमाण का विषय विशेषात्मक पदार्थ है। सामान्यविशेष सिद्ध होते हैं। समान असमान प्रत्यय होने से और समान असमान प्रत्यय होता है सदृश विसदृश परिणाम हाने से, इसका संकेत देखिये एक प्रवचनांशमें, पृ0 54—समान और असमान प्रत्यय के होने में सदृश विसदृश परिणाम की हेतुरुपता—शंकाकार कहता है कि भाई विसदृश व्यक्तियों में अथवा सभी पदार्थों में विसदृशता का स्वभाव पड़ा है इस कारण अपने कालण कलाप से उत्पन्न हुए सारे पदार्थ स्वभावा से ही समान प्रत्यय के विषय हुआ करते हैं, ओर यह बात तो बिल्कुल स्पष्ट हैं कि जैसे घट घट पट आदिक के प्रकाश के लिए दीपक का आलम्बन लेना पड़ा, पर दीपक का प्रकाश जानने के लिए अन्य दीपकाओं का आलम्बन तो नहीं लेना पड़ता।

इसी तरह पदार्थ में समानता का ज्ञान करने के लिए समान परिणामरूप धर्म का आलम्बन लेना पड़ता है। जैसे गाय गाय बहुत सी खड़ी हैं तो उनमें समानता का ज्ञान करने के लिए सासना आकार स्तन आदिक एक से जो हैं उनके ज्ञानका आलम्बन लेना पड़ता है, किन्तु इन सदृश धर्मों में सदृशता समझने के लिए हमें अन्य समान परिणाम का आलम्बन नहीं लेना पड़ता है, किन्तु इन सदृश धर्मों में सदृशता समझने के लिए हमें अन्य समान परिणाम का आलम्बन नहीं लेना पड़ता है, किन्तु इन सदृश धर्म के लिए हुए है तो पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होते हैं उनमें अनेक धर्म ऐसे हैं जो एक दूसरे से लक्षण हैं, यह बात हम परीक्षा से, प्रमाण से जान जाते हैं जब उन पदार्थों में यह उसके समान है, ऐसा जो ज्ञान होता है उस ज्ञानका कारण उन पदार्थों में रहने वाला सदृश धर्म है, अर्थात् सदृश धर्म के ज्ञान के द्वारा हम उन पदार्थों की समानता का प्रत्यय करते हैं, न कि सामान्य नाम का कोई अलग पदार्थ हो, और उसके सम्बन्ध से फिर पदार्थ में यह समान है ऐसा ज्ञान किया जाता हो। अतः सामान्य पदार्थ की कल्पना करना युक्त नहीं है।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थ में सामान्यका ही जो आग्रह करते हैं वे इसके पोषण में नित्यत्वका आग्रह कर लेते हैं। और, जो विशेष का आग्रह करते हैं वे इसके पोषण में क्षणिकवादी बन जाते हैं। दोनों ही एकान्तों में अर्थक्रिया नहीं बन सकती। सामान्यविशेषात्मक पदार्थ में ही अर्थ क्रिया सम्भव है, पढ़िये एक प्रवचनांशमें, पृ० 116—सामान्यविशेषात्मक पदार्थ में अर्थ क्रियाकी सीावत—जैसे तिर्यक सामान्य और तिर्यकविशेष में भी अर्थ क्रिया सम्भव है। जब जान लिया कि ये गाय गाय सब एक किस्म की होती है, ये दूध दिया करती है, इइस तरह से तो एक सामान्य धर्म जाना और फिर उनमें व्यक्तित्व विशेष जाना तभी तो किसी भी गाय के पास पहुंचकर उससे ही दूध लेने का यत्न होता है। तो तिर्यकरूपमें सामान्यविशेषात्मक पदार्थ जब जाना जाता है तब उसमें अर्थक्रिया सम्भव है। यह वही मनुष्य है जिसको कल अमुक वस्तु उधार दी थी, तो जान लिया ना उर्द्धतासामान्य। अब कल की स्थिति इसको उधार देने की थी, आज स्थिति इससे वसूल करने की है। आज इसको देना चाहिए, ऐसा ही वायदा है। कल का परिणमन इसका अन्य था, आज का परिणमन इसका अन्य होना चाहिए। ऐसी लोकव्यवहारकी बात कहीं है। अब मोक्ष मार्ग की भी बात देखो। सामान्य है, ऐसे ही जीव जाति के पदार्थ मुक्त हुआ करते हैं। यह तो एक सामान्यपना जाना और अमुक अमुक व्यक्ति देखो आत्मसाधना करके मुक्त हुए, यह उनका विशेष जाना। इसी तरह उर्द्धता सामान्य और उर्द्धता विशेष भी परखा जाता। मैं वही जीव हूं, मैं एक रूप हूं, चैतन्यस्वरूप हूं, यही स्वभाव प्रकट हो गया, उसका नाम मुक्ति है। और मुझमें यह विशेषता है। आज परिणति संसार अवस्थामें है, यह हटकर

मुक्त अवस्था की परिणति हमारी हो सकती है। उर्द्धता सामान्य और उर्द्धता विशेष का बोध हो तो मोक्षमार्ग में उद्यम हो सकता है। तो यहां उर्द्धता सामान्यका प्रकरण चल रहा है कि द्रव्य कालान्तर स्थायी है। यदि सर्वथा क्षणिक माना जाय पदार्थ को तो मोक्षमार्ग अथवा लोकव्यवहार कुछ भी सिद्ध न हो सकेगा।

18 वें भागमें सामान्य का वर्णन करके 19 वें भाग में विशेष के विषय में प्रवचन किये गये हैं। निरपेक्ष सामान्य मानने का मनतव्य और निरपेक्षविशेष मानने का मन्तव्य युक्त नहीं है। इसका विस्तृत विचार करने के पश्चात् पृ0 211 पर यह बताया है कि सामान्य और विशेष इन दोनों का वस्तु में रहने में विरोध नहीं है—पढ़िये पृ0 211 पर—सामान्य और विशेषक के एक पदार्थ में रहने का अविरोध—शंकाकार कहता है कि वस्तु सामान्य विशेषात्मक है, वस्तु में भेद और अभेद दोनों अविरोध रूप से रहते हैं यह तो मिथ्या प्रत्यक्ष से जान रहे, युक्ति अनुमान से भी समझ रहे, भेद और अभेद से एक वस्तु में बराबर समावेश है। शंकाकार कहता है कि विरोध तो बालक है। भेद और अभेद जो एक दूसरे के तिषेधात्मक है, बिल्कुल विरुद्ध है तो यह विरोध बाधक है। उत्तर देते हैं कि यह बात युक्त नहीं। इसमें इतरेराश्रय दोष आता है। जब विरोध सिद्ध होने लगे तब तो इस ज्ञान के वाधित होने से मिथ्यात्व की सिद्धि हो और जब ज्ञान में मिथ्यापन की सिद्धि हो तब विरोध की सिद्धि हो। तो देखिये—विरोध नाम है किसका? विरोध का निश्चय बनता कैसे है? सम्पूर्ण कारण वाला कोई एक पदार्थ हो रहा है। जैसे कि टंडावातारण है, वहां पर टंड हो रही है तब द्वितीय चीज आ जाय अर्थात् उष्ण वस्तु आ जाय तो टंडका अभाव हो जाता है। इससे समझा गया है कि शीत स्पर्श में और उष्ण स्पर्श में विरोध है परन्तु यहां ऐसा नहीं देखा जा रहा कि भेद के सन्निधान होने पर अभेद का अभाव हो जाय अथवा अभेद के सन्निधान होने पर भी पर्यायत्व बराबर चल रहा है। पर्यायत्व होने पर भी द्रव्यत्व भी बराबर बन रहा है वहां तो कुछ भी विरोध नहीं।

कुछ दार्शनिक शब्दों को आकाश द्रव्य का गुण मानते हैं, किन्तु शब्द भी पर्याय है, उसमें द्रव्यत्व है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये पृ0 281—282—क्रियावत्त्व होने से शब्द में द्रव्यत्व को सिद्धि और भी देखिये—शब्द द्रव्य है, क्योंकि क्रियावान होने से। जो जो क्रियावन होते हैं वे द्रव्य होते हैं। जैस—बाण, गोली आदि। ये क्रिया करते हैं तो ये द्रव्य कहलाते हैं। यदि शब्द का निष्क्रिय मानोगे तो शब्द का फिर स्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि स्रोत्र इन्द्रिय में शब्द का सम्बन्ध ही न हो पायगा। कहीं शब्द उत्पन्न हों, बोले जायें और शब्द का जब तक स्रोत के साथ सम्बन्ध नहीं होता तब तक उसका ग्रहण कैसे हो? यदि निष्क्रिय माना जाने पर भी

शब्द का स्रोत्र के साथ ग्रहण मान लिया जय तो स्रोत्र भी अप्राप्यकारी बन जायगा अर्थात् जैसे चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय बाकी अन्य इन्द्रिया अप्राप्यकारी हैं, स्पर्श, रसना, ध्राण जैसे अप्राप्यकारी हैं, चक्षु ही एक अप्राप्यकारी माना है, क्योंकि चक्षु पदार्थ के पास फिरते नहीं हैं और दूर से ही ठहरे हुए जान लेते हैं तो अब यहां स्रोत्र को भी ऐसा ही मान लिया गया है कि स्रोत्र के पास शब्द आते नहीं हैं। शब्द का और स्रोत्र का सम्बन्ध नहीं होता है फिर भी शब्द को स्रोत्र जान लेता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि स्रोत्र अप्राप्यकारी हो गया और जब स्रोत्र को अप्राप्यकारी मान लिया गया तो यह हेतु देना कि चक्षु प्राप्यकारी है बाह्य इन्द्रिय होनेसे, स्पर्शइन्द्रियकी तरह। तो देखो स्रोत्र भी बाह्य इन्द्रिय है लेकिन स्रोत्र तो प्रात्यकारी न रहा। तो इस सामान्यविशेषात्मक पदार्थ 6 जाति में विभक्त हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, किन्तु विशेषवाद में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन, इनसे सम्बन्धित विस्तृत प्रवचन हैं। जरा उनमें से कल्पित दिशा द्रव्यकी विवेचना तो देखिये पृ0— 636—सूर्योदयादिवश आकाशप्रदेश श्रेणियों में पूर्वादि दिशा की कल्पना—अब उक्त शंकाओं के समाधान में कहते हैं, दिशाओं की द्रव्य सिद्ध करने के लिए जो कुछ भी शंकाकारने कहा है कि वह सब विपरीत कथन है। देखिये पूर्व दक्षिण पश्चिम आदिक जो ज्ञान होते हैं वे सब ज्ञान आकाशहेतुक हैं। कहीं दिशा नाम का एक द्रव्य अलग हो और उसके कारण से ज्ञान चलता हो सो बात नहीं। वे सब ज्ञान आकाश हेतुक होने से आकाश से भिन्न दिशा नामक कोई द्रव्य सिद्ध नहीं होता। आकाश के प्रदेश श्रेणियों में पूर्व आदिक दिशाओं के व्यवहार की उत्पत्ति बन जाती है इसी कारण दिशाओं को निर्हेतुक भी नहीं कह सकते। और, न यह कह सकते कि किसी सामान्य पदार्थ के निमित्त से पूर्व आदिक दिशाओं का ज्ञान होता है।। जिन आकाश प्रदेशों में सूर्य का उदय होता है वह तो पूर्व दिशा। जिन आकाश प्रदेशों में सूर्य का अस्त होता है वह है पश्चिम दिशा। अब सूर्योदयावली पूर्व दिशाओं की और मुंह करके खड़े हों तो उसका दक्षिण हाथ जिस ओर हों वह है दक्षिण दिशा, शेष बचे हुए बायें हाथ की ओर है उत्तर दिशा। तो ये आकाश प्रदेश श्रेणियों में ही सूर्योदय आदिक के वश से पूर्व आदिक दिशाओं का प्रत्यय होता है।

205—207 परीक्षामुखसूत्र प्रवचन प्रमेयकमलमातण्डप्रवचन

21, 22, 23 भाग

इस पुस्तक में परीक्षामुखसूत्र के चतुर्थ परिच्छेद के अन्तिम सूत्रपर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होता है। पदार्थ में केवल सामान्य रहे, ऐसा नहीं हो

सकता, केवल विशेष रहे यह भी नहीं हो सकता। सामान्य विशेष परस्पर अविनाभावी हैं। इसी के विस्तार में यह भी समझलें कि सामान्य गुण और विशेषगुणों में भी अविनाभाविता है, इसे क प्रवचनांशू पढ़िये—पृ०—२—साधारण गुणों की असाधारण गुण के साथ अविनाभाविता—उपरोक्त प्रकार से सर्व पदार्थों में सामान्य गुण बराबर मौजूद हैं। इतना होने के बाद काम क्या चला? अर्थक्रिया कुछ नहीं हुई। प्यास लगी है, पानी पीना है, तो इन 6 साधारण गुणों से अर्थक्रिया न बनेगी। यद्यपि इन 6 साधारण गुणों से भी बात नहीं बनती। प्रत्येक पदार्थमें, प्रत्येक सत् में अपना अपना कोई असाधारणपन अवश्य है। साधारण मायने विशेषगुण। तो देखो, पदार्थ में सामान्यगुण भी है, विशेष गुण भी है और फिर जब ये पदार्थ परिणमते हैं तो जो परिणमन है वह उसका विशेष है। तो यों समस्त पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं, इस दृष्टि से सभी पदार्थों में सामान्यगुण भी है। सामान्यगुण न मानें तो काम न चलेगा। सामान्यविशेषात्मक सब पदार्थ हैं। अब उससे और मोटे रूपमें निरखें तो अनेक पदार्थ जिस धर्म की दृष्टि में समान जच रहे हैं तो है सामान्यगुण और जिन धर्मों से यह इससे न्यारा है ऐसा जचे, उसे कहते हैं विशेषगुण। तो यों पदार्थ सभी सामान्यविशेषात्मक होते हैं।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थ को छिन्न भिन्न करने का विशेषवाद में कैसा प्रयास किया गया, इसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांशमें पृ० 3—सामान्यविशेषात्मक पदार्थ को छिन्न कर करके छिन्न करने का प्रयासमूल प्रकरण इस प्रसंग में यह चल रहा है। पदार्थ का सामान्य विशेषात्मकता न मानकर विशेषावादी अपना यह सिद्धान्त रख रहे हैं कि सामान्य स्वयं एक पदार्थ है, विशेष स्वयं एक पदार्थ है, फिर वहां रहा क्या? वहां द्रव्य रहा, गुण रहा, क्रिया रही। फिर यह सामान्य विशेष अथवा कोई गुण क्रिया द्रव्य कैसे लग बैटेगी? तो एक सम्बन्ध है, जिसका नाम समवाय है। इस तरह 6 पदार्थों की व्यवस्था करते हुए वे द्रव्य को 9 प्रकार का बता रहे—जिसमें पृथ्वी, जल, वायु, काल, दिशा इन 7 पदार्थों के सम्बन्ध में विवेचन हुआ, जो उसमें तथ्य था उसकी पुष्टि की ओर जो उनमें अतथ्य था उसका निराकरण किया। दिशा नामका कोई द्रव्य है ही नहीं। इसलिए उसका सर्वप्रकार निराकरण हुआ। उसके बाद अब आत्मद्रव्यका वर्णन आ रहा है। विशेषवाद में बताया गया है कि एक आत्मा सर्वव्यापी नित्य निरंश चैतन्यमात्र है, उसमें गुण नहीं, क्रिया नहीं, सामान्य नहीं विशेष नहीं। ये तो उसमें समवाय सम्बन्ध से थोपे जाते हैं। चैतन्य मात्र भी यों कहना पड़ता कि कदाचित्त ऐसा प्रश्न हो उठे कि जब आत्मा बिल्कुल निराला है, गुण कर्म सामान्य विशेष ये बिल्कुल निराले हैं तो ज्ञानगुण, सुख गुण ये आत्मा में ही क्यों चिपकते हैं, अन्य पदार्थों में क्यों नहीं चिपक जाते? निराले की यही स्थिति होती है। तो उसका कुछ थोड़ा बहुत

उत्तर बनाने के लिए चिन्मात्र मानना पड़ा है। आत्मा के चित्स्वरूप होने से यह ज्ञानस्वयम् आत्मा में ही चिपकेगा अन्यथा इसके भी मानने की जरूरत नहीं है।

विशेषवाद सम्मत आत्मद्रव्यकी मीमांसा करके 14, 15 दिनों के प्रवचनों के पश्चात् निष्कर्षरूपमें जो निश्चय किया गया उसका दिग्दर्शन कीजिये एक प्रवचनांशमें, पृ० 88-89-देह प्रमाण आत्मा का निर्वाधबोध प्रतिभास—यहां प्रकरण यह चल रहा है कि आत्मा सर्वव्यापक है, या नहीं। वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार आत्मद्रव्य सर्वगत है, पर प्रत्यक्ष अनुमान आगम युक्ति अनुभव के आधार पर यह सिद्ध होता है कि आत्मा देहप्रमाण है। और ऐसे ऐसे आत्मा अनन्त हैं। तो बात जिस तरह से सत्य व्यवहार में आती है। जैसे अपने अपने आपके रचने वाले तंतुओं में सूतों में एक निश्चित देशकाल के आकाशकाल के आकाररूपसे प्रतिभासमान है कपड़ा, बस ऐसा ही है, इतना ही बड़ा लम्बा चौड़ा है, इसी तरह शरीर में ही एक नियमित देशकाल के आकार से प्रतिभासमान हुआ आत्मा उतना ही प्रतिभासमें आ रहा जितना कि शरीर परमाणु फैले हुए हैं, सबका अपना अपना अनुभव हो रहा होगा कि मैं बस इतने में ही सब कुछ हूँ। कभी शिर में चोट लग जाय तो लगता कि दर्द तो सिर्फ उसी जगह हो रहा, पर ऐसी बात नहीं है। जितने शरीरप्रमाण आत्मा है उस पूरे आत्मा में सर्वत्र उस दर्द का अनुभव हो रहा है, पर हां उस दर्द का जो निमित्त कारण है उस कारणपर दृष्टि होने से ऐसा प्रतीत होता है कि देखो दर्द यहां हो रहा है। तो जैसे निर्वाध ज्ञान में प्रतिभास हो उस तरह से ही व्यवहार बना करता है, और वह सभोचीन व्यवहार है। यह हेतु असिद्ध नहीं है। शरीर से बाहर आत्मा के प्रदेशों का अभाव है। सुख दुख विचार कल्पना सब कुछ शरीर के अन्दर आत्मा में ही हुआ करता है। बाहर कुछ नहीं होता। तब आत्मा को मानो, परन्तु मानो कि यह चैतन्यस्वरूप है ज्ञानादिक गुणमय है, देह प्रमाण है और ऐसे ऐसे अनन्त आत्मा हैं। इसके विरुद्ध जो विशेषवाद में आत्मस्वरूप माना है एक नित्य सर्वव्यापक निरश गुणरहित, प्रदेशरहित, कियारहित जैसा माना है वैसा आत्मद्रव्य सिद्ध नहीं होता।

दार्शनिक गुण, क्रिया, सामान्य, विशेषको पृथक् पृथक् द्रव्य मानते हैं और गुणों में भी संयोग, विभाग पृथक्, संख्या आदि जैसे स्वतंत्र गुण स्वीकार करते हैं उनके यहां वस्तु की कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकती। उदाहरणार्थ पृथक्त्व गुणके सम्बन्धमें एक प्रवचनांश देखिये—पृ० 134—असाधारण धर्म से ही पृथक्त्व का ज्ञान हो जाने से पृथक्त्व गुण पदार्थ की असिद्धि—जब कि अपने अपने पदार्थ से अलग पृथक्त्व के अनाधार घट पट आदिक पदार्थ देखे जाते हैं याने इन पदार्थों से भिन्न पृथक्त्व नामका कोई गुण या किसी भिन्न पृथक्त्व नामे आधार में ये घट पट नहीं देखे जाते, इससे सिद्ध है कि भिन्न

भिन्न स्वभावरूपसे उत्पन्न हुए पदार्थ ही पृथक् इस ज्ञानके विषयभूत है। तब अलग से पृथक्त्व नामक गुण की कल्पना करना व्यर्थ है। पृथक्त्व ज्ञानका भी होना असाधारण धर्म से ही माना गया है। कोई यह शंका न करे, मनमें न सोचे कि वस्तुसे भिन्न जब पृथक्त्व नाम का कोई गुण नहीं है तो यह पृथक् हैं, यह पृथक् है, ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होगी? पृथक् है यह ऐसे ज्ञानकी उत्पत्ति असाधारण धर्म से ही होगी। जो पदार्थ जिस स्वरूपमें रहता है अर्थात् पदार्थ का अपने आपके स्वरूपमात्र में रहने का नाम है असाधारण धर्म। याने वस्तु का जो चतुष्टय स्वरूप है वही उसका असाधारण धर्म है। तो देखिये जब एक वस्तु अन्य वस्तुओं से भिन्न देखी जाती है तो जानने वाला उस समय यों जानता है कि यह एक पृथक् है, विविक्त है, अन्य सबसे जुदा है, और जब दो पदार्थ अन्य पदार्थों से विलक्षण एक धर्म के सम्बन्ध से भिन्न भिन्न देखे जाते हैं तो जानने वाला यों मानता है कि दो पृथक् हैं, और जब एक देश रूपसे एक काल के रूपसे सिकी एक पने से जानते तो जानने वाला यों मानता है कि ये सब इससे पृथक् है। तो ये ज्ञेयभूत विषय पर आधारित हैं कि जानने वाला पृथक्त्वका ज्ञान करले। देखो ना एक पुद्गल में रूप रस, गन्ध, स्पर्श आदिक गुण हैं। तो द्रव्य का स्वरूप तो अभेद है, गुण का स्वरूप भेद है, तब द्रव्य से गुण पृथक्, हुए ना, स्वरूप संख्या आदिक की अपेक्षा से। तो वहां भी वह व्यवहार चलता है कि रूपादिक गुण द्रव्य से पृथक् हैं। तो पृथक् हैं, पृथक् हैं, इस प्रकार का ज्ञान असाधारण धर्म से हो जाता है। इस प्रकार पृथक्त्व नाम का गुण कभी सिद्ध नहीं होता।

विशेषवाद में कर्म को भी अलग स्वतंत्र पदार्थ माना है, उसके भेदों की विवेचना सहित मीमांसा करते हुए एक प्रवचनांशमें दिग्दर्शन कराया है कि क्रिया, मूल पदार्थ की परिणति मात्र हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, पढ़िये एक प्रवचनांश, पृ० 190—कर्म पदार्थ के असद्भावके कथन का उपसंहार—यहां इ प्रसंग में बात कही जा रही है कि न तो सर्वथा नित्य पदार्थ में क्रिया सम्भव है और न सर्वथा क्षणिक पदार्थ में क्रिया सम्भव है, इस कारण परिणमनशील पदार्थ में क्रिया उत्पन्न हो सकता है। अब कर्मके सम्बन्ध में विचार करिये। यह क्रिया यह कर्म कोई पदार्थ है क्या? यह कर्म जिस पदार्थ में हो रहा है उस पदार्थ में सम्बन्ध जुटे, तब उसमें क्रिया बने, ऐसी बात नहीं है। परिणमनशील क्रियाशील पदार्थ को छोड़कर अन्यत्र और कोई कर्म नामका पदार्थ नहीं हैं, क्योंकि जो बात पायी जा सकती है और वहन पायी जाय तो इसका अर्थ है कि वह नहीं है। जैसे टेबिल पायी जा सकती है, आंखों से दिख सकती है। यदि कमरे में वह न दिखे तो इसका अर्थ यही हुआ ना कि कमरे में टेबिल नहीं है। तो जो चीज दिख सकती है, पायी जा सकती है, फिर पायी न जाय उसको कह सकते हैं कि वह है नहीं। तो कर्म पदार्थ पाया

जा सकता है, वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार दिख सकता है, विशेषवाद में यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभागपरत्व, अपरत्व और कर्म। इतनी बातें रूपी पदार्थों के समवाय से आंखों दिखने लगती हैं। तो इसमें कर्म को भी चाक्षुस बताया है। कर्म भी उपलब्ध हो सकता है तो जो चीज उपलब्ध हो सकती है वह कभी उपलब्ध न हुई तो, किसी को आंखों दिखी न हो तो इसके मायने है कि वह असत् है। तो कर्म नाम का पदार्थ असत् है। कोई अलग दिखता हो कि यह है किया, उससे हो रहा है पदार्थ का हलन चलन, ऐसा कर्म नाम का कोई पदार्थ अलग से नहीं है।

द्रव्य, गुण, कर्म आदि को भिन्न भिन्न पदार्थ मानने पर यह समस्या खड़ी हो जाती है कि फिर आत्मद्रव्यमें ज्ञानगुण कैसे आ गया आदि तो उस विपदा को मेटने के लिए समवाय सम्बन्ध मानना पड़ा। समवाय के सम्बन्धमें विसृत मीमांसाकारक प्रवचनोंके बीच एक प्रवचनांशमें दिग्दर्शन कीजिये कि द्रव्यमें गुण तादात्म्य है, समवायी द्रव्य है, उसमें गुणका सम्बन्ध समवायसे हुआ है, यह घटित नहीं होता, पृ० 249—समवायियों से असम्बद्धत्व व सम्बद्धत्व दोनों विकल्पों में समवाय की असिद्धि—अच्छा—अब यह बात बतलावो कि समवाय समवायियों से असम्बद्ध है? यदि मानागे कि समवायी पदार्थों से समवाय असम्बद्ध है याने समवायी दो पदार्थों में जैसे द्रव्य, गुण, आत्मा, बुद्धि, कुछ भी ले लो, उन दो पदार्थों से समवाय सम्बन्ध नहीं है तो असम्बन्ध होने पर अर्थात् समवायियों में समवाय का सम्बन्ध न रहने पर समवायी पदार्थों का समवाय है, इस प्रकार का व्यपेश नहीं बन सकता है। यदि कहा कि समवायी पदार्थों से समवाय सम्बद्ध है तो यह बतलावो कि उन समवायी पदार्थों में यह समवाय माना जा रहा है तो घअ और रूपमें समवाय का जो सम्बन्ध बना है सो क्या यह सम्बन्ध स्वतः बना है या किसी अन्य समवाय आदिक के कारण बना है? यदि कहा कि समवायियों में समवायका सम्बन्ध स्वतः बना है तो जब संबंध स्वतः बनने लगा तो संयोग आदिक का भी सम्बन्ध से माना है। जो जब समवाय सम्बन्ध समवायियों में स्वतः ही बन जाता है तो यों संयोग सम्बन्ध उन दो द्रव्यों में स्वतः ही क्यों नहीं बन जाता? बन जाना चाहिए। सो विशेषवाद में मानना इष्ट नहीं है। यदि कहो कि समवायी पदार्थों में समवाय का सम्बन्ध पर से होता है तो इसमें अनवस्था दोष आता है। समवायी दो पदार्थों समवाय का सम्बन्ध हुआ समवायसे, अब उस दूसरे समवायका उनमें सम्बन्ध हुआ तृतीय समवायसे। तीसरे समवायका उन सबमें समवायी में संबंध बनाया जायगा वह बनेगा कि अन्य समवायसे। तो इस प्रकार यदि समवायियों की कल्पना बनाते जायेंगे, अनवस्था दोष हो जायगा। कहीं निर्णय ही न हो सकेगा।

209–210 परीक्षामूखसूत्र प्रवचन प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रवचन 24ख 25, 26 भाग इस पुस्तक में परीक्षामूखसूत्रखे पंचम और षष्ठ परिच्छेद के सूत्रों पर प्रवचन है। पंचम परिच्छेद के सूत्रों में यह बताया है कि प्रमाण का फल अज्ञाननिवृत्ति, हेय का त्याग, उपादेयका ग्रहण व उपेक्षा ये चार फल हैं सो वे प्रमाण से कर्त्तचित् भिन्न और कदाचित् अभिन्न हैं, इस सिद्धान्त से उन दार्शनिकों के मनतवयका निराकरण हो जाता है जो फल का प्रमाण से भिन्न ही कहते हैं या अभिन्नही कहते हैं। इस सम्बन्ध में एक अन्तिम प्रवचनांश पढ़िये, पृ० 11—चार—अज्ञाननिवृत्ति हानि, उपादान, और उपेक्षा, में प्रमाण से भिन्नता का विचार विशेष चलता है, उसका कारण यह है कि अज्ञाननिवृत्ति तो है प्रमाण से तुरन्त साक्षात् होने वाला फल और हानि उपादान उपेक्षा ये होते हैं अज्ञानयिनवृत्ति रूप फल प्राप्त होने के पश्चात् । इस कारण जो साक्षात् है उसे अभिन्न कहा है और जो व्यवधानसहित है उसे भिन्न कहा है।

प्रमाण, विषय, संख्या व फल इन चार तत्वों का विवेचन इस सूत्र ग्रन्थ में हुआ। इसके बाद षष्ठ परिच्छेद में इन सबके आभासों का वर्णन होगा याने जो प्रमाण नहीं, प्रमाण से जचे वह प्रमाणाभास इसी तरह विषयाभास, संख्याभास व फलाभासों का वर्णन होगा। प्रमाणाभास के प्रकरण में प्रमाण के सब साधनों के आभास बताये गये, देखो अनुमाण प्रमाण के साधनभूत हेतु के आभासों में विरुद्धहेत्वाभास में योगाभिमत 8 विरुद्ध भेदों का समावेश बताया है, उनमें से पक्षेकदेश विपक्षव्यापक का वि० हेत्वाभास में अनतभावक प्रवचनांश देखिये पृ० 35 पक्षेकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक अविद्यमानसपक्ष नामक विरुद्धभेद का विरुद्ध हेत्वाभास में अन्तर्भाव अब सपक्षके न होने पर होने वाले विरुद्धभेद में एक यह अन्तिम भेद है—पक्षेकदेशवृत्ति विपक्षव्यापक अविद्यमान सपक्ष कोई हो ही नहीं, जैसे कि अनुमान बनाया गया कि वचन और पक्ष हुआ वचन और मन, साध्य हुआ नित्य। तोकार्यपना पक्षके एक देश में रह रहा। और, विपक्ष है अनित्य घट आदिक। जो साध्य से याने नित्य से विपरीत धर्मवाला हो वह सब विपक्ष कहलाया। यहां साध्य बनाया गया है नित्य का, उससे जो विपरीत हो, अनित्य हो वह सब विपक्ष है। तो विपक्ष जो नित्य घट आदिक हैं उन सब में यह कार्यपना रह रहा है याने कार्यत्व हेतु समसत विपक्ष में रहता है और सपक्ष में आवृत्ति है इस हेतु को, क्योंकि इसका कोई सपक्ष ही नहीं है। पक्षके अतिरिक्त वे स्थल जिसमें साध्य रहता हो उन्हें सपक्ष माना गया है। यहां साध्य है नित्य सो नित्य में अन्य किसी में कार्यत्व पाया हो नहीं जाता सो इस तरह यह विरुद्धभेद दूषित है लेकिन इसका भी अन्तर्भाव विरुद्ध हेतवाभास में है, क्योंकि विरुद्ध हेत्वाभास का वर्णन समाप्त हुआ। अब अनेकान्तिक हेत्वाभास कि प्रकार से होता है इसका वर्णन करते हैं।

छठवें परिच्छेद के 73 वें सूत्र में बताया है कि वादी व प्रतिवादी के जय पराजय की कैसे व्यवस्था है। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश पढ़िये, पृ0 68—प्रमाण और प्रमाणाभ के स्वरूप के परिज्ञान का सार्वजनिक प्रयोजन प्रमाण और प्रमाणाभास अर्थात् वादी किसी बात को सिद्ध करने के लिए प्रमाण दे और प्रतिवादी के कहे हुए प्रमाण में दोष बताये तो वादी के द्वारा जब अपने सिद्धान्त के समर्थन करने वाले प्रमाण की बात सिद्ध हुई तो उससे वादी का तो सिद्धान्त सिद्ध होता है सो उसका भूषण है और वह प्रतिवादी के लिए दूषण बन जाता है, क्योंकि वादी का जो समर्थ वचन है, प्रमाणरूप है उसकी पुष्टि होने से वादी के मनतवयकी सिद्धि हुई सो वादी को भूषण हुआ और प्रतिवादी के लिए वही दूषण बन गया, अर्थात् प्रतिवादी के मनतवयका निराकरण हुआ। जब प्रतिवादी ने कोई वचन कहा और उसको वादो ने प्रमाणाभास के रूपमें उपस्थित कर दिया, उस प्रकरण में दोष बता दिया तो प्रतिवादी के लिए तो वह साधनाभाग हो गया और वादी का भूषण बन गया। अथवा वादी ही कोई बात ऐसी कह दे कि जो अयुक्त हो, प्रमाणसिद्ध न हो, प्रमाणसिद्ध, प्रमाणाभास हो तो वह वादी के लिए साधनाभास हो जाता है। और तब प्रतिवादी के लिए वह भूषण हो जाता है। इसमें प्रतिवादी प्रसन्न होता है कि वादी के बताये हुए प्रमाण में दोष आ जाय।

वादविवादमें जय की व्यवस्था तो यह है कि अपने पक्षका प्रमाण साधन पेश करे और दूसरे के पक्षमें साधनाभास, दोष दिखावे, लेकिन एक दार्शनिकका मत है कि जल्प, वितण्डा, छल, निग्रह आदि जैसे भी बने पब्लिक में दूसरों को लज्जितकर देना ही जय है। इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश देखिये—पृ0 91—छल मात्र से जय मानने वाले दार्शनिकके अनिष्ट प्रसंग का कथन—दार्शनिक लोग आत्महित के लिए तत्वकी संख्या बताते हैं। जैसे जैनसिद्धान्त में तत्व माने जा रहे हैं जिसमें छल, जाति, निग्रह तत्व भी कहा गया है। तत्वके कहीं कुतत्वको भी कहते हैं क्या? आत्महितके लिए जो उपयुक्त हों उनको ही तत्व कहा जाता है। तो इस प्रकार जो शंकाकार इन छलों के द्वारा जय विजय क व्यवस्था बनाना चाहता है उसकी यह केवल एक अनुदारतापूर्ण कल्पना है। यह दूषण प्रेक्षावानों में नहीं लग सकता है। और, जब बुद्धिमानों में छलों का दोष न आया तो वे यथार्थ समझते हैं। जिसके युक्ति संगत वचन हैं वह तो जीता है और जिसके युक्तिविरुद्ध वचन हैं उसको पराजय हुई है, क्योंकि यदि छल जाति निग्रह स्थानों का ही प्रयोग कर करके कोई जीत, हार की व्यवस्था बनाये अथवा गौण अर्थ जिस जिस वक्ता के अभिप्राय में है उसका निषेध कर के मुख्य अर्थ की बात रखे और दूषण दे या मुख्य अर्थ का निषेध करके गौण अर्थ की बात रखकर दूषण दे, यदि इतने मात्र से दूसरे का निग्रह होता है, पराजय होती हैतो भला यह योग

जब सर्वशून्य वादिया के प्रति मुख्यरूपसे प्रमाण आदिक के प्रतिषेध को करके निग्रह करता है, उनकी हार बताता है तो शून्यवाद की यह बात भी तो सांव्यवहारसं, प्रमाण आदिकसे तो उसे मान लिया ना, फिर इतने मात्र से प्रतिवादी की पराजय मान ली गयी है। तो अपने पक्षकी सिद्धि से ही दूसरे की पराजय होती है, यह बात फिर लुप्त हो जायगी। वास्तविकता यह है कि अपने पक्षकी सिद्धि से ही स्वसिद्धान्त की जीत है और पर की पराजय है। यहां तक छलप्रयोग के सम्बन्ध में वर्णन किया और यहां सिद्ध किया गया कि अपने पक्षकी सिद्धि से ही जीताकी व्यवस्था है और दूसरे के पक्ष में दोष देने से पराजय की व्यवस्था है। छलम त्र से जय और पराजय की व्यवस्था नहीं बनती।

छठे परिच्छेद के अन्तिम सूत्र में 26 वें भाग में नयभासों पर प्रवचन हैं। सूत्रार्थ व नय व नयाभासों का संक्षिप्त स्वरूप पढ़िये, पृ0 171—नय और नायाभास का सामान्यतया स्वरूप—जितना जो कुछ वर्णन अब तक किया गया है प्रमाण और प्रमाणाभास, उनसे अविशिष्ट अन्य कुछ भी जो संभव हो उसका विचार करना चाहिए। अब यहां प्रसंग में प्रमाण और प्रमाणाभास से अन्य विद्यमान समस्या है नय और नयाभासकी। तो उनका लक्षण अब विचार करते हैं। इस प्रकरण में नयों का जो वर्णन किया जायेगा वह एक दिग्दर्शन मात्र होगा, अर्थात् उसका सहारा लेकर, उस दिशा में बढ़कर भिन्न भिन्न अनेक प्रमाणों की सिद्धि की जा सकी तो नयका लक्षण सामान्यरूपसे भी जानना चाहिए ओर विशेषरूपसे भी जानना चाहिए। उनमें से प्रथम सामान्यतया नय का लक्षण कहते हैं। ऐसा ज्ञाता का अभिप्राय जो कि वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला है अर्थात् जानने वाला है तथा उस ज्ञेय तत्वके प्रतिप्राय में ग्रहण तो वस्तु अंशका हुआ ही लेकिन प्रतिपक्ष का भी निराकरण बसा हो तो वह नयाभास कहलाता है। इस प्रकार नय और नयाभास का यह सामान्यलक्षण है।

नय और नयाभासोंकी पद्धति जानने के लिए उदाहरणार्थ व्यवहारनय व व्यवहारनयभास का उल्लेख देखिये, पृ0 177—व्यवहारनय का क्षेत्र—अपर संग्रहनयके विभाग करके जो व्यवहारनयके द्वारा जाना गया है उसका भी और विभाग किया जाय और इस तरह से अपरसंग्रहनयका व्यवहार अर्थात् अपर संग्रह बना बनाकर विभाग करते जाने की पद्धति ऋजुसूत्र के पहिले पहिले तक की जाती है, क्योंकि ऋजुसूत्रनय ऐसी निरंश पर्याय को ग्रहण करता है कि जिसके बाद उसका विभाग सम्भव नहीं। अतएव ऋजुसूत्रनय से पहिले पहिले अपर संग्रहों का व्यवहार चलाया जा सकता है। और, यह संग्रह व्यवहारनय प्रसंगपर संग्रहनय के बाद प्रारम्भ होकर ऋजुसूत्रनय से पहिले पहिले होता है। अर्थात् संग्रहनय के बाद कोई संग्रह नहीं किया जा सकता है। जैस ऋजुसूत्रनये के विषय में विभाग नहीं किया

जा सकता इसी प्रकार पर संग्रह के विषय में भी नहीं बनाया जा सकता है। सब संग्रह व्यवहार प्रपंच इस कारण चलता है कि समस्त वस्तु वें कथंचित सामान्यविशेषात्मक हुआ करती हैं। जब समस्त पदार्थ सामान्य विशेष रूप हुआ तो सामान्यको प्रधान करके तो संग्रहनय बनता है और विशेष को प्रधान करके व्यवहारनय बनता है। नयाभासका उल्लेख देखिये—पृ० 177 व 178—व्यवहारभास—व्यवहारनयमें जो विभाग किया जाता है वह वस्तु के अनुरूप किया जाता है, लेकिन जो कल्पना से आरोपित द्रव्य पर्याय के विभाग को मानता है वह व्यवहारनय नहीं, न्ति व्यवहाराभास है, क्योंकि उसमें प्रमाण से बाधा आती है। अपनी कल्पना के अनुसार जब किसी भी प्रकार वभाग बना दे तो वह व्यवहारनयका विषय नहीं है। जैसे कि कोई कहता है कि द्रव्य 9 प्रकार के हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। जब ये विभाग किसी व्यवस्था के लिए हुआ नहीं है। सभी कुछ द्रव्य एक जाति में आ गये, कुछ द्रव्य रह गये, कुछ द्रव्य ही नहीं हैं। कल्पना से उनमें द्रव्यरूपता मान ली गई है। इसी प्रकार पर्याय में यों भेद करना कि पर्यायेंकिया उत्क्षेपण अपक्षेपण आकुंचनआदिक 5 प्रकार की हैं। यह भी एक कल्पना से आरोपित विभाग है। तो जो कल्पना से आरोपित द्रव्य पर्याय के विभाग को मानता है वह अभिप्राय व्यवहाराभास है, क्योंकि उस पर विचार करने से उसमें पर्याय से बाधा आती है। यह नहीं कहा जा सकता कि द्रव्य आदिक का विभाग कल्पना से आरोपित ही होता है। कोई यह कह बैठ कि सब सत् हैं, यह बात तो सत्य है। अब उसका जो विभाग किया जायगा वह कल्पनानुसार किया जायगा। यों यों अटपट स्वच्छन्द रूपसे कल्पना से विभाग आरोपित नहीं होता, क्योंकि यदि कल्पना से ही विभाग बनाया जाय तो फिर वह पदार्थ जिसको व्यवहारनय से अलग अलग बताया है वह अपनी अर्थक्रिया में कारण नहीं हो सकता, जैसे कोई कल्पना से आकाशका फूल मानले। कल्पना है उसकी, पर कल्पना से मान लेने मात्र से कहीं आकाशपुष्पमें अर्थक्रिया न हो सकेगी। सुगन्धी आये या उसकी माला बनायी जा सके, उसका कुछ उपयोग हो सके, यह कुछ न हो सकेगा, क्योंकि वह तो असत् है। केवल एक कल्पनासे आरोपित किया गया है। इसी प्रकार द्रव्य से पर्याय एक विभाग केवल कल्पना से आरोपित हो, तत्त्वभूत पाया न जाता हो तो उसमें भी अर्थक्रिया नहीं बनसकती। इसलिए व्यवहारनय द्वारा जो विभाग किया गया है वह असत्य नहीं है।

211 ज्ञानाणव प्रवचन प्रथम भाग

परमपूज्य श्री शुभचन्द्राचार्य प्रणीत ज्ञानाणव ग्रन्थ के 1 से 56 तक छन्दों पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। मंगलाचरण के प्रवचनों में ज्ञानलक्ष्मी का परिचय देखिये—पृ०2 प्रभु की ज्ञान श्री

यह ज्ञानार्णव ग्रन्थ उन सभी समाधानों को करता हुआ बारह भावनाओं का बांध कराने के लिए लिखा है। इस मंगलाचरण में जो उत्तर दिया है उस पर कुछ गम्भीर दृष्टि दे। ज्ञानलक्ष्मी के धनआप्लेष से जो आनन्द सम्पन्न हुआ, उससे यह परम आत्मा समृद्ध है। प्रथम तो इसमें यह बात घटित हुई कि जैसे बहुत से लोग अपनी कल्पना से माना करते हैं कि भगवान और भगवती दोनों साथ रहते हैं। जैसे यहां लोग कहते हैं ना कि पंडित और पंडितानी, मास्टर और मास्टरानी, ऐसे ही कुछ लोग भगवान और भगवती भी बोला करते हैं। भगवान कौन है इसको समझो। जो ज्ञान लक्ष्मी है वह तो है भगवती, भगवन्तः इयं इति भगवती— जो भगवानजी की चीज हो उसे भगवती कहा है। कहा है ना कि परमात्मा इस ज्ञानलक्ष्मी के धन सम्बन्धसे आनन्दित है। यह ज्ञान रूपी भगवती भगवानका स्वरूप है उससे अलग अन्य कुछ चीज नहीं है। किसी समय चाहे रूपक दिया गया हो, पर उसे न समझने के कारण फिर लोगों ने उस का सीधा ही अर्थ लगा डाला—क्यों कि ये भगवान हैं और इनके संग जिसका विवाह हुआ है वह उनकी भगवती है और उनके स्त्री पुरुष के रूप में लोगों ने फोटो भी बना दिये हैं। पर भगवान की जो शक्ति ढै, भगवान का जो स्वरूप है, वही भगवान को लक्ष्मी है। और उस लक्ष्मी से प्रभु तन्मय रहा करते हैं।

8 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें भेदविज्ञान व अभेदविज्ञान की झांकी देखिये—पृ0 28—भेदविज्ञान व अभेदविज्ञान का कदम हितपूर्ण ज्ञान में प्रथम तो भेदविज्ञान है और फिर भेदविज्ञान का फल तो यह था एक कि हेय से हटे और उपादेय में लगे तो हेय से हट कर हम अपने विषय रूप निज लग गये, अब परतत्वों की सुध नहीं रही तो इसे कहते हैं अभेद विज्ञान। तीन चीजें हुआ करती हैं—एक भेदविज्ञान का अभाव, दूसरी बात भेदविज्ञान और तीसरी बात अभेदविज्ञान। भेदविज्ञान अभाव तो दुख में ही है, वह तो अज्ञानावस्था है। भेदविज्ञान के काल में उत्कृष्ट शान्ति नहीं होती, पर हां शान्ति का शुरुवात होने लगती है। उत्कृष्ट शान्ति का साधक तो निर्विकल्प अभेद ज्ञान है, जिसमें सुख न मिले, शान्ति न मिले वह ज्ञान क्या है?

9 वें छन्द में कहा है कि श्रुद्ध, विज्ञान, ध्यान तब वास्तव में वही है जिसको पाकर आत्मा स्वरूपमें लीन हो जावे, इनमें से एक तपका ही उदाहरण देखिये एक प्रवचनांश में, पृ0 35 —वास्तविक तपश्चरण—तपस्या भी परम वही है जिसमें स्वरूपदर्शन हो, अनशन कर लिया हो तो क्रोध और बढ़ गया, क्योंकि जब भूख रहती है तब क्रोध बढ़ने का अवसर प्रायः जल्दी आता है। कोई प्रतिकूल बात करे तो क्रोध बढ़ जाता है, यह सबकी बात नहीं कहीं जा रही है, किन्तु प्रायः जैसा साधारण जनों में होता है वैसा बताया जा रहा है। तो वह तपस्या क्या रही? जिसमें कषाय बढ़ जाय, अथवा मान बढ़ जाय।

लोग समझें कि यह ब्रती है, यह ऐसा उपवास रखते हैं। सो वह तपस्या क्या रही? अथवा माया, लोभ बढ़ जाय। देखो धर्म करने से पुण्यबध होता है, फिर उसे स्वर्ग के सुख मिलते हैं, पर कर रहा है, लग रहा है तपस्या में। अरे भैया, यहां शान्ति तो हुई नहीं अभी क्योंकि उदेश्य भी सांसारिक रख लिया। तपस्या भीवही है। इसमें रहकर यह जीव अपने स्वरूपमें लीन हो जाता है।

25 वें छन्द के प्रवचनों में से एक प्रवचनांशमें आवश्यक शिक्षा ग्रहण कीजिये—पृ0 60, 61—आवश्यक शिक्षा—हमें यह शिक्षा लेनी है कि हमें तो अपने आपमें शान्ति पाने के लिए ज्ञानदृष्टि की आवश्यकता है, और शरीर की स्थिति के लिए कुछ भोजन की आवश्यकता है, इन दो के अतिरिक्त तो सब उदण्डतायें हैं। तो जैसे भोजन आवश्यक समझ रहे हैं उससे भी अधिक आवश्यक ज्ञानदृष्टि का बनाना है। जो पुरुष ज्ञानी है, ज्ञानदृष्टि करके सहज आनन्द का अनुभव किया करत हैं वे कर्मक्षय निकटकालमें ही भूख मे कारण भूत इस शरीर से भी विमुक्त हो जायेंगे। तो यह दुख तो अपने आप दूर हो जायगा। सदा के लिए संकटों से छूटना है तो यह भोजन दृष्टि काम न करेगी, किन्तु ज्ञानदृष्टि कार करेगी। इस व्यवहार से इस शरीर आदिक के अधिक ज्ञान भावना है, ज्ञान दृष्टि है, ऐसा करने से आप में दृढ़ निर्णय बना लेना चाहिए, ये समागमामें आये हुए कोई लोग, साथ न देंगे। अपने आपका जितना ज्ञानप्रकाश बना है बस यही साथी होगा।

गुण दोष का विभाग करने के लिए विवके का कसौटीपन देखिये 33 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—पृ0 73 – विवेक कसौटी –वे पुरुष धन्य है जो निज पक्ष चित से वस्तु के विचार में कसौटी के समान है। जैसे स्वर्ण अपने को कसौटी होती है वह कसौटी मालिक के पास है। मालिक से बड़े अच्छे ढंग से रखता है, लेकिन वह कसौटी दगा नहीं देती। वह कसौटी मालिक का पक्ष नहीं करती कि सोना ग्राहक का देते समय सोने की कसौटी से कसा जाय तो अपनी यथार्थता से अधिक अपना गुण बना दे, अथवा किसी ग्राहक का सोना ले और कसौटी से कसे तो यथार्थ ही हीन गुण की बात वह कसौटी दिखा दे। कसौटी को न मालिक का पक्ष है, न ग्राहक का पक्ष है, तो यथार्थ निष्पक्ष हैं। वे तो कसौटी के समान हैं। वे गुण और दोषों का बराबर विचार कर लेते हैं। भिन्न भिन्न जान लेते हैं कि यह गुण है और यह दोष है।

इस ग्रन्थ में वक्तव्य 12 भावनाओं को स्थान देखिये जीव के लिए कितना उपयोगी है, प्रवचनांश 54 वां श्लोक—पृ0 113 –भावना का धर्मपालन में स्थान—इन बारह भावनाओं का बड़ा प्रमुख स्थान है—आत्महित के लिए और एक सीधा उपाय है, हित के लिए तो बारह भावनाओं का। थोड़ा भी जानने

वाला पुरुष इन बारह भावनाओं के चिन्तन के प्रसाद से अपने को कल्याणमें ले जायगा और कितना भी ज्ञान होने पर भी बाहर भावनाओं से रहित वृत्ति बने तो वह ज्ञान जड़ धन जैसा काम करता है। जैसे मकान आदिक जड़ पदार्थ मिले हैं तो उनके मेल से एक अहंकार भाव आया, एक सांसारिक मौज लेने का भाव बनाया करते हैं, इसी प्रकार आत्महित कारणी इन भावनाओं से रहित होकर यह ज्ञान वाला पुरुष भी इन ज्ञान के समागम से अहंकार बनाने में जो सांसारिक मौज मिला है उससे खुश रहने का भाव—ये सब बातें बनने लगती हैं। इन भावनाओं का कितना उपकार है? इस उपकार की वहां पुरुष जानता है जो इन भावनाओं को पाकर अपने में कुछ लाभ उठा लेता है। हे भव्य तू अपने भावों की शुद्धि के लिए अपने चित में बारह भावनाओं का चिन्तन करे।

212 ज्ञानार्णव प्रवचन द्वितीय भाग

इस पुस्तक में ज्ञानार्णव के 57 वें श्लोक से 132 वें छन्द तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। इन्द्रिय सुखों में प्रेम करना अहित है, इससे सम्बन्धित एक प्रवचनांश 57 वें श्लोक में देखिये—पृ० 1—इन्द्रिय सुखों में रीति की प्रतिषेध्यता—हे आत्मन् इन सांसारिक सुखों में प्रीति करके तूने अपने आपका अब तक विनाश ही किया है। अब तो अपने आपका स्वरूप निरख। यह आत्मा अमूर्त और अविनाशी है, लेकिन इस जग में कौन सा जीव अपने आपको अमूर्त और अविनाशी अनुभव कर रहा है? यदि अमूर्त और अविनाशी अपने आपको माना होता तो फिर विपदा किसकी? शंका किसकी? भय किसका? निरन्तर चकित रहता है, निरन्तर विपदा अनुभव करता है। यह सब ज्ञान परिणामों की बात है कि हमने अपने को अमूर्त और अविनाशी नहीं मान पाया। इसका प्रधान कारण है कि हम दन वेहादिक सुखों से प्रेम रखते हैं, इन्द्रियजन्य सुख भोग विलास आराम आदि के सुखों में प्रीति की तो उनके साधन में ममता अपने आप आयगी। इन्द्रियसुख की चाहा तो यह जीव इन्द्रिय सुख के साधनों को भी जुटायेगा और उन साधनाको पराधीनता में अपने आपके स्वरूपको भूल जायगा, दुखी होगा।

संसार में सुख से अभन्त दुख है, पढ़िये 1 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, पृ० 9— सांसारिक सुख से अनन्त गुण दुःख है मूढ़ पुरुष इन संसार में तेरे समक्ष जो कुछ सुख या दुख है, उन दोनों का ज्ञान को तराजू में चढ़ाकर यदि तोलना तो सुख से दुख अनन्त गुणा अधिक दीखेगा। इस श्लोक में यह बताया है कि संसार में सुख तो है तिल भर और दुख है पहाड़ भर। अपनी अपनी बातें अपने को जल्दी समझ में आयेंगी। दूसरे को सुख दुख समझमें नहीं आता, तब अपनी ही बात अपने पर घटा कर देख ली।

किसी भी प्रसंगमें, किसी भी समय में सुख आपकी कल्पनामें है तो उसके साथ उससे अनन्तगुणा दुख भी लगा हुआ है। यह क्यों? इसलिए कि वे तो सारे दुख के ही काम हैं। इतने पर भी यह सूर्य प्राणी मोहवश उसमें सुख की कल्पना कर डालता है। तो यह उसके कल्पनागृहकी बात है। वास्तव में सुख से मोहवश उसमें सुखकी कल्पना कर डालता है। तो यह उसके कल्पनागृहकी बात है। वास्तवमें सुख से अनन्तगुणा दुख है। यह कहने के बजाय सर्वत्र दुख ही दुख है, यह कहा जाना चाहिए था लेकिन जिन्हें समझना है उनकी कल्पना में तो वह सुख जचता है, जो कि दुख स्वरूप है, अतः उन्हें उनकी भाषा बोलकर ही तो समझाना पड़ता है। इस कारण यह कहा गया कि संसार में जितने सुख हैं उससे अनन्तगुणा दुख है।

परोपकार में तन मन के प्रयोग का अनुरोध पढ़िये, पृ० 61 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ० 12—परोपकार में तन मनके प्रयोग का अनुरोध—शरीर पाया है तो लगने दो परोपकार में। दूसरों के उपकार से इस शरीर का भी कुछ नहीं बिगड़ता और बिगड़ जावे तो क्या हुआ? बिगड़ना तो है ही। हम अपने भावों में उज्ज्वलता बसाये, इस अवसरको पाकर अब न चूकें। सब जीवों का सुख हों, शान्ति हो, इस प्रकार का चिन्तन करें। हमारा कोई न साथी है, न शत्रु है, जिन्हें यहां साथी और द्वेषी समझा जा रहा है वे बेचारे अपने सुख के लिए, अपनी कषायों की शान्ति के लिए अपने आपमें जैसा उन्होंने सुख मान रखा हो उस तरह के उसमें विकल्प पैदा होते हैं। तो कोई साथी अथवा द्वेषी कैसे होगा? जगत में कोई किसी का साथी अथवा द्वेषी नहीं है। ज्ञानी गृहस्थ के चित्त में भी कितनी उदारता है कि युद्ध के समय व्यवहार में शत्रु का डटकर मुकाबला करते हुए भी अंतरंग में यह श्रद्धा बनी है कि कोई मेरा शत्रु नहीं है। यह मन पाया है तो इस मनको सब जीवों की भलाई के लिए चिन्तन में लगा दो, कोई भी हो, दूसरों के प्रतिशीला विचारने से उसका कुछ भी बिगड़ता नहीं है, किन्तु मन खुश रहता है।

क्षणिकत्वकी घोषणा देखिये 64 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—पृ० 16 क्षणिकत्वकी घोषणा—बड़े बड़े लोगों के घर दरबारों में, मन्दिरों में घंटा बजता है अथवा घड़ी का घंटा बजता है वह शब्द करता हुआ लोगों को यह बता रहा है कि सबका सब क्षणिक है। जो जिस घंटे का समय निकल गया वह अब वापिस नहीं आने का है, ऐसे ही जो जीवन व्यतीत हो गया वह सब वापिस लौटकर न आयगा। पदार्थ का जो परिणमन निकल गया वह पुनः न आयेगा। जो पदार्थ है उसका नियम से विनाश होगा। और जिसका नाश हो गया वह पर्याय फिर लौटकर नहीं आती। दूसरी पर्याय आयेगी। यों सभी पदार्थ क्षणिक हैं ऐसा आचार्य पुरुष कहते हैं। तो यह घंटी का शब्द लोगों को मानो पुकार कर कह रहा है कि हे जगत के जीवो, यदि कुछ अपना

कल्याण करना चाहते हो तो शीघ्र करलो। जो समय गुजर जाता है वह समय पुनः वापिस नहीं आया करता।

अनित्य के प्रेमयसे हानि देखिये 66 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 20-21 अनित्य के प्रेम से हानि—यह अनित्य भावना का प्रकरण चल रहा है। यहां के सभी ठाठ विनाशोक हैं, सभी अनित्य हैं। उन अनित्य चीजों के प्रति क्यों इतना व्यामोह किया जा रहा है? कोई पुरुष 20 रु का खोमचा कखकर रोज अपने परिवार का पालन पोषण करता है। उससे कोई कहे कि देखो हम कल कलके लिए तुम्हें लखपति बनायेंगे और बाद में जो कुछ तुम्हारे पास है वह भी छीन लेंगे, तो क्या वह लखपति बनना स्वीकार करेगा? अरे वह तो कहेगा कि मुझे तो वह 20 रु का संटटपटट ही भला है, जो जिन्दगी में साथ देगा। मुझे वह लाखों का वैभव न चाहिए जो मेरा भी सब कुछ छुड़ा देगा। ये मोही प्राणी अनित्य को नित्य मान रहे हैं। यही अज्ञान है।

जगत इन्द्र जाल की तरह मिथ्या है, देखिये 94 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें—पृ0 60 जगत की इन्द्रजालोपमता—यह जगत इन्द्रजाल की तरह है। इन्द्रजाल और अलग चीज क्या होती होगी? वर्णन चला आया है। कोई मायावी पुरुष किन्हीं न हुई चीजों को भी हुई जैसी दिखा देते हैं। क्या करते हैं, क्या उनका ढंग है, कुछ पता नहीं। किसी दर्शक की टोपी उठाई ओर खन खन करके रूप्ये गिरने लगते हैं, ऐसा लोगों को दिखता है। किसी दर्शक का दुपट्टा ले लिया और उसे हिलाया तो उससे खन खन करते हुए रूप्ये गिरने लगते हैं—ऐ तो कितने ही रूप्ये खन खन करके गैर दिये और बाद में खेल दिखाने के पश्चात् वह बाजीगर सबसे एक एक दो पैसा मांगता है। जो खन खन करके गिरते हुए दिखाये वे क्या रूप्ये पैसे नहीं थे? यद्यपि लोगों के देखने में आया, सुनने में आया, पर वे पैसे नहीं थे। तो जो है, नहीं है, ऐसा दिखा दे वही तो इन्द्रजाल है। है कुछ भी तथ्य नहीं और चहां दिखता है कि यह सब कुछ है, यही तो इन्द्रजाल है।

मृत्यु अचानक आ ही जाती है इसका चित्रण देखिये 107 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें—पृ0 84—अन्तक की समवर्तिता—यह मरण, आयुक्षय, यमराज देखा बड़ी समता से जिसे चाहे उसे खा लेता है। जैसे बालक की ग्रसता है वैसे ही ब्रद्ध का ग्रसता है। कोई मृतकों की संख्या करे तो करीब करीब यही बात है। सभी को यह यम समता से ग्रस लेता है। यह अलंकार में कह रहे हैं। कहीं यम नाम का कुछ रहता नहीं है। आयु के क्षण का नाम यह है। प्रकरण में यह बता रहे हैं कि ये तो बच्चें हैं, ये तो 50 वर्ष जीवेंगे। यह दम भरकर कोई नहीं कह सकता कि किसकी कब अचानक मृत्यु आ जाय? जैसे यह मय अचानक ही बालक को ग्रस लेता है वैसे ही वृद्ध को भी ग्रस लेता

है। इसके पक्षपात नहीं है कि बूढ़े को ग्रस ले और बालक को न ग्रसे। यह यमराज जैसे धनिक को ग्रस लेता है ऐसे ही दरिद्र को ग्रस लेता है। वाहं यह पक्षपात नहीं है कि यह गरीब है इसे ग्रस लो और इस धनिक को न ग्रसो। मरण में किसी प्रकार की विसमता नहीं है। जैसे ही शूर बीर को ग्रसता है वैसे ही यह कायर को ग्रसता है। यों सभी मरते जा रहें हैं। जब सभी जीव एक इस पंचत्वको मरणको ही प्राप्त होते हैं तब इनमें से हम किसका शरण ढूढ़ें, इस यमराज का नाम समवर्ती भी हैं परेतशट् भी है, मरण मृत्यू यह श्मशान का राजा है। इसका नाम समवर्ती भी है। ये मृत्यू सब प्राणियों में समान है।

विपदग्रस्त संसारी प्राणी की रक्षा का एकमात्र उपाय देखिये 115 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ० 102—रक्षा का एकमात्र उपाय—यह जीव स्वयं के आत्मस्वरूपमें न ठहरकर कहीं भी बाह्य में दृष्टि बनाये सर्वत्र अरक्षित है। ये काम को प्रगढ़ निद्रामें सो रहे हैं। उन सबको प्रत्येक की यह काल निगलता जाता हैं। इस संकट से बचने का अन्य कोई उपाय नहीं है, केवल एक ही यह उपाय है कि प्रत्यक्षज्ञानकी प्राप्ति करे। अमर, शाश्वत ज्ञानानन्दधन निजचैतन्यस्वभावकी दृष्टि करे तो उस उपाय से कालक पजे से निकलने की बात बन सके, अन्य कोई उपाय नहीं है। एक अपने ज्ञानानन्दस्वरूपका शरण लेने से इस काल से रक्षा हो सकती है।

213 ज्ञानणेव प्रवचन तृतीय भाग

इसमें ज्ञानार्णव ग्रन्थ के 133 वें श्लोक से 198 वें श्लोक तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। एकत्वभावना में हमें उपादेय तत्व क्या मिलता है, इसे पढ़िये 138 वें छन्द के एक प्रवचनांश में—पृ० 8—एकत्वभावनामें उपादेय तत्व—यह मैं आत्मा अकेला हूं, ऐसी एकत्वभावना में यह जीव आनन्दधाम निज अन्तस्तत्वको प्राप्त होता है। भावनाओं के स्वरूपको समझने के लिए दुख में कोई साथी नहीं है, ऐसा कहा जाता है। यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरण करता है, अकेला ही दुख भोगता है। इस जीवन का कभी भी कोई सगा साथी नहीं है, ऐसा एक सुगम वैराग्य के लिए कहा है। एकत्वभावना में वही तो सुविदित होता है कि यह जीव मात्र अपने प्रदेशों में अपने आपका परिणमन करता हैं, चाहे वह मोक्षपरिणमन का परिणमन हो, अनन्तज्ञानका, अनन्तसुखका परिणमन हो और चाहे संसार का दुखरूप परिणमन हो, प्रत्येक परिणमन प्रत्येक जीव में प्रत्येक पदार्थ में स्वयं के ही साधन से स्वयमेव के ही आधार में हुआ करता है, फिर कोई अगर मेरे दुख में साथी नहीं है तो नाराज होने की क्या बात है, जैसा स्वपन है ऐसा उसे जानो।

बद्ध दशा में भी जीवकी स्वभावदृष्टि से क्या शुद्धता है सो पढ़िये 144 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—पृ० 18—बद्धदशामें भी जीव की स्वभावशुद्धता—पदार्थ का अपने आपका स्वरूप जैसा है वैसा ही निहारने पर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ पर पदार्थ से अत्यन्त न्यारा। जैसे पानी में मिट्टी का तेल डाल दिया जाय तो ये दोनों एक बर्तन में हैं लेकिन स्वभाव में पानी प्रवेश नहीं करता, पानी के स्वभाव में तेल प्रवेश नहीं करता। अपने अपने सत्वको लिए जुदे जुदे पदार्थ हैं, ऐसे ही यह आत्मा यद्यपि आज बन्ध के प्रति एक बन रहा है, शरीर में बस रहा है जहां देह है, फिर भी यह देह से अत्यन्त न्यारा है। यह आत्मा चिदानन्दस्वरूप है और यह शरीर न चित्स्वरूप है, न आनन्दरूप है। यों शरीरादिक समस्त पदार्थों से विलक्षण यह मैं आत्मा चिदानन्दस्वरूप शुद्ध हूं, ऐसी भावना रखने वाले पुरुष के अन्यत्व भावना बनती है।

सम्पर्कप्राप्त सब पदार्थों को भिन्न निरखकर सुखी होने की सीख लीजिये अन्यत्व भावना के एक प्रवचनांश में, श्लोक 151 पृ० 30 समागत पदार्थों की निजस्वरूपसे भिन्नता—इस जगत में जो जो जड़ और चेतन पदार्थ इन प्राणियों के सम्बन्धरूप हो जाते हैं वे सभी जगह जगह अपने अपने स्वरूपसे विलक्षण है और आत्मा सबसे भिन्न है। जब लौक में सभी पदार्थ हैं तो निकट अनेक पदार्थ होते ही हैं और फिर पूर्वबद्ध कर्मों के अनुसार ऐसे संयोग भी जुट जाते हैं, लेकिन यह न भूलना चाहिए कि जो कुछ भी सम्बन्ध में आया है वे सब परपदार्थ है, आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। यदि भिन्न न समझेंगे तो निकटकालमें ही बहुत दुखी होना पड़गा। दुख और है किस बात का जीवों को? केवल पर पदार्थों के अपनान का दुख हैं, मोह लगा है उसका दुख है है यह ऐसा ही एकाकी कि जब चाहे तब तक यहां रहे, जग चाहे चला जाय। इसका किसी से कोई खास सम्बन्ध नहीं है, लेकिन यह जीव मोहवश अपनी ओर ही समस्त सम्बन्ध बना रहा है समागम में आये हुए सर्व पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें हैं, अत्यन्तविलक्षण हैं और भिन्न हैं और यह मैं आत्मा अपने स्वरूपसे हूं अतः सबसे विलक्षण हूं और भिन्न हूं। ऐसी अन्यत्व भावनामें अपनी भिन्नता देखनी चाहिए।

रागद्वेष के अभाव से ही सवसिद्धि है, मनन कीजिये 184 वें छन्द का एक प्रवचनांश—पृ० 1185 रागद्वेष को मन्दता से महापुरुषपना—महापुरुषता किसका नाम हैं? महापुरुष बनता है रागद्वेष पर विजय पाने से। जितना निकट यह अपने आत्मा की ओर आये, रागद्वेष दूर हों, समता परिणाम जगे, निर्मोह विकास हो, बस उसी का नाम महापुरुष है। हम ही जैसा रागद्वेष कोई करता रहे, कोई और राजपाट मिल गया या कुछ विशेष समृद्धि मिल गयी, उसके कारण यदि वह महापुरुष कहलाये, इसके लिए यह उपमा रखिये। जैसे

कर्ता हर्ता ईश्वर में और कर्ता हर्ता मनुष्यों में कुछ अन्तर नहीं रहा, ऐसे ही रागी द्वेषी छोटे पुरुष में और रागी द्वेषी समृद्धिशाली पुरुष में अन्तर कुछ नहीं रहा। सत्पुरुषता समता परिणाम से और निर्मोह भाव से प्रकट होती हैं, तब रागद्वेष पर विजय कर। उसके उपाय ये दी है—समता और निर्ममता। किसी वसतु में मोह न होगा तो रागद्वेष न किया जा सकेगा।

सर्वरभाव में ही आत्मरक्षा है, वह कहां प्राप्त होता है, देखिये 188 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 93—स्वरूपनिश्चलता में परम संबर—जिस समय समस्त कल्पना समूहों को छोड़कर अपने स्वरूपमें वह मन निश्चल होकर रहता है उस ही समय मुनि के उत्कृष्ट सम्बर होता है। इस जीव के विभाव का और कर्मों के आने का कैसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है—जैसे ही यह जीव रागद्वेष मोह भावरूप परिणमता है उसी समय ये कर्म इस आत्मा में बंधते हैं और उनकी स्थिति और फलदानशक्ति निश्चित हो जाती है और जब ही यह ज्ञानी कल्पनाओं को त्यागता है जिनके आधार पर मोह रागद्वेष हुआ करते हैं, कल्पनाओं का त्यागकर जैसे ही यह अपने आपके स्वरूपमें मग्न हो जाता है वैसे ही याने उसी समय यहां कर्मों का सम्बर हो जाता है। फिर कर्म नहीं आते। शान्ति का सम्बन्ध ज्ञान से है, निश्चय करिये, पढ़िये 19 वें छन्द का एक प्रवचनांश—पृ0 112 शान्ति का ज्ञान से सम्बन्ध—मुक्ति का उपाय रखने वाला भव्य जीव क्या क्या करता है जिससे उसकी निर्मलता बढ़ती और उस निर्मलता के कारण मुक्ति प्राप्त की जाती है। क्या करते हैं ज्ञानी जन? सबसे पहिली बात तो ज्ञानकी है। जिसके अज्ञान दशा है उसके जगह जगह विपदायें हैं, ठोकरें और जिसके ज्ञान है उसके किसी कारण दरिद्रता भी आ जाय, अन्य संकट भी आ जाये तो भी वह अपने अंतरंग में व्याकुल न होगा। सुख का सम्बन्ध ज्ञान से है। बाहरी वैभव से सुख शान्ति का सम्बन्ध नहीं ळै। इन समस्त विडम्बनाओं का फक इससे ही तो आया कि लोग बाह्य आडम्बर और वैभव से सुख शान्ति मानते हैं, पर सुख शान्ति है ज्ञानसे। तो सर्वप्रथम ज्ञान तो होना हो चाहिए, जिसके बिना हम मोक्षमार्ग में प्रगति नहीं कर सकते। इतना ज्ञान होने के बाद अब इसका आचरण कैसा होना चाहिए। इस आचरण का वर्णन इस छन्द में किया गया है।

214 ज्ञानार्णव प्रवचन चतुर्थ भाग

इसमें 199 वें श्लोक से 244 वें श्लोक तक के पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं, पढ़िये 199 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, आत्मा की पवित्रता धर्मभाव से ही है—पृ0 1—धर्म से लोक की पवित्रता व उद्धार—जिस धर्म के द्वारा यह जगत पवित्र किया जाता है, इस जगत का उद्धार होता है और जो धर्म दयारूप परम रस से सदा हरा रहता है

उस धर्मरूप कल्पवृक्ष के लिए हमारा नमस्कार हो। धर्म एक कल्पवृक्ष है। यदि धर्म से परिपूर्ण कोई है तो धर्म के प्रसाद से जो चाहे सो मिल सकता है। प्रथम तो इस धर्म की सेवा के एवज में जगत की कुछ भी चीज की वान्छा न करना चाहिए। जैसे प्रभुभक्ति वही वास्तविक कहलाती है कि प्रभुकी भक्ति करके प्रभुभक्ति के एवज में अन्य कुछ न चाहा जाय। यदि धनलाभ या मुकदमें की जीत या सन्तानलाभ या कुछ चाह लिया गया प्रभुभक्ति प्रसादमें, तो भी प्रभुभक्ति नहीं रही। प्रभुभक्ति निष्कपट भाव से होती है। केवल प्रभु की ही भक्ति रहे, प्रभु के गुणों का ही स्मरण रहे ऐसी निष्कपट भक्ति हो तो वह प्रभुभक्ति है। यदि धनकी चाह में प्रभु की भक्ति की जा रही है, यदि प्रभु का आदर है तो वह प्रभुभक्ति है। यों धर्म की भी भक्ति वास्तविक वह है कि धर्म करके संसार की कुछ भी चीज न चाही जाय। यदि संसार की वस्तु चाह ली गयी तो उस वस्तु की भक्ति हुई, धर्म की भक्ति नहीं हुई। इस पद्धति से यदि धर्म का पालन किया जाय तो वह धर्म कल्पवृक्ष है।

जितने लोकचमत्कार हैं वे धर्म के प्रभाव हैं, पढ़िये 202 नंत्र के श्लोक का एक प्रवचनांश—पृ0 21 धर्म के लोक चमत्कार—लक्ष्मी सहित चिन्तामणि रत्न, दिव्य नवनिधि, कामधेनु, कल्पवृक्ष, बड़े विभूति ऐश्वर्य ये सब धर्मा के चिरकाल से सेवक रहे हैं। आज जो मनुष्य शरीर से पुष्ट है, धन समृद्धि से सम्पन्न है, जनता में जिसकी बात मानी जाती है, जिसके संकेत पर जनता अपने आपको समर्पण कर सकती है, ऐसी ऐसी जो महाविभूतियां मिली है, जो बड़ी विभूतियां प्राप्त हुई हैं क्या आप कह सकते हैं कि इन विभूतियों को ये हाथ कमा सकते हैं? क्या आप कह सकते हैं कि जो विद्यायें पढ़ी हैं क्या उन विद्याओं के बल पर विभूति कमायी जा सकती है? यद्यपि ये भी सहायक हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि जिन जीवों ने पूर्वभ्रमों में धर्म किया था, दया की थी, पापों से बचे थें, अपने आत्माकी दृष्टि की थी, प्रभु की भक्ति की थी उससे जो पुण्यकर्म का बन्ध हुआ उसके उदय का यह फल है कि आज सब कुछ अनुकूल समृद्धियां मिली हैं।

लोकभावना से और उसके परिचय से हमें क्या सीख लेनी चाहिए, पढ़िये 22 वें श्लोक का एक प्रवचनांश—पृ0 76—लोकभावना से उपलभ्य मुख्य शिक्षा—लोकभावना भाने से शिक्षा यह मिलती है कि है आत्मन् इस लो में जो कि इतना बड़ा है इसमें एक भी प्रवेश ऐसा नहीं बचा है जहां यह जीव अनन्त बार पैदा न हुआ हो और मेरा न हो। जब इस लोक में प्रत्येक प्रदेशपर अनन्त बार पैदा हो चुके, अनन्त बार रह चुके और इस लोक में उनके अनेक बार अनेक समागम हुए तब कहां ममता रकते हो, किस चीज में ममता कहते हों? यहां जीव वह दुखी है जिसके ज्ञानकी दृष्टि नहीं बन रही और जिसके ज्ञानकी दृष्टि बन विवह सुखी है और जितनी अज्ञानमय जैसी बात है वह सब

क्लेश है, धन से सुख होता है तो देख लो करोड़पती तो दुखी और खोंन्चा लगाकर अपने बच्चों का पेट पालने वाले गीत गाने वाले बड़ी मस्ती से मिलेगे। तो धन से सुख नहीं है, यह तो अपने अपने ज्ञानकी बात है। तो लोकभावना भाने से यह शिक्षा मिलती है।

बारह भावनाओं का उपसंहारात्मक वर्णन देखिये, अशुक्ति भावनामें क्या तत्वानुप्रेक्षण करना है, पढ़िये 242 वें छन्द का एक प्रवचनांश—पृ0 121—अशुचि भावनामें तत्वानुप्रेक्षण—अशुचिभावना—यह देह अपवित्र हैं धिनावना है, भीतर से लेकर बाहर तक सर्वत्र मल ही मल है, हड्डी है, मांस है, मज्जा है, खून, चमड़ा, राम, मल, मुत्र आदि हैं, यों सारी गंदी ही गंदी चीजें हैं। यह भावना किसलिए भाई थी कि इस शरीर से प्रेम न उत्पन्न हो, किसी शरीर को निरखकर उसमें काम व्यर्था न हो इसलिए अशुचि भावना भायी। अब कोई पुरुष अशुचि अशुचि ही गाता रहे, यह भी अपवित्र, यह भी अपवित्र, यों कह कहकर नाक सिकोड़ तो उसने अशुचि भावना से कुछ भी लाभ नहीं पाया। जो शुचि चीज है वह मेरा ज्ञान है, उत्कृष्ट पवित्र, अमूर्त है, ज्योतिस्वरूप है, जानना जिसका काम है। जाननहार ऐसा शुद्ध पवित्र मेरा स्वरूप वह शुचि है। यह निरखना चाहिए तो पावन आत्मतत्वका लाभ होगा। शुचि का तो पता न हो औ बाहर की इन चीजों को गंदी देखते रहें तो उस अशुचि भावना से कोई लाभ नहीं पाया जा सकता। एक अपना ग्लानि का ही परिणमन बनाया अशुचि भावना के लिए। शुचि भी कुछ है उसका परिचय ही तो यह पर से हटकर अपने आपके स्वरूपमें लगाने वाली भावना।

215 ज्ञानार्णव प्रवचन पंचम भाग

इस पुस्तक में 215 वें श्लोक से 350 वें छन्द तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। तत्वज्ञान के हृदय में चार पुरुषार्थों में से मोक्षपुरुषार्थ का ही आदर हैं, इसको हृदयगम कीजिये 249 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, पृ0 8—तत्ववेदियों द्वारा मोक्षसाधन पुरुषार्थ का आदर—इन चार पुरुषार्थों में से पहिले के तीन पुरुषार्थ तो इन विनाशीक और संसार रोगों से दूषित हैं—धर्म, अर्थ और काम तो नष्ट हो जाने वाली चीज है और सांसारिक रोगों से दूषित है, ऐसा जानकर जो तत्वज्ञानी पुरुष है वह साक्षात् मोक्ष वाली चीज है और सांसारिक रोगों से दूषित है, ऐसा जानकर जो तत्वज्ञानी पुरुष है वह साक्षात् मोक्ष के साधन में ही यत्न करता है। इन 4 पुरुषार्थों में सबकी दृष्टि मोक्षपुरुषार्थ की होनी चाहिए। चाहे मोक्ष पुरुषार्थ बन सके, परदृष्टि तो उत्कृष्ट हो, यथार्थ हो तो कुछ अपनी वर्तमान योग्यता के माफिक धर्म में बढ़ भी सकते हैं। तो इन तीन पुरुषार्थों को तो यह जानी कि ये संसार के आतंकों से दूषित हैं। सांसारिक रोग इसमें पड़े हुए हैं, इनसे

छूटकर केवल मोक्षपुरुषार्थ में ही उपयोगी रहे वह स्थिति आत्मा की हितकारी है।

जहां अतीन्द्रिय सुख है वही मोक्ष है, वही परम हित है, पढ़िये 252 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 13—मोक्ष में इन्द्रियातीत निराकुल सुख—मोक्ष किसे कहते हैं? जहां पर अतीन्द्रिय निर्विषय निरुपम स्वाभाविक चिच्छेदरहित पारमार्थिक सुख हो। आत्माकी ऐसी स्थिति का नाम मोक्ष है जहां ऐसा आनन्द निरन्तर अनुभव में आता रहता है, जो इन्द्रिय से अतीत है, इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला जो सुख है अर्थात् इन्द्रिय का निमित्त करके आनन्दगुण का जो विकार उत्पन्न होता है वह सुख नहीं है क्योंकि उसमें क्षोभ पाया जाता है। सांसारिक सुखो का भी कोई बिना क्षोभ के भोग नहीं सकता। सुख भोगने के काल में भी क्षोभ बना हुआ है, पर कल्पना में इसने आनन्द मान रखा है, मोही उस क्षोभ की याद नहीं रखता, किन्तु संसार के प्रत्येक सुख क्षोभ से भरे हुए हैं। एक दुखमय क्षोभ होता है एक सुखमय क्षोभ होता है। अपने स्वरूपसे भ्रष्ट होकर बाहर बाहर दृष्टि डालते रहना यह क्षोभ का काम है। तो इन्द्रिय सुख चूंकि क्षोभरहित है, अतः आत्माका स्वाभाविक ढंग नहीं है, सुख नहीं हैं। जहां अतीन्द्रिय सुख है वहां मोक्ष है।

संसार के क्लेश नष्ट करने के लिए ज्ञानामृत का पान करिये, पढ़िये 256 वें श्लोक का एक प्रवचनांश—पृ0 22— भवक्लेशविनाशनार्थ ज्ञानसुधारसका पान —हे आत्मन् तू संसार के विनाश करने के लिए ज्ञानरूप सुधरसको पो, जहां अपना यथार्थ बोध किया वहां क्लेश तुरन्त दूर हो जाते हैं और जब अपने यथार्थ स्वरूपकी प्रतीति न रखकर अन्य अन्य अवस्थाओं रूप अपने को माना कि वहां क्लेश उत्पन्न हो जाता है। सर्वक्लेशों से मुक्ति पाना इतना बड़ा काम केवल इतनी सी भीतरी बात पर निर्भर है । अपने को पररूप मानना, ऐसा तो क्लेश पाने का उपाय है। और, अपने को अपने सवतके कारण जितना जैसा हो उतना ही माने, यही क्लेशों से निवृत्त होने का उपाय है। सिर्फ मानने से ही संकट लगते हैं और मानने से ही संकट छूटते हैं। अपने आपका अपने स्वरूपमें ही मानना और यह दृढ़ता से मानना बन जाय और इस ही प्रकार अपने आपको निरन्तर जानते रहें तो इसमें रत्नत्रय अपने आप आ जाता है। एकाग्रता का होना ध्यान है। अब एकाग्रता किस पर करना है जिसके फलमें मुक्ति प्राप्त होती है। तो केवल होने का नाम मुक्त होना है ना। केवल बनना है तो केवलस्वरूपकी ओर एकाग्रता हो तो इस ध्यान से केवल बनने का उपाय बन सकता है।

काम भोग से विरक्त होने पर ही ध्यान संभव है, इसका परिचय करें 267 वें श्लोक के एक प्रवचनांशमें, पृ0 43—देह, काम, भोग से विरक्त

होकर ध्यान का लाभ लेने का अनुरोध—हे ध्यानके इच्छुक पुरुष, काम शरीर और भोगों से विरक्त होकर यदि तू निर्मत्व भावको प्राप्त होता है तो तू ध्याता है अन्यथा नहीं। निर्मता काम, भोग और शरीर की स्पृहा त्यागने पर ही सम्भव है। काम का अर्थ है अनेक प्रकार की मन की कामनायें । जो मनसे विकार उत्पन्न होता है वह काम है, और जो इन्द्रियों के द्वारा भोगा जाय उसे भोग कहते हैं। स्पर्श रस, गंध, रूप और शब्द और शरीर यह है ही, इन तीनों से स्पृहा छूटे तो तू ममत्वरहित हो सकता है और ममत्वरहित होने पर ही तू ध्याता है। यदि चित इन्द्रिय के भोगों में लगा है, विषयसाधनों में लगा है तो वह ध्यान कैसे सम्भव है।

लगनपूर्वक अन्तस्तत्त्वकी उपासना हो उसमें लाभ है, पढ़िये 348 वें छन्द का एक प्रवचनांश—पृ० 163— लगन से अन्तस्तत्त्वकी उपासना में लाभ—जैसे कामी पुरुष के हृदय में निरन्तर स्त्री या पुरुष बलाही रहता है वैसे ही लगन के साथ हम अपने ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा को हृदय में बसाये रहें। जैसे कोई विषयाभिलाषी अपनी विभूति पर दिवाना हो जाता है ऐसे ही तुम अपने अंतः गुप्त रहकर अपने अंतः चैतन्यस्वरूपमें दिवाना बनो। यह बात सब अपनी अपनी खुद जान सकते हैं इतनी लगन बन सके तो वह ध्याता है, और प्रशंसनीय है। ध्याता के स्वरूपका यह अधिकार है और अब यह पूर्ण हो रहा है, समाप्त हो रहा है, लोग तो समाप्त का अर्थ लगाते हैं खतम हो जाना, पर खतम हो जाना और पूर्ण हो जाना, इन दोनों का एक अर्थ है। किन्हीं किन्हीं प्रसंगों में हमारी इच्छा पूर्ण हो गयी, इसका अर्थ क्या? हमारी इच्छा खतम हो गयी। इसके सिवाय और कुछ बात हो तो बताओ। जैसे बोरे में गेहूं भर भर कर बोरा पूरा हो जाता है क्या इस तरह आत्माकी इच्छा पूरी हो गयी। अब समझ लीजिये। जैसे खूब सोच लीजिये। इच्छा खतम होने के मायने है कि इच्छा पूरी हो गयी। अब समझ लीजिये, जैसे कहते हैं कि भगवानको सब कुछ मिल गया है इसका अर्थ क्या है कि उनके कोई इच्छा ही नहीं है। ससे सब कुछ मि गया। तो ऐसे ही यह अधिकार समाप्त हो रहा है इसका अर्थ अपने आपके चित्तमें यह लगाना चाहिए कि इस अधिकार में जिस लक्ष्य का संकेत चला है वह इसमें पूर्ण हो जाय तब अधिकारकी समाप्ति सही है।

216—221 ज्ञानार्णव प्रवचन 6, 7, 8, 9, 10, 11 भाग

इन भागों में ज्ञानार्णवग्रन्थ के 351 —919 छन्दों तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। चित में अस्थिरता—पापकार्यों से चितकी स्थिरता होती है। कोई सुभट ऐसे भी होते हैं कि पापकार्य भी करते जायें और चित भी लोगों का स्थिर न दिखे लेकिन

पापकार्यों से उत्पन्न हुई निर्मलता जुड़ते -2 एकदम किसी समय उनका अस्थिरीकरण हो जाता है। जो बात जिस प्रसंग से जिस योग्यता में होना होता है वह हुआ ही करती है। जैसे पुरुष का उदय प्रबल हो तो वर्तमान में किये जाने वाले पापकार्यों का तुरन्त असर नहीं होता है। न लोगों में इज्जत कम होती है, न लोगों के द्वारा किये जाने वाला आदर कम होता है और न शरीर में मन में, वचन में कोई बल को कभी होती, लेकिन पापकार्यों में रत-पुरुष की यह गाड़ी चल कब सकती हैं? देर तो हो जाय पर अन्धेर नहीं है। तो पापकार्यों से चित की अस्थिरता होती है और अस्थिर चित में ध्यान की साधना नहीं है।

ध्यानमात्र कौन हो सकते हैं? जो निर्मल व निःसंग हों, पढ़िये 365 वें छन्द का एक प्रवचनांश, पृ0 1 निर्मल निसंग योगियों की ध्यानपात्रता-देखिये आकाश कितना निर्मल है। कभी आकाशमें मैल भी लग सकता है क्या? लोग कहते हैं कि आज तो आकाश धुंधला होता है? आकाश तो जो है सो है, अमूर्त है, उसमें मैल आता ही नहीं है। जो धुंधले हैं वे जलके कण है। उस रूपमें फैल गये हैं या अन्य कुछ हैं? आकाश तो निर्लेप है, निर्मल है, तो जैसे आकाश निर्मल है इसी प्रकार जिसका चित निर्मल है वह पुरुष प्रशंसनीय ध्याता है। जैसे वायु उसके साथ कुछ लगा है क्या? उसमें कुछ लिपटा है क्या? वह तो चलती है, बहती है, वह निसंग है, निषपरिग्रह है, इसी प्रकार जो योगेश्वर निसंगता में बड़े चढ़े हैं, जिनके केवल एक अपने आत्मा के अन्तस्तत्त्व ही लगा है। समग्र पर परिग्रहों से विरक्त है ऐसे निसंग ज्ञानी पुरुष ही ध्यानसिद्धि के पात्र है। सबसे मुख्य बात तो यह है कि जिन के चित में प्रमोद का परिणाम रहता है वे ध्यानसिद्धि के पात्र नहीं। किन्तु ममता रहित परिणाम रहे, केवल ज्ञान स्वरूप जाननहार मात्र रहे तो वही ध्यान की सिद्धि होती है।

साधुओं का नगर, गृह, शय्या, दीपक, सहचर, रमणी, पात्र, परमार्थभोजन क्या है, दसे पढ़िये 371 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, उदाहरणार्थ एक प्रवचनांश दिया जा रहा है। पृ0 23-साधुओं का नगर-जिन साधु मुनिमहाराजाओं का नगर क्या है? विन्ध्याचल आदिक पर्वत ? जैसे गृहस्थों से पूछा जाय कि आपका नगर कौन सा है? तो उत्तर देंगे-मेरठ, मुज्जफ्फरनगर, हापुड़ इत्यादि तो उन महाराजोंका, मुनीश्वरों का कोई पूछे कि नगर कौन है, तो भक्त लोग यही उत्तर देंगे क उनका नगर है बन उपवन इत्यादि। जहां ठहरकर विचरकर, निसंग रहा जाता है उसे नगर कहते हैं। लोकव्यवहारमें अज्ञानी रागीजनों का विश्राम नगर यहां के नगर यहां के नगर आदि है। यहां भी व्यवहार से यह कहा जा रहा है कि विरक्त ज्ञानी साधु सतं पुरुषों का विश्रामस्थान बन उपवन आदि है। ये ही साधुओं के

नगर है। ऐसा एकान्त भयावह स्थानों पर निवास करना भी साधारणजनों से शक्य नहीं है। सो यह बन निवास आदि भी उत्तमजनों द्वारा किये जा सकते हैं। लेकिन अन्तः तो देखिये साधुजनों का नगर क्या है? उनका अपना आत्मक्षेत्र, आत्मस्वरूप ही उनका नगर है। जहां उनका परमार्थतः निवास रहता है। इस परमार्थ नगर में निवास करने वाले ज्ञानी साधु संत परमार्थ आनन्दका अनुभव करते हैं और इसी आनन्दानुभव के कारण बननिवास उन्हें सुखद प्रतीत होता है।

सम्यग्दर्शन का सामान्य निर्देशन पढ़िये 385 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 41—सम्यग्दर्शनका निर्देशन—जीवादिक का श्रद्धान करना सो दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन निःसर्ग से उत्पन्न होता और परोपदेशसे उत्पन्न होता है। होता है भव्य जीव के । जिन्होंने पूर्वकाल में उपदेश पाया है, संस्कार बनाया है उन्हें इस भव में भी बिना परोपदेश मिले, बिना अन्य निमित्त मिले तिसर्ग से ही सम्यग्दर्शन हो जाता है। और, किन्हीं को परोपदेशसे, जिनबिम्बदर्शनसे या वेदनानुभवसे अनेक कारणों को पाकर सम्यक्त्व हो जाता है। सब बात एक लगन को है। अपने आपमें आत्मकल्याणकी लगन न हो और पापक्रियाओं में ही रति मानते रहें, पापों से विरक्ति न जगे तो कुछ उद्धार की संभावना ही नहीं है। सबसे उंची बात बस इस रत्नत्रयमें ही मिलेगी। अपने आपमें सही श्रद्धान हो और आचरण विशुद्ध हो। इस जगत का क्या है? न हो अधिक सम्पदा तो आत्माका क्या बिगड़ा और हो गयी सम्पदा तो आत्माका क्या पूरा पड़ा ? यह तो जगत है। आज ऐसी स्थिति है और कल न जाने कौन सा भव धारण करना पड़े? न सम्हले तो हीन भव ही मिलेगा। तो सम्पदा प्राप्त हुई, समागम प्राप्त हुआ तो कौन सी भले पन की बात हो गयी? मान लो यहां के लोगों ने बड़ा कह दिया तो आखिर मोहियों ने ही तो बड़ा कहा। ज्ञानी तो धन के कारण किसी को बड़ा नहीं मानता। धन वैभव बाहरी समागमों के कारण कोई बड़ा मानता ही तो मोही, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी से ही लोग मान सकते हैं।

भसों के भेद व मोटी पहिचान, पढ़िये 397 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—पृ0 54— त्रसों के भेद —स्थावर जीवों से यह समस्त लोक भरा हुआ है और त्रस भी अनेक भेद वाले हैं। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पचेंइन्द्रिय, इनकी जल्दी पहिचान करना हो कि ये कितने कितने इन्द्रिय जीव है तो उसकी मोटी पहिचान यह है कि जिनके पैर न हों और सरक सक, उसमें एक सांप को छोड़ दों, उस जैसे जीव को, वह एक अपवादरूप है। बाकी जितने जीव ऐसे मिलेंगे कि पैर नहीं हैं, लम्बा रूख है, बिना पैर के जमीन में सरकते रहते हैं वे जीव दो इन्द्रिय मिलेंगे, जैसे चीटी, चीटी, सुरसरी, बीच्छू आदि और जिनके दो से अधिक पैर हो और उड़ते हों वे चार

इन्द्रिय जीव हैं—जैसे मच्छर, तितैया, टिड्डी आदि, और पंचेन्द्रिय जीव स्पष्ट हैं—जिनके कान हों—पशु पक्षी मनुष्य आदि। तो ये नाना भेदरूप त्रस अनेक प्रकार की योनियों के आश्रित हैं। इन सब जीवों की पर्यायों का भी सही ज्ञान करना सम्यक्त्वका कारण है। जो कुछ नजर आता है वह असल में है क्या? इसमें परमार्थ क्या है, बनावट क्या है, उपाधि क्या है? सबका सही परिज्ञान हो, उससे अंतः अनाकुलता, निर्व्याकुलता, ज्ञानप्रकाश, समीचीनता, स्थिरता ये सब बातें बढ़ती, इस कारण सबका जानना आवश्यक है। परोक्षभूत तत्वमें साधारणतया द्रव्य गुण पर्यायों का स्वरूप जान लेना जरूरी है। यों संसारी जीव त्रस स्थावर के भेद से दो प्रकार के कहे गये हैं।

यह लोक स्थावरो से असीम पूरित हैं, पढिये 400 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 58—श्लोक का स्थावरो से असीम पूरितता—संसारी जीवकी गतियां 4 प्रकार की हैं, उन गतियों में सबसे कम जीव हैं मनुष्यगतियों, उससे अधिक जीव हैं नरकगतियों, उससे अधिक जीव हैं देवगतियों और सबसे अधिक जीव हैं तिर्यन्चगतियों। तिर्यन्चगतियों भी 5 प्रकार के जीव हैं—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। इनमें सबसे अधिक जीव हैं एकेन्द्रिय, एकेन्द्रिय, और इसमें भी 5 भेद हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति। इनमें भी सर्वाधिक जीव हैं वनस्पतिकायमें। वनस्पतिकायके दो भेद हैं—प्रत्येकवनस्पति और सबसे अनन्त काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी भविष्य में जितने सिद्ध होंगे वे भी उस समय के रहे हुए साधारण वनस्पति जीवों के असंख्यातवें भाग प्रमाण रहेंगे। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार इन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ये सब तिर्यन्च ही होते हैं, इनको और गति नहीं होती। तो सारा लोक तिर्यन्चों से भरा है। कभी कभी कोई नास्तिक मनुष्य कहने लगते हैं कि अगर सभी त्यागी बन जायें, ब्रह्मचारी बन जायें तो फिर यह संसार कैसे चलेगा? अरे संसार की पूर्ति मनुष्यों से नहीं होती, संसार की पूर्ति तो एकेन्द्रिय से हो रही है। मनुष्य हैं कितने ? और फिर मनुष्य ही क्या? यदि समस्त अनन्त जीव ब्रह्मचारी हो जायें और मुक्त हो जायें तो अच्छा ही हुआ। तुम्हें क्या फिकर पड़ गयी? तो यह सारा संसार एकेन्द्रिय जीवों से भरा पड़ा है।

अध्यात्मदर्शन में विहलता नहीं रहती, मनन कीजिये 408 वें छन्द में एक प्रवचनांशमें, पृ0—69 अध्यात्मदर्शन से विहलताका विनाश—अध्यात्म दिया और व्यवहार दिशामें बहुत अन्तर बाकी परिस्थितियां होती है। बड़ी व्यवस्थायें बनायेंतो सही, लेकिन किन्हीं बातों में सफल होने से या जैसी व्यवस्था चाहते हैं वैसाव्यवस्थायें बनायें बनाये तो सही, लेकिन किन्हीं बातों में सफल होने से या जैसी चाहते हैं अध्यात्मदर्शन—जैसे एक देशके सम्बन्ध में चिन्तायें चलती हैं, किसी अन्य का इस पर शासन न हो, देश स्वतंत्र रहे, अपने देशका

बिस्तार गौरव चाहते हैं, व्यवहारदृष्टिमें ये सब बातें युक्त हैं और ऐसा देखने के लिए यह मनुष्य लालायित रहता है, किन्तु कुछ अध्यात्म में चलकर अपना अनुभव है यहाँ? मेरा देश है, न मेरी जाति है, न कुल है, न देह है, न परिवार है न वैभव है और आज जिसे हम विदेश समझते हैं मरकर वहीं जन्म लें तब फिर इस देश को विदेश समझने लगेंगे। तो दोनों की दिशाएँ जुदी जुदी हैं, और फिर किसी कर्मयोगी पुरुष में इन दोनों दिशाओं का भी अपनी अपनी सीमा में मिश्रण रहता है।

सम्यक्त्व—सुधारपाल के आदेश से अनुशासित होइये, 444 वें छन्द के एक प्रवचनांशसे, पृ0 -103—सम्यक्त्वसुधारसपाका आदेश —हे भव्य जीव, एक इस सम्यग्दर्शन नामक अमृत का पान करो। यह सम्यक्त्व ही अतुल आनन्द का निधान है। आनन्द लाभ के लिए जगह जगह दृष्टियाँ लगाते हों, पर बाह्य में कहीं भी आनन्दा का लाभ न मिलेगा। अतुल आनन्दका विधान तो यह सम्यग्दर्शन है। अपने आपके सहजस्वरूपका सम्यकरूपसे अनुभव कर लेना यही अनुपम आनन्द का बीज—भूत ळै। सर्वकल्याण का यह सम्यग्दर्शन बीज है। जैसे बीज से अंकुर उत्पन्न होता है ओर वह अनेक फलों को प्रदान करता है इसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन आनन्द अंकुर को उत्पन्न करता है और इसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति समस्त आत्मसमृद्धि के फल फला करते हैं। यह सम्यग्दर्शन संसार रूपी समुद्र से तिरनेके लिए जहाज की तरह है। जैसे नाव में बैठकर सागर में तिर लिया जाता है इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के भाव में स्थिर होकर इस संसार सागर को पार कर लिया गया है। इस सम्यग्दर्शन के पात्र एक मात्र भव्य जीव ही है। जिनका कल्याण स्वरूप होनहार है वे ही इस सम्यग्दर्शन के अधिकारी होते हैं। सम्यग्दर्शन का परिणाम पापरूपी वृक्षकी मूल से उखाड़ फेंकने में कुठार की तरह हैं, जैसे लोग देवी के दो रूप माना करते हैं—एक चन्द्ररूप और एक शान्तिरूप । ज्ञानरूप एक लौकिक कहावत सी है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के दो रूप देखिये। एक तो प्रचण्ड प्रतापरूप समस्त प बेरियों को ध्वस्त कर देने में बहुत समर्थ है और एक शान्ति का सहज आनन्दको देने वाला हूँ, सर्वकल्याण का बीज है और शान्ति की ही सरसाने वाला है। यह सम्यग्दर्शन समस्त पवित्र तीर्थों में प्रधान है। सम्यग्दर्शन एक प्रधान तीर्थ है। तीर्थ कहते हैं। तीर्थ कहते हैं उस तटको जिस पर पहुंचने से पार हुआ समझ लिया जाता है। यह सम्यग्दर्शन निर्भयता भरपूर है, क्योंकि इसने मिथ्यात्वरूपी समस्त विपक्षोको जीत लिया है। ऐसे सम्यग्दर्शन है भव्य जीव ग्रहण करो। इस सम्यग्दर्शन क दृष्टि रूप अमृतजलका पान करो।

अहिंसा सूल रूप देखिये—पर्यायबुद्धि का त्याग हुए बिना अहिंसा यर्थाथ नहीं, पढ़िये 480 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 143— पर्यायबुद्धि के त्याग में अहिंसा—कर्मा के आश्रव में कारण नाम प्रत्यय आदिक बताये गये हैं,

तो जो नाम आपका रखा गया है वह यदि शुरू से न रखा जाता, कुछ दूसरा नाम रखा गया होता तो क्या ऐसा हो नहीं सकता था? फिर आपका यह नाम है यह कहां खुदा हुआ है? और कितनी कल्याणभेद की बात है कि वे ही तो 12, 36 अक्षर और उनका ही उलट फेर करते हैं और खबरों आदमियों के नाम एक दूसरे से न मिलें इतने नाम धर लिए जाते हैं । तो नाम का इस जीव से सम्बन्ध नहीं है। नामवरी भी चाहकर पाकर इस आत्मा को मिलता क्या है? इन सब बातों को विचार कर कुछ अपने स्वरूप स्वानुभवमें बना रहे इससे उत्कृष्ट और कुछ भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता। जो ऐसा नहीं कर सकते वे अपना हिंसा कर रहे हैं और जो परजीवों की हिंसा करते हैं वे और विकट हिंसा में पहुंच गये हैं। हिंसा नरकमें प्रवेश करने का द्वार है और अपने आपके विनाश किये जाने के लिए यह हिंसा कुटार और शस्त्र जैसा काम करती है। हिंसा से दूर रहें और अहिंसक ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करें, यही हितकारी धर्मकाय है।

आनन्द की पद्धति तो अहिंसा ही है, चिन्तन कीजिये 499 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 167—अहिंसा, आनन्द का उपाय—विशुद्ध आनन्दकी कोई पद्धति है तो अहिंसा ही है। क्रूर, हिंसक पुरुष की आनन्द और प्रसन्नता कभी नहीं आ पाती है। जो पुरुष समतारस से भीगा है, दूसरे जीवों के सताने का परिणाम नहीं रखता, अपने अहिंसा स्वभाव का आलम्बन रखता है उस पुरुष के विलक्षण आनन्द प्रकट होता है। कभी किसी जीव को सताने का संकल्प ही आ जाय तो ऐसा संकल्प कने वाला तत्काल दुखी हो जाता है। दूसरे जीव को भला करने का भाव करे तो वहां क्लेश नहीं आता, प्रत्युत आनन्द बरषता है और कोई दूसरे जीवों को सताने का भाव करें, किसी की निन्दा का भाव करें, किसी के बुरा करने का भाव करे तो उस भावके समय ही यह दुखी हो जाता है । आनन्द की परिपाटी तो अहिंसा से ही प्राप्त होती है।

संकल्पमात्र से हिंसा हो जाती है, अतः यह प्रभाव होना चाहिए कि खोंटा भाव, हिंसाका संकल्प तक भी न हो, पढ़िये 513 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 185—संकल्पमात्र से हिंसा का बंध—जिसने जीवबध किया है उसका भी परिणाम अशुभ हुआ है। देखो स्वयंभूरण समुद्र में दो मत्स—एक महामत्स और एक साली अर्थात् तंदुल सत्स। महामत्स बड़ी लम्बी चौड़ी अवगाहना का है। एक हजार योजन लम्बा, 500 योजन चौड़ा और 250 योजन मोटा, इतनी बड़ी अवगाहना का वह महामत्स है। इतनी लम्बी चौड़ी काय वाला महामत्स अपने मुंह को फैलाये रहता है। तो उस फैली हुई जगह में जितनी जगह समसये वह जगह एक आसमान अपने मुंह को फैलाये रहता है। तो उस फैली हुई जगह में जितनी जगह समसये वह जगह एक आसमान सा है। उसके मुख में अनेक मत्स आते जाते खेलते रहते हैं। उन मत्सों का पता

नहीं पड़ता कि कहां मुख है, कितनी बड्डी अवगाहनाक तक है। लेकिन वही एक तंदुलमत्स यह विचार करता है कि यदि इस महामत्स की जगह में मैं होता तो एक भी मछली को बचने न देता। ऐसा परिणाम करने से यश साली मत्स सपतम नरक में जाता है। तो इससे यह निर्णय कीजिये कि कोई हिंसा करे, उकसी जो अनुमोदना करे तो उस अनुमोदना में भी संकल्प मात्र से उसी के समान पाप होने का कारण बनता है। तो जिसका परिणाम रागद्वेष से मलिन है और इसी कारण जो अपने आपके प्रभुकी हिंसा कर रहा है ऐसा हिंसक पुरुष आत्माका ध्यान क्या करेगा? जो आत्मा का ध्यान नहीं कर सकता उससे व्याकुलता संसारभ्रमण सभी अनर्थ उसके लगे रहते हैं।

स्याद्वाद की उपयोगिता लौकिक कार्यों में भी है, देखिये 537 वें श्लोक का एक प्रवचनांश—पृ० 221—स्याद्वाद बिना लौकिक कार्य भी नहीं—देखिये स्याद्वाद के बिना किसी का कुछ काम नहीं चलता। किसी को पैसा उधार दिया, अब उसके बारे में आपको दो निर्णय है कि नहीं कि वह पुरुष वही है—6 माह बाद भी आप यह जानते हैं ना कि यह पुरुष वही है जिसको हमने पैसा उधार दिया था। साथ ही यह भी जानते हो ना कि 6 मास गुजराये, अब समय नया आ गया, अब इससे ब्याज लेना है और मंगना है। तो ये दो किस्म में ज्ञान हुए कि नहीं—एक तो हुआ नित्य का ज्ञान और और एक हुआ अनित्यका ज्ञान। यदि कोई ऐसा ही माने कि नहीं—एक तो हुआ नित्य का ज्ञान और एक हुआ अनित्य का ज्ञान। यदि कोई ऐसा ही माने कि मैं तो वह नहीं हूँ जो आपसे रूपया ले गया था, वह आत्मा तो नष्ट हो गया, यह मैं आत्मा दूसरा हूँ, तो व्यवहार चल सकेगा क्या? और आत्मा अगर बदले ही नहीं, उसमें कोई परिवर्तन ही न हो तो भी व्यवहार चलेगा क्या? और आत्मा अगर बदले ही नहीं, उसमें कोई परिवर्तन ही न हो तो भी व्यवहार चलेगा क्या? पिता, पुत्र, कुटुम्ब, रिस्ते ये सब व्यवहार हैं। स्याद्वाद के बल पर चल रहे हैं। किसी भी व्यक्ति के संबंध में क्या आप एकान्त से कह सकते हो कि यह बेटा ही है? यदि ऐसा कह सकते तो इसका अर्थ है कि सबका बेटा है। सब तरह बेटा है, तो व्यवहार कहां चलेगा? तो जिस स्याद्वाद के बल से व्यवहार तक भी चल रहा है, मोक्षमार्ग भी चलता है उस स्याद्वाद का निषेध करते हैं सर्वथा एकान्तवादी लोग।

लोक में नामवरी चाहना महती विपदा है, यह क्यों लगी हुई है, इसका कारण देखिये 564 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ० 265—इज्जत चाहने की विपदा—मनुष्यमें सबसे बड़ी विपदा यह लग बैठी कि यह मनुष्य नाम चाहता है, इज्जत चाहता है। तो जिस आत्मा के ज्ञान नहीं है वह इज्जत ही तो चाहेगा और जिस आत्मा के ज्ञान है वह धर्म को चाहेगा। दुनियां कुछ कहे, दुनिया किसी ढंग से रहे, पर अपने आपमें संतोष है, शांति है तो आपका

भला है। मनुष्य ज्ञानी हो तो वह नामवरी नहीं चाहता, आत्मानुभव चाहता है। अनेक अनेक बार आत्मा का अनुभव जगे, इस ओर धुन रहती है और जो अज्ञानीजन हैं उन्हें आत्मतत्त्वका परिचय तो मिला नहीं तो कहीं न कहीं लगेगा ही। आत्मा में तीन गुण है—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, दर्शन का काम है श्रद्धा रखना, ज्ञानका काम जानना, चारित्र का काम किसी न किसी में लगे रहना, ये तीन बातें प्रत्येक जीव में पायी जाती हैं। जिसका जैसा श्रद्धान होगा वैसा ही ज्ञान होगा। और उसी जगह वह लगेगा।

कुशील पाप प्रबल पातक है, पढ़िये 589 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, 289—कुशील की प्रबल पातकत्वा—ब्रह्मचर्य के घात का नाम है व्यभिचार। व्यभिचार नाम तो सभी बाहरी प्रवृत्तियों का है। आत्मा में अपना उपयोग स्थिर न रहे, बाहरी बाहरी विषयों में चित लगा रहे वे सब व्यभिचार हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, तृष्णा ये सबके सब व्यभिचार कहलाते हैं। लेकिन लोक में रूढ़ि एक स्पर्शनइन्द्रिय के विषयसेवन में अर्थात् मैथुन प्रसंग में, कामवासना की पूर्ति में लोग व्यभिचार शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे यह जानना कि समस्त इन्द्रियों में प्रबल और पातक विषये है स्पर्शनइन्द्रिय का विषय। अर्थात् कुशील नामक पाप ऐसा कठिन पाप है कि जिसमें रहकर मनुष्य रंच भी सावधान नहीं रह पाता। इसी कारण कुशील पापको ब्रह्मचर्य का घात बतलाया है। वहां तो आत्मा के उपयोग से हट कर किसी भी बाह्य पदार्थ में रति करना सो व्यभिचार का घात बतलाया है। वहां तो आत्मा के उपयोग से हटकर किसी भी बाह्य पदार्थ में रति करना सो व्यभिचार है। फिर भी रूढ़ में एक विषयसेवन का ही व्यभिचार कहते हैं। तात्पर्य यह है स्पर्शनइन्द्रिय का विषय सबसे कठिन विषय है, उससे विरक्त रहकर एक परमार्थ ब्रह्मचर्य का पालन करना है।

जो ज्ञान चारित्र में बद्ध हैं, उनकी सेवा कल्याणकारिणी है, इसका चिन्तन कीजिये 766 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ० 370—बृद्धसेवा के लाभ—तो गुरुजनों की सेवा करने से जो गुण प्रकट होते हैं वहां यह भी एक गुण प्रकट होता है कि उसके नम्रता बढ़ती है, अभिमान दूर होता है और फिर उसके ज्ञानप्रकाश होता है। अहंकार के अंधकार से ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश ढकगया है। गुरुसेवा एक कि कर्तव्यविमूढ़ रहता है, अपना जीवन यों ही निर्यायन किया करता है। बृद्ध सेवा से समस्त ब्रत विशुद्ध बनते हैं और खासकर ब्रह्मचर्य महाब्रत की तो बहुत पुष्टि होती हैं। बड़ों की संगति न करके छोटे रागीद्वेषी मलिन पुरुषों की संगति से सभी प्रकार के विकार उत्पन्न होते रहते हैं। जिन्हें लोक में अपनी सिद्धि चाहिए परिणामों निर्मलता चाहिए, विद्या और विनय की बढ़वारी चाहिए उन्हें गुरुसेवा करना अनिवार्य।

सत्संग में बुद्धि व्यवस्थित रहती है, इसका अध्ययन कीजिये 784 वें एक छन्द के एक प्रवचनांशमें—पृ0 415—416 संत्संग में बुद्धि को व्यवस्थित रहती है। लोग शिक्षा देते हैं ना बच्चों को कि देखो माता पिताको सेवा करो। माता पिता भी तो बच्चों की अपेक्षा बृद्ध पुरुष हैं, ज्ञानी हैं, अनुभवी हैं, दूसरे उनका लौकिक सम्बन्ध भी गुप्तता का है। तो माता पिता की जो सेवा करते रहते हैं उन बच्चों की बुद्धि सही रहती है और जो समर्थ होकर भी माता पिता का क्लेश पहुंचाते रहते हैं उनकी बुद्धि मलिन रहती है, तो उस बुद्धि की मलिनता के कारण उनकी बुद्धि ऐसी अटपट हो जाती है कि जिससे उन्हें क्लेश, आकुलता, फसाब बढ़ने लगता है। तो बृद्ध पुरुषों को, माता पिता को, गुरुजनों की सेवा करना और परमार्थता जो ज्ञानी विरक्त सन्त पुरुष हैं उनकी सेवा में रहना, यह सत्संगति अनेक अवगुणों को दूरकर देती है।

कैवल्यकी दृष्टि बिना छुटकारा नहीं हो सकता, पढ़िये 803 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—पृ0 450—कैवल्यकी दृष्टि हुए बिना मुक्ति का अलाभ—मुक्ति अर्थ है छुटकारा। कोई चीज किसी दूसरी चीज से बिल्कुल छूटी हुई हो, तब वे दोनों चीजें न्यारी न्यारी हुईं। एक ही चीज का सार, एक ही चीज का स्वरूप कैसे छूटे? जैसे जल गर्म हो गया तो जल गर्मी से छूट सकता है अर्थात् ठंडा हो सकता है, क्यों कि गर्मी जल का स्वरूप नहीं, वह गर्मी जल में अग्नि का निमित्त पाकर आयी हुई है, पर अग्नि की गर्मी भी छूट सकी क्या? अग्नि भी शीतल हो गई क्या? अरे अग्नि का तो स्वभाव ही गर्मी है। अग्नि से गर्मी अलग कैसे हो सकती है? तो यदि हमें छुटकारा चाहिए है तो पहिले यह श्रद्धान तो आना चाहिए कि जिन जिनसे छुटकारा चाहते हैं उनसे न्यारा मेरा स्वरूप है। इस ही का बोध न हो तो छुटकारा कभी मिल नहीं सकता। भेदविज्ञान की बात जब किसी क्षण किसी को ही तो थोड़े से अक्षरों का सहारा लेकर हो ही जाता है, तो सन्त पुरुषों के उपदेश का एक अक्षर मुक्ति का बीज हो जाता है।

परिग्रह का दुर्गतिका बीज है, पढ़िये 826 वें श्लोक का प्रवचन, पृ0 496—परिग्रहसंग की दुर्गति—बीजरूपता—संगसे अर्थात् परिग्रह से काम होता है, अनेक प्रकार के वान्छा विकार होते हैं। जहां परिग्रह है वहां अनेक अटपट वान्छायें हुआ ही करती हैं और समस्त इच्छाओं में भी अत्यन्त खोंटी इच्छा है मैथुन प्रसंग की, सो इस काम महाविकार का भी मूल यह परिग्रह है। परिग्रह से काम होता है। काम से क्रोध होता है कामवासना की पूर्ति न होने पर क्रोध से हिंसा होती है। क्रोध में जीव पर प्राणियों के घात में भी संकोच नहीं करता और कहीं अपना भी घात कर डाले, ऐसा भी अविवेक कर डालता है। हिंसा से पाप होता है, फिर उस पाप के फल में नरक गति में ऐसा कठिन दुख भोगता है। जो वचनों से भी नहीं गर्मी की वेदना सहनी पड़ती है।

नारकी जीव एक दूसरे को देखकर शस्त्रघात अग्निदाह आदि नाना दुख देते हैं। ये समस्त विपदायें परिग्रह के सम्बन्ध होती हैं।

222—227 ज्ञानार्णव प्रवचन 12, 13, 14, 15, 16, 17 भाग

ज्ञानार्णव ग्रंथ पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हुए थे। ये प्रवचन आत्महितकारक हैं। संयम के प्रकरण में कषाय की अतिकरता का चित्रण कीजिये, पृष्ठ 2—कषायसिच्चवन से सर्वाभिमत सिद्धिप्रद सयमोत्तरपीयूष का निःसारीकरण—कषायरूपी विषय का सिंचन सयमरूपी अमृतका भी वह क्षणमात्र में निःसार कर देता है। जैसे अमृत का भरा हुआ घड़ा है और उसमें थोड़ा से विष सींच दे तो सारा अमृत खराब हो जाता—ऐसे ही बहुत तपश्चरण है संयम है, ऐसे अमृत के पुच्छ बन रहे हैं साधु—सन्त जिन, किन्तु कषायरूपी विषका सिंचन हो जाय अर्थात् क्रोध या अन्य कषाय प्रकट हो जाय तो वह अमृत जो मनोवान्वित सिद्धि की देने वाला है तत्क्षण निःसार हो जाता है। जैसे कोई चींटी भीटपर चढ़ती है, बहुत उंचे तक भी चढ़ गयी और वहां से गिरजय तो उसकी सारी चढ़ाई समाप्त हो जाती है ऐसे ही बड़े संयम शान्ति से अपने आत्मा को उन्नति की, किन्तु कभी तीव्र क्रोध आ जाय तो वह उन्नति खराब हो जाती है। भले ही उस क्रोध का, उनके संस्कार को दूर करके शीघ्र ही उस परिस्थिति को प्राप्त करले, क्योंकि पहिले संयम का अच्छा अभ्यास था, ठीक ही है, मगर तत्क्षण की बात देखिये जब क्रोध आता हो तो वह सब संयमरूपी अमृत निःसार हो जाता है।

द्रोहियों प्रति भी द्रोह न करने का कर्तव्य, पृष्ठ 18—द्रोहियों के प्रति द्रोह न करने की विशेषतान्जो प्रतिक ल चलने वाले व्यक्त हैं अथवा उपसर्ग करने वाले शत्रु हैं उनमें मेरा मन तत्काल जो द्रोह को प्राप्त होता है तो उन शत्रुओं में और मुझमें फिर भेद क्या रहा? जो उपसर्ग कर रहे हैं उनका मन तो द्रोह में होता है तो उन शत्रुओं में और मुझमें फिर भेद क्या रहा? जो उपसर्ग कर रहे हैं उनका मन जो सो द्राहमें है और मैं भी अगर उनपर रोष करने लगूं तो मुझमें और उनमें अन्तर क्या रहा। उपसर्ग करने वाले व्यक्ति कोई मुनि तो हैं नहीं वे तो सदगृहस्थ भी नहीं हैं वे तो छोटे गृहस्थ हैं, दूष्ट पुरुष हैं। उन दूष्ट व्यक्ति की तरह यदि मैं भी दूष्टता करने लगा तो उनमें और मुझमें अन्तर हो क्या रहा? मैं तो मोक्षार्थी हूं, मैंने तो अपना प्रोग्राम, अपन भेष, अपनी चर्या मुनि की बनायी है, मोक्षमार्ग की बनायी है सो यदि हम शान्ति में नहीं रहते और उपसर्ग करने वालों पर क्रोध करते हैं तो उनमें और मुझमें फिर अन्तर ही क्या रहा? जैसे वे संसार में घूमगें इस प्रकार मैं भी घूमूंगा। शानीसंत जो ऐसा विचार करते हैं कि इन दुष्ट पुरुषों पर जो कि उपसर्ग कर रहे हैं मैं यदि क्रोध करने लगा तो मैं उन्हीं के समान

कहलाउंगा। इसका तात्पर्य यह है कि मैं भी इस संसार में घूमूंगा। कहीं सम्मान अपमान भरा तात्पर्य न लेना कि मैं मुनि हूँ, यह दूष्ट पुरुष है। मैं इस पर रोष करूंगा तो मैं दुष्ट कहलाउंगा, ऐसा ध्यानमें नहीं है किन्तु यह ध्यान में है कि मैं भी यदि क्रोध करूँ तो जैसे ये संसार में घूमेंगे वैसे ही मैं भी संसार में घूमूंगा, अतएव मुझे क्रोध न करना चाहिए।

लोभविषयक विकल्प बेकार है इस तथ्य का मनन कीजिये, पृष्ठ 48—लोभ विकल्प को व्यर्थता—भैया! लोभ में होता क्या है कि जब चीज पासमें है तो उसकी चाह नहीं होती और जब चाह होती तो उस चीज को प्राप्ति नहीं होती। यह बात तो बहुत अच्छी है कि चाह न रहे, पर यह बात रह कहां पाती है। दूसरी चीज को चाह बन जाती है। तो इस लोभ कषाय में यह जीव पाता तो कुछ नहीं, मगर तृष्णा के वश होकर बड़ा कठिन श्रम कर डालता है। जैसे कि कोई हिरण अपनी प्यास बुझाने के लिए बड़ी श्रम कर डालता है, पर प्यास नहीं बुझा पाता और दौड़-दौड़कर मरण को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार इस लोभकषाय के वश होकर यह संसारी प्राणी अपने जीवनको व्यर्थ ही खो देता है। जैसे स्वप्न में दिखने वाली विभूतियां कहीं प्राप्त ही नहीं हो जाती। वे तो स्वप्न की चीजें हैं, उनका मिलना असम्भव है, पर यदि कोई उनके पाने की वाच्छा न करे तो उसके समान मूर्ख और किसे कहा जाय? ऐसे ही जो चीजें प्राप्त होनी असम्भव हैं उनके पाने की वाच्छा भी यह लोभी प्राणी करता है तो फिर उसे मूर्ख नहीं तो और क्या कहा जाय? अरे यह आत्मा तो एक अमूर्त ज्ञान मात्र है। इस देह को छोड़कर वह कहीं अकेला ही चला जायगा। उसे मिला क्या? कोई कहे कि जब तक रहा तब तक तो मिला, पर तब तक भी न मिला क्योंकि उसे उससे सन्तोष नहीं होता। उससे आगे की वाच्छा बनी रहती। जो पुरुष आत्मदृष्टि करता है और आत्मज्ञानके द्वारा अपने आपमें तृप्त रहा करता है, महता तो उसकी है सुखी तो वह है। लोभी पुरुष को तो कितनी भी सम्पदा मिल जाये, पर उससे उसे संतोष नहीं होता, वह कभी शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता और अपने इस पाये हुए दूर्लभ मानव जीवन को वह व्यर्थ ही खो देता है।

विषयका परिहार करने वाले संयमी मुनियों का महत्व समझिये, पृष्ठ 82—विषयपरिहारी योगियों की श्लायनीयता—इस प्रकरण की कहकर इस श्लोक में यह बता रहे हैं कि देखो जिसतरह कछुवा अपने सुख को संकोच लेता है। अपनी गर्दन को ऐसे भीतर कर लेता है कि जिससे जरा भी पता नहीं पड़ता कि इसके सिर भी है इसी प्रकार जो ज्ञानी संयमी मुनिजन हैं वे इन्द्रिय की सेना को संकोच करें उन्हें वश कर लेते हैं। वे ही मुनि दोष कर्दम से भरे संसार में रहते हुए भी दोषों से लिप्त नहीं होते। वजल में भिन्न कमल की भांति अलिप्त रहते हैं। मुझे मोक्ष पाना है, मोक्ष नाम है कैवल्यका,

मुझे खालिस रहना है जिसकी यह दृष्टि बनी है वह इन इन्द्रिय विषयों को अपने वश में कर लेता है। जो पुरुष इन इन्द्रियों को वशमें करता है वह पुरुष खाते पीते रहने पर भी हर स्थितियों में अलिप्त रहता है।

228—231 ज्ञानार्णव प्रवचन 18, 19, 20, 21 भाग

पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के ज्ञानार्णव प्रवचनों में इस पुस्तक में पढ़िये वस्तुस्वातन्त्र्य तथा साथ ही निरखिये विभावपरिणमनकी हेयता का कारण, पृष्ठ 4—सबका अपने अपने निज क्षेत्र में अपने गुणों का योग्यतानुसार परिणमन—हम अपने ही प्रदेशों में रहकर अपना उत्पाद किया करते हैं। और नवीन अवस्थाका उत्पाद हुआ, उसी के मायने यह है कि पूर्व पर्यायका व्यय हुआ। मैं ही क्या, जगत के समस्त चेतन अचेतन पदार्थ अपने आपके अस्तिकाय में अपने ही गुणों में अपना परिणमन किया करते हैं और इसी कारण प्रत्येक पदार्थ आज तक है। यहद कभी ऐसी गड़बड़ हो गयी होती कि एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में अपना परिणमन धर दे तो जगत शून्य हो जाता। यह सारा जगत अब तक टिका है, सामने दिख रहा है। यह ही इस बात का प्रमाण है कि वस्तु का स्वरूप चतुष्टय अपना—अपना है। हां, इतनी बात को मना नहीं किया जा सकता है कि इन परिणमनों में जो विभाव—परिणमन हैं, अपने स्वभावके विरुद्ध परिणमन हैं, विकार परिणमन हैं, वे सब परिणमन किसी पर—उपाधिके संसर्ग में हो रहे हैं। ये पर—उपाधि इस परिणममान उपादानकी ऐसी कला है वह किसी अनुकूल निमित्त का सन्निधान पाकर विभावरूप परिणम जाय। यों पदार्थों को निरखना निरखन उनके एकत्वस्वरूपमें।

पापके फल में कैसे क्लेश होते हैं इसका चित्रण कीजिये इस छोटे से अनुच्छेद में पृष्ठ 42—नारकीका अशरणता में विलाप—फिर विचार करता है यह नारकी कि ऐसे नरकों के दुखों में भी ये कर्मसमूह मेरे सामने हैं। अब मैं क्या करूं? नरक भूमि में पड़ा, नरक भवमें फंसा और फिर ये असाता वेदनीय आदिक अनेक कर्म मेरे सामने हैं, उदय में आ रहे हैं, क्या करूं, कहां जाऊं, किसकी शरण देखूं? कभी संताप से तृप्तहोकर वृक्ष की छाया के नीचे जाता हूं तो वहीं को पता तलवारकी धार के समान गिरती है। न हो कोई दूसरा माने वाला तो वहां के भूमिजन्य दुखों से पीड़ित रहता हूं। कहां जाऊं, अब तो मुझे सुख का कोई उपाय नहीं दिखता।

अब मनन कीजिये ज्ञानकी महिमा, पृष्ठ 130 —मोह की अपेक्षा अधिक बलवता—लोग कहते हैं कि मोह बड़ा बलवान है, सब जग को वश कर डालता है, इस मोह से पिंड छुटाना कठिन है, पर भाई! यदि मोह की बलवता के ही

गीत गीते रहोगे तो इस मोह से छुटकारा कैसे मिल सकेगा? अपने को यदि कायर बना लिया तो यह मोह फिर छोड़ न सकेगा। लोग इस बात को तो भूल गये कि इस मोह से भी बड़ा ज्ञान है। मोह ने जिसके बन्धन को अनादि काल में बना पाया है, चिरकाल में बन्ध पाया है उस सारी बांध को यह आत्मज्ञान क्षणभर में ध्वस्त कर देता है। तो मोह की जितनी कला है, मोह का जितना प्रताप है, जितना उसका कार्य है सबको ध्वस्त कर देने का, और उसे भी क्षणमात्र से नष्ट कर देने का फल ज्ञान में हैं। आत्मबल एक ज्ञानबल को ही कहते हैं। अपने को अजर अगर स्वरूपमें निरखना और किसी भी परवस्तु को अपने उपयोग में रखना यही तो एक आत्मबल है, उसकी प्रतीति तो की नहीं और मोह बलवान है यही गुण गाते रहे तो स्वयं हम कायर होकर मोह के दुखकी मोह से ही मिटने का उपाय जानकर मोह मोह में ही फंसे रहेंगे।

सर्व विशुद्ध ध्यान ज्ञानस्वरूपकी अभिमुखता रखते हैं इसका अवधारण कीजिये, पृष्ठ 183—ज्ञानबीज मन्त्रमहेश्वर के ध्यान का विधान—यहां इस मंत्रराज की महिमा गायी जा रही है, उस महिमा गायी जा रही है, उस महिमा को सुनकर यह अवधारण करना चाहिए कि ज्ञानस्वरूप प्रभुकी महिमा गायी जा रही है, उसे छोड़कर ओर कुछ भी गान करतें रहें तो उसमें कोई तत्व नहीं रहता। ज्ञानस्वरूप अथवा प्रभुस्वभावको छोड़कर किसी भी अन्यका ध्यान न रहे, कुछ भी खटपट करके रहना उसमें लाभ नहीं मिलता, ज्ञानस्वरूपके ही ये सब प्रतीक बनाये गए हैं। इन अक्षरों से हमें ज्ञानस्वरूपका ही संकेत मिले तो ये सग मंत्रराज ध्यान फल प्रदान करते हैं, यह मंत्रराज ज्ञानका बीज है, जगत से वंदनीय है, संसाररूपी अग्नि के लिए अर्थात् जन्म संतोष दूर करने के लिए मेवके समान है। इस तरह ध्यान रकें। विषय कषायों से जब ध्यान तो हटता है सो उस खोंटे ध्यान हटने का भी कोई प्रभाव होता है। तो मंत्रराज के ध्यान में खोंटे ध्यान तो हट ही हुए हैं, वह प्रभाव तो स्वतः यह ही हैं, पर उसमें ज्ञानस्वरूपका संकेत बसाकर ज्ञानस्वरूप की भावना बनाये तो उसमें ध्यान का और अतिशय बढ़ जाता है। जब परख में आयाकि ओह इतना भी ध्यान जनम सन्तोष को दूर करने के लिए, सांसारिक क्लेशों को दूर करने के लिए ये सब मेघ के समान है।

अब पाइये प्रभुस्मरणकी उमंग, पृष्ठ 504—ज्ञानघन प्रभुके स्मरण की शरणकी—जिसका ज्ञान समस्त लोकालोक में घनीभूत होकर रह रहा है ऐसे प्रभु का स्मरण हम आपके लिए शरण हावों। जब कोई दुखी होता है तो गद्गद होकर एक शरण मानकर किसी न किसी की गोद के निकट जाकर यह शान्ति चाहता है। ऐसा कौन मिलेगा कि जिसके निकट रहकर हम शान्तिलाभ पा सकें? एक केवल ज्ञानपुच्च प्रभु का ही स्मरण शरण है। हे नाथ! आप हमें ऐसा बल दें अर्थात् आपके स्मरण से मुझमें ऐसा बल प्रकट हो

कि केवल मेरे लिए आप ही आप दृष्टिगत हों। मुझे और कुछ न चाहिए। बहुत ही आज्ञाकारी, विनयशील सुन्दर रूपवान कोई सन्तान भी हो, परिजन के लोग भी हों तो ये क्या है? ये सब राग आग में मुझे जलाने के साधन हैं और संसार में जन्म मरण करके बरबाद होने के साधन है। हे प्रभो! कहा जाय, कहां ध्यान लगायें? यह सारा जहान मायामयी है। एक प्रभुका स्मरण ही हम आपके लिए सहाय है।

232—234 ज्ञानार्णव प्रवचन 22, 23, 24 भाग?

235—236 इष्टीदेवा —प्रवचन 1, 2 भाग

पूज्यपाद स्वामि विरचित इष्टीपदेशके 25 श्लोकों का प्रथम भाग में व 26 से 11 तक 26 छन्दों में द्वितीय भाव में पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। इसमें किसका उपदेश किया गया है, इसको मंगलाचरण के एक प्रवचनांश में पढ़िये—इष्टका उपदेश—इस ग्रंथ में इष्ट तत्व का उपदेश है। समस्त जीवोंको इष्ट क्या है? आनन्द। उस आनन्द की प्राप्ति यथार्थ में कहां होती है और उस आनन्द का स्वरूप क्या है? इन सब इष्टों के सम्बन्ध में ये समस्त उपदेश है। आनन्द का सम्बन्ध ज्ञानके साथ है, धन वैभव आदि के साथ नहीं है। ज्ञान का भला बना रहता, ज्ञानमें कोई दोष और विकार न आ सके ऐसी स्थिति होना इससे बढ़कर कुछ भी वैभव नहीं है। जड़ विभूति तो एक अन्धकार है। उस इष्ट आनन्द की प्राप्ति ज्ञान की प्राप्ति में निहित है। और उस ज्ञान की प्राप्ति का उद्देश्य लेकर यहां आनन्द परमात्मा को नमस्कार किया है। स्वभाव ही ज्ञान है। आत्मा का जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप निश्चय परिणाम है जो स्वतन्त्र है, निष्काम है, रागद्वेष रहित है उस स्वभाव की प्राप्ति स्वयं ही होती है ऐसा कहा है।

शुद्ध परिणाम श्लोक परलोक दोनों जगह शान्ति का कारण है, इसे पढ़िये 4 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—शुद्ध परिणामका सामर्थ्य—भैया, हम आप लोग सभी इसी बात में आनन्द मानते हैं कि खूब धन बढ़ गया, खूब परिवार बढ़ गया, पर जिस भाव में आनन्द है उसका अज्ञानियों को पता ही नहीं है। ज्ञानियों को स्पष्ट दीखता है कि सच्चा आनन्द तो इससे ही मिलेगा। वह भाव है एक ज्ञानप्रकाश अमूर्त, किसी भी दूसरे जीव जिसका रंच सम्बन्ध नहीं, ऐसा यह मैं केवल शुद्ध प्रकाशात्मक हूं। ऐसे ज्ञानस्वभावमें परिणाम जाय तो यह परिणाम मोक्ष को देता है फिर स्वर्ग तो कितनी दूर की बात रही, अर्थात् यह तो निकट और अवश्यभावी है। जो मनुष्य बलशाली होता है वह सब कुछ कर सकता है। सुगम और दुर्गम सभी कार्यो को सहज ही सम्पन्न कर सकता है। कौन पुरुष ऐसा है जो कठिन कार्यो के करने को तो सामर्थ्य रखता हो

और सुगम कार्यो के करने की सामर्थ्य न रखता हो। वह अपने में आपमें अपनी शक्ति को खूब समझता है। उसके लिए सभी कार्य दुर्गम अथवा सुगम हों, सरल होते हैं।

सुख और आनन्द में अन्तर समझिये, पढ़िये छठे छन्द का एक प्रवचनांश—यद्यपि सुख दुख और आनन्द ये आनन्दगुण के परिणमन है, तथापि इन तीनों में आनन्द तो है शुद्ध तत्त्व, सुख और दुख ये दोनों हैं अशुद्ध तत्त्व! यह इन्द्रियजन्य सुख आत्मीय आनन्दकी होड़ नहीं करसकता है। स्वानुभव में जो आनन्द उत्पन्न होता है अथवा प्रभु के जो आनन्द है उस आनन्द की होड़ तीन लोक तीन लोक तीन काल के समस्त संसारी जीवों का सारा सुख भी जाड़ लीजिये तो भी वह समस्त सुख भी उस आनन्द को नहीं पा सकता है। यह सांसारिक सुख आकुलता सहित है ओर शुद्ध आनन्द अनाकुलतारूप है। सांसारिक सुख में इन्द्रिय की आधीनता है। इन्द्रियां भली प्रकार हैं तो सुख है और इन्द्रियों में कोई फर्क आया, बिगाड़ हुआ तो सुख नहीं रहा, किन्तु आत्मीय आनन्द में इन्द्रियकी आवश्यकता ही नहीं है। इन्द्रियज सुख पराधीन हैं, नाना प्रकार के विषयों के साधन जुटें तो यह सुख मिलता है, परन्तु आत्मीय आनन्द पराधीन नहीं है, अत्यन्त स्वाधीन है। समस्त पदार्थों का विकल्प न रहे, केवल स्वात्मा ही दृष्टि में रहे तो उससे आनन्द उत्पन्न होता है। इस इन्द्रियज सुख में दुख का सम्मिश्रण है, किन्तु आत्मीय आनन्द में दुख को पहुंच भी नहीं है। संसार का कोई भी सुख ऐसा नहीं है जिसमें दुख न मिला हुआ हो। धनी होने में सुख है तो उसमें भी कितने ही दुख हैं संतानवान होने में सुख है तो उस प्रसंग में भी कितने ही दुख भागने पड़ते हैं। संसार का कोई भी सुख दुख के मिश्रण बिना नहीं है। सांसारिक सुख कर्म बन्धन का कारण है, परन्तु आत्मीय सुख कर्म बन्धन का कारण है, परन्तु आत्मीय आनन्द कर्म बन्धका कारण नहीं है। सांसारिक सुख इस आनन्द के अंशको भी नहीं प्राप्त कर सकता है।

संसारी जीवों का अन्तर्दाह तो देखिये, दन्द 12 को एक प्रवचनांश—अहो कितनी कठिन दाह की भीषण ज्वालायें इस संसार में बस रही हैं। जल रहा है यह खुद विषादवाग्नि में, किन्तु पक्षपात की बुद्धिको नहीं छोड़ता है। ये मेरे हैं, इनके लिए तो तन, मन, धन, वचन सब हाजिर हैं। यह मोह का अंधकार सब जीवों को सता रहा है, बिकल होता हुआ उनमें ही लिपत हो रहा है। जिनके सम्बन्ध से क्लेश होता उस ही क्लेशको मिटाने के लिए उनमें ही लिप्त रहते हैं। यही है एक जाल यह ऐसा नहीं है जैसे लोहे का जाल हो, सूत का जाल हो। किसी भी प्रकार का जाल नहीं है इस जीवपर, मकड़ी के जाल बराबर जो सूक्ष्मा कमजोर भी जाल नहीं है, किन्तु यह मोही जीव अपनी कल्पनायें मोहवश ऐसा जाल पूरता है कि उससे परेशान

हो जाता है। तब उसे संसार में आधि व्याधि उपाधि सब लगी रहती है। आधि नाम तो है मानसिक दुखका, व्याधि नाम है शारीरिक दुख का और उपाधि नाम है परका पुछल्ला लपेटे रहने का। यों यह जीव आधि व्याधि और उपाधि से दुखी रहा करता है। उपाधि का अर्थ है जो आधि के समीप ले जाय। उसका अर्थ है समीप और आधिका अर्थ है मानसिक दखु। जो मानसिक दुख के समीप ले जाय उसे उपाधि कहते हैं। जैसे पोजीशन डिग्री आदि मिलना ये सब उपाधि हैं। तो यों यह जीव भ्रम में कल्पना जाल में बसकर आधि व्याधि और उपाधि से ग्रस्त रहता है।

अज्ञानी को अपने अपराध का भी परिचय नहीं, कितनी विडम्बना है, पढ़िये 14 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें— पृ० 169—ज्ञानी सत जानता है कि मेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्द है। ज्ञान और आनन्दकी विशुद्ध वर्तना के एतिरिक्त अन्य जो कुछ प्रवृत्ति होती है, मनेस प्रवृत्ति हुई, वचनों से हुई अथवा काय से हुई, तो ये सब प्रवृत्तियां अपराध हैं। अज्ञानी को ये प्रवृत्तियां अपराध नहीं मालूव देती। वह तो इन प्रवृत्तियों को करता हुआ अपना गुण समझता है। मुझमें ऐसी चतुराई हे, ऐसी कला है कि मैं अल्प समय में ही धन संचित कर लेता हूँ। ज्ञानी पुरुष जब कि यह समझता है कि ज्ञानस्वभाव के आश्रय को छोड़कर अन्य किन्हीं भी पदार्थों का जो आश्रय लिया जाता है वह सब अपराध है। उससे मुझे लाभ नहीं है, हानि ही है। कर्मबन्ध हो, आकुलता ही और कुछ सार बात भी नहीं है, ऐसा यह ज्ञानी पुरुष जानता है। न तो अज्ञानी को धन संचय में होने वाली विपदा का विपतिरूप अनुभव होता है ओर न जो धनोपार्जन होता है उसमें भी जो अन्य विपदायें आती है उनका ही स्मरण हो पाता है।

लोभी को धन जीवन से भी प्यारा है, इसका चित्रण देखिये 15 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—पृ० 172—भैया, समय का व्यतीत होना दो बातों का कारण है— एक तो आयु के विनाश का कारण है और दूसरे धनप्राप्तिका कारण है। वर्षभर व्यतीत हो गया, इसके मायने यह है कि एक वर्ष की आयु का क्षय हो गया और तब बयाज की प्राप्ति हुई। यों काल का व्यतीत होना, समय का गुजर जाना दो बातों का कारण है। एक तो जैसे जीव की आयु कम होती जाती है और वैसे ही व्यापार आदि के साधनों से या ब्याज के साधनों से धन को बरबादी होती है। तो धनी लोग अथवा जो धनी अधिक बनना चाहते हैं वे लोग काल के व्यतीत होने को अच्छा समझते हैं। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि इन धनिक पुरुषों को धन जीवन से भी अधिक प्यारा है। वर्ष भर का समय गुंजरने पर धन तो जरूर मिल जायगा, पर यहां उसकी आयु भी कम हो जायगी। ऐसे धन का जो लोभी पुरुष है अथवा धन

जिसको प्यारा है और समय गुजरने की बाट जोहता है उसका अर्थ यह है कि उसे धन तो प्यारा हुआ, पर जीवन प्यारा नहीं हुआ।

आनन्द पद्धति का क्या उपाय है, इसे देखिये 16 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ0 172—भैया, समय का व्यतीत होना दो बातों का कारण है—एक तो आयु के विनाश का कारण है और दूसरे धनप्राप्ति का कारण है। वर्षभर व्यतीत हो गया, इसके मायने यह है कि एक वर्ष की आयु का क्षय हो गया और तब ब्याज की प्राप्ति हुई। यों काल का व्यतीत होना, समय का गुजर जाना दो बातों का कारण हैं—एक तो आयु के क्षय का कारण है और दूसरे धन को बृद्धि का कारण है। जैसे ही काल गुजरता है तैसे ही तैसे जीव की आयु कम होती जाती है और संसे ही व्यापार आदि के साधनों से या बयाज के साधन से धन की बरबादी होती है। तो धनी लोग अथवा जो धनी अधिक बनना चाहते हैं वे लोग काल के व्यतीत होने को अच्छा समझते हैं। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि इन धनिक पुरुषों को धन जीवन से भी अधिक प्यारा है। वर्ष भर का समय गुजरने पर धन तो जरूर मिल जायगा, पर यही उसकी आयु भी कम हो जायगी। ऐसे धन का जो लोभी पुरुष है अथवा धन जिसको प्यारा है और समय गुजरने की बाट जोहता है उसका अर्थ यह है कि उसे धन तो प्यारा हुआ, पर जीवन प्यारा नहीं हुआ।

आनन्दपद्धति का क्या उपाय है, इसे देखिये 16 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—हे आत्मन् यदि तुझे आनन्द की इच्छा हो तो पर पदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि का परित्याग कर और शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निजतत्व का परिचय कर। शुद्ध आनन्द अनादि अनन्त स्वभाव आत्मा के आश्रय से ही प्रकट होता है। आनन्दका आत्मतत्वको लखने वाले उपयोग में ऐसी पद्धति बनती है जिससे आनन्द ही प्रकट होता है। वहां क्लेश के अनुभवका अवकाश ही नहीं हैं। जो पुरुषार्थी जीव सत्य साहस करके निर्विकल्प ज्ञानप्रकाश की आस्था रखते हैं उन्हीं का जीवन सफल है। आनन्द आनन्दमय परब्रह्म क उपासना में है। आनन्द वास्तविक समृद्धि में है। समृद्धि सम्पन्नता होने का नाम ही आनन्द है। परमार्थ समृद्धि सम्पन्नता में निराकुलता होती ही है। यह सम्पन्नता त्यागमय स्वरसपूर्ण आत्मतत्व के आवनम्बन से प्रसिद्ध होती है।

वास्तव में धृणा के योग्य है तथा क्या, इसे पढ़िये 18 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—इस प्रकरण में यह बात जानना चाहिए कि धृणा के योग्य यह शरीर नहीं है, किन्तु जिस गन्दे जीनके वसने से ये पवित्र स्कंध भी हड्डी खुन आदि रूपमें बन गये हैं वह जीव गन्दा है। न आता कोई जीव तो शरीर कैसे बन जाता? शरीर की गन्दगी का कारण वह अशुद्ध जीव है। अब जरा जीव में भी निरखो तो वह जीव अशुद्ध नहीं है, किन्तु जीव को जो निजी

विभावमय वान है, अशुद्ध प्रकृति है, विभाव परिणति का है। वह गन्दी है। जीव तो जैसा सिद्ध प्रभु है वैसा। कोई अन्तर नहीं है, अन्तर मात्र परिणति का है। तो जीव में भी जो रागद्वेष मोह की परिणति है वह घृणा के योग्य है, यह शरीर, यह पुरुष घृणा के योग्य नहीं है, मूल बात यह है। लेकिन इस प्रकरण में परमतत्व ज्ञानियों की दृष्टि में आने वाली बात के लिए व्यवहारिक बात कही जा रही है।

ज्ञानी का विवेकपूर्ण चिन्तन तो देखिये—19 वें छन्द के एक प्रवचनांशमे—भैया, यह देह न रहेगा। अच्छा सुभग सुडौल सबल पुष्ट हो तो भी न रहेगा, दुर्बल, अपुष्ट हो तो भी न रहेगा, परन्तु जीव का भाव, जीव का संस्कार इस शरीर के छोड़ने पर भी रहेगा। तो जैसे कुटुम्बके लोग महिमान में वैसी प्रीति करते हैं जैसे कि अपने पुत्र में करते हैं, क्योंकि जानते हैं कि यह महिमान हमारे घर का नहीं है। आया है जायगा और ये पुत्रादिक मेरे उत्तराधिकारी हैं, मेरे हैं, या समझते हैं। इसीलिए मानो महिमान नाम रखा है—महिमा न। जिसके प्रति घर वालों को बड़प्पन की बुद्धि नहीं है, प्रियता की बुद्धि नहीं है वे सब महिमान कहलाते हैं। तो जैसे कुछ समय टिकने वाले के प्रति, अपने घर में न रह सकें ऐसे लोगों के प्रति ये स्नेह नहीं बढ़ाते, अपना वैभव नहीं सौंप देते, ऐसे ही यह विवेकी कुछ दिन रहने वाले इस शरीर के लिए अपना दुर्भाव नहीं बनाता है, खोंटा परिणाम नहीं करता है, उसकी ही सेवा किया करे ऐसा संकल्प नहीं होता। अपने उद्धार की चिन्ता होती है उसको जो ऐसा ज्ञानी ही, विवेकी हो।

पारमार्थिक उदारता तो देखिये, जिसका फलख मधुर ही मुधुर है, पढ़िये 23 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—अपने को ज्ञानस्वरूप समझना, अकिंचन मानना, केवल स्वरूपसतामात्र अपने को निरखनी, एक भी पैसे का अपने को धनी न समझना, एक अणु भी मेरा नहीं है, ऐसी अपनी बुद्धि बनाना, इससे बढ़कर उदारता क्या होगी? सम्यग्ज्ञानमें सर्वोत्कृष्ट उदारता भरी हुई है, मगर कहने सुनने मात्रका ही सम्यग्ज्ञान नहीं होता है, उसका कुछ प्रेक्टिकल प्रयोग हो तब समझा जाय कि हां इसके ऐसा ही सम्यग्ज्ञान है। सर्व परभावों से रहित ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं, अकेला हूं, सबसे न्यारा हूं। मेरे करने से किसी दूसरे का कुछ होता नहीं है। अत्यन्त स्वतन्त्र मैं आत्मा हूं। ऐसा केवल अपने अद्वैत आत्मा का अनुराग हो तो वह पुरुष वास्तव में अमीर है, सुखी है, पवित्र है विजयी है, और जो बाहरी पदार्थों में आशक्ति लगाये हुए हैं, कितना ही धन का खर्च है, कितने ही झंझट भी सह रहे हैं और मृत्यु के दिन निकट आ रहे हैं। प्रथम तो किसी की भी मृत्यु का पता नहीं है, पर आयु अधिक हो जाय तो उसके बाद और क्या होगा? बचपनके बाद जवानी और जनानी के

बाद बुढ़ापा और बुढ़ापा के बाद क्या फिर जवानी ममता में कुछ अन्तर न डालें, ढील न करें तो सोच लीजिये क्या गति होगी।

श्रद्धान की कला से आनन्द या क्लेश की सृष्टि होती है, पढ़िये 27 वें छन्द का एक प्रवचनांश—जिस भवमें गया उस ही भवमें जो मिला उसमें ही ममता की, जो पर्याय मिली उप ही रूप अपने को माना। गाय, बैल, भैंस हुआ तो वहां उस ही रूप अपनी प्रतीति रखी। मनुष्य भवमें ता हैं ही, यहां ही देखलो, हम अपने को निरन्तर मनुष्यता की प्रतीति रखते हैं। मैं मनुष्य भी नहीं हूं, किन्तु एक अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप चेतन पदार्थ हूं। ऐसी प्रतीति में कब कब रहते हैं? कभी नहीं। यदि ज्ञानानन्दस्वरूपकी प्रतीति हो तो फिर आकुलता नहीं रह सकती है। आकुलता कहां है। निराकुल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वको निरखें तो वहां आकुलता का नाम नहीं है। वह अपने स्वरूपसे सत् है, समस्त परभावों से मुक्त है, प्रभु है, यह मैं आत्म निर्मल हूं। यहां शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वको निरखा जा रहा है। इसमें मिथ्यात्व, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कुछ भी परभाव नहीं हैं। स्वरसतः निरखा जा रहा है।

भय के औटपाये यह प्राणी स्वयं बनाता है, देखिये 30 वें छन्द का एक प्रवचनांश—जब तक इस जीनके शरीर और आत्मा में एक मेक मान्यता रहती है, शरीर को ही यह मैं हूं ऐसा समझा जाता है तब तक इस जीवको भय और दुख होता है। ये जगत के प्राणी जो भी दुखी हैं—उनके दुखका कारण एक पर्यायबुद्धि है। अन्यथा जगत में क्लेश है कहां? ये सब बाह्य पदार्थ हैं। कैसा ही परिणामें, हमारा क्या बिगाड़ किया? कोई भी कष्ट की बात नहीं है। आज वैभव है, कल न रहा, हमारा क्या बिगड़ गया? वह तो हमसे भिन्न ही था। रही एक यह बात कि अपना जीवन चलाने के लिए तो धनकी जरूरत है। तो जीवन चलाने के लिए कितने धन की जरूरत है? तृष्णा क्यों लग गयी है, उसका कारण है केवल दुनियां में अपनी वाहवारी प्रसिद्ध करना, अन्यथा धन की तृष्णा हो नहीं सकती। धन आये तो आने दो। चक्रवर्तियों के 6 खण्डका वैभव आता है, आनेका मना नहीं है किन्तु उस वैभवको ही अपना सर्वस्व समझ लेना, इसके बिना मेरा जीवन नहीं है, यही मेरा शरण है, ऐसी बुद्धि कर लेना, यही विपत्ति की बात है।

जीव और कर्म में निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी स्वतंत्रता है, पढ़िये और अपना फायदा निकालिये छन्द 31 वें का एक प्रवचनांश—जीव में और कर्म में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव के भावका निमित्त पाकर कर्मों का बन्धन होता है अर्थात् कार्माण वर्गणायें स्वयं ही कर्मरूपसे प्रवृत्त हो जाती है। और, कर्मों का उदय होने पर यह जीव स्वयं रागादिक भावों में

प्रवृत्त हो जाता है। ऐसा इन दोनों में परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है फिर भी किसी भी पदार्थ का परिणमन किसी अन्य पदार्थ में नहीं पहुंचता है। जैसे यहीं देख लो बोलने वाला पुरुष और सुनने वाले लोग इन दोनों का परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। बोलने वाले का निमित्त पाकर सुनने वाले शब्दों को सुनकर और उनका अर्थ जानकर ज्ञानविकास करते हैं। यों उनके इस ज्ञान विकास में कोई वक्ता निमित्त हुआ उनका यों उनके इस ज्ञान विकास में कोई वक्ता निमित्त हुआ और उनका का भी श्रोताओं को निरखकर धर्म चर्चा सुनाने की रूचि हुई। ये कल्याणार्थी हैं, ऐसा जानकर वक्ता उस प्रकार से अपना भीषण करता है। तो यों वक्ता को बोलने में श्रोतागण निमित्त हुए और श्रोतागणों के सुनने और जानने में वक्ता निमित्त हुआ, ऐसा परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, फिर भी वक्ता ने श्रोताओं में कुछ परिणमन नहीं किया और श्रोताओं ने वक्ता में कुछ भी परिणमन नहीं किया। ऐसे निमित्तम नैमित्तिक सम्बन्ध का यथार्थ मर्म तत्त्वज्ञानी पुरुष जानता है।

आप यहां मुक्ति के आनन्द का परिचय कैसे पा सकते हैं? पढ़िये 33 वें छन्द का एक प्रवचनांश—जो साधु संतसाधु पुरुष आत्मा और परको परस्पर विपरीत जानता है और आत्मा के स्वरूपका अनुभव करता है उसमें जो इसे आनन्द मिलेगा उस आनन्द की प्राप्ति से यह जान जाता है कि मुक्ति में ऐसा सुख होता है। जब क्षण भर की निराकुलता में, शुद्ध ज्ञानप्रकाशमें उसे इसका आनन्द मिला है तो फिर जिसके सब मूल कलंक दूर हो गये हैं, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप रह गया है उन अरहंत सिद्ध भगवों को कैसा सुख होता होगा। वह अपूर्व है और उसकी पहिचान इस ज्ञाना की हुई है। कोई गरीब 4 पैसे का ही पेड़ा लेकर खाये और कोई सेठ एक रूप्ये का एक सेर वही पेड़ा लेकर खाये पर स्वाद तो दोनों का एक सा ही आया, फक केवल इतना रहा है कि वह गरीब छककर न खा सका, तरमता रहा, पर स्वाद तो वह वैसा ही जान गया। इसी तरह गृहस्थ ज्ञानी क्षण भर के आत्मस्वरूप के अनुभव में पहिचान जाता है भगवन्तों को किस प्रकार का आनन्द है। भले ही वह छककर आनन्द न लूट सके लेकिन जान जाता है। यों यह ज्ञानी पुरुष आत्मज्ञान से मुक्ति के सुख को निरन्तर पहिचानता रहता है।

विषयसाधनों की असारताका एक चित्रण देखिये 39 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—भैया, इस लोक में रमण करने योग्य क्या है? जो कुछ है वह सब जल के बुदबुदे की तरह चंचल हैं, कुछ ही क्षण बाद मिट जाने वाला है। जैसे जल का बबूला देर तक ठहरे तो उस पर बच्चे लोग बड़े खुश होते हैं और शान के साथ किसी बबूले को अपना मानकर हर्ष के साथ कहते हैं देखो मेरा बबूला अब तक ठहरा है। बरसात के दिन हैं, जब उपर से मकान का पानी गिरता है तो उससे बबूले पैदा हो जाते हैं, बच्चे लोग उनमें अपनायत कर

लेते हैं कि यह मेरा बबूला है, कोई लड़का प्रत्येक देर तक टिक जायतो वह बच्चा नाव उठता है, मेरा बबूला अब तक बना हुआ है। ऐसे ही यह पर्याय, यह शरीर बबूले की तरह है। इन अज्ञाना बच्चों ने अपना अपना बबूला पकड़ लिया है यह मेरा बबूला है, यह इन्द्रजाल की तरह समस्त जगत को जान रहा है। यहां किससे प्रीति करें, कौन मेरा सहाय है, किसका शरण गहें, जो कुछ भी है वह सब अपने लिए परिणमता है।

योगीश्वर उपदेश भी दें फिर भी अन्तरंग तो देखिये कैसा विरक्त है, पढ़िये 41 वें छन्द का एक प्रवचनांश—शुद्ध आत्मतत्त्वका परम आनन्द पा लेने वाले योगी के एक सिर्फ आत्मदृष्टि के अतिरिक्त अन्य सब बातें, व्यवसाय पदार्थ, नीरस और अरुचिकर मालूम होते हैं। किसी भक्त पुरुषको कहीं उपदेश भी देना पड़े तो वह उपदेश देता हुआ भी न देने की तरह है। कर्मों के उदसय की बात वीतराग पुरुष के भी हुआ करती है। अरंहत, तीर्थकर परमात्मा के भी किसी किसी स्थिति तक कर्मोदयवश योग होता है, बोलना पड़ता है, यद्यपि उनाक वह बील निरीह है और सर्वांगनिगत है, किन्तु यह अवस्था आत्मा के सहज नहीं होती है, तब जो रागरहित हैं ऐसे योगीश्वर जिनको वीतराग आत्मतत्त्व से प्रेम है किन्तु रागांश शेष है उन्हें कोई अनुरोध करता है तो वे उपदेश भी देते हैं, अथवा कोई समय निष्चित कर दिया, लोग जुड़ जाते हैं तो बोलना भी पड़ता है, किन्तु वह योगी बोलकर भी न बोलने की ही तरह है।

धर्मपालन की निष्पक्ष पद्धति समझिये 43 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—आत्मा का हित, आत्मा का धर्म, जिसको पालन करने से ही नियम से शान्ति प्राप्त होना वह धर्म कहीं बाहर न मिलेगा। कोई निष्पक्ष बुद्धि से एक शान्ति का ही उद्देश्य ले लें और विशुद्ध धर्मपाल करने की ठान लें तो सब कुछ अपने ज्ञानस्वरूपका निर्णय कर सकता है। कभी य, धोखा हो कि सभी लोग अपने अपने मजहब को गातें हैं, कहां जाकर हम धर्म की बात सीखें। जिसकुल में जो उत्पन्न हुआ है वह उसही धर्म को गाता है। जो जिस कुल में उत्पन्न हुआ है वह उस ही धर्म की गाता है। जो जिस कुल में, धर्म में उत्पन्न हुआ वह रूढ़िवश उस धर्म और कुल की गाता है, पर कहां धर्म, कैसा है धर्म, किस उपाय से शान्ति का मार्ग मिल सकेगा? सन्देह हो गया हो, और सन्देह लायक बात भी है। अपने अपने पक्ष को ही सब गातें हैं। सन्देह होना किसी हद तक उचित ही है। ऐसी स्थिति में एक काम करें। जिस कुल में, जिस धर्म में आप उत्पन्न हुए हैं उसकी भी कुछ बात मत सोंचे, जो कोई दूसरे धर्मों की बात सुनाता हो उनकी भी मत सुनें, पर इतनी ईमानदारी अवश्य रखें, इतना निर्णय करलें कि इस लोक में जो भी समागम मिले हैं धन वैभव, स्वजन, मित्रजन, ये सब भिन्न हैं, और असार हैं। इतना

निर्णय तो पूर्ण करलें, इसमें किसी मजहब की बात नहीं आया, यह तो एक देखो और अनुभव को हुई बात है।

अध्यात्मयोग का मोटासा परिचय पाइये 47 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें—जो पुरुष प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप व्यवहारसे मुक्त होकर आत्मा के अनुष्ठान में निष्ठ होते हैं अर्थात् अध्यात्म में अपने उपयोग को जोड़ते हैं उनके उससे अलौकिक आनन्द होता है। योगी का अर्थ है जोड़ने वाला। यहां हिसाब में भी तो योग शब्द बोलते हैं। किमना योग हुआ अर्थात् दानों मिलाकर सब एक रस करदें इसी के मायने तो योग है। चार और चार मिलाकर कितना योग हुआ? आठ। अब इस ओर । अब इस आठमें पृथक पृथक चार नहीं रहें। वह सब एक रस बनकर एक अष्टक बन गया है। इस प्रकार ज्ञान करने वाला यह उपयोग और जिसका ज्ञान किया जा रहा है ऐसे उपयोग का ही आधारभूत शाश्वत शक्ति इस शक्ति में इस व्यक्ति का योग कर दो। अर्थात् न तो व्यक्ति की अलग बता सके और न शक्ति को अलग बता सके । किन्तु एक रस बन जाय इस ही को कहते हैं अध्यात्मयोग।

237—239 पच्चास्तिकाय प्रवचन 1, 2, 3 भाग

परम पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवरचित पच्चास्तिकाय ग्रन्थ पर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के विस्तृत प्रवचन इस ग्रन्थ में है।

240—242 पच्चास्तिकाय प्रवचन 4, 5, 6 भाग

243 सिद्धभक्ति प्रवचन

पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के सिद्धभक्ति विस्तृत प्रवचन हुए हैं उनका संकलन इस पुस्तक में है। यह पुस्तक प0 अजित कुमार जी शास्त्री भांती द्वारा वीरबुन्देलखंड झांसी में छपने के लिये 5 साल पूर्व दिया हुआ था अब तक छपना भी प्रारम्भ नहीं हुआ।

244 शान्तिभक्ति प्रवचन

1—दशभक्तियों में प्रसिद्ध इस शान्ति भक्ति पर पूज्य श्री 105 मनोहर सहजानन्द जी वर्णी महाराज के प्रवचन हुए हैं। प्रथम छन्द में बताया है कि भव्यजीव भव—दुख संताप न सह सकने कारण प्रभु के शरण में जाते हैं उसी सिलसिले में एक प्रवेचनांश पढ़िये—हे प्रभो, आपके स्नेह से ये समस्त भक्तजन आपके चरणवदम को शरण में नहीं आये हैं। इनके आने का कारण तो दूसरा ही है। वह कारण यह है कि यह संसार रूपी और समुद्र भयानक सागर नाना प्रकार के दुखों से गिरा हुआ है। यहां के दुखों की क्या चर्चा करें से संसारी

जीव विकल्प मूपलों से रातदिन कुट रहे हैं। यहां से मरण करते ही तुरन्त दूसरा नया देह धारण कर लेते हैं। यों जन्म मरण की परम्परा में फसे हुए ये प्राणी दुख सह रहे हैं। जन्ममरण करते हुए में जब जिस जगह पहुंचें वहां के समागमों को अपना मान लेते हैं। पर द्रव्यों का अपना मानने के बराबर संकट दुनियां में अन्य कुछ भी नहीं है। सब संकटों का मुक्त यही मूक्त है। फिर शरीर के साथ रोग व्याधियों के भूख प्यास, शर्दीगर्मी आदक के अनेक संकट लगे हुए हैं। जहां देखो लीक में सर्वत्र दुख ही दुख छाया हुआ है, यही कारण है कि ये भक्तजन आपके चरणव्दय को शरण में आये हुए हैं। जैसे यहां भी लोग कभी चन्द्रमा की शीतल किरणों का सेवन के लिये, अथवा ठंडे जल में स्नान करने के लिये अथवा वृक्षां की छाया में बैठकर आराम करने के लिये आते हैं से वे उन चन्द्रमा की किरणों के प्रेम से या जल वृक्ष आदि के प्रेम से नहीं आते हैं बल्कि अपने गर्मी का आताप मेटने के लिये आते हैं।

2—प्रभुभक्ति से संबन्धित अद्भुत निमित्त नैमित्तिक प्रसंग देखिये दूसरे छन्द के एक प्रवचनांशमें—अद्भुत निमित्त नैमित्तिक प्रसंग—हे प्रभो। जो मनुष्य आव के स्वरूप के स्मरण में रत रहते हैं उनकी विधन रोग में नहीं सताते, शान्त हो जाते हैं। जैसे कि किसी कुछ आर्शीविषयर सर्प ने किसी को डस लिया हो, तोडसे गये पुरुष के शरीर में विष को ज्वालायें फबरही हों, नसाजालों के रूपमें, रंगों के रूप में विष की ज्वालायें अग्नि की तरह धधक रही हों और गर्मी, सताप का ज्वाला भी जल रही है इतना बड़ा तेज विकराल विष विक्रम भी विद्यासे, औषधि से, जन्म मन्त्र से, जलहवन आदि से शान्ति को प्राप्त हो जाता है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका भी जरा स्वरूप देखियेगा। जिसे पुरुष के शरीर में विष छाया हुआ है। वह पुरुष तो दूर है और उसका विष झाड़ने वाला मंत्रवादी उससे दूर है, और कितने ही तो ऐसे सुने गये हैं कि जिस पुरुष की मंत्रवादी ने कभी देखा भी नहीं, किसी अन्य पुरुष ने उसके पास जाकर समाचार दे दिया कि अमुक जगह अमूक जगह अमुक पुरुष को सपने डस लिया है, तो वह मंत्रवादी वहीं से अपने घर में बैठा हुआ ही कुछ मंत्र जपता है या कोई तंत्र करता है और वहां उस पुरुष का विष दूर हो जाता है तो जब इतनी दूर से रहने वाला मंत्र वादी कहो दूर रहने वाले पुरुष के देह में व्यापे हुए सर्प के विष को दूर कर देता है तो फिर जिस आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह होकर यह शरीर रह रहा है वह आत्मा यदि अपने भाग शुद्ध बनाये, प्रभु का स्मरण करे तों प्रभु भक्ति के प्रसाद से समस्त विघ्न, समस्त रोग दूर न हो सकें यह कैसे हो सकता है, अर्थात् अवश्य ही वे सब रोग दूर होंगे।

3—पांचवें छन्द के एक प्रवचनांशमें देखिये—प्रभुदर्शन की क्या विधि है जिससे व्याधि व्यय होना कोई आश्चर्य की बात नहीं रहती—प्रभुदर्शनविधि—प्रभु

को केवल ज्ञान पुज्ज के रूप में निरखने से प्रभु के दर्शन होते हैं, वह दर्शन अनुभवात्मक है। चक्षु से आगे कोई प्रभु दिख जाय, सामने ही ऐसा कोई दर्शन नहीं, किन्तु अपने अनुभव से ज्ञानमात्र आनन्दधाम स्वरूप की जो अनुभूति होती वह है प्रभुदर्शन। जिस काल में प्रभु साक्षात् बिहार किया करते थे उस काल में भी प्रभु का दर्शन नेत्रों से न होता था। प्रभु शरीर सहित थे। शरीर के दर्शन हो गये, पर प्रभुता का दर्शन तो उस समय भी ज्ञानी विवेको पुरुष ज्ञान ज्योति के रूप में ज्ञानानुभूति के रूप में दर्शन किया करते थे। वह ज्ञान ज्ञान तत्व स्वयंपर सम्पर्करहित है। रोग रहित है, पवित्र है, अमूर्त है। केवल जानन ही जिसका कार्य है ऐसे अमूर्त पवित्र ज्ञानमात्र स्वरूप को निरखने पर उपयोग निर्भार होता है और उसके प्रताप से ये रोग भी शीघ्र नष्ट होते हैं। उदाहरण में कहते हैं कि जैसे मदोन्सन्त सिंह के भयानक शब्द के वनके हस्तीभाग जाते हैं ऐसे ही आप के चरणस्तवन से अनेक रोग दूर हो जाते हैं।

4-प्रभुचरणस्तवन से शान्ति क्यों मिले जाती है इसका मौलिक कारण देखिये 8 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें-भ्रम के करनेका एक दृष्टान्त-एक कभानक है कि 10 जुलाहा हाट के दिन किसी गांव से किसी शहर गये। गांव और शहर के बीच एक नदी पड़ती थी। तो मानो शनीवार के दिन का हाट था। हाट कर के वे जुलाहे 4 बजे शाम को अपने गांव के लिये लौट पड़े। नदी भी पार कर ली। जब नदी के दूसरी पार आ गये थे। उन सबमें से सिकी एक जुलाहे ने कहा कि अपने लोग गिनलें अपने सभी मित्र हैं कि नहीं, गिना तो 9 ही निकले, वे गये तो थे 10 मित्र पर सभी ने गिना तो सबने 9 हो मित्र पाये सोचा ओह! हमारा एक मित्र गागब हो गया। उन सबमें परस्पर में बड़ा प्रेम था, सो वे अपने एक मित्र के गुम हो जाने पर बड़े दुखी है! हाय! गये तो थे तीन चार रूप्ये मुनाफे के लिये और अपने एक मित्र को ही खो दिया। पता नहीं वह मित्र नदी में डूब गया या अन्यत्र कहीं खो गया। यों वे सभी अपने एक मित्र के न मिलने पर इतने दुखी हुए कि सभी जुलाहों ने रो रोकर अपने सिर भी फोड़ लिये। भैया! भगम का बड़ा कठिन दुख होता है। जब एक सूझता पुरुष आया और उसने रोने का कारण पूछा तो उन जुलाहों ने बताया कि हम व्यये तो थे 10 मित्र पर हममें से 1 मित्र न जाने कहां गायब हो गया। पता नहीं नदी में डूब गया या मर गया था। उनकी बात सुनकर उस सूझते पुरुष ने एक सरसरी निगाह में ही देख लिया कि हैं तो दसों के दसों और ये क्या कह रहे हैं? सो वह सूझता पुरुष बोला-अगर हम तुम्हारा 10 वां मित्र बता दे तो क्या दोंगें? वे जुलाहे बड़े खुश हुए और बोले-हां हां भैया बता दो, तुम जो कहोगें सो दोंगें। अच्छा तुम सब लोग खड़े हो जावो एक लाइन में। खड़े हो गये और एक बात से धीरे धीरे मारकर

कहे—देखों 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9 और जरा जोर से मार कर कहे यह 10। यों सभी जुलाहों के कम कम से बत मारकर सभी को उनका 10 वां मित्र बता दिया। वे सब जुलाहे अपने 10 व मित्र को पाकर बड़े खुश हुए। तो भैया भ्रम का दुख इतना, कठिन होता है।

5-16 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें परमिहत समर्थ योग्य की अभ्यर्थना की है, मनन कीजिये—आत्महित के दृढ़ निर्णय के संकल्प की आवश्यकता—भैया अपना पहिले यह पक्का निर्णय बना लीजिये कि मुझे तो आत्महित करना है, और कुछ मतलब ही नहीं। थोड़े दिनों का जीवन है। इसमें हमें क्या विवाद करना। क्या लड़ाई झगड़ा करना? क्या पक्षपात करना? हम तो खुद दुखी हैं, अशरण है बेंचारे हैं, कोई ठीक ठिकाना नहीं है। पहिले अपने को तो सम्हाल लें। वादविवाद में क्या रख है? यों वस्तु स्वरूप का निर्णय करके जी याहीं अपना निर्णय बनाता है वह नियम से पार होगा हे प्रभो! आपके चरण व्दय को ही मैं देव मानता हूं। व्यवहार भक्ति में चरणों को भी देवता कहते हैं। इनके चरण ही हमारे देवता हैं, इन्हें छू लेने दो और परमार्थ प्रभु के दो चरण हैं दशत और ज्ञान वे देवता हैं। ज्ञान का यर्थाथ स्वरूप याने सामान्य प्रतिभास वाली शक्ति ये दो हमारे देवता हैं। तो हे प्रभु इस चरण व्दय को मैं देवता मानता हूं और उस देवता का स्तवन कर रहा हूं। शान्ति अटक रूप से पाठ कर रहा हूं।

245 पच्चगुरुभक्ति प्रवचन

1—इसमें दशभक्ति कथित पच्च गुरु भक्ति पर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के प्रवचन हैं। देखिये प्रभुभक्ति ज्ञानीजन क्यों करते हैं इस तथ्य का दिग्दर्शन प्रथम छन्द के एक प्रवचनांश में—ज्ञानी द्वारा प्रभुस्मरण शरण ग्रहण में प्रधान कारण—जन्म मरण की क्लेश भी बड़ा भयंकर है और इस जन्म मरण के बीच का जोस समय है वह भी क्लेश में व्यतीत होता है। तो यहां की किसी भी बात के अनुकूल हो जानें से मौज मानना यह भी कर्तव्य नहीं और किसी भी बात के प्रतिकूल हो जाने से विषाद मानना यह भी विवके की बात नहीं। अपने आपमें बहुत धीरता लाना है। अपने आपकी दृष्टि जो बाहर में चारों फिक रही हैं, भ्रम रही है उसको देन्द्रित करना है। कैसे अपने आपके स्वरूप का सम्पर्क बनाया जाय, कैसी दृष्टि और सम्बन्ध किया जाय कि यह ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप में मग्न ही सके? ऐसी भावना जगी है ज्ञानीपुरुष का। तो वह बाहर में किसी का स्मरण करे, गुणगान करे, शरण गह तो किसकी गह? जिसका यह ज्ञान स्वभाव पूर्ण विकसित है जिसका ज्ञान ज्ञानस्वरूप में मग्न हो गया है। जो संसार के संकटों से सदा के लिये छूट

गये हैं ऐसे पुरुषों का शरण ग्रहण करें सो इसी प्रयास में यह ज्ञानी यहां अरहंत परम गुरु की भक्ति में जा रहा है।

2—द्वितीय छन्द के एक प्रवचनांशमें सिद्ध प्रभुत्व की भक्ति परखिये—सिद्ध परमेष्ठी का नमस्करण—मैं सिद्ध भगवान को नमस्कार करता हूं अनन्त सिद्धको नमस्कार करता हूं। मैं सतत निरन्तर अनन्त सिद्धों को नमस्कार करता हूं जो अष्टगुणों से सहित है और समस्त अष्ट कम शत्रुओं को जिन्होंने नष्ट किया है। यह आत्मा अपने आप सहज किस स्वभाव रूप है? जब उस स्वभाव को विकास होता है तो उन विकासों के परिणामन से परिज्ञान से हम समझ पाते हैं कि इस आत्मा को सहज स्वभाव कैसा है। किसी एक बड़े पत्थर के भीतर क्या है, स्वयं अपने आप उस जगह क्या है यह बात तभी जान सकेंगे जब कि उपर के आवरण हटें। ऐसे ही मेरे आत्मा में सहज स्वभाव क्या है, यह बात तब प्रकट रूप से विदित होती है कि जब आवरण विकार इसके ढाकने वाले ये सब दूर हो जाते हैं तब विदित होता है कि इस आत्मा का सहजस्वरूप यह है यह बात हमें सिद्ध भगवान स्वरूपकी उपसना से सुविदित हो जाती है प्रभु में समीचीनता है कोई मल नहीं है शुद्ध हैं। अपने आपमें लवलान हैं। किसी भी प्रकार का विकार नहीं है। क्योंकि उनके मोहनीय कर्म का अभाव हो चुका है प्रत्येक वस्तु ने अपने आपकी ओर से कोई विकास नहीं होता। कोई दोष नहीं होता। वह जैसा है तैसा ही है। विकास के मायने हैं कि जो उसमें बात स्वयं नहीं हैं वह बात आ जाय उसे विकास कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके सहज स्वरूप में रहता तो मैं भी हूं, मेरा भी अपने सहज स्वरूप का यह सिद्ध गुण स्तुति से सुगम विदित होता है। आप कोई स्वरूप है।

3—साधक को व्यवहार में आचार्य परमेष्ठी का शरण जानकर आचार्यत्व के योग्य वास्तविक मूलगुणों का दिग्दर्शन कीजिये तृतीय छन्द के एक प्रवचनांशमें—शान्ति साधना के उद्यम में निश्चय शरण व व्यवहार शरण का दिग्दर्शन—हमें चाहिए शुद्ध स्वाधीन शान्ति, जिसके पा लेने पर कोई खतरा हो नहीं है नष्ट होने का या कि उसके एवज में अशान्ति आने का। शान्ति भागते—भागते कभी अशान्ति भी आ जाय, ऐसा जहां धोखा भी नहीं है, ऐसी शान्ति चाहिये। इस प्रकार की शान्ति चाहने वाले पुरुष यहां व्यवहार में किसकी शरण गहें? शरण गहें गुरुवों की, और ऐसे गुरु ही यहां किसको शरण गहें कि वे भी अपने कार्य को निर्वाध रूप से सफल बना सकें। तो वे गुरुराज शरण गहते हैं आचार्य पर गोष्ठियों की यह व्यवहार शरण की बात कहीं जा रही है। निश्चय शरण के सम्बन्ध में गुरुवों को तो क्या, अविरत स यद्दृष्टि को भी भूल नहीं हो सकती, फिर भी जब तक प्रमोद अवस्था है, तब तक व्यवहार शरण ग्रहण करना ही चाहिये। प्रमाद—युक्त अवस्था में हम एक

आना ही रूखा ज्ञान बनायें, किसका कौन है? मैं ही अपने लिये शरण हूँ और धर्म का शरण, गुरु को शरण त्याग दे तो वह शान्ति के मार्ग में ठीक प्रकार लग नहीं सकता। तो गुरुजन भी जिनको केवल आत्मकल्याणको ही धुन है। आत्मस्वरूप में मग्न होने का ही जिनका भाव है वे भी जिनकी शरण ग्रहण करते हैं उन आचार्य परमेष्ठियों का स्वरूप बताया जा रहा है कि उनकी मात्रता क्या हो सकती है? अस्वार्थ परमेष्ठियों की योग्यता बताने वाले गुण 36 होते हैं। इन 36 गुणों की रूढ़ि और किस्म से है। 12 तप, 20 धर्म आदिकल्पसे, किन्तु ये तो मुनियों में भी सम्भव हैं। ये 36 गुण आचार्य के खास न रहें। वे 36 गुण क्या हैं उन्हें सुनिये 8 तो होते हैं आचाएवान आदिक गुण—12 तप, 10 स्थितिकर्म और 6 आवश्यक कर्म। इनमें 10 स्थिति कम और 8 आचायवत्व आदिक ये 18 गुण कुछ खास विशेषता रखते हैं।

4—उपाध्याय परमेष्ठी की उपासना निरखिये चतुर्थ छन्द के एक प्रवचनांशमें—उपाध्याय परमेष्ठी की उपासना—सर्व आत्माओं में जो परम पदामें स्थित हुए हैं उन्हें परमेष्ठी कहते हैं, ऐसे परमेष्ठी 5 होते हैं—अरहंत, सिद्ध, परमेष्ठी आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनमें अरहत तो वीतराग सर्वज्ञ देह सहित भगवान का नाम है, सिद्ध परमेष्ठी शरीर रहित वीतराग सर्वज्ञ का नाम हैं जो अपने सघं के सर्व साधुओं का आत्मपोषण कर सकते हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं। यद्यपि आचार्य परमेष्ठी हैं। यद्यपि आचार्य परमेष्ठी को साधुओं से आत्म—पोषण में कुछ नहीं करना पड़ता। साधु ही स्वयं अपने कल्याण की भावना से आचार्य परमेष्ठी का शरण ग्रहण करते हैं और उनके आदेश में रहते हैं और इस घटना से आचार्य परमेष्ठी के सहज व्यवहार से ही साधुओं का आत्मपोषण होता उपाध्याय परमेष्ठी वे कहलाते हैं जो साधु ज्ञान में बड़े “जिनको 11 अंग, 14 पूर्वों में से भी किसी का परिज्ञान है अथवा सबका परिज्ञान है” जिनमें उतनी क्षमता आयी है कि मिथ्यावादी पुरुषों के मदरूप घोर अन्धकार को ध्वंस करने वाले जिनके वचन निकलते हैं, अर्थात् इतना विशिष्ट ज्ञान कि कोई मिथ्या प्रलाप करें तो ऐसे पुरुषों का मद अंधकार दूर कर दें, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

5—रत्नत्रयमूर्ति साधु परमेष्ठी के सत्संग में आइयें, पंचम छन्द का एक प्रवचनांश—रत्नत्रयमूर्ति साधु परमेष्ठी से अभ्यर्थना—अब सिद्ध परमेष्ठी की भक्ति में कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शनरूप दोष के प्रकाशक हैं जिनके दर्शनमात्र से भी निजतत्व से प्रभावित होकर मिथ्यात्व का वमन करके सम्यक्त्व का एवाद लेते हैं, अथवा जो सम्यग्दर्शन दोषों से पूर्ण प्रकाशमान है, जिसका बहुत बड़ा भारी ज्ञान है, जिन की बड़ी लम्बी चारित्र पताका फहरा रही है ऐसे साधु गुप हम सबकी रक्षा करें, वास्तव में आत्मा की हित है तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक चारित्ररूप परिणाम में हैं। यह देह भी

जिसको हम आप लोग लादे लादे फिर रहे हैं कल्पना तो करो कि जैसे अन्य लोग मर गये और उनके शरीर जला दिये गये, राख हो गये ही राख होने योग्य तो यह हम आपका शरीर है। इसकी कब तक लादें, कब तक इसे सम्हारें, कब तक श्रंगार करें? इस शरीर का तो मोह छोड़ दें, अर्थात् ऐसा ज्ञान बनायें कि मैं तो अकिञ्चन ज्ञानमात्र हूं यह देह मैं कतई नहीं हूं। यद्यपि देह का वर्तमान में ऐसा बन्धन है कि देह को छोड़कर मैं कहां जाऊं? मुझ को छोड़कर देह कहां जाय? 'जब तक आयु का उदय है तब तक की बात कह रहे हैं आगे भी यही बात है संसार में इतने पर भी जैसे दूध और पानी मिले हुए होने पर भी न्यारे न्यारे ही हैं इसी प्रकार यह जीव और यह देह इस समय एक क्षेत्रावगाही है तो भी न्यारे न्यारे ही हैं। इनका स्वरूप विपरीत हैं। आत्मा तो अमूर्त है। इसमें रूप, रस, गन्ध स्पर्श नहीं है ओर यह देह मूर्त्यिक है। एक दूसरे से बिल्कुल उल्टा है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है इस देह में ज्ञान का नाम निशान भी नहीं है, इसमें तो हड्डी, चाम, खून, मांस आदिक ये ही भरे पड़े हैं। इनका स्वरूप ज्ञान तो नहीं है। और मुझ आत्मा का स्वरूपज्ञान है। तो इस देह से मैं अब भी न्यारा हूं। देह अज्ञान जड़ है और मूर्तरूप है। तो इस देह से यह मैं आत्मा अभी भी निराला हूं, ऐसा अपना सम्यग्ज्ञान हो विश्वास हो और इसी स्वरूप में रमण करने की कोशिश करें तो यह तो है हम आपके लिये शरण इस भाव को छोड़कर रत्नत्रय स्वरूप को छोड़कर अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

6—मंगलमय प्रभु से मंगलरूप निर्वाण परमश्री के लाभ की कामना कीजिये, पढ़िये आठवें छन्द का एक प्रवचनांश—मंगलमय प्रभु से मंगलरूप निर्वाण परमश्री के लाभ की कामना—अर्हन्त सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये सब मेरे मंगलरूप हों, निर्वाणरूप परम लक्ष्मी को देव। अरहन्त जिनके चार घातिया कर्म दूर हो गये हैं, जिनके रागद्वेष मोह का समूल नाश हो गया है, केवल ज्ञान के द्वारा जिनके ज्ञान में सारा लोकालोक प्रतिभाषित होता है, जिनके अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य प्रकट हुआ है ऐसे अरहन्त देव हम आप सबको मंगल प्रदान करें। सिद्धभगवान—जिन्होंने ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा अष्ट कर्पो को दग्ध कर दिया है, और जो जन्म जरा मरण से परे हो गये हैं, जिन्होंने शाश्वत आत्मपद प्राप्त कर लिया है जो लोक के अग्रभाग में विनास करते हैं, शरीररहित केवल ज्ञान मात्र, ज्ञान ज्ञान ही जिनका स्वरूप है, ऐसे देहरहित निकल परमात्मा हम आप सबको परमपद प्रदान करें। यद्यपि भगवान अपने अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्द का अनुभव छोड़कर भक्तों की पुकार में भक्तों के अतिशय में नही लगा करते हैं वे तो अपने ज्ञानानन्द में मग्न रहा करते हैं किन्तु भक्तजन उनके इस विशुद्ध स्वरूप को निहार कर स्वयं ही उस मार्ग में लगते हैं। और परमपद प्राप्त करते हैं तो

जिनका आलम्बन लिया था कल्याण प्राप्त करने वाले जीवों ने निमित्त दृष्टि से यह कहा जाता है कि प्रभु ने इनका कल्याण किया और यह बात आलम्बन प्रसंग में युक्ति संगत है।

246 सहज परमात्मतत्त्व प्रवचन

अध्यात्मयोगी पूज्य श्री पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज ने सहज परमात्मतत्त्वाष्टक स्तोत्र बनाया था जिसमें परमब्रह्मस्वरूपको रतवन किया गया है। इस पर जो प्रवचन हुए। उसमें से निरखिये चैतन्य तेज, पृष्ठ 9—चैतन्य तेज—मैं वह तेज हूँ जिस तेज में निरत होकर बहुत से जीवों ने निश्चल सहजउत्तम आनन्द पाया, पावेंगे और पा रहे हैं, वह तेज एकस्वरूप है। जैसे यहां पूछें कि पुद्गल में, मानों किसी आम में जो ये रूप उत्पन्न हुए हैं काले, नीले, हरे, पीले आदिक और सड़नेपर होगया सफेद तो एक ही आम में जो कम से इतने रंग बदले हैं उन रूपों के बदलने पर भी रूप सामान्य बदली की तो बदल करने वाला तो कोई एक ही है ना, तब तो बदल सम्भव है, तो इसी तरह जो ये रूप बदले हैं तो इन बदलनों को सताने में कोई एक रूप शक्ति है ना? वह रूप शक्ति कितनी तरह की है? वह तो एक प्रकार की है। अब उसमें जो परिणमन हुआ, पर्याय हुई, काला, पीला, नीला आदिक ये विभिन्न रूप बन गए, पर इनका जो आधारभूत स्वरूप है, शक्ति है वह एक स्वरूप है। इसी तरह हमारे आत्मा में जितनी भी बदल चलती हैं, परिणमन चलते हैं, अशुद्ध परिणमन तो प्रकट बदल है, शुद्ध परिणमन भी बदल है। तो उनका जो अशुद्ध शुद्ध परिणमन चलते हैं उनका मूल आधार कोई एक है ना? पहिले अशुद्ध था अब शुद्ध हो गया तो कौन शुद्ध हो गया? कोई दूसरा? एक ही कुछ। तो इसी प्रकार मैं जो सत्व हू वह एक हूँ।

परमब्रह्मा गुप्त है इसका तथ्य समझिये, पृष्ठ 34, सुरक्षित सहज परमात्मतत्त्व—गुप्त का अर्थ सुरक्षित भी है। गुप्त का असली अर्थ सुरक्षित है, छिपा हुआ नहीं। गुपू धातु से गुप्त बना है, जिसका अर्थ रक्षण है, पर रक्षण को विधि ही यह है कि छूपा दिया जाय तो चीज रक्षित हर सकती है। किसी चीज को सुरक्षित रखना हो तो तिजोरी में धर कर किवाड़ लगाया, ताला बन्द किया, लो चीज सुरक्षित हो गई, ऐसा हम सन्तोष और विश्वास करते हैं। तो सुरक्षित होने का ढंग जो है वह छुपा हुआ समझने के कारण लोगों ने गुप्त शब्द का अर्थ ही छुपा हुआ गुप्तका अर्थ करके निरख रहे थे, अब जरा यह सहज परमात्मतत्त्व सुरक्षित है यह अर्थ ध्यान में रखकर भी निरखिये। स्वतः सहज सिद्ध सवतके कारण जो सत् है उस सत का कोई निवारण कर सकता है क्या? उसमें कोई चोट पहुंचा सकता है क्या? तो मैं स्वयं सहज स्वतः सिद्ध जिस रूप में हूँ वही तो मैं परमात्मतत्त्व हूँ। अज्ञानियों को वह अव्यक्त है और

ज्ञानियों की व्यक्ति सदा व्यक्त है, ऐसा गुप्त शुद्ध चैतन्यरूप मैं सहजपरमात्मतत्व हूँ।

सहजपरमात्मतत्व शुद्ध चैतन्य है इसका मर्म परखिये, पृष्ठ 60, सहजपरमात्मतत्वकी शुद्धि का भावशुद्ध चैतन्यस्वरूप सुनने के साथ यह दृष्टि न लायें कि जो अरंहत सिद्ध भगवान का निर्मल शुद्ध चैतन्य स्वरूप है उसको दृष्टि का आश्रय करने की बात कही जा रही है। देखिये अनुपम अव्यावाध आत्मीय आनन्द के लाभ के प्रसंग में उपाय की बात चल रही है ना, सो यद्यपि अनेक अंशों में अरंहत सिद्ध के विशुद्ध स्वरूप को भक्ति करना लाभदायक है, किन्तु साक्षात् इस विशुद्ध आनन्द के अनुभवमें उस शुद्ध कार्य प्रभु के स्वरूपका चिन्तन भी बाधा दे रहा है तो इस प्रसंग में उस शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि का आश्रय करने की बात कहीं जा रही, किन्तु शुद्ध चितस्वरूप जो अपने सवतके कारण केवल अपने आपमें रहता है, परके सम्बन्ध से रहित, परसम्बन्ध के प्रभाव से हुए प्रभावों से रहित, परसे अत्यन्त निर्लेप केवल अपने आप के स्वरूपके ही कारण स्वतः सिद्ध जो कुछ चितभाव है उस स्वरूपकी दृष्टि की बात कही जा रही है। जो शुद्ध अरंहत सिद्ध प्रभु हैं उनका हमपर बड़ा उपकार है। वस्तुतः उनका उपकार नहीं, किन्तु उनके सम्बन्ध में जो हमने ज्ञान बनाया, ध्यान बनाया, हमारी इस परिणति का हमपर उपकार है, पर उपकृत हुए व्यक्ति बहुमान उसको दिया करते हैं जिसका आश्रय करने से हमारा उपकार हुआ है। इतने पर भी अरंहत सिद्ध भगवान की भक्ति का उद्देश्य केवल भक्ति करते रहना नहीं हैं, किन्तु अपने आपकी उस विशुद्ध चित्शक्ति का अनुभव करना है।

247 आत्मकीर्तन प्रवचन

महाराज श्री द्वारा रचित भारत विख्यात आत्मकीर्तन पर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के प्रवचन किये उनमें आत्मोपासना के लिये उमंग अनोखी भरी हुई है। उनमें से देखिये जो अपने स्वरूपको देखने चलता उसमें कोई बाधा नहीं दे सकता, पृष्ठ 32—स्वरूपदृष्टि में अन्यकी बाधकता का अभाव—स्वरूपदृष्टि कर लेने वाला पुरुष, अपने आपके सहज स्वरूपका अनुभवी पुरुष कभी भी यह विश्वास नहीं रखता कि मैं किसी अन्यका हूँ या अन्य कोई मेरे हैं। मैं हूँ स्वतंत्र हूँ और परिणमता हूँ। इससे आगे मेरा कुछ काम नहीं। इससे आगे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। जब कभी संबन्ध भी मान रहे हैं, उस मानने की स्थिति में भी न मेरा कुछ है न किसी का मैं हूँ। ऐसा सबसे निराला अपने साधारण और असाधारण गुणोंरूपमें मैं आत्मा हूँ। अनुभव करके किसी क्षण यह तो परख लीजिये पूरा उत्साह करके, श्रम करके कि मैं वास्तव में हूँ क्या? इस हूँ की समझ में बाधा डालने वाला कोई दूसरा नहीं

है। जैसे कि कोई समझोकि भाई मेरी स्त्री उल्टी उल्टी चलती है, मेरा पति योंही अटपट चलता है, मुझे चैन नहीं है, मेरा लड़का या मेरा पिता बिल्कुल मुझ से फिरन्ट है, ये लोग मुझ पर रोब जमाते हैं। मैं क्या करूं? कैसे मुझे शान्ति मिले? अरे कोई कितना ही दबा रहा हो, कहां दबा रहा? वह सो सिर्फ बात कर रहा, अपने में अपनी चेष्टा कर रहा, मैं अपने आपमें स्वयं में एक दृढ़ बनकर अपने में दृष्टि करूं तो इसमें बाधा देने वाला कौन?

सिद्ध समान अपने स्वरूपका एक तथ्य पढ़िये, पृष्ठ 98—अपने निरखने और निरखने की पद्धति —हम ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहने का यत्न करें, झट अपने को सम्बोधते जायें, किन्हीं भी प्रसंगों में अपने आपको सम्बोधते रहें—तू तो केवल प्रतिभासमात्र सत् है, इससे अधिक तू कुछ नहीं है। निहार ले, इससे आगे तो कल्पनायें करके अपने की बहुरूपिया बना रहा है। तू तो एकरूप है, तो उस बहुरूपियाकी कल्पना करके एकरूप प्रतिभासमात्र अपने आपकी प्रतीति करे तो इस नाते से यह परख सकता है कि मम स्वरूप है सिद्ध समान। अपने आपको तो माना किसी पर्यायरूप बहुरूपिया के ढंग से और उसमें फिर यह कहा कि मेरा स्वरूप सिद्ध के समान है तो इसका अर्थ है कि अपने तो खुद गये बीते रूलते रहे, गिर रहे हैं साथ ही विदित हो सकती, जब मैं अपने आपको कैवल्यके नाते केवल ही केवल अपने स्वरूपकी निरखूं, समझूं, उपपयोग लगाऊं, । तो जहां शरीर का भान न रहे और रोमांच होता हुआ शरीर बना रहे, जहां केवल प्रतिभासमात्र अपने को निरखें तो उस समय सत्य अद्भुत अनुपम आत्मीय आनन्द जागता है, तब उस अनुभव के बाद फिर विदित होता है कि ओह! सिद्ध भगवान इस तरह का आनन्द निरन्तर लिया करते हैं। इससे भी उत्कृष्ट आनन्द अव्यावाध है उनका।

248 परमात्म आरती प्रवचन

पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज द्वारा रचित एक परमात्म आरती है जिसमें मुख्यता अविकारस्वरूप सहजपरमात्मतत्वकी उपासना है, साहिी पंच परमेष्ठी की भी उसमें उपासना है। आत्मकीर्तन प्रवचन की तरह इन प्रवचनों में भी आत्मोपासना के लिये उमंग भरी हुई है।

249—251 अनुप्रेक्षाप्रवचन 1, 2, 3 भाग

इसमें स्वामीकार्तिकैय प्रणीत कार्तिकैयानुपेक्षा ग्रन्थ पर पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी महाराज के प्रवचन हैं। अध्रुव भावना के प्रवचनों में अध्रुवभावनाका प्रयोजन क्या है, इसे पढ़ें 4 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ0 7—अध्रुवतत्वके व्यामोह से छूटकर ध्रुवतत्वके परिचय के लिए अध्रुवभावना—इस लोक में दृशमान यह सारा समागम विनाशीक है। इस विनाशीक समागम में

अनुराग करने से कर्मबन्ध है मिथ्यात्वकी बढवारी है, अपनी बरबादी है, ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष अनित्यताका मोह छोड़कर अपने नित्य ज्ञानमात्र स्वरूपकी उपासना करते हैं। तो अनित्यभावना में यह विचार चल रहा है कि यह सबकुछ अनित्य है। इस विचार के साथ, अनित्य जानने के साथ यह भी प्रतीति करना चाहिए और भाव रखना चाहिए कि इन सबमें जो द्रव्य है वह नित्य है। उस द्रव्य के लक्ष्यसे व्यवहार नहीं करता तथा कोई इस मुझ नित्य आत्मद्रव्य से व्यवहार नहीं कया करता। जो कुछ पहिचान हो रही हैं, जो कुछ लड़ाई हो रही है, जो कुछ झमेला चल रहा है, वह सब इन दृश्यमान पुद्गल स्कंधों के साथ और झमेला कर रहा है यह भूला झटका व्यामोही संसारी जीव। अपने को दुख से छूटना है, शान्ति में आना है तो उसके लिए एक मात्र यही उपाय है कि हम अध्रुव परतत्वों से दूर हों और ध्रुव ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व में प्रतीति बनायें।

अन्तः स्वरूपमें रहने से ही अपना शरण मिलेगा। पढ़िये 28 वीं गार्था का एक प्रवचनांश—पृ0 35 परोपयोग वासना हटाकर अन्तः स्वरूपमें रमने में ही वास्तविक शरणलाभ—कुछ समझदार लोग भी दुर्गा, काली आदि की उपासना उसी मान्यता के रूपमें करते हैं, पर उसका अर्थ बदल देते हैं, कि जिससे स्पष्ट अटपटापन न आये। दुर्गा एक शक्ति है, उस शक्ति की उपासना करना चाहिए, इतना तक भी अर्थ बनाकर मान्यता वही रखते हैं। कोई शक्ति है, उस शक्ति की उपासना करना चाहिए, तो वह है एक आत्मानुभूति, उसी को दुर्गा मानें तो इसमें कोई विरोध की बात नहीं है। शब्द के अर्थ से भी जाहिर होता है कि जो दुखेन गम्यते, अर्थात् जो बड़े कष्ट से जाना जाय, पाया जाय, उसे दुर्गा कहते हैं। आत्मानुभूतिका पाना बड़ा दुर्लभ है। तो वह शक्ति मुझमें है, उसकी उपासना करें। तो लोग व्यामोहवश कुछ समझदार होने के कारण शब्द देते हैं, पर उपासना उसी रूपमें करते हैं, श्रद्धा उसी रूपमें रखते हैं। कोई मुझ से भिन्न शक्ति है जो मुझे बरबाद करने पर भी तुल सकता है, उसे प्रसन्न करें यह भाव फिर भी उनका नहीं मिटता। यहां मणिभद्र आदि अनेक नाम लेकर उन यक्षां की उपासना करते हैं पर सुरक्षित कोई नहीं रह पाता। यह सब मिथ्यात्व का ही तो माहत्म्य है कि कुछ समझदार होकर भी बुद्धि विपरीत हो गई। यह गहन मिथ्यात्व का ही परिणाम है जो अपनी रक्षा के लिए इन बाहरी देवी देवता, मंत्र, तंत्र, ग्रह आदि की मनौती में रहते हैं, इनका जाप जपते हैं, इनको अपना सर्वस्व समर्पित करने का भाव रखते हैं यह सब एक बड़े व्यामोह का काम है। जान रहे हैं ये जीव कि यहां मेरा कोई शरण नहीं है, सब अशरण हैं, तिस पर भी शरण मानने की भीतर से वासना नहीं गयी। जिस चाहे किसी को शरण मानकर उसकी उपासना करने अपने आपको मृत्यु से बचने की प्रार्थना करते हैं,

लेकिन मृत्यु है ही कहां जीव की। स्वरूप निरखें और मृत्युपर विजय प्राप्त करें फिर इस जीव पर कोई संकट नहीं है।

संसार भावना के प्रवचनों में गाथा 41 का एक प्रवचनांश पढ़िये, विदित होगा कि संकट जो यहां मेहिमानी कर रहे हैं वह सब अपने अपराध का प्रताप है, पृ0 60—अपने अपराध से संकटों की मेहमानी—संकट तो यह हमने अज्ञान से पैदा किया है। जो मैं नहीं हूं उसे मानूं कि मैं हूं, तो संकट तो होगा ही। जब लोक में भी यह बात देखी जाती कि जो घर आपका नहीं है उसे मान लीजिये कि यह मेरा घर है, उस पर आप अपना अधिकार जमाना चाहें तो संकट न आयगे क्या? अथवा जो स्त्री आपकी नहीं है उसे आप समझ बैठें कि यह मेरी है और उसके सगं आप वैसा ही व्यवहार करें तो संकट न आयगा क्यों? जब लोक में भी इस व्यवस्थाके अन्तर्गत जो चीज मेरी नहीं है उसे मेरी मानें तो दुख आता है तो फिर परमार्थ से जो चीज मेरी नहीं है उसे मानें कि यह मेरी है तो वहां संकट तो आयगा ही। कर्मबन्ध होगा, बुरी तरह जन्म मरण करना होगा। इससे इस यत्न में रहें, इस ज्ञान में रहें, इस दृष्टि में रहें कि मेरा तो मात्र मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूं। इस ज्ञानानन्दस्वरूपके सिवाय मेरा जगत में कहीं कुछ नहीं है। जिस जिसको मैं अपना मानता आया था वे सब पर हैं। ऐसी भूल को भी निकालें और अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करें, अपने को पायें, अपने निकट रहें तो इससे संकट भी टलगे और तुरन्त भी बहुत बड़ा आनन्द होगा। इस आत्मानुभवकी प्रशंसा करके हम उस आत्मानुभव का यत्न क्यों नहीं करते? आत्मानुभव होगा तो ये चतुर्गति के दुख टल जायेंगे, निर्वाणपद प्राप्त होगा। इसलिए आत्मा के जानने में, आत्मा के निकट बसने में अपना साहस बनायें और प्रयत्न करें।

संकटमोचक ज्ञानस्वभावकी दृष्टि में आत्मा का लाभ है, मनन कीजिये 75 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ0 123—संकटमोचक ज्ञानस्वभावकी दृष्टि में आत्मलाभ—संकटमोचक ज्ञानस्वभावकी दृष्टि पानी है कतनी कीमत चुराकर? अरे तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करके भी अपने आत्मा के ही स्वरूपदर्शनकी बात पानी है। कुछ न रहो, केवल एक स्वरूपदर्शन हो तो समझिये कि मुझे सब कुछ वैभव मिल गया। मैं स्वरूपमें एक हूं, मेरा स्वरूप किला बहुत दृढ़ है। इसमें किसी दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता। यह मैं हूं, दूसरी चीज को दिमें बसा बसा कर बोझ वाला बन रहा हूं। यह स्वयं निर्भर है, वह एक ज्ञानज्योतिस्वरूप है। उसमें बोझ नहीं है। विकल्पों का बोझ हमने ज्ञानसे स्वयं लादा है। जब कभी प्रेमवश किसी की इसके अनुसार हम उल्लान में आ जाते हैं, चिन्ता में आ जाते हैं तो उस चिन्ता के मेटने का जरा सा ही तो उपाय है। उस मोह को छोड़ दिया जाये बस सारी चिन्तायें दूर हो जायेंगी। मोह छोड़ने के मायने है सत्य ज्ञानप्रकाश करलें। सच्ची बात जानने

में कसूर है क्या? सच्ची बात जानने में कुछ मेहनत हो रही है क्या? कोई अड़चन है क्या? सच्ची बात सच्ची बात जानने की तो भीतर में प्रकृति पड़ी हुई है। असत्यको देखकर हम राजी होते हैं सत्य समझकर। तो यथार्थतः सत्यका निर्णय करता है यही मोह का त्याग है। मैं मैं हूँ, पर पर है, मेरा किसी पर से कोई लगाव नहीं है। मैं अपने उत्पाद व्यय किये चला जा रहा हूँ। ऐसा यह मैं एक हूँ, ऐसे अपने कएत्वस्वरूपको निरखना यही है आत्मकल्याणका विफल न हो सकने वाला एकमात्र साधन । उस एकपने को मैं निहारू और सब संकटों से मुक्त होऊँ।

अन्यत्वभावना के प्रवचनों में प्रसंगवश बताया है कि लोगों को यह भ्रम कैसे हो गया है कि इन्द्रियों से ज्ञान अथवा सुख मिलता है, पढ़िये 81 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ० 139—140—इन्द्रियों से ज्ञान और सुख मिले का भ्रम होने का कारण—हम संसारी जीव इस समय जो कुछ ज्ञान करते हैं और आनन्द पाते हैं उसमें आश्रय इन्द्रिय का होता है और इन्द्रिय का आश्रय होने से अर्थात् मति, श्रुत, ज्ञानकी उत्पत्ति तथा वैषयिक सुख की उत्पत्ति इन्द्रिय के कारण होने से जीव की यह भ्रम हो गया है कि ये इन्द्रियां जानती हैं, सुख भोगती हैं, इनके ही कारण मेरा ज्ञान और आनन्द है, लेकिन इस जीव में स्वयं ज्ञान और आनन्द का स्वभाव न हो तो इन जड़ इन्द्रियों के माध्यम से भी क्या कोई ज्ञान और सुख पाया जा सकता है? तो जो स्वयं ज्ञानमय है, स्वयं आनन्दमय है उसको पकड़ होना चाहिए। यह जगत मायाजाल है, इसमें सब जीव ज्ञानमय है, स्वयं आनन्दमय है उसको पकड़ होना चाहिए। इसमें सब जीव भूले भटके फिर रहे हैं, बाह्य पदार्थों में प्रीति की उत्सुकता होने से प्रायः ये जीव अंधेरे में हैं। वहां लोग बड़प्पन भिन्न बतों में मानते हैं। कोई बड़ा अधिकारी बनने में, कोई बड़ा धनिक बनने में कोई ज्ञान वाला बनने में, कोई किसी ही बात में अपना बड़प्पन मानते हैं। सो ठीक है, लेकिन यह मैं आत्माराम तो उन सब विकल्पों से हटकर निर्विकल्प अधिकार सहजज्ञानस्वरूपकी उपासना में लगता हूँ। इस मेरे का दुनियां के लोगों से सम्बन्ध क्या? यहां कोई मदद कर सकने वाला नहीं है, किन्हीं के द्वारा हमारे प्रति किए जाने वाले सम्मान अथवा अपमान से लाभ अथवा हानि क्या? मैं तो एक सत् पदार्थ हूँ, अतएव उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप हूँ, अपने आपमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य किये चला जा रहा हूँ, ही जगत का ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, विभावपरिणामों से परिणमन वाले पदार्थों का ऐसा ही योग है कि अन्य पदार्थों का आश्रय पाकरनिमित्त पाकर परिणतियां चल रही है, लेकिन सब कुछ चल रहा है, हो रहा है मेरा मेरे अकेले में हो। किन्हीं दो पदार्थों को मिलकर एक परिणमन नहीं बनता।

अशुचि भावना का लाभ कौन पा सकता है, पढ़िये 88 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ0 152—अशुचित्वानुप्रेक्षण का फलाधिकारी यह अशुचिभावनाकी अन्तिम गाथा है। यहां आचार्य कहते हैं जो दूसरे के देह से विरक्त है और जा रहे देह में से अनुराग नहीं करते हैं वे आत्मा के स्वरूपमें रुचिवान ही हैं।

उनकी ही अशुचि भावना सफल है। यह देह गंदा है ऐसा परिज्ञान कर लेने से लाभ क्या? लाभ यही मिला कि देह की अशुचिताकी, असारताकी जानकर प्रथम तो यह दूसरे के देहों से विरक्त हो, उन अशुचि देहों में क्या रमना? यह तो पालते पोषते हुए भी रहता नहीं है, किसी दिन मिटेगा। कुछ दिनों में मिटे या अभी जल्दी ही मिट जाय, मिटेगा अवश्य। तो इस मिट जाय, मिटेगा अवश्य। तो इस मिट जाने वाले देह में क्या अनुराग करना? तो परदेह से विरक्त हो। इस अशुचि भावना पाने वाले ज्ञानी पुरुष ने अपने देह में अनुराग नहीं किया तब यह आत्मा के स्वरूपमें लोन हुआ। उपयोग कह तो जायगा ही, कहीं तो लोन होगा ही। अब परदेह में तो यह अनुरक्त होता नहीं, क्योंकि यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हुआ है, अपने देह में भी अनुराग करता नहीं, तो उपयोग कहा जायेगा? निःसंदेह ही अपने आपके स्वरूपमें लगेगा। तो जो इस प्रकार परदेहों से विरक्त होकर और निजदेह में विरक्त करके अपने आपके स्वरूपके उपयोग में लगता है उनकी ही अशुचि भावना सफल है।

पापोदय में हानि नहीं, किन्तु पापात्मा बनने में अवश्य हानि है, इसका परिचय करिये 110 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ0 209—पापोदय में हानि नहीं, किन्तु पापात्मा होने में हानिका नियम—अब आप संमझ लीजिये इस दृष्टि से कि कोई नारकी नरक में दुख सह रहा है, सम्यग्दृष्टि नारकी है, एक तो उसकी स्थिति और एक यहां का पुण्यवान मनुष्य ऐसा जोकि विषयभोगों में लीन है और अपने विषय साधनों की वृद्धि के लिए, राजपाट शासन की वृद्धि के लिए अनेक राजाओं को सताता है, अन्याय करता है और अपने विषयभोगों में मस्त रहने की धुन रखता है। तो इन दो जीवों में बुरा कौन है? वह नारकी बुरा नहीं है, उसके तो पापका उदय है, पर आत्मा पापी नहीं बन रहा, वह विवेकी है, सम्यग्दृष्टि है, आत्मतत्वका चिन्तन करता है। वह पापात्मा नहीं है और यह मनुष्य जो बहुत पुण्यके ढाढ में रहता अपने विषयसाधनों के बढ़ाने के लिए अन्याय भी करता है, यह पापका आत्मा है। तो पापात्मा होने के हानि है, पापका उदय भोगने से हानि नहीं है

परमनिर्जरा किसके होती है, यह जानकर उस पथ के लिए अपना कुछ कर्तव्य निभाइये, मनन कीजिये 114 वीं गाथा का एक प्रवचनांश—पृ0 216—निर्जराका फल आदि जानकर अपने कर्तव्य के पालन का अनुरोध—जो

समता के सुख में लोन होता हुआ बार बार आत्मा का स्मरण करता है वह इन्द्रिय कषाय पर विजय करने वाला महाभाग भव्य जीव शान्ति का अनुभव करता हुआ उत्कृष्ट निर्जरा को करता है। इस जीवने पहिले कषाय और योग के कारण अनेक कर्मबन्ध किया था। आज के समय में हम आपके जीव के साथ या जगत के किसी भी जीव के साथ कितने भवों के कर्मबन्धे हुए लदे हैं इसका उत्तर हजार लाख भव तकके कहने में भी नहीं बनाता। अनगिन भवों तक के भी बन्धे हुए कर्म इस जीव के साथ लगे हुए हैं। उन उदय प्राप्त अनेक निषेकों का उदय तो आरहा है एक साथ और जिनका उदय आ रहा है वे कर्म करोड़ो वर्षों के बन्धे हुए हैं, तब जीव पर वषायों का बड़ा आक्रमण है निमित्तदृष्टि से कर्मों का और उस समय जीव जो अपने स्वरूपसे च्युत होकर परभावों में लगता है यह आक्रमण इस जीव पर इस आत्मदेव पर कितना भयंकर आक्रमण है जो संसार में जन्म मरण कराने का कारण बनता है। तो उन कर्मों की निर्जरा किए बिना हम आपका भला नहीं हो सकता। यहां चार दिन की यह चांदनी दिख रही है, कुछ वैभव प्रसंग आ रहे हैं जिनमें अपने मन को स्वच्छन्द बनाया जा रहा है, हठ की जा रही है, ऐसा यह समय तो स्वप्नवत् हो जायेगा यहां के किए हुए पाप के फल में इस जन्म मरण की परम्परा में बहना होगा। तो कर्तव्य यह नहीं है कि जैसा मनने चाहा वैसी ही हठ करके अपना मन खुश रखना। कर्तव्य यह है कि ऐसे सुकृत कना जिन कार्यों से कर्मों के निषेक निजीर्ण हों।

लोककी जानकारी व भावना से हमें क्या क्या शिक्षायें प्राप्त होती है, इसका परिचय पाइये संक्षेप में 121 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें, पृ0 235—लोकभावना से प्राप्त शिक्षायें —लोकभावना में जो कुछ भी वर्णन चलेगा उससे बहुत शिक्षा मिलेगी। जैसे लोक के विस्तार का वर्णन आयगा तो वहां हमें यह शिक्षा मिलती है कि इस लोक में कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा—जहां यह जीव अनन्त बार जन्म मरण न कर चुका हो। लोक में कोई पदार्थ ऐसा नहीं बचा जिसे इस जीवने अनन्त बार भोगा न हो। लोक की रचना जानकर पुण्य का फल कहां विशेष मिलता है, पाप का फल कहां विशेष मिलता है, यह स्पष्ट जानकारी रहती है। लोग कहे तो देते हैं कि पाप करने का फल नरक गति में जन्म लेना है, पर नरक कहां है, किस प्रकार से नारकी जीव रहते हैं, यह सब वर्णन समझने के बाद यह बात ज्ञानमें और स्पष्ट रहती है कि पाप के फल में नियम से नरक जाना पड़ता है। लोग कह तो देते हैं कि पुण्य का फल है स्वर्गों में उनका भौगोपभोग है, इन सब घातों का जब परिचय मिलता है तो यह बात ज्ञानमें अधिक स्पष्ट हो जाती है कि पुण्य का फल स्वर्ग में उत्पन्न होना है, धर्म का फल सिद्ध होना है। धर्म नाम है आत्माके स्वभाव का अवलोकन करना और उस स्वभाव में ही रमना और उनका फल है सिद्ध

होना। तो वे सिद्ध सिद्धों में ऐसा अनन्त आनन्द है ये सब बातें जानने में आसानी हो जाती है।

जिन कीट पतिंगे आदि जीवों के मन नहीं उनके आहार आदि कैसे हो जाते हैं, इस शंका का निवारण कीजिये व मन का कार्य समझ लीजिये 140 वीं गाथा के एक संक्षिप्त प्रवचनांशमें, पृ0 265—संज्ञाओं व मन का कार्य—देखिये जिनके मन नहीं है ऐसे जीवों के भी आहार, गीय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञायें हैं। कोई यह संदेह न करे कि इन दोइन्द्रिय आदिक जीवों में मन नहीं है तो ये आहार कैसे ढूँढते और करते हैं? आहार आदि के करने के लिए मन की आवश्यकता नहीं है। मन होगा जिसके तो वह जरा कला पूर्वक आहार कर लेगा, इतना ही अन्तर होगा। पर मन का काम आहार कराना नहीं, यह तो योग्य है, इस प्रकार का हेय उपादेय का विवके कराना मन का काम है। अब यदि कोई मन वाला जीव मन शुद्ध उपयोग नहीं करता और इन्द्रियविषयों में ही मन को लगाकर अशुद्ध उपयोग करता है तो इसमें उसका ही दोष है। मन तो कहते हैं कि जिसके द्वारा हित अहित का विवके किया जा सके। करे अथवा न करे, यह उसकी कषाय के अनुसार है।

कोई दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा और ज्ञान भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, उसकी समीक्षा देखिये 179 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ0 327 — 328—ज्ञानको जीव से सर्वथा भिन्न मानने पर गुणगुणिभावकी असंभवता यदि ज्ञान जीव का सर्वथा ही भिन्न हो तब तो उसमें गुण गुणों भेद भी नहीं बन सकता। याने न इस तरह भी जीव का और ज्ञान का सम्बन्ध माना जाय कि जीव जनक है और ज्ञान जन्य है। जीव ज्ञान को उत्पन्न करता है इतना भी सम्बन्ध नहीं माना जाय अथवा ज्ञान आत्माका स्वभाव है यह भी सम्बन्ध नहीं माना जाय अथवा ज्ञान विभाव होगा, जीव का ही एक अंग है इस तरह भी न माना जाय। किसी भी प्रकार से सम्बन्ध न माना जाय तो फिर जीव और ज्ञान में यह जीव गुणी है और यह ज्ञानगुण है यह बात दूर से ही खतम हो जायेगी। जीव में कई बातें जन्य जनक भाव से देखी जाती है और कई तत्त्वस्वभावरूपसे देखी जाती है। और इसमें कोई तत्त्व स्वभाव और विभाव रूपसे देखा जाता है। जैसे जीव मति श्रुत आदिक भावों को उत्पन्न करता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञानादिक अनेक भेद हैं, उनका उत्पादक है जीव, यों भी देखा जाता है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, यों भी परखा जाता है। उन ज्ञानों में कोई ज्ञानस्वभावज्ञान है, कोई ज्ञान विभावज्ञान है और वहां ज्ञानस्वभाव एक स्वभाव है और जितनी भी उसकी व्यक्तियां हैं वे सब परिणतियां हैं। यों अनेक प्रकार के जीव में अभेदरूप से गुण देखे जाते हैं, परिणतिरूपसे भी देखे जाते हैं, लेकिन जो गुण और गुणों को सर्वथा हो जुदा समझे उसने तो इतना कहने का भी अवसर नहीं रखा कि ज्ञान गुण है और जीव गुणी है।

देखिये—जो अत्यन्त भिन्न चीज है उसमें गुण गुणों का सम्बन्ध नहीं घटित होता। जैसे हिमालयपर्वत कहां पड़ा है और विन्ध्याचलपर्वत कहां पड़ा है? दूर दूर हैं, सैकड़ों कोशों का अन्तर है तो क्या कहां यह कहा जा सकता है कि विन्ध्याचल का ता है हिमालय या हिमालय का विन्ध्याचल या इनमें एक गुणी है एक गुण हैं, जो अत्यन्त भिन्न चीज है, उसमें गुण गुणों की बात नहीं देखी जाती, इसी तरह यह जीवको न्यारा माना और ज्ञानगुणको न्यारा माना तो उनमें भी गुण गुणी भेद सिद्ध नहीं होते।

आत्मा स्वयं तीर्थ है, इसका परिचय प्राप्त करिये 191 वीं गाथा के प्रवचनमें—पृ० 339—रत्नत्रयरूप दिव्य नौका द्वारा संसार से तिर सकने का सामर्थ्य—जीव का अस्तित्व न मानने वालों को स्थूलदृष्टि से जीव की सत्ता समझाते हुए अन्त में यह कह रहे हैं कि देखो यही जीव रत्नत्रयसे सहित होता है तो वह उत्तम तीर्थ कहलाता है। तीर्थ जावो, तीर्थ की वन्दना करो, इसका सीधा अर्थ यह है कि इस आत्मा का जो विशुद्ध स्वरूप है, उसकी ओर उस विशुद्ध स्वरूपकी उपासना में जो लगे हुए रत्नत्रयधारी पुण्यात्या हैं उनके स्वरूपकी उपासना में ज्ञानको ले जावो। यही उत्तम तीर्थ है। ऐसा पुरुष क्यों तीर्थ है कि वह रत्नत्रयरूपी अलौकिक नौका से संसार को पाकर लेता है। उसे तीर्थ कहते हैं। यह रत्नत्रय आत्मा का ही धर्म है इसलिए इस आत्मा को ही तीर्थ कहते हैं। तीर्थ यह आत्मा इसलिए भी है कि स्वयं भी संसार से तिर जाता है ओर दूसरों को भी संसार से तिराने में निमित्त होता है। परमात्मा अरंहत का उपदेश यदि आज इस परम्परा में न मिलता तो हम आप आत्मा के रहस्य को कैसे जानते? तो देखिये—उन प्रभु तीर्थकरों ने हम लोगों के तिराने का भी साधन बना दिया ना, तो ऐसे पुण्यवान जीव स्वयं भी संसार से तिर जाते हैं, दूसरे को तिराने में कारण भी होते हैं। पुण्यवान के मायने यहां समझिये पवित्र स्वभावमें रहने वाले पवित्र आत्मा। यही एक उत्कृष्ट तीर्थ है जहां पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकती है। जो शान्ति का उपाय बना सकता है उस जीव का निषेध ये चार्वाक लोग कह रहे हैं। तो जो जीव के रहस्य को ही नहीं जानता वह अपना कल्याण कैसे कर सकता है? जीव है और उसे अपने आपके सत्य स्वरूपमें अनुभविये, इससे ही संसार के सारे संकट दूर हो सकते हैं।

252—254 अनुप्रेक्षाप्रवचन 4, 5, 6 भाग

स्वाभि—कार्तिकेय विरचित कार्तिकैयानुप्रेक्षा की 192 वीं गाथासे 326 वीं गाथा तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। शान्तिमार्गदर्शक पद्धति से जीवों के भेद बताकर उनका विवरण इस प्रकरण में है उसकी भूमिका में उन भेदों की विधि देखिये 192 वीं गाथा के एक

प्रवचनांशमें, पृ० 1—जीवों के भेदों का शान्ति मार्गदर्शक पद्धति से वर्णन—शान्ति के लिए एकप्रधान साधन है पदार्थ का यथावस स्वरूप समझ लेना । जीव की शान्ति का सम्बन्ध ज्ञानके साथ है, धन वैभव इज्जत और और भी बाहरी चीजें समागम कुटुम्ब इन के साथ नहीं है। ज्ञान सही होगा, अपना मन वश होगा ज्ञान द्वारा अपने आप में बसे हुए सहज भगवान के दर्शन किये जाते होंगे तो वहां तृप्ति है, सन्तोष है, शान्ति है और जहां ज्ञान नहीं है वहां पूर्णकूर्त पुण्य के उदय से चाहे कुछ वैभव मिल जाय, चाहे कितनी ही लौकिक प्रतिष्ठा हो जाय, किन्तु वहां शान्ति नहीं है। शान्ति के लिए किसी भी बाहरी कमी विघ्नरूप नहीं होता। अपना परिज्ञान हो तो वहां शान्ति नियम से है। उस ही ज्ञान के प्रकरण में लोकानुप्रेरक्षा में 6 द्रव्यों का किस किस प्रकार से स्वरूप है? यह बताने के लिए यहां दूसरी प्रकार से जीवों का भेद प्रभेद बताया जा रहा है। जीव तीन प्रकार के होते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जीव की यह त्रिविधता सबने स्वीकार की है। कोई जीव, आत्मा, ब्रह्म, इस प्रकार से तीन मानते हैं, कोई अज्ञानी, ज्ञानी और प्रभु ये तीन प्रकार कहते हैं। यह विविधता सबको माननी पड़ेगी जो जीवतत्व में आस्था रखते हैं।

अन्तरात्मा के भेद नहीं होते, इससे सम्बन्धित प्रवचनों में से पढ़िये 194 वीं गाथा का एक प्रवचनांश—अन्तरात्मा के कुलमद व जातिमद नहीं होता है, पृ० 17—18—अन्तरात्मा के कुलमद व जातिमद का अभाव—किन्हीं को कुल का मद रहता है। मेरा बड़ा श्रेष्ठ कुल है। अरे श्रेष्ठ कुल है तो इसके लिए है कि हम धर्मपालन में आगे बढ़े। अगर कुल का मद करके इस तरह अपने को हीन कर देते कि आगे ऐसा कुल न मिले, नीच कुलमें, नीच योनियों में जन्म लेना पड़े यह होता है कुलमदका प्रभाव। किन्हीं को अपना जाति का मद रहता है, अजी मैं ऐसे घराने का हूँ, मेरी मां बड़े घराने की है, कभी दरिद्रता आ जाय तो अपने कुल की और जातिकी अपने पहिले हुए उन पुरुषों की तारीफ करके अपने आपको श्रेष्ठ मानना चाहते हैं। यह सब क्या है? ये सब कुल और जाति के मद हैं। ज्ञानी जीव जानता है कि मेरा कुल का व्यवहार है । मैं हूँ एक चैतन्यस्वरूप। मेरा वंश है चैतन्य। मेरा कुल चलाने वाला मैं ही हूँ, लोग सन्तान से यह आशा रखते हैं कि यह मेरा कुल चलायगा, मेरा वंश चलायगा, लेकिन यह विदित है कि मेरा वंश तो केवल चैतन्यभाव है, यही मेरा साथी रहेगा, जो अन्वय रूपसे हो वही तो वंश है। उस चैतन्यवशको पवित्र करने वाला मैं ही मात्र तो हूँ। दूसरा कोई मेरे वंशको पवित्र नहीं कर सकता। ज्ञानी जीव को कुल और जाति का मद नहीं रहता। ये अन्तरात्मा के लक्षण बताये जा रहे हैं कि वह कितना नम्र होता, कितना भक्त होता है और कैसी

उसके अंतरंग में अभिप्राय रहता है। जो अंतः स्वरूप को जानता है, अन्तस्वरूपको मैं आत्मा हूं, इस तरह मानता है उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

पुद्गलका स्वरूप जानकर व पुद्गलकृत उपकार जानकर शिक्षा यह लेनी है कि पुद्गलकृत उपकार में मेरी प्रीति न जगे, इसका दिग्दर्शन कीजिये 209 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—प्र० 23—उदिष्टाहारत्याग का तथ्य—उदिष्ट त्याग के विषय में कुछ लोग भ्रान्त धारणायें बनाते हैं, सोचते हैं कि साधु का ख्याल करके ही तो लोग साधु का आहार बनाते हैं, तब दोष लगता होगा, लेकिन उदिष्ट दोष के सम्बन्ध में मुख्य बात यह जानना चाहिए कि यदि घर में केवल साधु के लायक भोजन अलगबना लिया जाय और सबके लिए अशुद्ध भोजन बनाया जाय, जैसा कि रोज रोज भोजन बनता रहता है अलग चूल्हेपर, तो वहां उदृष्टि दोष आता है। यदि एक दिन भी और ऐसा संकल्प करके भी कि मैं साधुको आहार दूंगा और सभी लोग शुद्ध भोजन करें, किसी दूसरे चूल्हे पर अलग से भोजन न बने तो उस भोजन में उदिष्टका दोष नहीं होता। अतिथि सम्बिभाग ब्रत जब दूसरी प्रतिमा में लिया गया है तो वहां सोचता ही है यह ब्रती कि मैं अतिथि का आहार देकर भोजन करूंगा तो क्या सोचने मात्र से उदिष्ट दोष होता है? जिसने अतिथि सम्बिभाग ब्रत लिया वह रोज ही सोचता है, रोज ही संकल्प करता है वह तो ब्रत क्यों कहलाता? तो उदिष्ट दोष का मूल साधन है कि वह केवल साधु को भोजन अलग से बनाये। और, अपने लिए, परिजनों के लिए अलग बने तब उसके लिए बना हुआ भोजन उदिष्ट है। जिस भोजन को सब करेंगे, लेकिन यह नियम न रखें कि यह चीज साधुकी ही दी जायगी, वहां दोष नहीं है। वहां तो यह विचार है कि आज यह भोजन तो सभी के लिए है। हां आज इतनी विशेषता कर दी कि सारा भोजन शुद्ध बनेगा। तो ऐसा करने में उस श्रावक को दोष न आयगा। जो भोजन केवल साधु के लिए बनता है वह उदिष्ट दोषयुक्त भोजन है।

पुद्गलका स्वरूप जानकर व पुद्गलकृत उपकार जानकर शिक्षा यह लेनी है कि पुद्गलकृत उपकारमें मेरी प्रीति न करने का निश्चय—इस प्रकरण को सुनकर हमें इस निर्णय में आना चाहिए कि जो जो पुद्गल के उपकार हैं उनमें मेरे को प्रीति नहीं करना है। जीवन और मरण भी पुद्गल के उपकार बताये गये थे, उस ही से सम्बन्धित यहां मरण की बात कह रहे हैं कि मरण नाम है किसका? प्राणापान जो किया चल रही समाप्त हो जाय तो इसी का नाम मरण है। जीवने आयुके उदय से भोग पाया था, अब उस आयु के क्षयसे सम्बन्धित यह प्राणापान किया का बिच्छेद हो जाना वही मरण है। तो ये सुख दुख जीवन मरण आदिक सब पौद्गलिक हैं, क्योंकि मूर्तिमान कारण के प्राप्त होने पर ही ये चीजें उत्पन्न होती हैं।

काल का स्वरूप जानकर अपने को अपने हित में क्या निर्णय बनाना है, इसका निर्देश लीजिये 220 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ0 110—111—व्यवहारकाल के स्वरूपको जानकर अपनी समझ बनाने की सत्य दिशा का निर्देश—इस अनादि अनन्तकाल परिणमन को जान कर अपने आपके बारे में भी कुछ समझना है। मैं अनादि से हूँ, अब तक हूँ, अनन्त काल तक रहूंगा। तो अब तक की जो हमारी स्थितियां गुजरी हैं वे सब खोंटी गुजरी हैं। जन्म—मरण किया है। मरण किया, जन्म लिया, सारी जिन्दगी मोहमें, कषायों में बितायी, फिर मरण किया। मोह में जन्में, मोह में जिये और मोह में ही मरे, ऐसी स्थिति जीवों की अब तक चली आयी है, लाभ कुछ नहीं मिला। अब अपना कर्तव्य यह है कि अपनी स्थिति को बदलें, कुछ सत्य ज्ञानकी ओर आये, अब तक जो हुआ सो हुआ, उसका क्या खेद करें, जो होना था हुआ। अब जान लीजिये कि जो कुछ भी अभी तक हुआ वह मिथ्या था, मायारूप था, तो यह जानकारी हमारे हित के लिए है। अब आगे की कुछ सुध लें, बीती हुई बातों को मायारूप समझें, इन लौकिक समागमों में हर्ष विषाद न मानें। यह तो संसार है। यहां पुण्य तथा पाप के फल मिलते हैं तो पुण्य के फल में हर्ष न मानना और पापके फल में विषाद न मानना। उस पुण्य पाप फलों के ज्ञाता दृष्टा रहें और अपने आपमें ऐसा निर्णय बनायें कि मैं तो इन सबसे निराला एक विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। ये जो व्यवहार काल बताये जा रहे हैं इनसे निराला अपने आपको एक शुद्ध द्रव्यमें निरखना यही हम आप का आगे बढ़ने का उपाय है।

वस्तु का स्वभाव देखिये, वस्तुमें कारणकार्य परम्परा किस प्रकार चल रही है, 223 वीं गाथा का एक प्रवचनांश देखिये—पृ0 116—117—वस्तु में कारण कार्य —इस गाथा में यह बताया जा रहा है कि तीनों काल में वस्तु के कार्यकारण भाव का निर्णय उस ही वस्तु में है। वस्तु के पूर्व और उत्तर परिणमन को लेकर तीनों काल में प्रत्येक समय कार्य कारण भाव है। इस समय जो पर्याय बन रही है वह पूर्व पर्याय का तो कार्य है और उत्तर पर्यायका कारण है। प्रत्येक अवस्था कार्यरूप भी है। पदार्थ में प्रति समय उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता है और तीनों के तीनों एक ही समय में होते हैं। जैसे कोई मनुष्य और ध्रौव्य रहा जीवका। तो देवका स्वभाव, मनुष्यका अभाव और जीवकी ध्रुवता ये तीनों एक समय में हैं कि नहीं? प्रत्येक पदार्थ का उत्पादव्य ध्रौव्य का स्वभाव है। जैसे मिट्टी का पिड़ोला घड़ा बन जाता है, तो जब वह घड़ा बन गया तो घड़े का सद्भाव, पिड़ोंल का अभाव और मिट्टी की ध्रुवता ये तीनों एक समय में हैं। तो पर्याय का उत्पाद विनाश होकर भी जो मूलभूत वस्तु है उसकी सदा ध्रुवता रहती है, और यों तीनों काल में प्रत्येक द्रव्य के कारण कार्य की परम्परा चल रही है। पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तरपर्यायका

कारण है, उत्तर पर्याय पूर्व पर्याय का कार्य हैं, अर्थात् द्रव्य में निरन्तर अवस्थायें चलती रहती हैं।

ज्ञानानुभवसे ही संकट समाप्त होते हैं, इसका मनन कीजिये, 227 वीं गाथा का एक प्रवचनांश पृ० 130—ज्ञानानुभवसे संकटों का परिसमापन—जैसे कछुवा नदी में अपनी चोंच उठाकर चल रहा हो तो उसकी चोंच को चूटने के लिए अनेक पक्षी उस पर मंडराते हैं। वह कछुवा व्याकुल होकर यत्र तत्र भोगता है, पर रे कछुवे तेरे में तो वह कला है कि यदि तू उकस उपयोग करले तो समस्त दुख दूर हो जायेंगे। तेरी कला यह है कि तू चार अंगुल पानी में डूब तो जा, बस फिर ये पक्षी तेरा क्या कर सकेंगे? तो इसी प्रकार यह जीव अपने उपयोग को जीब को बाहर निकाले हुए हैं। बाह्य पदार्थों का चित में बसाये है। उनमें रमता है, उनसे ममता करता है, तो चारों ओर से यह संकटों में घिरा हुआ है। अनेक प्रकार के विकल्प बन गये हैं, विकल्प ही संकट हैं। तो क्यों व्यर्थ में ये संकट उठाये जा रहे हैं? हे आत्मन् तुझ में तो ऐसी सहज कला है कि तेरे सारे संकट अभी दूर हो जायें। अपने भीतर में दृष्टि कर, अपने को सबसे निराला देख, केवल ज्ञान में अपना अनुभव कर। मैं ज्ञानमात्र हूँ, यही मेरा सर्वस्व है, बस उस ही मैं तू रमज ।, अन्य कोई विकल्प मत कर, किसी को अपना मत मान, ज्ञान का अनुभव होगा, परमशान्ति का अनुभव होगा। तेरे सभी संकट अभी मिट जायेंगे। तो संकट दूर करने के लिए ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान किया जाता है। यथार्थ ज्ञानको हमें बड़े प्रयत्न करके प्राप्त कर लेना चाहिए।

भारत के ध्वज में वस्तुस्वरूपका कैसा चित्रण मिलता है, पढ़िये 238 वीं गाथा का एक प्रवचनांश—पृ० 160—161—भारतध्वज में वस्तुस्वरूपका चित्रण—अब ध्वजा की बात देखिये तो यह भी वस्तुस्वरूपका संकेत करता है। उसमें तीन रंग हैं—लाल हरा और सफेद, और वह भी हरा लाल रंग तो अगल बगल है, बीच में सफेद रंग है। साहित्यिक रचना में कविजन बताते हैं कि हरा रंग उत्पाद का सूचक है, लोग कहते भी तो हैं कि अमुक व्यक्ति खूब हरा भरा है, मायने खूब धन द्वार धन वैभव आदिक से भरी पूरा है। तो हरे रंग का वर्णन चलता है उत्पाद में, लाल रंग का वर्णन चलता है विनाशके लिए। कोई युद्ध हो जाय, खून की धारायें वह जायें, हत्यायें हो जाये तो वहां कविजन लाल रंगका वर्णन करते हैं। अब देखिये—बीच में जो सफेद रंग है उसका मतलब है कि वस्तु ध्रुव है। ध्रुवता, स्थिरता का वर्णन स्वेतरंग से किया जाता है। स्वेत रंग से सम्पर्क रखने वाले लाल और हरे रंग हैं, याने वस्तु की स्थिरता से सम्पर्क रखने वाले उत्पाद और व्यय अलग बगल में हैं यों प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है। उस ध्वजा के बीज में 24 आरों का एक चक्र बना हुआ है। वह सूचक है 24 तीर्थकरों का । वह 24 आरों का चक्र संसार

के प्राणियों को यह सुचना देता है कि ऐ संसार के प्राणियों, यदि तुम सुखी होना चाहते हो तो चतुर्विंशति तीर्थकरों से प्रणीत वस्तुस्वरूपकी सत्य श्रद्धा करो क्योंकि शांति मिलेगी इस मोह के मेटने से। और यह मोह कब मिटेगा, जब कि हम यह समझ पायेंगे कि प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें है, किसी का किसी भी पदार्थ में गमन नहीं है। ऐसी वस्तु की स्वतंत्रता का जब बोध होगा तब ही हम वस्तु के सत्य स्वरूपको परख सकेंगे।

काल और लोक के विस्तृत परिणाम को जानकर हम क्या लाभ उठायें इसका दिग्दर्शन कीजिये 254 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ० 178—काल और लोक की विशालता के परिचयका लाभ—यदि इस लोक के विस्तार को ही जानने लगे तो मोह मिटने का अवसर यहां भी मिल जाता है कि अरे इतना बड़ा लोक है, इस लोक के सामने जहां हम आप लोग आज पैदा हैं या परिचय हैं वह कितना बड़ा है, क्या चीज है? समुद्र के सामने एक बिन्दु बराबर भी नहीं है। तो इतनी सी जगह में मोह बनाकर यह क्या कोई विवके है। काल का प्रमाण जब उपयोग में आता है कि काल अनादि अनन्त है और यह जीव भी अनादि अनन्त है। तो अनादि काल से यह जीव पर्याय धारण करता आया है, अनन्त काल तक यह जीव रहेगा। तो कितना काल व्यतीत ही गया उसके सामने यह 100—50 वर्ष का जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या? कुछ भी तो गिनती नहीं रखता। इतनी सी देर के लिए परिजनों में, कुटुम्बमें, वैभव में उपयोग दे देकर उन्हें अपना मान मानकर यह जीवन गुजार दिया जाता है। इससे इस जीवन को कुछ लाभ मिल जायगा क्या? केवल बरबादी ही मिलेगी। मगर मोहवश यह जीव अपनी इस कुटेब को नहीं छोड़ सकता। इस ज्ञानका आदर नहीं कर सकता, जो इसका परम वैभव है।

ज्ञानका ज्ञेय में व ज्ञेय का ज्ञानमें गमन न होकर भी निज निज प्रदेश में रहने वाले ज्ञान और ज्ञेयों का व्यवहार परखिये 256 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें—पृ० 180—ज्ञानका ज्ञेय का ज्ञेयमें व ज्ञेय का ज्ञानमें गमन न होकर भी निज निज प्रदेश में रहने वाले ज्ञान और ज्ञेय का व्यवहार—ज्ञान ज्ञेय पदार्थों के पास नहीं रह जाता, और ज्ञेय पदार्थ भी ज्ञानके प्रदेश में नहीं आते हैं। पदार्थ अपनी ही जगह ठहरा है, ज्ञान अपने कही धाम में ठहरा है, पर ज्ञान हो रा, जानन ही रहा, इस कारण ज्ञान और ज्ञेयका व्यवहार चलता है। कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं कि जो ज्ञानमें पदार्थों का जानना मानते हैं। पदार्थ ज्ञानमें पहुंचते हैं। वे अपनी अकार सोंपते हैं तब जान जानता है। तो न इस तरह ज्ञेय ज्ञान में आता है और न ज्ञान ज्ञेय में जाता है, दोनों अपने अपने प्रदेश में ही ठहरे हुए हैं, किन्तु जानने का काम है ज्ञानका और न ज्ञान ज्ञेय में होता है, ज्ञेय का। इसी रूपको लेकर ज्ञान और ज्ञेयका व्यवहार चलता है

जो जाने सो ज्ञान, जो जाना जाय सो ज्ञेय कहलाता है। ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता, ज्ञेय ज्ञानमें नहीं जाता।

बौद्धिदुर्लभ भावना में मनुष्यभवकी दुर्लभता बताकर 300 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें पढ़िये, मनुष्यभवमें यदि पशुसम जीवन बिताया जाय तो यह पागलपन ही हैं, पृ0 231—पशुसम जीवन में नरभवयापनकी उन्नमतता—अरे इन विषयों में तो ये पशु पक्षी भी रत हैं। उन कुत्ता, बिल्ली, मुर्गी, कबुतर आदि की योनियों में रहकर भी तो ये विषयों के काम किये जा सकते थे। देखिये उन पशु पक्षियों के भी बच्चे होते हैं। मनुष्यों के भी बच्चे होते हैं, वे भी अपने बच्चों में मोह रखते हैं, मनुष्य भी अपने बच्चों में मोह रखते हैं। तो अब बताइये मनुष्यभवमें विवेक का कौन सा काम किया? रही एक धन वैभव के बढ़ाने की बहुत बात, तो जितना इन पशु पक्षियों को साधन जोड़ने की जरूरत है उतना वे जोड़ते ही हैं। हां मनुष्यने उनकी अपेक्षा अधिक लगाव लगाया उन साधनों में, पर यह लगाव इस मनुष्यके हित के लिए नहीं है। वह तो अशान्ति के लिए है। जितना अधिक वैभव होता जायगा उतना ही अधिक अशान्ति होती जायेगी। उसकी कोई हद नहीं है कि कितना वैभव हो जाय तो शान्ति मिलेगी। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द आदि की प्रवृत्तियों में ही व्यापार करते हैं, इसी चक्र में पड़कर यह मनुष्य जीवन लोग, व्यर्थ ही गवा देते हैं। उस तरह से जैसे कि भस्म के लिए अमूल्य रत्न को जला देते हैं।

सम्यग्दृष्टि की अन्तः शान्तिरूपता का दिग्दर्शन करें 326 वीं गाथा के एक प्रवचनांश, पृ0 296—सम्यग्दृष्टि के अन्तः शान्तिरूपता—अनेक गुणों से सम्पन्न वह सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपमें जब चाहे आनन्द पाता रहता है। अब जरा गर्दन झुकाया देखलो, अपना अपना देव अपने आपके अन्दर है। जिस समय बाह्य दृष्टिको बन्द करके अपने अंतरंगकी दृष्टि से देखें तो अपना भगवान वह कल्याणदेव अपने आप में मिलेगा। जिसने अपने आपमें बसे हुए परमात्मदेव का दर्शन किया है वह पुरुष तो पवित्र है और जो अपने आपके इस परमात्मदेव का परिचय नहीं कर सकता वह चाहे शरीर की कितनी ही शुद्धि करे या अन्य पदार्थ की शुद्धि करे तो वह शुद्धि व सिद्धि नहीं है। चाहे अपवित्र हो चाहे पवित्र हो, किसी भी अवस्था में हो, जो अपने परमात्मतत्वका स्मरण करता है वह बाहर में भी पवित्र है और अंतरंग में भी पवित्र है। शान्ति मिलेगी तो अपने आपके परमात्मस्वरूपके उपयोग में ही मिलेगी, बाहरी पदार्थों को वित में बसाने से शान्ति न मिलेगी।

255—256 आप्तमीमांसाप्रवचन भ्रष्टसहस्री प्रवचन 1, 2 भाग

इस पुस्तक में पूज्य श्री समन्तभद्राचार्य—विरचित आस्तमीमांसा गंथकी 3 कारिकाओं पर पूज्य श्री विद्यानन्दि स्वामि द्वारा अकलंक वृत्ति पर की

गई अष्टसहस्री टीका के माध्यम से पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। इस ग्रन्थ में किस विषय का वर्णन है और उसका क्या प्रयोजन है तथा प्रथम कारिका में क्या कहा गया है इन सब बातों का एक संक्षिप्त प्रवचनांश में परिचय कीजिये—पृ० २ —आप्तगुणज्ञ समन्तभद्र का सप्रयोजन आप्तमहत्त्वके निरीक्षण का प्रयास—इसका प्रचलित नाम देवागमस्तोत्र भी है। इसका कारण यह है कि इस रचना में सर्वप्रथम देवागम शब्द आया है। जैसे कि आदिनाथ स्तोत्र में सर्वप्रथम भक्तामर शब्द आया है, पर विषय इसमें क्या है? उस दृष्टि से इसका नाम आप्तमीमांसा युक्तियुक्त विज्ञात होता है। आत्महित चाहने वाले मोक्षमार्ग के अभिलाषी पुरुषों को यह अतीव आवश्यक है कि वे सम्यक् और मिथ्या उपदेशकी पहचान कर सकें। तो सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेशकी जानकारी बने, इसके लिए आप्तमीमांसाका रचनेवाले आचार्य श्रद्धा और गुणज्ञता से गद्गद होकर अपने हृदय में उनके प्रति बड़ी पूज्यता भाव रखते हैं और उस उल्लास में यहां सर्व प्रथम यह कह बैठते हैं कि हे प्रभो, तुम इस कारण बड़े नहीं हो कि आपके पास देव आते हैं, आपका आकाशमें गमन होता है। आप पर चामर विभूतियां ढरती हैं प्रभु के गुणों से अन्तः परिचित समन्तभद्र देव सब जान रहे हैं वह मर्म कि प्रभु गुणों के कारण ही महान हैं। लेकिन यह कह रहे हैं कि इन बाहरी बातों से तुम हमारे लिए महान नहीं हो क्योंकि ये बाहरी बातें तो मायावी पुरुषों में भी देखी जा सकती हैं,

द्वितीय कारिका में शरीरादिमहोदयता से भी भगवान की महता नहीं है, इसका परीक्षण किया है उसका परिचय पाइये एक संक्षिप्त प्रवचनांशमें—पृ० ९— १०—विग्रहादिमहोदय से भी प्रभुता व महता के अभाव के कथन की सिद्धि—आगम में हेतु बताया गया है, केवल इस बुनियाद पर साध्यको सिद्ध किया जाय तो यह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि आगामी प्रमाणता अभी प्रमाण से प्रसिद्ध नहीं है। जब तक प्रमाण से आगम का प्रामाण्य सिद्ध न हो पा ले तब तक उस आगम के आधार पर किसी भी बात की सिद्धि नहीं की जा सकती। जैसे कि देवता आते हैं आकाश में गमन होता है, चामर आदिक विभूतियां प्रभु के निकट हैं ऐसा हेतु देकर जिसका कि वर्णन आगम में किया है उस आगम का उपदेश मात्रका हेतु देकर प्रभु को महता सिद्ध नहीं की जा सकती है, इस प्रकार अन्तरंग और बहिरंग शरीरादिक का अतिशय दिखाकर कि देखो मलमूत्र स्वेद रहित दिव्यशरीर मायावियों के तो नहीं बन सकता, ऐसे अन्तरंग शरीर का अतिशय दिखाकर भी प्रभुकी महता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि यह भी वर्णन आगमाश्रित है। और, जो आगमाश्रित हेतु है वह दार्शनिकों को दृष्टि में प्रतिवादी की दृष्टिमें प्रमाणभूत नहीं है तो अप्रमाण आगम से, उसमें बताये गये हेतु से किसी साध्य तो सिद्धि नहीं की जा

सकती। तो वहां भगवान परमात्मा अंतरंग शरीर के अतिशयमें भी स्तवन करने के योग्य वाले महान नहीं हैं। तो जैसे भगवान, तुम मेरे लिए देवागम आदिक के कारण पूज्य नहीं हो, महान नहीं हो इसी प्रकार देह के अंतरंग अतिशयों के कारण भी आप महान नहीं हो।

तीसरी कारिका में बताया है कि तीर्थ चलाने से भी कोई महान नहीं बन जाता, क्योंकि तीर्थकृतों के आगमों में परस्पर विरोध है। इस विषय में हुए कुछ प्रवचनांश देखिये ताकि वर्णनीय विषयका अन्दाज हो सके—श्रुतिवाक्यके अर्थों का विसवाद बताने का मूल प्रसंग—तीर्थकृतसमयों में परस्पर विरोध होने से आप्तता नहीं, यह बात सुनकर मीमांसक सिद्धान्तानुयायी खुश हो गये और बोले समन्तभद्र तुम बिल्कुल ठीक कहते हो। जितने तीर्थ चलाने वाले लोग हैं उनके प्रपीता सर्वज्ञ नहीं है, आप्त नहीं है। इसी कारण तो हम कह रहे हैं कि सिर्फ अपौरुपेय वेद ही प्रमाण है। कोई आप्त नहीं, कोई देव नहीं। तो समन्तभद्र अथवा उनके भक्त इस ही श्लोक का दूसरा अर्थ लगाकर मीमांसक का निराकरण करता है। मीमांसक कर्म का भी विश्लेषण बता दीजिये—तीर्थकृत समय मायने तीर्थ को नष्ट करने वाला कृतकृन्ततिमें भी बनता है, तीर्थकृतन्ति छिनति इति तीर्थकृत, जो तीर्थका छेदन करता है उसे तीर्थकृत कहते हैं। उनके समय के मनतवय को तीर्थकृतसयम कहते हैं, सो जो तीर्थ को मानते ही नहीं, उनके सम्प्रदायों में भी परस्पर विरोध है, इसलिए उनके भी प्रमाणता नहीं है। कैसे विरोध है? सो सुनिये। जैसे एक वाक्य बोला गया कि स्वर्गभिलाषी पुरुष, अग्निहोत्र यज्ञ करें विरोध है? सो सुनिये। जैसे एक वाक्य बोला गया कि स्वर्गभिलाषी पुरुष अग्निहोत्र यज्ञ करें तो इसका अर्थ कोई मीमांसक प्रवक्ता तो भावना अर्थ लगाता है, कोई इसका एक परमब्रह्मस्वरूप अर्थ लगाता है। लेकिन उन्हीं में परस्पर विरोध है, फिर उनका भी सिद्धान्त प्रमाणिक कैसे बना? तो इस प्रसंग में भावना अर्थ मानने वाला नियोगवादियों का खण्डन कर रहा था, और नियोगवाद का खण्डन करते करते जब एक झलक निकली कि ब्रह्मस्वरूप अर्थ है तो इस पर नियोगवादी यह कह रहे कि चलो भला हुआ। ब्रह्मरूप अर्थ निकल आया तो अब भावनारूप तो न रहा। सो भावना अर्थ मानने वाला भट्ट यह सिद्ध कर रहा कि श्रुतिवाक्य का अर्थ ब्रह्म नहीं है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं, इसी बलपर वे सर्वज्ञत्व का अभाव सिद्ध करते हैं, किन्तु ऐसा सिद्ध करने वाले सर्वज्ञत्वको सिद्ध कर बैठते हैं, देखिये एक प्रवचनांश चार्वासिद्धान्तसमीक्षणके प्रसंग का—पृ0 152—प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ का अभाव मानने वाला के सर्वज्ञत्वको प्रसक्ति—देखिये, ये चार्वाक एक इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण से सब सर्वज्ञ हित पुरुष समूह को जान रहे हैं तो क्या कर रहे कि यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। इस सिद्धान्त

का घात कर रहे, लो ये प्रत्यक्षप्रमाण से इन्द्रियज्ञानसे सारी दुनिया को जान रहे हैं। जब सारी दुनिया को जान लिया कि यहां सर्वज्ञ नहीं है तभी तो निषेध करेंगे कि कोई सर्वज्ञ नहीं है। तो सर्वज्ञ नहीं है, यह जानने के लिए पहिले सारी दुनिया जाननी होगी, इस तरह जब सारी दुनिया जान ली तो ये चार्वाक ही सर्वज्ञ हो गये अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय सारी दुनिया का जानना बन गया। सो दोनों ही सिद्धान्तों का जो कि चार्वाक लोग मानते हैं घात हो गया। जो स्वयं स्वीकार नहीं किया गया, अथवा जो अनिष्ट हैं चार्वाकों को, ऐसा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है कुछ। और, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष चार्वाक को इष्ट है नहीं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञ रहित पुरुष समूह का ज्ञान बन सकता। अतः अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के बिना इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञ रहित पुरुष समूह का ज्ञान द्वारा, अन्य प्रमाण के अभाव का ज्ञान जगें नहीं बनता इसी प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञरहित सारे विश्व का भी ज्ञान नहीं बनता। और यदि मान लिया जाय कि ये चार्वाक सब जगह सब समय जीवों में सर्वज्ञपने के अभाव के प्रत्यक्ष से जान रहे हैं तो इसके मायने यह हुआ कि ये चार्वाक स्वयं सर्वज्ञ हो गया और ऐसा मानने पर चार्वाक का यह कथन निराकृत हो जाता है कि सर्वज्ञ अथवा अनुमान आदिक प्रमाण है ही नहीं। स्वयं सर्वज्ञ बन गया। सर्वज्ञ का अभाव कैसे सिद्ध करोगे? अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसा जो चार्वाक का अभिप्राय है वह निराकृत हो गया। जब अन्य देश अन्य लोक अन्य पुरुषों के प्रत्यक्ष को स्वयं प्रत्यक्ष से प्रमाण मान लिया तो वही सर्वदर्शी बन गया।

257–258 आप्तमीमांसाप्रवचन अष्टसहस्री प्रवचन 3, 4 भाग

इसमें आप्तमीमांसा की चौथी कारिका से लेकर 8 वीं कारिका तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। आप्त की मीमांसा में आप्तपने के परीक्षणका मूल आधार यह स्थापित किया गया है कि यहां दोष और आवरण रंच भी रहे और न कभी हो सके वह आप्त है। इसकी सिद्धि के प्रवचन 4 वीं कारिका में हैं। उनमें से एक प्रवचनांश देखिये—पृ0 3–4 दोषों और आवरणों की हानि की निःशेषता की साधना—इस अनुमान में सिद्ध यह किया जा रहा है कि दोषावरण की हानि किसी पुरुष में निःशेषरूप से होती है अर्थात् किसी आत्मा में दोषों व आवरणों का पूर्णतया हानि है, बिल्कुल अभाव है। यह यहां सिद्ध किया जा रहा है, क्योंकि प्रतिवादी को समग्ररूपसे दोषों व आवरणों का अभाव होने के सम्बन्ध में विवाद है। तो इस अनुमान प्रयोग में दोषावरण की हानि यह तो पक्ष है और कहीं सम्पूर्णतया हानि है, यह साध्य है और हेतु दिया गया है यह कि क्योंकि इसका अतिशायन पाया जाता है। अर्थात् हानि की अधिकता पायी जाती है। कहीं हानि कम है, किसी पुरुष में हानि अधिक है, किसी पुरुष में उससे भी

अधिक हैं तो यह सिद्ध है कि कहीं हानि कम है, किसी पुरुष में हानि अधिक है, किसी पुरुष में उससे भी अधिक हैं तो यह सिद्ध है कि कहीं हानि पूर्ण रूप से भी है। इस अनुमान प्रयोग में दृष्टान्त दिया गया है कि जिस किसी स्वर्ण पाषाण आदिक में किट्ट कालिमा आदिक बहिरंग अंतरंग दोषों का क्षय पूर्णतया है सो यह दृष्टान्तवादी और प्रतिवादी दोनों के प्रसिद्ध है। तो जैसे स्वर्णपाषाण आदिक में किट्टकालिमा की हानि बढ़ती हुई देखी गई है तो कहीं सम्पूर्ण रूपसे भी हानि है। यह बात भी देखी जाती है। इसी कारण दोष और आवरणों की हानि भी बढ़ बढ़ कर जब हम लोगों में दोष आवरण ही हानि अधिक प्रतीत हो रही है तो यह किस परम पुरुष में सम्पूर्णतया है इस बात को सिद्ध करती हैं। इसका भाव यह है कि रागादिक भाव होना और पदार्थों का ज्ञान न होना याने अज्ञान आदि होना दोष है? ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय व अन्तराय ये आवरण है तो जब भावों में यह बात देखी जा रही है कि रागादिक दोष और ज्ञानावरणादिक आवरण में किसी में कम हैं किसी में और कम हैं। जब कमती का अतिशय देखा जा रहा है तो उससे यह सिद्ध होता है कि कोई परम पुरुष कोई आत्मा ऐसा भी होता कि जिसमें रागादिक दोष रंच मात्र भी नहीं होते और ज्ञानावरणादिक भी रंचमंत्र नहीं रहते। इस कारिका में यह सिद्ध किया जा रहा है कि कोई पुरुष होता है ऐसा जी वीतराग और सर्वज्ञ हो, इसकी सिद्धि इस कारिका में करने के बाद अगली कारिका में यह बताया जायेगी कि हे वर्द्धमान प्रभोसकलपरमात्मन् हे अरहंत देव, ऐसा आप्तपना आप में ही होता, अतः आप ही आप्त हो और इसकी कारणपूर्वक सिद्धि की जायेगी। यह सामान्यतया सिद्ध किया जा रहा है कि कोई आत्मा ऐसा अवश्य है जिसमें अज्ञान रागादिक दोष रंचमात्र भी नहीं रहते।

कोई दार्शनिक सर्वज्ञ को ही नहीं मानते हैं उनको 5 वीं कारिका में अनुमान प्रयोग द्वारा सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। उसमें हेतु के समर्थक प्रवचनों में से एक प्रवचनांश पढ़िये—पृ० 48—अनुमेयत्व हेतु में संग्रिधानेकान्तिकत्व दोष का परिहार—अब यहां मीमांसक शंका करते हैं कि ये सूक्ष्म आदिक पदार्थ अनुमेय हैं तो रहे आयें। अनुमान द्वारा अनुमेय हो तो और श्रुतज्ञान के द्वारा अधिगम्य हो तो अनुमेय रहा आयें हैं तो रहे आयें। अनुमान द्वारा अनुमेय हो तो और श्रुतज्ञान के द्वारा अधिगम्य हो तो अनुमेय रहा आयें और किसी के प्रत्यक्ष न रहे, इसमें कौन सी बाधा आती है? जिससे कि अनुमेय हुते देकर इन पदार्थों को किसी के द्वारा प्रत्यक्षभूत है यह सिद्ध किया जा रहा है। उत्तर में कहते हैं कि ऐसा कथन तो अग्नि आदिक सभी साध्यों में लगाया जा सकता है। अग्नि वगैरह अनुमेय तो हों और किसी के प्रत्यक्ष न हों, इसमें क्या दोष होगा? जब केवल बोलने से ही किसी की सिद्धि

असिद्धि मान ली जाती है तो यह भी कह सकते हैं और इस तरह फिर अनुमान प्रमाण का उच्छेद हो ही जायगा, क्योंकि सभी अनुमानों में यह उपालम्भ समान है। ऐसा कह सकते हैं कि घूम तो रही कहीं पर अग्नि मत रहो। इस तरह सभी अनुमानों में साध्य का सन्देह, साध्य का अभाव यह सब कहा जा सकता है, किन्तु अनुमान का उच्छेद तो नहीं। तब अनुमान से भी प्रबल रूपसे मानना होगा कि सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं।

सामान्यतया किसी के निर्दोषत्वकी व अतएव असर्वज्ञत्वकी सिद्धि करने के पश्चात् छठी कारिका में बताया है कि वह निर्दोष आत्मा तुम ही हो, क्योंकि आपका वचन युक्ति और शास्त्र के अविरुद्ध है अब इस ही अविरोध के सम्बन्ध में एकप्रवचनांश पढ़िये—पृ० 70-71 आर्हत वचन में अविरोधता के कारण का प्रतिपादन—अब प्रभु युक्ति और शास्त्रों से अविरुद्ध वचन वाले हैं यह कैसे सिद्ध हुआ? अथवा इसको यों अलंकार रूपमें समझिये कि यहां मानो परमात्मा अरहंत ही कह रहे हों कि मेरा वचन युक्ति और शास्त्र से पूर्णतया अविरुद्ध कैसे है जिससे कि मेरा प्रमाणसिद्ध माना जाय? तो इसके उत्तर में इस ही कारिका में कहा गया है कि जिस कारण से आपका इष्ट मंतव्य, उपदेश, सिद्धान्त मोक्ष आदिक प्रसिद्ध प्रमाण से बांधे नहीं जाते हैं इससे सिद्ध है कि आपका वचन युक्ति और शास्त्रों से अविरुद्ध है। किस प्रकार अवाधित है इस सम्बन्ध में प्रयोग करते हैं। जिस सम्बन्ध में जिसका अभिमत तत्व प्रमाण से बांधा नहीं जाता वह उस सम्बन्धमें युक्ति और शास्त्रों से अविरुद्ध वचन वाला कहलाता है। जैसे कि रोग के स्वरूप और रोग के कारण के सम्बन्ध में स्वास्थ्य का स्वरूप और स्वास्थ्यके कारण के जानने बताने के सम्बन्धमें वैद्य युक्ति शास्त्र से अविरुद्धी वचन वाला है, क्योंकि उसकी कही हुई बात प्रमाण से बाधित नहीं होती है, अभिमत तत्व प्रमाण से वाधित नहीं होता है। जो प्रभुने मोक्ष, मोक्ष का कारण, संसार, संसारका शरण का स्वरूप कहा है वह किसी प्रमाण से वाधित नहीं होता। इसका कारण हे प्रभो, अरहंत तुम मुक्ति और संसार के कारण तत्त्वरूपादिक के सम्बन्धमें युक्ति और शास्त्रों से अविरुद्ध वचन वाले सिद्ध होते हो। इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि मुक्ति, संसार, वस्तुस्वरूपमें ये सब मुक्ति और शास्त्रों से अविरुद्ध हैं तो भगवान का वचन युक्ति और शास्त्रों से अविरुद्ध है, यह सिद्ध हो जाता है। जो बात कही गई है वह बात यदि सत्य उतरती है और परख लिया कि यह सीप ही है, तो सब कहने लगते हैं कि इस पुरुष का ज्ञान सही है, अविरुद्ध है। तो ज्ञान की प्रमाणता बाह्य वस्तु को रख के बाद आया करती है। यद्यपि ज्ञान तो जिस समय हुआ उस ही समय प्रमाणभूत है, लेकिन लोकनिर्णय तो तब होता है। जबकि ज्ञान में किसी के सम्बन्धमें जैसे जाना गया वैसा

स्वरूपमें पाया गया हो, तो प्रभु आपकी दिव्यध्वनि में, आपकी परम्परासे प्रणीत उपदेश में जो बात कही गई है वैसा ही बाह्य पदार्थों में निरखा गया है। अतएव आपका वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी है।

एकान्त बाद में वस्तु एकधर्मात्मक मानी गई है, किन्तु तथ्य यह है कि चाहे वस्तु का सर्वस्व जानकर उसे अव्यक्त कह दो या अनेकधर्मात्मक कह दो, सौ तो काम बन जायगा, लेकिन एक वस्तु में अविरोधरूपसे रहने वाले सप्रतिपक्ष अनेक धर्मों में से एक धर्मका ही आग्रह करने में वस्तुत्व सिद्ध नहीं होता, इस प्रसंग का एक प्रवचनांश पढ़िये—पृ० 161—162—पदार्थ के अनेकान्तात्मकत्वकी सिद्धि का समर्थन—यहां यह समझ लेना चाहिए कि जैसे चित्रज्ञान अनेक विशेषात्मक होता हुआ एकात्मक माना गया है, क्षणिकवादियों ने क्योंकि उसमें नील पीत आदिक प्रतिभास अनेक हैं, अतएव अनेकात्मक है। और, वह ज्ञान एक अपने स्वरूपसे है अतः एकात्मक है। तो जैसे चित्रज्ञानको अनेकात्मक है। और, वह ज्ञान एक अपने स्वरूपसे है एक स्वरूप है अर्थात् उनमें सुख ज्ञान दर्शन आदिक अनेक गुण है फिर भी अपने स्वरूपसे एक है। सो केवल अन्तस्तत्त्वको ही यों न निरखना कि यह अनेकात्मक एकस्वरूप है, किन्तु वर्णसंस्थान आदिक स्वरूपस्कंध भी एकात्मक हैं। स्कंध अपने स्वरूपसे एक पिण्डरूप है, किन्तु उसमें वर्ण, गन्ध, आकार आदिक अनेक बातें हैं। तोयों बहिस्तत्त्व भी एकानंकात्मक है। अन्तस्तत्त्व भी एकानेकात्मक है। विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो सर्वथा किसी एकान्तस्वरूप ही और इस कारण यह बात जो कही गई है वह पूर्णतया मुक्त है कि विश्वमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो रूपान्तर से विकल हो, अर्थात् किसी पदार्थ में सत्त्व समझा जा रहा हो तो वह असत्त्व से विकल नहीं है। सत्त्व है तो साथ ही वहां असत्त्व भी है। किसी अपेक्षा से अस्तित्व भी है तो अन्य अपेक्षा से नास्तित्व भी है। तो जैसे न कोई केवल सत्त्वरूप है न कोई केवल अस्तित्व भी है। इस ही प्रकार कोई भी पदार्थ न केवल नित्यरूप है और न केवल अनित्यरूप है। जैसे पदार्थ एकानेकात्मक है, सदसदात्मक है इसी प्रकार नित्यानित्यात्मक है। इसी तरह यह भी जानना कि कोई भी पदार्थ अद्वैत एकान्तरूप नहीं है और साथ ही द्वैत आदिक एकान्तरूप भी नहीं है। चाहे अन्तस्तत्त्व हो, सम्वेदनात्मक पदार्थ हो, चाहे बहिस्तत्त्व हो कोई भी सर्वथा एकान्त स्वरूप दार्शनिकों ने प्रतिज्ञा की है कि पदार्थ क्षणिक है, केवल नित्य है, केवल अद्वैत है अथवा द्वैत है। यों किसी भी प्रकार से एकान्तस्वरूप कुछ भी नहीं है।

एकान्तवादका विस्तृत निराकरण करने के प्रसंग की भूमिका रूप 8 वीं कारिका में बताया है कि एकान्तका आग्रह करने वालों के सिद्धान्त में पुण्य, फल, परलोक आदि कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं, उदाहरणार्थ 8 वीं कारिका का एक प्रवचनांश देखिये— पृ० 200—201—एकान्तवादके आग्रह में

पुण्य पाप क्रिया परलोक आदिकी सिद्धि का अनुपपत्ति—हे नाथ, जा एकान्तवाद के आग्रह से व्यासक्त हैं ऐसे वादी एकान्त आग्रह के ही कारण अपने ही बैरी हैं और दूसरों के भी बैरी हो रहे हैं। उन एकान्त के आग्रहीयों में किसी के भी पुण्य पापकर्म और परलोककी सिद्धि नहीं होती। कर्म तीन प्रकार के होते हैं। शारीरिक क्रियाभूत कर्म, वाचनिक क्रियाभूत कर्म, मानसिक क्रियाभूत कर्म। इसी को लोग कहते हैं कि जिस योग से कर्म आयें, याने कर्मों के आने के कारण को आस्रव कहते हैं। वह आस्रव दो प्रकार का है। एक कुशलस्रव और दूसरा अकुशलास्रव। अर्थात् शुभ आस्रव कहते हैं। वह आस्रव दो प्रकार का है। एक कुशलास्रव और दूसरा अकुशलास्रव। अर्थात् शुभ और अशुभ आस्रव। सो यह सब व्यवस्था और परलोककी व्यवस्था एकान्तवादमें यथार्थ रूपसे नहीं हो सकती। परलोक उसे कहते हैं कि मरण करके उत्पन्न होना, एक भवको छोड़कर दूसरी गति के प्राप्त करने का नाम है प्रत्याभाव उसे ही कहते हैं परलोक। और परलोक का कारण है धरम, अधरम। सो धर्म अधरम का भी नाम कारण मे कार्य का उपचार करने से परलोक रख दिया गया है। सो एकान्ताग्रह रक्तों में न तो शुभ अशुभ आस्रव की सिद्धि है और न धरम अधरम परलोक की सिद्धि है। और न मोक्ष स्वर्ग आदि की सिद्धि है। जो अनित्य एकान्त नित्य एकान्त आदि के अभिप्रायों के परवश हुए हैं उन पुरुषों में किसी भी प्रकार से इन तत्वों की सिद्धि नहीं है।

259—260 आप्तमीमांसा प्रवचन अष्टसहस्री प्रवचन 5, 6 भाग

आप्तमीमांसाकी 9 वीं कारिका तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। नमस्कार के योग्य आप्त कौन है इसकी परीक्षा में यह आवश्यक है कि अपने को तीर्थकृत प्रसिद्ध करने वालों के वचन देखे जावें जिनके वचन पूर्वापर विरोधरहित, युक्तिसम्मत व आत्मपहतकारी हों वे आप्त है। इसी सिलसिले में देखिये जो दार्शनिक सत्ताद्वैत अर्थात् भावेकान्त मानते हैं उस एकान्त में क्या विडम्बनायें होती हैं उनके अनेक प्रवचनों के बीच उदाहरण में एक प्रवचनांश देखिये कारिका 9 में —पृ०—6—अत्यन्ताभाव न मानने से होने वाली विडम्बनाका निर्देश—अब अत्यन्ताभाव के न मानने में क्या आपत्ति आती है इस बात को भी परखिये। अत्यन्ताभाव कहते हैं द्रव्यों का द्रव्यों में अभाव होने को याने किसी भी द्रव्यका अन्य द्रव्यों में अभाव होना अत्यन्ताभाव है सो जब ऐसा अत्यन्ताभाव नहीं मानते तो भावेकान्तका अभाव होना अत्यन्ताभाव है। सो जब ऐसा अत्यन्ताभाव नहीं मानते तो भावेकान्तवादियों के यहां दो द्रव्य मोन गये हैं—प्रकृति और पुरुष। सो प्रकृति और पुरुष में जब अत्यन्ताभाव नहीं मानते तो प्रकृति बन गया पुरुषात्मक। तो

इस का अर्थ यह है कि सर्वात्मक बन गया। अब वहां फिर कुछ भी द्रव्य न रहेगा। प्रकृति बन गया पुरुषात्मक, पुरुष बन गया प्रकृतात्मक, फिर रहा हो क्या? और तब प्रकृति और पुरुष के सम्बन्धसे लक्षणभेद का करना बिल्कुल विरुद्ध पड़ जाता है। भावेकान्तवादियों ने कहा है कि व्यक्त तो होता है सत्त्व रजः तमः इन तीन गुणों वाला, व्यक्त होता है अविवेकी अर्थात् भेदरहित व्यक्त होता है आत्मा के भोग्यरूप, ऐसा सामान्य अचेतन प्रसव धर्मवाला व्यक्त होता है, जिसकी कि प्राप्ति हो गई और अव्यक्त अर्थात् प्रधान हुआ व्यक्त से विपरीत, और पुरुष होता है उन दोनों से विरुद्ध अर्थात् केवल चिन्मात्र। इस तरह उन सबके लक्षण का भेद कहना असंगत है, क्योंकि अत्यन्ताभाव न मानने से सर्व सर्वात्मक हो गया, फिर लक्षणभेद का अवसर ही क्या?

भावेकान्त माननेवाले अनेक दार्शनिक हैं उन सबकी कल्पनाभी प्रागभाव भाने बिना पार नहीं सकती, इसका चित्रण कारिका 10 वीं के एक प्रवचनांश में देखिये – पृ० – 597 प्रागभाव के बिना अभिव्यक्तिवाद व सत्कार्यवाद में भी वस्तु व्यवस्था की अशक्यता—यहां प्रकरण यह चल रहा है कि घट पट आदिक को पहिले से ही सत् माना जाय और उसकी अवभव्यक्ति होती है और वे प्रधान के परिणाम हैं यह सब मानना युक्तिसंगत नहीं हो सका है और इस तरह सांख्यसिद्धान्तके अनुसरण के द्वारा भी प्रधानात्मक समस्त घट पट आदिक पदार्थों का अभिव्यंगपना मानना युक्त नहीं है। जैसे कि मीमांसक सिद्धान्त में शब्द को आकाश का गुण मानकर उसे सुनने के योग्य बनाने के लिए अभिव्यक्तिवाद की कल्पना की है और वह कल्पना संगत न बन सकी। इस प्रकार केवल एक प्रकृति और पुरुष इन दोनों तत्वों का ही सत्त्व मानकर जो प्रकृति के विकार महान होकर शब्द रूपादिक मानते हैं, और उसको अविर्भाव तिरोभावरूपसे मानते हैं, तो शब्द की तरह उसकी भी अभिव्यक्ति प्रमाणसिद्ध नहीं होती है। क्योंकि सर्वदा जब प्रागभावका लोप कर दिया तो कायकी अभिव्यक्ति भी आदि बन बैठगी? जैसे कि चार्वाक लोग पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु को कार्यद्रव्य मानते हैं और प्रागभाव नहीं मानते तो जैसे उनके सिद्धान्त में यह दूषण आता है कि फिर तो ये पृथ्वी आदिक समस्त कार्यद्रव्य अनादि हो जायेंगे। इस प्रकार सांख्य और मीमांसक जो कि अभिव्यक्तिवाद मानते हैं कि चीज सब पहिले से ही है। कारणों के द्वारा केवल उसकी अभिव्यक्ति की जाती है। तो उनकी यह अभिव्यक्ति भी प्रागभाव के मानने पर अनादि बन बैठगी। अतः कार्यद्रव्यवादी हो अथवा अभिव्यक्तिवादी जो प्रागभाव न मानेंगे उनके यहां परिणामों की व्यवस्था नहीं बन सकती।

भावेकान्त के निराकरक प्रवचनों में देखिये इतरेराभावकी उपयोगिता, कारिका 11 के एक प्रवचनांशमें—पृ०—89— इतरेराभाव के मतवय की उपयोगिता—तात्पर्य सबका यह है कि वस्तु में ज्ञानमें, सभी में एकानेक

स्वभावता पाई जा रही है। खाली साधन और सामग्री के भेद से उपचारतः उनमें भेद बताना और वस्तु में भेद बताना और वस्तु में एक धर्म की हठ बनाना यह युक्त नहीं हो सकता। अनेकान्त के बिना, सप्रतिपक्ष धर्म के बिना किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं रह सकता ज्ञान है वह एक है तो अनेकान्तात्मकता को लेकर ही एक है। कोई द्रव्य है, घट पट आदिक है तो वह अनेकान्तात्मकता को लेकर रही एक है। केवल याने एकानेकात्मकता से रहित कुछ नहीं हो सकता। जैसे बताइये कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के बिना घट क्या चीज है? एक माने बिना अनेकताका बोध न होगा। अनेक माने बिना एकात्मकता का बोध न होगा। जब वस्तु एकानेकस्वभावरूप है तब उसमें इतरेतराभावका निराकरण नहीं किया जा सकता।

कोई दार्शनिक भावेकान्तके दोषों को सुनकर अभावेकान्त मानने लधे कि बस अभाव ही तथ्य है, शून्य ही तत्व है तो देखिये वहां क्या समस्या बन जाती है, कारिका 12 वीं का एक प्रवचनांश-प10 108-प्रभावेकान्त मानने पर स्वेष्ट तत्वकी सिद्धि की निरुपायता-अभाव का एकानत स्वीकार करने पर उसका अर्थ यही तो हुआ कि भाव का अपन्हव किया गया अथात् अस्तित्व मान ही नहीं। कोई पदार्थ सदैव न हरे तो भाव का अपन्हव करने वाले शून्यवादियों के यहां ज्ञान, वाक्य, प्रमाण ये नहीं बन सकते, फिर किसके द्वारा साधन में दूषण किया जा सकेगा। सर्वशून्यवादियों ने अपने शून्यादीको ऐसी प्रतीज्ञा की है कि जिस एकत्व अनेकत्व स्वभावमें भावों का निरूपण किया जाता है वस्तुतः वह स्वरूप नहीं हैं। जिससे कि एक और अनेक रूप उन भावों में घटित होता है। इस तरह सर्वका शून्य है ऐसी प्रतीज्ञा करना सो अभाव एकान्त पक्ष है। उस अभाव एकान्त के पक्षमें भी जो अपने अर्थ का साधन और दूषण रूप बने ऐसे ज्ञान का और वाक्यका वहां होना सम्भव ही नहीं है। न तो दूसरे के साधन में दूषण दिया जा सकता है और न अपने साधन में कोई युक्ति दी जा सकती है। तब फिर कुछ प्रमाण ही न रहा, फिर कैसे प्रमाण के द्वारा नैरात्म्यकी सिद्धि की जायगी? न तो अपने समझने के लिए नैरात्म्य सिद्ध किया जा सकता न दूसरे के समझने के लिए नैरात्म्यकी सिद्धि की जा सकती। भला बतलाओ जो भावका अपन्हव करता है, केवल अभावको ही तत्व मानता है वह किस वाक्य के द्वारा दूषण दे सकेगा? यदि कोई भी दार्शनिक अपने पक्ष का साधन मानता है और परपक्षको दूषण देना मानता है तो उसके मन्तव्यमें साधन की सिद्धि बराबर सिद्ध होती है।

भावेकानत, अभावैकानत, उभयेकानत व अवाच्यतेकान्तका निराकरण करने के बाद 14 वीं कारिका में वस्तुस्वातंत्र्यका सिद्धान्त बताया है, इसका दिग्दर्शन कीजिये 14 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें-आर्हत शासन का प्रारम्भिक दिग्दर्शन-हे -प्रभो, तुम्हारे सिद्धान्तमें वस्तु कथंचित सत् ही है और

वही वस्तु कथंचित् असत् ही है तथा वही कथंचित् उभयरूप है एवं वही वस्तु कथंचित् अवाच्य है। ये सब परिज्ञान नयों के योग से होते हैं। यदि इन धर्मों को किसी को सर्वथा मान लिया जाय तो वह बांधित होता है। जैसे पदार्थ सर्वथा सत् ही है अथवा सर्वथा असत् ही है अथवा निरपेक्षरूपसे सत् और असत् दोनों रूप ही है, अथवा पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य ही है, ऐसा कथन बांधित हो जाता है। इस कारिका में चार भगों की बात कही गई है। कथंचित् सत् असत् उभय और कथंचित् अवक्तव्य। शेष भगों की सूचना कि कइस कारिका में आया हुआ च शब्द दे रहा है। च शब्द से आग्रह करना कि पदार्थ कथंचित् सत् प्रवाच्य ही है कथंचित् असत् अवाच्य ही है, कथंचित् उभय अवाच्य ही है, ऐसा प्रभो आपका शासन है। इस कारिका में सत्त्व धर्म की अपेक्षा लेकर सप्तभंगी का वर्ण किया है। सप्तभंगी का स्वरूप है—प्रश्न के वश से एक वस्तु में बिना विरोध के विधि और प्रतिषेध को कल्पना करना सप्तभंगी कहलाता है। इस कारिका में नय योग से इन भगों कि सिद्धि की गई है। तो नययोग से, इस वचन द्वारा यह सिद्ध होता है कि नय वाक्य 7 ही हुआ करते हैं। उनेस अतिरिक्त 8 वीं या अन्य प्रकार किसी प्रकार भी अंग सम्भव नहीं है।

सत्त्वकी सप्तभंगी में प्रयुक्त प्रथमभंग—स्यात्—सत् के दोनों शब्दों की सार्थकता देखिये 16 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें 7 पृ 204—प्रथमभाग में प्रयुक्त सत् व स्यात् शब्द का वाच्य उक्त विवरणों से यहां सिद्ध हुआ कि शब्द एक अर्थ का ही प्रतिपादन करने की शक्ति का स्वभाव रखता है, क्योंकि शब्द में सूचना का जो सामर्थ्य विशेष है उसका उल्लंघन नहीं होता। सत् इस शब्द में सत्त्व मात्र को कहने का सामर्थ्य है, असत्त्व आदिक अनेक धर्मों के कहने में उस सत्शब्दका सामर्थ्य नहीं है। इसी प्रकार स्यात् शब्द को बात सुनो—यहां सप्तभगों में स्यात् सत्, अस्यात् आदिक प्रयोग हैं ना, तो प्रत्येक शब्दों का यहां अर्थ बताया जा रहा है। सत् शब्द का अर्थ बता दिया गया और सिद्ध किया गया कि सत् शब्द का अर्थ केवल सत्त्वमात्र के कहने में सामर्थ्य है। असत्त्व आदिक अनेक अर्थों के कहने में नहीं। तो इसी प्रकार स्यात् शब्द दो रूपों में निरखा जाता है—वाचक और द्योतक। वाचक का अर्थ है इन अन्य शब्दों की तरह किसी अर्थ को कहने वाला और द्योतक का अर्थ है कि जो बात स्पष्ट नहीं कही गई है उसका भी द्योतन करने वाला। अर्थात् न कहे गये अर्थ का भी जो कि न्यायप्राप्त है उसका संत करने वाला। तो जब स्यात् शब्द को वाचक दृष्टि से देखते हैं तब स्यात् का सामर्थ्य अनेकान्त मात्र के कहने में है। स्यात् शब्दको द्योतकपन की दृष्टि से निरखते हैं तो स्यात्शब्द का सामर्थ्य विशेष अविविहित समस्त धर्मों की सूचना करने में है, याने जिन धर्मों का उस भंग में नहीं कहा गया है और उस भंग में

विवक्षा भी नहीं है उन समस्त धर्मों को सूचित करता है स्यात् शब्द। हां विवक्षित पदार्थ के कहने में स्यात् का सामर्थ्य नहीं है। जैसे प्रथम भंग है सवस्यात्सत् । तो उस भंग में सत् धर्म का प्रयोग स्पष्ट किया गया है और यहां इस भंग की विवक्षा है। तो द्योतक स्यात् शब्द सत् को कहने में सामर्थ्य रख रहा है। अन्यथा अर्थात् यदि द्योतक स्यात् शब्द विवक्षित को ही सत् धर्म को ही कहने में सामर्थ्य रखता हो तो स्यात् कहने के बाद फिर द्योतक स्यात् शब्द विवक्षित को ही सत् धर्म को ही कहने में सामर्थ्य रखता हो कहने सत् धर्म के या विवक्षित धर्म के वाचक शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ हो जायगा। इससे सिद्ध है कि द्योतक स्यात् शब्द उन धर्मों को सूचना में सामर्थ्य रखता है जो धर्म इस भंग में विवक्षित नहीं है और जिन्हें कहा भी नहीं गया है।

वस्तुस्वरूपका समझाने वाली सप्तभंगी में समस्त भंगों की सार्थकता क्या है इसका दिग्दर्शन कीजिए 22 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें—पृ0 271—272 धर्मों के प्रत्येक धर्म में अन्य अन्य प्रयोजन होने से किसी एक धर्म का अंगित्व होने पर शेष धर्मों की अंगता होने से सभी भंगों के कथन की सार्थकता बनाते हुए उक्त शंकाओं का समाधान—अनन्त धर्मात्मक धर्मों के धर्म धर्म में, प्रत्येक धर्म के जुद जुदे में ही प्रयोजन हैं, अत एवं उन सब धर्मों का निरूपण करना आवश्यक है। अब वहां यह एक रहस्य समझ लीजिये कि उन सब धर्मों में जिस किसी भी धर्म का किया जाय, लक्ष्य में लिया जाय तो वह उस समय बन गया वह अंगी धर्मों, और उस एक धर्म को धर्म मान लिए जाने पर शेष जो धर्म हैं उनमें सिद्ध होता है उसका धर्मपना। जैसे एक जीव वस्तु में अनन्त धर्म हैं, उन अनन्त धर्मों में से जब एक स्वरूप सत्त्वका वर्णन किया जा रहा है, स्वरूपसत्त्वको दृष्टि में लिया जा रहा है तो इस स्थिति में अब स्वरूप सत्त्व भंगी बन गया। इसकी सिद्धि बनायी जा रही है। तो स्वरूपसत्त्वका समर्थन पररूपके असत्त्वसे मिलता है ना। तो अब पररूपका जो असत्त्व है वह स्व असत्त्व अंगीका धर्म बन गया। तो धर्मों धर्मों की व्यवस्था लक्ष्य और लक्षणों पर निर्भर है। यहां धर्मों का अर्थ है अनन्त धर्मात्मक पदार्थ, इसके लिए अनुमान प्रयोग किया जाता है कि अनन्त धर्मात्मक सम् प्रमेय हैं, प्रमाण के विषयभूत हैं इस कारण ये वस्तु सब धर्मों कहलाते हैं। जो अनन्त धर्मात्मक वस्तु है वह हो प्रमेय होती है। जो जो प्रमेय होता है वह अनन्त धर्मात्मक वस्तु है वह ही प्रमेय होती है। जो जो प्रमेय होता है वह अनन्त धर्मात्मक सत् ही होता है।

261—262 आप्तमीमांसा प्रवचन अष्टसहस्री प्रवचन 7, 8

भाग

इसमें आप्तमीमांसा की 24 वीं कारिका से 55 वीं कारिका तक पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन है। अद्वैत एकान्त का आग्रह करने पर क्या क्या प्रसंग उपस्थित होते हैं, इसका दिग्दर्शन कीजिये 25 वीं कारिका के एक प्रवचनमें—पृ० 9—अद्वैतकान्ताग्रह में कमद्वैत, लोकद्वैत, ज्ञान अज्ञान, बन्ध हैं, थे पापकर्म हैं, ये लौकिक कर्म हैं, ये अलौकिक कर्म हैं। यो न तो किसी प्रकार का कमद्वैत सिद्ध होगा और न फलद्वैत सिद्ध होगा कि यह तो अच्छा फल है और यह बुरा फल है, यह श्रेयकर है, यह विनाशकर है, ऐसा फलभेद भी सिद्ध न होगा। और, न लोकद्वैत सिद्ध होगा, यह लोक परलोक भी सिद्ध न होगा कि यह लोक है, यह परलोक है और न ज्ञान अज्ञान सिद्ध होगा, कि यह ज्ञानभरी बात है, यह अज्ञान भरी बात है। तो यों जब ये सभी सिद्ध न हो सके तो बन्ध और मोक्ष भी सिद्ध न होगा। और यदि ये बातें मानी जाती हैं तब तो अद्वैत न रहा, द्वैत सिद्ध हो गया। और, यदि यह बात नहीं मानते तब तो धर्म किसलिए करना? जब जीवको बन्ध नहीं है और न उस बन्ध से छुटकारा होने का कोई उपाय है तब यह धर्मप्रवृत्ति, प्रभुभक्ति, तत्त्वज्ञान, ध्यान, साधना आदि ये सब किसलिए कराये जायेंगे? ये सब व्यर्थ हो जायेंगे। तब सब कुछ लोग में एक मनचली वृत्ति बन जायेगी। इस कारण यह मानना ही होगा कि यह सब व्यवस्था है और जीव अनन्त हैं। उन सब जीवों का इस समय बन्ध संकट लग रहा है तो बन्ध संकट से मुक्त होने के लिए तत्त्वज्ञान यथार्थ श्रद्धान और सब प्रकार की धर्मवृत्ति करना आवश्यक है, अद्वैत एकान्त में ये बात कुछ नहीं सिद्ध हो सकती, अतः अद्वैत एकान्त प्रत्यक्ष आदि से विरुद्ध है।

द्वैत का विरोध करने पर अद्वैत की सिद्धि करना असंभव है, देखिये 26 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें— पृ०— 14 द्वैत के विरोध से अद्वैत को सिद्धि की अशक्यता—शंकाकार यह बताये कि हेतु से अद्वैतसाध्यकी सिद्धि होती है या हेतु के बिना ही अद्वैत की सिद्धि होती है? यदि हेतु से अद्वैत की सिद्धि मानी जाती है तो इसमें हेतु और साध्य ये दो तो मानने ही पड़े तो वहां द्वैत सिद्ध हो ही गया। अगर हेतु से अद्वैत की सिद्धि कर रहे हैं तो हेतु और साध्य अर्थात् प्रतिभास समानाधिकरणत्व हेतु हुआ और अद्वैत साध्य हुआ, तो यों दो भेद तो हो ही गये, एक ही कुछ तो न रहा। हेतु हुआ और साध्य हुआ। यदि हेतु के बिना ही अद्वैत की सिद्धि करते हो तो केवल वचन मात्र ही तो रहा। बोल देने का हेतु को आवश्यकता तो न हुई। अगर केवल बोलने मात्र से सिद्धि हो जाय तो दुनिया के लोग जो कुछ भी बोल जाये तब उसकी बात सिद्ध हो जायगी।

अद्वैतकान्त के एकान्ततः विरोधी दार्शनिक प्रथक्त्व का एकान्त करते हैं कि सभी ततव जो जो भी ज्ञात हो परस्पर पूर्णतया भिन्न ही हैं। तो ऐसे

पृथक्त्वकान्तवाद में देखिये शून्यता का प्रसंग आ जाता है, पढ़िये 30 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें—पृथक्त्वेकान्त में सर्वअन्तस्तत्त्व बहिस्तत्त्वका अभाव हो जाने से शून्यता का प्रसंग पृथक्त्वेकान्त की हठ करने वाले शंकाकार यह बतलायें कि ज्ञेय से ज्ञान वे भिन्न है तो ज्ञेय से ज्ञान क्या सत्त्वस्वरूपसे भी भिन्न है? अर्थात् ज्ञानमें और ज्ञेय में दोनों में सत्त्व तो मान ही गया है। तो जब दोनों में सत्त्व पाया जा रहा तो सत्त्वकी अपेक्षा से ही सही, ज्ञान और ज्ञेय पृथक् न रहे। तो ज्ञान और ज्ञेय यदि सत्त्वस्वरूपसे भी भिन्न हो जायें, क्योंकि भिन्नता का एकान्त कर रहे ना। कुछ भी समझ में आया, चलो कह दो बिन्कुल भिन्न है, ऐसा उनका नियम बन गया है। तो ज्ञेय से ज्ञान यदि सत्त्वस्वरूप से भी भिन्न हो गया तो दोनों असत् हो गये। न ज्ञान सत् रहा न ज्ञेय, क्योंकि सत्त्वस्वरूपसे दोनों को भिन्न मान लिया है। तो ज्ञान क्या सत् रहा? तो हे प्रभो, जो तुम्हारे शासन से द्वेष रखते हैं अर्थात् जो स्याद्वाद शासन का नहीं मानते हैं उनके यहां न अंतरंगतत्त्व की सिद्धि होगी और न बहिरंग तत्त्वकी सिद्धि होगी।

अद्वैतकान्त व पृथक्त्वकान्त का निराकरण करके उन दोनों पक्षों का स्याद्वाद से जो समन्वय किया है उसे परखिये 34 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें—एकत्व और पृथक्त्व के ज्ञान के सविषयत्वका समर्थन—सत्त्व सामान्य की दृष्टि से सर्व में ऐक्य है, अभेद है और द्रव्यादिक के भेद से उन सब में पार्थक्य है जैसे कि असाधारण हेतु समीचीन हेतुभेद विपक्षा में और अभेद विपक्षामें पृथक्त्वस्वरूप हो ऐक्यस्वरूप है। जब सर्व पदार्थों को सत्त्व सामान्य से देखें तो सर्व सत् प्रतीत होता है। सत्त्वी दृष्टि से सबतें अभेद है, पर जब वहां देखते हैं कि यह द्रव्य है, यह गुण है, यह पर्याय है तो इस भेद की दृष्टि से वहां पार्थक्य है तब निर्विषय कैसे रहा? एकत्व व पृथक्त्वपना ज्ञान सत् सामान्यविशेषका आश्रय लेकर ही तो सर्व जीवादिक पदार्थों में ऐक्य माना गया है। तो ऐक्य का जो ज्ञान हुआ है उस ज्ञान का विषय है सत्त्वसामान्य। यों प्रतीति में आ ही रहा कि सत्त्व सामान्य की दृष्टि से सब एक है तब एकत्व का ज्ञान निर्विषय न रहा। उस एकत्व के ज्ञान का विषय है सत्सामान्य, इसी प्रकार सर्व जीवादिक विशेष जब द्रव्यादिक पदार्थ भेद का आश्रय करके न निरखा जाय तो वहां पृथक्त्व प्रतीत होता है। तो पृथक्त्वका ज्ञानभी निर्विषय न रहा। पृथक्त्व के ज्ञान का विषय है द्रव्यादिक भेद। तो इस तरह जब एकत्वका ज्ञान पृथक्त्वका ज्ञान विषय है द्रव्यादिक भेद। तो इस तरह जब एकत्व का ज्ञान पृथक्त्व का ज्ञान विषयरहित न रहा, उनका विषय है तो सिद्ध हो गया कि वस्तु एकरूप भी है और अनेक रूप भी है।

नित्यत्वैकान्त का आग्रह करन पर दोषापत्तियों की झलक कीजिये 37 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें—पृ0 96 इस कारिका ने नित्यत्वके एकान्त

के निराकरण की सूचना दी है । नित्यत्व एकान्तका अर्थ क्या है? कूटस्थपने का अभिप्रायरखना। सर्वथा नित्य है इसका अर्थ है िकवह सर्वथा कूटस्थ है और ऐसा अभिप्राय रखने का नाम है नित्यत्व एकान्त उसका पक्ष करना अर्थात् आग्रह करना सो उसे कहते हैं नित्वकान्त पक्ष। इस आग्रह में नाना प्रकार की क्रियायें जो परिणमन रूप हैं, परिस्पंदरूप है वे कोई भी नहीं उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि नित्वत्वका एकान्त माना है। अपरिणामी कूटस्थ जब मान लिया गया तो वहां क्रिया कैसे सम्भव होगी? क्रिया यदि बनती है तो कूटस्थ नहीं रहती है। और दूसरी बात यह सुनो कि क्रिया उत्पत्तिसे पहिले ही जब उस पदार्थ की उत्पत्ति है तो इसके मायने यह है कि क्रिया उत्पत्तिसे पहिले कारका अभाव व बनेगा। अर्थात् सदा कारक रहेगा। तो जो कूटस्थ पदार्थ है वह जैसे पहिले कारक होता है उसी तरह यह आत्मा भोगने का कार हो जायगा। यदि पहिले ही कारक का अभाव माना जाय याने कूटस्थ आत्मा में क्रियाकी उत्पत्ति से पहिले ही कारक का अभाव है ऐसा स्वीकार किया जाय तो वहां किसी भी प्रकार का अनुभव, परिणति, सुख दुख आदिक का बोध ये कुछ भी बन सकेंगे। और यों फिर सदा ही आत्मा अकारक रहेगा, क्योंकि पहिले की तरह उत्तपति काल में भी कारका अभाव सिद्ध होता है। जो एकान्त मानते हैं उनके यहां काय उत्पन्न होने से पहिले जैसे वह पदार्थ कर्ता नहीं, उसमें किसी प्रकार का परिणमन नहीं, तो यों ही कार्य की उत्पत्ति होने पर भी कारका अभाव ज्यों का त्यों सिद्ध रहेगा।

क्षणिक एकानतपक्ष में भी अनेक दोष उपस्थित होते हैं उनका संकेत लीजिए 41 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें—पृ0 112— क्षणिकैकान्त पक्षमें प्रेत्यभाव कार्यरम्भ, फल आदिके अभाव का प्रसंग क्षणिक एकान्त के आग्रह में भी परलोकादिक असम्भव हो जाते हैं, क्योंकि वहां प्रत्यभिज्ञान स्मृति आदिक ज्ञान नहीं तो वहां न कार्य आरम्भ हो सकता और न उसका फल हो सकता। क्षणिक एकान्त पक्ष अर्थात् सभी वस्तु एक समय रहती हैं, अगले समय मे उसका मूलतः नाश हो जाता है, ऐसे मन्वव्यके पक्षमें ज्ञानका कार्यरम्भ नहीं हो सकता। क्योंकि इस क्षणिक एकान्त में प्रत्यभिज्ञान स्मृति, इच्छा आदिक कुछ भी अनुभव किया हो, अब स्मरण हो राह हो तो ये प्रत्यभिज्ञान समरण आदिक होते हैं अन्यथा नहीं। जैसे कि भिन्न भिन्न आत्माओं के ज्ञानक्षण में प्रत्यभिज्ञान आदिक तो नहीं होते । हमने कोई वस्तु अनुभूत की तो दूसरा कोई पुरुष उसका स्मरण करले ऐसा तो नहीं हो सकता। तो जैसे भिन्न भिन्न आत्माओं के ज्ञान में एक का दूसरे को स्मरण नहीं इसी तरह एक देह में भी उत्पन्न होने वाले अनेक ज्ञानक्षण में भी स्मरण आदिक नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हें भी तो भिन्न भिन्न ही माना गया है। जब तक जानने वाला आत्मा एक न माना जाय तब तक प्रत्यभिज्ञान आदिक नहीं बनता।

जैसे सर्वथा सत् मानने पर कार्यनिष्पत्ति नहीं, इसी प्रकार सर्वथा असत् मानने पर भी कार्यनिष्पत्ति नहीं, तब कार्यव्यवस्था कैसे हैं इसका समाधान देखिये 42 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें—पृ0 147—द्रव्यापेक्षया सत् पर्यायापेक्षा असत् के कार्यपना मानने पर कार्यकरण व्यवस्था की एक उत्पादव्यवस्थिति की सिद्धि कोई वस्तु है तब उस सदभूत वस्तु में नवीन पर्यायरूपका विकास होता है। वह तो है उसका उत्पाद और जो पर्याय व्यक्तरूप है वह पर्याय विलीन हो जाती है, क्योंकि उसमें नवीन परिणति हुई है। एक पदार्थ में पूर्व और उत्तर ये दो परिणमन एक साथ नहीं ठहर सकते हैं। जब नवीन परिणमन होता है यही कहलाता है उत्पाद । तो सदभूत पदार्थ को माने बिना उत्पाद व्यय की कल्पना भी नहीं की जा सकती, इसी को अनेक दार्शनिकों ने गुणपग्रयरूपसे वर्णन किया है। लेकिन एकान्त पक्षमें गुणों का अलग और पर्यायों का अलग सत्तारूपसे वर्णन किया है। किन्तु तथ्य यह है कि वस्तु एक है, सत्स्वरूप है, शक्तिमान है उसकी शक्तियों के जो विकास हैं वे परिणमन कहलाते हैं, यो यों गुण और पर्याय सदभूत वस्तुमें एक साथ बने हुए हैं और दोनों का उस सदभूत वस्तु से तादात्म्य है। पर्याय तो जिस समय में प्रकट हुई है उस समय तादात्म्यरूपसे है और शक्तियां पदार्थ में शाश्वत तादात्म्यरूपसे है फिर भी इनका स्वरूप समझने के लिए भेददृष्टि करके भेद समझा जाता है कि जो अभेद पिण्ड है वह तो है द्रव्य और जो शक्तियां हैं वे कहलाती हैं गुण, उनका जो व्यक्तरूप है, परिणमन है वह कहलाता है पर्याय । पर्यायका कार्य कहते हैं। भेद इस तरह किया जाता है और कालभेद से किया जाता है जो शाश्वत है वह तो है द्रव्य और और जो कुछ समय को हुई है वह है पर्याय।

क्षणिककान्तवाद में तो हिंसक में हिंसाहेतुता सिद्ध हो सकती है और न मोक्ष की अष्टांगहेतुता सिद्ध हो सकती है, पढ़िये 52 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें, पृ0 187— क्षणिकएकान्त में वस्तु के विनाशको अहेतुक माना गया है। सो जब वस्तुतः नाश किसी कारण से होता ही नहीं है तो किसी जीवको हिंसा करने वाला हिंसक पुरुष हिंसाका कारण न बन सकेगा। फिर हिंसक पुरुष खराब क्यों कहलायगा? वह तो किसी को हिंसा का कारणभूत ही नहीं है। क्षणिकवाद में दूसरा दोष यह भी है कि वाहं मोख्झ माना गया है चितसंततिनाशको, सो जब चित की संतति का विनाश हो जाता है, जो प्रतिक्षण नये नयें जीव उत्पन्न होते रहते हैं उन चितक्षणों में जो संतति बन रही है उस संतति तक हो गया इसी के मायने निर्वाण है और उसे बताया गया है कि वह निर्वाण सम्यक्त्व संज्ञादिक 8 अंगों के कारण से होता है। तो यह बात तो परस्पर विरुद्ध गई कि जब चितसंतति का नाश अहेतुक है, सभी विनाशों को क्षणिकवादी अहेतुक मानते हैं फिर उस चितसंततिनाशको

अष्टांगहेतुक कैसे कह लिया गया? सो ये क्षणिकवादी लोग विनाश का सर्वथा अहेतुक मानते हैं तो उस मंतव्य में ये दोष आते हैं।

पदार्थ का निरन्वय विनाश नहीं होता। यदि निरन्वय विनाश होता तो सदृश व विसदृश कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती, पढ़िये 53 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें—पृ० 192 7 और यह सदृश कार्य माना, गया है और विरूप कार्यमाना जाने का कारण यह है कि क्षणिकवाद में कारण का कथंचित भी अन्वय नहीं माना है, अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षा से अन्वय जो सिद्ध है उसको नहीं माना गया, उनके सिद्धान्त में प्रतिक्षण होने वाले पदार्थ परिपूर्ण है और अपने आपके अन्वयके बिना हैं तो अन्वय न मानने पर सदृश कार्य की सिद्धि नहीं की जा सकती है। जब द्रव्यापेक्षया पदार्थ पहिले क्षण में भी हैं और उत्तरक्षण में भी हो तब तो वहां सदृश कार्य की बात कही जा सकती है, किन्तु जहां अन्वय किसी भी प्रकार नहीं है, वहां सदृश कार्य का ज्ञान नहीं बताया जा सकता। ऐसी स्थिति में जाननहार के अभिप्राय के कारण सदृश और विरुद्ध कार्य की कल्पना करली जाय तो ऐसी कल्पना करने वाला दार्शनिक जाननहार के अभिप्राय के कारण विनाशको सहेतुक क्यों मान लेता है?

2637264 अप्तमीमांसा प्रवचन अष्टसहस्रीप्रवचन 9—10 भाग

इसमें आप्तमीमांसा की 61 वीं कारिका से 87 वीं कारिका तक के प्रवचन हैं। देखिये विशेषवाद में भेदकान्त सिद्धि का संक्षिप्त दिग्दर्शन 61 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें—विशेषवादियों ने काय कारण में नानापन माना है। जैसे जैसे कार्य तो हुआ घट, कारण हुआ मृतपिण्ड तो इस कार्य कारणों में सर्वथा भेद है। गुण गुणों में भेद माना है। जैसे गुणी हुआ आकाश और गुण हुआ महत्व इन दोनों में भेद है। सामान्य सामान्यवाद में भेद माना है सामान्य तोहुए पर सामान्य अथवा के विशेष्य में भेद माना है। अभाव हुआ अभाव ही और जिसमें अभाव पाया जाता वे हुए पदार्थ अभाव के विशेष्य, जैसे घटका अभाव, तो यहां दो बातें कही गईं—अभाव और घट। इसमें भेद माना जाता है। इसी प्रकार विशेष्य और विशेषवान में भी भेद, अवयव अवयवी में भी भेद इस तरह एक भेद एकान्त का सिद्धान्त है। इस दार्शनिक का नाम ही वैशेषिक है। जहां विशेष अर्थात् भेद भेद ही माना जाता है। थोड़ा भी कुछ परिचय विशिष्ट प्राप्त हो रहा हो वहां भेदका एकान्त कर दिया जाता है। ऐसी वैशेषिकवाद सिद्धान्त की बात इस कारिका में सूचित की गई है।

भेदकान्त पक्षमें क्या आपत्ति है इसका भी संक्षिप्त दिग्दर्शन कीजिए 63 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें—भेदकान्त पक्ष में गुण गुणो आदि में देशभेद व काल भेद हो जाने की आपत्ति—जैसे कि पृथगात्रय वाले घट पट पदार्थों का देश भेद और कालभेद से रहना। बन रहा है इसी प्रकार गुण गुणी

अवयव अवयवी आदिक का भी भेद एकान्त मानने पर देश भेद में और काल भेद में उनाक रहना बनेगा, किन्तु ऐसा तो प्रत्यक्ष से विरु० है। भेद एकान्त पक्ष मानने पर समान देशता नहीं बन सकती है। कोई यह सोचे कि अवयव अवयवी का हम एक ही देश में आस्थान मान लेते हैं १े कहने मात्र से बात न बन जायगी। जो भूर्त है अवयव अवयवी, कारण कार्य उन्हें सर्वथा भिन्न-भिन्न भी माने और समान देश में उनका रहना मानें यह बात नहीं बन सकती। अतः यह स्वीकार करना होगा कि गुण गुणो अवयव अवयवी कारण कार्य आदिक लक्षण भेद से तो भिन्न है लेकिन आश्रय आधार सत्व ये न्यारे न्यारे नहीं है।

भेदकान्त व अभेदकान्त के प्रसंग में तथ्य का निर्णय देखिये—71772 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें— द्रव्य और पर्याय में कथंचित अन्यता व कथंचित अनन्यता की सिद्धि—यहां प्रकरण चल रहा है इसका कि द्रव्य पर्याय में कार्य कारण में अन्यता है या एकता है सिद्ध किए जा रहे उसे द्रव्य पर्याय में लक्षण आदिक के भेद से भिन्नता है और वस्तु एक है अतएव एकता है। इसका पुष्टि के लिए रूपादिक का उदाहरण भी उपयुक्त है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये सब जो पाये जा रहे हैं मूर्त पदार्थों में सो यह बताये कोई कि रूप रस गन्ध आदिक परस्पर में अन्य-अन्य ही है या एक रूप है? वहां सिद्ध यही होगा कि कथंचित अन्य — अन्य रूप है कथंचित अनन्य है। तो रूपादिक के उदाहरण में भी साध्य और साधन पाये जाते हैं। तो कथंचित नानापन से व्याप्त जो भिन्न लक्षणापना है उसकी यहां सिद्धि की गई है, परस्पर व्यतिरिक्त स्वभाव संज्ञा, संख्या आदि के द्वारा अर्थात् उनमें स्वभाव भिन्न हैं, संख्या भिन्न है, प्रयोजन भी भिन्न है अतएव द्रव्य और पर्याय कथंचित नानरूप है, उनमें भिन्नता है, रूपादिक का लक्षण और रसादिक का लक्षण भी भिन्न भिन्न है अतएव वहां पर भी कथंचित नानारूप विदित होता है। रूपादि का लक्षण है रूपादिक के ज्ञान के प्रतिभास के योग्य होता अर्थात् यह रूप है इस तरह के प्रतिभास के जो विषय हो सकते हैं वह रूप है ऐसा रूप, रस आदिक में सब में अपनी-अपनी बुद्धि का भेद है, इस कारण कथंचित रूपादिक में नानापन सिद्ध होता है। तो द्रव्य और पर्याय में लक्षण आदिक के भेद से नानापन है इसकी सिद्धि में रूपादिक के उदाहरण भी सही हो जाते हैं।

तत्त्वसिद्धि आगम से होती है या हेतु से होती है इस विषय में कोई एकज्ञान वहीं करना चाहिए इस विषय के समर्थन का उपसंहार देखिये—78 वीं कारिका के अन्तिम प्रवचनांशमें—अपेक्षाबलसे हेतु सिद्धता व आगम सिद्धता का उपसंहार—सर्व कुछ हेतु से सिद्ध है, क्योंकि वह कारण अर्थात् इन्द्रिय और आप्त वचनकी अपेक्षा नहीं करता। इसी तरह सब कुछ कथंचित हेतु से सिद्ध है और कथंचित सर्व आगम से सिद्ध है, क्योंकि इन्द्रिय और साधन की अपेक्षा न करने से । यहां दृष्टियां दो कही गई हैं। आप्त वचन की अपेक्षा न करना

और इन्द्रिय साधन की अपेक्षा न करना इन दोनों दृष्टियों से ये उक्त दो बातें सिद्ध हुई। अब कम से अपित इन दोनों दृष्टियों से उभय से सिद्ध सिद्ध होती है। अर्थात् हेतु से भी सिद्ध है और आगम से भी सिद्ध है। जब एक साथ दोनों दृष्टियों को लिया जाता है तो वहां अक्तव्यपना सिद्ध होता है। शेष दो 2 भर्ग पूर्व की तरह समझना चाहिए। इस तरह सप्तभंगो की प्रक्रिया युक्त कर लेना चाहिए। इस परिच्छेद में यह बताया गया है कि जो उभय तत्त्व इस ग्रन्थ में परिणत किया गया है उस को समझने का उपाय तत्व क्या है? किस उपाय से उन प्रमेय तत्वों के स्वरूप की समझ आये? उस सम्बन्ध में बताया गया है कि सवतत्व हेतु से सिद्ध होता है और कथंचित हेतु से सिद्ध होता है और कथंचित आगम से सिद्ध होता है।

कुछ लोग केवल ज्ञान मात्र अन्तरंग अर्थ स्वीकार करते हैं और कोई लोग मात्र बहिरंग अर्थ हो स्वीकार करते हैं, किन्तु इन दोनों में से किसी एक को स्वीकार करने पर दूसरे को स्वीकारता अवश्यभावी सिद्ध है। इस विषय का तथ्य देखिए 87 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें—ज्ञान ज्ञेय में से किसी भी एक को मानने पर द्वितीय की अवश्यभाविनी सिद्धि बहुत दूर जाकर भी अर्थात् करने के बाद भी यक मानना ही पड़ेगा कि कोई ज्ञान अपने इष्ट तत्व का आलम्बन करने वाला होता है और वहीं वेदाकार वेदाकार ब्रह्म अर्थ ज्ञान में स्वरूप से अन्य किसी पदार्थ के आलम्बन की सिद्ध कर देता है अर्थात् ज्ञान में जब ग्राहायाकार ग्राहकाकार बन रहे हैं तो उससे बाह्य पदार्थ अवश्य है यह सिद्ध होता है न होते बाह्य पदार्थ तो ज्ञान में यह विषय यह आकार कैसे प्रतिविम्बित होता, इस कारण उक्त प्रकार से बाह्य अर्थकी सिद्धि हो गई, तो बाह्य अर्थ की सिद्धि होने से वक्ता, श्रोता, प्रभाता ये तीन सिद्ध हो गए और फिर उन तीनों के बोध, वाक्य ओर प्रभो याने बुद्धि ये भी तीनों सिद्ध हो जाते हैं। यो मूल बात कहीं जा रही थी कि जीव शब्द बाह्य अर्थ से सहित है याने जीव शब्द वाचक है और उससे जीवन नामक पदार्थ वाच्य होते हैं। तो जीव शब्द से सबाह्य अर्थपना सिद्ध करने में उस संज्ञापन का हेतु दिया गया है। उस हेतु में न असिद्ध दोष है न अनेकांतिक दोष है और न वहां जो दृष्टान्त तो में कोई दोष नहीं है। कोई भी शब्द माया शब्द, भ्रान्ति शब्द, प्रभाशब्द, किन्हीं भी दृष्टान्त तो में कोई दोष नहीं हैं। कोई भी दृष्टान्त साधन धर्म आदिक से रहित नहीं है जिससे कि जीवक की सिद्धि न हों। तो जीवशब्द से ही जीव पदार्थ की सिद्धि हो जाती है। जब जीव की सिद्धि हो गयी तब अर्थ को जानकर पदार्थ को समझकर प्रवृत्ति करने वाले सम्वाद और विसम्वाद की सिद्धि सिद्ध हो ही जाती है। इसी प्रकार यहां तक यह सिद्ध नहीं हुआ कि केवल अन्तरंग पदार्थ ही नहीं है बहिरंग पदार्थ भी है याने केवल ज्ञान ही है। सो बात नहीं है किन्तु घट पद आदिक बाह्य पदार्थ भी है,

सभी अनुभव करते हैं कि हम जाने भी रहे हैं और बाह्य पदार्थों को भी समझ रहे हैं।

265—266 आप्तमीमांसा प्रवचन अष्टसहस्रीप्रवचन 11—12

भाग

इसमें आप्त मीमांसा की 88 वीं कारिका से अन्तिम 114 वीं कारिका तक के प्रवचन हैं। कोई दार्शनिक कहते हैं कि भाग्य से ही कार्य सिद्धि होती है, कोई दार्शनिक कहते हैं कि पुरुषार्थ से ही कार्य सिद्धि होती है कि उनके पक्ष के समर्थन के बाद जो निर्णय दिया गया है उसका दिग्दर्शन कीजिए—देवीकान्त व पौरुषैकान्त के निराकरण का उपसंहार—देव से अर्थ सिद्धि होती है या पौरुष से? इस सम्बन्ध में किसी एकान्त को ही नहीं कहा जा सकता है। इन दोनों में किसी एक का अगर अभाव कर दिया जाय तो व्यवस्था न बनेगी। पुण्य पाप या अर्थ सिद्धि की व्यवस्था अपेक्षाकृत ही बनेगी। दोनों में परस्पर अपेक्षा रखी जायेगी, देव और पौरुष की व्यवस्था एक दूसरे की अपेक्षा रख कर ही बनेगी। पौरुष की अपेक्षा न रखकर केवल देव से ही सिद्धि मानी जाय अर्थात् पौरुष वहां जरा भी नहीं है, पौरुष से अर्थ सिद्धि नहीं होती किन्तु मात्र देव से ही होती है, ऐसी एक भी घटना न मिलेगी। अथवा जहां यह कहा जा सके तो पौरुष से ही सिद्धि होती है, देव का जरा भी काम नहीं है तो ऐसी भी घटना कोई लोक में न मिलेगी।

दोनों की परस्पर अपेक्षा रहती है तब अर्थ की सिद्धि होती है। दूसरे का सद्यभाव न मान कर अथवा अपेक्षा न रखकर बात कही जाय तो न बनेगी। दूसरे का सद्यभाव मान कर अथवा अपेक्षा न रखकर बात कही जाय तो न बनेगी। दूसरे का सद्यभाव मान कर अपेक्षा का अभाव न करके परस्पर में सहायता रूप से देव और पुरुष दोनों से ही अर्थ की सिद्धि होती है। जहां पौरुष प्रधान नजर आ रहा है कि यह पुरुषार्थ के बल से यह काम बना रहा है तो वहां उसके पौरुष में देव सहाय पड़ा हुआ है। सिद्धि भाग्य उसके अनुकूल है तब उस प्रकार का पौरुष उसका सफल हो सका है। जहां यह दृष्टिगत हो रहा हो कि हमें देव से ही सिद्धि हुई है तो वहां पर भी पुरुषार्थ का सहायता है, तो दोनों से ही अर्थ की सिद्धि होती है। उनमें एकान्त अभिप्राय करना सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

किसी दार्शनिक का मत है कि दूसरे में दुख होने से पाप बन्ध और सुख होने से पुण्यबन्ध होता है तथा किसी दार्शनिक का अभिमत है कि स्वयं के दुख से पुण्य और सुख से पाप बन्धता है। इन दोनों पक्षों से स्पष्टीकारक के बाद जो निर्णय दिया गया है उसका दिग्दर्शन कीजिए 95 वीं कारिका के

एक प्रवचनांशमें—विशुद्धि संक्लेशांग स्वपरस्थ सुख दुख की पुण्यापापस्रव हेतुता—अपने में या परजीव में सुख दुख होने से पुण्य पाप के आश्रव बताये गए है सो यह बात युक्त नहीं है, किन्तु उसमें यह रहस्य है कि यदि विशुद्धि अंग बनकर सुख दुख हुआ है तो विशुद्धि के कारण वहां पुण्य बन्ध हुआ है अथवा संक्लेश का अंग बन कर यदि सुख दुख हुए है या अपने में या पर जीव में तो वह पुण्य पापका आश्रव हेतु बन सकता है। तो जहां विशुद्धि है वहां विशुद्धि है वहां पुण्य है, जहां संक्लेश है वहां पाप है इसका स्पष्ट अर्थ यह है । पुण्य और पाप का आश्रव क्या है? सो सुनो विशुद्धि के कारण का या विशुद्धि के कार्य का विशुद्ध स्वभाव वाले का तो पुण्याश्रव में कारणता है अर्थात् विशुद्धि के कारण भूत जो भाव है, जो परिणति है वह तो पुण्याश्रव का कारणभूत है और विशुद्धि के कार्य का विशुद्धि परिणति होने का कारण जो मन, वचन, काय की चेष्टा हुई है हव भी पुण्याश्रवका कारण होता है और विशुद्धि के स्वभाव वाले तत्त्व से विशुद्धस्वभावसे विशुद्ध परिणाम से जिस परिणाम में विशुद्धि है उस परिणाम से पुण्य का आश्रव होता है। किन्तु ऐसा सुख दुख चाहे खुद में हो या पर में या दोनों मिलकर जो संक्लेश का कारण है अथवा संक्लेशका कार्य है संक्लेश परिणाम करने के कारण ही जो सुख दुख है वह स्वयं संक्लेश स्वभावरूप है, उस सुख दुख के वर्तमान होने में संक्लेशभाव बन रहा है तो वह पापाश्रवका कारण होगा। इसके आश्रव में मुख्यता विशुद्धि और संक्लेश है, विशुद्ध परिणाम से तो पुण्य का आश्रव होता है, वह चाहे विशुद्धि का कारण हो या विशुद्धि का कार्य हो। अथवा वर्तमान ही स्वयं विशुद्ध स्वभाव वाला हो, उससे तो होता पुण्य का आश्रव और अपने में या दूसरे में या दोनों में या सुख ही, दूख ही यदि वह संक्लेश कारणपूर्वक है, संक्लेश के कारण सुख दुख है या उस सुख दुख के होने से संक्लेश बढ़ रहा है तो उससे पाप बन्ध होता है।

तत्त्वज्ञान की कमभाविता व अकमभाविता की सिद्धि में स्याद्वाद के उपयोग का बल देखिए 101 वीं कारिका के एक प्रवचनांशमें—सोपयोग व निरूप्योग की दृष्टि से मातज्ञानादिक चार ज्ञानों की कमभाविता अकमभाविता का कथन—जैसे चक्षु आदिक ज्ञानों का कम से ही उत्पाद माना गया है उसी प्रकार प्रतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यज्ञान भी उपयोग सहित की दृष्टि से कम से उत्पाद होता है। यदि निरूप्योग की दृष्टि से चार ज्ञानों की बात कहो तो वह एक साथ होता है, इनमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है कारण यह है कि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से यह ज्ञान प्रकट होता है मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर मतिज्ञान, श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर श्रुतज्ञान अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर मन पर्ययज्ञान प्रकट होता है। सो ये

चारो ज्ञान चारो ज्ञानावरणों का क्षयोपशम के होने पर एक जीव में एक साथ सम्भव है, परन्तु लब्धि की अपेक्षा से चारो ज्ञान तक एक जीव एक साथ सम्भव हुए, उपभोगपेक्षया युगपत असम्भव हे, क्योंकि उपयोग की अपेक्षा एक काल में एक ही ज्ञान होता है। जैसे कोई पुरुष हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत तीन भाषाओं का ज्ञाता है तो लब्धि की अपेक्षा तीन भाषाओं का ज्ञान उस पुरुष में सदा है। किन्तु जैसे जब संस्कृत में लिखा कोई पत्र आया, उसको वह पढ़ रहा है तो उपयोग की दृष्टि से तो संस्कृत भाषा का ही व्यत्र ज्ञान बन रहा है, उपयोग संस्कृत भाषा में ही है। ऐसे ही समझिए कि लब्धि और व्यापार की अपेक्षा से इन चारो ज्ञानों में अन्तर है, लब्धि की अपेक्षा चारों ज्ञान साथ होते हैं, किन्तु व्यापार की दृष्टि से ये ज्ञान कमशः हुआ करते हैं। मतिज्ञान आदिका जो स्वरूप है वह स्वरूप अनेकान्तात्मक है, लब्धि और उपयोग की अपेक्षा से, अर्थात् लब्धि की अपेक्षा से चारो ज्ञान एक साथ सम्भव हो सकते हैं, किन्तु उपयोग की अपेक्षा से युगपत असम्भव है। चारो ज्ञान हो सकते हैं एक जीव में परन्तु उनका उपयोग कम से होता है। यो उपयोग सहित मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनः पर्ययज्ञान ये कम से हुआ करते हैं।

ज्ञान के फल चार कहे गये हैं, जिनमें एक साक्षात फल है और शेष तीन परम्परा फल है इस सम्बन्ध का एक प्रवचनांश 102 वीं कारिका में देखिए—ज्ञान का परम्परा फल—ज्ञान का परम्परा से फल से त्यागने और ग्रहण करने का ज्ञान होना अथवा उपेक्षा हो जाना किसी भी बात को जानकर यह निश्चय बनना है कि यह पदार्थ छोड़ देना चाहिए अथवा यह पदार्थ ग्रहण कर लेना चाहिए। तो ग्रहण करने और छोड़ देने का जो परिज्ञान होता है तथा त्यागना और ग्रहण करना है वह परम्पराफल है अथवा उपेक्षाभाव हो जाय, न उसे त्यागे, न ग्रहण करे, दोनों से ही उदासीन हो जाय, ऐसी उपेक्षा भी मति आदिक ज्ञानों का परम्परा फल है त्याग करना और ग्रहण करता यह केवल ज्ञान का फल नहीं है क्यों कि वह सम्पूर्णज्ञान है वीतराग विज्ञान है, कृतकृत्यका ज्ञान है, जिसको अवलोक में कुछ भी कार्य करना शेष नहीं है, जो सबसे निराले अपने केवल स्वरूपमें आ गया है उसकी अब ग्रहण करने और त्यागने का तृप्ति नहीं जगता। तो ग्रहण करने का ज्ञान होना अथवा त्यागने का ज्ञान होना यह मति आदिक ज्ञानी का परम्परा फल है। तो यह है परम्पराफल।

कोई वस्तु का निश्चय विभि वाक्य से मानते हैं ओर कोई निषेधवाक्य से मानते हैं इस सम्बन्ध में निर्णय देखिए 109 वीं कारिका में एक प्रवचनांशमें—विधिवाक्य और प्रतिषेध वाक्य द्वारा वस्तु के प्रतिमियमन की सिद्धि का निर्णय—उक्त विवरण में यह सिद्ध किया गया है कि विभि वाक्य और प्रतिपध वाक्य द्वारा वस्तु तत्व का प्रतिनियम बनता है अर्थात् पदार्थ है अर्थात्

पदार्थ है इसकी सिद्धि विधिवाक्य और प्रतिषेध वाक्य से होती है, क्योंकि पदार्थ ही स्वयं विधिरूप और प्रतिषेधरूप है कोई पदार्थ की दृष्टि में प्रतिषेधरूप है। तो जब पदार्थ ही स्वयं विधि प्रतिषेधात्मक है तो उसका वर्णन करने वाले वाक्य भी विभि और प्रतिषेध वाक्य दो प्रकार के होंगे ही, अन्यथा अर्थात् यदि विधिरूप से और प्रतिषेध रूप से पदार्थ न हो तो केवल विधि से या केवल प्रतिषेध से अर्थ सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि विधि ऐसी कोई है नहीं जो प्रतिषेध से रहित हो और प्रतिषेध कोई ऐसा है नहीं जो विधि से रहित हो। तथा प्रतिषेधरहित विधि किसी विशेषण नहीं बन सकती, किसी का वर्णन नहीं कर सकती और विधि रहित प्रतिषेध किसी का विशेषण नहीं बन सकता और जहां विभि प्रतिषेध दोनों ही न हो वह विशेष्य ही न कहलायेगा। पदार्थ ही नहीं, सत् ही नहीं। जैसे कि आकाश का पुष्प उसकी न विभि है और न प्रतिषेध है। तब यह निश्चय करना कि बुद्धि और प्रतिषेध की गौण और प्रधान रखकर सत् और असत् आदिक वाक्यों में प्रवृत्ति होती है। यह बात युक्ति पूर्वक सिद्ध हुई, इसी कारण से सप्तभंगी में जो अन्य भंग है उनको पुरनरूप नहीं कह सकते। प्रथम भंग में स्यात् अस्ति कहा। इसी को ही कशाकार कहता है कि इससे ही स्यात् नास्ति सिद्ध हो जाती है, फिर द्वितीय भंग को अलग में वर्णन करने की क्या आवश्यकता? सो पुनरुत्पत्ति नहीं होता। क्योंकि वस्तुतत्त्व का नियम विधिवाक्य और प्रतिषेध वाक्य से होता है। तो कोई भी भंग यहा पुनरुत्पत्ति नहीं है, इन 7 भंगों में अपनी अपना प्रथम दृष्टि है इस तरह सप्तभंगी निर्दोष सिद्ध होती है, और जहां सप्तभंगी है उसका नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद से वस्तु स्वरूप जाना जाता है अब यहां कोई ऐसा एकान्त करे कि विभि के द्वारा ही वाक्य वस्तुतत्त्व का वर्णन करता है और यह बात सर्व प्रकार प्रकार से एकान्त रूप है। इस एकान्त मतवय में अब दूषण देते हैं।

267—269 पुरुषार्थसिद्धयुपायप्रवचन 1, 2, 3, भाग

इसमें पूज्य श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरजित पुरुषार्थसिद्धयुपाय के तीन भागों पर पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज के प्रवचन हैं। मंगलाचरण में सर्ववेदी परमतेज का जयवाद पढ़िये, पृ० 1 के एक प्रवचनांशमें—सर्ववेदी परम तेज का जयवाद—पुरुषार्थ सिद्धि के उपाय के प्रसंग में श्री अमृतचन्द्र जी सूरि उस परम तेज का जयवाद कर रहे हैं कि जो पुरुषार्थ की सिद्धि होने पर प्रकट हुआ करता है वह परमज्योति जयवंत हो, जिस ज्योति में एक साथ अनन्त पर्यायों से समस्त पदार्थ ऐसे प्रतिविम्बित होते हैं जैसे कि दर्पण के तल में दर्पण के समक्ष जो आया हो वह सब प्रतिविम्बित होता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानका स्वभाव जानना है। जाना वह जाता है जो कि सत् हो। तब जितने भी सत् हैं वे सबके सब ज्ञानमें

अवश्य होकर प्रतिविम्बित होते हैं। यदि कुछ पदार्थ प्रतिविम्बित हों कुछ न हों, ऐसी बात रहे तो इसका अर्थ यह है कि अभी ज्ञान में कलंक लगा है, कुछ मलिन है तभी वह सब सत् को नहीं जानता। ज्ञानको जानने के लिए यह जरूरी नहीं है कि सामने पदार्थ हों तब जाना जाय। यह तो छदमस्थ जीवों में जिन में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान है उनको मतिज्ञान में यह बात बनती है कि सामने पदार्थ हो तो उसे जान, उस समय भी वह मतिज्ञान ज्ञान के द्वारा जानता है, सामने है इसलिए नहीं जानता, किन्तु मतिज्ञान को उत्पत्ति का निमित्त हो ऐसा है। तो ज्ञान के लिए यह जरूरी नहीं है कि सामने कोई पदार्थ हो तो उसे जाने। ज्ञान का काम जानना है और वह सत् को जानता है। तो कहीं भी कोई सत् हो वह सब ज्ञानमें ज्ञात हो जाता है, चाहे भूतकाल में किसी पर्याय में सत् हो। सत् जो कि सदा रहता है वह अतीत काल में किसी पर्यायरूपमें पदार्थ था, जिस किसी पर्यायमें पदार्थ होगा, जिसकिसी रूपसे पर्यायमें पदार्थ वर्तमान में है उन सबको ज्ञान जान लेता है, हम आप नहीं जान पाते। तो यह ज्ञानावरण कर्म लगा है, उसके उदय में ऐसा होता है, पर ज्ञान के स्वरूपकी ओर से कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि ज्ञान इतने को जाना करे, इतने को न जाने। ज्ञान का स्वभाव समस्त सत्को जानने का है।

परम ज्योति की प्राप्ति का प्रथम परम उपाय देखिये छन्द 2 के एक प्रवचनांशमें पृ० 8—परमज्योतिकी प्राप्ति का प्रथम परम उपाय—उस परम ज्योतिको प्राप्त कर लेने के उपाय में यह स्याद्वाद ही समथ है। हम उस ज्योतिको अन्य समस्त प्रभावों से पृथक समझ सकें ऐसी कला स्याद्वाद की कृपा से ही तो प्राप्त होती है। यह अपने आपको सहज तत्त्व के कारण अपना सहज स्वरूप है। और समस्त पर पदार्थ पर भावों से न्यारा है, ऐसी बात समझ में आये तभी तो यह उपयोग विकारों को न ग्रहण करके केवल एक ज्ञानस्वरूप का ही ग्रहण करेगा। यह सब स्याद्वाद की तो कृपा है। जैन शासन का अगर कोई खास काम है, इसकी कोई खास विशेषता है तो यह एक प्रमुख विशेषता है कि स्याद्वाद की विधि से वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्णय कराया गया है जिस यथार्थ निर्णय के कारण जीव का मोह दूर होता है और मोह दूर हो जाना ही एक श्रेय चीज है, कल्याणभूत बात है। तो जो उस ज्योति को प्राप्त कराने में उपायभूत है परमागम का बीज अनेकान्त स्वरूप है उस अनेकान्त स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूँ।

व्यवहार में मुख्य व उपचार कथन की छांट कैसे करेंगे, देखिये 4 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें, पृ० 10 वचन व्यवहार में मुख्य व उपचार कथन की छांट अपनी बोलचाल में भी इस प्रकार की छांट करना यह भी एक ज्ञानकला है। इसमें मुख्यबात क्या है और औपचारिक बात क्या है? घीका घड़ा उठा लावो, पानी का लोटा ले आवो, नहाने की बाल्टी ले आवो आदि कितनी ही

बातें व्यवहार में बोली जाती हैं, पर क्या यह मुख्य कथन है? यह कथन उपचार का है। कोई घी का घड़ा कहना उपचार कथन है। कोई बाह्य वस्तु हमें दुख नहीं देती, यह बात बिल्कुल निश्चित है। हम ही अपनी कल्पनायें बनाकर किसी बाह्य वस्तु पर दृष्टि देकर दुखी होते हैं वहां यह कहना कि कइस पुरुष ने इसे दुखी कर दिया, यह मुख्य कथन है या उपचार कथन है? उपचार कथन है, निमित्त नैमित्तिक भाव ऐसा है कि जिसमें यह सारा विश्व गुंथा हुआ है। हम शुभ अशुभ परिणाम करते हैं उसका निमित्त पारक पुदगल कम बन्ध जाते हैं और जब पुदगलकर्म का उदय काल आता है तो यह जीव क्रोधादिक रूप परिणम जाता है। वहां यह कहना कि देखो कर्म ने इसे क्रोधी बना दिया अथवा कर्म ने इसे परतंत्र कर दिया, यह कथन उपचार कथन है, तथ्य वहां यह है कि कर्मों के उदय का निमित्त पाकर यह जीव अपने में विकार भाव उत्पन्न करके स्वतन्त्रता से स्वयं परतंत्र हो जाता है। निमित्त नैमित्तिक भाव का निषेध नहीं किया जा सकता है, तिस पर भी प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है अर्थात् केवल अपने ही परिणमन से परिणमते है, तो इस सब कथन में यह जानते रहना चाहिए कि यह मुख्य कथन है अथवा यह उपचार कथन है।

पुरुषार्थसिद्धि के उपाय का संक्षेप में विवेचन करनेवाली 5 वीं गाथा के एक प्रवचनांशमें पढ़िये, सम्यग्दर्शन के स्वरूपकी झांकी, पृ0 36—मोक्षमार्ग की आन्तरिकता—इस श्लोक में तीन बातों का लक्षण किया है, वे बहुत विशेषताकी है। जीव अजीव, आस्रव आदि 7 बातों का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है, ऐसा बताया है। 7 बातों का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन का कारण है। किसी विधि रूपमें नहीं बताया जा सकती कि सम्यक्त्व है क्या? इसी कारण ग्रन्थकार ने इसे अनिर्वचनीय कहा है। यह शब्दों से नहीं जा सकता कि सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं? परद्रव्यों से भिन्न आत्मतत्त्वकी रूचि करना सो सम्यग्दर्शन है। अच्छी जगह रूचि हो तो क्या, खोटी जगह रूचि हो तो क्या? कोई कहे कि आत्मा की प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है, आत्मा का अनुभव करना सम्यग्दर्शन है, तो अनुभवन भी ज्ञानका कार्य है कौन सा शब्द आप कहेंगे जिससे विधिरूप देखा जा सके कि इसका नाम सम्यग्दर्शन है? विपरीत अभिप्राय चलता आया था, उसका दूर करना इसका नाम सम्यग्दर्शन है, विपरीत अभिप्रायसे दूर हो जाना मिथ्यादर्शन को तो हम विपरीत रूप समझ सकते हैं क्योंकि वह औपाधिक भाव है। विधिरूप से उसका वर्णन कर सकते हैं। परभावों को अपनाना यही है मिथ्यादर्शन अब उसकी अपेक्षा लेकर यह भी कहते हैं कि परभावों का अपनाना न रहे वह है सम्यग्दर्शन। इस प्रकार के लक्षण में एक काम के लिए उत्पादव्ययध्रौव्य इन तीनों की झलक आती है। इस प्रकार विपरीत अभिप्राय

को दूर करके आत्मतत्त्व का निश्चय करके आत्मतत्त्व से चलित न होना, यही है पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय।

हिंसा और अहिंसा का स्वरूप क्या है, इसका वास्तविक दर्शन कीजिये 4 वें छन्द के एक प्रवचनांशमें। इसी लक्षण के आधार पर 17 प्रकार की घटनाओं में हिंसा अहिंसा घटित की, यह सब विवेचन अपूर्व है। मूल स्वरूप देखिये—पृ0 76—हिंसा और अहिंसा का स्वरूप—हिंसा का स्वरूप क्या है और अहिंसा का स्वरूप क्या है? उसका विश्लेषण इस गाथा में है। वास्तवमें रागादिक भाव उत्पन्न न हों तो यह अहिंसा कहलाती है। अपने में रागद्वेषमोह भाव न जगे तो क्या स्थिति होगी। निर्विकार केवल ज्ञातादृष्टाकी स्थिति बनेगी। वही तो अहिंसा है। रागादिक भाव न उत्पन्न हों उसको अहिंसा कहते हैं और रागादिक भाव उत्पन्न हो जाये तो उसे हिंसा कहते हैं। अब वह रागभाव चाहे सूक्ष्मपने से जगे तो भी हिंसा है। सूक्ष्मपने से जगने पर स्वरूप से तो च्युत ही हुआ। इस कारण वह हिंसा कहलायी। लोग कहते हैं कि हमने इसकी हिंसा कर दी, पर कोई किसी दूसरे की हिंसा नहीं करता, खुद की हिंसा करता है। जैसे कोई जलते हुए कोयले का अंगार हाथ में लेकर किसी दूसरे को मारता है तो चाहे जिसे मारा है वह न जले, पर मारने वाला जरूर जल जाता है। तो अपने चैतन्यस्वरूपका घात करना इसका नाम हिंसा है। यह जिनेन्द्रभगवान के आगम का संक्षेप है। इस लक्षण से शुभोपयोग का परिणाम जगा वहां भी रागभाव है तो वह भी हिंसा हो गई। एक निर्विकल्प अंतस्तत्तका उपयोग है सो तो अहिंसा है और बाकी जितने भी विकृत परिणाम हैं वे सब हिंसा कहलाते हैं।

झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह भी हिंसा है, इस आधार पर इनका अद्भूत वर्णन है। जरा उदाहरणार्थ चोरी पाप में हिंसा कैसे है, दिग्दर्शन कीजिये 102 वें छन्द के प्रवचन में, पृ0 112—चौर्य पाप का स्वरूप और उसमें हिंसा दोष का कथन—यहां तक झूठ बोलना नामक पाप का वर्णन किया, अब चोरी के पाप का वर्णन कर रहे हैं कि प्रमोद कषाय के सम्बन्ध से बिना दिए हुए परिग्रह का ग्रहण कर लेता सो चोरी है और वह जीवबधका कारण है इसलिए हिंसा है। जो मनुष्य किसी की चीज की चोरी करने का परिणाम करता है तो वह बिना कषाय किये चोरी नहीं कर सकता। उसे कितना सजग होकर रहना पड़ता है। चोरी करने वाला अपने स्वरूप की सुध खो देता है। अपने आपमें वह नहीं रह सकता और बाहरी पदार्थों में ही उसकी दृष्टि रहती है। तो चोरी करने में नियम से हिंसा है। चोरी करने का यदि पापका परिणाम न करता तो उसके ज्ञान और आनन्द का विकास होता। पूर्ण ज्ञान और आनन्दको भोगता। तो ज्ञान और आनन्द का जो विकास रूक गया तो अपने आपकी बहुत बड़ी हिंसा करली। घात है। कोई थोड़ा 10—20—50 रूप्ये भी

काट ले तो उसको कितना खेद होता है और अपने हाथ से दान दे तो उसमें कितनी प्रसन्नता होती है। दूसरे की चीज चुराने में जिसकी चीज चुराई उसका भी प्राणघात होता है और चुराने वाले के भावप्राणका घात होता है, इसलिए चोरी की हुई वस्तु में नियम से हिंसा है।

रात्रिभोजन भी हिंसा का रूप है, रातदिन खाते रहना भी हिंसा का रूप है, इस सम्बन्ध में जब यह प्रश्न रखा जाता है कि रात दिन खाते रहने में हिंसा है तो दिन में खायी, रात को खा लिया यह तो हिंसा न रहे तो, देखिये इसका समाधान 131, 132 वें छन्द के प्रवचनमें, पृ०— 132—133—हिंसा कम करने के लिए दिन भोजन त्याग कर रात्रिभोजन करने की शंका व उसका समाधान—जब रात दिन खाते रहने में रागादिक की विशेषता है और उस कारण हिंसा लग रही है तब तो यह काम करना चाहिए कि दिन के भोजन का त्याग करके और रात्रि में भोजन कर लिया करें। इससे दिन की हिंसा तो बच जायेगी। शंकाकार का कहने का मतलब यह है कि दिन के भोजन को त्यागकर रात्रि में भोजन ग्रहण किया करें तो उसमें सदाकाल हिंसा तो न होगी, दिन की हिंसा तो बच जायेगी। केवल रात्रिकी हिंसा रह जायगी। तो शंकाकार की इस शंका के उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि दिन के भोजन की अपेक्षा रात्रिके भोजन में निश्चय से रागभाव अधिक रहता है, और कुछ अनुभव करके कुछ चिन्तन करके भी आप सब समझ सकते हैं कि अपेक्षा इसमें अधिक राग है। यहां अंतरंग से जवाब दिया जा रहा है। जैसे कोई यह शंका करने लगे कि पेट ही तो भरना है, अन्न खाकर पेट भरें अथवा मांस खा कर पेट भरें, इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। बात एक है। तो देख लो ना अन्न खाने में जीव को रागभाव कैसा रहता है, और मांस खाने में जीव को कैसा तीव्र राग रहता है? और मांस खाने में जीव को कैसी तीव्र रहता है? उदर भरने की अपेक्षा से सब प्रकार के भोजन समान हैं। पर मांस खाने में रागभाव विशेष होता है, क्योंकि अन्न तो सभी मनुष्यों को सहज मिल जाता है और मांस की जब बहुत अधिक इच्छा हो अथवा शरीर आदिक का बड़ा स्नेह हो तो बड़ा प्रयत्न किया जाता है तब थोड़ा मांस का भोजन प्राप्त होता है। अतएव मांस खाने में रागभाव अधिक है। तो यह रात्रिभोजन त्यागने योग्य है। इसके समाधान में दो तीन बातों पर प्रकाश डाला है। प्रथम बात तो यह है कि दिन में भोजन की सुलभता रहती है। रात्रि में भोजन बनाने में और प्राप्त करने में उसकी अपेक्षा कुछ कठिनाई रहती है अतः रात्रिभोजन में रागभाव की तीव्रता रहती है, उसे त्याग देना चाहिए। तीसरी बात यह बतलाई है कि रात्रि में भोजन करने में कामवासना आदिक की विशेषता अधिक रहती है। रात्रि भोजन करने में शरीर पर और रागादिक वासना पर विशेष स्नेह है, इस कारण दिन में भोजन करने

की अपेक्षा रात्रि भोजन में हिंसा विशेष है। यह तो एक भीतरी भाव का समाधान है। इसमें द्रव्यहिंसा की बात अभी तक नहीं कहीं है।

शेष चार ब्रतों की भांति 7 शीलों में भी अहिंसा